संस्कृत साहित्य का इतिहास

आचार्य बलदेव उपाध्याय
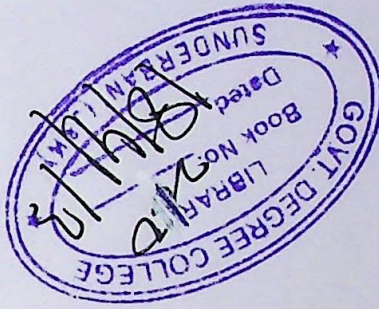
संस्कृत साहित्य का इतिहास

संस्कृत साहित्य का इतिहास

लेखक
पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय
भूतपूर्व निदेशक, अनुसन्धान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

शारदा निकेतन, वाराणसी

प्रकाशक :
शारदा निकेतन
५ बी, कस्तूरबा नगर, सिगरा
वाराणसी - २२१०१०

दशम संस्करण
पुनर्मुद्रण २००१

मूल्य : १६०/-

मुद्रक :
खण्डेलवाल प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स
मानमन्दिर, वाराणसी - २२१००१

समर्पण

गोलोकवासी भागवतमर्मज्ञ
भगवद्भक्ति–परायण
श्रद्धेय पितृचरण
पण्डित रामसुचित उपाध्याय जी
को
उनके जन्मशती महोत्सव के
दिव्य अवसर पर
सादर सानुनय समर्पित

बलदेव उपाध्याय

लेखक के विश्रुत ग्रन्थ

मौलिक ग्रन्थ

भारतीय दर्शन
बौद्ध दर्शन मीमांसा
भारतीय दर्शन की रुपरेखा
भारतीय धर्म और दर्शन
भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन
आचार्य शंकर
वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त
आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ
आचार्य सायण और माधव
वैदिक साहित्य और संस्कृति
वैदिक कहानियाँ
संस्कृत साहित्य का इतिहास
संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
भारतीय साहित्य शास्त्र (भाग १ व २)
संस्कृत आलोचना
भारतीय साहित्य का अनुशीलन
संस्कृत सुकवि समीक्षा
महाकवि भास
भारतीय वाङ्मय में श्री राधा
पुराण विमर्श
काशी की पांडित्य परम्परा
सूक्ति मंजरी
विमर्श चिन्तामणिः

सम्पादित ग्रन्थ (संस्कृत)

भक्ति चन्द्रिका
भामह काव्यालंकार
भरत नाट्यशास्त्र
प्राकृत प्रकाश
कालिका पुराण
वेद भाष्य भूमिका संग्रह
नागानन्द नाटकम्
शंकर दिग्विजय
वृत्त रत्नाकर

कवि प्रशस्ति

वाल्मीकि :

यस्मादियं प्रथमतः परकामृतौघ –
निर्घोषणी सरससूक्तितरङ्गभङ्गि ।
गङ्गेव धूर्जटिजटाञ्चलतः प्रवृत्ता
वृत्तेन वाक् तमहमादिकविं प्रपद्ये ।।

–वामननाग

व्यास

श्रवणाञ्जलपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यममृतं यः।
तमहमरागमतृष्णं कृष्णद्वैपायनं बन्दे ।।

–नारायणभट्ट

भास :

सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः।।

–दण्डी

कालिदास :

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ।।

–श्रीकृष्णकवि

बाणभट्ट :

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि बाणी बाणस्य मधुरशीलस्य।।

–धर्मदास

भारवि :

विमर्दे व्यक्तसौरम्या भारती भारवेः कवेः ।
धत्ते बकुलभालेव विदग्धानां चमत्क्रियाम्।।

—अज्ञात

माघ :

कृत्स्नप्रबोधकृद् वाणी भारवेरिव भा रवेः ।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते ।।

—राजशेखर

भवभूति :

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।।

—गोवर्धनाचार्य

◆

वक्तव्य

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' आज अपने नवीन परिबृंहित संस्करण के रूप में पाठकों के सामने आ रहा है। इस संस्करण में पूरे ग्रन्थ का एक प्रकार से कायाकल्प हो गया है। यह एक आमूल परिवर्धित तथा परिष्कृत नूतन ग्रन्थ ही है। इसमें अनेक विशिष्टताओं का समावेश किया गया है। अभी तक 'श्रीमद्भागवत' केवल धार्मिक ग्रन्थ के ही रूप में विश्रुत था, परन्तु यहाँ उसे इस संकीर्ण क्षेत्र से हटाकर काव्य के सार्वभौम क्षेत्र में लाया गया है और इस दृष्टि से इसकी उपजीव्यता दिखलाई गई है। ''उपजीव्य काव्य'' का सामान्य अभिधान भी रामायण, महाभारत तथा भागवत जैसी ग्रन्थत्रयी के लिए नितान्त नवीन और उपादेय है।

संस्कृत साहित्य की यहाँ विश्व-साहित्य के सन्दर्भ में आलोचना प्रस्तुत करने का अभिनव प्रयास किया गया है। 'वाल्मीकीय रामकथा की विश्व-भ्रमण कहानी' का यहाँ संक्षेप में सारगर्भित विवरण दिया गया है (पृ० ५३-५७)। चम्पू के विशाल साहित्य का प्रामाणिक परिचय यहाँ प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है (पृष्ठ ४१२-४३०)। नवम परिच्छेद में वर्णित 'कथा साहित्य' का इतिहास नितान्त अभिनव तथा विस्तृत दृष्टिकोण से वर्णित किया गया है तथा पंचतन्त्र का विश्व-साहित्य की महनीय विभूति के रूप में चित्रण अनेक नूतनता से मण्डित चाकचिक्य-सम्पन्न रोचक विवरण है (पृ० ४४९-४५४)। इसी प्रकार 'चाणक्यनीति' के नाम से संस्कृत साहित्य में एक विशाल ग्रन्थराशि का उदय हुआ है जो भारत से बाहरी देशों के साहित्य के ऊपर भी अपनी गहरी छाप डाले हुये है। चाणक्यनीति की भ्रमण-कहानी का यहाँ रोचक विवरण पहिली बार प्रस्तुत क्रिया गया है (पृ० २८५-२९०)। फलतः विश्व-साहित्य के ऊपर संस्कृत साहित्य ने गत शताब्दियों में जो अपना विशाल तथा बहुस्तरीय प्रभाव डाला, उसकी संक्षेप में यहाँ आलोचना की गई है तथा उसके गौरव की गाथा यहाँ प्रस्तुत की गई है।

संस्कृत भाषा में निबद्ध विशाल तथा बहुमुखी साहित्य का इतिहास अपने समस्त वैभव तथा विभूति के प्रदर्शन के लिए अनेक खण्डों में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है। इस काव्य खण्ड के इतिहास में अनेक छोटे-मोटे कवि भी, विशेषतः जैन कवि, प्रथम बार आलोचित तथा विवृत किये गये हैं। जैन कवियों के लिए लेखक डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के शोधप्रबन्ध का विशेष आभार मानता है। आयुर्वेद तथा रसायन, ज्योतिष तथा गणित (पाटी-गणित, बीज-गणित तथा रेखा-गणित), कोश-विद्या, छन्दःशास्त्र, साहित्यशास्त्र तथा व्याकरणशास्त्र के उदय तथा विकाश, ग्रन्थ सम्पत्ति तथा लेखक का विवरण प्रामाणिकता के साथ लेखक ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास' में सम्पन्न किया है। इन दोनों ग्रन्थों में तत्

तत् शास्त्रों का इतिहास एक अविच्छिन्न धारा के रूप में परिष्कृत किया गया है जिससे उनके उदय तथा विकास का स्वरूप आलोचकों के सामने परिनिष्ठित रूप से प्रस्तुत हो जाता है। अन्त में भूतभावन काशी विश्वनाथ से लेखक की करबद्ध प्रार्थना है कि संस्कृत साहित्य की यह अमर कहानी संस्कृत के छात्रों, जिज्ञासुओं तथा विद्वानों के हृदय को आप्यायित करने में सर्वथा समर्थ हो जिससे उनके मानस-चक्षु के सामने संस्कृत भारती का भव्य रूप उल्लसित तथा विलसित हो उठे। तथास्तु

सहृदया: कवि-गुम्फनिकासु ये
कतिपयास्त इमे न विशृङ्खलाः।
रसमयीषु लतास्विव षट्पदा
हृदय-सार-जुषो न मुखस्पृशः॥

व्यासपूर्णिमा, सं० २०३५
२०-७-७८
वाराणसी

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम खण्ड

प्रवेश खण्ड

(१) विषय-प्रवेश
   (क) मूल प्रवृत्ति
   (ख) संस्कृत साहित्य का महत्त्व
   (ग) संस्कृतभाषा का परिचय
(२) उपजीव्य काव्य
   (क) रामायण
   (ख) महाभारत एवं हरिवंश
   (ग) पुराण—श्रीमद्भागवत

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम परिच्छेद

(१) विषय-प्रवेश

(क) संस्कृत साहित्य की मूल प्रवृत्ति

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। समाज के रूप-रंग, वृद्धि-ह्रास, उत्थान-पतन, समृद्धि-दुरवस्था के निश्चित ज्ञान का प्रधान साधन तत्कालीन साहित्य होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति का प्रधान वाहन होता है। संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपनी मधुर झाँकी सदा दिखलाया करती है। संस्कृति के उचित प्रसार तथा प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन साहित्य ही है। संस्कृति का मूल स्तर यदि भौतिकवाद के ऊपर आश्रित रहता है, तो वहाँ का साहित्य कदापि आध्यात्मिक नहीं हो सकता और यदि संस्कृति के भीतर आध्यात्मिकता की भव्य भावनाएँ हिलोरें मारती रहती हैं, तो उस देश तथा जाति का साहित्य भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुर है, तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के कारण, संस्कृति का वाहन होता है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास पूर्वोक्त सिद्धान्त का पूर्ण समर्थक है। संस्कृत साहित्य भारतीय समाज के भव्य विचारों का रुचिर दर्पण है। भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों का सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज जीवन-संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को पृथक् रखकर आनन्द की अनुभूति को,वास्तव शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को, अपना लक्ष्य मानता है। इसलिए संस्कृत-काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द की खोज में सदा संलग्न रहा है। आनन्द सच्चिदानन्द भगवान् का विशुद्ध पूर्ण रूप है। इसीलिए संस्कृत-काव्य की आत्मा रस है। रस का उन्मीलन—श्रोता तथा पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष—ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य है। संस्कृत-आलोचनाशास्त्र में औचित्य, रीति, गुण तथा अलंकार आदि काव्यांगों का विवेचन होने पर भी रसविवेचन ही मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय समाज का मेरुदण्ड है गृहस्थाश्रम; अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम के ऊपर ही निर्भर है। फलतः भारतवर्ष का प्रवृत्तिमूलक समाज गृहस्थधर्म को पूर्ण महत्त्व प्रदान करता है और इसीलिए संस्कृत साहित्य में गार्हस्थ्य धर्म का चित्रण सांगोपांग, पूर्ण तथा हृदयावर्जक

रूप से उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य का आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण गार्हस्थ्य धर्म की धुरी पर घूमता है। दशरथ का आदर्श पितृत्व, कौशल्या का आदर्श मातृत्व, सीता का आदर्श सतीत्व, भरत का आदर्श भ्रातृत्व, सुग्रीव का आदर्श बन्धुत्व और सबसे अधिक रामचन्द्र का आदर्श पुत्रत्व भारतीय गार्हस्थ्य धर्म के ही विभिन्न अंगों के आराधनीय आदर्शों की मधुमय मनोरम अभिव्यक्तियाँ हैं।

साहित्य और संस्कृति

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहन रहा है। यदि संस्कृत के काव्यों में संस्कृति अपनी अनुपम गाथा सुनाती है, तो संस्कृत के नाटकों में वह अपनी कमनीय क्रीडा दिखाती है। भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है। त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में संवर्धित भारतीय संस्कृति का रमणीय आध्यात्मिक रूप संस्कृतभाषा के ग्रन्थों में अपनी सुन्दर झाँकी दिखलाता हुआ सहृदयों के हृदय को बरबस खींचता है। महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी पाठकों की हृदयकली को विकसित करने वाले मनोरम काव्य की रचना के कारण जितने मान्य हैं, उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप के चित्रण करने के कारण भी आदरणीय हैं। संस्कृत-कवि को राजा-महाराजाओं के दरबार की हवा खानेवाला चापलूस जीव मानने की भ्रान्त धारणा साहित्य के ऊपरी आलोचकों में भले फैली रहे, परंतु संस्कृतभाषा का कवि संकीर्ण विचारों का व्यक्ति न था, जो अपने परिमित विचारों की कोठरी में अपना दिन बिताया करता था। वह समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करता था, समाज के सुख-दुःख की भावना उसके हृदय को स्पर्श करती थी; वह दीन-दुखियों की दीनता पर चार आँसू बहाता था; वह सुखी जीवों के सुख के ऊपर रीझता था। वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था, जिसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था। वह अपने काव्यों में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का जितना वर्णन करता था उतना ही वह अपने देश की संस्कृति के भी मूल्यवान् आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्यों में अंकित करता था। भारतीय संस्कृति का निखरा रूप हमें संस्कृत-भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रचार तलवार के सहारे नहीं हुआ; कलम के सहारे हुआ। आज भी उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति के गठन में संस्कृत साहित्य का विशेष हाथ है। संस्कृत साहित्य ने इन देशों की मूक जनता को भावों के प्रकटन का माध्यम प्रदान किया, हृदय को सरस बनाने के लिए कोमल भावमय कविता सिखलायी और समाज-व्यवस्था के नियमों को बतला कर उन्हें बर्बरता से उन्मुक्त कर सभ्य और शिष्ट बनाया।

साहित्य और तत्त्वज्ञान

संस्कृत साहित्य के रूप, निर्माण तथा विकास के ऊपर भारतीय तत्त्वज्ञान का विशेष प्रभाव पड़ा है। भारतीय दर्शन सर्वदा से आशावादी रहा है। नैराश्य की कालिमा दर्शन के गगन-मण्डल को कतिपय क्षणों के लिए भले ही मलिन और अन्धकार-पूर्ण बनाये, परन्तु आशावादिता का चन्द्रोदय उसे प्रकाश से पेशल तथा शान्ति से स्निग्ध सर्वदा बनाये रखता है। संस्कृत नाटकों के सुखान्त रूप की जानकारी के लिए भारतीय

दार्शनिक विचारों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। भारतीय तत्त्वज्ञान नैराश्य के भीतर से आशा का, विपत्ति के भीतर से सम्पत्ति का तथा दुःख के भीतर से सुख का उद्‌गम अवश्यम्भावी मानता है। संसार का पर्यवसान दुःख में नहीं है। यह जीवन व्यक्तित्व के विकास में अपना स्वतः मूल्य और महत्त्व रखता है। संघर्ष के भीतर से शान्ति की प्रभा छिटकती है; संग्राम के बीच में विजय का शंखनाद घोषित होता है। मानव की वैयक्तिक पूर्णता की अभिव्यक्ति में यह जीवन एक साधनमात्र है। निष्प्रपंच ब्रह्म की भी प्राप्ति प्रपंच के भीतर से ही तो होती है। फलतः संसार का व्यापक दुःख, परिदृश्यमान सन्तोष तथा वैषम्यमय क्लेश अन्ततोगत्वा सुख में, सौख्य में तथा आनन्द में परिणत होते हैं। इसी दार्शनिक विचारधारा के कारण जीवन के संघर्ष को प्रदर्शित करने पर भी नाटक का पर्यवसान सदा मंगलमय होता है। संस्कृत में दुःखान्त नाटकों के नितान्त अभाव का रहस्य इसी दार्शनिक सिद्धान्त में छिपा है। संस्कृत नाटककारों के ऊपर जीवन के केवल सौख्यपक्ष के प्रदर्शक होने से एकांगित्व का आरोप कथमपि न्याय्य नहीं माना जा सकता। काव्य जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है। सच्चा कवि जीवन के सुख-दुःखों में रमता है। वह जनता के जीवन का अनुभव कर उसके मार्मिक स्थलों को कमनीय भाषा में अभिव्यक्त करता है। उसके काव्यों में जनहृदय स्पन्दित होता है और जनता की मूक वेदना अपनी पूर्ण तथा प्रभावशाली अभिव्यञ्जना पाती है उसकी कमनीय कृतियों में। सुख और दुःख, वृद्धि और ह्रास, राग और द्वेष, मैत्री और विरोध के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न नानात्मक स्थिति का ही मार्मिक अभिधान 'जीवन' है। इसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना दुःख का सर्वथा परिहार कर देने पर क्या कभी हो सकती है? क्या संस्कृत का कवि जीवन के केवल सौख्यपक्ष के चित्रण में ही अपनी वाणी की चरितार्थता मानता है? नहीं, कभी नहीं। संस्कृति तथा जनजागरण का अग्रदूत-संस्कृत-कवि तात्त्विक रूप से जीवन के अन्तस्तल को परखता है और उसका सच्चा वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु जीवन का मंगलमय पर्यवसान तथा कल्याणमय उद्देश्य होने के कारण वह दुःखपर्यवसायी काव्यों तथा नाटकों की रचना से सर्वदा पराङ्मुख होता है। संस्कृत साहित्य का यही मौलिक वैशिष्ट्य है।

साहित्य और धर्म

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है और भारतीय संस्कृति धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है। भारतीय धर्म का आधारपीठ है आस्तिकता, सर्वशक्तिशाली भगवान् की जागरूक सत्ता में अटूट विश्वास। भारत भगवान् के चरणारविन्द में अपने आपको लुटा देने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। संसार की क्लेशभावना जीवों को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह भगवन् का निजी सेवकजन नहीं बन जाता। तभी तक रागादिक चोर के समान सन्तापदायक हैं, यह गृह कारागृह है और यह मोह तभी तक पैरों की बेड़ी है, जब तक जीव 'भवदीय' नहीं बनता। भगवज्जन होते ही मोह की बेड़ी खुल जाती है और जीव ज्ञान की मीठी स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है (भागवत १०।१४।३६) :—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।।

भगवान् के प्रति भक्तिभाव के इस प्राचुर्य ने संस्कृत में एक विशाल साहित्य को जन्म दिया है, जो 'स्तोत्रसाहित्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। हृदय की दीनता, आत्मनिवेदन, अपराधस्वीकार—आदि कोमल भावों की विशाल राशि प्रस्तुत करने वाला यह मनोवैज्ञानिक साहित्य संसार के साहित्य में बेजोड़ है। संस्कृतभाषा के श्लाघनीय स्तोत्र कोमल भावों की अभिव्यंजना में अपनी समता नहीं रखते। संस्कृत-काव्यों का यह वैशिष्ट्य भारतीय धर्म की भक्तिप्रवणता के ऊपर आधारित है। हमारी तो यह दृढ़ धारणा है कि संस्कृत साहित्य गीति काव्यों अथवा प्रगीत मुक्तकों का जनक है। संस्कृतभाषा की मधुरता भी संस्कृत-काव्यों की गेयरूपता का एक साधन है। यही कारण है कि संस्कृतकाव्यों में कोमल-कान्त-पदावली का इतना बाहुल्य है तथा हृदयकली को खिलानेवाले मनोमुग्धकारी भक्तिमय काव्यों का प्राचुर्य है। ऋग्वेद के मन्त्रों से लेकर आज तक मनोमुग्धकारी स्तोत्रों का यह प्रवाह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता आ रहा है। जिस प्रकार वैदिक ऋषि वरुण से अपने अपराधों की क्षमा याचना करता है, उसी प्रकार पिछले युग का भक्तकवि भगवान् से अपराधों को क्षमा कर आत्मसात् कर लेने की प्रार्थना करता है (मुकुन्दमाला)—

अपराधसहस्र-भाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु।

साहित्य में कथा का महत्त्व

मानव की प्रकृति स्वभावतः कौतुक तथा विस्मय की ओर आकृष्ट होती है। नित्य-प्रति व्यावहारिक जीवन से, परिचित कार्यकलाप से जहाँ कुछ भी नवीनता तथा विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है, वही विस्मय की उद्गमभूमि है। भारतवर्ष के विविधरंगी वातावरण में विस्मय का स्थान तथा प्रसार बहुत ही अधिक है। प्राची क्षितिज पर सुनहली छटा छिटकाने वाली तथा प्रभापुञ्ज को विखेरने वाली उषा का दर्शन जैसा आश्चर्य दर्शक के हृदय में उत्पन्न करता है, वैसा ही विस्मय उत्पन्न करता है नैश-नील-नभोमण्डल में रजतरश्मियों को बिखेरनेवाले तथा नेत्र में शीतलतामयी छटा फैलानेवाले शीतरश्मि का उदय। दोनों ही कौतुकावह हैं, विस्मयवर्धक हैं। संस्कृत-आलोचकों में 'आश्चर्य रस' को ही मूलभूत आदिम रस माननेवाले आचार्यों का भी एक विशिष्ट संप्रदाय है। मानव की इस कौतुकमयी प्रकृति की चरितार्थता के निमित्त भारतीय साहित्य में एक नवीन काव्यपरम्परा का उदय हुआ है, जो 'कथा' के नाम से अभिहित की गई है। सामान्यरूपेण कौतुकवर्धक कथाओं का उदय प्रत्येक देश के साहित्य में हुआ है और होता है। मानव की स्वाभाविक प्रकृति को चरितार्थ करने का यह व्यापक साहित्यिक प्रयास है, परन्तु संस्कृत साहित्य के साथ 'कथा' का कुछ विशेष संबन्ध है। विश्व में कथा की उद्गम-भूमि है हमारा संस्कृत साहित्य, जहाँ से कथाओं ने पश्चिमी तथा पूर्वी देशों की यात्रा कर वहाँ के साहित्य में घर कर लिया है और उन देशों के रहन-सहन, जन-जीवन,

आचार-व्यवहार में घुल-मिल गई हैं। भारत में कथाएँ केवल कौतुकमयी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के ही लिये नहीं; अपितु धार्मिक शिक्षण के लिए भी प्रयुक्त की जाती थीं और यही कारण है कि ब्राह्मणों ने, जैनियों ने तथा बौद्धों ने समान भाव से साहित्य के इस अंग का परिवर्धन और उपबृंहण किया है। बौद्धों के जातकों का साहित्य के इतिहास में तथा बौद्धकला के संवर्धन में विशेष महत्त्व रहा है। कहानी लिखने में जैनियों को शायद ही कोई पराजित कर सके। उनके यहाँ इसका एक विशाल भव्य साहित्य है। पंचतंत्र स्वयं विस्मयावह कहानियों का एक सामान्य संग्रहमात्र न होकर साहित्य की दृष्टि से एक नितान्त उपादेय ग्रन्थ है, जिसका प्रभाव भारत के ही कथा-साहित्य के ऊपर न पड़कर पश्चिमी जगत् के साहित्य पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

साहित्य में शैलीविन्यास

संस्कृत साहित्य के ऊपर पश्चिमी आलोचकों ने विशेष दोषारोपण कर रखा है कि यह साहित्य नितान्त अलंकारपूर्ण तथा कृत्रिम है। वे संस्कृतकाव्य की नैसर्गिकता, स्वाभाविकता तथा अलंकारविहीनता के स्वरूप से एकदम अपरिचित हैं; ऐसा तो सामान्यत: माना नहीं जा सकता। परन्तु उनका आरोप भारतीय आलोचकों के लिए वेदवाक्य के समान मान्य तथा ग्राह्य होने से भयंकर अनर्थ की जड़ बना हुआ है। संस्कृतभाषा में निबद्ध काव्यों में भी हृदय के भावों की उतनी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जितनी किसी भी प्रौढ़ साहित्य के माननीय काव्यों में हो सकती है। प्राचीन कवियों के काव्यों में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। ये कवि मानव-हृदय के सच्चे पारखी थे और अपनी सच्ची अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए इन्होंने 'रसमयी पद्धति' का आश्रय लिया। वाल्मीकि तथा व्यास पर, कालिदास तथा अश्वघोष पर कृत्रिम कविता लिखने का दोष कोई भी समझदार आलोचक मढ़ नहीं सकता। अलंकारों की सजावट से चमत्कृत शैली का उदय सप्तम तथा अष्टम शताब्दी के अनन्तर की एक घटना है और इसका भी एक कारण है। सप्तम-अष्टम शतक भारवतर्ष के साहित्यिक इतिहास में पाण्डित्य का युग है। इस समय बौद्ध नैयायिकों तथा जैन दार्शनिकों के वेदविरोधी तर्कों का खण्डन ब्राह्मण पण्डितों ने बड़ी ही प्रौढ़, प्रामाणिक युक्तियों के बल पर किया। इस युग का वायुमंडल वाग्युद्धों के कर्कश तर्कों के द्वारा विताडित होता था। पाण्डित्य ही कवित्व की भी कसौटी माना जाने लगा। पाठकों के आदर्श में भी परिवर्तन हो गया। प्राचीन कवि जिन सामान्य विश्वास के भाजन पाठकों के हृदयावर्जन के लिए काव्य का प्रणयन करता था; इस युग का कवि अब तर्क-भावना से मण्डित पाठकों की रुचि के अनुरूप कविता का निर्माण करता था। काव्य के लक्ष्य में परिवर्तन न होने पर भी परिवर्तित स्थिति ने कवियों को 'अलंकृत शैली' में लिखने के लिए बाध्य किया। अन्यथा संस्कृत आलोचनाशास्त्र की मान्य शैलियों में अलंकार की भव्यभूषा से मण्डित ओज-प्रधान समास-बहुला शैली अन्यतम प्रकारमात्र है, वह काव्य का सर्वे-सर्वा नहीं है। इसीलिए संस्कृत के आद्य आलोचक भामह ने तर्कप्रधान शास्त्र से भावप्रधान काव्य का विभेद दिखलाते हुए काव्य को स्पष्टत: 'आविद्वदङ्गनाबाल-प्रसिद्धार्थ' लिखा है। काव्य केवल विद्वानों के पुष्ट दिमाग की ही चीज नहीं है, प्रत्युत वह शास्त्र से अनभिज्ञ स्त्रियों तथा बच्चों के भी समझ में आने वाली

वस्तु है। यदि किसी काव्य को विशिष्ट पाठक ने ही समझा, तो क्या समझा ? वह काव्य होने पर भी 'अप्रतीतार्थ' दोष से दुष्ट काव्य ठहरा। काव्य का लक्ष्य सामान्य जन हैं; विशेष जन नहीं। प्रसन्न काव्य की यही निशानी है कि स्त्री तथा बच्चे भी उतनी ही आसानी से समझ जायँ, जितनी आसानी से कोई विशेष शिक्षित जन। माधुर्य तथा प्रसाद गुण काव्य का प्राण माना गया है। ऐसी स्थिति में इस दोष के आरोप का प्रसंग ही निराधार और निर्मूल है।

निष्कर्ष यह है कि हमारी संस्कृत भाषा संसार भर की भाषाओं में श्रेष्ठ है। हमारा संस्कृत साहित्य समग्र सभ्य साहित्यों से प्राचीनता, व्यापकता तथा अभिरामता में बढ़कर है। यदि इस भूमि-वलय पर कोई भी भाषा सबसे प्राचीन होने की अधिकारिणी है तो वह हमारी संस्कृत भाषा ही है। आजकल अपनी ऊँची सभ्यता पर गर्व करने वाली जातियाँ जब जंगलों में घूम-घूम कर केवल संकेतमात्र से अपने मनोगत भावों को प्रकट किया करती थीं, उस समय अथवा उससे भी बहुत पहले हमारे पूजनीय पूर्वज आर्यलोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान् की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरस सामों का गायन किया करते थे। उसी समय उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की समस्याओं को सुलझाकर अपने उन्नत मस्तिष्क का परिचय दिया था। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ और हमारे धर्म-सर्वस्व वेदभगवान् इसी गौरवमयी गीर्वाण-वाणी में आराधनीय ऋषियों के द्वारा परमात्मा की आन्तरिक प्रेरणा से 'दृष्ट' हुए हैं। अध्यात्म की गुत्थियों को सुलझानेवाले तथा मानव-मस्तिष्क के चरम विकास को प्रकट करने वाले उपनिषद् भी इसी भाषा में अभिव्यक्त किये गए हैं। पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का विस्तृत तथा विविध इतिहास प्रस्तुत करनेवाले पुराणों की रचना इसी सुन्दर भाषा में की गई है। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का प्रशस्त तथा सर्वांगीण वर्णन उपस्थित करनेवाले धर्मशास्त्रों की निर्मिति भी इसी भाषा में हुई है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं, उन सबको अवगत करने का उपाय यही संस्कृत भाषा है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि हमारा साहित्य 'परा' तथा 'अपरा' विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है, जिसके रहस्यों का पता संस्कृतभाषा के ज्ञान से ही किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीया, विद्वज्जनमाननीया तथा सौभाग्यशोभनीया है।

(ख) संस्कृत-साहित्य का महत्त्व

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति है 'सहितयोः भावः साहित्यम्', अर्थात् सहित शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्य-ग्रन्थों तथा अलङ्कार-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दीख पड़ता है। महाकवि भर्तृहरि ने संगीत तथा साहित्य से विहीन पुरुष को जब पशु कहा[१]

१. साहित्य-संगीत-कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

तब उनका अभिप्राय 'साहित्य' के उन कोमल काव्यों से है जिसमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश है। शास्त्र और सातित्य का अन्तर यही है कि शास्त्र में अर्थप्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों एक ही कोटि के होते हैं; न तो कोई घटकर रहता है, न बढ़कर[1]। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर राजशेखर ने साहित्य-विद्या को 'पञ्चमी विद्या' कहा है, जो मुख्य चार विद्याओं—पुराण, न्याय (दर्शन), मीमांसा, धर्मशास्त्र—का सारभूत है।[2] बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्क-देवचरित में काव्यरूपी अमृत को साहित्य-समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बतलाया है।[3] इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में काव्य, नाटक आदि के लिये होता है। परन्तु इधर 'साहित्य' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी होने लगा है। 'साहित्य' से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है, जो किसी भाषा-विशेष में निबद्ध किये गये हों। इस अर्थ में 'वाङमय' शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अँग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'लिटरेचर' शब्द के लिए ही साहित्य का प्रयोग इधर होने लगा है। इस ग्रन्थ में साहित्य का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया गया है और अधिक लोकप्रिय होने के कारण काव्य के नाना रूपों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है।

प्राचीनता

संस्कृत साहित्य की महत्ता को प्रदर्शित करनेवाले अनेक कारण विद्यमान हैं। सर्वप्रथम प्राचीनता की दृष्टि में यह साहित्य बेजोड़ है। इतना प्राचीन साहित्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्रदेश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है, परन्तु वह भी कितना प्राचीन है ? विक्रम से केवल चार हजार वर्ष पूर्व। हमारे यहाँ ऋग्वेद की रचना के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् लोग ऋग्वेद की रचना हजारों वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि इस मत को अत्युक्तिपूर्ण होने से हम मानने के लिए प्रस्तुत न भी हों, तो भी उस मत में तो हमें आस्था रखनी ही पड़ेगी, जिसे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने गणित के अकाटच प्रमाण के ऊपर निर्धारित किया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व अवश्य हुई थी। यही मत आजकल का प्रामाणिक मत है। इसके अनुसार संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ का निर्माण आज से लगभग आठ हजार वर्ष पहले हुआ था। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। तब से साहित्य की जो धारा प्रवाहित हुई वह आज तक अविच्छिन्न गति से चली आ रही हैं। अन्य साहित्यों का इतिहास देखने से प्रतीत

---

१. न च काव्ये शास्त्रदिवत् अर्थ-प्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते; सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्। तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्—व्यक्ति-विवेकटीका (पृ० ३६)।

२. पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणां विद्यानामपि निष्यन्दः—काव्यमीमांसा (पृष्ठ ४)।

३. साहित्य-पाथोनिधि-मन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥ (१।११)

होता है कि वह साहित्य अनुकूल परिस्थितियों में पनपता है, प्रवाह कुछ दिन तक अवश्य जारी रहता है; परन्तु विषम परिस्थिति के उपस्थित होते ही वह प्रवाह बिल्कुल धीमा हो जाता है, किन्तु संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीख पड़ता। वेदों की मन्त्रसंहिताओं की रचना के अनन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। उस समय जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणों के अनन्तर आरण्यकों की रचना हुई, अनन्तर उपनिषदों की; पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति और तन्त्र के निर्माण का समय आता है, जो मध्ययुग के पहले साहित्यप्रेमी भारतीय नरेशों की छत्रछाया में खूब ही पनपा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा आठ हजार वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय अथवा अविच्छिन्नता की कसौटी पर इसे कसा जाय, तो यह साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

व्यापकता

संस्कृत साहित्य सर्वाङ्गीण है। यह सब अङ्गों से परिपूर्ण है। मानव-जीवन के लिये चार ही पुरुषार्थ हैं––धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संस्कृत साहित्य में इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया गया है। साधारण लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है, परन्तु बात कुछ दूसरी है। प्राचीन-ग्रन्थकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के वर्णन की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तो प्रसिद्ध ही है। इस एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम संस्कृत साहित्य में लिखे गये राजनीति शास्त्र से सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इसके सिवाय एक विशाल साहित्य अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में है। 'कामशास्त्र' भी हमारी उपेक्षा का विषय कभी नहीं था। जिस विषय के ज्ञान के ऊपर मानव जीवन का सौख्य निर्भर है, भला उस विषय का चिन्तन कभी उपेक्षा का विषय हो सकता है? वात्स्यायन मुनि ने 'कामसूत्र' में गार्हस्थ्य-जीवन के लिये उपादेय साधनों का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया है। इसी सूत्र को आधार मानकर अनेक ग्रन्थों की रचना कालान्तर में की गई। विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, पशु-पक्षी सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। धर्म और मोक्ष सम्बन्धी रचनाओं के विषय में चर्चा करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि यहाँ 'प्रेयःशास्त्र' तथा 'श्रेयःशास्त्र' उभय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल से विद्वानों की प्रवृत्ति रही है। 'प्रेयःशास्त्र' वह है जिसमें संसार में सुख देनेवाली विद्याओं का वर्णन हो और 'श्रेयःशास्त्र' वह है जिसमें इस प्रपंच के दुःखों को दूर करनेवाले मोक्षोपयोगी विषयों का विवेचन हो। इन दोनों प्रकार के शास्त्रों की रचना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हो रही है। अन्य साहित्यों की ऐसी दशा नहीं। मिश्र देश के साहित्य में है क्या? जीवन को सुखमय बनानेवाली विद्याओं का तो अत्यधिक वर्णन है, परन्तु हृदय को विकसित करनेवाली कला का न तो कहीं पता है और न अध्यात्म-विषयक विवेचन की कहीं चर्चा है। जिस देश में ऊँचे-ऊँचे महलों के बनानेवाले तथा उसे सुसज्जित करने वाले इंजीनियर ही परम पूजा के आस्पद हैं, भला उस देश के साहित्य में

सर्वांगीणता कहाँ से आ सकती है ? पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि संस्कृत साहित्य का जो अंश छपकर प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लैटिन साहित्यों के समग्र ग्रन्थों से दुगुना है। जो अभी तक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में पड़ा हुआ है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है उसकी तो गणना ही अलग है।

धार्मिक दृष्टि

धार्मिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विशेष गौरव रखता है। जो व्यक्ति आर्यों के मूल धर्म के स्वरूप को जानने का इच्छुक हो उसे वेदों का पढ़ना बहुत जरूरी है। वेदों में आर्यधर्म का विशुद्ध रूप उपलब्ध होता है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की भिन्न-भिन्न शाखाएँ कालान्तर में उत्पन्न हुईं तथा नवीन मतों का भी प्रचार हुआ, परन्तु इनके यथार्थ रूप को जानने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक है। वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धाराएँ निकल कर मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से आप्यायित करती आयी हैं। हम भारतवासियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत अन्य देशों के लिये भी संस्कृत साहित्य का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक पुराण-शास्त्र (कम्पैरेटिव माइथोलाजी) जैसे नवीन शास्त्र को ढूँढ़ निकाला। इस शास्त्र से पता चलता है कि प्राचीन काल में देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के क्या विचार थे तथा किन-किन उपासना के प्रकारों से वे उनकी कृपा प्राप्त करने में सफल होते थे।

सांस्कृतिक दृष्टि

सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य का गौरव और भी विशेष रूप से दीख पड़ता है। इतिहास के पृष्ठों में यह प्रामाणित हो चुका है कि भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रभुत्व को, अपनी सभ्यता को, अपनी संस्कृति को फैलाने के लिये सदा से उद्योगशील रहे हैं। उन्होंने प्रशान्त महासागर के द्वीपपुंजों में जाकर अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारतवर्ष और चीन के बीच में जो विशाल प्रायद्वीप है उसे आज 'हिन्द चीन' (इन्डोचीन) कहते हैं। इससे सूचित होता है कि उसका आधा अश चीन का है, परन्तु १३ वीं और १४ वीं शताब्दी से पहले इसमें चीन का कुछ भी अंश न था। यह बिलकुल 'हिन्द' ही था। बहुत पहले यहाँ जंगली जातियाँ रहती थीं, परन्तु सुवर्ण की खान होने के कारण जिन भारतीय नाविकों ने इन स्थानों का पता लगाया उन्होंने इसे 'सुवर्ण-भूमि' तथा द्वीपों को 'सुवर्णद्वीप' नाम दिया। अशोक के समय यहाँ भी बुद्ध का उपदेश पहुँचाया गया। विक्रम के आरंभ से लेकर १४वीं शताब्दी तक अनेक भारतीय राज्य यहाँ बने रहे, जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। कम्बोज में मनु की धार्मिक व्यवस्था के अनुसार राज्य-प्रबन्ध किया जाता था। आर्यावर्ती वर्णमाला और वाङ्मय के संसर्ग से यहाँ की स्थानीय बोलियाँ लिखित भाषाएँ बन गयीं और धीरे-धीरे साहित्य का विकास होने लगा। यहाँ जो वाङ्मय विकसित हुआ वह पूर्ण रूप से भारतीय था। इस प्रकार कम्बोज की 'मेर' भाषा, चम्पा की (आजकल का फ्रांसीसी हिन्द-चीन) 'चम्म' भाषा तथा जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त की वर्णमाला में लिखी गई, जिनमें संस्कृत साहित्य

से आवश्यक उपादान ग्रहण कर सुन्दर तथा कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया गया। जावा की 'कवि' भाषा में रामायण और महाभारत के व्याख्यान विद्यमान हैं। भारतवासियों के समान ही यहाँ के निवासी रामलीला तथा अर्जुनलीला देख कर आज भी अपना चित्तविनोद किया करते हैं। बाली द्वीप की सभ्यता तथा धर्म पूर्णरूपेण भारतीय है। यहाँ का धर्म तन्त्रप्रधान है। वैदिक मन्त्र का उच्चारण तथा संध्या-वन्दन आज भी यहाँ विकृत रूप में ही सही, परन्तु विद्यमान है। मंगोलिया की मरुभूमि में भी संस्कृत साहित्य पहुँचा था। वहाँ भारतीय ग्रन्थ तो उपलब्ध हुए ही हैं, साथ ही साथ वहाँ की भाषा में महाभारत से सम्बद्ध अनेक नाटक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें 'हिडिम्बा-वध' मुख्य है।

कला दृष्टि

इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिक तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा संस्कृत साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह इस साहित्य का अध्ययन करे। इनके अतिरिक्त विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए, जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य-लेखक हुए, जो अपने सरस-मसृण काव्य से त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया; जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे, जिन्होंने अपनी 'मधुर कोमलकान्त पदावली' के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुरस की वर्षा की। श्रीहर्ष जैसे पण्डित कवि हुए, जिन्होंने काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया। उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है ?

(ग) संस्कृत-भाषा का परिचय

यह साहित्य जिस भाषा में निबद्ध किया गया है उसका नाम है—'संस्कृत भाषा, या देववाणी या सुर-भारती। संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम है, इस विषय में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में संसार की भाषाओं में दो ही भाषाएँ ऐसी हैं जिनके बोलने वालों ने संस्कृति तथा सभ्यता का निर्माण किया है। एक है 'आर्यभाषा' और दूसरी है सामी या 'सेमेटिक भाषा'। आर्यभाषा के अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखाएँ हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत योरप की सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएँ सम्मिलित हैं—ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेंच, जर्मन इंग्लिश आदि। ये सब भाषाएँ मूल आर्यभाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो प्रधान विभाग हैं—ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषा का नाम 'जेन्द अवेस्ता' है, जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय-शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। आर्यभाषाओं में यही सबसे प्राचीनतम है। आर्य-भाषा के मूलरूप को जानने के लिए जितना साधन यहाँ है उतना कहीं नहीं है। आजकल भारत की समस्त प्रान्तीय-भाषाएँ (द्राविड़ी भाषाओं को छोड़कर) संस्कृत भाषा से ही निकली हैं।

संस्कृत शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना हुआ है, जिसका मौलिक अर्थ है—संस्कार की गई भाषा। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में पहले-पहल मिलता है। सुन्दरकाण्ड में सीताजी से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय? इसका विचार करते हुए हनुमानजी ने कहा है कि यदि द्विज के समान मैं संस्कृतवाणी बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर डर जायगी[1]। यास्क और पाणिनि के ग्रन्थों में लोक-व्यवहार में आनेवाली बोली का नाम केवल 'भाषा' है।[2] 'संस्कृत' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता। जब 'भाषा' का सर्वसाधारण में प्रचार कम होने लगा और पालि तथा प्राकृत भाषाएँ बोल-चाल की भाषाएँ बन गयीं, तब जान पड़ता है विद्वानों ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के लिये इसका नाम संस्कृतभाषा दे दिया। महाकवि दण्डी के समर्थन से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। दण्डी (सप्तम शतक) ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के अवसर पर 'संस्कृत' का प्रयोग भाषा के लिए स्पष्टतः किया है (काव्यादर्श १।३३)—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।

यह वाल्मीकि रामायण से चली आने वाली परम्परा का अनुसरण है, क्योंकि लोक-व्यवहार में प्रचलित भाषा के रूप में प्राकृत का उदय वाल्मीकि-युग की घटना है। इसका अनुमान हनुमानजी के पूर्वोक्त निर्देश से स्पष्टतः सिद्ध होता है।

संस्कृत के भेद

संस्कृत भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत हैं—वैदिकी तथा लौकिकी; वेदभाषा तथा लोकभाषा। वैदिक भाषा में संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई है। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि की रचना है। इन दोनों भाषाओं के शब्दरूपों में पर्याप्त अन्तर है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) अकारांत पुंलिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। जैसे—ब्राह्मणासः तथा ब्राह्मणाः। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ही ग्राह्य है।

(२) अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुबचन दो प्रकार का होता है—देवेभिः तथा देवैः। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(३) अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से और इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है, जैसे—अश्विना (अश्विनौ), सुष्टुती (सुष्टुत्या)।

(४) सप्तमी का एकवचन अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है, जैसे—परमे व्योमन्। लौकिक संस्कृत है—व्योम्नि या व्योमनि।

---

१. **यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।**
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ (सुन्दरकाण्ड ५।१४)

२. **भाषायामन्वध्यायञ्च। (निरुक्त १।४)।**
'भाषायां सदवसश्रुवः'। (अष्टा० ३।२।१०८)।

(५) अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है, जैसे—'विश्वानि अद्भुता'। लौकिक संस्कृत में अद्भूतानि होगा।

(६) क्रियापदों में उत्तम पुरुष बहुवचन (वर्तमान काल) 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है। मिनीमसि द्यवि द्यवि। लौकिक संस्कृत में 'मिनीमः' होगा।

(७) 'लोट्' लकार (आज्ञा) मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय हैं—त, तन, थन, तात्। जैसे—शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन्, कृणुतात्।

(८) लौकिक संस्कृत में क्रियार्थक क्रिया के लिए 'तुमुन्' का प्रयोग होता है, जैसे—गन्तुम् (जाने के लिए), कर्तुम् (करने के लिए) आदि, परन्तु वेद में इस अर्थ के लगभग ८ या १० प्रत्यय होते हैं। जैसे से, असे, कसे, वध्यै, शध्यै आदि। जैसे—जीवसे, (जीवितुम्), पिबध्यै (पातुम्), दातवै (दातुम्), कर्तवे (कर्तुम्)।

(९) वैदिक भाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखाने के लिये एक नये लकार की ही योजना है, जिसे लेट् लकार कहते हैं, परन्तु यह लौकिक संस्कृत में बिल्कुल ही नहीं है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—प्रण आयूंषि तारिषत् (हे वरुण, हमारी उम्र को बढ़ाओ), यहाँ 'तारिषत्' लेट् लकार है। लौकिक भाषा में इसकी जगह पर 'तारय' कहेंगे।

'ब्राह्मणों' की भाषा लौकिक एवं वैदिक युग की मध्यकालीन भाषा है। उसमें कुछ प्रयोग तो संहिताओं के समान मिलते हैं और कुछ प्रयोग लौकिक संस्कृत के। निरुक्त की भाषा भी इसी काल की है। पाणिनि संस्कृत साहित्य के सबसे श्रेष्ठ वैयाकरण हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा को विशुद्ध तथा व्यवस्थित बनाये रखने के लिये प्रसिद्ध व्याकरण बनाया है, जो आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'अष्टाध्यायी' कहलाता है। संस्कृत भाषा में जो एकरूपता और व्यवस्था दीख पड़ती है, यह सब पाणिनि के ही नियमन का फल है। कुछ लोग पाणिनि पर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने भाषा को जकड़ कर अस्वाभाविक बना दिया, परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि पाणिनि का व्याकरण न रहता तो संस्कृत भाषा में देश-काल की भिन्नता से इतना रूपान्तर होता कि उसे हम पहचान भी नहीं सकते। अष्टाध्यायी के ऊपर 'कात्यायन' ने वार्तिक लिखा, जिसमें उन्होंने नये प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या दिखलाई। विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने 'अष्टाध्यायी' के ऊपर 'भाष्य' लिखा, जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्त्ता-धर्त्ता ये ही तीन मुनि हैं, जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। पिछले युग में संस्कृत व्याकरण के ऊपर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनित्रय' के ग्रन्थों का व्याख्यानमात्र है। कुछ लोगों का कथन है कि इस 'मुनि-त्रय' के द्वारा व्याख्यात तथा विवृत होने के कारण से ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है।

लोकभाषा संस्कृत

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था? वह बोलचाल की भाषा थी या नहीं। इसके विषय में दो विरोधी मत हैं—कुछ् लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोलचाल की भाषा थी; संस्कृत तो केवल 'साहित्यिक-भाषा' है, जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता था, बोलचाल में नहीं।

इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोल-चाल की भी भाषा रही है। किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी। धीरे-धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा, परन्तु फिर भी इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा। यह दूसरा मत ही यथार्थ है।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध कर रहा है। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान-स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदंत शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से बतलाई है जो लोक-व्यवहार में आते थे।[1] उस समय भिन्न-भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पश्चिमोत्तर-प्रान्त) में 'जाने' के अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसका संज्ञा-पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग भिन्न अर्थ में करते थे। पूर्वी प्रान्तों (प्राच्य) में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में होता था, परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' संज्ञा-शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था।[2] इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम पूर्व सात सौ वर्ष) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि के समय में (विक्रम-पूर्व षष्ठशती) संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को 'भाषा' ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्यभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान बतलाया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना होगा तो संस्कृत में 'आगच्छ कृष्ण३' कहना पड़ेगा। यहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा।[3] उसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा। जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य ! देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये' (हे गुरु जी ! मैं देवदत्त आपको प्रणाम करता हूँ) तो गुरु यह कह कर आशीर्वाद देगा—'आयुष्मान् एधि देवदत्त३' (आयुष्मान् बनो, हे देवदत्त) इस आशीर्वाद-वाक्य में देवदत्त के अन्त का अकार प्लुत हो जायगा, यह पाणिनि की व्यवस्था है।[4] इन नियमों का प्रयोग तभी होगा जब भाषा वस्तुतः बोली जाती होगी। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को भी दिखलाया है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों में व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं, जैसे—'दण्डा-दण्डि' (डण्डा डण्डी, लाठा-लाठी), केशाकेशि (नोचा-नोची—बालों को खींचकर होने

---

१. भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—निरुक्त २।२।

२. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्थेषु भाषन्ते शव इति दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु—निरुक्त, २।२।

३. दूराद्धूते च—अष्टध्यायी ८।२।८४।

४. प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२८३।

वाला युद्ध), हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथा-पाई), उदरपूरं भुङ्क्ते (पेट भर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि द्वारा व्याख्यात 'भाषा' बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में ही उसका उपयोग होता, तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतंजलि के समय में (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) संस्कृतभाषा व्यवहार में बढ़ती चली गई। नये-नये शब्द आने लगे; नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा, इसी लिए कात्यायन ने वार्तिक लिखकर उनकी व्याख्या और व्यवस्था दिखलाई। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है, परन्तु कात्यायन के समय में विशिष्ट अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा[१]। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ बड़ा जंगल तथा 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा[२]। पाणिनि के समय में तो यवन की स्त्री के लिए ही इसका प्रयोग होता था।

पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलाई। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी किया है। जैसे 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं; पूरब देश में 'रहति' का और आर्य लोगों में 'गच्छति' का। पतंजलि ने ऐसे लोगों को 'शिष्ट' बतलाया है, जो विना किसी अध्ययन के ही संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे।[३] इनके जो प्रयोग होते थे वे सर्वसाधारण के लिये प्रमाणभूत माने जाते थे। महाभाष्य ने एक बड़ा रोचक संवाद[४] दिया है, जिसमें 'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरण तथा सारथि में खूब वादविवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का 'प्रवेता' कौन है ? सूत—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता (चलानेवाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—(देवानां प्रिय) महाशयजी, आप केवल प्राप्तिज्ञ हैं; इष्टिज्ञ (प्रयोगज्ञाता) नहीं हैं। वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सूत—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द $\sqrt{}$सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से बना है, $\sqrt{}$'वेञ्' धातु (विनना) से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस वार्तालाप से प्रतीत होता है कि सूत का कथन अधिक उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों

---

१. **हिमारण्ययोर्महत्त्वे—४।१।११४ पर वार्तिक।**

२. **यवनाल्लिप्याम्—४।१।११४ पर वार्तिक।**

३. **एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमानकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः, तत्रभवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्—६।३।१०९ सूत्र पर भाष्य।**

४. **द्रष्टव्य महाभाष्य २।४।५६। सूत्र पर।**

की उसे जानकारी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा।

मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है, चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। पतंजलि ने कृ धातु के निर्मलीकरण (साफ सुथरा करना) अर्थ में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है। यथा—पादौ कुरु (=पैर साफ करो), पृष्ठं कुरु (=पीठ को मीसो)।[1] "पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु" की छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती है—"गोड़ौ कइली, मूड़ौ कइली तभू काम ना भइल।' इस वाक्य का अर्थ है—पैर दबाया, सिर भी दबाया, तव भी काम नहीं हुआ। विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय काल तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी; इन प्रमाणों के आधार पर इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत-प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। उज्जयिनी के राजा साहसाङ्क पदवीधारी विक्रमादित्य ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत भाषा ही बोली जाय (काव्य-मीमांसा, पृ० ५०)। धारानरेश राजा भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। इन प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत ग्रन्थों में ही केवल प्रयुक्त होने वाली ग्रन्थिक भाषा न थी, प्रत्युत वह लोक-भाषा भी थी, पीछे 'लोक' शब्द से हम साधारण जनता न समझ कर 'शिष्ट' लोक ही मानते हैं।

संस्कृत साहित्य का इतिहास अनेक काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला काल श्रुतिकाल है, जिसमें वैदिक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल में वाक्य-रचना सरल, संक्षिप्त और क्रियाबहुल हुआ करती थी। दूसरा हुआ स्मृतिकाल, जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदांगों की रचना हुई। तीसरा काल वह है जिस समय पाणिनि के नियमों के द्वारा भाषा नितान्त संयत तथा सुव्यवस्थित की गई तथा काव्य-नाटकों की रचना होने लगी। इस काल को हम **'लौकिक संस्कृत का काल'** कहते हैं। संस्कृत वाङ्मय दो भागों में विभक्त है—काव्य तथा शास्त्र। इस ग्रन्थ में केवल काव्य के नाना प्रकारों के उदय तथा अभ्युदय का इतिहास बताया गया है। शास्त्रों का इतिहास अन्यत्र विवेचित है[2]।

वैदिक एवं लौकिक साहित्य का वैशिष्ट्य

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अपना

---

१. **करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते (१।३।१ पर भाष्य)।**

२. **द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ४२८–४३१, (वाराणसी, १९६९)।**

विशिष्ट महत्त्व रखता है। वैदिक भाषा में जो साहित्य निबद्ध हुआ है उस साहित्य से इनकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें आलोचकों के सामने आती हैं। यह साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में नितान्त पार्थक्य रखता है।

(क) विषय--वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्यकर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं, परन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है। पुरुषार्थ के चारों अंगों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती है। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है, परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेदकाल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(ख) आकृति--लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य का ही साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है, परन्तु लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रसार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र में ही रह जाता है। वह भी गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध ही है। पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है और क्षेत्र के सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन, अथच न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई हैं, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों तथा रामायण महाभारत में विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है। परन्तु पिछले कवियों ने साहित्य में नाना प्रकार के छोटे-बड़े छन्दों का प्रयोग विषय के अनुसार किया है; वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है, वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए है, परन्तु इनमें लघु गुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा--भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि हैं, जिनकी अष्टाध्यायी ने लौकिक संस्कृत का विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के नियमों की मान्यता उतनी आवश्यक नहीं थी। इसीलिये रामायण, महा-

भारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि 'अपाणिनीय' शब्द प्रयोग से सर्वथा बहिष्कृत किये जाते हैं। 'च्युत-संस्कारता' के नित्य दोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गई है।

(घ) अन्तस्तत्त्व––वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त्त भावनाओं की मूर्त्त कल्पना प्रस्तुत की गई है, परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। भेद शैली का ही है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्रयुद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा-विजय का प्रतिनिधि है। पुराणों में भी उसका यही अर्थ है, परन्तु शैली भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग में वैदिक युग से विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिनका नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है और वही कभी पुण्य के अधिक संचय होने के कारण देवलोक में जाकर विराजने लगता है। साहित्य मानव-समाज का प्रतिविम्ब हुआ करता है। इस समय का परिचय लौकिक संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भली-भाँति मिलता है। मानव-जीवन में सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनानेवाला शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया हो। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

इतिहास की कल्पना

लोगों में एक धारणा-सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय लोग इतिहास से परिचित ही नहीं थे, परन्तु ये धारणाएँ नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक्-संहिता में ही इतिहास से युक्त मन्त्र हैं[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है[2]। यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करने-वाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था; इसका स्पष्ट-

---

१. **त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति––निरुक्त ४।६।**

२. **ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम् इतिहास-पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्––छान्दोग्य ७।१।**

परिचय निरुक्त से चलता है--'इति ऐतिहासिकाः'। इतना ही नहीं, वेद के यथार्थ अर्थ को समझने के लिये इतिहास-पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है। राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास-वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य की 'इतिहास' कल्पना बड़ी विशाल, उदात्त एवं विस्तृत है। वे सबसे पहले 'इतिहास-वेद' की गणना अथर्ववेद के साथ करते हैं और इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव मानते हैं[1]। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से शून्य मानना नितान्त अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास-विषयक ग्रन्थ थे, जो अब धीरे-धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्त्य इतिहास-कल्पना और हमारी इतिहास-कल्पना में एक अन्तर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्त्य इतिहास घटना-प्रधान है, अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमारे जीवन-सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य में 'इतिहास' शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही ग्रहण होता है और यह ग्रहण करना सर्वथा उचित है। महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तर-कारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है, प्रत्युत उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का भी गौरव प्राप्त है। यहाँ इतिहास के अन्तर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्यायसंगत होगा, परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से घटकर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन-चरित्र को चित्रित करने वाला अनुपम ग्रन्थ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है महर्षि वाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। ये दोनों महत्त्वपूर्ण युद्ध इसी भारतवर्ष की सीमा के भीतर लड़े गये थे। उन्हें अन्तर्जगत् के धर्म और अधर्म के द्वन्द्व-युद्ध का प्रतीक-मात्र मान लेना नितान्त अनुचित है। वैदिक साहित्य में हम जिस धर्म का सिद्धान्तरूप में दर्शन करते हैं उसीका व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ हैं, जिनके प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अन्धकार से आवृत तथ्यों का साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रन्थ हैं, परन्तु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त

---

१. अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः–(अर्थशास्त्र)

हुआ है। इतिहास का शब्दार्थ ही है=इति+ह+आस—इस तरह से निश्चय से था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का उपबृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोग ही भली-भाँति समझ सकते हैं, परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जनसाधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे सिद्धान्त वेद के ही हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।[१] परन्तु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वैदिक सिद्धान्तों के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व है। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है :—

> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है उसका समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है—(१) **परिक्रिया**, (२) **पुराकल्प**। 'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है, जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास-ग्रन्थ का सूचक है, जैसे महाभारत। राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रन्थ-रत्न 'इतिहास' के ही अंतर्गत ठहरते हैं। राजशेखर का कथन 'काव्यमीमांसा' में इस प्रकार है—

> परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास-गतिर्द्विधा।
> स्यादेक-नायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ॥

---

१. वेद के तथ्यों के पौराणिक उपबृंहण के लिए द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय का पुराणविमर्श, पृष्ठ २५०–२६१ (चौखम्भा, वाराणसी, १९६५)।

द्वितीय परिच्छेद

(२) उपजीव्य काव्य

प्रत्येक साहित्य में प्रतिभाशाली कवियों की लेखनी से प्रसूत कतिपय ऐसे मर्मस्पर्शी काव्य हुआ करते हैं जिनसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अवान्तर-कालीन कविगण अपने काव्यों को सजाया करते हैं। ऐसे काव्यों को हम व्यापक प्रभाव-सम्पन्न होने के हेतु 'उपजीव्य काव्य' के नाम से पुकार सकते हैं। संस्कृत साहित्य में भी ऐसे उपजीव्य काव्य विद्यमान हैं जिनसे संस्कृत भाषा तथा अर्वाचीन प्रांतीय भाषाओं के कवियों ने अपने विषय के निर्देश के लिए तथा काव्यशैली के विमल विधान के निमित्त सतत उत्साह तथा अश्रान्त स्फूर्ति ग्रहण की और आज भी वे कर रहे हैं। ऐसे उपजीव्य काव्य संख्या में तीन हैं—(१) रामायण, (२) महाभारत तथा (३) श्रीमद्भागवत। इन तीनों का अवान्तर काव्य-साहित्य के ऊपर बड़ा ही विशाल, मार्मिक तथा आभ्यन्तर प्रभाव पड़ा है।

आदिकवि की वाणी पुण्यसलिला भागीरथी है, जिसमें अवगाहन कर पाठक तथा कवि अपने आपको पवित्र ही नहीं जानते, प्रत्युत रसमयी काव्यशैली के हृदयावर्जक स्वरूप के समझने में भी कृतकार्य होते हैं। काव्य तथा नाटकों को विषय-निर्देश देने में रामायण एक अक्षुण्ण स्रोत है। महाभारत तो वस्तुतः व्यासवाणी का विमल प्रासाद है। वह सचमुच विचाररत्नों का एक अगाध महार्णव है, जिसमें गोते लगानेवाला कवि आज भी अपने काव्य को चमत्कृत तथा अलंकृत बनाने के लिए नवीन जगमगाते हीरों को खोज निकालता है। व्यास जी की वह उक्ति अतिशयोक्ति नहीं है जिसमें उन्होंने डंके की चोट इस ग्रन्थ-रत्न की विशालता का निर्देश करते हुए कहा है कि जो कुछ इस महाभारत में है वह दूसरे स्थलों पर है, परन्तु जो इसके भीतर नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

रामायण तथा महाभारत—ये दोनों काव्य-रत्न तो हमारे कविजनों के लिए उपजीव्य माने ही जाते हैं, परन्तु एक तीसरा भी ऐसा ही उपादेय विस्तृत प्रभावशाली ग्रन्थ है जिसकी ओर काव्य के आलोचकों की दृष्टि नहीं गई है। वह ग्रन्थ है पुराणों का मुकुट-मणि श्रीमद्भागवत। भारतीय धर्म के विकास में भागवत का व्यापक प्रभाव किसी भी विज्ञ आलोचक से छिपा नहीं है, परन्तु भारतीय काव्य के कोमल विलास तथा प्रचुर प्रसार में भी भागवत का नितान्त महनीय प्रभाव आलोचकों की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता। यह तो निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य में जो मधुरिमा, सरसता तथा हृदयावर्जकता है वह वैष्णव धर्म की देन है। 'रसो वै सः' के प्रत्यक्ष निदर्शनभूत रसिक-शिरोमणि श्यामसुन्दर की ललित लीला तथा लावण्यमय विग्रह की भव्य झाँकी प्रस्तुत करनेवाला वह भागवत पुराण भारतीय साहित्य के गीति-काव्यों तथा प्रगीत मुक्तकों का

अक्षय स्रोत है जिसकी माधुर्य-भावना को ग्रहण कर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्यों में लालित्य, सरसता तथा हृदयानुरञ्जकता का पुट देकर उन्हें शोभन तथा हृदयावर्जक बनाया। संस्कृत के कृष्ण-कवियों की मधुर सूक्तियों में भागवत की मधुरिमा झलकती है। जयदेव की कोमलकांत-पदावली का विन्यास भागवत की सरसता से ओतप्रोत है। मध्ययुगीन वैष्णव पदकारों के पदों में लालित्य का तथा रस-निर्भरता का विधान श्रीमद्-भागवत के गाढ़ अनुशीलन का परिणत फल है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दी तथा गुजराती कवियों में भागवत का उतना ही रस-निःस्यन्द है जितना गौडीय वैष्णवों की बँगला कविता में। ऐसे महनीय ग्रन्थ को 'उपजीव्य काव्य' की श्रेणी में अन्तर्भुक्त मानना नितान्त उपयुक्त है।

इन ग्रन्थों में उपजीव्यता तथा काव्य की दृष्टि से समानता होने पर भी स्वरूपगत तथा कालगत विषमता स्पष्ट है। रामायण महाकाव्य है, महाभारत इतिहास है तथा श्रीमद्भागवत पुराण है। वाल्मीकि ने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के आदर्श चरित्र का अंकन रसात्मिका शैली के द्वारा किया है, जिसमें केवल श्रोत्र सुख देनेवाले वर्णों का विन्यास न होकर सहृदयों के हृदयों को मुग्ध करनेवाले वाग्विलास ही अधिक हैं। महाभारत शान्तरस-प्रधान सुहृत्सम्मित काव्य है, जिसमें व्यासदेव ने भारतीय संस्कृति के ग्राह्य आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक रूप का अंकन पाण्डव-कौरव के संघर्ष के व्याज से किया है। इसी से यह मानवों के लिए सदाचार की सौम्य शिक्षा का एक विराट् कोश है। श्रीमद्भागवत चरित-प्रधान होने से पुराण है, जिसमें मानवों के कल्याण के निमित्त धराधाम पर अवतीर्ण होनेवाले भगवान् के नाना चरितों, अवतारों तथा तत्सम्बद्ध कथाओं का मुख्यतया विवरण विन्यस्त है। स्वरूपगत विभेद के अतिरिक्त एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है—वाल्मीकीय रामायण रामचन्द्र के कार्यों का ही मुख्यतया प्रति-पादक होने से कर्म-प्रधान है; महाभारत आचार, नीति तथा लोकव्यवहार का विशाल भांडार होने के कारण तथा श्रीमद्भगवतगीता जैसे अध्यात्म-प्रधान ग्रन्थ के समावेश के हेतु स्फुटतया ज्ञान-प्रधान है। भागवत लोक में न्याय-अन्याय, राग-द्वेष, मैत्री-कलह के समस्त जागरूक संघर्ष को मिटाने तथा सरस सामञ्जस्य को स्थापित करनेवाली भगवान् की मधुर लीलाओं का आगार होने के कारण नितान्त भक्ति-प्रधान है। इस प्रकार रामायण, महाभारत तथा भागवत कर्मकालिन्दी, ज्ञान-सरवस्ती तथा भक्ति-गंगा की भव्य त्रिवेणी है जिसका अवगाहन काव्य के साधकों को कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की भावना को दृढ़ तथा शुद्ध बनाने के लिए नितान्त आवश्यक है।

तीनों में कालगत भेद भी स्पष्ट है। कतिपय पश्चिमी आलोचक महाभारत के कथानक में अव्यवस्थित आदिकालीन समाज-व्यवस्था का निर्देश पाने के कारण उसे रामायण से प्राचीनतर मानने की भ्रान्त धारणा बनाये हुए हैं, परन्तु दोनों की रूपगत, अन्तरंग परीक्षा के अनन्तर रामायण की प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। वाल्मीकीय रामायण में महाभारत के न तो पात्रों का ही कहीं उल्लेख है और न उसकी घटनाओं का ही; ग्रन्थस्थ पद्यों के उद्धरण तथा संकेत पाने की तो बात ही असंगत है। परन्तु महाभारत के वनपर्व में पूरा रामचरित 'रामोपाख्यान' के नाम से अनेक अध्यायों में केवल वर्णित ही

नहीं है, प्रत्युत वाल्मीकि के स्पष्ट उल्लेख के साथ रामायण के कतिपय श्लोक भी निर्दिष्ट किये गये हैं। इसका निष्कर्ष यही है कि महाभारत रामकथा से ही परिचित नहीं है, बल्कि वह वाल्मीकि के वर्तमान रामायण से भी पूर्णतया अभिज्ञ है। फलतः रामायण का महाभारत की अपेक्षा प्राचीनतर होना नितान्त सिद्ध है। भागवत की रचना महाभारत में अर्वाचीन है। भागवत के प्रथम स्कन्ध पञ्चम अध्याय में उसके निर्माण का बीज निर्दिष्ट किया गया है। आचार-व्यवहार के विशाल कोशभूत महाभारत की रचना करने पर भी व्यासदेव को आन्तरिक शान्ति जब नहीं मिली, तब महर्षि नारद जी के उपदेश से उन्होंने भक्तिप्रधान[1] भागवत का निर्माण किया। महाभारत में वीररस-प्रधान होने से चित्त में उद्वेग तथा क्षोभ उत्पन्न करने वाले भीषण कूट संग्रामों की ही चर्चा अधिक है, भगवान् के सरस, हृदयरंजक चरित्र का वर्णन नहीं के बराबर है। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए भगवान् की मधुर चरितावली से सम्पन्न भागवत को लिखकर महर्षि व्यासदेव ने हृदय की दुर्लभ शान्ति तथा सान्त्वना प्राप्त की। अतः भागवत का महाभारत से अर्वाचीन होना अन्तरंग परीक्षण से स्वयं-सिद्ध है। फलतः इस उपजीव्य-त्रयी में रूपगत, आत्मगत तथा कालगत भेद स्वतः वर्तमान हैं!

(क) रामायण

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदि काव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदि कवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से विधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा[2]—जिसका आशय यह है कि हे निषाद! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षी को मारा है, अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो। महर्षि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने ही किया, जिसमें लघु-गुरु का निवेश नियमबद्ध था।

बहुत से विद्वान् लोग उत्तरकाण्ड को तथा बालकाण्ड के कतिपय अंश को एकदम प्रक्षिप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषय-सूची दी गयी है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् याकोबी मूल रामायण में अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्का-काण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना-सी प्रतीत होती है, इसलिये उत्तरकाण्ड को पीछे से जोड़ा गया माना जाता है। इस काण्ड में कुछ ऐसे आख्यानों की चर्चा है जिनका संकेत पहले के काण्डों में नहीं मिलता है। फिर भी, हम यह नहीं कह सकते कि

---

१. द्रष्टव्य–श्रीमद्भागवत् स्कन्ध १, अ० ७, श्लोक ७–८।

२. मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ (बाल० २।१५)

वह बहुत पीछे जोड़ा गया है। बौद्धों में एक प्रसिद्ध जातक है—'दशरथ जातक' जिसमें रामायण का वर्णन संक्षेप रूप में उपलब्ध होता है। इसमें पालि-भाषा में रूपान्तरित उत्तरकाण्ड का एक श्लोक हूबहू मिलता है। इस जातक का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि उत्तर काण्ड की रचना उक्त शतक से पहले की है।

इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्री संहिता' कहते हैं, अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं—ठीक उतने ही हजार जितने 'गायत्री' के अक्षर हैं। प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मन्त्र के ही अक्षर से क्रमशः आरम्भ होता है, यह विद्वानों का कहना है। अनुष्टुप् श्लोकों के अतिरिक्त अन्य छंदों में भी पद्य मिलते हैं। विद्वान् लोग इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर क्षेपक भी मानते हैं, परन्तु काव्य में एकता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। ग्रन्थ में पाठभेद भी कम नहीं है। उत्तरी भारत, बंगाल, काश्मीर तथा दक्षिण भारत से रामायण के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें पाठभेद बहुत ही अधिक है। उनमें एक दूसरे से श्लोकों का ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत कहीं-कहीं तो सर्ग के सर्ग भिन्न दिखाई पड़ते हैं। वाल्मीकि रामायण का पाठ एक रूप नहीं है। आजकल इसके तीन पाठ प्रचलित हैं—(१) दाक्षिणात्य पाठ : गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस (बम्बई), निर्णय सागर प्रेस (बम्बई) तथा दक्षिण के संस्करण। यह पाठ अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित तथा व्यापक है। (२) गौडीय पाठ—गौरेसियो (पेरिस) तथा कलकत्ता संस्कृत कालेज के संस्करण। (३) पश्चिमोत्तरीय पाठ—दयानन्द महाविद्यालय (लाहौर) का संस्करण। इन पाठों की समीक्षा करने से गौडीय एवं पश्चिमोत्तरीय पाठ अपेक्षाकृत बहुत निकट प्रतीत होते हैं। इन दोनों पाठों में दाक्षिणात्य पाठ के आर्ष प्रयोग एक समान ही सुधारे गये हैं। फलतः दाक्षिणात्य पाठ अपेक्षाकृत मौलिक एवं प्राचीन माना जाना चाहिये। प्रतीत होता है कि ईस्वी पूर्व की शताब्दियों में **आदिरामायण** के दो पाठ धीरे-धीरे भिन्न होने लगे थे—**उदीच्य** पाठ तथा दाक्षिणात्य पाठ। गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में विभिन्नता होने पर भी मूलतः समानता है। अतः इन दोनों का सामान्य पाठ उदीच्य पाठ का प्रतिनिधि माना जाय, तो किसी प्रकार की विमति न होनी चाहिये। भारत के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी अंचल में प्रचलित होने से मूलतः एक होने वाला भी उदीच्य पाठ दो प्रकारों में विकसित हो गया। डॉ० लेवि का अनुमान है कि कम-से-कम ५०० ईस्वी से ये दोनों पाठ भिन्न होने लगे थे। इन समस्त विभिन्न पाठों की तुलना से बड़ौदा से रामायण का विमर्शात्मक संस्करण[1] प्रस्तुत किया जा रहा है, जो वाल्मीकि की मूल रचना का प्रामाणिक रूप उपस्थित करनेवाला माना गया है।

समय निरूपण

वाल्मीकीय रामायण के निर्माण का समय बाहरी तथा भीतरी प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया

---

१. रामायण का विमर्शात्मक संस्करण, बड़ौदा विश्वविद्यालय से प्रकाशित।

किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना-मण्डतिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउम चरिअ' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अन्तर (लगभग ६२ ई०) में की। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्मावलम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित्र से परिचय प्राप्त कराने के लिए लिखा गया। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने 'बुद्धचरित' में सुन्दरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है, जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गए हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पालीरूप में उपलब्ध होता है। जातकों का समय-निरूपण झमेले का विषय है। यद्यपि उनकी कथाएँ प्राचीन काल में इस देश में प्रचलित थीं, तथापि उनका समय तृतीय शतक ई० पूर्व में साधारणतया माना जाता है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ई० पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

वर्तमान महाभारत रामकथा से ही परिचित नहीं है, अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली-भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३–९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचन्द्र से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं। श्रृङ्गवेरपुर (सिगरौर, जिला प्रयाग, वनपर्व ८५।६५) तथा गोप्रतार (फैजाबाद में गुप्तार घाट; वनपर्व ८४।७०) वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण प्राचीन ग्रन्थ माना जाता था। महाभारत को वर्तमान रूप ईस्वी के आरम्भ में प्राप्त हुआ है, अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी।

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भली-भाँति प्रकट कर रहा है। रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भली-भाँति मिलता है :—

(१) पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह एक साधारण ग्राम था जिसका नाम बौद्धग्रन्थों में 'पाटलिग्राम' दिया है। अजातशत्रु ने शत्रु लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया[१]। इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं, पर पाटलिपुत्र का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता[२]। इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले लिखा गया।

---

१. राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० १४१।

२. बालकाण्ड, सर्ग ३१।

(२) कोशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है,[१] परन्तु जैन और बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या के स्थान पर वह 'साकेत' नाम से ही प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की[२]। रामायण की रचना तव की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कोशल के राजा प्रसेनजित् 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना बुद्ध से पूर्वकाल में हुई।

(३) गंगा पार करने पर राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके वर्तमान राजा का नाम 'सुमति' था। इक्ष्वाकु की 'अलम्बुसा' नामक रानी से उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसीलिए यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी। रामायण में विशाला[३] और मिथिला[४] दो स्वतन्त्र राजतन्त्र राज्य थे। बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य पृथक् और स्वतन्त्र न होकर वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे और शासनपद्धति भी गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिए।

(४) बालकाण्ड की सूचना के अनुसार उत्तरी भारत कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

(५) सारे रामायण में केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, पर डॉ० याकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई। अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

रामायण के टीकाकार

वाल्मीकीय रामायण का महत्त्व केवल काव्यदृष्टि से ही नहीं है, प्रत्युत वह नाना वैष्णव सम्प्रदायों में एक उपास्य धार्मिक ग्रन्थ भी है। इसलिए रामायण को आश्रय मानकर अनेक व्याख्याग्रन्थों की रचना भिन्न-भिन्न युगों में की गई है। डा० ओफ्रेक्ट के अनुसार टीकाओं की संख्या ३० है।

---

१. अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता। (बाल० ५।६)

२. श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य च ।। (उत्तर० १०८।५)

३. द्रष्यव्य—बालकाण्ड, सर्ग ४७, श्लोक ११–२०।

४. मिथिला में जनकवंशी नरेशों का आधिपत्य था। उस समय मिथिला के राजा का नाम सीरध्वज जनक था—द्रष्टव्य, बाल०, सर्ग ५०।

मध्ययुग में रामायण की लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में कम से कम दस टीकायें लिखी गयीं, जो व्याख्या की दृष्टि से बहुत ही असमान्यगुणों से सम्पन्न हैं। इन टीकाओं का सामान्य परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) **रामानुजीय**—प्राचीन व्याख्याओं में रामानुज की (जो कोण्डाडै रामानुज के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं) यह व्याख्या नितान्त प्रसिद्ध है। ये वाधूलगोत्रीय वरदार्य के पुत्र थे। इस टीका को वैद्यनाथ दीक्षित तथा गोविन्दराज ने उल्लिखित किया है। समय १४०० ईस्वी के आस-पास।

(२) **सर्वार्थसार**—इससे पश्चाद्वर्ती हैं हारीतगोत्रीय वेंकट कृष्णाध्वरी (उपनाम द्वारा वेंकटेशयज्वा) रचित टीका, जिसे वैद्यनाथ दीक्षित ने निर्दिष्ट किया है। ये ही 'पितृमेघसार' नामक प्रख्यात धर्म-निबन्ध के भी प्रणेता हैं। इनके गुरु थे आदि वन शठगोप (१४६०–१५२० ई०) और इसलिए वेंकटेश का समय १४७५ ई० के आसपास प्रतीत होता है।

(३) **रामायण-दीपिका**—वैद्यनाथ दीक्षित (प्रख्यात धर्मग्रन्थ 'स्मृतिमुक्ताफल' के रचयिता) की यह विख्यात व्याख्या है। ये 'सर्वार्थसार' को अपनी टीका में उद्धृत करते हैं और ईश्वर दीक्षित के द्वारा उल्लिखित किये गये हैं। इसलिए इनका समय १५ वें शतक का अन्त माना जा सकता है (१५०० ई० लगभग)।

(४) **'बृहद्विवरण' 'लघु-विवरण'**—ईश्वर दीक्षित ने रामायण के ऊपर इन टीकाओं का प्रणयन किया, इनमें से प्रथम व्याख्या का काल १५१८ ई० है। फलतः इनका समय १६ वीं शती का प्रथमार्ध है (१५२५ ई० लगभग)।

(५) **तीर्थीय** अथवा **रामायण-तत्त्वदीपिका**[१]—यह टीका अपने प्रणेता 'महेश्वर-तीर्थ' के नाम पर 'तीर्थीय' अभिहित की जाती है। टीका के आरम्भ में ग्रन्थकार अपने गुरु नारायण तीर्थ को प्रणाम करता है। ये नारायण तीर्थ अपने युग के काशीस्थ संन्यासियों में अग्रणी माने जाते थे। इन्होंने मधुसूदन सरस्वती के प्रख्यात ग्रन्थ 'सिद्धान्तविन्दु' के ऊपर टीकाद्वय (लघु तथा गुरु) का प्रणयन किया। मधुसूदन (लगभग ई० १५५०–१६२५) के पश्चाद्वर्ती होने से इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध और इनके शिष्य महेश्वर तीर्थ का समय १७०० ई० के आसपास मानना उचित है। यह टीका पाठों के संशोधन में तथा पदों की व्याख्या में बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है। गोविन्दराज ने इनके व्याख्यात अर्थ को अपनी टीका में सादर ग्रहण किया है। रामायण तिलक में भी ये समादृत हैं। रामायण युद्ध के दिवसों की गणना में तिलक ने इनके मत को कतक के साथ प्रमाणरूपेण उद्धृत किया है (युद्धकाण्ड १०८ सर्ग की टीका)।

(६) **रामायण-भूषण**[२]—अपने रचयिता गोविन्दराज के नाम पर यह 'गोविन्द-राजीय' के नाम से भी प्रख्यात है। प्रत्येक काण्ड में व्याख्यान के नाम ग्रन्थकार ने भिन्न-

---

१. वेंकटेश्वर प्रेस से पत्राकार में प्रकाशित।

२. कृष्णाचार्य के द्वारा कुम्भकोर्ग से १९११ में तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से भी प्रकाशित।

भिन्न दिये हैं, जो काण्ड-क्रम से इस प्रकार हैं—मणिमञ्जीर, पीताम्बर, रत्नमेखल, मुक्ताहार, शृङ्गारतिलक, मणिमुकुट तथा रत्नकिरीट। गोविन्दराज श्री-वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इससे श्री-वैष्णवों की मान्यता के अनुसार विरचित होने से उनमें यह व्याख्या मान्य तथा नितान्त प्रामाणिक मानी जाती है। गोविन्दराज कांची के निवासी कौशिक गोत्रीय वरदराज के पुत्र थे। शठगोपदेशिक के वे शिष्य थे[1]। युद्धकाण्ड की टीका के अन्तिम पद्य से पता चलता है कि ये भावनाचार्य के द्वारा रामायण की टीका लिखने में प्रोत्साहित किये गये। भावनाचार्य का समय विजयनगर के राजा कृष्णराय के राज्यकाल से सम्बद्ध है। तिरुपति की यात्रा के समय श्रीवेंकटेश का स्वप्न में आदेश पाकर इन्होंने इस टीका की रचना की। यह टीका बहुत प्रामांणिक और पाण्डित्यपूर्ण है। वाल्मीकि-रामायण के भीतर विद्यमान वैष्णव सिद्धान्तों के विशद विवरण के लिए तो यह व्याख्या सचमुच अनुपम है। गोविन्दराज के समय का निर्णय उनके द्वारा उद्धृत ग्रन्थकारों की सहायता से किया जा सकता है। इनके द्वारा उद्धृत वेदान्तदेशिक का मृत्यु संवत् १३६९ ईस्वी है, तथा 'साहित्य-चिन्तामणि' राजा वेमभूपाल के द्वारा प्रणीत अलंकार ग्रन्थ है। तीर्थीय टीका के उद्धरण के हेतु समय है १८ शती का आरम्भ। वैष्णव सिद्धान्तों की समीक्षा से प्रतीत होता है कि ये वेंगलइ कुल में पैदा हुए थे, परन्तु उदारवृत्ति होने से ये बडगलइ मत की ओर आकृष्ट हुए और उस मत के मान्य आचार्य वेदान्तदेशिक के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा की भावना इसी उदारवृत्ति में अन्तर्हित है।[2] ये तिरुपति में निवास करते थे और वहीं रामायण का व्याख्यान सुनाया करते थे।

(७) **वाल्मीकि हृदय**—यह अत्रिगोत्री अहोबल द्वारा रचित टीका है, जिसमें गोविन्दराज का मत अनेक स्थानों पर उद्धृत किया गया है। इनके गुरु थे अहोबिलमठ के षष्ठ आचार्य शठकोप देशिक (उपनाम परांकुश), जो विजयनगर के राजा रामराय (१६ शतक) के समकालीन थे। मूलतः अहोबल आत्रेय का समय १७ वीं शती का आरम्भ मानना उचित होगा (१५७५ ई० से लेकर १६२५ ई० के आसपास)।

(८) **अमृत कतक** अथवा **कतक**[3]—इस प्रख्यात टीका के रचयिता का नाम है—माधवयोगी। इस टीका के आरम्भ में इन्होंने कालहस्तीश्वर, एकाग्रनाथ (काञ्ची में विद्यमान प्रख्यात देवता), वेदगिरीश्वर ('तिरुक्कलु कुन्र्म्' नामक प्रसिद्ध क्षेत्र के देवता) को प्रणाम किया है। टीका के अवसर पर द्राविडी भाषा के शब्दों को पर्याय रूप में दिया है। विशिष्ट वृक्षों के नाम द्राविडी में दिये गये हैं। 'पिपासा' के अर्थ में 'दाह' शब्द का तथा 'विवाह' के लिए 'कल्याण' शब्द का प्रयोग जो इन्होंने किया है तमिल भाषा में ही होता

---

१. इत्थं कौशिक-वंश-मौक्तिक-मणिर्गोविन्दराजाभिधो।
वात्स्य-श्री-शठकोपदेशिक-पदद्वन्द्वैक-सेवारतः ॥ (टीका का अन्त)
(ईस्वी १४०३–१४२० ई०)

२. द्रष्टव्य—ऐनल्स आफ भण्डारकर इन्सिटिच्यूट १९४२, पृ० ३०–५४। इस लेख में ग्रन्थकार के समय, ग्रन्थ और मत का सर्वाङ्गीण प्रामाणिक विवेचन है।

३. इस टीका के तीन काण्ड मैसूर विश्वविद्यालय से प्रकाशित हैं (१९६०–१९७१)।

है। फलतः यह द्राविड़ थे और सो भी काञ्ची प्रान्त के[1]। इनके समय का निर्धारण भली-भाँति किया जा सकता है। इन्होंने बिना नामनिर्देश किये महेश्वर तीर्थ तथा गोविन्दराज की टीका की आलोचना की है। फलतः ये गोविन्दराज के पश्चाद्वर्ती टीकाकार हैं अष्टादशशती के पूर्व भाग में स्थित (लगभग ई० १६५० ई०--१७२५ ई०)। 'रामायण तिलक' में इनका बहुशः उल्लेख इस काल-निर्णय से असंगत नहीं होता। कतक टीका रामायण के विषम स्थलों का विवेचन करती है। रामायण के प्रतिसर्ग श्लोकों का संख्या निर्धारण इसकी महती विशिष्टता है। क्षेपक का भी विचार इन्होंने बड़े विवेक के साथ किया है। वेद, वेदान्त, मीमांसा, व्याकरण आदि अनेक शास्त्रों में इनका पाण्डित्य श्लाघनीय है। 'उपनिषन्मंगलाभरण' नामक इनका वेदान्त-विषयक ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

(९) **रामायण तिलक**--यह सर्वाधिक लोकप्रिय टीका है। श्रृंगवेरपुर (आधुनिक सिंगरौर, जिला इलाहाबाद) के विसेन वंशी राजा रामवर्मा ही इसके वास्तविक प्रणेता हैं। ये नागेश भट्ट के आश्रयदाता थे, जिसका उल्लेख स्वयं नागेश ने किया है। इन्होंने अध्यातमरामायण की भी टीका लिखी है। फलतः दोनों रामायणों–अध्यात्म और वाल्मीकीय--के टीकाकार राजा रामवर्मा हैं। नागेश के ऊपर इस टीका का कर्तृत्व आरोप करना निरी भ्रान्ति है। समय १८ वीं शती का उत्तरार्ध (प्रकाशित)। कतक तथा तीर्थ का उल्लेख प्राचीन टीकाकारों में बड़े आदर के साथ किया गया है। मूल को समझने में विशेष उपयोगी यह 'रामीया' टीका पाठभेद की भी समीक्षा करती है।

(१०) **रामायण-शिरोमणि**--रामायण की यह व्याख्या वंशीधर तथा शिवसहाय की सम्मिलित रचना है। आरम्भ के पद्यों से पता चलता है कि वंशीधर तोडिराम के पौत्र तथा सीताराम के पुत्र थे। रचना त्रिवेणी के तट पर प्रयाग में की गई थी। रचना काल १९२१ सं० (१८६५ ईस्वी) का उल्लेख टीका में किया गया है। काल-क्रम से आधुनिक होने पर व्याख्या के विषय में विशेष प्रौढ़, पण्डित्यपूर्ण तथा विस्तृत है।

(११) **मनोहरा**[2]--इसके रचयिता वंगदेशीय **लोकनाथ चक्रवर्ती** हैं। ये[3] मूलतः पूर्व बंग के जसोहर जिले के निवासी थे तथा चैतन्य देव के समकालीन थे। वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर नदिया में आकर रहने लगे थे। अतः इनका समय १६ वीं शती है। आज भी इनके वंशजों में पाडित्य की कमी नहीं है। इनकी टीका अल्पाक्षरा है, जो वस्तुतः टिप्पणी ही कही जा सकती है, परन्तु पाठ-संशोधन इसकी महती विशेषता है। इन्होंने गौडीय रामायण के पाठ पर अपनी टीका लिखी है। पश्चिमी पाठ, अर्थात् देवनागरी पाठ से भी ये पूर्णतः परिचित हैं तथा उसे स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट किया है। इनके समय में **विमलबोध** तथा **सर्वज्ञ** की टीकायें प्रसिद्ध थीं। इनका उल्लेख आदरपूर्वक इन्होंने टीका के आरम्भ में किया है।

---

१. द्रष्टव्य –प्रथम काण्ड की प्रस्तावना, पृ० १४–१७।

२. गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से अनेक जिल्दों में तिलक तथा भूषण के साथ प्रकाशित।

३. कलकत्ता से बंगाक्षर में प्रकाशित, १९५१ ई०।

(१२) **धर्माकूतम्**[1]—रामायण की आलोचनात्मक व्याख्या है, जिसमें ग्रन्थकार ने बड़े प्रमाणों को उपन्यस्त कर दिखलाया है कि रामायण वेद तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा और उपदेशों का प्रतिपादक ग्रन्थरत्न है। पद-व्याख्या की अपेक्षा तात्पर्य-निर्देश की ही यहाँ महिमा विराजती है। ग्रन्थ का यह वैशिष्ट्य इस प्रकार उल्लिखित है—**कृतिरियं सकलश्रुतिसम्मता स्मृतिपुराणवचोभिरलंकृता**। इसके रचयिता हैं त्र्यम्बक मखी, जो तंजोर के राज्यस्थापक एकोजी (१६७४ ई०—१६८७ ई०) के मन्त्री के पुत्र तथा नरसिंह के भ्राता हैं। इनके पितामह त्र्यम्बकामात्य भी तंजोर के राजाओं के दरबार के धर्माध्यक्ष थे। इस प्रकार इस व्याख्या का रचनाकाल १७ वीं शती का उत्तरार्ध है।

रामायण के तात्पर्य को वर्णन करने वाले ग्रन्थों की भी उपलब्धि हुई है। ऐसे ग्रन्थों में 'रामायण-तात्पर्य-दीपिका' तथा नारायणयति-रचित 'रामायणतत्त्वदर्पण' का नामोल्लेख किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त किसी ने रामायण के किसी प्रसंग पर टीका लिखी है, तो दूसरे ने रामायण के चुने हुए पद्यों पर व्याख्या लिखी है। एक अज्ञातनामा लेखक ने 'चतुरर्थी' व्याख्या में अनेक पद्यों के चार अर्थों का प्रदर्शन किया है जिसमें उसकी प्रतिभा तथा पाण्डित्य का विशेष परिचय मिलता है।[2] इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण के व्याख्यानों तथा अनुशीलनों की लम्बी परम्परा ग्रन्थ के महत्त्व तथा प्रभाव की निर्देशिका है।

समीक्षा

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत के आदिकवि हैं तथा उनका रामायण आदिकाव्य है। उनकी कविता देश तथा काल की अवधि के द्वारा परिच्छिन्न नहीं की जा सकती। वे उन विश्व-कवियों में अग्रणी हैं जिनकी वाणी एक देश-विशेष के प्राणियों का ही मंगल-साधन नहीं करती और न किसी काल-विशेष के जीवों का मनोरंजन करती है। काल-क्रम से संस्कृत साहित्य के विकास में आदिम होने पर भी वाल्मीकि की अमृतमयी वाणी में सौन्दर्य-सृष्टि का चरम उत्कर्ष है तथा महनीय काव्य-कला का परम औदात्य है। वाल्मीकि का रामायण 'महनीय कला' का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। फ्रान्स के आदरणीय आलोचक फ्लाउबेर ने 'महनीय कला' के लिए जिस आदर्श को काव्य-गोष्ठी में प्रस्तुत किया है वह वाल्मीकि के इस काव्य में सुचारु रूप से अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। फ्लाउबेर की सम्मति में 'ग्रेट आर्ट' (महान् कला) इन वस्तुओं की साधना तथा प्रसारणा से मण्डित होती है[3]—**"मानव सौख्य की अभिवृद्धि, दीन-आर्त जनों का उद्धार, परस्पर में सहानुभुति का प्रसार, हमारे और संसार के बीच सम्बन्ध के विषय में नवीन या प्राचीन सत्यों का अनुसन्धान, जिससे इस भूतल पर हमारा जीवन उदात्त तथा ओजस्वी बन जाय या**

---

१. श्रीवाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम् से कतिपय भागों में अंशतः प्रकाशित।

२. इन टीकाकरों के विषय में द्रष्टव्य—कृष्णमाचार्य-हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, (पृ० २२–२६) वाराणसी, १९७०।

३. Walter Pater—Appreciations : Style नामक प्रख्यात ग्रन्थ में उद्धृत, पृष्ठ ३८।

ईश्वर की महिमा झलके।" यह लक्षण वाल्मीकि के रामायण के ऊपर अक्षरशः घटित होता है। जीवन को ओजस्वी तथा उदात्त बनाने के लिए रामायण में जिन आदर्शों को वाल्मीकि ने अपनी अमर तूलिका से चित्रित किया, वे भारतवर्ष के ही लिए मान्य और आदरणीय नहीं हैं, प्रत्युत वे मानव-मात्र के सामने उच्च नैतिक स्तर तथा सामाजिक उदात्तता की भावना को प्रस्तुत करते हैं।

हमारी दृष्टि में वाल्मीकि का काव्य शाश्वतवाद का उज्ज्वल उदाहरण है। वर्ण्य विषयों की दृष्टि से काव्य को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(क) जीवन के अस्थायी तत्त्वों के संगठन द्वारा निर्मित काव्य—इस प्रकार की साहित्यिक रचना किसी काल-विशेष के लिए ही रोचक और उपादेय होती है, उस काल या युग का परिवर्तन होने पर नई आर्थिक स्थिति या सामाजिक ढाँचा आने पर वह केवल पुरानी ही नहीं पड जाती; बल्कि वह अनावश्यक, अनुपादेय, निष्प्राण तथा निर्जीव बन जाती है। प्रत्येक युग में कतिपय समस्याएँ अपना विशिष्ट समाधान चाहती हैं; जैसे मध्ययुगीय यूरोप में 'फ्यूडल सिस्टम' (सामन्तीय प्रथा), वर्तमान युग में वर्गों का परस्पर संघर्ष, मालिक और मजदूर का परस्पर विद्रोह, जमींदार तथा किसान का मनोमालिन्य, जो किसी विशेष आर्थिक ढाँचे की उपज है। इन समस्याओं का समाधान अनेक मूल्यवान् कृतियों का प्रेरक रहा है, परन्तु उस युग-विशेष के परिवर्तन के साथ ही साथ ये कला-कृतियाँ भी विस्मृति के गर्त में विलीन हो जाती हैं।

(ख) जीवन के स्थायी मूल्यवान् तत्त्वों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों पर आधारित काव्य-कृतियाँ—मानव-जीवन बालू की भीत के समान शीघ्र ही ढहकर गिर जाने वाली वस्तु नहीं है। उसमें स्थायित्व है; पीछे आने वाली पीढ़ियों को राह दिखाने की क्षमता है। और यह सम्भव होता है महनीय शोभन गुणों के कारण; जैसे उदात्तता, अर्थ और काम की धर्मानुकूलता, संकट के समय दीन का संरक्षण, विपत्ति के आघात से प्रताड़ित मानव को अपने बाहु-बल से बचाना, शरणागत का रक्षण आदि। इन्हीं गुणों की प्रतिष्ठा जीवन में स्थायिता तथा महनीयता की जननी होती है। ऐसे काव्यों को हम शाश्वत काव्य का अभिधान दे सकते हैं। वाल्मीकि का काव्य इस **शाश्वत काव्य** का समुज्ज्वल निदर्शन है, क्योंकि वह मानव-जीवनके स्थायी मूल्यवान् तत्त्वों को लेकर निर्मित किया गया है।

संस्कृत की आलोचना-परम्परा में रामायण **'सिद्धरस'** प्रबन्ध कहा जाता है। कथा-वस्तु की विवेचना के अवसर पर आनन्दवर्धन का यह प्रख्यात श्लोक है (पृष्ठ १४८):—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी।

अभिनव गुप्त की व्याख्या से 'सिद्धरस' का अर्थ स्पष्ट झलकता है—**सिद्धः आस्वादमात्र-शेषः, न तु भावनीयो रसो यस्मिन्**—अर्थात् जिस में रस की भावना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत रस आस्वाद के रूप में ही परिणत हो गया रहता है, वह काव्य 'सिद्धरस' कहलाता है, जैसे रामायण। **श्रीरामचन्द्र का नाम सुनते ही प्रजावत्सल नरपति, आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही भ्राता, विपद्ग्रस्त मित्रों के सहायक बन्धु का कमनीय चित्र हमारे मानस-**

पटल के ऊपर अंकित हो जाता है। जनकनन्दिनी जानकी का नाम ज्यों ही हमारे श्रवण को रससिक्त बनाता है, त्यों ही हमारे लोचनों के सामने अलोकसामान्य पातिव्रत की मंजुल मूर्ति झूलने लगती है। उनके कथन-मात्र से हमारा हृदय आनन्दविभोर हो उठता है। उनसे आनन्द की स्फूर्ति होने के लिए क्या राम के आदर्श चरित्र के अनुशीलन की आवश्यकता पड़ती है? हमारा हृदय राम-कथा से इतना स्निग्ध, रस-सिक्त तथा घुल-मिल गया है कि हमारे लिए राम और जानकी किसी अतीत युग की स्मृति न रहकर वर्तमान काल के जीवन्त प्राणी के रूप में परिणत हो गए हैं। इसीलिए रामायण को 'सिद्धरस' काव्य कहा गया है।"

वाल्मीकि विमल प्रतिभा से सम्पन्न, दैवी गुणों से मण्डित, आर्षचक्षु रखनेवाले एक महनीय 'कवि' थे। 'कवि' के वास्तविक स्वरूप की झलक आलोचकों को वाल्मीकि के दृष्टान्त से ही मिली। कवि की कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का भी मञ्जुल सामरस्य रहता है। महर्षि को वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था, परन्तु जब तक 'वर्णन' का उदय नहीं हुआ तब तक उनकी 'कविता' का प्राकट्य नहीं हुआ। समालोचकशिरोमणि भट्टतौत का यह कथन यथार्थ है:—

तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुने।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

संस्कृत की काव्य-धारा रसकूल का आश्रय लेकर प्रवाहित होगी—इसका परिचय उस समय मिल गया जब प्रेमपरायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था—शोकः श्लोकत्वमागतः। काव्य का जीवन रस है; काव्य का आत्मा रस है—यह आदिकवि की आलोचना-जगत् को महती देन है।

वाल्मीकि के काव्य की सबसे बड़ी विशिष्टता है—**उदात्तता**। पात्रों के चित्रण में, प्रसंगों के वर्णन में, प्रकृति के चित्रण में तथा सौन्दर्य की स्फूर्ति में सर्वत्र उदात्तता स्वाभाविक रूप से विराजती है। आदिकवि के इस काव्य-मन्दिर की पीठस्थली है राम तथा जानकी का पावन चरित्र। राम शोभन गुणों के भव्य पुन्ज हैं। वाल्मीकि ने ही हमें **रामराज्य** की सच्ची कल्पना देकर संसार के सामने एक आदरणीय आदर्श प्रस्तुत किया। राम कृतज्ञता की मूर्ति हैं—वे किसी प्रकार किये गए एक भी उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं, परन्तु सैकड़ों अपकारों का भी वे स्मरण नहीं रखते (२।१।११) :—

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

वे सदा दान देते हैं, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते, सत्यपराक्रम राम अपने प्राण बचाने के लिए भी इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते (३३३६) :—

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः॥

राम पूर्ण मानव हैं। वे आदर्श पति हैं। सीता के प्रति राम का सन्ताप चतुर्मुखी है। स्त्री (अबला) के नाश होने से वे कारुण्य से सन्तप्त हैं। **आश्रिता** के नाश से दया (आनृशंस्य) के कारण, **पत्नी** (यज्ञ से सहधर्म-चारिणी) के नाश से शोक के कारण तथा **प्रिया** (प्रेमपात्री) के नाश से प्रेम (मदन) के कारण वे सन्तप्त हो रहे हैं (५।१५।४९) :—

स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥

राम के भातृ-प्रेम का परिचय हमें तब मिलता है, जब वे लक्ष्मण को शक्ति लगने पर अपने अनूठे हृद्गत भाव की अभिव्यक्ति करते हैं :—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥

प्रत्येक देश में स्त्रियाँ मिल सकती हैं तथा बन्धुजन भी प्राप्त हो सकते, परन्तु मैं तो ऐसा देश ही नहीं देखता जहाँ सहोदर भ्राता मिल सके। अनूठी उक्ति है राम की यह। शत्रु के भ्राता विभीषण को बिना विचार किये ही शरणागति प्रदान करना राम के चरित्र का मर्मस्थल है, परन्तु मेरी दृष्टि में उनकी उदात्तता का परिचय रावण-वध के प्रसंग में हमें मिलता है। राम का यह औदार्य आज तो कल्पना के भी बाहर है :—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

हे विभीषण, वैर का अन्त होता है शत्रु के मरण से। रावण की मृत्यु के साथ ही साथ हमारी शत्रुता भी समाप्त हो गई। उसका दाह-संस्कार आदि क्रिया करो। **मेरा भी यह वैसा ही है जैसा तुम्हारा। "मामाप्येष यथा तव"**—रामचरित्र की उदात्तता का चरम उत्कर्ष है।

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता और शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का शील वाल्मीकि की प्रतिभा का विलास है, पातिव्रत धर्म का उत्कर्ष है तथा आर्य-ललना की विशुद्धि का प्रतीक है। रावण को सीता की यह भर्त्सना कितनी उदात्त है (५।३७।६२) :—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥

इस निन्दनीय निशाचर रावण से प्रेम करने की बात दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बाएँ पैर से—भी नहीं छू सकती।

अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास पहुँचा देने के हनुमान के प्रस्ताव को ठुकराती हुई सीता कह रही हैं कि मैं स्वयं किसी भी परपुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती। रावण का तो स्पर्श अनाथ तथा असमर्थ होने से ही मुझे करना पड़ा था। सीता की यह चिर स्मरणीय उक्ति विशुद्धि के चरम उत्कर्ष की सूचिका है (५।३७।६२) :—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम ॥

परित्याग के समय भी सीता का धैर्य तथा उनका उदार चरित्र वाल्मीकि की लेखनी का चमत्कार है जिसे कालिदास और भवभूति ने अपने ग्रन्थों में अक्षरशः चित्रित किया है।

रामायण का कला पक्ष

रामायण में हृदयपक्ष का प्राधान्य होने पर भी कलापक्ष की अवहेलना नहीं है। वाल्मीकि की भाषा उदात्त भावों की अभिव्यक्ति का समर्थ माध्यम है। छोटे-छोटे, प्रायः समासविहीन पदों में महर्षि ने बड़े ही सरस तथा सरल शब्दों के द्वारा अपने भावों की अभिव्यञ्जना की है। शाब्दी सुषमा की ओर महर्षि का ध्यान स्वतः आकृष्ट हुआ है तथा उन्होंने इसका प्रकटीकरण बड़ी सुन्दरता तथा भावुकता के साथ किया है। आनु-प्रासिक शोभा के लिए एक पद्य का दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

विनष्टशीतांबुतुषारपंको महाग्रहग्राहविनष्टपंकः।
प्रकाशलक्ष्म्याश्रयनिर्मलांको रराज चन्द्रो भगवान् शशांकः ॥

उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग वर्ण्य वस्तु के रूप, गुण और स्वभाव का स्पष्टीकरण बड़ी रुचिरता के साथ कर रहा है। कालिदासीय उपमा अपनी सुषमा के लिए आलोचकों के समादर की भाजन बनी हुई है, परन्तु वाल्मीकीय उपमा में कुछ अपना निजी वैशिष्टच तथा रुचिर चमत्कार है, जिसकी तुलना अन्यत्र नहीं मिलती। वाल्मीकीय उपमा अपने औचित्य, आनुरूप्य तथा रसानुकूल्य से आलोचकों का ध्यान बरबस खींचती है। उसकी बड़ी मार्मिक विलक्षणता है—**मूर्त की अमूर्त पदार्थों से तुलना**। अशोक वाटिका के एकान्त में बैठी हुई दयनीय सीता के चित्रण में वाल्मीकि ने उपमाओं का एक भव्य व्यूह खड़ा कर दिया है, जो साहित्य-संसार में एकदम अछूती, नवीन तथा चमत्कारिणी है। शोक के भार से न्यस्त सीता धूमजाल से संसक्त अग्नि की शिखा के समान हैं। सन्दिग्ध स्मृति, विहत श्रद्धा, प्रतिहत आशा, उपसर्ग (विघ्नबाधा) से युक्त सिद्धि, कलुषित बुद्धि, नवीन अपवाद के कारण विनष्ट कीर्ति के साथ शोकमग्ना सीता की तुलना करने वाला कवि हमारे हृदय में दैन्य की भावना को तीव्र बना रहा है तथा सीता के दशावैषम्य के उत्कर्ष की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है (सुन्दर, १५ सर्ग, श्लोक ३१ और ३२)। सीता को देखकर हनुमान की बुद्धि सन्देह में पड़ जाती है, जिस प्रकार शास्त्र के अनभ्यास से विद्या नितान्त शिथिल बन जाती है और पद-पद पर सन्देह पैदा करती है :—

तस्य संदिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥

अलंकार से विहीन, सुषमा से हीन सीता को देखकर हनुमान जी ने बड़े कष्ट से पहचाना कि यही सीता है, जिस प्रकार संस्कार से हीन तथा अर्थान्तर (भिन्न अर्थ) में प्रयुक्त वीणा को सुनकर श्रोता बड़ी कठिनता से उसके स्वरूप को पहचानता है (सुन्दर काण्ड १५।३७):—

दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमानलंकृताम् ।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ।।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा का प्रदर्शन भी बड़ा चमत्कारपूर्ण है। लंका-दाह के अनन्तर हनुमान अरिष्ट पर्वत के ऊपर जब चढ़ते हैं (सर्ग ५६), तब वाल्मीकि ने उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है—एक से एक नवीन चमत्कारी उत्प्रेक्षा जिसे कवि की वाणी ने स्पर्श कर उच्छिष्ट नहीं बना डाला है। पर्वत के शृङ्गों से लटकने वाले मेघों के द्वारा प्रतीत होता है कि वह पहाड़ चादर ओढ़े हुए है:—

सोत्तरीयमिवाम्भोदैः शृङ्गान्तरविलम्बिभिः ।

जल की बाढ़ की गम्भीर गड़गड़ाहट के कारण वह पर्वत अध्ययन करता-सा प्रतीत होता है तथा अनेक झरनों के शब्दों से वह गीत गाता-सा मालूम पड़ रहा है (सुन्दर काण्ड ५६।२८):—

तोयौघनिःस्वनैर्मन्द्रैः प्राधीतमिव सर्वतः ।
प्रगीतमिव विस्पष्टं नानाप्रस्रवणस्वनैः ।।

अलंकारों का यह विन्यास पाठकों के हृदय में केवल कौतुक तथा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं किया है, प्रत्युत यह रसानुकूल है—मूल रस का पर्याप्त रूप से पोषक, संवर्धक तथा परिबृंहक है। रूपक की भी छटा कम सुहावनी नहीं है। तात्पर्य यह है कि रामायण में कला-पक्ष का विकास भी बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है। तथ्य यह है कि रसमग्न कवि जान-बूझकर किसी शाब्दी शोभा या आर्थी छटा को अपने काव्य में रखने का प्रयत्न नहीं करता, प्रत्युत वे आप-से-आप उपस्थित हो जाते हैं तथा काव्य को चमत्कृत बनाते हैं। इस तथ्य को हमारे आलंकारिकों ने खूब पहचाना है और इसीलिए आनन्दवर्धन रसपेशल अलंकार के लिए 'अपृथक् यत्ननिर्वर्त्य' होना नितान्त आवश्यक गुण मानते हैं। रसात्मक अलंकार के लिए कवि को कोई प्रयत्न अलग से नहीं करना पड़ता। रसाविष्ट दशा में वे स्वतः आविर्भूत हो जाते हैं, यह तथ्य हमारे आलोचकों ने वाल्मीकि की काव्य-कला के विश्लेषण से अवगत किया।

वाल्मीकि की प्रतिभा तथा योग्यता की एक महती दिशा अभी तक सामान्य आलोचकों की दृष्टि से ओझल रही है। **वाल्मीकि हमारे आदिकवि ही नहीं हैं, प्रत्युत आदि आलोचक भी हैं।** काव्य का नैसर्गिक रूप क्या होता है, महाकाव्य के भीतर किन मौलिक उपादानों का ग्रहण होता है? आदि प्रश्नों का प्रथम उत्तर हमें 'वाल्मीकि-रामायण' में उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य में 'महाकाव्य' की कल्पना रामायण के साहित्यिक विश्लेषण का निश्चित परिणाम है। रामायण के अन्तरंग तथा बहिरंग की समीक्षा करके हमारे आलोचकों ने साहित्य के सिद्धान्तों को खोज निकाला और उनका उपयोग करके संस्कृत साहित्य को वर्धिष्णु तथा समृद्ध बनाया। काव्य के अन्तरंग के समीक्षण के प्रसंग में महर्षि की सबसे बड़ी देन आलोचना-जगत् को है—**शोक तथा श्लोक का समीकरण** (शोकः श्लोकत्वमागतः)। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संस्कृत के मूर्धन्य

आलोचक आनन्दवर्धन ने तथा महाकवि कालिदास ने समभावेन इंगित किया है। कालिदास की स्पष्ट उक्ति है (रघुवंश) :—

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।

आनन्दवर्धन की रुचिर आलोचना है (ध्वन्यालोक १।५) :—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

इस समीकरण का तात्पर्य बड़ा गम्भीर है। रसाविष्ट हृदय होने पर ही कविता का उद्गम होता है। जब तक कवि के हृदय को तीव्र भावना आक्रान्त नहीं करती, तब तक वह विशुद्ध कविता का निर्माण नहीं कर सकता। काव्य अन्तश्चेतना की बाह्य अभिव्यक्ति है। जो हृदय स्वतः किसी भाव का अनुभव नहीं करता, वह किसी भी दशा में दूसरों के ऊपर उस भाव का प्रकटीकरण नहीं कर सकता। अतएव रसात्मक कविता के उन्मेष के लिए हृदय को रस दशा में पहुँचाना ही पड़ता है। तीव्र भाव के अन्तःजागरण के साथ ही साथ उसकी शाब्दी अभिव्यक्ति बाहर अवश्यमेव होती है। आलोचना के इस मर्म को वाल्मीकि ने हमें सूत्र रूप से समझाया। अतः शोक=श्लोक यह साहित्यिक समीकरण आलोचक वाल्मीकि का महत्त्वपूर्ण तथ्यसंकेत है। यह तो हुई काव्य की अन्तःस्फूर्ति की चर्चा।

काव्य के बहिरंग रूप के विषय में वाल्मीकि में बहुत-सी उपादेय सामग्री अपने विश्लेषण की अपेक्षा रखती है। लव-कुश के द्वारा मधुर स्वरों में रामायण का गायन वाल्मीकि की इस मार्मिक आलोचना का भाजन है (बालकाण्ड ४।१७) :—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ।
चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ॥

प्राचीन काल में बहुत पूर्व निवृत्त होने वाली घटना को प्रत्यक्ष के समान दिखलाने वाला काव्य ही हमारी श्लाघा का पात्र होता है। यह पद्य केवल माधुर्य गुण तथा भाविक अलंकार के काव्य में आवश्यक प्रसाधन होने की ओर ही संकेत नहीं करता, प्रत्युत यह पद्य अभिनव गुप्त के साहित्य-शास्त्रीय गुरु भट्टतौत के उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का भी आधार है जिसके द्वारा रस की अनुभूति के लिए उसका 'प्रत्यक्षायमाण' होना एक आवश्यक साधन होता है। इसी प्रकार किष्किन्धा काण्ड में हनुमान जी के भाषण की प्रशंसा में रामचन्द्र ने जो उपादेय बातें कहीं हैं वे साहित्य की दृष्टि से मार्मिक हैं। (किष्किन्धा काण्ड ३ सर्ग, ३०-३२ श्लोक)। इस प्रकार समीक्षा करने पर वाल्मीकि का आलोचक रूप भी हमारे सामने भली-भाँति प्रकट होता है।

तथ्य तो यह है कि वाल्मीकि की प्रतिभा ने रामायण में जिस अमृत रस का सन्निवेश किया है वह सदा कविज़नों को आप्यायित करता रहेगा। हजारों वर्षों से भारतीय पाठकों का हृदय रामायण के पाठ से स्पन्दित होता आया है और आगे भी स्पन्दित होता रहेगा। मानव-मूल्यों के अंकन में, काव्य के सुचारु आदर्श के चित्रण में, जीवन को उदात्त बनाने की कला में, सत्यं तथा शिवं के साथ सुन्दरं के मधुमय सामञ्जस्य में वाल्मीकि की

वाणी विश्व के सामने एक भव्य आदर्श उपस्थित करके जनता के हृदय को सदा आप्यायित करती रहेगी——इस चिरन्तन सत्य का कथमपि अपलाप नहीं हो सकता।

रामायण का अंगी रस

इस विषय में आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है कि रामायण के आरम्भ में 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इस कथन के द्वारा वाल्मीकि ने स्वयं ही करुण रस की सूचना दी है और सीता के आत्यन्तिक वियोग तक अपने प्रबन्ध का निर्माण कर उन्होंने करुण रस का पूर्ण निर्वाह किया है। फलतः रामायण का अंगीरस 'करुण' ही है (ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृष्ठ २३७)। अन्य रस जैसे शृंगार और वीर अंग रस हैं। वाल्मीकि के अनुसरणकर्ता कवियों ने भी अपने काव्यों में करुण रस का परिपोष किया है।

वाल्मीकि समग्र कविसमाज के उपजीव्य हैं, विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ़ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का शृङ्गार रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करुण' रस कम प्रभावशाली नहीं है। कालिदास ने उभयविध 'करुण' को उपस्थित कर उसे सांगोपांग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिए पति के करुण का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते हैं और पति के निमित्त पत्नी की करुण परिवेदना 'रति-विलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल मानव-चित्त सन्ताप से मृदु बन जायगा——क्या इस विषय में संदेह के लिए स्थान है? **'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु?'** कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तर-रामचरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र के हृदय को भी विदीर्ण होते दिखाया है——**अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।** भवभूति ने करुण को 'एको रसः'——मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। **एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्'**——इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वटवृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभि का गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का महात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं हैं। किसी देवचरित के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारद ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया——**'तैर्युक्तः श्रूतयां नरः'** रामायण नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी——आदि जितने आदर्शों को

इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी—पति-पत्नी—की परस्पर विशुद्ध-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा गृहस्थाश्रम है। अतः यदि इस गार्हस्थ्य धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

रामचरित्र

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदिकवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता, तो हमें मंजुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता ? इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव के कान और नेत्र इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को जितनी बार पढ़ा जाय, उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढ़नेवालों का चित्त आनन्द से गद्‌गद् हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित होता आ रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अंकन में यह लेखनी प्रवृत्त हो ? उनकी कृतज्ञता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय ? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं; और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो। उनके क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ हैं। अपने अपराधों के कारण हनन-योग्य व्यक्तियों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण कभी उनकी आँख भी लाल नहीं होती (२।४।६)—

> नास्य क्रोधः प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
> हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति ॥

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते हैं, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते। साधारण स्थिति की बात नहीं, प्राणसंकट उपस्थित होने की विषम दशा में भी सत्य पराक्रम वाले राम इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते। अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूतिपूर्ण है ! सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानस-तत्त्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे

हैं[1]—सीता के प्रति उनके परिताप का कारण चतुर्मुखी है। धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है, परन्तु राम से यह न हो सका, अतः वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के कारण 'कारुण्य' से सन्तप्त हैं। वन में सीता राम की आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की, अतः 'आनृशंस्य'—आश्रित जनों के संरक्षक-स्वभाव से सन्तप्त हैं। सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरी। उनके नष्ट होने पर श्रीराम के धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अतः शोक से; वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं, परम सुख की साधिका ठहरीं। उस परम लावण्यमयी पत्नी के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है—इस कारण 'प्रेम' से। इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं।

वाल्मीकि की दृष्टि में मानव-जीवन में सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है चरित्र और इसी चरित्र से युक्त व्यक्ति की खोज करने पर नारद जी ने वाल्मीकि को इक्ष्वाकुवंशीय रामचन्द्र को सबसे श्रेष्ठ आदर्श मानव बतलाया। ब्रह्म को साक्षात् करने वाले, अनुष्टुप् छन्द के प्रथम अवतार के कारणभूत आदिकवि वाल्मीकि की परिणत प्रज्ञा का फल है यह वाल्मीकि-रामायण। मानव समाज, मानव-व्यवहार तथा मानव-सद्गुणों की पराकाष्ठा का पूर्ण निर्वाह हम राम के जीवन में पाते हैं। राम शारीरिक सुषुमा तथा मानसिक सौन्दर्य—दोनों के जीते-जागते प्रतीक थे। राम के सौन्दर्य के वर्णन में वाल्मीकि कह रहे हैं (२।१७।१३) :—

न हि तस्मान्मनः कश्चित् चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे॥

रामचन्द्र की अलौकिक सुषमा का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि राम के अत्यन्त दूर चले जाने पर कोई भी मनुष्य न तो अपने मन को उनसे खींच सकता था और न अपने दोनों नेत्रों को। जो राम को नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते—ये दोनों संसार में निन्दा के पात्र बनते हैं। इतना ही नहीं, उनकी अपनी आत्मा भी उन्हें निन्दा करती है। रामचन्द्र के दिव्य गुणों की यह झाँकी कितनी मधुर तथा सुन्दर है (२।१।१०–१४) :—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं प्रभाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान् न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः॥
न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते॥

---

१. स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यात् आश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥ (५।१५।४९)

रामचन्द्र सदा शान्त-चित्त रहते थे। वे बड़ी कोमलता तथा मृदुता के साथ बोलते थे। उनसे कोई कितना भी रूखा क्यों न बोले, वे कभी भी कड़ा और रूखा उत्तर नहीं देते थे। किसी प्रकार किये गये एक भी उपकार से वह तुष्ट हो जाते थे, परन्तु सैकड़ों भी अपकारों को कभी स्मरण नहीं करते थे। किसी से भेंट होने पर भी वही पहिले बोलते थे और सदा मीठा बोलते थे। अत्यन्त वीर्यशाली थे, परन्तु इसके कारण उन्हें गर्व छूकर भी नहीं था। वे कभी झूठी बातें नहीं कहते थे। **'रामो द्विर्नाभिभाषते'** = राम कभी दो बात नहीं कहते थे, एक बार जो कह दिया सो कह दिया—वह अमिट हो गया और उसका पालन उनके जीवन का व्रत बन जाता था। प्रजाओं के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा मीठा था। आसक्ति उभयमार्गी थी। राम का अनुराग प्रजाओं के लिये वैसा ही था जैसा उनका राम के लिये था।

इन गुणों का अनुशीलन किसी भी व्यक्ति को मानवता के ऊँचे पद पर पहुँचाने तथा प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। व्यक्ति के लिये मृदुभाषी होना; सत्य-वचन होना तो आवश्यक है ही, परन्तु राम में वाल्मीकि ने एक विलक्षण गुण की सत्ता बतलाई है; वह है उपकार की स्मृति तथा अपकार की विस्मृति। रामचन्द्र के इस उदार हृदय, विशाल चित्त तथा महनीय आशय का पूर्ण परिचय उसी एक वाक्य से चलता है जिसे उन्होंने सीता की सुधि लानेवाले, अलौकिक उपकार करनेवाले हनुमान जी से कहा था। जनकनन्दिनी का सन्देश सुनकर विह्वलचित्त होकर राम ने यह वचन कहा था—

> मय्येव जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं हरे।
> नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाङ्क्षति ॥

हे कपिकुलनन्दन ! आपने जो मेरे साथ उपकार किया है वह मेरे में ही जीर्ण हो जाय, घुलकर पच जाय, बाहर अभिव्यक्ति का कोई अवसर ही न आवे, क्योंकि प्रत्युपकार करनेवाला व्यक्ति अपने उपकारी के लिये विपत्ति की कामना करता है, जिससे उसे अपने प्रत्युपकार के लिये उचित अवसर मिले। कितनी उदात्त है वाल्मीकि की यह सूक्ति और कितना उदार है राम का हृदय ! ! वह कभी सोचते भी नहीं कि हनुमान के ऊपर विपत्ति आवे जिससे उनके साथ प्रत्युपकार करने का कभी अवसर मिले।

रावण से युद्ध के समय रामचन्द्र की शौर्यभावना पूर्णतया अभिव्यक्ति पाती है। वे रावण की भर्त्सना इन शब्दों में करते हैं (युद्ध० १०५।१३—१४)—

> स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शक।
> कृत्वा कापुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे ॥
> भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थित।
> दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे ॥

शूरता की यही सच्ची कसौटी है—स्त्रियों का आदर, मर्यादा का पालन, निर्लज्ज कार्य-कलापों से उपरम तथा शुभ चरित्र का व्यवस्थित रूप से पालन। रावण में इन सबका एकदम अभाव था। इसीलिये तो वह अन्याय तथा अधर्म का प्रतीक माना जाता है।

पराक्रमी शत्रु से चित्र-विचित्र युद्ध के परिणाम रूप ही राम ने रावण पर विजय पाया। रावण कोई साधारण शत्रु नहीं था। कैलाश को उखाड़ने वाला, ब्रह्मा को परास्त करनेवाला तथा देवताओं से भी अपनी सेवा कराने वाला रावण कोई सामान्य मानव नहीं था। जगत् को अपने घोर कार्यों से रुलाने के कारण ही तो वह 'रावण' कहलाता था। ऐसे शत्रु को मारकर राम ने उसके साथ जो सद्व्यवहार किया वह शूरजगत् की एक आलोकसामान्य घटना है।

रावण की मृत्यु पर शोक करते हुए विभीषण ने ठीक ही कहा (युद्ध० १२२।५-८)–

गतः सेतुः सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रहः।
गतः सत्त्वस्य संक्षेपः प्रस्तावानां गतिर्गता ॥
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमति चन्द्रमाः।
चित्रभानुः प्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यमः।
अस्मिन् निपतिते भूमौ वीरे शस्त्रभृतां वरे ॥

रावण का यह नितान्त यथार्थ चरित्र-चित्रण है। युद्ध में निहत रावण भूमि पर गिरनेवाले आदित्य, अन्धकार में धँसे हुए चन्द्रमा, शान्त ज्वाला वाले अग्नि तथा उद्यम-हीन उत्साह के समान है। राम ने भी रावण की उचित प्रशंसा की तथा उसमें वर्तमान गुणों के महत्त्व को समझाया और अन्त में अपने हृदय की विशालता को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

मरण ही वैर की समाप्ति है। रावण के मर जाने पर हमारा प्रयोजन सम्पन्न हो गया। अब इसका उचित दाह-संस्कार करो। जैसे यह तुम्हारा है, वैसे ही मेरा भी है। शत्रु के प्रति इतनी उदार भावना रखना तथा तदनुसार व्यवहार करना युद्ध के इतिहास में अश्रुतपूर्व घटना है।

सीता-चरित्र

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के बारंबार प्रार्थना करने पर भी सीता ने जो अव-हेलनासूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा। "इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बायें पैर से—भी नहीं छूसकती (५।२६।१०)।

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटुवचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन

इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गदगद् हो जाता है। 'मेरे चरित्र पर लांछन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है—उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है—उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर-शार्दूल! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है—

त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में! अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-वेधक है! सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य-प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है। रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है। वह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है। यह मानव-जीवन राम-दर्शन के बिना निरर्थक है—'राम-दर्शन' उभय अर्थ में—राम-कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक दर्शन (राम को देखना)। राम जिसको नहीं देखते, वह लोक में निन्दित है और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका भी जीवन निन्दित है। उसका अन्तःकरण स्वयं उसकी निन्दा करने लगता है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥ (२।१७।१४)

मानवता की कसौटी : वाल्मीकि की दृष्टि में

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में 'चरित्र' ही मानवता की कसौटी है। चरित्र से युक्त मनुष्य की खोज तथा उसका विशद वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। वाल्मीकि ने महर्षि नारद से यही जिज्ञासा की है—**"चारित्रेण च को युक्तः?"**

चरित्र ही मानव को देवता बनाता है। इस चरित्र का पूर्ण विकास मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र में दृष्टिगोचर होता है। रामचरित्र ही आर्यचरित्र का आदर्श है और वह मानवता की चरम अभिव्यक्ति है। राम में मानसिक विकास की ही पूर्णता लक्षित नहीं होती; अपि तु शारीरिक सौन्दर्य का भी मंजुल पर्यवसान उनमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य—सुन्दर काण्ड, अध्याय ३५)। राम में धैर्य का चूडान्त दृष्टान्त हमें मिलता है।

साधारण मनुष्य जीवन के साफल्यभूत राज्य से बहिर्भूत होने पर कितना व्यथित तथा आर्त होता है ? यह अनुभव से हमें भली-भाँति पता चलता है, परन्तु राम के ऊपर इस निर्मम घटना का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे महनीय हिमालय के समान अडिग तथा अडोल खड़े होकर विपत्ति के दुर्दान्त तरंगों को अपने विशाल वक्षःस्थल के ऊपर सहते हैं, और उनके चित्त में किसी प्रकार का विकार लक्षित नहीं होता :— (२।१९।३३)

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ।।

इसका कारण यह था कि उनमें ममत्व बुद्धि का विलास दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवद्गीता के अनुसार आदर्श मानव में जिन गुणों का सद्भाव रहता है, रामचन्द्र उन समग्र गुणों की जीवन्त मूर्ति थे। विषमबुद्धि व्यक्ति ही परिस्थिति के विपर्यय से परिताप का आश्रय बनता हैं, परन्तु समबुद्धि व्यक्ति विषम विपर्यय में भी परिताप को अपने पास फटकने नहीं देता। समबुद्धि तथा समदर्शी राम परिताप करने से इसीलिए कोसों दूर हैं।

राम क्षात्र धर्म के साकार विग्रह हैं। भारतवर्ष का क्षत्रियत्व राम के नस-नस में व्याप्त हो रहा है। ऋषियों के विशेष आग्रह करने पर राम राक्षसों के मारने की विकट प्रतिज्ञा करते हैं। सीता क्षात्रधर्म के सेवन से बुद्धि के मलिन होने की बात सुनाकर उन्हें इस कार्य से विरत करना चाहती हैं (३।९।५८), परन्तु राम इस प्रेममय उपालम्भ का तिरस्कार कर डंके की चोट क्षत्रियत्व के आदर्श को प्रकट करते हैं :—**क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त-शब्दो भवेदिति** (१०।३)। क्षत्रियों के द्वारा धनुष धारण करने की यही आवश्यकता है कि पीड़ितों का शब्द ही कहीं न हो। जगत् की रक्षा का भार धनुर्धारी क्षत्रियों के ऊपर सर्वदा रहता ही है।

राम सत्य तथा प्रतिज्ञा-पालन के महनीय व्रती हैं। सत्यनिष्ठा तथा प्रतिज्ञा-निर्वाह के महनीय व्रत के कारण वे संसार में महिमा-सम्पन्न माने जाते हैं। जाबालि ने राम को अयोध्या लौट जाने तथा सिंहासन पर आसीन होने के लिए किन युक्तियों का व्यूह नहीं रचा, परन्तु राम अपने सत्य से, पिता के सामने की गई प्रतिज्ञा से रंचक मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े आग्रह से कहा कि न तो लोभ से, न मोह से, न अज्ञान से मैं सत्य के सेतु को तोड़ूंगा। पिता के सामने प्रतिज्ञा का निर्वाह अवश्य करूँगा (अयोध्या० १०९।१७)—

नैव लोभान्न मोहाद्वा नह्यज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ।।

सीताजी के द्वारा बारम्बार क्षात्रधर्मानुकूल प्रतिज्ञा-पालन से पराङ्मुख किये जाने पर राम का क्षत्रियत्व उबल उठता है। वे डंके की चोट पुकार उठते हैं—मैं अपने प्राणों को भी छोड़ सकता हूँ, हे सीते ! लक्ष्मण के साथ तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, परन्तु प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकता, विशेष कर ब्राह्मणों के साथ की गई प्रतिज्ञा तो मेरे लिए नितान्त अपरिहार्य है (अरण्य० १०१९)—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।।

राजा की महिमा

वाल्मीकि आर्यधर्म के रहस्य का उद्घाटन करते हैं, जब वे कहते हैं कि आर्यजीवन धर्मबन्ध से बधा हुआ है। मानव भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वतन्त्र प्राणी तो अवश्य है, परन्तु समग्र मानव एक दूसरे से धर्मसम्बन्ध में बँधकर एक दूसरे के हित-चिन्तन तथा हिताचरण में संलग्न है तथा अपने निर्दिष्ट नैतिक मार्ग से एक पग भी नहीं डिगता। भरत अपने शुद्ध भावों की सफाई देते हुए कह रहे हैं कि धर्मबन्धन के कारण ही मैं वध करने योग्य भी पापाचारिणी माता को मार नहीं डालता (अयोध्या० १०६।८)।

वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक कवि हैं। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। भारतीय राजा पाश्चात्त्य राजाओं के समान प्रजाओं की इच्छाओं का दलन करनेवाला स्वेच्छाचारी नरपति नहीं होता, प्रत्युत वह प्रजाओं का रंजक, प्रकृतिरंजक, उनका हितचिन्तक तथा राष्ट्र का उन्नायक होता है। इस प्रसंग में 'अराजक जनपद' की दुरवस्था का वर्णन पढ़कर वाल्मीकि की मनोवृत्ति का हम अनुमान लगा सकते हैं। अयोध्याकाण्ड के ६७ वें सर्ग का 'नाराजके जनपदे' वाला लोकगायन भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का प्रकाशक एक महनीय वस्तु है। राजा राष्ट्र के धर्म तथा सत्य का उद्भव स्थल है (अयोध्या० ६७।३३, ३४)। इसीलिए उसके अभाव में राष्ट्र का कोई भी मंगल न सम्पन्न हो सकता है, न कोई कल्याण कल्पित हो सकता है।

वाल्मीकि ने राम के राज्य का जो सुखद तथा शुभग चित्रण किया है वह राजनीति शास्त्र को एक अनुपम देन है। राम राजनीति के महनीय उपासक थे। उनके समान नीतिमान् राजा दूसरा नहीं हुआ। "न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्" (शुक्रनीति ४।६।१३४६)। इसलिए उनके द्वारा व्याख्यात तथा आचरित नीति ही राजाओं के लिए मान्य नीति है। अराजक जनपद में कृषि और गोरक्षा से जीने वाले सुरक्षित तथा धनी प्राणी द्वार खोल कर कभी नहीं सोते थे, दस्यु दानवों के भय से। इसीलिए राजा की नितान्त आवश्यकता होती है (अयोध्या०६७।१९)—

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्ष-जीविनः ।।

इस प्रकार वाल्मीकि भारतीय साहित्य के हृदय के ही प्रकाशक आदिकवि नहीं है, बल्कि वे भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी भी हैं। कमनीय काव्यलता उनके रामायण के पद्यों में स्वतः नाचती है और भारत की भव्य संस्कृति उनके पात्रों के द्वारा अपनी मनोरम झाँकी दिखलाती है। इसीलिए कविता-कल्पद्रुम के कमनीय कोकिल रूप वाल्मीकि का कूंजन किसे आनन्द विभोर नहीं करता ?

इतर रामायण

रामकथा के वर्णन करनेवाला मुख्य ग्रन्थ तो वाल्मीकि, कृत रामायण ही है। रामकथा का वही मुख्य स्रोत है, परन्तु उसके अतिरिक्त भी अनेक रामायण का सद्भाव संस्कृत

में उपलब्ध होता है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में रामायण की रचना हुई है तथा विदेश (जैसे तिब्बत, खोतान, जावा, सुमात्रा, बाली आदि) में भी रामकथा का विपुल प्रचार है।[1] यहाँ राम की कथा के मूल स्रोत के अन्वेषण के निमित्त वाल्मीकि से इतर रामायणों का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। कतिपय साम्प्रदायिक रामायणों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

(१) **योगवासिष्ठ**—यह 'आर्ष रामायण', 'महारामायण', 'वासिष्ठ रामायण', 'ज्ञानवासिष्ठ' और केवल 'वासिष्ठ' के अभिधान से प्रख्यात है। इस महारामायण के छः प्रकरण हैं—वैराग्य प्रकरण, (३३ सर्ग), मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण (२० सर्ग), उत्पत्ति प्रकरण (१२२ सर्ग), स्थिति प्रकरण (६२ सर्ग), उपशम प्रकरण (९३ सर्ग) तथा निर्वाण प्रकरण (पूर्वार्ध, १२८ सर्ग और उत्तरार्ध, २१६ सर्ग), श्लोकों की संख्या २७६८७ है। वाल्मीकि रामायण से लगभग चार हजार अधिक श्लोक होने के कारण इसका **'महारामायण'** अभिधान सर्वथा सार्थक है। इसमें रामचन्द्रकी जीवनी न होकर महर्षि वसिष्ठ द्वारा दिये गये आध्यात्मिक उपदेश हैं। इस ग्रन्थ की शैली बड़ी ही रोचक है। इसका लेखक सरस-सुबोध शब्दों में अपनी बात सीधे ढंग से कहता है कि वे श्रोताओं के हृदय में अनायास बैठ जाते हैं। यहाँ दार्शनिकों की नीरस सूत्रात्मक शैली का सर्वथा अभाव है। आख्यानों के द्वारा गूढ़ अध्यात्म-तत्त्वों का वर्णन बड़े वैशद्य के साथ किया गया है। आख्यानों के सन्निवेश में ग्रन्थकार की दृष्टि बड़ी जागरूक है। गम्भीर तत्त्वों का विवेचन सरस काव्यमयी शैली में आख्यानों के द्वारा लेखक की प्रतिभा का द्योतक है। यह अद्वैतवेदान्त का प्रख्यात ग्रन्थ तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए बड़ा ही उपादेय है और इसलिए इसके अनेक संक्षिप्त रूप प्राचीन काल में ही किये गये थे, जिनमें काश्मीर के गौड अभिनन्द द्वारा रचित **लघु योगवासिष्ठ** सबसे उत्तम और सबसे प्रथम है (नवम शती)। इसके प्रकरण तो मूल ग्रन्थानुसारी ही हैं, केवल श्लोकों की संख्या ४८२९ (चार हजार आठ सौ ऊनतीस) है, अर्थात् मूल का यह छठाँ भाग है।

ज्ञानदृष्टि से जीवन को भ्रम माना गया है तथा योग द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं, परन्तु व्यवहार दशा में पुरुषार्थ की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है। मन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आधि से व्याधि की उत्पत्ति होती है और आधि क्षय होने पर व्याधि का क्षय होता है। 'अनामय जीवन' के स्वरूप का वर्णन निर्वाण प्रकरण में (पूर्वार्ध, २६३०) बड़े ही रोचक शब्दों में किया गया है—

किमद्य मम सम्पन्नं प्रातर्वा भविता पुनः।
इति चिन्ता ज्वरो नास्ति तेन जीवाम्यनामयः॥
न तत् त्रिभुवनैश्वर्यात् न कोशाद् रत्नधारिणः।
फलमासाद्यते चित्ताद् यन्महत्त्वोपबृंहितात्॥

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० कामिल बुल्के रचित 'रामकथा' (पृ० २२८–२४९), (हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग, १९५०)।

एकत्वे विद्यमानस्य सर्वगस्य किलात्मनः ।
अयं बन्धुः परश्चायमित्यसौ कलना कुतः ॥

योगवासिष्ठ के रचनाकाल के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इस ग्रन्थ के संक्षिप्त रूप के कर्ता काश्मीरक गौड अभिनन्द का काल नवम शतक माना जाता है। अतः इस शतक से पूर्व ही इसका रचना काल है। कुछ विद्वान् इसे शंकराचार्य से परवर्ती मानते हैं और अन्य लोग शंकर से पूर्ववर्ती। शंकराचार्य के प्रकरण ग्रन्थों पर, जैसे विवेकचूडा-मणि, शतश्लोकी, दक्षिणा-मूर्तिस्तोत्र आदि पर योगवासिष्ठ का निश्चित प्रभाव पड़ा है। श्लोकों में केवल भावसाम्य ही नहीं है, प्रत्युत अक्षर-साम्य भी है। अतः इसे शंकराचार्य से पूर्ववर्ती मानना उचित प्रतीत होता है। सप्तमी शती में इस ग्रन्थ का निर्माण आंकना अनुचित नहीं ज्ञात होता[1]।

२. **अध्यात्मरामायण**—साम्प्रदायिक रामायणों में अत्यन्त महत्त्वशाली है, क्योंकि इसका विपुल प्रभाव अवान्तर कालीन संस्कृत के रामायणों पर, तुलसीदास के रामचरित मानस पर तथा एकनाथ के मराठी में निबद्ध रामायण पर निश्चयेन लक्षित होता है। इसे ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तर खण्ड से सम्बद्ध बतलाया गया है और इसका माहात्म्य ६वें अध्याय में वर्णित है। वाल्मीकि द्वारा वर्णित रामकथा से यहाँ अनेकत्र वैशिष्ट्य लक्षित होता है। समस्त कथा पार्वती-महादेव के संवाद रूप में वर्णित की गई है। भागवत का प्रभाव बालकाण्ड में रामजन्म के समय लक्षित होता है; जब बालक राम के चतुर्भुजधारी रूप को देखकर कौसल्या को विस्मय होता है और वह उनकी परमात्मा रूप से स्तुति करती हैं (तृतीय अध्याय)। रामनाम के माहात्म्य दिखलाने के लिए वाल्मीकि अपनी पूर्वकथा सुनाते हैं, जब उन्होंने राम का उलटा नाम जपते हुए ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त किया था (अयोध्या, अध्याय छठाँ, श्लोक ६५–८६)। मायामयी सीता के हरण का वृत्तान्त यहाँ दिया गया है (अरण्य, ७ अ०); तथा राम के द्वारा सेतुबन्ध से पूर्व शिवलिंग की स्थापना वर्णित है (लंकाकाण्ड, ४ अ०)—ये तथ्य वाल्मीकीय से इसे पृथक् करते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य है रामायण को वेदान्त दर्शन के आधार पर प्रतिपादित करना। समग्र ग्रन्थ में वेदान्त-सम्मत तथ्यों की उपलब्धि होती है, परन्तु दो अध्याय इस विषय में पूर्णतया वेदान्त-सिद्धान्त से ओतप्रोत हैं—(१) रामहृदय (बालकाण्ड, १ अध्याय) तथा (२) रामगीता (उत्तरकाण्ड, ५ अध्याय)। रामगीता में अद्वैतवेदान्त के तत्त्वों का प्रतिपादन बड़ा ही तात्त्विक और विवेचनापूर्ण है। यहाँ 'तत् त्वमसि' महाकाव्य का शाब्दबोध भाग वृत्ति लक्षणा के द्वारा बड़े ही वैशद्य से व्याख्यात है[2]। तत्त्वबोध की

---

१. विशेष द्रष्टव्य डॉ० भीखनलाल आत्रेय: योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ८–३२ (प्रकाशक इंडियन बुकशाप, वाराणसी, १९३७)।

२. एकात्मकत्वाज्जहती न संभवेत् तथाऽजहल्लक्षणताविरोधतः।
सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत तत्त्वं पदमोददोषतः॥ (उत्तरकाण्ड ५।२७)

प्रक्रिया नव्यवेदान्त की मान्यता के सर्वथा अनुकूल है। फलतः राम की प्राप्ति ज्ञान-योग द्वारा ही सुलभतया उपलब्ध होती है। अध्यात्मरामायण का यही चरम सिद्धान्त है।

अध्यात्म रामामण[1] के देशकाल का यथार्थ परिचय उपलब्ध नहीं होता। नागेशभट्ट (१८ शती) के शिष्य, शृंगवेरपुर के शासक विसेन वंशी, हिम्मत वर्मा के पुत्र राम वर्मा ने इसके ऊपर 'सेतु' नामक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है। गोस्वामी तुलसीदास (१६ शती) ने अपने रामचरित मानस के लिए अध्यात्म रामायण को ही अपना उपजीव्य बनाया है तथा शम्भु द्वारा विरचित दुर्गम रामचरित को भाषावद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख किया है (उत्तरकाण्ड का उपान्त्य श्लोक)। यह शम्भुरचित रामायण महादेव के द्वारा पार्वती को व्याख्यात अध्यात्म रामायण ही तो है। फलतः १६ शती से यह प्राचीन ग्रन्थ है, परन्तु कितना प्राचीन ? यह कहना कठिन है। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय में इसकी भूयसी मान्यता है। कुछ विद्वान् तो इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानन्द को ही अध्यात्म के प्रणेता होने का गौरव देते हैं, परन्तु यह विषय अभी विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि १३-१४ वीं शती में रामानन्द सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही यह विरचित हुआ।

३. अद्भुतरामायण[2]—अध्यात्म रामायण के अनन्तर रचित यह रामायण रामकथा में अनेक अद्भुत वृत्तों का वर्णन करता है और इसीलिए यह 'अद्भुतरामायण' के नाम से प्रख्यात है। इसमें सीता जन्म की अद्भुत कथा है कि नारद ने स्वर्ग में अपमानित किये जाने के कारण लक्ष्मी को शाप दिया था, जिसके फलस्वरूप वह मन्दोदरी की पुत्री बन गयी। अद्भुत रामायण के अन्त में (सर्ग १७-२७) सीता के द्वारा काली का रूप धारण कर सहस्र स्कन्ध रावण के वध की विचित्र कथा दी गई है। यह सहस्र स्कन्ध रावण विस्रश्रवा और कैकयी का पुत्र था, जो पुष्कर में राज्य करता था। देवी का विकट रूप धारण कर सीता ने इसका नाश किया था। बृहत्तर भारत में प्रचलित रामायण के ऊपर इस अद्भुत रामायण का प्रभाव लक्षित होता है, जिससे इसकी लोक-प्रियता का अनुमान भली-भाँति किया जा सकता है।

४. आनन्दरामायण[3]—इस बृहत्काय रामायण में अध्यात्म रामायण के उद्धरण मिलते हैं, जिससे इसकी रचना अध्यात्म के पश्चाद्वर्ती काल में अनुमानसिद्ध है—लगभग १५ वीं शती में। श्लोकों की संख्या १२.हजार २ सौ ५२ है। पार्वती-शंकर के संवाद के द्वारा कथावस्तु का वर्णन है। इस रामायण में नौ काण्ड हैं, जिनके नाम एकदम नवीन हैं—(१) सारकाण्ड (१३ सर्ग)—इस काण्ड में राम जन्म से लेकर उत्तरकाण्ड के प्रथम चालीस सर्गों तक की कथा वाल्मीकि के अनुसार ही यत्र-तत्र पार्थक्य के साथ वर्णित है। बाल-लीला का वर्णन (सर्ग २) तथा अहिल्योद्धार के अनन्तर नाविक का वृत्तान्त अध्यात्म-

---

१. सेतुटीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

२. वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। द्रष्टव्य—ग्रियर्सन : आन दी अद्भुतरामायण (बुलेटिन, भाग ४)।

३. गोपाल नारायण एण्ड कम्पनी (बम्बई) द्वारा प्रकाशित, तथा हिन्दी अनुवाद के साथ वाराणसी से प्रकाशित (१९५८ ई०)।

रामायण के समान हैं और वहीं से यहाँ गृहीत है। (२) यात्राकाण्ड (९ सर्ग)—वाल्मीकि रामायण की उत्पत्ति कथा और राम का चारों दिशाओं में यात्रा का वर्णन है। (३) यागकाण्ड (९ सर्ग)–राम का अश्वमेध वर्णित है। (४) विलासकाण्ड (९ सर्ग)–वाल्मीकि से पृथक् कथायें यहाँ निर्दिष्ट हैं। सीता का नख-शिख वर्णन (सर्ग २) तथा सीताराम की दिनचर्या (सर्ग ४); काम पीडित देवाङ्गनाओं को कृष्णावतार के समय गोपिकायें बनने का राम द्वारा आश्वासन (७ सर्ग)–आदि विषय वर्णित हैं। (५) जन्म काण्ड (९ सर्ग)–चारों भाइयों के कुमारों की जन्म-कथा। (६) विवाहकाण्ड (९ सर्ग)–रामादिकों के आठों पुत्रों के विवाह की कथा। (७) राज्यकाण्ड (२४ सर्ग)–रामराज्य का विस्तृत वर्णन। कृष्णवतार का विपुल प्रभाव यहाँ लक्षित होता है। (८) मनोहरकाण्ड (१८ सर्ग)–रामोपासना-विधि, रामनाम-माहात्म्य, रामकवच आदि उपासनोपयोगी वस्तु निर्दिष्ट हैं। (९) पूर्णकाण्ड (९ सर्ग)–सोमवंशी राजाओं द्वारा युद्ध तथा तदनन्तर सन्धि, कुश का अभिषेक तथा रामादिकों का वैकुण्ठारोहण का वर्णन कर ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

आनन्दरामायण में राम के ब्रह्मरूप के प्रतिपादन के साथ उनकी उपासना-विधि के महत्त्व तथा प्रकार पर विशेष आग्रह है। और इस विषय में यह अध्यात्मरामायण से अपना पार्थक्य रखता है। इस रामायण में राम-विषयक विपुल सामग्री संकलित है। कहीं -कहीं भक्ति के जोश में ऊटपटांग बातें भी कही गई हैं। 'राम' के आद्य अक्षर की श्रेष्ठता दिखलाते समय 'रामठ' (हींग) का उल्लेख कथमपि ग्राह्य है, क्योंकि वह अन्न की शुद्धि तथा भोजन में रुचि उत्पन्न करता है (रामठः शुद्धिदोऽन्नस्य रुचिदश्च प्रकीर्तितः), परन्तु राक्षस, रजस्वला तथा रजक जैसे रेफादि नामों का श्रेष्ठत्व दिखलाना भक्ति के जोश के सिवाय और क्या है ? (मनोहर काण्ड, नवम सर्ग)। फलतः इस रामायण में निर्दिष्ट तथ्यों का उपयोग सावधानी से करने की आवश्यकता है।

५. **तत्त्वसंग्रह रामायण** की रचना राम ब्रह्मानन्द नामक कवि द्वारा १७ वीं ई० में की गई।[1] इस रामायण की विशेषता यह है कि यहाँ राम के परब्रह्म रूप का प्रतिपादन है और इसीलिए दास्य भक्ति के अतिरिक्त अद्वैत रूप से रामोपासना पर ही विशेष आग्रह है। अद्वैत रामोपासना का मन्त्र 'रामोऽहम्' बतलाया गया है तथा वाराणसी, गया, गोदावरी, रंगनाथ तीर्थों का सम्बन्ध राम के साथ जोड़ा गया है। राम ब्रह्मानन्द की एक दूसरी कृति है––रामायण-तत्त्वदर्पण। इन दोनों ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य समान ही है।

६. **भुशुण्डि रामायण** का नाम रामभक्ति के रसिक-सम्प्रदाय से सम्बद्ध ग्रन्थों में बहुशः उल्लिखित है।[2] इसका नाम **'आदिरामायण'** तथा **'महारामायण'** भी बतलाया जाता है। इस रामायण के कथानक पर पूरे भागवत की कृष्ण कथा का पर्याप्त प्रभाव है। इसका प्रमाण है—राम का चित्रकूट में गोप-गोपिकाओं के साथ रासक्रीडा का वर्णन। अन्य विषयों में भी यह प्रचलित राम कथा से भिन्न ही है। 'महा रामायण' नामक ग्रन्थ के

---

१. राम-कथा, पृष्ठ १७५–१७७।

२. डॉ० भगवती प्रसाद सिंह––राम-भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, पृ० ९७।

केवल पाँच अध्याय (४८-५२) अयोध्या में कभी छपे हैं। पूरे ग्रन्थ के अभाव में इसके रूप का यथार्थ परिचय नहीं मिलता कि यह भुशुण्डी रामायण से भिन्न है या अभिन्न।

७. मन्त्ररामायण—महाभारत के विश्रुत टीकाकार नीलकण्ठ (१७ शती) ने ऋग्वेद के मन्त्रों का संग्रह कर अपनी नई टीका में उनका रामपरक तात्पर्य प्रदर्शित किया है। रामायण की पूरी कथा का निर्देश ऋग्वेद में पूर्णतया प्राप्त होने की घोषणा ग्रन्थकार ने यहाँ की है तथा अपनी व्याख्या के द्वारा उसका क्रमबद्ध प्रदर्शन भी किया है। नीलकण्ठ ने इसी प्रकार **मन्त्रभागवत** में वैदिक मन्त्रों के द्वारा श्रीकृष्ण की लीला का निर्देश अपनी विशिष्ट व्याख्या द्वारा प्रदर्शित किया है। दोनों ही पाण्डित्यपूर्ण रचनायें हैं। इतिहास वेत्ताओं के लिए यह अभिनव प्रयास भले ही महत्त्वहीन प्रतीत हो, परन्तु भक्त जनों के लिए यह नितान्त श्रद्धा का विषय है। दोनों का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से किया गया है।

१८०० ई० के आसपास रघुनाथ उपाध्याय ने **'रामविजय'** महाकाव्य लिखा, जो १९३२ ई० में वाराणसी से प्रकाशित हुआ था।

८. रामलिंगामृत[1] की रचना काशी निवासी अद्वैत नामक कवि द्वारा सन् १६०८ ई० में हुई थी। ध्यातव्य है कि इसी युग में गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' का निर्माण (रचनाकाल १६३१ सं० = १५७४ ई०) कर काशी में विद्यमान थे। इसमें १८ सर्ग हैं तथा कथानक में अनेक विचित्रतायें उपलब्ध होती हैं।

९. राघवोल्लास[2] महाकाव्य की रचना एक अद्वैत नामक संन्यासी द्वारा वाराणसी में की गई थी। संन्यास लेने से पूर्व उनका नाम मुरारि था। बहुत सम्भव है ये ग्रन्थकार एतन्नामधारी पूर्व कवि से अभिन्न हों। कथानक रामजन्म से आरम्भ कर विवाह के पश्चात् अयोध्या में प्रत्यावर्तन पर समाप्त हो जाता है। आदि के तीन सर्ग अप्राप्त तथा शेष ९ सर्गों में लगभग एक सहस्र पद्य प्रायः इन्द्रवज्रा में उपलब्ध हैं।

१०, उदारराघव—१४ शती ई० के मध्य साकल्यमल्ल के द्वारा इसकी रचना की गई। कवि के अन्य नाम भी प्रचलित हैं—मल्लाचार्य, कविमल्ल तथा मल्लयाचार्य। रचना १८ सर्गों की बताई जाती है, जिसमें आदि के ९ सर्ग सुरक्षित हैं। कथा वाल्मीकीय रामायण के अनुसार है, परन्तु शृंगार को अधिक स्थान दिया गया है, जैसे मिथिला की स्त्रियों का वर्णन (३ सर्ग); वनवास में वनविलास का प्रसंग (९।३३) तथा शूर्पणखा का प्रसंग (९।६०–९१)

जैन रामायण

जैन धर्मावलम्बियों में तरहठ शलाका पुरुषों की मान्यता अत्यन्त प्राचीन काल से उपलब्ध होती है। 'शलाका पुरुष' से तात्पर्य उदात्त चरित वाले महापुरुषों से है, जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती (भारत के छः खण्डों के सम्राट्), ९ बलदेव (बलभद्र), ९ वासुदेव (या नारायण) तथा ९ प्रति वासुदेव (या प्रतिनारायण) सब मिलाकर त्रिषष्टि (६३)

---

१. डॉ० कामिल बुल्के : रामकथा (द्वितीय सं०, पृ० १९७-२००) प्रयाग, १९६२।

२. वही पृ० २०१।

माने जाते हैं । इन शलाका पुरुषों का एकत्र वर्णन 'त्रिषष्टि-लक्षण महापुराण' में क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होता है । इस पुराण के दो भाग हैं--(क) जिनसेनकृत 'आदिपुराण' तथा (ख) गुणभद्र रचित 'उत्तरपुराण' (रचनाकाल ८९७ ई०) । धवला तथा जयधवला टीकाओं के रचयिता वीरसेन स्वामी के शिष्य जिनसेन ने समग्र शलाका पुरुषों के जीवनचरित को संस्कृत पद्यों में निबद्ध करने की उदात्त इच्छा से पुराण का आरम्भ किया था, परन्तु बीच में ही शरीरान्त होने से ग्रन्थ अधूरा ही रह गया, जिसकी पूर्ति उन्हीं के विज्ञ शिष्य गुणभद्र ने की । आदि पुराण में केवल आदिनाथ, अर्थात् ऋषभ-देव का चरित्र विस्तार से निबद्ध है । श्लोकों की संख्या है १२ हजार तथा अध्यायों की ४७ (पर्व), जिनमें अन्तिम चार पर्व गुणभद्र की रचना है । उत्तर पुराण में शेष २३ तीर्थकरों और अन्य शलाका-पुरुषों के जीवन निबद्ध हैं । गुणभद्र ने अपने गुरु के आदि-पुराण की पूर्ति अन्तिम १६२० श्लोकों की रचना से की तथा उत्तरपुराण का निर्माण किया, जिसका परिमाण आठ हजार श्लोक है । गुरु-शिष्य दोनों का आविर्भाव काल नवम शती है ।

महापुराणों में शलाका पुरुषों के चरित की प्राचीन तथा परम्परा प्राप्त सामग्री संकलित है । जैन मतानुसार अन्तिम तीनों पुरुष--बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव—प्रतिकल्प एक साथ ही आविर्भूत होते हैं और इसलिए तीनों समकालीन होते हैं । इनमें अष्टम बलदेव स्वयं राम है, अष्टम वासुदेव लक्ष्मण हैं तथा अष्टम प्रतिवासुदेव रावण है । बलदेव और वासुदेव राजा की भिन्न-भिन्न रानियों के पुत्र होते हैं तथा वासुदेव अपने अग्रज बलदेव के साथ मिलकर प्रतिवासुदेव का वध करते हैं, अर्ध चक्रवर्ती बनते हैं तथा निर्विण्ण जैन धर्म ग्रहण करते हैं । प्रतिकल्प प्रतिवासुदेव वासुदेव का विरोधी होता है और उन्हीं के अस्त्रों से मृत्यु प्राप्त करता है ।

जैन धर्मानुसार रामकथा की द्विविध परम्परा प्रचलित है--(क) प्रथम परम्परा वाल्मीकीय रामायणानुसारी है, जो विमलसूरि के प्राकृत महाकाव्य 'पउमचरिय' पर आधारित है । (ख) द्वितीय परम्परा, जो गुणभद्र के उत्तरपुराण में उपलब्ध है, वाल्मीकि से सर्वथा भिन्न तथा अद्भुतरामायण की कथा से अधिकतर मिलती है । इन दोनों में विमलसूरि द्वारा प्रचारित रामकथा ही अधिक लोकप्रिय, प्रख्यात तथा संस्कृत के महनीय काव्यों में निबद्ध है । विमलसूरि आचार्य राहु के प्रशिष्य तथा विजयाचार्य के शिष्य थे । उन्होंने स्वयं अपने प्राकृतकाव्य 'पउमचरिय' का निर्माण काल महावीर-निर्वाण के ५३० वर्ष पश्चात् निर्दिष्ट किया है । ईस्वी सन् के लगभग ६० वर्ष में इसका प्रणयन हुआ । इससे अधिक लोकप्रिय है रविषेण का संस्कृत महाकाव्य **'पद्मचरित'**[१] (अथवा पद्मपुराण), जो प्रत्येक जैनी के घर में रामकथा का प्रतिनिधि काव्य है । पद्मचरित पउमचरिय का ही पल्लवित किया गया संस्कृत छायानुवाद है । आर्या में निबद्ध पउमचरिय श्लोक के परिमाण से दस हजार है, जब अनुष्टुप् छन्दों में निबद्ध पद्मचरित अठारह हजार है । दोनों का कथानक, पर्वों की संख्या, पात्रों के नाम आदि सब एक समान हैं ! दोनों

---

१. प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी (हिन्दी अनुवाद के साथ) ।

काव्यों में पद्म (=रामचन्द्र) का चरित ११८ पर्वों (=अध्यायों) में निबद्ध है। संस्कृत काव्य का रचनाकाल ग्रन्थ के उल्लेख से ६३४ वि० सं० (५७७ ईस्वी) है, अर्थात् षष्ठ शती का उत्तरार्ध।

पद्मचरित के आदर्श पर निर्मित संस्कृत काव्यों की एक लम्बी परम्परा है--(१) हेमचन्द्र रचित 'त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित' के अन्तर्गत जैन रामायण तथा इन्हीं के अन्य ग्रन्थ योगशास्त्र की टीका के अन्तर्गत 'सीता-रावण-कथानकम्' उपलब्ध हैं, जो परस्पर पूरक हैं। (२) जिनदास रचित रामायण अथवा रामदेवपुराण (१५ शती)। (३) हरिषेण कृत 'बृहत्कथाकोष' में रामायण कथानक (८४) और सीता-कथानक (८७) में उपलब्ध रामकथा अधिकांश में वाल्मीकि के रामायण पर मुख्यतया आधारित है। गुणभद्र द्वारा आदृत परम्परा केवल उत्तर पुराण में ही उपलब्ध है और पिछले युग के जैन कवियों द्वारा समादृत होने का गौरव उसे प्राप्त नहीं है।

पद्मपुराण की रामकथा---पउमचरिय में रामकथा ११८ पर्वों में समाप्त है। ग्रन्थकार का कहना है कि प्रचलित रामकथा में असंगतियाँ (जैसे कुम्भकर्ण की षाण्मासिकी निद्रा आदि) तथा यज्ञों में हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों की उपस्थिति के कारण उसका विशुद्ध परिमार्जित रूप रखने की नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टि से वानर और राक्षस मानवेतर प्राणी न होकर विद्याधर वंश की विभिन्न शाखायें माने गये हैं। कथानक का विभाजन इस प्रकार है--(१) रावण-चरित (१-२० पर्व), रावण का चरित वाल्मीकि-वर्णित चरित से भिन्न है तथा हनुमच्चरित्र विस्तृत है। पवनंजय और अंजना के पुत्र हनुमान् वरुण के विरुद्ध रावण की सहायता करते हैं और अनेक विवाह करते हैं। (२) राम सीता के जन्म तथा विवाह की कथा २१-३२ पर्वों तक वर्णित है। (३) वनभ्रमण (३३-४२ पर्व); (४) सीता हरण तथा सीता की खोज (४३-५३ पर्व); (५) युद्धवर्णन पर्याप्तरूपेण विस्तृत है (५४-७७ पर्व), जिसमें वासुदेव लक्ष्मण ही प्रतिवासुदेव रावण का वध करते हैं, वाल्मीकि के समान राम नहीं। (६) उत्तरचरित (७८-११८ पर्व)।

उत्तरपुराण की रामकथा---उत्तरपुराण के ६७ तथा ६८ पर्वों में रामकथा १११७ श्लोकों में दी गई है। कथा वाल्मीकि-वर्णित कथा से नितान्त भिन्न है। प्रधान पार्थक्य यह है कि यहाँ सीता रावण की पत्नी मन्दोदरी की औरस पुत्री कही गई हैं। दशरथ वाराणसी के राजा थे जिनकी रानी सुबाला से राम का, कैकेयी से लक्ष्मण का और साकेतपुर जाने पर अन्य रानी से भरत तथा शत्रुघ्न का जन्म हुआ। वनगमन वृत्तान्त का यहाँ अभाव है। वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका में सीता पर मुग्ध होकर रावण सीता को हर ले जाता है। यहाँ सेतुबन्ध का अभाव है। विमान द्वारा वानर लोग लंका पहुँचते हैं। लक्ष्मण अपने चक्र से रावण का वध करते हैं।

राम-लक्ष्मण का सम्मिलित अभिषेक वाराणसी की राजगद्दी पर होता है। दोनों की हजारों रानियाँ बताई गई हैं। साधना से राम को पहिले आत्म-ज्ञान और मोक्ष मिलता सीता और लक्ष्मण को पीछे मिलता है। स्पष्ट है कि इस कथाधारा में राम के सत्य-

प्रतिज्ञ, पिता का आज्ञापालन, एक पत्नीव्रत आदि अलौकिक गुणों का विकास दृष्टिगोचर नहीं होता, जो प्रथम धारा की विशेषतायें हैं। फलतः यह कथाधारा कवियों द्वारा समादृत न हो सकी। सीता की उत्पत्ति की कथा अद्भुत रामायण से मिलती है।

वाल्मीकीय रामकथा की भ्रमण कहानी

वाल्मीकीय रामायण में चित्रित राम की कथा इतनी उदात्त, आकर्षक तथा उपदेशप्रद है कि भारतीय विद्वान् जहाँ कहीं भी गये और नये उपनिवेश स्थापित किये वहाँ उन्होंने इस रामकथा का प्रचार किया। इस भ्रमण की कहानी का रूप अनेक प्रकार का है। भारत के उत्तरीय देशों में —चीन में यह रामकथा भारतीय साहित्य की किसी रचना के अनुवाद के द्वारा प्रचारित की गई। यह प्राचीनकाल में सम्पन्न हुआ। दूसरी धारा का प्रसार अष्टम-नवम शती के अनन्तर आरम्भ होता है। भारत से इसके प्रसार का क्रम है—हिन्देशिया, हिन्दचीन, श्याम (थाईलैण्ड) ब्रह्मदेश। इन देशों के साहित्य में रामकथा का बड़ा महत्त्व है। वहाँ रामकथा का भौगोलिक क्षेत्र उसी देश में ही माना जाता है। रामकथा को वे लोग कभी विदेशी नहीं मानते। रामकथा की तीसरी धारा यूरोप में १६ शती के आसपास प्रवाहित हुई और इस धारा के प्रसार कार्य का श्रेय उन विभिन्न देशीय ईसाई धर्म प्रचारकों को है, जो उस काल में भारत में आते-जाते थे। यह अपेक्षाकृत क्षीण धारा है।

चीन—चीन में रामकथा के भ्रमण का इतिहास सबसे प्राचीन है। वहाँ रामकथा का प्रवेश दो बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद के द्वारा सम्पन्न हुआ। प्रथम जातक का नाम है—**अनामकं जातकम्**, जिसका चीनी अनुवाद कांग-सेंग–हुई द्वारा तीसरी शताब्दी ई० में हुआ। इसका मूल भारतीय रूप तो अप्राप्य है, परन्तु चीनी अनुवाद 'लियेऊ तूत्सीकिंग' नामक ग्रन्थ में सुरक्षित है। इस जातक में किसी रामायणीय कथा के पात्र का नाम नहीं है, परन्तु कथा है रामायण की ही। दूसरे ग्रन्थ का नाम है—**दशरथ कथानम्**, जो चीनी त्रिपिटक के अन्तर्गत 'त्सा-पौ-त्संगकिंग' नामक १२१ अवदानों के संग्रह ग्रन्थ के भीतर उपलब्ध होता है (पंचकशती)। इसका भी भारतीय रूप अप्राप्य है, परन्तु अनेक अवदानों में प्रख्यात राजा कनिष्क का उल्लेख होने से यह मूल भारतीय ग्रन्थ ईस्वी द्वितीय शती की रचना प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में रामायण के सब पात्र मिलते हैं, परन्तु सीता का नाम्ना उल्लेख नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर चीनदेशीय रामायण[१] का परिचय प्राप्त होता है।

तिब्बत—तिब्बती भाषा में रामकथा की रचना आठवीं या नवीं शताब्दी में की गई। 'तुन-हुआङ्ग' नामक स्थान से अनेक तिब्बती हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त की गयी हैं, जो स्वतः स्थान-स्थान पर त्रुटित हैं, परन्तु सबको मिलाकर रामायण कथा की रूपरेखा खड़ी की जा सकती है। तिब्बती रामायण का मूल वाल्मीकि पर आधारित न होकर किसी अज्ञात भारतीय कथा पर आधृत है। इस कथा की विशिष्टता देखिये—(१)

---

१. अंग्रेजी अनुवाद के लिए द्रष्टव्य 'चीन रामायण' सरस्वती विहार ग्रन्थमाला ८, दिल्ली।

सीता दशग्रीव की पुत्री हैं, परन्तु पिता की मृत्यु की वही कारण बनेगी---इसकी सूचना मिलने पर वह ताँबे के बाक्स में बन्द कर समुद्र में फेंक दी जाती है, जिसे एक भारतीय किसान अपने खेत में पानी भरते समय उसे पाता है। (२) कैलास पर्वत पर रहने वाले पाँच सौ अर्हतों से दशरथ पुत्र के लिए प्रार्थना करते हैं। वे राजा को रानी के वास्ते एक फूल देते हैं, जेठी रानी उसका आधा भाग छोटी रानी को देती है, जिसके पुत्र राम जेठी रानी के पुत्र लक्ष्मण से तीन दिन पहिले ही पैदा होते हैं। राजा दशरथ के दो ही पुत्र थे। (३) दशग्रीव की भगिनी पुरपला (या फुरपला) राम के द्वारा विवाह प्रस्ताव अस्वीकृत किये जाने पर अपने भाई को सीताहरण के लिए उत्तेजित करती है। उसका मन्त्री मरुत्से (मारीच) हरिण का रूप बनाकर राम को जंगल में ले जाता है। रावण सीता के सामने प्रथमतः हाथी के रूप में, पश्चात् घोड़े के रूप में आता है। सीता उस पर चढ़ना अस्वीकार करती है। तब वह सीता के स्पर्श से जल जाने के भय से जमीन के साथ सीता को उठा ले जाता है। (४) हनुमान का चरित वाल्मीकि जैसा है, परन्तु यहाँ हनुमान अँगूठी के साथ राम का पत्र भी सीता के पास ले जाते हैं, जो राम के लिए पत्र देती है। (५) बेनबल नामक राजा विद्रोह करता है, जिससे लड़ने जाने से पहिले राम मलयन पर्वत पर पाँच सौ ऋषियों के संरक्षण में सीता और उसके पुत्र को छोड़ते हैं। सीता घूमने जाती है। बालक भी उसके पीछे अनजान में चला जाता है। बालक को खोया हुआ जानकर ऋषि लोग कुश से एक नवीन बालक पैंदा करते हैं। सीता लव के साथ लौटने पर कुश को भी पुत्र मान लेती है। (६) किसी लिच्छवी दम्पति की निन्दा भरी बातें सुनकर राम सीता को दोनों पुत्रों के साथ घर से निकाल देते हैं। तब हनुमान् आते हैं। सीता को रावण द्वारा अगम्य बतलाकर उनका पातिव्रत सिद्ध करते हैं। तब राम सीता को जंगल से बुलाकर पृथ्वी पर पुत्रों के साथ आनन्दपूर्वक राज्य करते हैं।

इस कथानक के प्रथम वैशिष्टच का आधार-गुणभद्र का उत्तर पुराण तथा अन्तिम दो वैशिष्टचों का आधार कथासरित् सागर प्रतीत होता है। तिब्बती रामायण पूर्णतया गद्य में हैं, बीच-बीच में पद्य दिये गये हैं। रामकथा के नायकों के नाम कहीं तो मूल संस्कृत के समान हैं और कहीं उसका अनुवाद तिब्बती में किया गया है। यह कथा ८०० ई० के आसपास तिब्बत के विभिन्न भागों में प्रसारित हो चुकी थी[1]।

खोतानी---खोतान (पूर्वी तुर्किस्तान) की रामकथा नवीं शताब्दी की मानी जाती है। अनेक बातों में तिब्बती रामायण के सामान प्रतीत होती है, परन्तु तिब्बती पर आधारित नहीं मानी जा सकती। इस रमायण में उस देश की बहुपतित्व प्रथा के आधार पर राम और लक्ष्मण दोनों ही सीता के साथ विवाह करते बतलाये गये हैं। सीताहरण के वृत्तान्त में सीता की रक्षा के लिए कुटी के चारों ओर रेखा खींचने का जो उल्लेख है वह महानाटक में निर्दिष्ट वर्णन के समान ही है। फलतः खोतानी रामायण का विशिष्ट वर्णन भारतीय स्रोतों पर ही आधारित है---यह कहना यथार्थ है।

---

१. हिन्दुत्व (अंग्रेजी मासिक), तृतीय खण्ड, पंचम अंक (१९७२, दिल्ली), पृ० २५–३६।

जावा--हिन्देशिया में राम-कथा से परिचय प्राचीन काल में ही हो गया था, क्योंकि नवीं शताब्दी में एक शिव-मन्दिर में पाषाण चित्रलिपि मिलती है। जावा तथा मलय में राम-विषयक विस्तृत रचनायें उपलब्ध होती हैं। इनके दो रूप हैं--(क) प्राचीन रूप वाल्मीकि रामायण के आधार पर है। और (ख) अर्वाचीन रूप वाल्मीकि रामायण से अनेकत्र भिन्न है। जावा की प्राचीन कवि भाषा में निर्मित **रामायण काकविन** दशवीं शताब्दी की रचना माना जाता है। इसका वास्तविक प्रणेता अज्ञात है। इसकी राम-कथा के ऊपर भट्टिकाव्य की कथा का विपुल प्रभाव पड़ा है। **चरित-रामायण**[1] में १०१ श्लोकों में रामायण के प्रथम छः काण्डों की कथा के साथ व्याकरण के उदाहरण भी दिये गये हैं, जिससे इस पर भट्टिकाव्य का साक्षात् प्रभाव प्रतीत होता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं, जिनका सम्बन्ध राम-कथा से ही परम्परया है---(क) **सुमन सांतक कोकविन** (११ वीं शती) इन्दुमती का जन्म, अज से उसका विवाह और दशरथ का जन्म वर्णन करता है। **(ख) हरिश्रय ककविन** (१३ वीं शती) विष्णु द्वारा माली तथा माल्यवान् का वध वर्णन करता है। **(ग) अर्जुनविजय** (१४ शाती) जिसमें मुख्य कथा सहस्रार्जुन द्वारा रावण का पराजय वर्णित है।

ये ग्रन्थ रामायण ककविन से सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु इनसे अतिरिक्त एक अर्वाचीन राम कथा की धारा इस देश में प्रवाहित होती है, जो अधिक लोकप्रिय है तथा जावा के वर्तमान नाटकों का मूल स्रोत प्रस्तुत करती है। यह अर्वाचीन रूप हिन्देशिया से हिन्द-चीन, श्याम तथा ब्रह्म देश तक फैला हुआ है और इसलिए राम कथा के विकास में विशेष महत्त्व रखता है। मलय की अर्वाचीन रामकथा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है--**हिकायत सेरीराम**। इस विस्तृत रचना में रावण-चरित से आरम्भ कर सीता-त्याग के अनन्तर राम-सीता के मिलन पर्यन्त की कथा दी गई है। इस कथा में वाल्मीकीय रामायण की कथा सर्वतोभावने गृहीत नहीं है। बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका उस रामायण में सर्वथा अभाव है, तथापि ऐसी कथाओं का भी मूल स्रोत अभारतीय नहीं है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन कर्ता विद्वानों का मत है कि ऐसे कथाओं पर जैनी रामायण तथा बंगाली रामायण का प्रभाव निश्चित रूपेण है। इतना ही नहीं, इस रामायण के कुछ प्रसंग आनन्द रामायण तथा कथासरित्सागर में भी उपलब्ध होते हैं। फलतः सेरीराज की रामकथा का वर्णन अनेक भारतीय आधारों के ऊपर प्रस्तुत किया गया है। इस राम-कथा पर तद्देशीय रामायण ककविन तथा मुसलमान धर्म का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। जावा की अर्वाचीन रामकथा का प्रतिनिधित्व दो रचनायें करती हैं---**राम-केलिंग** तथा **सेरतकांड**। इन दोनों में भी द्वितीय रचना विशेष महत्त्व की मानी जाती है। इस रचना के ऊपर हिकामत सेरीराम के विपुल प्रभाव होने से दोनों कथाओं का ढाँचा तथा घटनाचक्र एक ही प्रकार का मूलतः है।

हिन्दचीन—हिन्द-चीन के साथ भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध प्रथम शताब्दी से आरम्भ हुआ---ऐसा ऐतिहासिकों का कथन है। फलतः यहाँ चम्पा राज्य की स्थापना हुई।

---

१. संस्कृत टेक्स्ट्स फ्राम बाली, पृ० ८९ (गायकवाड़ सीरीज में प्रकाशित, बड़ोदा)

साँतवी शताब्दी के शिलालेखों से पता चलता है कि यहाँ उस समय वाल्मीकि रामायण का विशेष प्रचार हुआ। वहाँ के राजा प्रकाश धर्म (६५३–६७८) के समय में वाल्मीकि के मन्दिर में वाल्मीकि की मूर्ति स्थापित मिली है, जिस पर अंकित यह श्लोक बड़े महत्त्व का है—

यस्य शोकात् समुत्पन्नं श्लोकं ब्रह्माभिपूजति ।
विष्णोः पुंसः पुराणस्य मानुषस्यातमरूपिणः ।।

इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकि के शोक से श्लोक की उत्पत्ति (शोकः श्लोकत्वमागतः) तथा राम के विष्णु के अवतार होने की घटना सप्तम शती में चम्पा में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई थी।

चम्पा के एक राजा को परास्त कर उसके सामन्त ने कम्बोडिया (कम्बोज या ख्मेर) का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इसके अनेक मन्दिरों के खण्डहर उपलब्ध होते हैं। इसकी प्राचीन राजधानी अंगकोर वाट (नगर मन्दिर) के विशाल मन्दिर में रामायण की कथाओं के पाषाण चित्र महाभारत तथा हरिवंश की कथाओं के साथ अंकित किये गये उपलब्ध होते हैं, जिनका समय ११ वीं १२ वीं शती है। ख्मेर साहित्य की महत्त्वपूर्ण रामकथा **रामकेर्ति** के नाम से विख्यात है, जिसके रचयिता के नाम तथा काल का परिचय अज्ञात है। प्राचीनतम हस्तलेख १७ वीं शती के मिलते हैं जिससे इस ग्रन्थ का समय इस शती से प्राचीनतर माना जा सकता है। इस ग्रन्थ के अज्ञातनामा लेखक ने सेरीराम तथा वाल्मीकि रामायण की कथाओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया है, परन्तु रामकेर्ति सेरीराम की अपेक्षा वाल्मीकि रामायण के अधिक निकट है।

श्याम देश—श्याम देश (थाईलैण्ड) में रामकथा **रामकियेन** (रामकीर्ति) के नाम से विख्यात है। प्राचीन काल में यहाँ के नाटकों का वर्ण्य विषय राम कथा रहा है। उस युग के छाया नाटक भी राम-कथा का आश्रय लेकर ही विरचित होते थे। अठारहवीं शती में नाटक की जो नई धारा चली वह भी रामकियेन के आधार पर ही प्रस्तुत की गई है। बंगाल के बिरला ओरियन्टल सीरीज में रामकियेन का अंग्रेजी अनुवाद रामकीर्ति के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें ४२ अध्याय हैं। इसमें पूरी रामकथा वर्णित है। यह ध्यान देने की बात है कि रामकियेन के सब पात्र श्याम देश के ही निवासी हैं और रामायण का घटना स्थाल श्याम देश में ही माना गया है। रामकियेन के ऊपर रामकेर्ति का प्रभाव अवश्य लक्षित होता है, परन्तु इसकी राम कथा वाल्मीकि रामायण की कथा से निकट सम्बन्ध रखती है और उसी के आधार पर निर्मित है। श्याम के उत्तर पूर्वी प्रान्तों में लाओ भाषा बोली जाती है। इस भाषा में पंचतन्त्र की कथा में ही दशरथ के द्वारा अन्ध मुनि के पुत्र का वध और राम द्वारा विभीषण के शरण में लेने की कथा वर्णित है। १६ वीं शती में **रामजातक** की रचना लाओ भाषा में की गयी, जिसमें रामकथा के समग्र पात्र तद्देशीय ही माने गये हैं। लाओस में भी रामकथा-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

ब्रह्मदेश—ब्रह्म देश का राम विषयक साहित्य अर्वाचीन है। इतिहास का कहना है कि ब्रह्म देश के एक राजा ने श्याम की राजधानी अजुतिया को नष्ट कर दिया (१७६७ ई०)

और श्याम से बहुत से कैदियों को अपने देश में ले आया, जो यहाँ आकर राम-कथा का अभिनय करते थे। श्याम की राम कथा के आधार पर ब्रह्मा में रामायण की रचना हुई (१८०० ई० के आसपास), जो **रामयागन** के नाम से बर्मी भाषा का सबसे महत्त्व पूर्ण रचना है। यही ब्रह्मदेशीय रामायण है। आजकल ब्रह्मा में रामनाटक बहुत ही लोक-प्रिय है। बरमी भाषा में 'यामप्वे' नाम से प्रख्यात इन नाटकों में अभिनेता बहुमूल्य मुखड़ा पहनता है और अभिनय के दिन उसकी विधिवत् पूजा करता है—यह ठीक भारत-वर्ष की रामलीला में 'मुकुटपूजा' के समान है, जिससे रामलीला का आरम्भ काशी में आज भी किया जाता है। बरमी रामायण **रामयागन** श्यामी रामायण रार्मकियेन के द्वारा विशेष प्रभावित है, तथापि इसमें कहीं-कहीं मौलिक घटनाओं का भी समावेश उपलब्ध होता है। इस प्रकार बृहत्तर भारत में रामकथा का विपुल प्रचार रामकथा की लोक-प्रियता का पर्याप्त सूचक है।

पश्चिमी जगत् में रामकथा की भ्रमण कहानी कम रोचक नहीं है। १५वीं शती के पश्चिमी यात्रियों तथा मिशनरियों के ग्रन्थों द्वारा यह कथा यूरोप के विभिन्न देशों में प्रचलित हो गई। डच, फ्रेंच, पोर्चुगीज तथा अंग्रेजी भाषा में लिखे गये यात्रा विवरणों में रामायण की कथा संक्षेप में उल्लिखित है। इन अल्प ज्ञात या अज्ञात विवरणों के अनु-शीलन से पश्चिमी जगत् में मध्य युग से प्रसिद्ध होनेवाली रामायण कथा का परिचय किसी भी अन्वेषक को भली भाँति लग सकता है।[1]

महाभारत

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ॥
(गोवर्धनाचार्य)

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्य रूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास–वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपितु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है। इसलिए इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं, जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ इसी के अंश हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पंचरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण महाभारत 'पंचम वेद' के नाम से विख्यात है।

---

१. विशेष द्रष्टव्य डॉ० कामिल बुल्के की 'रामकथा' (द्वितीय सं०) इलाहाबाद, १९६२।

वाल्मीकि के समान व्यास भी संस्कृत कवियों के लिए उपजीव्य हैं। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य, नाटक, गद्य, चम्पू, पद्य, कथा, आख्यायिका आदि नाना प्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों ? जावा, सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव-चरित के अभिनय से उसी प्रकार मनोरंजन करते हैं जिस प्रकार भारतवासी। महाभारत इतना विशाल है कि व्यासजी का यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होता है–'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।'[1] प्राचीन राजनीति को जानने के लिए हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति, जिसमें आचार तथा लोकव्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण है, महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

रचयिता

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था, जो चेदिराज वसु उपरिचर के वीर्य से यमुना के किसी द्वीप में उत्पन्न हुई थी। मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा यज्ञीय उपयोग के लिए एक को वेद चार संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही नहीं थे, प्रत्युत पाण्डवों का विपत्ति के समय छाया के समान अनुगमन करनेवाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढस तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहने की शिक्षा दिया करते थे। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिए इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषय-भोग के पुतले इन कौरवों ने इनके उपदेशों को लात मारकर अपनी करनी का फल खूब ही पाया। इनसे बढ़कर भारतीय युद्ध के वर्णन करने का अधिकारी कोई दूसरा विद्वान् नहीं था। इन्होंने तीन वर्षों तक सतत परिश्रम से––सदा उत्थान से––इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की (आदिपर्व––५६।५२) :––

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्षों के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्य-प्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसलिए इसे 'शतसाहस्र-संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से पुराना अवश्य है, क्योंकि गुप्त-

---

१. धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ (महाभारत)

कालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्त्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे, जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्यवैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने जिस काव्य का रूप दिया है वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं--(१) जय, (२) भारत, (३) महाभारत।

इस ग्रन्थ का मौलिक रूप (१) **'जय'** नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में नारायण[1], नर, सरस्वती देवी को नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था।[2] पाण्डवों के विजय-वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया है।

(२) **भारत**--'जय के अनन्तर विकसित होने पर इस ग्रन्थ का अभिधान पड़ा--भारत। नाम से प्रतीत होता है कि यह भारतवंशी कौरवों तथा पाण्डवों के युद्ध का वर्णन परक ग्रन्थ था। उस समय उसका परिमाण केवल चौबीस सहस्र श्लोक था और यह आख्यानों से रहित था।[3] उपाख्यानों के समावेश ने इसे भारत से 'महाभारत' का रूप प्रदान किया, जो अपने "खिल पर्व' (अर्थात् परिशिष्ट रूप) 'हरिवंश' से संयुक्त होकर परिमाण में चतुर्गुण हो गया--एक लाख श्लोक वाला।

(३) **महाभारत**--लगभग पाँच सौ वर्ष ईस्वी पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'हमाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना-प्रधान हैं, कतिपय ऐतिहासिक होने से प्राचीन इतिहास की अमूल्य निधि हैं, कतिपय तत्कालीन लोक-कथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्म तथा नीति की विशद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। डाक्टर सुखठणकर का प्रमाणपुष्ट मत है[4] कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल महाभारत का वर्तमान

---

१. **नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।**
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥ **(महाभारत--मंगल श्लोक)**

२. **'जय' नामेतिहासोऽयम्।**

३. **चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।**
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ (महाभारत)

४. **भंडारकार रिसर्च इन्स्टीच्यूट की पत्रिका, भाग १८, पृ० १७६ तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४५, पृ० १०५-१६२।**

वृद्धिगत रूप है। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे, उनकी पहली जिज्ञासा भार्गववश की कथा सुनने की थी--

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।

महाभारत के नाना उपाख्यानों का सम्बन्ध स्पष्टरूप से भार्गवों के साथ है। और्व (आदि), कार्तवीर्य (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग), विपुला (शान्ति), उत्तंक (अश्व०) इन समग्र विख्यात आख्यानों का सीधा सम्बन्ध भार्गवों के साथ है। आदि पर्व के प्रथम ५३ अध्याय (पौलोम तथा पौष्यपर्व) भार्गववंशीय कथा से अपना सम्बन्ध रखते हैं।

महाभारत का रचना काल

आज उपलब्ध महाभारत लक्ष श्लोकात्मक है। यह स्वरूप अठारह पर्वों का न होकर हरिवंश से संयुक्त करने पर ही सिद्ध होता है। परिशिष्ट होने से हरिवंश भी महाभारत का आविभाज्य अंग माना जाता था और इन दोनों को मिलाने पर ही एक लाख श्लोक की संख्या निर्णीत होती है। इस[1] महाभारत के काल-निर्णय के निमित्त कतिपय प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं :--

(क) अठारह पर्वों का यह ग्रन्थ तथा हरिवंश संवत् ५३५ और ६३५ के बीच जावा तथा बाली द्वीपों में विद्यमान थे। कविभाषा में अनूदित समग्र ग्रन्थ के आठ पर्व—आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रस्थानिक और स्वर्गारोहण—बाली में इस समय उपलब्ध हैं और कुछ प्रकाशित भी हुए हैं। अनुवाद के बीच-बीच में मूल श्लोक भी दिये गये हैं, जो महाभारत के श्लोक से मिलते हैं। फलतः ५३५ सं० से कम-से-कम दो सौ वर्ष पूर्व भारत में महाभारत का प्रामाण्य अंगीकृत था।

(ख) गुप्त शिलालेखों में एक शिलालेख (चेदि संवत् १९७ विक्रमी ५०२=४४५ ईस्वी) में महाभारत का उल्लेख 'शतसाहस्री संहिता' अभिधान द्वारा किया गया है। अतः इस समय से दो सौ वर्ष पूर्व महाभारत को वर्तमान रूप में होना अनुमान सिद्ध है।

(ग) महाकवि अश्वघोष ने अपने 'वज्रसूची उपनिषद्' में हरिवंश के श्राद्ध माहात्म्य में से 'सप्तव्याधा दशार्णेषु' (हरिवंश २४।२०, २१) इत्यादि श्लोक तथा महाभारत के ही अन्य श्लोक (शान्तिपर्व २६१।१७) पाये जाते हैं। इससे प्रकट है कि प्रथम शती से पूर्व हरिवंश को मिलाकर वर्तमान महाभारत प्रचलित था।

(घ) आश्वलायन गृह्यसूत्रों में (३।४।४) भारत और महाभारत का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। बौधायन धर्मसूत्र (२।२।२६) के एक स्थान पर महाभारत में वर्णित ययाति उपाख्यान का एक श्लोक मिलता है (आदि ७८।१०) तथा बौधायन गृह्य सूत्र में 'विष्णुसहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत इसमें (२।२२।९) गीता का "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" श्लोक (गीता ९।२६) उद्धृत है। बौधायन ईस्वी सन् से लगभग चार सौ वर्ष पहिले हुए थे—ऐसा डॉ० बूलर ने प्रमाणित किया है।

---

१. द्रष्टव्य गीतारहस्य—पृष्ठ ५५९——५६४, षष्ठ मुद्रण, १९२८।

(ङ) महाभारत में जहाँ विष्णु के अवतारों का वर्णन किया गया है, वहाँ बुद्ध का नाम तक नहीं है। नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व ३३९।१००) में दश अवतारों के भीतर हंस को प्रथम अवतार माना गया है और बुद्ध का उल्लेख न कर 'कल्कि' का निर्देश कृष्ण के तुरन्त बाद में किया गया है। फलतः बुद्ध से अनभिज्ञ महाभारत बुद्धपूर्व युग की निःसंदिग्ध रचना है।

(च) चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आनेवाला यूनानी राजदूत मेगस्थानीज ने अपने भारत-विषयक ग्रन्थ में लिखा है कि हिरेक्लीज़ अपने मूल पुरुष डायोनिसस से पन्द्रहवाँ था और उसकी पूजा मथुरा के निावासी शौरसेनीय लोग आदर के साथ करते थे। हिरेक्लीज से श्रीकृष्ण का ही बोध होता है, जो महाभारत के अनुसार दक्ष प्रजापति से पन्द्रहवें पुरुष थे (अनुशासन १४७।२५–३३)। इतना ही नहीं, मेगास्थनीज ने विचित्र लोगों––कर्ण प्रावरण, एकपाद, ललाटाक्ष आदि––का और सोना निकालनेवाली चीटियों का जो वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है वह महाभारत के ही आधार पर है (सभापर्व ५१ और ५२ अ०)। फलतः वह केवल महाभारत से ही परिचित नहीं था, प्रत्युत उस युग में प्रचलित कृष्ण-चरित तथा कृष्णपूजा से भी अवगत था।

इन प्रमाणों के साक्ष्य पर यह निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान महाभारत का निर्माण बुद्ध के पूर्व युग से सम्बद्ध है। ईस्वी पूर्व पञ्चम अथवा षष्ठ शती में उसकी रचना हुई।

ग्रन्थ परिचय

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संख्या में १८ अठारह हैं––

(१) आदि, (२) सभा, (३) वन, (४) विराट, (५) उद्योग, (६) भीष्म, (७) द्रोण, (८) कर्ण, (९) शल्य, (१०) सौप्तिक, (११) स्त्री, (१२) शान्ति, (१३) अनुशासन, (१४) अश्वमेध, (१५) आश्रमवासी, (१६) मौसल, (१७) महाप्रस्थानिक, (१८) स्वर्गारोहण। आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में द्यूतक्रीडा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराटपर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना; द्रोण पर्व में अभिमन्यु-वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध; शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध; स्त्रीपर्व में स्त्रियों का विलाप; शान्तिपर्व में भीष्मपितामह का युद्धिष्ठिर को मोक्षधर्म तथा राजधर्म का उपदेश; अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ; अश्वमेध पर्व में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना; आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना; मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश; महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

२।८२–८३)। ध्यान देने की बात तो यह है कि हरिवंश खिलसंज्ञित पुराण कहा गया है (हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम्)। फलतः व्यास की दृष्टि में खिल और पुराण दोनों साथ-साथ होने में कोई वषम्य नहीं है।

(२) हरिवंश के २० वें अध्याय में 'यथा ते कथितं पूर्वं मया राजर्षिसत्तम' के द्वारा ययाति के चरित की महाभारत में पूर्व स्थिति का स्पष्ट निर्देश है (आदिपर्व अ० ८१–८८)।

(३) हरिवंश के ३२ वें अध्याय में अदृश्यवाणी का कथन 'त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला' के द्वारा महाभारत में शकुन्तलोपाख्यान की ओर स्पष्ट संकेत है तथा ५४ अध्याय में कणिक मुनि का उल्लेख महाभारत में कणिक मुनि की पूर्व स्थिति बतलाता है (आदिपर्व अ०, १४०)।

(४) हरिवंश का उपक्रम तथा उपसंहार बतलाता है कि हरिवंश महाभारत का ही परस्पर सम्बद्ध खिल पर्व है। उपक्रमाध्याय में भारती कथा सुनने के बाद वृष्णि अन्धक चरित सुनने की इच्छा शौनक ने सौति से जो प्रकट की वह दोनों के सम सम्बन्ध का सूचक है। हरिवंश के १३२ वें अ० में महाभारत के कथाश्रवण का फल है, जिस कथन की संगति हरिवंश के महाभारत के अन्तर्गत मानने पर ही बैठ सकती है, अन्यथा नहीं।

(५) बहिरंग प्रमाणों में आनन्दवर्धन का यह कथन साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि महाभारत के अन्त में हरिवंश के वर्णन से समाप्ति करनेवाले व्यासजी ने शान्तरस को ही ग्रन्थ का मुख्य रस व्यञ्जना के द्वारा अभिव्यक्त किया है।[1]

फलतः हरिवंश महाभारत का 'खिल' पर्व है। साथ ही साथ पञ्चलक्षण से समन्वित होने से यह 'पुराण' नाम्ना भी अभिहित किया जाता है, परन्तु न तो यह महापुराणों में अन्तर्भूत होता है और न उपपुराणों में। दोनों से इसकी विशिष्टता पृथक् ही है।

हरिवंश का कालनिर्णय

हरिवंश के निर्माण तथा महाभारत के साथ सम्बद्ध होने के काल का निर्णय प्रमाणों द्वारा किया जा सकता है—

(क) हरिवंश के साथ सम्मिलित होकर लक्ष श्लोकात्मक रूप धारण करने वाला महाभारत 'शत साहस्री संहिता' के नाम से ४५४ ईस्वी के गुप्त शिलालेख में उल्लिखित है।

(ख) अश्वघोष (प्रथमशती) ने अपने वज्रसूची उपनिषद् में हरिवंश के 'प्रेतकल्प' प्रकरण से 'सप्तव्याधा दशार्णेषु' (हरिवंश २४।२०, २१) इत्यादि श्लोकों को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। अतः हरिवंश की रचना प्रथमशती से अर्वाचीन नहीं हो सकती।

(ग) हरिवंश (विष्णु पर्व ५५।५०) में 'दीनार' का उल्लेख उसके रचनाकाल का द्योतक है। रोम साम्राज्य के सोने के सिक्के 'दिनारियस' कहलाते थे और उसी शब्द का

---

१. **'शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते च आमोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यम्'—। अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्तिं विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक् स्फुटीकृतः। —ध्वन्यालोक, पृ० २३८–३९। नि० सा० संस्करण।**

संस्कृत रूप 'दीनार' है। इस शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग प्रथमशती के शिलालेखों में उपलब्ध होता है।

(घ) हरिवंश के एक श्लोक में सुंगब्राह्मण राज्य के संस्थापक पुष्यमित्र द्वारा यज्ञ का उल्लेख भविष्य में होनेवाली घटना के रूप में निर्दिष्ट किया गया है--

उपात्तयज्ञो देवेसु ब्राह्मणेषूपपत्स्यते।
'औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानीः काश्यपो द्विजः।
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति॥

(हरिवंश ३।२।३९-४०)

यह तो प्रसिद्ध ही है कि ब्राह्मण सेनापति पुष्पमित्र ने दो बार अश्वमेध यज्ञ किया था, जिनमें महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि स्वयं ऋत्विक् रूप से उपस्थित थे। 'इह पुष्पमित्रं याजयामः'--महाभाष्य। पुष्पमित्र ने लगभग ३६ वर्षों तक राज्य किया (लगभग ईस्वी पूर्व १८७-१५१) और आरम्भ में वे मौर्य सम्राट् के सेनापति थे। इसी प्रसिद्ध सेनानी का निर्देश इस श्लोक में है। फलतः हरिवंश का रचनाकाल इससे पूर्व नहीं, तो इसके कुछ ही पश्चात् होना चाहिए।

अतएव 'हरिवंश' का निर्माण काल ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में मानना सर्वथा सुसंगत होगा।

हरिवंश का धार्मिक महत्त्व सर्वत्र प्रख्यात है। सन्तान के इच्छुक व्यक्तियों के लिये 'हरिवंश' के विधिवत् श्रवण का विधान लोक प्रचलित है। शपथ खाने के लिए पुरुषों के हाथ पर हरिवंश की पोथी रखने का प्रचलन नेपाल में उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी मुसलमान के हाथ पर कुरान रखने का। श्रीकृष्ण के चरित के तुलनात्मक अध्ययन के लिए हरिवंश के विष्णुपर्व का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। प्राचीन भारत की ललित कलाओं के विषय में हरिवंश बहुत ही उपादेय सामग्री प्रस्तुत करता है। प्राचीन भारत में नाटक के अभिनय-प्रकार की जानकारी के लिए यहाँ उपादेय तथ्यों का संकलन है। सबसे महत्त्वपूर्ण है हरिवंश में राजनैतिक इतिहास का वर्णन, जो किसी भी प्राचीन पुराण के वर्णन से उपादेयता और प्रामाणिकता में किसी प्रकार न्यून नहीं है[2]। फलतः प्रथम शती में भारतीय संस्कृति की रूपरेखा जानने के लिए हरिवंश[3] हमारा विश्वनीय मार्गदर्शक है।

---

१. 'औदभिज्ज' शब्द का अर्थ टीकाकार नीलकण्ठ ने 'भूमि से निकलने वाला योगी' किया है। आधुनिक विद्वान् इसे वनस्पति अर्थ में लेते हैं, जो काञ्ची के पल्लव तथा ववनवासी की कदम्ब जाति के समान किसी जाति या वंशविशेष का परिचायक प्रतीत होता है।

२. द्रष्टव्य डॉ० वीणापाणि पाण्डेय—हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन (हिन्दी समिति लखनऊ द्वारा प्रकाशित, १९६०।

३. हरिवंश का प्रकाशन नीलकण्ठ की टीका के साथ चित्रशाला प्रेस पूना ने तथा हिन्दी अनुवाद के साथ गीताप्रेस (गोरखपुर) ने किया है।

महाभारत के टीकाकार

महाभारत के टीकाकारों की एक दीर्घ परम्परा है जिसके अन्तर्गत बड़े विद्वानों तथा अध्यात्मवेत्ता संन्यासियों की गणना है। डॉ० सुखठणकर के अनुसार महाभारत के टीकाकारों के नाम निम्नलिखित हैं :—अनन्तभट्ट, अर्जुन मिश्र, आनन्द, चतुर्भुज मिश्र, जगदीश चक्रवर्ती, देवबोध, नीलकण्ठ, महानन्द पूर्ण, यज्ञनारायण, रत्नगर्भ, रामकिंकर, रामकृष्ण, रामानुज, लक्ष्मण, वरद, वादिराज, विद्यासागर, विमलबोध, शंकराचार्य, श्रीनिवास, सर्वज्ञनारायण, सृष्टिधर (२२)। इन बाइस टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य टीकाकार भी हैं—गदानन्द ('भारत-ज्ञान-दीपक' नामक टीका के कर्ता, जिनकी टीका का हस्तलेख वंगीय साहित्य परिषद् में उपलब्ध है), जगद्धर, जनार्दन मुनि और विद्यानिधिभट्ट (जिन चारों का निर्देश आनन्द-पूर्ण ने अपनी भारत-टीका में भारत-टीकाकार के रूप में किया है), वैशम्पायन तथा शाण्डिल्य, माधव (३०)—(जिनमें प्रथम का निर्देश विमलबोध ने तथा अन्तिम दो का अर्जुन मिश्र ने अपनी टीकाओं में किया है), किसी रामकृष्ण की विरोधार्थभंजिनी व्याख्या तथा अज्ञातनामा लेखक का 'विषमपद-विवरण' विराटपर्व के ऊपर प्रकाशित है। वादिराज के 'लक्षाभरण' की कुछ टिप्पणियाँ विराट तथा उद्योग पर्व पर प्रकाशित हैं। आठ टीकाओं के साथ विराट पर्व को १९१५ ई० में तथा पाँच टीकाओं के साथ उद्योग पर्व को १९२० में गुजराती प्रिंटिंग प्रेस ने प्रकाशित कर महाभारत के अनुशीलन कार्य में विशेष योगदान दिया है। 'निगूढपदबोधिनी' तथा 'भारतटिप्पणी' नामक अज्ञातनामा लेखकों की व्याख्या के अतिरिक्त उत्कल के कवीन्द्र (लगभग १६०० ई०) की 'भारत-व्याख्या' मिलती है। वादिराज की व्याख्या का नाम 'लक्षश्लोकालंकार' भी है। श्रीधराचार्य ने मोक्षधर्म के ऊपर अपनी व्याख्या लिखी है। इस प्रकार महाभारत के ३६ टीकाकारों का पता पूर्णरूप से चलता है। इन टीकाकारों में से अनेक के तो नाम ही यत्र-तत्र निर्दिष्ट हैं तथा कतिपय टीकाकारों की टीका एक पर्व पर अथवा अनेक पर्व पर मिलती है। ऐसे श्लाघ्य टीकाकार भी हैं जिनकी टीका भारत के १८ पर्वों पर उपलब्ध होती है। इनमें प्रख्यात कतिपय टीकाकारों का काल-क्रम से संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

(१) **देवबोध या देवस्वामी**—महाभारत के सर्वप्राचीन उपलब्ध टीकाकार हैं, जिनका उल्लेख पिछले टीकाकारों ने बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है। इनकी टीका आदि, सभा[१], भीष्मपर्व[१] तथा उद्योग[२] पर्व के ऊपर प्रकाशित भी हो चुकी है। टीका की पुष्पिका में ये परमहंस परिव्राजकाचार्य कहे गये हैं। फलतः ये अद्वैतवादी संन्यासी थे। इनके गुरु का नाम सत्यबोध मिलता है। इनके व्यक्तित्व के विषय में इतना ही ज्ञात है। इनकी टीका का नाम 'ज्ञानदीपिका' है। यह विस्तृत नहीं है; कठिन शब्दों का अर्थ देकर यह विषम स्थलों का तात्पर्य भी देती है। यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है। इसका प्रभाव पिछले टीकाकारों पर प्रचुर मात्रा में है। और मतभेद

---

१. भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना से प्रकाशित।

२. डॉ० डे० के सम्पादकत्व में विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित।

होने पर भी टीकाकारों ने इसका उल्लेख बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है। अर्जुनमिश्र के द्वारा यह श्लाघ्य स्तुति टीकाकारों के हार्दिक भाव को प्रकट करती है—

वेदव्यासमुखाम्भोजगलितं वाङ्मयामृतम् ।
संभोजयन्तं भुवनं देवबोधं भजामहे ।।

विमलबोध ने इनके मत का उल्लेख अपनी टीका में किया है। फलतः इनका समय ११५० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए।

(२) **वैशम्पायन**—मोक्षधर्म, अर्थात् शान्तिपर्व, के ऊपर लिखी इनकी व्याख्या उपलब्ध है। विमलबोध ने अपनी 'विषम-श्लोकी' नामक महाभारत-व्याख्या में इनके नाम का उल्लेख किया है—

वैशम्पायन-टीकादिदेवस्वामिमतानि च ।
वीक्ष्य व्याख्या विरचिता दुर्घटार्थप्रकाशिनी ।।

अतः इनका भी आविर्भावकाल ११५० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। देवबोध तथा विमलबोध के बीच की व्याख्याश्रृंखला वैशम्पायन के द्वारा निश्चित रूप से निर्मित की गई है।

(३) **विमलबोध**—इनकी व्याख्या अठारहों पर्वों के ऊपर उपलब्ध होती है। फलतः इनका महत्त्व प्रौढ़ टीकाकारों में समधिक वैशिष्टचपूर्ण है। इन्होंने अपनी टीका में धर्मनिबन्धकार के रूप में धारेश्वर (भोज) का, उनके प्रख्यात ग्रन्थ 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का तथा उनके अज्ञातपूर्व धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ 'व्यवहार-मञ्जरी' का सप्रमाण उल्लेख किया है। भोजराज का समय १०१० ई० से लेकर १०५५ तक साधारणतया माना जाता है। १०६२ ई० के पीछे इनका समय कथमपि नहीं है। इस उल्लेख के कारण विमलबोध का समय १०५० ई० के आसपास मानना उचित प्रतीत होता है। इस समय की सत्यता की पुष्टि आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१३५० ई०) के द्वारा विद्यासागरी टीका में उल्लेख से भी होती है। विमलबोध का समय धारेश्वर भोज तथा आनन्दपूर्ण के बीच में है। इनकी टीका का नाम—'विषमश्लोकी' या 'दुर्घटार्थ-प्रकाशिनी या 'दुर्बोधपदभंजिनी' है और यह विराट तथा उद्योगपर्व के ऊपर प्रकाशित हुई है (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस)।

(४) **नारायण सर्वज्ञ**—यह टीकाकार कहीं सर्वज्ञ नारायण या केवल नारायण नाम से भी निर्दिष्ट किया गया है। मनुस्मृति के टीकाकारों में भी 'सर्वज्ञ नारायण' अन्यतम है, जिसका समय काणे के अनुसार ११३०——१३०० ई० है। मनु की टीका का नाम 'मन्वर्थवृत्ति-निबन्ध' है, जो मनु की प्रख्यात टीका मानी जाती है। ये दोनों सर्वज्ञ नारायण अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। इनकी टीका के विस्तार का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि वह कितने पर्वों के ऊपर है। विराट तथा उद्योग पर्व की टीका प्रकाशित है। इस टीका का प्रभाव टीकाकारों के ऊपर विशेष पड़ा। उद्योगपर्व की टीका के परिशिष्ट के रूप में अर्जुन मिश्र ने निम्न कूट श्लोक का व्याख्यान सर्वज्ञ नारायण के मतानुसार किया है।

विषं भुङ्क्ष्व सहामात्यैर्विनाशं प्राप्नुहि ध्रुवम् ।
विना केन विना नाभ्यां स्फीतं कृष्णाजिनं वरम् ।।

अतः अर्जुन मिश्र के ऊपर इनके प्रकृष्ट प्रभाव का संकेत इससे स्पष्ट है। इनकी टीका का नाम 'भारतार्थ-प्रकाश' है।

(५) **चतुर्भुज मिश्र**—ये भी महाभारत के एक मान्य टीकाकार हैं। इनके समय का परिचय अनेक साधनों से मिलता है। इन्होंने अपनी टीका में मेदिनी कोष को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। मेदिनी का समय १२०० ई०—१२७५ ई० के बीच माना जाता है। उधर आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने (१३५० ई०) अपनी 'विद्यासागरी' टीका में चतुर्भुज मिश्र का निर्देश किया है। फलतः इनका समय दोनों के मध्य में कभी मानना होगा। १३०० ई० के आसपास सर्वज्ञ नारायण के अनन्तर इन्हें स्थान देना समुचित होगा। टीका का नाम 'भारतोपाय-प्रकाश' है; जो केवल विराट पर्व पर प्रकाशित है।

चतुर्भुज मिश्र के द्वारा रचित 'अमरुशतक' की एक व्याख्या (भाव-चिन्तामणि) का पता चलता है, जिसमें ये अपने को 'काम्पिल्य' बतलाते हैं। फलतः ये कंपिला (उत्तर प्रदेश के फतेहगढ़ के पास) के निवासी थे। अर्जुनवर्मदेव (१२११ ई०—१२१५ ई०, के द्वारा रचित अमरुशतक की व्याख्या से वे परिचय रखते हैं। फलतः इनका समय १२५० ई० के अनन्तर तथा १६६० ई० के पूर्व (जब इनकी टीका का हस्तलेख मिलता है) होना चाहिए। मेरी दृष्टि में महाभारत के टीकाकार चतुर्भुज मिश्र ही अमरुशतक के भी टीकाकार हैं और इनका समय १३ वीं शती के अन्तिम भाग में मानना कथमपि अनुचित न होगा।

(६) **आनन्दपूर्ण 'विद्यासागर'**—ये १४ वीं शती के मध्य में एक प्रख्यात संन्यासी थे। विद्यासागर इनका उपनाम था। इनके गुरु का नाम था परमहंस परिव्राजकाचार्य अभयानन्द। अद्वैत वेदान्त के इतिहास में आनन्दपूर्ण एक महिमाशाली प्रौढ़ ग्रन्थकार हैं जिनकी दार्शनिक कृतियाँ ये हैं—(१) पंचपादिका टीका, (२) न्यायकल्पलतिका (सुरेश्वराचार्य की बृहदारण्यवार्तिक की टीका), (३) भावशुद्धि (मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि की टीका), (४) खण्डनखण्डखाद्य की टीका (विद्यासागरी), (५) महाविद्या-विडम्बन टीका (१२२५ ई० के आसपास लिखित वादीन्द्र के प्रौढ़ ग्रन्थ की व्याख्या), (६) समन्वय-सूत्र-विवृति (ब्रह्मसूत्र १।१।४ की टीका), (७) न्यायचन्द्रिका (चार परिच्छेदों में न्याय, मीमांसा तथा वैशेषिक मतों का खण्डन), (८) वेदान्त-विद्यासागर (वेदान्त का मौलिक ग्रन्थ), (९) प्रक्रियामंजरी। इनकी महाभारत पर टीका बहुत ही विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण है, जिसमें प्राचीन टीकाकारों के मतों का उल्लेख विस्तार के साथ है। पाँच पर्वों की टीका उपलब्ध है—आदि पर्व (जयकौमुदी), सभा, भीष्म, शान्ति तथा अनुशासन पर्व (व्याख्या रत्नावली)। इनके समय का निर्धारण किया जा सकता है। ऊपर के छठे ग्रन्थ का हस्तलेख १४०५ ई० का तथा दूसरे ग्रन्थ का हस्तलेख १४३४ ई० का है। फलतः १४०० ईस्वी से इन्हें प्राचीन होना ही चाहिये। नौवें ग्रन्थ की रचना कामदेव[1] नामक राजा के समय की गई। ये कामदेव गोवा में राज्य करनेवाले कदम्ब-वंशी नरेश थे, जिनका शिलालेख १३१५ ई० का उपलब्ध होता है। फलतः आनन्दपूर्ण का समय १३५० ई० में, अर्थात् १४ वीं शती का मध्यभाग मानना उचित होगा। इन्होंने आदिपर्व की टीका (संस्कृत साहित्य परिषद् में उपलब्ध) में सात नये महाभारत के टीकाकारों का उल्लेख किया है, जिनमें से अनेक टीकाकार एकदम नये हैं। इन व्याख्या-

---

१. श्रीकामदेवे जगतीं प्रशासति श्रीशैलकन्यापतिभक्तिधारिणि ।
विद्योदधेरुत्थितमेतदारात् टीकामृतं भूसुरहर्षवर्धनम् ॥

कारों के नाम हैं–अर्जुन, जगद्धर, जनार्दन, मुनि, लक्ष्मण (टीका का नाम 'विषमोद्धारिणी' जो सभा तथा विराट पर्व पर उपलब्ध है), विद्यानिधि भट्ट तथा सृष्टिधर। विद्यासागर के द्वारा उद्धृत होने से इन सभी का समय १४ शती के मध्यकाल से निश्चित रूप से प्राचीन है।

(७) **अर्जुनमिश्र**—इनकी टीका का नाम 'भारतार्थदीपिका' और 'भारतसंग्रहीदीपिका' है। इसका केवल एक अंश (विराट तथा उद्योग की टीका) अब तक प्रकाशित हुआ है। टीका की पुष्पिका में ये अपने को 'भारताचार्य' की महनीय उपाधि से विभूषित करते हैं। इनके पिता का नाम था—ईशान, जो भारत के पाठक या पाठकराज थे और अपने पुत्र के समान ही 'भारताचार्य' की उपाधि धारण करते थे। ये बंगाल के निवासी तथा गंगा के तीरस्थ किसी नगर या ग्राम के वासी थे। अपने कुल को 'चम्पाहेटीय' या 'चम्पाहेठि' के नाम से निर्दिष्ट किया है। जिससे सूचित होता है कि इनका कुल या परिवार 'चम्पाहेठी' नामक स्थान का निवासी था। कलकत्ते से १५ मील दक्षिण पश्चिम में 'चम्पाहाटी' नामक एक स्थान है। सम्भव है कि अर्जुन मिश्र का कुल यहीं का मूल निवासी था। इन्होंने अपने से प्राचीन टीकाकारों में देवबोध, विमलबोध, शाण्डिल्य तथा सर्वनारायण का उल्लेख किया है और ये स्वयं नीलकण्ठ (१७ शती का उत्तरार्ध) के द्वारा उद्धृत हुए हैं। इनकी 'अर्थदीपिका' देवबोध की प्रख्यात टीका के आदर्श पर निर्मित है। इसका संकेत इन्होंने अपनी टीका (उद्योगपर्व की) में स्पष्टतः किया है। मोक्षधर्म पर इनकी टीका के हस्तलेख का समय १५३४ ईस्वी है। इन्होंने मेदिनी कोष (१२०० ई०-१२७५) को उद्धृत तथा सर्वज्ञ नारायण (१३वीं शती) का निर्देश किया है। फलतः इनका समय १४वीं शती का उत्तरार्ध (१३५० ई०—१५०० ई०) माना जा सकता है। इनकी टीका अल्पाक्षर होने पर भी सारगर्भित है। सनत्सुजातीय पर्व की व्याख्या में अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्तों का बड़ा ही प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन है। ये हरिवंश को भी महाभारत का अविभाज्य अंग मानते हैं। इसीलिए इनकी टीका हरिवंश के ऊपर भी उपलब्ध है।

(८) **नारयण**—ये पूर्वनिर्दिष्ट सर्वज्ञ नारायण से अवान्तरकालीन भिन्न टीकाकार हैं; क्योंकि इन्होंने स्पष्टतः नारायण सर्वज्ञ के मत की आलोचना कर अपनी व्याख्या की रचना की।[1] इन्होंने अर्जुनमिश्र का पूर्वटीकाकारों की गणना में उल्लेख किया है। फलतः इनका समय १४ वीं शती के अनन्तर कभी होना चाहिये। इनकी टीका का नाम 'निगूढार्थ-पदबोधिनी' है।

(९) **वादिराज**—यह टीकाकार दक्षिण भारत के निवासी थे, परन्तु इनके पाठ दक्षिणीय कोष से पूर्णतया नहीं मिलते और न उत्तरीय कोष से मिलते हैं। इनके पाठ दोनों कोषों के बीच में कहीं हैं। विराट पर्व की टीका के अन्त में अपने मध्वगुरु को इन्होंने प्रणाम अर्पित किया है। वादिराज का समय तथा कार्य माध्व सम्प्रदाय के इतिहास में

---

१. **श्रीदेवबोध-विमलबोध-शाण्डिल्यमाधवाः।**
नारायणश्च सर्वज्ञोऽर्जुनमिश्रस्तथैव च॥
एतेषां मतमालोच्य स्वमत्या च क्वचित् क्वचित्।
कृता नारायणेनेयं विगूढ-पद-बोधिनी॥ —(मद्रास हस्तलेख)

नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अपने 'तीर्थप्रबन्धकाव्य' (हस्तलेख भण्डारकर संस्थान में) में इन्होंने पण्ढरपुर के विठोवा (विट्ठल) की मूर्ति के तुंगभद्रा तीरस्थ विजयनगर में स्थानान्तरण का उल्लेख किया हैं। कृष्णदेव राम के समय में (१५०९–१५३० ई०) इस स्थानान्तरण की घटना की सम्भावना है। इन्हें अग्रहार देने का उल्लेख १४९३ शक वर्ष के (१५७१ ई०) एक शिलालेख में मिलता है। इनके प्रधान शिष्य कर्नाटक के प्रख्यात सन्त कनकदास का समय १५५० ई०––१५७० ई० के आस-पास है। फलतः वादिराज का समय १६वीं शती का मध्यभाग लगभग १५२५ ई०––१५७५ ई० मानना उक्त शिलालेख के स्पष्ट आधार पर समुचित है। अपने नाम का अर्थ इन्होंने स्वयं लिखा है[1]––वादी (मध्वाचार्य) राजा हैं जिसके वह व्यक्ति, अर्थात् मध्वाचार्य का दास। वादिराज द्वैतमतानुयायी आचार्यों में अन्यतम प्रौढ़ नैयायिक थे। इनकी महाभारत-टीका का नाम 'लक्षाभरण' या 'लंक्षालंकार' भी है। विराट तथा उद्योग पर्व पर यह प्रकाशित है (गुजराती प्रस)।

(१०) **नीलकण्ठ**––इनका पूरा नाम नीलकण्ठ चतुर्धर (चौधरी) है और इनके वंशज आज भी महाराष्ट्र में विद्यमान हैं। इनकी टीका नितान्त प्रख्यात, 'भारत–भावभावदीप' बहुशः प्रकाशित हुई है।[2] यह महाभारत के १८ पर्वों पर उपलब्ध है। नीलकण्ठ के पूर्वज महाराष्ट्र के कूर्परग्राम (आजकल कोपर गाँव, बम्बई प्रान्त का अहमदनगर जिला) के मूल निवासी थे, परन्तु इस टीका की रचना काशी में की गई, जहाँ वे आकर बस गये थे। नीलकण्ठ ने मन्त्र-रामायण तथा मन्त्र-भागवत नामक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है, जिसमें रामायण और भागवत की कथा से संबद्ध मन्त्र ऋग्वेद से क्रमबद्ध संगृहीत हैं तथा नीलकण्ठ ने इनके ऊपर अपने सिद्धान्तानुसार टीका भी लिखी है। नीलकण्ठ चतुर्धर के पिता का नाम 'गोविन्द' था तथा पुत्र का भी नाम 'गोविन्द' था, जिनके पुत्र (अर्थात् नीलकण्ठ के पौत्र) शिव ने पैठण में रहते हुए 'धर्मतत्त्व-प्रकाश' ग्रन्थ का निर्माण १७४६ ईस्वी में किया। नीलकण्ठ की 'शिवताण्डव-टीका' का रचनाकाल १६८० ई० तथा गणेशगीता की टीका का रचना काल १६९३ ईस्वी है। 'भारत-भावदीप' के नाना हस्तलेखों का समय १६८७ ई० से लेकर १६९५ ई० है, अतः इनका समय १६५० ई० १७०० ई० मानना उचित प्रतीत होता है।[3]

---

१. वादी मध्वे यस्य राजा सोऽहं तस्य कृपाबलात्।
वादिराजेन स्वशक्त्या व्रीणे वरणयामि तत्॥
भारत-तात्पर्य-निर्णय की 'भावप्रकाशिका' नाम्नी टिप्पणी के आरम्भ में वादिराज का श्लोक (हस्तलेख)।
विशेष के लिए द्रष्टव्य डॉ० गोडे––स्टडीज़ इन इण्डियन लिटररी हिस्ट्री, भाग २, पृष्ठ ३१–३८, (प्रकाशक भारतीय विद्याभवन, बम्बबशई, १९५४)।

२. चित्रशाला प्रेस पूना से अनेक जिल्दों में प्रकाशित।

३. इन टीकाकरों की विशेष चर्चा के लिए द्रष्टव्य Sukthankar memorial Edition, (पूना, १९४४) खण्ड १, पृष्ठ २६३–२७७ तथा Gode: Studies in Indian Literary History Vol 1. (बम्बई १९५३) पृष्ठ ४१३–४२२।

समीक्षण

संस्कृत-साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्ष-काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन काव्य-नाटकों की रचना हो गई उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुख्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इन कवियों की बड़े आदर के शब्दों में संकेत किया है। व्यास की प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती है। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिये उत्सुक बनाना है। इसीलिये महाभारत का मुख्य रस शान्त है, वीर तो अंगभूत है। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनतापूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है; क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो वह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक्-पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना आवश्यक है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का जैसा मंजुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। व्यास जी का कथन है कि इस आख्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष वेदांग तथा उपनिषदों को भले जानें, वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता[1]; क्योंकि यह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है[2]। जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे कोकिल की मधुर कूक के आग कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती है[3]। महाभारत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है--व्यास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। बाद के कविजनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है :--

> इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि-बुद्धयः।
> पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥

---

१. यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥

२. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामाशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥
(महा० आदि० अ० २; २८-८३)

३. श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव॥ (आ० प० अ० २।८४)

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥

महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है । सब अपने-अपने ढंग के निराले पात्र हैं, परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्भुत वस्तु है । महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही गृहीत होता आया है । वस्तुतः वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ । व्यास ने अपना सन्देश मनुष्यों के लिए सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया है[1] । यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्तव्य धर्म का सेवन ही है ।

महाभारत का वैशिष्ट्य

महर्षि वेदव्यास ने भारतीय अर्थनीति, राजनीति तथा अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थरत्नमें प्रस्तुत किया है कि यह वास्तव में भारतके धर्म तथा तत्त्वज्ञान का विश्वकोष है । धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है और इसीलिए व्यासजी ने अधर्म से देश का नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युत्थान की बात बड़े ही सुन्दर आख्यानों के द्वारा हमें सिखलाई है । 'भारत-सावित्री' (जो महाभारत की भव्य शिक्षा का सार-संकलन माना जाता है) में व्यास की स्पष्ट उक्ति है कि धर्म का परित्याग किसी भी दशा में, भय से या लोभ से, कभी नहीं करना चाहिए । धर्म शाश्वत है, चिरस्थायी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

व्यास कर्मवादी आचार्य हैं । कर्म ही मनुष्य का पक्का लक्षण है, कर्म से पराङमुख मानव मानव की पदवी से सदा वंचित रहता है (अश्वमेध० ४३।२७)—

प्रकाश-लक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ।

इसीलिए यह भव्य भारतभूमि कर्मभूमि है । फल भोगने का स्थान तो स्वर्ग है, जो इस भूमि के छोड़ने के अनन्तर प्राप्त होता है । इस विशाल ब्रह्माण्ड में मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, जिसके कल्याण के लिए पदार्थों की सृष्टि होती है तथा समाज की व्यवस्था की जाती है । आज के समाजशास्त्रियों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य ही इस विश्व का केन्द्र है व्यास के इस कथन पर आश्रित है(शान्ति० १८०।१२) —

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि ।
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ॥

---

१. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् श्रृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ (महाभारत)

मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ ही है। व्यास के शब्दों में यह सिद्धान्त 'पाणि-वाद' के नाम से विख्यात है। जगत् में जिन लोगों के पास 'हाथ' है—जो कर्म में दक्ष तथा उत्साही हैं—उनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं। संसार में पाणिलाभ से बढ़कर लाभ ही कोई दूसरा नहीं है। मानव-जीवन की कृतकार्यता हाथ रखने तथा हस्त-संचालन में ही तो है। हाथ रहते भी हाथ पर हाथ रखकर जीवन बिताना पशुत्व का व्यंजक चिह्न है। इसमें मानव की सिद्धार्थता नहीं है(शान्ति० १८०।११, १२) —

अहो सिद्धार्थता तेषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये येषां सन्तीह पाणयः॥
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते।

राष्ट्रभावना

व्यासजी की राष्ट्रभावना बड़ी ही उदात्त, विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। राजा राष्ट्र का केन्द्र होता है। भारतीय राजा प्रजातन्त्र युग के अधिनायकों के दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त होता है तथा स्वेच्छाचारी राजाओं के दोषों से भी विहीन होता है। वह होता है प्रजा का सर्वभावेन हितचिन्तक तथा मंगलसाधक। भारतीय धर्म ही राजमूलक होता है, अर्थात् धर्म की व्यवस्था तथा संचालन का उत्तरदायित्व राजा के ही ऊपर एकमात्र रहता है। यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करे, तो प्रजा ही एक दूसरे को न खा डालेगी, प्रत्युत वेदत्रयी का भी अस्तित्व लुप्त हो जायेगा और विश्व को धारण करने वाला धर्म ही रसातल में डूब जायेगा।[1] राजधर्म के बिगड़ने पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। राजनीतिक नेता के लिए महाभारत एक विलक्षण आदर्श उपस्थित करता है, जो आज भी उतने ही सुन्दर रूप से अनुकरणीय तथा ग्राह्य है। भारत कृषि-प्रधान राष्ट्र है। अतः व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता-बोता, उसे नेता बनकर राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता।

न नः समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्।

(उद्योग० ३६।३१)

ठीक ही है, किसानों का नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ, कुर्सीतोड़, बकवादी नेता किसानों का कौन-सा मंगल कर सकता है?

अध्यात्मतत्त्व

व्यासजी अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्म बारीकियों में न पड़कर हमें सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा देने पर आग्रह करते हैं। मानव का आध्यात्मिक कल्याण इन्द्रिय-निग्रह से ही होता है।[2] मनुष्य इन्द्रियों का दास बनकर पशुभाव को प्राप्त होता है और

---

१. राजमूलो महाप्राज्ञ ! धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्।
मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत्॥ (शान्ति० अ० ६८)

२. आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय-निग्रहात्। (उद्योग० ६३।१७)

इन्द्रियों का स्वामी बनकर अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है। एक स्थान पर व्यास की यह सारगर्भित उक्ति है कि वेद का उपनिषद् अर्थात् रहस्य है—सत्य। सत्य का भी उपनिषत् है—दम और इसी दम—इन्द्रिय-दमन का—रहस्य है मोक्ष। समग्र अध्यात्म-शास्त्र का यही निचोड़ है (शान्ति० २९९।१३) —

वेदोस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद् मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ॥

'करनी बड़ी है कथनी से'—व्यासजी की यही मान्य शिक्षा है मानवों के लिए महाभारत में किसी बोध्य ऋषि के द्वारा कही गई यह प्राचीन गाथा इसी तथ्य पर जोर देती है (शान्ति० १७८।६) —

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कञ्चन।

भारतीय संस्कृति आर्जव—ऋजुभाव—स्पष्ट कथन तथा सीधे आचरण को ही मानव-जीवन में नितान्त महत्त्व देती है। वह जिह्म मार्ग—टेढ़ा रास्ता—'मनस्यन्यत् वचस्यन्यत्' को मृत्यु का रूप बतलाती है तथा प्राणियों को उसके मानने से सदा दूर भागने का उपदेश देती है (आश्व० ११।४) —

सर्वं जिह्मं मृत्युपपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

काल के चक्र से कोई बच नहीं सकता। पाण्डवों की विषम तथा समृद्ध दशाओं के आलोचक की दृष्टि में काल की महिमा अपरिमेय है। काल ही कभी बलवान् बनता है और कभी दुर्बल; वही जगत् को अपनी इच्छा से ग्रसता है। इसी चक्र के भीतर यह समग्र विश्व अपनी सत्ता धारण किये हुए है। वह देवनिर्मित मार्ग है जिसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पलट नहीं सकता। मानव जीवन का श्रेयस्कर मार्ग है धर्म का आश्रय लेकर आत्मविजय करना। व्यासजी ने आत्म-साक्षात् के लिए बड़ी सुन्दर उपमा दी है। जिस प्रकार मूंज से सींक को अलग किया जाता है, उसी प्रकार पंचकोशों में अन्तर्निहित चैतन्यरूप आत्मा को भी साधक पृथक् कर साक्षात्कार करता है। आनन्दवर्धन की तो यह स्पष्ट सम्मति है कि महाभारत का मुख्य रस शान्त रस है। नाना विकट प्रपंचों में न लिप्त होकर मानव आत्मस्वरूप का परिचय पाकर मोक्ष का सम्पादन करे। महाभारत की यही अमूल्य शिक्षा है।

रामायण-महाभारत की तुलना

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेक आवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरी उनके रचना-काल को लेकर। रामायण आदिकाव्य माना जाता है और महाभारत इतिहास गिना जाता है। इस पारम्परिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण में काव्यगत चमत्कार महत्त्व की वस्तु है। महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं के इतिवृत्त का वर्णन करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में

राम-रावण युद्ध की घटना ही सर्वतोभावेन मुख्य है। अन्य छोट-मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ-साथ प्राचीन काल की अनेक कथाएँ अवान्तर रूप से दी हुई हैं, जो मुख्य घटना से कम महत्त्व नहीं रखतीं।

दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न-भिन्न है। रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र है; परन्तु महाभारत के समय आर्य्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गंगासागर का संगम है, दक्षिण में चोल तथा मालाबार प्रान्तों की सत्ता है। इतना ही नहीं, लंका के भी अधिपति उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होते हैं। उत्तरकुरु, हिमालय प्रदेश के राजा लोग उपहार लेकर स्वयं उस यज्ञ में उपस्थित होते हैं। फलतः भारतवर्ष का भौगोलिक विस्तार उस युग में रामायण की अपेक्षा अत्यधिक है।

दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में समरसता, शब्द और अर्थ का मंजुल सामञ्जस्य है, जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है; परन्तु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे-धीरे अपने अल्पकलेवर से बढ़ता हुआ वह लक्षश्लोकात्मक विशालकाय ग्रन्थ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नहीं है प्रत्युत लव तथा कुश के द्वारा उसके गाये जाने के तथ्य से हम परिचित हैं[1], परन्तु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रन्थरत्न है, जिसके लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने पहले-पहल यह कहना प्रारम्भ किया कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई। रामायण में सुन्दर पदविन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता का परिचयाक मानते थे। भारत के भी कतिपय विद्वानों ने इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय परम्परा उक्त मत के अत्यन्त विरुद्ध है। वाल्मीकि आदिकवि और महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेतायुग में होने वाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापरयुग में उत्पन्न होनेवाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि कालक्रम में वाल्मीकि-रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके पोषक प्रमाण मुख्यतः नीचे दिये जाते हैं--

(१) महाभारत के पात्रों के चरित्र में तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिए युद्ध करना

---

१. ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगस्तुतौ समाहिततो॥ (रामायण, ४१)

आदि घटनायें व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं; पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमा पाता। सन्तान के लिये पुत्रेष्टि याग करना, रीछ और बानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दश सिर होना आदि घटनाएँ मानव-संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

(२) रामायण में आर्य-सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का, जो सम्भवतः भिन्न वर्ग तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता, परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था, वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेछ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचत थ। विदुर ने इसी म्लेच्छ-भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसलिए किया गया कि अन्य सभासद् इसको समझ न सकें।[1]

(४) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी, परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है कि महाभारत की रचना रामायण से पीछे हुई।

(४) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। द्रौपदी के स्वयंवर में सीता-स्वयंवर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मापदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध में सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख-रेख में लड़ते हैं। व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है, जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में समर्थ होते हैं। युद्धकला का यह महाभारत-कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है।

(५) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अन्तर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र हैं, भरत

१. इस भाषा का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया गया है, जिसके अर्थ को समझने के लिए नीलकण्ठ की टीका देखना आवश्यक है :—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत्॥ (आदि पर्व, अ० २०, १४५)

भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है। भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, तो वे उनका घोर विरोध (अश्वत्थामा द्वारा) करने पर तुले हैं। विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पाप नहीं माना जाता था (अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा)।

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परन्तु महाभारत में यह भावना ह्रास पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान सीता को अपनी पीठ पर बैठा कर राम के पास चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती हैं। अतः वह इसे तिरस्कार कर देती हैं। रावणवध के अनन्तर सीता कठिन अग्नि-परीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है, परन्तु उसका पुनर्ग्रहण विना किसी रोक-टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परिचित है। वनपर्व के तीर्थ-यात्रा प्रसंग में शृङ्गवेरपुर[१] (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ, वनपर्व ८५।६५) तथा गोप्रतार[१] (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट, वनपर्व ८५।७०) तीर्थ में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वनपर्व के अठारह अध्यायों में (अ० २७४–२९१) रामोपाख्यान पर्व है, जिसमें रामचन्द्र की कथा संक्षेप से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक भी ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमाएँ तथा कल्पनाएँ भी वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ—माया सीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमानजी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं।

> न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
> पीडाकरममित्राणां यत्तु कर्तव्यमेव तत् ॥ (युद्ध० ८१-२८)

महाभारत के द्रोण पर्व में इसका उल्लेख वाल्मीकि के नाम से है—

> अति चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
> न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम॥
> सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
> पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी निष्पक्ष आलोचक को भारतीय परम्परा की सत्यता पर अविश्वास नहीं हो सकता कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

रामायण और महाभारत : श्री अरविन्द की दृष्टि में

महाभारत तथा रामायण दोनों की अपनी विशिष्टता है। महाभारत केवल भरत-वंशियों की कथा ही नहीं है, न यह राष्ट्रीय परम्परा का रूप लेनेवाली किसी प्राचीन घटना का एक महाकाव्य ही है, बल्कि यह एक बड़े पैमाने पर भारत की अन्तरात्मा का, उसके धार्मिक एवं नैतिक मन का, सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शों, संस्कृति एवं जीवन का महाकाव्य है। सम्पूर्ण काव्य की रचना एक विशाल राष्ट्रीय मन्दिर की भाँति की गई है। यह मन्दिर अपने कक्षों में अपने महान् और जटिल विचारों को एक-एक करके शनैः शनैः अनावृत करता है। यहाँ यथार्थ के सुर को आदर्श के स्वरों के द्वारा निरन्तर ऊँचा उठाया गया है। इस जगत् का जीवन भी विपुल परिमाण में चित्रित किया गया है, परन्तु उसे पीछे अवस्थित जगतों की शक्तियों के सचेतन प्रभाव और उपस्थिति के अधीन रख गया है। कथानक की धारा इसका मुख्य आकर्षण है और उसे अन्त तक ऐसी गतिविधि के साथ निभाया गया है जो एक साथ ही व्यापक और सूक्ष्म है, अपनी समग्रता में विशाल और सुस्पष्ट है तथा अपनी शैली में बराबर ही सरल, ओजस्वी और महाकाव्योचित है। महाकाव्य के गुणों से सर्वथा मण्डित होने पर भी महाभारत एक इतिहास है—एक अर्थपूर्ण कथा है, जो आद्योपान्त भारतीय जीवन और संस्कृति के केन्द्रीय विचारों और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती है। इसकी प्रमुख प्रेरणा धर्मविषयक भारतीय विचार है। यहाँ सत्य, प्रकाश और एकता की दिव्य शक्तियों और अन्धकार, विभाजन तथा असत्य की शक्तियों के बीच चलने वाले संग्राम के वैदिक विचार को आध्यात्मिक, धार्मिक और आभ्यन्तरिक स्तर से बाह्य बौद्धिक, नैतिक और प्राणिक स्तर पर लाकर प्रकट किया गया है। महाभारत का युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष है, जिसके अन्त में सत्य और न्याय के नये शासन की, धर्म के राज्य की स्थापना होती है, जो युद्ध करनेवाली जातियों की महत्त्वाकाङ्क्षापूर्ण उद्दण्डता के स्थान पर न्यायपूर्ण और लोकोपकारी साम्राज्य की प्रभुता और शान्ति की प्रतिष्ठा करता है। यह देव और असुर का, भगवान् और शैतान का चिरन्तन संघर्ष है, पर यहाँ इसे मानव जीवन की परिभाषा में प्रस्तुत किया गया है।......दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों की एक असाधारण राशि भी इसमें सम्मिलित की गई है। ये विचार कभी तो सीधे और स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किये गये हैं और कभी किसी पौराणिक उपाख्यान और प्रासंगिक कथा के रूप में ढाल कर। उपनिषदों और महान् दर्शनों के विचार बीच-बीच में बराबर ही लाये गये हैं और कभी-कभी उन्हें नये रूपों में विकसित भी किया गया है (जैसे गीता में)। यह सम्पूर्ण कृति एक जाति की समग्र अन्तरात्मा, विचारधारा और जीवन की एक काव्यमय अभिव्यक्ति है, जो अपनी ओजस्विता और पूर्णता में अद्वितीय है।

रामायण भी महाभारत से मिलती-जुलती रचना है। भेद इतना ही है कि इसकी योजना अपेक्षाकृत अधिक सरल है; इसमें आदर्शात्मक प्रकृति अधिक सुकुमार है और

काव्यात्मक ऊष्मा और रंग की आभा अधिक सुन्दर है। इसका अधिकांश स्पष्टतः एक ही व्यक्ति का रचा हुआ है और इसमें रचना की एकता कम जटिल एवं अधिक स्पष्ट है। इसमें दार्शनिक की मनोवृत्ति कम है और शुद्ध कवि की अधिक; इसमें कलाकार अधिक है, निर्माता कम। सम्पूर्ण कथा आदि से अन्त तक बस एक ही है और उसमें कवि कथानक की धारा से कहीं भी अलग नहीं हटा है। महाभारत की रचना शक्ति, सशक्त कारीगरी और क्रमपद्धति हमें भारत के गृहशिल्पियों की कला की याद दिलाती है; रामायण की रूपरेखा की गरिमा और सुस्पष्टता, उसके रंगों का वैभव और सूक्ष्म आलंकारिक विधान विशेषतः साहित्य में भारतीय चित्रकला की भावना और शैली की छाप को सूचित करते हैं। इसका विषय महाभारत जैसा ही है—पार्थिव जीवन में दानवीय शक्तियों के साथ दैवी शक्तियों का संघर्ष, पर उसे यहाँ अधिक शुद्ध आदर्शवादी रूपों में तथा स्पष्टतः अतिलौकिक परिमाण में प्रस्तुत किया गया है। रामायण ने भारतीय कल्पना शक्ति के लिए इसके चरित्र सम्बन्धी उच्चतम और कोमलतम मानवीय आदर्शों को मूर्त रूप प्रदान किया। बल, साहस, सज्जनता, पवित्रता, विश्वासपात्रता और आत्मोत्सर्ग का परिचय इसे अत्यन्त मनोरम और सुसमंजस रूप में कराया। जीवन की साधारण वस्तुओं को भी पति-पत्नी, माँ-बेटे, भाई-भाई के पारस्परिक प्रेम को राजा और नेता के कर्तव्य को, प्रजा और अनुयायी की राजभक्ति एवं निष्ठा को, महान् व्यक्तियों की महत्ता को और सरल लोगों के सच्चे रूप को एक प्रचार की उच्च दिव्यता प्रदान की। भारत के सांस्कृतिक मानस को ढालने में वाल्मीकि की कृति ने प्रायः एक अपरिमेय शक्ति से युक्त साधन के रूप में कार्य किया। इसने राम, सीता जैसे या फिर हनुमान्, लक्ष्मण तथा भरत सरीखे पात्रों के रूप में अपने नैतिक आदर्शों की सजीव मानव प्रतिमूर्तियों को उसके सम्मुख चित्रित किया है, ताकि वह उनसे प्रेम कर सके और उनका अनुकरण कर सके। राम और सीता को तो इतनी दिव्यता के साथ और मूल सत्य की ऐसी अभिव्यक्ति के साथ चित्रित किया है कि वे स्थायी भक्ति और पूजा के पात्र बन गये हैं। हमारे राष्ट्रीय चरित्र के सर्वोत्तम और मधुरतम तत्त्वों में से बहुतों का गठन इसी ने किया है और इसी ने उसके अन्दर उन सूक्ष्मतर और उत्कृष्ट, पर सुदृढ़ आत्मिक स्वरों को और अधिक सुकुमार मानव प्रकृति को उद्बुद्ध और प्रतिष्ठित किया है, जो सद्गुण और आचार-व्यवहार के प्रचलित बाह्य अंगों से कहीं अधिक मूल्यवान् वस्तुएँ हैं।

दोनों की शैली तथा शब्द-विन्यास में भी पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। महाभारत की अपनी विशिष्ट शब्दावली प्रायः कठोर रूप से पुरुषत्वपूर्ण है। वह ओजस्वी और आशु काव्य प्रतिभा की, महान् और सरल प्राण शक्ति की वाणी है। वह संक्षिप्त और प्रभावपूर्ण पदों में भाव प्रकाशित करती है। वह विषय को संक्षिप्त करने के लिए अलंकारों का किसी प्रकार का श्रमपूर्ण प्रयोग नहीं करती। यह भाषा-शैली दौड़ने वाले एक खिलाड़ी के हल्के-पुष्ट, नग्न-निर्मल शरीर के समान है, जिसमें स्वास्थ्य की कान्ति और स्वच्छता तो है, पर मांस की निरर्थक वृद्धि या पेशियों का अतिरिक्त उभार नहीं है। रामायण का शब्द-विन्यास अधिक आकर्षक ढांचे में ढाला गया है, जो ओज और माधुर्य का एवं प्रसाद, ऊष्मा और लालित्य का एक आश्चर्य है। इसकी पदावलि में केवल कवित्व

का सत्य और महाकाव्य की शक्ति ही नहीं है, बल्कि विचार, भाव या विषय की अनुभूति का अन्तरंग स्पन्दन भी है। दोनों काव्यों में एक उच्च कवि-आत्मा और अन्तःप्रेरित प्रज्ञा ही कार्य कर रही है। दोनों में ही वेद और उपनिषदों का साक्षात् अन्तर्ज्ञानात्मक मन बौद्धिक कल्पना के पर्दे के पीछे चला गया है।

ये जीवन की ताजगी में यूनान के महाकाव्यों के समान भरपूर, किन्तु विचार और सारतत्त्व में उनसे अनन्ततः अधिक गम्भीर और विकसित हैं। ये संस्कृति की परिपक्वता में लैटिन के महाकाव्यों के समान समुन्नत, पर ओज गुण में उनसे अधिक शक्तिशाली, प्राणवन्त और यौवनपूर्ण हैं। ये भारतीय महाकाव्य एक अधिक महान्, पूर्ण राष्ट्रीय, एवं सांस्कृतिक कार्य की पूर्ति के लिए रचे गये थे। इसीलिए इनकी उत्कृष्टता का सबल प्रमाण और क्या हो सकता है कि उच्च और निम्न, संस्कृत और सर्वसाधारण——दोनों श्रेणियों के लोगों ने इनका स्वागत किया है तथा इन्हें आत्मसात् किया है और बीस सदियों से ये बराबर ही सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन का अन्तरंग और रचनात्मक भाग रहे हैं।[1]

पुराण

पुराण भारतीय साहित्य का गौरव ग्रन्थ है। बिना पुराण के अध्ययन के कोई भी व्यक्ति विचक्षण नहीं माना जा सकता। प्राचीन मनीषियों का तो यह शंखनाद है कि कोई द्विज चारों वेदों को तथा उनके अंगों–उपनिषदों को जानता भले हो, यदि वह पुराण को नहीं जानता, तो वह विचक्षण-चतुर तथा शास्त्र कुशल नहीं माना जा सकता। वे तो हमारे सनातन धर्म के सर्वप्रामाणिक तथा प्राचीन ग्रन्थ हैं ही——इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु वेद का उपबृंहण करने वाला पुराण इसीलिए 'वेद का पूरक' माना जाता है। 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्तियों में 'पुरणात् पुराणम्' भी अन्यतम व्युत्पत्ति है, जिसका तात्पर्य यही है कि वेदार्थ के पूरण करने के कारण ही इस ग्रन्थ को 'पुराण' नामकरण प्राप्त हुआ। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर जीवगोस्वामी पुराण को वेद के सदृश अपौरुषेय मानते हैं। उनका तर्क यह है कि पूर्ति करने वाला पदार्थ भी मूल पदार्थ से सर्वथा सादृश्य धारण करता है। पूरक पदार्थ में भिन्नता होने के कारण मूल पदार्थ का पूरण क्या यथार्थतः कभी हो सकता है? सुवर्ण-आभूषण की पूर्ति क्या जतु (लाह) कभी कर सकता है? सोने के गहनों में यदि कहीं च्युति हो जाय, तो उसकी पूर्ति सोने से ही की जा सकती है, लाह से नहीं। पूरक पदार्थ की मूल, पदार्थ से एक जातीयता अनिवार्य है। इस तर्क का आश्रय लेकर इतनी दूर तक न जाने पर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वेदार्थ का उपबृंहण पुराण सर्वथा करता है। व्यास जी का यह प्रख्यात श्लोक इसी तथ्य की ओर संकेत करता है (महाभारत, आदि पर्व) :—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

द्रष्टव्य—१, श्री अरविन्द : 'भारतीय संस्कृति के आधार' पृष्ठ ३४०–३५० (प्रकाशक श्री अरविन्द सोसाइटी, पाण्डिचेरी, १९६८)।

पुराणार्थ की वेदार्थ से महनीयता मानने में जीवगोस्वामी ने अपने 'तत्त्वसन्दर्भ' के उपोद्घात में तीन कारणों का उपन्यास किया है—(१) वैदिक साहित्य की दुष्पारता (वेद का साहित्य इतना विशाल है कि उसका पार पाना एकान्ततः कठिन है), (२) वेदार्थ की दुरधिगमता (वेद की भाषा के सर्वाधिक प्राचीन होने के कारण उसके अर्थ को समझना नितान्त कष्टसाध्य है), (३) वेदार्थ के निर्णय में मुनियों का परस्पर विरोध । उदाहरणार्थ वैदिक 'वृत्र' के स्वरूप का निर्णय आज भी यथार्थरूपेण नहीं हो पाया। इसीलिए महर्षि यास्क ने अपने 'निरुक्त' में नाना सम्प्रदायों का उल्लेख कर निर्णय के प्रश्न को खुला ही छोड़ दिया है। इन कारणों से उत्पन्न दुरूहता पुराण में कहीं भी नहीं है। पुराण न तो दुष्पार है, न उसका अर्थ दुरधिगम है, और न उसके अर्थ-निर्णय में 'मुनीनां च मतिभ्रमः' वाली बात है। पुराण तथा वेद की यह शैली तथा भाषागत वैभिन्य को मूलतः समझ लेना नितान्त आवश्यक है। वेद की भाषा है प्राचीन तथा दुरूह, वेद की शैली है रूपकमयी तथा प्रतीकात्मक। इसके ठीक विपरीत पुराण की भाषा है व्यावहारिक तथा सरल, और शैली है रोचक तथा आख्यानमयी । इसलिए जनता के हृदय तक धर्म के तत्त्व को सुबोध भाषा के द्वारा पहुँचा देने में पुराण का प्रतिस्पर्धी कोई साहित्य नहीं है। स्मृतियाँ भी वेद-प्रतिपादित धर्म का वर्णन करती हैं, परन्तु वे उपदेशमयी होने के कारण आकर्षण विहीन हैं, लेकिन पुराण अपने उपदेशों को कथा-कहानी, आख्यान-उपाख्यान के रूप में प्रस्तुत करता है और इसीलिए उसका आकर्षण सर्वातिशायी है। जनता के हृदय को उतना न तो वेद का दुरूह मन्त्र आकृष्ट करता है और न स्मृति का शुष्क श्लोक, जितना आकर्षण करता है पुराण का भक्ति-संपुटित सरल श्लोक। इसीलिए नारदीय पुराण (२,२४।१७) का कथन है—

> वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
> वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ।।

पुराण का काल

पुराणों के समय-निर्णय के लिए निम्नलिखित प्रमाणों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) शङ्कराचार्य तथा कुमारिलभट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों के उद्धरण दिये हैं। बाणभट्ट (६२५ ई०) ने हर्षचरित में इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने जन्मस्थान में वायुपुराण के कथापारायण को सुना था। कादम्बरी में भी उन्होंने 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' कह कर वायु-पुराण के अस्तित्व की सूचना दी है।

(२) पुराणों में कलियुग के राजाओं का जो वर्णन किया गया है उसकी परीक्षा भी समयनिरूपण करने में विशेष सहायक है। विष्णु-पुराण में मौर्य वंश का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। मत्स्य-पुराण दक्षिण के आन्ध्र राजाओं का (लगभग २२५ ई०) प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। वायु-पुराण गुप्त राजाओं के प्रारम्भिक साम्राज्य से परिचित है। अतः पुराणों की रचना का काल गुप्तकाल के अनन्तर कथमपि नहीं माना जा सकता।

(३) वर्तमान महाभारत और पुराणों का परस्पर सम्बन्ध एक विवेचनीय वस्तु है। महाभारत को यह वर्तमान रूप प्राप्त होने से भी पहले पुराणों का अस्तित्व था।

महाभारत कथा के वक्ता उग्रश्रवा सूत लोमहर्षण के पुत्र थे। वे पुराणों में पूर्णरूप से निष्णात बतलाये गये हैं। लोमहर्षण भी पुराणों के विशेष ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध थे। हरिवंश में वायुपुराण के निर्देश ही नहीं मिलते, प्रत्युत वह वर्तमान वायु-पुराण के साथ अनेक अंशों में पर्याप्त साम्य भी रखता है। बहुत से आख्यान तथा उपदेशात्मक श्लोक पुराणों तथा महाभारत में समान रूप में उपलब्ध होते हैं। डाक्टर लूडर्स ने इस बात को प्रमाणतः सिद्ध किया है कि ऋष्यश्रृङ्ग का जो आख्यान पद्मपुराण में मिलता है वह महाभारत में उपलब्ध आख्यान की अपेक्षा प्राचीन है। इस परीक्षा से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत के वर्तमान संस्करण होने से बहुत ही पहले पुराण वर्तमान थे, और जो पुराण इस समय उपलब्ध हो रहे हैं उनमें भी बहुत-सी सामग्री महाभारत की अपेक्षा कहीं अधिक पुरानी है।

(४) कौटिल्य का अर्थशास्त्र पुराणों से अच्छी तरह परिचित है। कौटिल्य का कथन है कि उन्मार्ग पर चलनेवाले राजकुमारों को पुराणों का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना चाहिए। इतना ही नहीं, कौटिल्य ने पौराणिक को राज्य के अधिकारियों में अन्यतम स्थान दिया है। अतः पुराणों को कौटिल्य से प्राचीन मानना उचित है।

(५) सूत्र-ग्रन्थों के अवलोकन से पुराणों के अस्तित्व का कुछ परिचय मिलता है। उस समय पुराण ग्रन्थरूप में निबद्ध हो चुके थे और उनका स्वरूप वही था जिस रूप में वे आजकल हमें उपलब्ध हो रहे हैं। गौतम तथा आपस्तम्ब के प्राचीनतम धर्म-सूत्रों में पुराणों का उल्लेख है। गौतम-धर्मसूत्र (११।१९) में लिखा है कि राजा को अपनी शासन-व्यवस्था के लिए वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग और पुराण को प्रमाण बनाना चाहिए। वेद-समकक्ष रखे जाने के कारण यहाँ पुराण से आख्यान विशेष का अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में उपलब्ध निर्देश इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें दो पद्य पुराण से उद्धृत किये गये हैं और तीसरा उद्धरण भविष्यत् पुराण से है। ये तीनों उद्धरण वर्तमान पुराणों में नहीं मिलते, परन्तु इन्हीं के समानार्थक श्लोक पुराणों में मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि उस समय विरचित पुराणों का पुनः संस्कारण पीछे किया गया हो। जो कुछ हो, सूत्रकाल में पुराणों की ग्रन्थरूप में सत्ता निःसंदिग्ध सत्य है।

(६) उपनिषद् काल में भी पुराणों का उल्लेख हमें मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास-पुराण पञ्चम वेद कहा गया है।[1]

(७) इससे भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख स्वयं अथर्वसंहिता का है[2]। अथर्व के एक मन्त्र के अनुसार उच्छिष्ट नाम से अभिहित परम पुरुष से चारों वेदों के अनन्तर पुराण की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। प्रसंग से प्रतीत होता है कि यहाँ 'पुराण' शब्द से केवल पुराने आख्यान का अर्थ नहीं है, प्रत्युत विद्या-विशेष से है।

---

१. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—— छान्दोग्य ७।१।२।

२. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ (अथर्व ११।७।२४)

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराण का अस्तित्व विद्या-विशेष के रूप में वैदिक काल में भी था। ईस्वी से छः सौ वर्ष पूर्व वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले पुराणों के समान ही पुराण ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। मूल पुराण उपलब्ध नहीं होता। पुराण किसी एक शताब्दी की रचना नहीं है; समय-समय पर उनमें नये-नये अध्याय जोड़े गये थे। गुप्तकाल तक वे अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुके थे।

महापुराण

पुराणों की संख्या के विषय में मतभेद नहीं है। उनकी संख्या अठारह है[1]। यथा—मकारादि दो पुराण (१) मत्स्य और (२) मार्कण्डेय। भकारादि दो (३) भविष्य और (४) भागवत। ब्रयुक्त तीन पुराण (५) ब्रह्माण्ड, (६) ब्रह्मवैवर्त तथा (७) ब्रह्म। वकरादि चार (८) वामन, (९) वराह, (१०) विष्णु, (११) वायु (शिव)। (१२) अग्नि, (१३) नारद, (१४) पद्म, (१५) लिंग, (१६) गरुड़, (१७) कूर्म तथा (१८) स्कन्द। इन पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना तथा महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। 'पद्मपुराण' में इन पुराणों को सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अनुसार विभक्त किया है। विष्णुविषयक पुराण सात्त्विक माने गये हैं; ब्रह्मा-विषयक राजस तथा शिव-विषयक तामस। इन महापुराणों के अतिरिक्त अठारह उपपुराण भी मिलते हैं, जिनके नाम गरुड़ पुराण के आधार पर ये हैं--(१) सनतकुमार, (२) नारसिंह, (३) स्कान्द, (४) शिव-धर्म, (५) आश्चर्य, (६) नारदीय, (७) कापिल, (८) वामन, (९) औशनस, (१०) ब्रह्माण्ड, (११) वारुण, (१२) कालिका, (१३) माहेश्वर, (१४) साम्ब, (१५) सौर, (१६) पाराशर, (१७) मारीच, (१८) भार्गव। इन नामों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। देवी-भागवत के अनुसार उपर्युक्त स्कन्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान पर क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वासिष्ठ नाम मिलते हैं। कौन महापुराण है और कौन उपपुराण? इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद है।

पुराणों का ऐतिहासिक महत्त्व

पुराण का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व धार्मिक महत्त्व की अपेक्षा कथमपि न्यून नहीं है। पुराण की दृष्टि ही भारतवर्ष के मनीषियों के विचार से सत्य इतिहास की पोषिका है। पंचलक्षण पुराण के पाँच लक्षण हैं[2]---सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। मानव समाज का इतिहास तभी सम्पूर्ण समझा जा सकता है, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। पुराण का आरम्भ होता है सर्ग (सृष्टि) से और अन्त होता है प्रतिसर्ग (प्रलय) से। इन

---

१. ये अठारह पुराण इस श्लोक में में संकेतित हैं—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापल्लिंग-कूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते ॥

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

दोनों छोरों के बीच में होने वाले विशाल कालखण्डों (मन्वन्तर) का, राजवंशों का तथा महत्त्वशाली राजाओं का विवरण देना ही पुराण का 'पुराणत्व' है। कलिवंशीय राजाओं का सच्चा वर्णन हमें पुराणों में ही उपलब्ध होता है, जिसकी पुष्टि आधुनिक ऐतिहासिक उपकरणों से--जैसे शिलालेख, ताम्रलेख, मुद्रा आदि से भी भली-भाँति हो रही है।[१] अशोकवर्धन के पूर्व के शिलालेख तो उंगुली पर गिनने लायक हैं। राजा परीक्षित से लेकर राजा पद्मनन्द तक का इतिहास पुराण के आधार पर ही इतिहासप्रवीण मनीषियों ने खड़ा किया है। और यह इतिहास यथार्थ है, इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं। यह शुभ लक्षण है कि पार्टिजर साहब के 'एनसिएन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडेशन' के अनन्तर भारतीय तथा विदेशी विद्वानों का ध्यान पुराणों की ऐतिहासिक साम्रगी की ओर आकृष्ट हुआ है और इस विषय के इधर प्रकाशित ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्धकारपूर्ण काल के इतिहास को उज्ज्वल रूप से प्रकाशित करने में समर्थ हुए हैं। एक बात ध्यातव्य है--पुराण के द्वारा निर्दिष्ट कतिपय भूमिपति नई खोज के आलोक में प्रकाशित होने लगे हैं। तथ्य तो यह है कि पुराण का यह दोष नहीं है कि उसके द्वारा वर्णित किसी राजा के ऊपर नवीन खोज के आलोक ने अपना प्रकाश नहीं डाला है। नूतन गवेषणा के सर्वाङ्गपूर्ण होने पर पुराण का प्रत्येक ऐतिहासिक विवरण प्रस्फुटितं हो उठेगा--यह आशा नहीं है, प्रत्युत तथ्य है। इसका मूल कारण यह है कि पौराणिक अनुश्रुति (ट्रेडेशन) को सूतों ने बड़ी सावधानी से सुरिक्षत कर रखा है। सूत का काम राजाओं का गुणगान करना अवश्य था। फलतः उन्होंने राजवंशावली को विकृत होने से बचाया है। इन वंशावलियों में एक ही नाम वाले अनेक राजा हुए हैं। अशुद्धि बचाने के लिए पुराणों ने ऐसे नामों का स्पष्ट निर्देश कर दिया है। यथा नल नामक दो राजा हुए-एक तो थे नैषध देश के राजा वीरसेन केपुत्र (नलोपाख्यान तथा नैषध-चरित में इन्हीं का चरित वर्णित है) और दूसरे थे-इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न। मरुत्त नामक दो राजा हुए-करन्धम के पुत्र तथा अविक्षित् के पुत्र (जो प्राचीन भारत के एक महनीय मूर्धाभिषिक्त सम्राट् थे-ऐतरेय ब्रा०, अष्टम पंचिका में उल्लिखित। इसी प्रकार सोमवंश में हुए दो परीक्षित, दो जनमेजय तथा तीन भीमसेन।[२] इतनी सवधानी रखने वाला पुराण सच्चे रूप में ऐतिहासिक है....क्या इसमें सन्देह का स्थान है ? अवश्य ही सब पुराणों का तत्तत् स्थल एकत्र संकलित कर यथार्थ नाम का निरूपण करना चाहिए।

भौगोलिक महत्त्व—पुराणों में प्राचीन भूगोल का एक बृहत् अंश उपस्थित है, जिसे 'भुवन-कोश' की संज्ञा दी जाती है। पुराणों की द्विविध कल्पना है कि चतुर्द्वीपा वसुमती तथा सप्तद्वीपा वसुमती। भूगोल का यह प्रसंग पुराणों का एक निजी वैशिष्ट्य है।

१. पुराण के अनेक राजाओं को मुद्राशास्त्र ने ऐतिहासिक सिद्ध कर दिया है। द्रष्टव्य—डॉ० मिराशी का लेख, 'पुराणम्', भाग १, पृ० संख्या १, पृष्ठ ३१–३८ (काशीराज ट्रस्ट, रामनगर, वाराणसी)।

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय—पुराण विमर्श (पृष्ठ ३५५, चौखम्भा, काशी १९६५), जहाँ एतद्विषयक पौराणिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

कल्पना यह है कि वसुमती द्वीपमयी है और समुद्रों से घिरी हुई है। इन समुद्रों के नामों ने हमें अचरज में डाल दिया है, जैसे क्षीरसागर, मधुसागर, इक्षुसागर आदि। यह कल्पना अन्य देशों की जनता के हृदय में भी जागरूक है और इसके लिए उनका साहित्य प्रमाण है। जम्बूद्वीप तो यही भारतवर्ष है जिसमें हमारा निवास है। सम्राट् भरत (दौष्यन्ति भरत नहीं) के द्वारा शासन होने के कारण यह देश उन्हीं के नाम पर 'भारत' कहलाता है। इससे पहिले इसका नाम "अजनाभ" था, जिसका शाब्दिक अर्थ है—अज (ब्रह्मा) की नाभि से उत्पन्न होने वाला (नाभ) और यह नाम आर्यों के मूल निवास को भारतवर्ष में प्रतिष्ठित होने का स्पष्ट संकेत करता है। शकद्वीप में शक लोगों का निवास था। यह जिस क्षीरसागर के द्वारा चारों ओर से वेष्ठित था वही आजकल का कैसपियन सागर है, जिसे फारसवासी भी अपनी भाषा में 'शीरवाँ' (क्षीरसागर) के नाम से पुकारते थे। कुशद्वीप के निवासी 'कुसाइट्स' के नाम से महाट् सम्रात् डैरियस (दारा या दारियबहु) के शिला लेखों में अनेकत्र उल्लिखित हैं। तात्पर्य यह है कि पुराणों का भूगोल कोई गल्प या काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत वह ठोस भूतल पर अवस्थित है। उसकी गवेषणा अपेक्षित है। इस प्रकार पुराण की दृष्टि में पाताल भी आजकल का मेक्सिको तथा दक्षिणी अमेरिका है। आज भी मेक्सिको तथा पेरु में प्राचीन मय सभ्यता के जो चिह्न अवशिष्ट हैं वे भारत से विशेष मिलते हैं। पुराण विशालकाय प्रासादों तथा महलों के निर्माण करने वाले पातालवासी मय नामक असुर के संकेतों से भरा हुआ है। फलतः यह मय कोई काल्पनिक व्यक्ति न होकर जीते-जागते प्राणी थे, जो शिल्पकला के महनीय प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। पुराणों के भौगोलिक वर्णन की विशेष छान-बीन अपेक्षित है। तभी इसकी यथार्थता सिद्ध हो सकेगी।

पुराण विश्व-कोष है—प्राचीन भारत का ज्ञान और विज्ञान; पशु तथा पक्षि-विज्ञान, वनस्पति तथा आयुर्वेद सब एकत्र कर पुराणों में भर दिया गया है। इसका परिणाम यह है कि पुराण विश्वविद्या का कोष है। जिस प्रकार आजकल विश्वकोष (इनसाइक्लोपीडिया) लिखने का प्रचलन है, जिससे विस्तृत विज्ञान संक्षेप में शिक्षित जनता के ज्ञानवर्धन के लिए प्रस्तुत किया जाता है, उसी प्रकार अग्नि, नारद, गरुड पुराणों की रचना ज्ञान-विज्ञान को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से की गयी है। इसलिए यहाँ संक्षेप में व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि विषयों के मूल तथ्यों का विवरण बड़ी सुगमता के साथ प्रस्तुत किया गया है। पुराण जनता का ग्रन्थ है, विद्वानों का नहीं; व्यावहारिक सरल भाषा में रचित ग्रन्थ है, शास्त्रीय भाषा में नहीं। उसका तात्पर्य ही है ज्ञान को सुगम बनाना। आजकल के 'पापुलर-एजुकेशन' की दृष्टि इस विषय में पौराणिक दृष्टि का अनुगमन करती है।

पौराणिक धर्म और देवता—वैदिक तथा पौराणिक धर्म में अन्तर नहीं है; दृष्टिभेद तथा कालभेद के कारण धर्म के किसी विशेष अंश पर केवल बल दिया गया है। वैदिक धर्म में 'इष्ट' (यज्ञ) का प्राधान्य है, तो पौराणिक धर्म में 'पूर्त' (वापी, तडाग, सत्र, धर्मशाला आदि का निर्माण) पर आग्रह है। सनातन धर्म दोनों के सम्मिलन-इष्टापूर्त पर लक्ष्य रखता है। वेदों में सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सर्व-व्यापकता पर आग्रह है,

तो पुराणों में उस शक्तिमान् के लोक-कल्याणार्थ बहुरूप धारण करने पर निष्ठा है। वेद का कथन है--**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति,** पुराण की मान्यता है--**एकं सद् बहुधा भवति।** अवतारवाद पुराणों का एक परिहित तत्त्व है। 'ऋतम्' का उदय सृष्टि के आरम्भ में हुआ है। 'ऋत' उस सार्वभौम सार्वकालिक नियम का अभिधान है जिसके द्वारा यह विश्व नियतरूप से परिचालित होता है; सूर्य-चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि अपनी-अपनी कक्षा में नियतरूप से तथा निश्चित काल के लिए घूमते रहते हैं, प्रकृति इन नियमों का पालन करती रहती है। प्रजा को धारण करने वाला धर्म इसी ऋतु का अभिव्यक्त प्रांजल स्वरूप है। इस धर्म में जब ग्लानि होती है, अन्याय का पक्ष प्रबल होकर जब न्याय के पक्ष को दबाने लगता है, विश्व के सन्तुलन में जब क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, तब इसे ठीक करने के लिए, विशृंखल को नियमित करने के लिए सर्वशक्तिमान् को स्वयं नाना रूपों में यहाँ आना पड़ता है। इसे ही अवतार कहते हैं। पुराणों में इसी अवतार का सांगोपांग विवेचन है। शास्त्र का कथन यही है कि सब विभूतिमान् पदार्थ भगवान् के ही अंश हैं--(गीता) श्रीमद्भागवत का कथन है कि जिस प्रकार न सूखनेवाले तालाब से हजारों क्षुद्र नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्य के भण्डार भगवान् से असंख्य अवतार निकलते हैं:—

अवतारा ह्यसंख्येया गुणसत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥

तथापि अवतारों की संख्या २४ मानी गयी है जो और भी घटा कर १० तक सीमित कर दी गई--मत्स्य, कच्छप आदि। इन अवतारों में भी राम तथा कृष्ण के लोकोत्तर शौर्य एवं सौन्दर्य के प्रति पुराणों की महती श्रद्धा है। इनकी उपासना भक्तिप्रवण चित्त से करना मानव का परम कर्त्तव्य है। पुराण भक्ति के प्रचारक ग्रन्थ हैं। वर्णाश्रम धर्म का विवरण पुराणों में धर्म-शास्त्रों के अनुसार है।

पुराण में पंचदेवों की उपासना पर आग्रह है--ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश तथा सूर्य ये समस्त वैदिक देवता ही हैं, परन्तु किन्हीं के स्वरूप में अन्यत्र से भी कुछ अंश का संमिश्रण दृष्टिगोचर होता है। सूर्य की उपासना तो वैदिक है। प्रत्येक द्विज गायत्री जप द्वारा सूर्य की ही उपासना करता है, तथापि सूर्य की तान्त्रिक उपासना में शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की पूजा-पद्धति का विशेष हाथ दृष्टिगोचर होता है। आज का हिन्दूधर्म पुराणों की ही देन है। आज की संस्कृति का रूप पुराण के चिन्तन और अनुशीलन के विना यथार्थतः समझ में नहीं आ सकता। वेद के ऊपर श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति पुराण के ऊपर आग्रह रखेगा ही--इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं, क्योंकि दोनों एक ही मूल तत्त्व का विभिन्न शैली से प्रतिपादन करते हैं--वेद की शैली है रूपकमयी और पुराण की शैली है अतिशयोक्तिमयी। कथन के प्रकार ही भिन्न हैं, कथन का विषय भिन्न नहीं है। **नहि शैलीभेदाद् वस्तुभेदः**--शैली के भेद होने से वस्तु का भेद नहीं होता। स्वभावोक्ति, रूपक तथा अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय लेने वाले तीन प्रकार के ग्रन्थ संस्कृत में हैं। स्वाभावोक्ति विराजती है वैज्ञानिक (जैसे ज्योतिष आदि) के ग्रन्थों में, रूपक है वैदिक शैली में और अतिशयोक्ति का प्राधान्य है पौराणिक शैली में। तत्त्व एक ही है, उसमें भेद नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति के स्वरूप को यथार्थतः जानने के लिए पुराण का अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा भौगोलिक आदि अनेक दृष्टियों से पुराण का विशिष्ट महत्त्व है। वेद हमसे बहुत दूर हट गये, पुराण हमारे समीप हैं, इसलिए पुराण का अध्ययन-अनुशीलन वर्तमान जगत् में नितान्त समुचित तथा उपयोगी है। इन पुराणों के रचयिता महर्षि व्यासदेव हमारे परम आराध्य हैं। यह सौभाग्य का विषय है कि हम लोग आज भी गुरुपूर्णिमा (आषाढ़ी पूर्णिमा) के अवसर पर व्यास की पूजा-अर्चा कर उनके विशाल ऋण से उऋण होने की यथासाध्य चेष्टा करते हैं।

पुराण के रचनाकाल की समस्या एक झमेले की चीज ठहरी। पश्चिमी शिक्षा के दूषित वातावरण में पुराण के स्वरूप को यथार्थतः समझना कठिन है। पुराणों की कथाओं, घटनाओं तथा काल-निर्देशों के वास्तव महत्त्व से अपरिचित आलोचकों की दृष्टि में पुराण एक बीहड़ बखेड़ा खड़ा करता है। इस दृष्टिकोण का कारण पुराणों के वैज्ञानिक संस्करण एवं गम्भीर अर्थ-चिन्तन का अभाव ही है। पुराणों के न तो प्रामाणिक संस्करण ही उपलब्ध हैं जिनका पाठ अनेक प्रतियों की तुलना के द्वारा निश्चित किया गया हो और न पुराणों के विविध विषय की सहानुभूतिपूर्ण गहरी छान-बीन ही की गई है, परन्तु इधर विद्वानों की रुचि कुछ बदली है। अब वे समझने लगे हैं कि पुराणों की अपनी एक स्वतन्त्र शैली है जिसमें वर्णित विषय के बाह्यरूप को हटाकर भीतर पैठने पर उसकी प्रामाणिकता स्वयं झलकने लगती है। प्राचीन इतिहास प्रस्तुत करने में भी 'पञ्चलक्षण' पुराणों की अपनी एक विशिष्ट दिशा है। वे कतिपय देशों के ही एकाङ्गी वृत्त के वर्णन करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानते, बल्कि, ब्रह्माण्ड की सृष्टि से लेकर प्रलय तक महनीय घटनाओं के अंकन में निमग्न रहते हैं। राजवंशों में भी प्रधान का ही उल्लेख किया गया है तथा उन्हीं राजाओं का भी चरित्र चित्रित किया गया है जो उपदेशप्रद होते हैं तथा जिनका चरित्र किसी आदर्श को अग्रसर करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। भागवत में इस बात का विशद निर्देश है कि जहाँ उन्हीं राजाओं के चरित्र का वर्णन है,जो स्वयं आदर्श-चरित्र, यशस्वी तथा सदाचार-सम्पन्न थे। 'जायस्व म्रियस्व' की कोटि में आने वाले ऐरे-गैरे राजाओं का वर्णन करने में पुराणकार अपने परिश्रम तथा काव्य-शक्ति का दुरुपयोग करना नहीं चाहता। विशेष ज्ञान तथा वैराग्य का वर्णन ही ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है, राजाओं के चरित्र-चित्रण का वर्णन नहीं (भाग० १२।३।१४) :—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥

परन्तु आजकल के खोजी विद्वान् पुराणों के इस रहस्य को न समझ कर उनमें आपाततो दृश्यमान विरोध तथा घटनावैषम्य के कारण उन्हें सर्वथा निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक बतलाने की धृष्ट घोषणा करते हैं।

श्रीमद्भागवत

रचनाकाल

श्रीमद्भागवत के विषय में भी ऐसी ही बेसिर-पैर की बातें विद्वान् लोग करते आये हैं। उसके रचना-काल के निर्णय से पहिले उसके पुराणत्व के ऊपर ही बहुतों को शंका

बनी हुई है। 'देवीभागवत' को भी भागवत नाम से सामान्यतः अभिहित होने के कारण यह शंका और भी बढ़ गई है। प्रश्न यह है कि देवीभागवत अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है अथवा श्रीमद्भागवत ? पुराणों के वर्णित ग्रन्थ विस्तार तथा रूप-निर्देश का अध्ययन करने पर श्रीमद्भागवत के महापुराणत्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। इसका गायत्री से आरम्भ होता है[1] तथा गायत्री से ही अन्त होता है।[2] षष्ठ स्कन्ध में वृत्रासुर के वध की कथा विस्तार से दी गई है। ऐसी दशा में श्रीमद्भागवत को महा पुराण मानना ही उचित प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवत के निर्माण का श्रेय त्रयोदश शतक में उत्पन्न बोपदेव को प्रदान कर यह मामला और भी बेतुका बना दिया गया है। डाक्टर भंडारकर के मतानुसार भागवत के ११ वें स्कन्ध (५।३७–४०) में तामिल देश के वैष्णव सन्तों अलवारों—का स्पष्ट निर्देश होने से यह नवम शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता[3], परन्तु ये दोनों मत भ्रान्त हैं। भागवत बोपदेव तथा अलवार दोनों से प्राचीनतर है। देवगिरि के यादव राजा महादेव (१२६०–१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१–१३०८ ई०) के महामन्त्री हेमाद्रि पण्डित के तुष्टचर्थ इनके सभासद बोपदेव ने 'हरिलीलामृत' तथा 'मुक्ताफल' की रचना भागवत पुराण के विषय में की थी। 'हरिलीलामृत' में भागवत के स्कन्धों तथा अध्यायों की विशिष्ट सूची है और एतदर्थ यह 'भागवतानुक्रमणी' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।[2] 'मुक्ताफल'[4] भागवत के नाना रसात्मक कमनीय पद्यों का एक सुललित संग्रह है।[5] हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में प्रमाण देने के निमित्त भागवत के श्लोकों को उद्धृत किया है। यदि बोपदेव ही इसके सच्चे रचयिता होते तो 'मुक्ताफल' जैसे संग्रह की न तो कोई आवश्यकता होती और न हेमाद्रि के द्वारा प्रमाणार्थ उद्धरण का कोई स्वारस्य होता। तथ्य यह है कि भागवत त्रयोदश शतक में विद्यमान इन ग्रन्थकारों से बहुत प्राचीन है।

द्वैतमत के संस्थापक मध्वाचार्य (जन्मकाल ११९९ ई०) ने भागवत के मूल तात्पर्य के प्रकटन के निमित्त 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया है। श्री रामानुजाचार्य (११ शतक) ने अपने 'वेदान्त-तत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (११।८७ अ०) से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। अद्वैतवेदान्त के आचार्य चित्सुख (नवम शतक) के द्वारा निर्मित 'भागवत-व्याख्या' का निर्देश मध्वाचार्य, श्रीधरस्वामी तथा विजयध्वज ने अपने ग्रन्थों में किया है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के मान्य आचार्य अभिनव-गुप्त (१० शतक) ने अपनी 'गीता-टीका' (१४।८) में भागवत के द्वितीय तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। माठर ने 'सांख्यकारिका' की 'माठरवृत्ति' में

---

१. धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि। भाग० १।१।१।

२. तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि। भाग० १२।१३।१९।

३. भंडारकर वैष्णविजम नामक ग्रन्थ में।

४. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से १९३३ में मुद्रित।

५. कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित।

(जिसका चीनी अनुवाद ५५७ ई०--५६९ ई० के बीच में कभी हुआ था) भागवत से दो श्लोकों को प्रमाणरूपेण उपन्यस्त किया है (भाग० १।६।३५, तथा १।८।५२) शंकराचार्य ने (सप्तम शतक) अपने 'गोविन्दाष्टक' तथा 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीकृष्ण के स्तुति-प्रसंग में ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जो भागवत में ही उपलब्ध होती हैं (जैसे मट्टी खाने के बाद मुख के भीतर अखिल ब्रह्माण्ड का दर्शन आदि)। इतना ही नहीं, शंकराचार्य के दादागुरु गौडपादाचार्य ने 'पञ्चीकरण-व्याख्या' में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (भाग० १।३।१) को तथा उत्तरगीता की टीका में 'श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' (भाग०१०।१४।४) का भागवत के नाम के साथ उद्धृत किया है। गौडपाद का काल आधुनिक गणना के अनुसार भी षष्ठ शतक से अर्वाचीन नहीं हो सकता। ऐसी दशा में गौडपाद के निःसंदिग्ध उद्धरण के कारण भागवत षष्ठ शतक से कतिपय शताब्दी प्राचीनतर ही सिद्ध होता है। पद्मपुराण के भागवत-माहात्म्य के अनुसार तो श्रीकृष्ण के इस धराधाम के तीस वर्ष छोड़ने के बाद भाद्रशुक्ल नवमी को शुकदेव जी ने महाराज परीक्षित को यह कथा सुनाई थी। फलतः भागवत की रचना कलियुग आरम्भ होने के तीस वर्ष के भीतर ही हुई थी। इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार इसे पाँच हजार वर्ष पुराना होना चाहिए।

टीका-सम्पत्ति

श्रीमद्भागवत पाण्डित्य की कसौटी माना जाता है। यह समस्त श्रुतियों का सार है, महाभारत का तात्पर्य निर्णायक है तथा ब्रह्मसूत्रों का भाष्य है। अनेक स्थलों पर श्रुतियों के प्रसिद्ध मन्त्र स्वल्प शब्दान्तर के साथ यहाँ संगृहीत किये गये हैं। 'ब्रह्मात्मैकत्व' का प्रतिपादन प्रधान विषय तथा कैवल्य ही इसके निर्माण का एकमात्र प्रयोजन होने से श्रीमद्भागवत नितान्त वैदुष्यपूर्ण, तर्कबहुल तथा शेमुषीगम्य है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' की लोकोक्ति तथ्यवाद है, अर्थवाद नहीं। इन दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए ही मध्ययुगीन प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसके ऊपर टीका तथा व्याख्या का प्रणयन कर इसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया। टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह ग्रन्थरत्न अनुपमेय है। चित्सुखाचार्य निर्मित आद्य-टीका केवल निर्देशमात्र है, उपलब्ध नहीं। सबसे अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक टीका श्रीधरस्वामी की है, जो नृसिंह भगवान् के प्रासाद से भागवत के रहस्यवेत्ता माने जाते हैं। लघुकाय होने पर भी श्रीधरी निःसन्देह निष्पक्ष तथा सर्वश्रेष्ठ भागवत-व्याख्या है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के मान्य टीकाकार सुदर्शन सूरि (१४ शतक) की 'शुकपक्षीया' तथा वीरराघवाचार्य (१४ शतक) की 'भागवत-चन्द्र-चन्द्रिका' दोनों श्रीवैष्णवों में आदरणीय तथा उपादेय व्याख्यायें हैं। विजयध्वजतीर्थ रचित 'पदरत्नावली' माध्व सम्प्रदाय के अनुकूल भागवत की प्रौढ़ टीका है, जिसमें श्रीधरी की अपेक्षा भागवत के पाठों तथा अध्यायों में भी पर्याप्त पार्थक्य है। चैतन्य सम्प्रदाय में श्रीधरी की मान्यता अक्षुण्ण है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी सनातन गोस्वामी की दशमस्कन्ध पर 'बृहद्वैष्णव-तोषिणी', जीव गोस्वामी की समग्र भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी' व्याख्यायें नितान्त प्रौढ़ तथा सारदर्शिनी हैं। जीवगोस्वामी का

'षट्सन्दर्भ' तो भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का नितान्त प्रामाणिक विवेचन है। वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी' भागवत के अन्तरग भाव तथा अधिकार-विवेचन के हेतु अपनी निजी विशेषता से मण्डित है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायी शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्त-प्रदीप' संक्षिप्त होने पर भी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भव्य प्रदर्शक है। इन प्राचीन प्रधान टीकाओं के अतिरिक्त अनेक आधुनिक टीकायें भी उपलब्ध हैं। श्रीहरि की 'हरिभक्ति- रसायन' नामक पद्यात्मक टीका (रचनाकाल १७५९ शक सं०) भागवत के मधुर भावों के प्रदर्शन में नितान्त कृतकार्य तथा सफल है। भागवत की यह विशाल व्याख्यासम्पत्ति भक्तिशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिये एक भव्य ग्रन्थराशि प्रस्तुत करती है।[1]

काव्य-सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्भुत चमत्कार है जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भी इस आकर्षण में किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होनेवाले मानव-हृदय को उद्वेलित करनेवाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है। इसमें हृदय पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कलापक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा का (भाग० १०।४१) तथा द्वारिका का वर्णन (भाग० १०।६७) जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर अश्व का विकराल रूप धारण कर श्रीकृष्ण को मारने के निमित्त आया था। कृष्ण ने केशी के साथ युद्ध करने में जिस युद्ध-कौशल का परिचय दिया है, वह वर्णन की यथार्थता के कारण पाठकों के सामने झूलने लगता है (भाग० १०।३७)। इसी प्रकार मगधनरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयंकर गदायुद्ध का सातिशय रोमांचकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में किया गया है (भाग० १०।५०)। द्वारिकापुरी के वर्णनप्रसंग में झरोखों से निकलनेवाले अगुरु धूप को देखकर श्याम मेघ की भावना से वलभी निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है—

रत्न-प्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्तध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षैर्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः॥
(भाग० १०।६९।१२)

उतना ही स्वभाविक है जितना मधुपुरी में कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी श्रृङ्गार-भूषा को विना समाप्त किये ही झरोखों से झाँकनेवाली ललित ललनाओं का ललाम वर्णन (भाग० १०।४१।२५–२७)। आलोचकों की दृष्टि में भगवान् का ऋतुवर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिये नितान्त प्रख्यात है। दशमस्कंध के एक समग्र अध्याय (२० वाँ अध्याय) में प्रावृट् शरद् ऋतु का व

---

१. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भागवत-सम्प्रदाय, (प्र० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१३)।

आध्यात्मिकतामण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताडित होनेपर किंचिन्मात्र भी व्यथित न होनेवाले पर्वतों की समता उन भगवन्निष्ठ भक्त-जनों के साथ दी गई है जो विपत्तियों के द्वारा प्रताडित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते[1]। पवन से ऊँची उठती हुई तरंगमाला से युक्त समुद्र नदियों के समागम से उसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के सम्पर्क में पड़कर क्षुब्ध हो उठता है[2]। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झाँकी पृथ्वीतल पर दिखलाती है। रात के समय चन्द्रमा प्राणियों के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल ताराओं से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल उसी तरह चमकता है जिस प्रकार शब्दब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त् विकसित हो उठता है :—

खमशोभत निर्मेघं शरद विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥
(भाग० १०।२०।४३)

गोसाईं तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद्वर्णन भागवत के इसी वर्णन के आधार पर है; इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश वह है जहाँ गोपियों की कृष्णचन्द्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण है। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करनेवाली भगवन्निष्ठ प्रेमिकायें ठहरीं। उनकी संयोग तथा वियोग उभय प्रकार की भावनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव-विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसंग जहाँ वक्ता अपने हृदय की अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भावों को अभिव्यक्त करता है 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणु-गीत (१०।२१), गोपी-गीत (१०।३१), युगल-गीत (१०।३५), महिषी-गीत (१०।९०) आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसंग हैं जिनमें कवि की वाणी अपनी भव्य माधुरी प्रदर्शित कर रसिकों के हृदय में उस मनोरम रस की सृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवत-रस' के महनीय नाम से पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी-जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा तलस्पर्शी है (भाग० १०।९०।१५)—

कुर्रारि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन-नयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

१. गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः॥ (भाग० १०।२०।१५)

२. सरिद्भिः संगतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥ (१०।२०।१४)

हे कुररि ! संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपा कर सो रहे हैं, परन्तु तुझे नींद नहीं ? सखी, कहीं कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीलाभरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह विध तो नहीं गया है ?

वेणु-गीत में कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जंगम प्राणियों के ऊपर ही नहीं है, प्रत्युत स्थावर जगत् में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगीत को आकर्णन कर यह आचरण जितना मधुर है उतना ही स्वाभाविक है (भाग १०।२१।२५)—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥

नदियाँ भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भँवरों के द्वारा अपने हृदय में श्याम-सुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा को प्रकट कर रहीं हैं। उस के कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरंगों के हाथों से उनका चरण पकड़ कर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं; मानों उनके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

रासपञ्चाध्यायी भागवत का हृदय है, जिसमें व्यासजी ने कृष्ण और गोपियों के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व जितना अधिक है, साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियों ने कृष्ण के अन्तर्धान होने पर अपने भावों की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में की हैं, वह नितान्त रुचिर तथा रसस है। गोपी-गीत का यह पद्य कितना सरल तथा सरस है :—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

अर्थात् आप की कथा अमृत है, क्योंकि वह संतप्त प्राणियों को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियों ने भी देवभोग्य अमृत को तुच्छ समझकर उसकी प्रशंसा की है। वह सब पापों को हरनेवाली है, अर्थात् काम्य कर्म का निरास करनेवाली है। श्रवणमात्र से मंगल-कारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होंने पूर्व जन्म में बहुत दान किये हैं। वे बड़े पुण्यात्मा हैं।

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियों से भक्ति-प्रवण भक्तों तथा कवियों को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा देता चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश में घटकर नहीं है।

कृष्णभक्त कवि का वर्ण्य विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित-लीलाएँ। फलतः उसकी दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्णभक्त कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णव धर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है, जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है। जीवन सरिता को सरस

मार्ग पर प्रवाहित करनेवाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों से प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु-चित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रस-स्निग्ध है, उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है भक्त-हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से। इन्हीं कृष्ण-काव्यों की रचना करने के लिए कवियों को उत्साहित करने का श्रेय श्रीमद्भागवत को देना चाहिये।[१]

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भागवत-सम्प्रदाय (प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१२)

द्वितीय खण्ड

श्रव्य काव्य

(१) संस्कृत महाकाव्य की पृष्ठभूमि
(२) संस्कृत महाकाव्य का उत्कर्ष काल
(३) संस्कृत महाकाव्य का अपकर्ष काल
(४) प्रकीर्णक काव्य
(५) गीति एवं स्तोत्र काव्य
(६) गद्य तथा चम्पू साहित्य
(७) कथा साहित्य

सत्कवि-रसना-सूर्पी-

निष्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।

तृप्तो दयिताधरमपि

नाद्रियते का सुधादासी ॥

(गोवर्धनाचार्य)

तृतीय परिच्छेद

(१) संस्कृत महाकाव्य की पृष्ठभूमि

संस्कृत काव्य की विशिष्टता

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का साहित्य है। उसने भारतीय संस्कृति के विशुद्ध मूल स्वरूप को अपनी नाना विद्याओं के द्वारा प्रस्तुत किया। संस्कृति के दो आधार पीठ हैं—भोग और त्याग। वह चार्वाकी संस्कृति के समग्न न केवल भोग-प्रधान है और न श्रमण संस्कृति के सदृश केवल त्याग-प्रधान है, प्रत्युत भोग एवं त्याग का मञ्जुल सामञ्जस्य ही भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपनिषत्सूक्ति का यही स्वारस्य है और संक्षेप में भारतीय संस्कृति का यही वैशिष्ट्य है। फलतः मूलतः दो ही आश्रम हैं—गृहस्थाश्रम, जिसका उद्देश्य भोग है और संन्यासाश्रम, जिसका तात्पर्य त्याग है। परन्तु इन मुख्य आश्रमों की निष्पत्ति के लिए—सिद्धि के लिए साधनभूत आश्रमों की आवश्यकता होती है। गृहस्थाश्रम का साधनभूत आश्रम है ब्रह्मचर्याश्रम और संन्यास के लिए है वानप्रस्थ आश्रम। भारतवर्ष में इसीलिए आश्रम-चतुष्टय की व्यवस्था है और इसी प्रकार वर्णचतुष्टय का प्रतिष्ठान है। इस वर्णाश्रम-धर्म का मूल बीजरूप से वैदिक संहिताओं में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के प्रख्यात पुरुष सूक्त (१०।९०) में पुरुष के मुख, बाहु, उरु तथा पाद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों के क्रमशः उत्पन्न होने की बात कही गई है। फलतः वैदिक युग में वर्ण तथा आश्रम का उदय किसी न किसी रूप में हो चला था। सूत्र काल में (१००० ई०–४०० ई०) इसके नियम, धर्म, आचार, विचार के विस्तृत स्वरूप का विवरण धर्मसूत्रों के अनुशीलन से हमें मुख्यतः प्राप्त होते हैं। उस युग में ये नियम उतने कड़े नहीं थे। नियमों में सरलता विराजती थी और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया इनमें कठोरता आती गई। धर्मशास्त्रीय नियमों के प्रतिष्ठाता रूप से मनु की प्रसिद्धि वैदिक युग के उत्तर काल में अवश्य थी। इसीलिए कृष्णयजुर्वेद की संहिता मनु के कथन को भेषज का भी भेषज, औषधों का भी औषध बतलाती है—'यद् मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः।' परन्तु वर्तमान मनुस्मृति उतनी पुरानी नहीं है। इसका प्रणयन-काल लगभग ईसापूर्व द्वितीय शती में शुंगों के राज्यकाल में माना जाता है। याज्ञवल्क्य की स्मृति का रचनाकाल गुप्तों के काल से पूर्व द्वितीय शती में माना जाता है। उसके अनन्तर अनेक स्मृतियों की रचना धीरे-धीरे होती गई, जिनमें वर्णाश्रम-धर्म का मूल अविकृत रूप से प्रतिष्ठित किया गया।

(१) वर्णाश्रम धर्म—साहित्य के उदय से पूर्व ही वर्णाश्रम धर्म पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया था। संस्कृत कवि अपनी रचनाओं में इस धर्म के मूलस्वरूप के, आचार-विचार के

अनुसरण में अपनी पूर्ण श्रद्धा रखते थे । उन्होंने जिस समाज का चित्रण किया है, वह श्रुति-स्मृति द्वारा अनुमोदित समाज है—धर्मानुकूल समाज है, नियन्त्रित समाज है; उच्छृखल तथा अनियन्त्रित समाज नहीं है। ऐसे समाज में रहने वाले कवियों का कर्तव्य होता था कि वे धर्मानुमोदित प्रणय का ही चित्रण समाज के कल्याण एवं मंगल के लिए करें। उन्मुक्त प्रणय के चित्रण का वहाँ अवसर ही नहीं उठता। इसीलिए आलोचकों की क्रूर दृष्टि से ये परम्परावादी कवि बच नहीं सके। संस्कृत के कवियों के सामने दीर्घ-काल से प्रतिष्ठित एक आदर्श था, जिसका इमानदारी से पालन कर काव्यों में चित्रित करना उनका कर्तव्य हो जाता था। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृत काव्य में उन्मुक्त प्रणय का चित्रण कहीं नहीं है। इसका सुन्दर चित्रण संस्कृत के उन रूपकों में प्राप्त होता है जिन्हें 'सामाजिक नाटक' (सोशल ड्रामा) कह सकते हैं और जिनका सबसे पूर्ण प्रतिनिधित्व 'प्रकरण' करता है। कालिदास ने अपने रघुवंश तथा कुमारसम्भव में वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल ही राजाओं का चित्रण किया है, परन्तु उन्होंने ही अपने 'विक्रमो-र्वशीय' में उन्मुक्त प्रणय का अंकन किया है। कालिदास के द्वारा चित्रित रघुवंशी नरेश वर्णाश्रम की मर्यादा के रक्षक थे। वे शैशव काल में विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में सन्तानोत्पत्ति के लिए विषय की इच्छा रखते थे, वार्धक्य में मुनिवृत्ति धारण कर आश्रम में निवास करते थे और अन्त में योग के द्वारा अपने शरीर का त्याग करते थे[1]। स्पष्ट है कि वे नरेश चारों आश्रमों का विधिवत् पालन अपने जीवन में करते थे। अन्य कवियों ने अपनी रचनाओं में यथावसर इस धार्मिक आदर्श का चित्रण अपनी तूलिका द्वारा तथा इसका आश्रयण अपने पात्रों द्वारा भली-भाँति दिखलाया है। फलतः वर्णाश्रम का अनुसरण संस्कृत काव्य का प्रथम वैशिष्ट्य माना जाता है।

(२) **तात्त्विक चिन्तन**—जगत् के मूल तत्त्वों का चिन्तन तथा दार्शनिक समस्याओं का समाधान भारतवर्ष की महती विशिष्टता रही है। वैदिक संहिता के मन्त्रों में भी तात्त्विक चिन्तन की झलक हमें उपलब्ध होती है, परन्तु उपनिषदों में यह विषय खुलकर सामने आता है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान 'तत् त्वमसि' महावाक्य की घोषणा में था। इस वाक्य के द्वारा वैदिक मनीषियों का यह गम्भीर शंखनाद है कि 'तत्' तथा 'त्वं' अर्थात् 'ब्रह्म' और 'जीव' की नितान्त एकता है। समष्टि में जो 'तत्' है, व्यष्टि में वही 'त्वम्' है। प्रातिभ ज्ञान से इस अद्वैत ज्ञान का स्फुरण पहिले हुआ, तर्क से इसकी प्रतिष्ठा पीछे सिद्ध की गई। तर्क की सहायता से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति आदि विषयक समस्याओं के समाधान के लिए हमारे षड्दर्शनों का उदय हुआ। इनमें सांख्य निश्चयेन सबसे प्राचीन है, जो प्रकृति एव पुरुष के विवेचन द्वारा उक्त समस्या का समाधान खोजता है। प्राचीन सांख्य सेश्वरवादी था। आगे चल कर ईश्वर की प्रमाणपुरःसर कल्पना के अभाव में यह निरीश्वरवादी बन गया। औपनिषद ज्ञान के व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए योग का उदय हुआ। सांख्य है बौद्धिक पक्ष तथा योग है व्यावहारिक पक्ष एक ही समाधान का। फलतः इन दोनों को एक गुट में मानते हैं। न्याय-वैशेषिक

---

१. **शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।**
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ (रघु० १।८)

परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानता है तथा प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों का पूर्ण निरूपण करता है। कर्ममीमांसा वेदों के कर्मकाण्ड का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करती है। वेदान्त में उपनिषदों में बिखरे हुये तात्त्विक विषयों का समन्वय उपस्थित किया गया है तथा अद्वैत की सिद्धि की गई है। कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों द्वारा मीमांसा दर्शन की प्रौढ़ता सम्पादित की और शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक ग्रन्थों द्वारा अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की और अपने लघुकाय रसपेशल भक्तिभावापन्न स्तोत्रों द्वारा उसी सिद्धान्त को जनता के बीच लोकप्रिय बनाया, जिससे अद्वैत भारतीय जनता का सर्वतोमान्य दार्शनिक चिन्तन हो गया।

इन दर्शनों का उदय सूत्ररूपेण ईस्वी की कइ शताब्दी पूर्व भले ही हो, परन्तु इनका विकास वृत्तियों तथा भाष्यों की रचना द्वारा संस्कृत काव्य के विकास के समानान्तर ही हुआ। फलतः इनका प्रभाव कविजनों पर निश्चयेन पड़ा। संस्कृत के कवि विभिन्न देवों के प्रति श्रद्धा रखते थे। कालिदास तथा भारवि शैव थे, तो माघ तथा श्रीहर्ष वैष्णव। कालिदास की दार्शनिक चिन्तना सांख्य तथा योग के द्वारा प्रभावित है, माघ की मीमांसा तथा सांख्ययोग से, परन्तु अद्वैतवेदान्त के मूर्धन्य ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' के प्रणेता श्रीहर्ष पक्के अद्वैतवेदान्ती थे और अपने नैषध काव्य (१७ सर्ग) में उन्होंने चार्वाक मत का प्रौढ़ि से खण्डन कर आस्तिकवाद की ही प्रतिष्ठा नहीं की, प्रत्युत अद्वैत के सिद्धान्तों का भी इन्होंने भूरिशः प्रतिपादन किया। बौद्ध तथा जैन मतों के सिद्धान्तों को भी इन कवियों ने यत्र-तत्र प्रकाशित किया है। माघ ने बौद्ध दर्शन के आत्माविषयक तथ्य को एक प्रसिद्ध श्लोक में दिखलाया है (शिशुपालवध २।२८), तो श्रीहर्ष नें जैनविषयक आचार को नैषध के १।७१ में। संस्कृत कवियों के दार्शनिक मतों की तथा धार्मिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति किसी देव या मुनि की स्तुति के अवसर पर स्पष्ट रूप से होती है। इसके दृष्टान्त के लिए कालिदास की दो स्तुतियाँ (रघुवंश १० सर्ग तथा कुमारसम्भव २ सर्ग), माघ द्वारा नारदजी की स्तुति (शिशुपालवध १ सर्ग) तथा नारायण स्तुति (१४।७१-८६) तथा श्रीहर्ष द्वारा नारायण के दशावतारों की विस्तृत स्तुतियाँ (नैषध, २१ सर्ग ५६–१०२ पद्य) विशेषतः दर्शनीय और मननीय हैं। इन स्तुतियों को कवि के तात्त्विक एवं धार्मिक विचारों का दर्पण समझना चाहिये, जिनमें उनका हृदय प्रतिबिम्बित होता है। फ़लतः धर्मपारायण संस्कृत कवियों का भारत के दार्शनिक चिन्तन से प्रभावित होना उनकी अपर विशेषता है।

(३) **कलात्मक मान्यता**––संस्कृत का कवि अपनी कविता को कलात्मक वस्तु के समान सजाने तथा भूषित करने का अश्रान्त प्रयास करता है। भारत की ६४ कलाओं में 'क्रियाकल्प' के अभिधान से काव्य का भी समावेश है। कलावन्त अपनी वस्तु को नाना प्रकार के उपकरणों तथा साधनों से मनोरम और रोचक बनाने का काम करता है। इस सजावट की प्रक्रिया को 'नक्काशी' के नाम से पुकारते हैं। संस्कृत कवियों की कलात्मक मान्यता एक समान नहीं है; प्राचीन कवि कविता को किसी प्रकार के बाहरी और भड़कीले साधनों से सजाने के पक्ष में नहीं हैं। उनकी कविता में नैसर्गिकता तथा स्वाभाविकता का साम्राज्य है; बिना किसी अलंकरण के ही उनकी कविता-कामिनी सहृदयों के हृदय को

रिझाती हैं और उनके मन को आकृष्ट करती हैं। दूसरे कँडे के कविजन कविता को नाना अलंकरणों से सुशोभित करने के ही पक्ष में नहीं हैं, प्रत्युत उस पर सातिशय आग्रह भी रखते हैं। जब क्रौञ्चवध से उद्वेलित महर्षि वाल्मीकि के मुख से 'मा निषाद प्रतिष्ठा-स्त्वं' की वैखरी सद्यः प्रस्फुटित हो चली, काव्य के वास्तकिव स्वरूप का परिचय सहृदयों को तभी मिला कि काव्य सरिता रस के कूल को ही आश्रित कर अपना दिव्य प्रवाह बहाती चलेगी। वाल्मीकि संस्कृत भारती के आदि कवि होने के अतिरिक्त आदि आलोचक भी हैं, जिन्होंने शोक तथा श्लोक का समीकरण सबसे प्रथम प्रस्तुत किया[१]। आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को काव्य का जो जीवातु माना वह इसी ऐतिहासिक आधार-पीठ पर प्रतिष्ठित तथ्य है। परन्तु वाल्मीकि काव्य के अन्य आवर्जक उपकरणों के विषय में मौन नहीं हैं। लवकुश के द्वारा मधुर स्वरों में गाये गये रामायण के श्लोकों को सुनकर महर्षि वाल्मीकि के हृदय का ही यह मधुर उद्‌गार है कि गीत का, विशेषतः श्लोकों का, माधुर्य कितना आश्चर्यजनक है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल में बहुत पहिले होनेवाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है।[२] इस पद्य में 'माधुर्य' नामक गुण का तथा 'भाविक' नामक अलंकार का स्पष्ट संकेत है, जो कविता में सौन्दर्य के आधायक होते हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि काव्य के अन्य गुणों की ओर भी संकेत करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। फलतः वाल्मीकि-रामायण रस के साथ गुण, अलंकारादि अलंकरणों की भी काव्य में आवश्यक सत्ता की ओर निर्देश करता है।

संस्कृत महाकाव्य की कल्पना का मूल आधार यही वाल्मीकि-रामायण है। उसी का विश्लेषण कर आलोचकों ने 'महाकाव्य' की रूपरेखा निर्धारित की। दण्डी तथा रुद्रट के अलंकार-ग्रन्थों में विद्यमान 'महाकाव्य' की भावना का उत्थान रामायण के अन्तरंग विश्लेषण से जन्य है। भामह[३] ने अलंकार के लिए 'अतिशय उक्ति' या 'वक्र उक्ति' की नितान्त सत्ता स्वीकार की है। वक्रोक्ति के अत्यधिक अनुराग से एक नवीन मार्ग का जन्म हुआ, जिसे कुन्तक ने '**विचित्र मार्ग**' का नाम दिया। इसमें वर्ण्य वस्तु को अलंकारों से सजाने पर विशेष आग्रह है। जो प्रभाव नाना रंगविरंगे रत्नों से जडित आभूषण हृदय पर उत्पन्न करते हैं या कारचोबी का काम किया गया जरी का कपड़ा पैदा करता है, वही प्रभाव यह मार्ग भी प्रस्तुत करता है। 'अतिशयोक्ति' का विलास इस मार्ग की विशिष्टता है। 'न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतः' (वाल्मीकि) प्रत्येक वस्तु

---

१. समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
(रामायण १।२।४०)
तुलना कीजिये—'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः' (रघुवंश १४।७०); 'क्रौञ्च-द्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' (ध्वन्यालोक १।५)।

२. अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्॥ (बालकाण्ड ४।१७)

३. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ (भामह : काव्यालंकार)

प्रयत्न-पूर्वक रचित होती है। इस शैली को नव्य आलोचक कृत्रिमता से मण्डित बतलाकर जो इसका उपहास करता है, यह उसकी नादानी है। यह भी उतनी ही श्लाघनीय है जितनी पहिली। अवश्यमेव 'अति' का वर्जन सर्वत्र श्लाघनीय होता है। अलंकारों का प्रयत्नपूर्वक सन्निवेश, सजावट की उल्वण रचना, अतिशय उक्ति का चमत्कारी विन्यास तथा झणझणायमान पदावली का झंकार विचित्र मार्ग की अपनी विभूति है। यह भी उतनी ही स्वाभाविक, आवर्जनीय तथा श्लाघनीय है, जितनी दूसरी वाक्शैली।

संस्कृत के कवियों ने इन्हीं में से किसी एक को अपनी रचना का मार्ग-निर्देशक बनाया। कालिदास वाल्मीकि की शैली के—सुकुमार मार्ग के—अग्रणी कवि रहे। भारवि तथा माघ, बाण तथा सुबन्धु, भवभूति तथा राजशेखर विचित्र मार्ग के प्रतिनिधि कवि थे। अपनी कलात्मक भावना की भिन्नता काव्य-पार्थक्य का कारण है। इस प्रकार कलात्मक भावना संस्कृत कवियों की तृतीय विशिष्टता है।

(४) राजसी वातावरण—संस्कृत काव्य की चतुर्थ विशेषता है नागरिक जीवन का चित्रण और इसलिए राजसी वातावरण की सत्ता प्रभूत मात्रा में यहाँ उपस्थित है। संस्कृत काव्य का प्रथम अवतार सात्त्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद पुत्रों को आश्रय देकर कवि-कला को प्रोत्साहन देनेवाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महीपालों के साथ सर्वदा स्थापित था। विक्रमादित्य के बिना न कालिदास का उदय सम्भव था, न हर्षवर्धन के बिना बाणभट्ट का। राजशेखर के द्वारा 'काव्य-मीमांसा' में निर्दिष्ट राजाओं के द्वारा कवि-सभा तथा कवि-समादर की घटना में थोड़ी-सी अत्युक्ति का पुट किसी आलोचक को भले ही प्रतीत हो, परन्तु काश्मीर के कवि मंख ने अपने 'श्रीकण्ठ-चरित' महाकाव्य (१९ सर्ग) में महाराज जयसिंह के प्रधानामात्य गुणग्राही 'अलंकार' की सभा में तत्कालीन कविजनों के आदर-सत्कार की जो भव्य झाँकी प्रस्तुत की है वह ऐतिहासिक तथ्य है और इसका स्पष्ट प्रमाण है कि गुणग्राही राजा कविजनों की अभ्यर्थना करने में कुछ उठा नहीं रखते थे। राजाओं के ही आश्रय में कविजनों की वाणी को फूटने का अवसर मिलता है; उसकी ही रंगशाला में कविजनों की नाट्यकला अपना रमणीय प्रदर्शन करती है। राजाओं के दरबार वस्तुतः कला तथा कौशल, संस्कृति तथा सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे, अतः कवियों की नैसर्गिक प्रतिभा के पनपने का वहाँ पूर्ण उपकरण प्रस्तुत रहता था। सरस्वती तथा लक्ष्मी के आश्रयभूत महीपाल कविजनों के महाकाव्यों के नायक भी बनते थे। ऐसी दशा में राजसी वातावरण में अभ्युदय तथा प्रसार पाने से संस्कृत काव्य नितान्त सुश्लिष्ट, संस्कृत तथा प्रभावशाली हो गया है।

तत्कालीन शिष्ट समाज की रुचि तथा प्रवृत्ति का मनोरम रूप आलोचक को संस्कृत काव्यों के पृष्ठों में उपलब्ध होता है। उस समय की शिष्टता तथा संस्कृति का भव्य प्रतीक होता था नागरक, जिसका जीवन ही कला की पूर्ण उपासना में व्यतीत होता था। नागरक के दैनन्दिन जीवन का चटकीला वर्णन वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में हमें उपलब्ध होता है। नागरक का जीवन प्रातःकाल से लेकर रात के पिछले पहरों तक कला-उपासना की एक दीर्घ परम्परा होता था। सुखमय जीवन बिताना ही उसका परम लक्ष्य था और

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह सुखमयी सामग्रियों को एकत्र कर जीवन को सरस, मधुर तथा मधुमय बनाता था। उसके प्रत्येक कार्य में कला तथा भव्यता, सौन्दर्य तथा माधुर्य का दर्शन हमें प्राप्त होता है। उद्यान के भीतर उसका रुचिर निवास, स्वच्छ सुथरे सामान, पुस्तकों का चयन, नागदन्त के ऊपर लटकने वाले सफेद धुले हुए रेशमी वस्त्र, कर्णों में स्वरलहरी को घोलनेवाली वीणा—नागरक के ये सहज परिकर उसके सरस हृदय तथा कलाप्रेम के भव्य निदर्शन थे। संस्कृत के कविजनों ने नागरक के जीवन को चित्रित करने का प्रयास अपने काव्यों तथा नाटकों में किया। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत काव्य का श्रोता तथा नाटक का दर्शक कोई सामान्य कलाहीन अरसिक व्यक्ति नहीं होता था, प्रत्युत वह नितान्त सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण, कलाप्रवीण नागरक होता था, जिसका कोमल हृदय करुणोत्पादक दृश्य के अवलोकन से सद्यः पिघल जाता था और आँसुओं के रूप में वह निकलता था। ऐसे 'सहृदय' को लक्ष्य में रखकर निर्मित होने के कारण संस्कृत के काव्यों में भावों की नागरिकता, भाषा का सौष्ठव, ग्राम्यता का अभाव, भावुकता का सद्भाव आदि गुणों का दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक ही है।

(५) **जन-जीवन की झाँकी**—संस्कृत काव्य की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह जन-साधारण के मनोभावों का, हृदय की वृत्तियों का, विभिन्न दशाओं में उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकारों का चित्रण बड़ी ही कमनीय भाषा में प्रस्तुत करता है। वह मानव की कोमल वृत्तियों के वर्णन में जितना कृतकार्य है, उतना ही वह उसकी उग्र वृत्तियों के अंकन में समर्थ है। राग और द्वेष, हर्ष और विषाद, प्रेम और करुणा, उत्साह और अवसाद आदि जितने भाव मानव-हृदय को अपना रंग-स्थल बनाया करते हैं, उनका चित्रण संस्कृत कवियों ने अपनी ललित लेखनी द्वारा ने इतनी सुन्दरता से किया है कि पाठक उसी भावसरिता में अपने आपको गोते लगाता हुआ पाता है। राजा-महाराजाओं के वैभव-सम्पन्न दरबारों में अपना जीवन बिताने वाले भी संस्कृत के कविगण जन-सामान्य के जीवन से, उनके हृदय में उत्पन्न होनेवाली भावनाओं से तथा आकांक्षाओं को कुचलनेवाली उनकी दरिद्रता से घनिष्ठ रूप से परिचय रखते हैं और अपने काव्यों में उनकी अभिव्यक्ति कर उन्होंने जन-जीवन के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रकाशन भली प्रकार किया है। नव्य आलोचकों की यह धारणा है कि संस्कृत के कविगण लक्ष्मी के वरदपुत्रों की गुण-गरिमा गाने में ही अपनी सरस्वती को चरितार्थ समझते थे, नितान्त भ्रामक तथा तथ्य से कोसों दूर है। प्राचीन हिन्दू राजाओं का दरबार संस्कृत विद्या का केन्द्र था, भव्य भारतीयता का सांस्कृतिक स्थल था। अतः अपनी कला के विकास के हेतु तथा अपनी जीविका के निमित्त कलाप्रेमी राजाओं का आश्रय लेना संस्कृत कवियों के लिए अनिवार्य था, परन्तु वहाँ रहकर वे दरबारी कवि बन जाते तथा अपने आश्रयदाता को रिझाने के निमित्त जीवन के उच्च स्तर से ही सम्बद्ध कविता के प्रणयन में अपने को लगाते थे—यह मानना एक भारी भूल होगी।

सम्राट् विक्रमादित्य के आश्रय में रहने वाले जो कालिदास 'विक्रमोर्वशीय' में महाराजा पुरूरवा तथा उर्वशी के अलौकिक प्रेम का चित्रण करते हैं, वही कालिदास 'मेघदूत' में धनपति के शापभाजन एक सामान्य यक्ष की विरहवेदना की अभिव्यक्ति करने से पराङ्

मुख नहीं होते। राजा दिलीप के वसिष्ठाश्रम के प्रति यात्रा-प्रसंग में वे उन ग्वालाओं के मुखिया लोगों को नहीं भूलते, जो राजा का सत्कार करने के लिए मक्खन लेकर उपस्थित होते हैं[1]। जिस तूलिका से वे राजाओं के चाकचिक्य-चर्चित अतुलवैभव-मण्डित प्रासादों के चित्रण में कृतकार्य होते हैं उसी से वे ऋषियों के अग्निहोमधूमिल मृगशावकसम्पन्न आश्रमों के स्निग्ध वर्णन से पराङ्मुख नहीं होते। राजाश्रय पाने पर भी वे राजाओं के शारीरिक तथा मानसिक त्रुटियों से अनभिज्ञ नहीं हैं। सायंकाल जंगल से आश्रम को लौटती हुई दूधभरे थनों से धीरे-धीरे चलने वाली गाय के पीछे उसी प्रकार भारी भरकम देहवाले दिलीप के गमन का वर्णन करने वाले कालिदास राजाओं के शारीरिक दोषों के प्रति कभी स्पृहयालु नहीं प्रतीत होते[2]।

'मेघदूत' किसी धनकुबेर महाराजाधिराज के हृदय की भावनाओं का चित्रण नहीं है, प्रत्युत ऐश्वर्यमद से मत्त धनपति के क्रूर कोप का भाजन बनने वाले दीन-हीन सेवक जन की विरह-वेदना का मनोरम अंकन है। कालिदास की दृष्टि में लक्ष्मी के ललित निकेतन राजभवनों का उतना मूल्य नहीं है, जितना कौपीनधारी तपस्वियों के निसर्ग-सुन्दर आश्रमों का। वे आश्रम की मधुरिमा पर मुग्ध होते हैं। आश्रमों का सायंकालीन दृश्य कवि के हृदय में रागात्मिका वृत्ति के उदय में सहायक बनता है। कालिदास के हृदय में तपोवन के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। वृक्षों के आलवाल से जल पीने के इच्छुक पक्षियों को विश्वास उत्पन्न कराने के लिए मुनिकन्यकायें पौधों को जल से सीचने का व्यापार बन्द कर देती हैं। कुटियों के आँगन में—जहाँ ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार काट कर इकट्ठा कर दिया है—जुगाली करते हुए मृग बैठे आनंद मना रहे हैं (रघुवंश १।५१–५२)। आश्रम के इन दृश्यों में जिस कवि का हृदय रमता है उसे जनजीवन से हम पराङ्मुख कैसे मान सकते हैं? 'ऋतुसंहार' का अनुशीलनकर्ता कालिदास को राजसी वैभव के चकाचौंध से चमत्कृत तथा प्रभावित कभी नहीं मान सकता।

भारवि को पल्लववंशीय राजा का आश्रय प्राप्त था। वे राजनीति के उद्भट विद्वान् थे, इसका प्रमाण उनके महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' के आरम्भिक सर्ग ही हैं। राजनीति में पटुता से मण्डित होनेवाला राजाश्रयी कवि शरद् के वर्णनप्रसंग में उन दीन-हीन गोपों को नहीं भूलता, जो गायों की नित्य सेवा करते रहने से ऋजुता में उनके प्रवीण प्रतीक बने हुए हैं। वह उनके दुःखों तथा सुखों से परिचित है। वह सायंकाल गोचरभूमि से घर लौटने वाली, थनों से दूध चुवानेवाली (प्रस्नुतपीवरौधसः) गायों को देखकर प्रसन्न होता है। ये प्रातःकाल होने से पहिले ही पिछली रात को जंगल में चरने के लिए गई थीं। दिन भर घास चर कर सायंकाल अपने बछड़ों से मिलने के लिए व्याकुल होकर घर लौट रही हैं, परन्तु दूध-भरे थनों के भारी भार से वे चलने में असमर्थ हैं। ऐसा शोभन दृश्य किस सरस कवि के चित्त को अपनी ओर नहीं खींच लेगा? भारवि को गोप और गोपियों के सरल जीवन से गहरी सहानुभूति है। गायों के पीछे चलने वाले, पशुओं के

१. हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्। (रघु० १।४५)
२. आपीन-भारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद् वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥ (रघु० २।१८)

साथ भाई-चारा रखनेवाले, जंगल को ही अपना घर समझने वाले तथा पशुओं के द्वारा सरलता के विषय में अनुकरण किये जाने वाले गोप-गण हमारे कवि के हृदय पर गहरी छाप डालते हैं।[1] इसी प्रकार प्रातःकाल अपने गोठ के आँगन में मथनी से दही मथनेवाली ग्वालिनें दर्शकों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं, जब उनके दही के भरे घड़े घर्रघों-घर्रघों की आवाज से मृदंग के समान गम्भीर आवाज करते हैं तथा मयूरियों को मेघ के गर्जन की शंका उत्पन्न करते हैं (किरात० ४।१३)।

भारवि का कोमल सरस हृदय मानवता तथा मैत्री के सच्चे दुग्ध से भरा हुआ है। वे प्रेम-भरे नयनों से धान के खेत की रखवाली करनेवाली स्त्रियों को देखते हैं। इनका ग्रामीण अलंकरण इनकी सरल शोभा को दूना दमका रहा है। इन्होंने केसर के छोटे पराग से अपने भौंहों के बीच में तिलक लगा रखा है तथा बन्धुजीव का लाल फूल लगाकर आलता से रंगे हुए अपने होठों की समानता बना रखी हैं। उनके कानों में पहिरा हुआ कमल का एयरिंग गालों पर लटककर अजीब छवि दिखला रहा है तथा मोटे स्तनों के चारों ओर लपेटा गया कमल की धूलि का पाउडर मेहनत करने से बहने वाले पसीने से मिलकर अद्भुत शोभा प्रदर्शित कर रहा है ?[2] कवि की दृष्टि धान की पकी हुई पीली वालियों को देखकर प्रसन्न होती है; क्योंकि सुभग रंगों का यह योग इन्द्रधनुष की शोभा की याद दिलाता है[3]। पकी वालियों को झुकी देखकर उसका कवि-हृदय कह उठता है कि ये धान के पौदे खेत के पानी में खिलने वाले नील कमलों को सूंघने के लिए ही अपने सिर झुकाये हुए खड़े हैं[4]। इस प्रकार राजाश्रय में अपना जीवन बिताने वाले भारवि का हृदय जनसाधारण की भावनाओं से सहानुभूति रखता है और उनकी लेखनी इस सहानुभूति की चारु अभिव्यक्ति करने में अपनी चरितार्थता समझती है।

महाकवि **माघ** के महनीय काव्य का परिशीलन भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचाता है। उनके पितामह सुप्रभदेव वलभी-मण्डल के अधिपति वर्म्मलात राजा के दीवान थे; पिता भी अपनी दानशीलता के लिये नितान्त विख्यात थे तथा उनका कुटुम्ब धनी-मानी, वदान्य और उदार था। माघ के हृदय में जनजीवन के लिए असाधारण प्रेम था। उनकी पैनी दृष्टि से साधारण मानव के रागद्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की भावनायें परोक्ष नहीं थीं। माघ का प्रगल्भ प्रभात-वर्णन इस तथ्य का विशद उदाहरण है। प्रभात के वर्णन में माघ की दृष्टि बड़ी व्यापक और विशाल है। वह राजा से लेकर प्रजा तक, अग्निहोत्र करनेवाले ब्राह्मणों से लेकर पहरा बदलने वाले सिपाहिथों तक, पशु-पक्षियों से लेकर ग्वालवालों तक एक ही व्यापार में घूम जाती है और सच्चे हृदय की रागात्मिका वृत्ति का अखिल सृष्टि से सामञ्जस्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है। कवि ब्राह्ममुहूर्त में जगकर दुरूह राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने में व्यग्र राजाओं के चित्रण में जितना पटु है, वह सवेरे विशाल भाण्ड में बड़ी-बड़ी मथनियों से दूध मथकर मक्खन निकालने वाले ग्वालों के रूपण में भी उतना ही समर्थ है (शिशुपालवध ११।८)। पहरा बदलने वाला सिपाही

---

१. गतान् पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे॥ (किरात० ४।१३)

२. किरात ४।८। ३. किरात ४।३६। ४. वही, श्लोक ४।२६।

कवि की दृष्टि से नहीं बचता। रात के समय पहरा बदलने वाला चौकीदार अपना समय बिताकर सोना चाहता है और इसलिए वह दूसरे पहरेदार को 'जागो'–'जागो' कहकर पद-पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी मीठी झपकी ले रहा है। नींद के झोंके में वह अवश्य ही अनर्थक आयँ-बायँ शब्द कहता है, फिर भी वह सो जाता है। जागने की बात कहकर भी वह जागता नहीं——सो जाता है (शिशु० ११।४)।

पाठक अच्छी तरह टाँक लें कि कवि की सहानुभूति केवल मानव तक ही सीमित नहीं रहती, प्रत्युत वह पशु-पक्षियों के आचरण तथा व्यवहार के निरीक्षण में भी पटु तथा समर्थ है। इन्हीं पशु-पक्षियों के आचरण के कारण बेहद तंग होने वाली धान की रखवालिनों की यह व्याकुलता किस सहृदय को व्याकुल नहीं बनाती ? ये गोपिकाएँ धान के खेतों की रक्षा करने में लगी हैं। खेतों के ऊपर दोहरा आक्रमण होता है——एक ओर सुग्गों का और दूसरी ओर से मृगों का। सुग्गों को हाँकने के लिये ज्योंही वे दौड़कर एक ओर से जाती हैं कि दूसरी ओर से मृग लोग खेत को रौंदने लगते हैं और धान खाने लगते हैं। ऐसी विचित्र स्थिति में इन धान की रखवालिनों की यह दौड़-धूप कवि के हृदय में हँसी की गुदगुदी पैदा कर रही है (शिशु० १२।४२) :—

स व्रीहिणां यावदपासितुं गताः शुकान् मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियान्।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः सहासमालोकयति स्म गोपिकाः ॥

गायों के दूध दुहने का दृश्य माघ की पैनी दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। ग्वाले लोगों ने गायों के बछड़ों को उनके बायें पैर में बाँध रखा है, जिन्हें वे प्रेमपूर्वक चाट रही हैं। इधर वे लोग अपने दोनों घुटनों के ऊपर दोहनी (दूहने का बर्तन) रख कर दूध दूह रहे हैं और इस अवसर पर घर्घरों की आवाज बढ़ती जाती है (शिशु० १२।४०) :—

प्रीत्या नियुक्तान् लिहतीः स्तनन्धयान् निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः।
वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पयश्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः ॥

माघ हमारे ग्रामीण जीवन के अन्तस्तल तक पहुँचते हैं तथा अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उसके नानात्मक रूपों को देखकर उसकी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करने में कृतकार्य होते हैं लज्जा के मारे सीधे न देखकर बगीचों की ओट से कृष्ण को देखनेवाली लज्जालु ग्रामीण वधू[१], गोणी के भार से बल-वलानेवाला ऊँट[२], तेज भागनेवाली साँड़िनियों के कारण तितर-बितर होनेवाला जनसमूह, नाना प्रकार की वस्तुओं से सज्जित बाजार[३], गाँव की सीमा पर गोलाकार मण्डली में आसन मार छककर शराब पीने वाले गवैये लोग[४]——इन सबका रमणीय वर्णन प्रस्तुत करनेवाले कवि के ऊपर जनजीवन के प्रति उपेक्षा रखने का दोष कभी आरोपित नहीं किया जा सकता।

संस्कृत काव्य में तपोवन

तपोवन भारतीय संस्कृति का एक अविभाज्य अङ्ग है। भारतीय संस्कृति से यदि तपोवन को हटा दिया जाय तो वह एकदम भौतिक, नीरस तथा शुष्क प्रतीत होने लगेगी।

---

१. शिशुपालवध १२।३७। ३. वही १२।२६।
२. वही १२।३४। ४. वही १२।३८।

प्राचीन भारत में तपोवन का नितान्त प्राचुर्य था, जहाँ मानव प्रकृति के साथ घुल-मिलकर एकरस जीवन बिताता था और जहाँ वह भूतल पर रह कर भी दिव्य आनन्द का अनुभव करता था। यज्ञ हमारे धर्म का एक महनीय अनुष्ठान है। इस जगतीतल पर मानव तथा देवता दोनों में एक दृढ़ मैत्री-बन्धन का सर्वश्रेष्ठ उपाय यज्ञ ही है। यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपने सबसे प्यारी वस्तु को देवताओं को समर्पण कर अपने को कृतकृत्य मानता है और देवगण भी यज्ञ के द्वारा आप्यायित होकर मानवों के कल्याण-साधन में निरत रहते हैं। इसी प्रकार तपस्या के द्वारा प्राणी अपनी चारित्रिक त्रुटियों को, दोषों को तथा मलिनताओं को दूर भगाकर अपना जीवन समुन्नत बनाता है और उसे अपने देश तथा अपनी जाति के अभ्युत्थान में लगाता है। तपोवन यज्ञ तथा तपस्या का क्रीडा-स्थल है। उसका भौगोलिक तथा भौतिक रूप जितना पवित्र एवं सुन्दर होता है, उसका आध्यात्मिक रूप भी उतना ही शुचि तथा कमनीय होता है।

तपोवन का वायुमण्डल आध्यात्मिकता का उदय करता है। तपोवन का यह चित्र अपने मानस पटल पर अङ्कित कीजिये। कलकल-निनादिनी कल्लोलिनी के कूल पर तापसों का निवास है, जहाँ जंगल के पशु अपने स्वाभाविक वैर-भाव को भुला कर परस्पर प्रीति से एक दूसरे के साथ हिल-मिल कर रहते हैं। मृगशावक अपनी माता की गोदी को छोड़कर ऋषियों की गोदी में बैठ अपना जीवन यापन करते हैं और उनके कुश की तेज नोक से छिद जानेवाले मुख की पीड़ा को इंगुदी का तेल लगा कर ऋषि लोग दूर किया करते हैं। आश्रम में सायं प्रातः अग्निहोत्र के धूम से वृक्षों के कोमल पत्ते धूमिल बनकर विचित्र शोभा धारण करते हैं। कुशासन पर आसीन ब्रह्मचारीगण वेदाध्ययन करते हैं और अपने कोमल कण्ठ से साम का गायन कर आश्रम में अद्भुत माधुर्य तथा सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। ऋषिगण अपनी पत्नी तथा कन्याओं के साथ गार्हस्थ्य जीवन में रहकर भी वानप्रस्थ के समान जीवन बिताते हैं। परोपकार ही उनके जीवन का एकमात्र व्रत होता है; प्राणि-मात्र के कल्याण की वेदी पर उनका जीवन समर्पित होता है। ये लोग अपनी क्षुद्र कामनाओं की सिद्धि के लिये न तो सचेष्ट हैं और न किसी को उपदेश देते हैं। ये सूक्ष्म दृष्टि से प्राणियों की त्रुटियों तथा दोषों को देखते हैं और उनके निराकरण करने के लिये सदा जागरूक रहते हैं। नगर से दूर रहने पर भी वे नगर के पास हैं। क्षुद्र स्वार्थ के सम्पादन के स्थान पर अपनी वाणी के द्वारा तथा अपने नित्यप्रति के सदाचार द्वारा इस विशाल विश्व का सच्चा मङ्गल साधन करना ही उनका महनीय व्रत है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

संस्कृत के महाकाव्यों में तपोवन के सच्चे रूप का परिचय हमें मिलता है। वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी ने एक स्वर से तपोवन के स्वरूप का गुणगान किया है। तपोवन का स्मरणीय चित्र महाकवि कालिदास ने अपने काव्य तथा नाटकों में सर्वत्र प्रदर्शित किया है। शाकुन्तल के आरम्भ में आश्रम की यह छवि कितनी स्निग्ध, कितनी सुन्दर तथा कितनी मधुर है—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

'तपोवन के वृक्षों के खोखलों में तोतों के बच्चे आराम कर रहे हैं। सुग्गों ने नीवार के दानों को अपने बच्चों के मुँह में डाल रक्खा है, जिससे कुछ दाने वृक्षों के नीचे गिरे हुए हैं। इंगुदी के फलों को तोड़ने के कारण पत्थर चिकने दीखते हैं। सहज विश्वास के उत्पन्न होने से मृग शब्दों को सुनकर भी ज्यों-के-त्यों खड़े रहते हैं, किसी प्रकार हटने का नाम नहीं जानते। सरोवर को जानेवाले मार्ग वल्कल-वस्त्र से चुये हुए जल की रेखाओं से अङ्कित हैं।

ऋषि की पत्नियों का मृगों तथा पक्षियों के साथ प्रेम कितना सहज, स्वाभाविक तथा मधुर है (रघुवंश, १ सर्ग ५१-५२)—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गणभूमिषु ॥

'मुनि की कन्याओं ने पौधों को स्वयं जल से सींच दिया है। पेड़ों पर बैठे हुए पक्षी वृक्षों के आलवाल में पानी पीना चाहते हैं। इसीलिये उनके हृदय में विश्वास जमाने के लिये इन मुनि-कन्याओं ने इन पौधों को छोड़ दिया है। ऋषि की कुटियों की शोभा निराली है। ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार को काटकर अपने आँगनों में इकट्ठा किया है। इनमें बैठकर मृग जुगाली कर रहे हैं।' ऐसे सुन्दर वातावरण में ही सहज स्नेह का उदय होता है।

महाकवि बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में तपोवन का, जाबालि मुनि के आश्रम का, इतना चटकीला वर्णन किया है कि अपनी स्वाभाविक पवित्रता से मण्डित तपोवन हमारे नेत्रों के सामने झूलने लगता है। तपोवन के प्राणिमात्र में इतने नैसर्गिक प्रेम तथा सद्भावना का अस्तित्व रहता है कि मानव तथा पशु की विभेदक रेखा भी दीख नहीं पड़ती, तभी तो हम बंदरों को आश्रम के बुड्ढे-अन्धे तापसों को छड़ी पकड़ कर बाहर ले जाने और अंदर ले आने का काम करते हुए पाते हैं। इस प्रकार भारतीय कविजनों ने अपने काव्यों में तपोवन के सच्चे स्वरूप को अभिव्यक्त करने का पूर्ण प्रयास किया है।

आध्यात्मिक मूल्य—तपोवन भारतीय संस्कृति के प्रधान पीठ हैं। आध्यात्मिकता के आगार, नैतिकता के निकेतन, सात्त्विकता के शुभसदन भारतीय तपोवन हमारी आध्यात्मिक संस्कृति के कमनीय क्रीडा-स्थल हैं। तपोवन के अञ्चल में हमारी संस्कृति जनमी और पनपी। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का पाठ विश्व को जिन ऋषियों ने पढ़ाया, उनका जीवन तपोवन में ही समृद्ध तथा विकसित हुआ था। जहाँ पाश्चात्य-संस्कृति

भोग की भावना पर आश्रित है, वहाँ हमारी संस्कृति त्याग की भावना पर प्रतिष्ठित है। उपनिषद् डंके की चोट पुकार कर विश्व को अपना संदेश दे रहा है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

'इस जगतीतल पर जंगम तथा स्थावर—जितने भी जीव निवास करते हैं, उनमें अनुग्रह तथा निग्रह करने में समर्थ ईश्वर अन्तर्यामी रूप से वास करता है, अतः किसी दूसरे के धन की लिप्सा न रक्खो; अपने धन को भी त्याग के साथ भोगो।'

भारतवर्ष आध्यात्मिक साम्यवाद का प्रथम उपदेशक है। वह नहीं चाहता कि मानव अपनी उपार्जित सम्पत्ति का उपयोग अपने ही क्षुद्र स्वार्थ के लिये, अपने ही भरण-पोषण के लिये करे; प्रत्युत वह औदार्य तथा साम्य की शिक्षा देकर बतलाता है कि इस विश्व का प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की संतान होने से भाई-भाई है। अतः अपनी कमाई में उसका भी अंश अवश्यमेव विद्यमान रहता है। श्रीमद्भागवत के कथनानुसार जितने से अपना उदर भर जाय, बस, मनुष्य का उतना ही स्वत्व है, उतनी ही सम्पत्ति के ऊपर उसका अधिकार है। उससे अधिक पर अपना अधिकार जमानेवाला व्यक्ति चोर है और वह समाज के हाथों दण्ड का भाजन है (भाग० ७।१४।८)—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

आध्यात्मिक साम्यवाद के सिद्धान्त की कितनी संक्षिप्त, परन्तु भव्य घोषणा है इस लघुकाय श्लोक में। अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठा-पीठ पर ही सच्चा साम्यवाद का प्रासाद खड़ा हो सकता है। मनुष्यों के पारस्परिक भ्रातृभाव की ही शिक्षा तपोवन से नहीं मिलती, प्रत्युत प्राणिमात्र के प्रति सहज मैत्री तथा सरल सहानुभूति का उपदेश भी हमें इन्हीं से प्राप्त होता है।

ऐतिहासिक दृष्टान्त—यह कम महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है कि रघु का जन्म महाराज दिलीप के आश्रम-निवास तथा गो-सेवा का परिणत फल है। रघु के जीवन की उदारता देखकर कौन चकित नहीं हो जाता ? भला, ऐसा आदर्श महीपति भी किसी पाश्चात्य राष्ट्र के सिंहासन पर बैठा है ? महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के निमित्त धन-संग्रह के लिये रघु के पास पहुँचता है। सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ में महाराज रघु ने अपना सर्वस्व लुटा दिया है। केवल मिट्टी का बरतन ही बच रहा है; परन्तु महर्षि वसिष्ठ के आथर्वण प्रयोगों के फलस्वरूप रघु का भाण्डार असंख्य निधियों से भर जाता है। महाराज रघु अपने खजानों की समस्त सम्पत्ति को उठा ले जाने के लिये आग्रह करते हैं, परन्तु अपनी प्रतिज्ञात गुरुदक्षिणा से अधिक एक कौड़ी भी कौत्स नहीं छूता। अयोध्यापुरी की जनता ऐसे आदर्श दाता तथा ऐसे आदर्श याचक के चरित्र को देखकर आश्चर्य से चकित हो जाती है (रघु० ५।३१) :—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

महर्षि कौत्स भारतीय तपोवन का एक छात्र था और महाराज रघु भारतीय आश्रम के प्रभाव से जन्म लेनेवाला एक राजन्य था। आश्रम के पुनीत वातावरण को छोड़कर ऐसी निःस्वार्थ भावना का उदय क्या कहीं अन्यत्र हो सकता है ? गीता के द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्मयोग का सच्चा साधन क्या आश्रम को छोड़कर अन्यत्र कहीं परिनिष्ठित हो सकता है ? नहीं, कहीं नहीं। आजकल इन तपोवनों की बड़ी आवश्यकता है। असंख्य नरों का संहार, अपरिमित धन का स्वाहाकार, दीन-दुःखी अबलाओं का हाहाकार, निर्धनों तथा निर्बलों की उपेक्षा कर धनिकों द्वारा असंख्य धन का संग्रह—आज की भौतिकवादी सभ्यता के ये ही तो जीते-जागते फल हैं। जब तक भारत की इन तपोवनों में पली आध्यात्मिक संस्कृति का प्रचार न होगा, परस्पर भ्रातृभाव का उदय न होगा, तब तक इस दानव-प्रवृत्ति का अन्त क्या कभी सम्भव है ? आज की नागरिक संस्कृति में सच्चे तपोवन को तो भली-भाँति लाया जा सकता है। इस प्रकार जीवन को आध्यात्मिक भावना से पूर्ण करने का, परोपकार की वेदी पर क्षुद्र स्वार्थों के बलिदान का, परस्पर मैत्री तथा सहानुभूति का सुन्दर संदेश हमें भारत के तपोवन आज भी दे रहे हैं। जिस विश्व-कल्याणसाधक धर्म का वर्णन महर्षि वेदव्यास ने इस पद्य में किया है उसके प्रचारक तथा उपदेशक हमारे आदरणीय आश्रम ही हैं:—

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवात्मभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

संस्कृत काव्य की माधुरी

मानव के अन्तस्थल में क्षण-क्षण में उत्पन्न होनेवाले भावों के निरीक्षण तथा अभिव्यंजन में जिस कवि की वाणी रमती है वही सच्चा कवि होता है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन में कवि के कवित्व का सच्चा परिचय मिलता है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला है वैसा ही नीला है। बीच-बीच में वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण हो जाता है, तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है। समुद्र तथा नदियों का साधारण आकार तरंगों से परिपूर्ण होने पर भी एक ही प्रकार का है। परन्तु मनुष्य का हृदय नितान्त परिवर्तनशील वस्तु है। उसमें घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है; अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म होता है। जो कवि इस अन्तर्जगत् की विचित्रता के रहस्य को खोलकर दिखाता है वही यथार्थ में कवि के नाम से पुकारा जा सकता है।

संस्कृत भाषा में इस कोटि में आनेवाले यथार्थ कवियों की संख्या पर्याप्त है। संस्कृत काव्य में हृदयपक्ष तथा कलापक्ष दोनों का यथावसर अपूर्व मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन काव्यों में हृदयपक्ष का प्राधान्य है, परन्तु अवान्तर कवियों में हृदय की उतनी सच्ची परख न होने से वे केवल कलापक्ष के समाश्रयण से अपनी कविता-कामिनी को सुसज्जित तथा तुन्दिल बनाते हैं। संस्कृत आलोचनाशास्त्र 'विदग्ध' तथा 'विद्वान्' में पर्याप्त पार्थक्य स्वीकार करता है। 'विद्वान्' की दृष्टि काव्य के केवल बाहरी चाकचिक्य

और अलंकारों की सज्जा पर ही जमती है, परन्तु 'विदग्ध' काव्य के अन्तस्तल को परखता है और वह रसपेशल कविता के मर्म को पहचानता है। प्राचीन काल में 'विदग्धता का प्राधान्य था, परन्तु कालक्रम से विद्वत्ता का ही मान तथा आदर बढ़ने लगा। फलतः कविजन इन्हीं को काव्य का एकमात्र साधन मानने लगे। रस के उन्मीलन के स्थान पर अलंकार द्वारा प्रसाधन ही कविकर्म की प्रधान कसौटी बन गया। आलंकारिकों ने इस परिर्वातत मनोवृत्ति को और भी विकृत तथा विपर्यस्त बना दिया। मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के द्वारा काव्य में अलंकार को रस तथा गुण की अपेक्षा गौण स्थान ही दिया, परन्तु अलंकार की वह किंचित् अवहेलना पीयूषवर्ष जयदेव की दृष्टि में असह्य हो उठी और उष्णता से हीन अग्नि के समान अलंकार से हीन काव्य की कल्पना को वे असम्भव तथा अप्रामाणिक मान बैठे[१]।

प्राचीन युग के कवि भावों में तीव्रता तथा प्रभावशीलता लाने के लिए काव्यों में अप्रस्तुत का विधान तथा अलंकारों का समावेश किया करते थे। आनन्दवर्धन ने रसमय काव्य में उसी अलंकार के संविधान को मान्य ठहराया है जिसकी रचना के लिए कवि को किसी भी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती, रस से आक्षिप्त होकर जिनका बंधान काव्य में स्वतः ही सम्पन्न हो जाय[२]। परन्तु पिछले कैंड़े के कवियों ने इस उचित उपदेश पर ध्यान न देकर अलंकार-विन्यास को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया। फलतः उन्होंने सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका-बन्ध, तुरगबन्ध आदि चित्रकाव्यों के निर्माण में ही अपनी शक्ति को खर्च किया, जिसको समझने के लिए पाठक को दिमागी कसरत करनी पड़ती है। अतः अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव काव्य के अभ्युदय के ऊपर उतना शोभन तथा स्वास्थ्यकर नहीं हुआ जितनी आशा की जाती थी।

संस्कृत भाषा निसर्गतः बड़ी ही कोमल तथा मधुर है। प्रतिभासम्पन्न कवि के हाथ में पड़कर उसमें भावप्रकाशन की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है। भावों की सूक्ष्मता के और मनोविकारों की अन्तरंग व्यापकता के प्रकाशन में संस्कृत भाषा नितान्त समर्थ तथा सक्षम है। शब्द का सौष्ठव तथा पदावली का मधुमय विन्यास, पदों की कोमल शय्या—संस्कृत जैसी संश्लिष्ट भाषा में जितनी सुन्दरता के साथ निबद्ध किये जा सकते हैं, उतनी रुचिरता से किसी भी विश्लेप-प्रधान भाषा में नहीं। संस्कृत की 'कोमल कान्त पदावली' के अवलोकन के निमित्त महाकवि जयदेव का 'गीत-गोविन्द' एक कमनीय निदर्शन प्रस्तुत करता है। सत्कवि के द्वारा व्यवहृत अलंकार में भी एक विलक्षण सुषमा झलकती है। विपुल अर्थ को कम से कम थोड़े शब्दों में प्रकाशन की योग्यता रखने में 'श्लेप' अलंकार का चमत्कार अलंकारों में सर्वोपरि है और इसीलिए श्लेप की सारगर्भिता की प्रशंसा आलोचकों ने मुक्तकंठ से की है[३]। श्लेप के विन्यास में भी

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ (चन्द्रलोक)

२. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ (ध्वन्यालोक)

३. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। (दण्डी)

एक कमनीय कौशल है। श्लेष को प्रसन्न होना आवश्यक है। श्लेष वहीं तक शोभाधायक होता है जहाँ तक द्वितीय अर्थ के समझने में पाठक को विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। इसीलिये 'प्रत्यक्षर-श्लेषमय-प्रबन्ध' रचना की डींग हाँकनेवाले सुबन्धु के श्लेष प्रसादहीन तथा कर्कश होने से एकदम अग्राह्य प्रतीत होते हैं, परन्तु त्रिविक्रम भट्ट के प्रसन्न श्लेषों में भावप्रकाशन तथा अर्थविन्यास की अद्भुत क्षमता आलोचकों का हृदयावर्जन करती है। हृदय के क्षणक्षण परिवर्तनशील भावों का काव्य में विन्यास होने से संस्कृत का एक ही पद्य उस मनोरम चित्र के समान प्रतीत होता है जिसके अल्प कलेवर में समग्र अंगों का विन्यास बड़ी बारीकी के साथ किया गया रहता है कि उसके पठनमात्र से पूरे अर्थों की झलक एक साथ ही पाठकों के मानसपटल के ऊपर अंकित हो जाती है। इस प्रकार संस्कृत के कवियों ने गम्भीर तथा सूक्ष्म भावों को कोमल पदावली के द्वारा अभिव्यक्त करने में आश्चर्यजनक सामर्थ्य दिखलाया है, परन्तु प्राकृत तथा लोकभाषा के साहित्य के उदय के साथ साथ जब संस्कृत व्यवहार क्षेत्र से हटकर केवल पण्डित-समाज के भीतर ही सीमित रह गई, तब संस्कृत काव्यों में कृत्रिमता तथा बनावटीपन ने घर कर लिया। कवियों की दृष्टि अन्तरंग से हटकर बहिरंग के ऊपर ही जम गई। इस अवनति-कालीन कविता में वह प्रसादमयी भावना, वह अद्भुत प्रतिभा का विलास, वह सरस हृदयावर्जक पदावली का विन्यास देखने को भी नहीं मिलता, जो संस्कृत काव्य के उत्कर्ष-काल में सदा ही उसके साथ सम्बद्ध रहते थे।

संस्कृत काव्य में प्रकृति

संस्कृत के कवि सौन्दर्य तथा माधुर्य के उपासक होते हैं। उनका हृदय सौम्य भाव में विशेष रमता है। माधुर्य के उत्पादक दृश्यों के ऊपर दृष्टि विशेष रीझती है। वे मानव-हृदय के भावों के समझने तथा विश्लेषण में जितने कृतकार्य हैं उतने ही वे बाह्य प्रकृति के भी रहस्यों के परखने तथा उद्घाटन में समर्थ हैं। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण संस्कृत काव्यों में, विशेषतः प्राचीन काव्यों में, प्राप्त होता है। प्रकृति के दृश्यों को कवियों ने अपने तीव्र अवलोकन का विषय बनाया है तथा यथार्थता से मण्डित वर्णनों का चमत्कार सरसहृदयों के हृदय को बलात् अपनी ओर खींचता है। प्रकृति संस्कृत काव्यों में उभयरूपेण चित्रित की गई है—आलम्बन रूप से तथा उद्दीपन रूप से। आलम्बन रूप वाले वर्णनों में प्रकृति ही स्वयं वर्ण्य रहती है तथा उद्दीपन रूप में उसका मानव-प्रकृति के ऊपर उत्पन्न प्रभाव ही वर्णन का विषय रहता है।

कालिदास और भवभूति ने वर्षा के आगमन का वर्णन किस सीधी-सादी यथार्थता से नीचे लिखी पंक्तियों में रख दिया है :—

आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्।　　(मेघदूत)
श्रयति शिखरमद्रेर्नूतनस्तोयवाहः।　(उत्तररामचरित)

भवभूति की पंक्ति कालिदास की पंक्ति की स्मृति से उत्पन्न हुई है, किन्तु इस पंक्ति के अनुकरण में कितनी नूतनता है यह 'तोयवाह' (जल से भरा हुआ मेघ)[1] और इसमें

---

१. जल से संभृत मेघ मानों भाराक्रान्त था। इसलिए वह आश्रय-विश्राम लेता है। यह 'तोयवाह' और 'श्रयति' शब्दों के मेल से ध्वनि निकलती है।

जुड़े हुए 'नूतन' विशेषण से द्योतित होती है। ऊपर के दृष्टान्त में चित्र की रेखा बादलों के अनुरूप सरल और स्वच्छ है, किन्तु चित्रण की यथार्थता से सुचारु और अधिक गहरी रेखा से सुसज्जित चित्र यदि देखना हो और उसे भी एक पंक्ति में, तो कालिदास की इस पंक्ति को याद कीजिये :--

'प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः' (रघु० ४।३४)

और यदि इससे अधिक सविस्तर चित्र चाहिए तो रघुवंश के इस पम्पा सरोवर के चित्र को देखो (१३।३०)--

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्य पारिप्लवसारसानि।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः॥

देखो तो पम्पा सरोवर के तट पर नरकुल का कितना घना वन है। उसने मानो पम्पासर के प्रभूत जल को आलिङ्गित सा कर लिया है। उसके भीतर लता के झुण्ड में बैठे हुए चञ्चल सारस पक्षी इस पूर्व चित्र में कितना वैचित्र्य उत्पन्न कर रहे हैं। अपने नेत्रपुटों से आप भी इस चित्रगत सरोवर का जल अच्छी तरह से पीजिये। किन्तु यदि इन पूर्वोक्त सारसों को आकाश में उड़ते देखना हो तो--इस चित्र को देखें (रघु० १३।३३)--

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम्॥[1]

दूर आकाश में एक विमान की कल्पना करो और उसमें सुवर्ण के घुंघुरू लगाओ, किन्तु यह बतलाओ कि उस चित्र से घुंघुरुओं का शब्द आप कैसे सुन सकते हैं ? यह तो काव्य की ही विशेषता है कि इसमें चित्र और सङ्गीत दोनों का ही संमिश्रण हो सकता है। पास बहनेवाली गोदावरी के तट अथवा उसके जल-पट पर आकाश में उड़ती हुई श्वेत सारसों की पंक्ति देखिये। इन सारसों को उड़ते देखने में ही खूबी है, अत एव उस खूबी को प्रत्यक्ष करने के लिये स्थिर चित्र नहीं, बल्कि सिनेमा के चित्र की कल्पना कीजिये। इससे भी यदि अधिक वैचित्र्य चाहिये तो वह भवभूति के निम्नलिखित वर्णन में है (उत्तर०, २ अंक) :--

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

इस श्लोक में कोई अलंकार नहीं, भाव नहीं, किन्तु सारा चमत्कार वर्णन की यथार्थता में समा रहा है। वानीर की बेल पर बैठे हुए पक्षी के चित्र से और उसे 'समद' कह कर सूचित की हुई उसके स्वर की ध्वनि से, यह वर्णन अतीव हृदयङ्गम बन गया है। चित्रकार की तूलिका की अपेक्षा कवि की वाणी में अधिक सामर्थ्य होती है। ऊपर के वर्णन में केवल

---

१. विमान के झरोखों से बाहर लटकती हुई तेरी सोने की करधनी के घुंघुरुओं का शब्द सुनकर गोदावरी के सारस पक्षी, आकाश में उड़ते हुए, तुमसे भेंट सी करने आ रहे हैं।

'समदशकुन्ता-क्रान्तवानीरवारुत्', 'फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज' और 'उनम' बहती हुई नदी का केवल चित्र मात्र ही नहीं है, किन्तु—'स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्य':—इस नदी की मुखरध्वनि भी कवि की वीणा से निकलती है। कवि की कला में चित्र और वीणा—रूप और शब्द—दोनों ही का समावेश है।

यथार्थता के साथ-साथ वर्ण्यमान विषय के कुछ अंश को चुन लेने के कारण बड़ा ही मनोवेधक एक अति सुन्दर चित्र नीचे लिखी चित्र-कल्पना में कालिदास ने रख दिया है :—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥

हिमालय के पवित्र पहाड़ों की तलहटी में बसा हुआ आश्रम, पर्वत के शिखर पर बैठे हुए हरिण, समीप में बहती हुई 'स्रोतोवहा मालिनी' और उसकी रेत में आधे डूबे हुए हंसमिथुन तथा कृष्णमृग के सींग से अपनी वाईं आँख खुजलाती हुई हरिणी—यह सारा चित्र साङ्गोपाङ्ग होने से बहुत ही रमणीय लगता है। यही नहीं, किन्तु उस एकान्त स्थान की आत्मा मानो **'सैकतलीनहंसमिथुना'** तथा **'शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्'** इस चित्र में प्रत्यक्ष आ खड़ी होती है।

प्रकृति के वर्णन का एक और प्रकार है, जिसमें मनुष्यहृदय के भावों के पीछे प्रकृति तदनुरूप चित्रपट-सी प्रतीत होती है। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में प्रकृति का इसी प्रकार उपयोग किया है। हमारे मध्यकालीन संस्कृत कवियों ने भी प्रकृति के दृश्यों को मनुष्यहृदय के उद्दीपन विभाव के रूप से अङ्कित किया है। हमारे रस-शास्त्रियों ने भी रस में प्रकृति को उद्दीपन विभाव रूप से माना है। संस्कृत काव्यों में वसन्त ऋतु, चन्द्रिका, कोकिलस्वर, मेघमाला इत्यादि शृङ्गार रस के सामान्य उद्दीपन प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त चैत्र मास की रात्रियाँ, विकसित मालती के पुष्पों से सुरभित कदम्बवन की वायु, नर्मदा का तट और वहाँ के वेतस-वृक्ष के कुञ्ज इत्यादि विशेष उद्दीपन विभाव बन जाते हैं। कुछ कवियों ने तो प्रकृति और मनुष्यहृदय के बीच में कुछ गूढ़ सम्बन्ध है, यह माना है। विदेश गये पति वर्षा-ऋतु के आने पर घर की ओर आकर्षित और आकाश में मेघ को देखकर प्रिया के समागम के लिए समुत्सुक होते हैं—यह बात कवि लोग स्वाभाविक समझते हैं। कविवर कालिदास का भी ऐसा विश्वास है कि प्रकृति के अमूक हृदय में किसी गूढ़ रीति से अमूक भावों की प्रेरणा करने वाली शक्ति है।

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः।

प्रकृति के मनोहर दृश्य अथवा श्रव्य का मनुजहृदय के साथ कोई अगम्य सम्बन्ध है। इसमें कालिदास को यत्किंचित् भी शंका नहीं (शाकुन्तल) :—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।।

प्रकृति की यह भाव-प्रेरक शक्ति कल्पित नहीं, किन्तु यथार्थ है। यही कालिदास का मत है।

अन्यत्र (कुमारसंभव ३।३६)—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ।।

पूर्वोक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि प्रकृति की मूक स्थिति--स्थान और समय--पशु-पक्षी में भी, मनुष्य का तो कहना ही क्या, अमूक भाव उत्पन्न करती है। मनुष्य का प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उसके हृदय में भी प्रकृति ऐसा ही भाव उत्पन्न करती है। यह कालिदास की दृढ़ भावना है। समस्त विश्व की अखण्डता का भान इस भावना में समाया रहता है, जिसके कारण काव्य लोकोत्तर आनन्द का हेतु हो जाता है। प्रकृति को एक शक्तिरूप में मानकर अथवा उसके तरह-तरह के दृश्यों को देखकर उनसे शिक्षा ग्रहण करना--यह प्रकृति के प्रति कविहृदय की वृत्ति का और एक प्रकार है। अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ इस रीति से अखिल प्रकृति को अथच उसके किसी-किसी दृश्य को देखकर शान्त, शुद्ध और उदात्त भाव का अनुभव करता था। हमारे यहाँ भी कितने ही कवियों ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न दृश्यों को निरख कर उनसे उपदेश ग्रहण किये हैं (द्रष्टव्य भागवत १०।२०)।

कविवर वर्डस्वर्थ के प्रकृति-वर्णन में यह विलक्षणता है कि उसने प्रकृति को एक अखण्ड और सजीव वस्तु मानकर उसका साक्षात्कार किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि वर्डस्वर्थ के दृष्टिबिन्दु पर फ्रांस के तत्त्वचिन्तक रूसो का असर पड़ा था। फ्रांस में क्रान्ति पैदा करनेवाले तत्त्वचिन्तकों में रूसो एक मुख्य पुरुष था। उसकी यह अटल धारणा थी कि इस संसार को मनुष्य ने ही स्वयं बिगाड़ा है और यदि मनुष्य वर्तमान झूठी संस्कृति को छोड़कर प्रकृति के स्वरूप को प्राप्त कर ले तो वह अधिक निर्दोष और सुखी होगा। यही कल्पना उस समय फ्रान्स से इङ्गलैण्ड में संक्रान्त हुई थी। और इसी भावना का काव्यात्मक स्वरूप हमें अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ में मिलता है। हमारे यहाँ कवियों ने 'वनश्री', 'वनलक्ष्मी' या 'वनदेवता' की मनोहर कल्पना की है और सांख्य-मत का आश्रयण कर सचराचर विश्व में व्याप्त प्रकृति का दर्शन किया है। इसकी दिव्यता सूचित करने के लिए उसका देवी रूप में वर्णन किया है, परन्तु जिस रीति से कवि वर्डस्वर्थ ने प्रकृति का काव्य में वर्णन किया है, उस रीति से भारतीय कवियों ने इसका वर्णन नहीं किया है--यह बिलकुल सच्ची बात है, परन्तु इससे क्या होता है? होमर, वर्जिल आदि यूनानी--रोमन कवियों की भी वर्णन-रीति प्रकृति के विषय में क्या उसी रीति पर है? अंग्रेजी कवियों को ही लीजिये? कीट्स, बायरन, शेली या टेनिसन ने क्या प्रकृति के चित्रण में एक ही शैली का आश्रयण किया है? नहीं, बिलकुल नहीं। इसका कारण उनकी प्रकृति-विषयक भावना का पार्थक्य ही मुख्य हेतु

है। इन कवियों की दृष्टि में प्रकृति एक समान वस्तु नहीं ठहरी। प्रत्येक के लिये प्रकृति द्वारा उद्भावित भावना एक समान नहीं है। शेली की दृष्टि में प्रकृति सौन्दर्य का विराट् रूप है, तो टेनिसन की दृष्टि में प्रकृति नियम (वन ला) की प्रतिनिधि है। भावना की विभिन्नता ही वर्णन की विभिन्नता का कारण है। इतना होने पर भी प्रकृति के प्रति प्रेम तथा आदर में, उससे उत्पन्न होनेवाले काव्यानन्द में किसी प्रकार न्यूनाधिकता नहीं होती। तथ्य यह है कि संस्कृत कवि आध्यात्मिकताप्रवण है। वह ऊपरी सतह पर ही तैरनेवाला जीव नहीं है, वह प्रकृति के भीतर प्रवेश कर उसकी अन्तरात्मा को समझता है और उसे अपने काव्य में विवृत करता है। इसीलिए कालिदास की प्रकृति-विषयक भावना तथा मानव-हृदय के साथ उसके सम्पर्क का भाव वर्डस्वर्थ की अपेक्षा गम्भीरता अथवा तत्त्वदर्शिता में किसी प्रकार घटकर नहीं है।

भारतीय साहित्य में नारी और प्रेम

आज इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में हिन्दू-नारी की जो वीभत्स धर्षणा हो रही है, उसके स्मरणमात्र से ही हमारे शरीर में रोमाञ्च हो जाते हैं—हमारा रोम-रोम उसका प्रतिवाद करने के लिये मानो समूह रूप से जाग्रत दीख पड़ता है। नारी का इसमें दोष क्या? प्रधान तथा प्रबल दोष तो हमारा ही, पुरुषों का ही है। नारी सर्वदा से ही पुरुष की छत्रछाया में अपनी गुणगरिमा का विस्तार करती आयी है। उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व पुरुष के ही ऊपर है, परन्तु आज इन नामधारी पुरुषों की वीर्यहीनता, दुर्बलता तथा अपमानसहिष्णुता के कारण ही नारी की यह भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी है। भारतीय समाज में नारी त्याग तथा तपस्या का प्रतीक है। मनु का यह वचन हम कभी भूल नहीं सकते कि जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं, वहीं देवतालोग आनन्दित रहते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

स्त्रियों का पूजन देवताओं के समाराधन का मुख्य साधन है। नारी भारतीय संस्कृति में अतीव उन्नत गौरव की अधिकारिणी सदा से रही है। स्त्रीत्व के नाते उसमें स्वभाववशात् अनेक प्रकार की दुर्बलताएँ स्वतः विद्यमान रहती हैं। इसीलिए तो भारतीय समाजशास्त्रियों ने 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' का शंखनिनाद किया। यह कथन स्त्री-समाज की निन्दा या अपमान का सूचक नहीं है, प्रत्युत वस्तुस्थिति का द्योतक है। हमारे धर्मशास्त्रियों ने नारी के संरक्षण का भार बल के प्रतीक पुरुष के ऊपर ही छोड़ दिया। नारी के तीन रूप हैं—कन्या, पत्नी तथा माता; और इन तीनों ही दशाओं में उसकी रक्षा का, उसकी मान-मर्यादा तथा प्रतिष्ठा के संरक्षण का पवित्र कार्य 'पुरुष' के ऊपर ही निर्भर करता है। पुरुषमात्र का सूचक वेद का महनीय शब्द है—'वीर'। 'वीर' का शब्दार्थ ही है—पुरुष और इसी अर्थ में इसका प्रयोग संस्कृत से सम्बद्ध आर्य-भाषाओं में अभी भी होता है। लैटिन भाषा का 'वीरुस' (Virus) मनुष्य का वाचक है और यह शब्द संस्कृत 'वीरस्' (वीरः) का ही साक्षात् प्रतिनिधि है। इस शब्द से व्युत्पन्न अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'विरिलिटी, (Virility) भी पुंस्त्व, वीर्य का ही द्योतक है। सारांश यह है कि पुरुष वही है जो वीर हो, वीर्यसम्पन्न हो, अपनी तथा

अपने आश्रित की रक्षा करने की क्षमता रखता हो। वैदिक ऋषियों ने इस वीर्य के प्रतीक, 'वीर' नामधारी पुरुष के संरक्षण में 'नारी' की व्यवस्था कर उचित ही कार्य किया, परन्तु दुःख का विषय है कि हम अपने सामर्थ्य से ही सर्वथा च्युत हो गये, अपने आपको बचाने की क्षमता से विहीन होकर हमने अपनी अनमोल थाती के रक्षण से ही अपना हाथ खींचकर जघन्य कार्य किया। अतः नारी की इस वर्तमान दुरवस्था का समस्त दोष पुरुष की नपुंसकता को है।

हिन्दू-संस्कृति में नारी के महनीय स्थान को परखने के लिये अपनी संस्कृति के स्वरूप को हमें पहचानना पड़ेगा। हमारी सभ्यता के दो पादपीठ हैं––त्याग और तपस्या। हमारी सभ्यता किसी की सम्पत्ति पर बलात् अधिकार जमा कर उसे बरबस छीनने और झपटने का उपदेश नहीं देती है। वह गम्भीर स्वर से पुकारती है––

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

त्याग से सम्पत्ति का उपभोग करो। किसी के धन पर लालच न करो। अपनी सम्पत्ति भी बाँट कर खाओ। हमारा प्रतिदिन बलिवैश्वदेव कर्म इसी त्यागवृत्ति का दैनन्दिन आचरण है। हमारा अद्वैत वेदान्त सच्चा साम्यवादी धर्म है, जो जगत् के प्राणिमात्र को अपना बन्धु ही नहीं, प्रत्युत अपना ही रूप समझता है। अतः त्याग हमारी संस्कृति का प्रधान आधारपीठ है और त्याग के लिए आवश्यक है तपस्या। तपस्या के द्वारा ही मानव अपने कालुष्य को जलाकर पवित्र तथा विशुद्ध बन जाता है। सोना आग में तपने पर खरा उतरता है। मनुष्य भी तपस्या के द्वारा खरा उतरता है––अपनी विशुद्धि प्राप्त करता है। विना तपस्या के त्याग की भावना कथमपि जाग्रत नहीं हो सकती। अतः भारतीय संस्कृति त्याग तथा तपस्या के ताने-बाने से बनी हुई एक विचित्र शाटी है, जिसका रंग शताब्दियों के काले धब्बे पड़ने पर भी आज भी उसी प्रकार नेत्ररंजक तथा चटकीला है और इस संस्कृति और सभ्यता का प्रतीक है––भारतीय नारी।

नारी त्याग और तपस्या की जाज्वल्यमान विभूति है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के समन्वय से हमारी आर्य नारी का स्वरूप संगठित हुआ है। नारी-जीवन का मलमन्त्र है––त्याग। और इस मन्त्र को सिद्ध करने की क्षमता उसे प्रदान की है तपस्या ने। हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि उसके जीवन के किस अंश में इन महनीय तत्त्वों के विलास का दर्शन हमें नहीं मिलता; परन्तु यदि हम उसके पूर्वजीवन को 'तपस्या' का काल और उत्तर-जीवन को 'त्याग' का काल मानें, तो कथमपि अनुचित न होगा। नारी के तीन रूप हमें दीख पड़ते हैं––कन्या रूप, भार्या रूप तथा मातृरूप। कौमार-काल नारी-जीवन की साधनावस्था है और उत्तर-काल उस जीवन की सिद्धावस्था है। हमारी संस्कृति के उपासक संस्कृत-कवियों ने नारी की इन तीनों अवस्थाओं का चित्रण बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया है।

नारी कन्यारूप में––कन्यारूप में नारी का चित्रण हमें कालिदास की कविता में उपलब्ध होता है। कालिदास आर्य-संस्कृति के प्रतिनिधि ठहरे। उन्होंने आर्य-कन्या के आदर्श को 'पार्वती' के रूप में अभिव्यक्त किया है। आर्य कन्या को अदम्य, अजेय तथा जितेन्द्रिय बनाने का मुख्य साधन 'तपस्या' ही है। कालिदास ने अपने कुमारसम्भव में

इसके महत्त्व को बड़े ही भव्य शब्दों में प्रकट किया है। शिवजी के द्वारा मदन-दहन के अनन्तर भग्नमनोरथा पार्वती जगत की समग्र आशाएँ छोड़कर तपस्या की साधना में जुट गयी। उसकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीर से उपार्जित मुनियों की तपस्या उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावहीन प्रतीत होती है। प्रकृति के नाना प्रकार के कष्टों को झेलकर अन्ततः वह अपनी कामनासिद्धि में सफल होती है। उसका मनोरथ-तरु फलसम्पन्न होता है। उसे अभीष्ट फल प्राप्त होता है। कालिदास ने पार्वती के तप का रहस्य विशेष रूप से प्रकट किया है (कुमारसम्भव ५।१) —

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

पार्वती की तपस्या का फल था—'तथाविधं प्रेम' उच्च कोटि का अलौकिक प्रेम और 'तादृशः पतिः' उसी प्रकार का, मृत्यु को जीतनेवाला, पति। जगत् के समस्त पति मृत्यु के क्रीत-दास हैं। एक ही व्यक्ति मृत्यु को जीतने वाला है और वह है मृत्युञ्जय महादेव। मृत्यु को जीतने की क्षमता एक में ही है, और वह व्यक्ति है देवों में महान् देव, अर्थात् महादेव। आजतक कोई भी अन्य कन्या मृत्युञ्जय को पति वरण करने में समर्थ नहीं हुई। और इस युगल-जोड़ी का प्रेम भी कितना अनुपम, कितना उत्कट, कितना अलौकिक है। कालिदास ने 'तथाविधं' शब्द के भीतर गम्भीर अर्थ की अभिव्यंजना की है। शंकर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दिया। आदर की भी एक सीमा होती है। पत्नी को इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कार का महान् प्रकर्ष है, आदर की पराकाष्ठा है। अन्य देवताओं में से किसी ने कभी अपनी पत्नी को इतना गौरव प्रदान नहीं किया। गौरी की यह साधना भारतीय कन्याओं के लिये अनुकरणीय वस्तु है। हमारी कन्याओं के सामने एक ही महान् आदर्श है और वह है पार्वती। भारतीय समाज में 'गौरीपूजन' का रहस्य इस महती तपःसाधना के भीतर अन्तर्निहित है।

नारी पत्नीरूप में—संस्कृत कवियों ने पत्नीरूप में नारी का सुचारु चित्रण किया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति—इन महामान्य कवियों ने भारतीय पत्नी की रूप-छटा का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया है। भगवती जनकनन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को उपशम तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय पत्नियों के महान् आदर्श का प्रतीक है। वाल्मीकीय रामायण के अनेक प्रसंग इस कथन के प्रमाणभूत हैं। रावण के द्वारा बारंबार प्रार्थना करने पर भी सीता के जो अवहेलना-सूचक वचन हैं, वे भारतीय नारी का गौरव सदा उद्घोषित करते रहेंगे। वह कहती है कि इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं, नहीं, बायें पैर से—भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥
(वा० रा० सु० ५।२६।१०)

'मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है; मेरे निर्बल अंश को पकड़ कर आपने आगे किया है, परन्तु मेरे चरित्र के सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का

दुर्बल अंश है—उसका नारीत्व, स्त्रीत्व और सबल अंश है—पत्नीत्व और पातिव्रत। नरशार्दूल ! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु क्रोधावेश में आकर आपका यह कथन साधारण पामर जन के समान है ! मैं आपकी हृदय से भक्ति करती हूँ। मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है कि आप जैसे नरशार्दूल ने मेरे स्वभाव को, मेरी भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया है, मेरा उपहास करने के लिये मेरे स्त्रीत्व को आगे रक्खा है।' कितने महत्त्वपूर्ण शब्द हैं ये सीताजी के—

त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में। अनादृता भारतीय ललना का यह उद्‌गार कितना हृदय-वेधक है ? सुनते ही सहृदय व्यक्ति की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

कालिदास की सीता—महाकवि कालिदास ने सीता के जिस चरित्र का विलास अपनी वैदग्ध्यमयी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त किया है, उसमें पारिजात की सुगन्ध है, मानव-चित्त को विकसित तथा विस्मय-स्थित कर देने की अद्‌भुत क्षमता है। प्रजा-पालन की वेदी पर भगवान् रामचन्द्र ने अपने जीवन-सर्वस्व की वलि देकर जो आदर्श उपस्थित किया है, वह हमारे राजवर्ग के लिए श्लाघनीय तो है ही; उससे भी श्लाघ्यतर वह आदर्श है, जिसे परित्यक्ता जानकी ने अपने पतिदेव रामचन्द्र के प्रति प्रकट किया है। बीहड़ जंगल में लक्ष्मण जी विदेहनन्दिनी को छोड़कर जब जाने लगे, तब सीता ने रामचन्द्र जी को जो आत्मनिवेदन किया, वह भारती नारी के गौरव, मर्यादा तथा त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है। सीता-परित्याग रामराज्य की प्रतिनिधि घटना है। लोकमंगल की वेदी पर आत्मसुख को बलिदान दे देना ही भारतीय नरेशों का आदर्श प्रजापालन-व्रत है और इस आदर्श की प्रतिष्ठा की स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र ने।

प्रजा के अनुरञ्जन के लिये राम ने अपनी प्राणवल्लभा सीता को छोड़ने में न विलम्ब किया और न संकोच दिखलाया। गर्भ-भार से आक्रान्त सीता राजा राम के इस कार्य के औचित्य को अच्छी तरह समझ रही हैं, फिर भी उन्हें उलाहना देने में वह नहीं चूकतीं। वे लक्ष्मण से पूछती हैं कि 'क्या ऐसी विकट परिस्थिति में उनका परित्याग शास्त्र के अनुकूल है, या इक्ष्वाकुवंश की मर्यादा के अनुरूप है ? परन्तु फिर वह चेत जाती हैं कि 'राम कल्याणबुद्धि ठहरे, अपने प्रियपात्रों के कल्याण की कामना करनेवाले हैं। वे मेरे लिये किसी अकल्याण वस्तु की क्या कभी कल्पना कर सकते हैं ? अतः मेरे ही प्राचीन पातकों का यह जागरूक फल है।' धन्य है सीता की पति-भक्ति ! पति की अवहेलना तो दूर रहे, वह स्वयं कर्मवाद के सिद्धान्त पर आत्म-तुष्टि प्राप्त कर रही हैं।

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रमेयः॥

अतः अपने पापको दूर करने का एक ही साधन है, और वह साधन है तपस्या। अतः मैं इस तपस्या में अपने को संलग्न करने जा रही हूँ, जिससे मेरे पातक शीघ्र दूर हो जायँ, परन्तु सीता की एक विषादभरी प्रार्थना है—राम राजा ठहरे; मैं ठहरी एक तापसी, एकाकिनी तपस्विनी। कृपया एक सामान्य प्रजा की दृष्टि से ही वे मेरा ध्यान रक्खें। यही अन्तिम निवेदन है—'तपस्विसामान्यमवेक्षणीया।' जनकनन्दिनी की इस प्रार्थना में कितना ओज भरा है, कितनी करुणा भरी है, कितना आत्मत्याग छलक रहा है। भारतीय नारी का यही त्यागमय जीवन है। पति के कल्याण तथा मङ्गल के निमित्त आत्मनिषेध या आत्मसमर्पण ही 'नारीत्व' है। पुरुष की पूर्ति नारी के संगम में है। नारी के विना पुरुष का जीवन अधूरा है। विना नारी के सहयोग के वह अपने पुरुषार्थ में कृत-कार्य नहीं हो सकता। नारी पशु-प्रवृत्ति की प्रतीक नहीं है; वह तो दिव्य गुणों की प्रतिमा है, अलौकिक गुणों की मूर्ति है। इसीलिये हमारी तान्त्रिक पूजा में शक्ति या मुद्रा की महती उपयोगिता है।

नारी गार्हस्थ्य जीवन में—हमारा गार्हस्थ्य-जीवन भगवत्प्राप्ति का एक सोपान-मात्र है। भगवान् की प्राप्ति अनुराग से सुलभ है। भक्ति ही उस प्रियतम के पाने के लिये एक सुगम राजमार्ग है। कहने में यह जितना सरल है, करने में यह उतना ही कठिन है। प्रेमतत्त्व एक दुरूह तत्त्व है, जिसे यथार्थतः जानना उतना कठिन नहीं है जितना उसका आचरण में लाना। गार्हस्थ्य जीवन में हमें इसी प्रेम-तत्त्व की साधना सिखलायी जाती है। महाकवि भवभूति ने इस तत्त्व की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते॥

'यह प्रेम सुख में और दुःख में अद्वैत, अर्थात् एकाकार रहता है; समग्र अवस्थाओं में अनुकूल रहता है। इससे हृदय को विश्राम मिलता है। बुढ़ापा इसके रस को–आनन्द को–हरण नहीं कर सकता। समय के बीतने पर, बाहरी आवरण के हट जाने पर यह परिपक्व स्नेहसार में स्थित रहता है। वही यह कल्याणकारी—भद्र प्रेम है और वह किसी-किसी भाग्यशाली पुरुष को प्राप्त होता है।'

इस प्रेम को भगवदर्पण कीजिये, प्रभु अवश्य मिलेंगे। अपने भक्तों को अपने क्रोड में रखने तथा उसके संग में आनन्द मनाने के लिये वह लीलामय सदा तत्पर रहता है, परन्तु विषयरस के चाटने में ही जीवन बितानेवाला प्राणी उधर मुड़ता ही नहीं। जीव को भगवान् की ओर अनुरक्त करने का साधन है—नारी।

आलङ्कारिकों ने शब्दों के तीन प्रकार बतलाये हैं—**(क) प्रभु-सम्मित शब्द।** राजा की आज्ञा के अनुरूप शब्द, जिनका अक्षरशः पालन न्याय्य होता है। किसी प्रकार चूके नहीं कि तलवार के नीचे गला पड़ा। यह शब्द वेद है। **(ख) सुहृत-सम्मित शब्द।** मित्र के हितोपदेश के समान शब्द, जिनमें उचित-अनुचित दोनों मार्ग दिखलाये जाते हैं,

कोई जोर नहीं, जुल्म नहीं। मानना और न मानना आपके हाथ में——जैसे इतिहास पुराण। (ग) **कान्तासम्मित शब्द।** प्रियतमा के कमनीय वचन के समान शब्द, जो रसमय होने से शीघ्र ही हृदय पर प्रभाव डालते हैं। उनका उपदेश इतना प्रभावशाली होता है कि आप उसे मानने के लिये बाध्य हो जाते हैं——जैसे रसप्रधान काव्य। इस प्रकार साहित्य में 'नारी' का प्रभाव विशेष रूप से अभिव्यक्त माना गया है। वह शक्ति की मूर्ति है, प्रेम का अवतार है, अनुराग की वाटिका है, रस का उत्स है, हृदय-कली को विकसित करनेवाले प्रभात-वायु का हिलोरा है; मानस में आनन्द-लहरी उठानेवाला मन्द-मन्द प्रवाहित पवन है। संस्कृत-साहित्य ने नारी की शक्ति पहिचानी है और उसे उचित रूप से अभिव्यक्त भी किया है।

संस्कृत काव्य में प्रेम-भावना——संस्कृत काव्य अधिकांशतः प्रेममूलक होते हैं। मानव-जीवन को सरस बनानेवाली तथा उसे उदात्त मार्ग के ऊपर अग्रसर करनेवाली चित्तवृत्ति प्रेम ही तो है। संस्कृत के महाकवियों ने अपने काव्यों तथा नाटकों के लिए रागात्मिका भावना को उद्‌बुद्ध करनेवाले आख्यानों को चुना है। इसमें उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-प्रतिभा का साक्षात्कार हमें मिलता है। प्रेम के साथ नारी-सौन्दर्य भी अन्योन्य सम्वन्ध से संबद्ध रहता है। कवियों ने अपने लघुकथा-वृत्त को उपबृंहित करने के लिए काम की उद्दीपक सामग्री का प्रचुर उपयोग अपने काव्यों में किया है। इसके निमित्त सन्ध्या, सूर्योदय, प्रभात, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि उद्दीपक ऋतुदृश्यों के साथ ही साथ स्त्रियों की जलक्रीडा, नाना प्रकार की उद्दीपक कामचेष्टाओं का भी विवरण हमें इन काव्यों में प्राप्त है। 'कामशास्त्र' में प्रवीणता तथा विज्ञता का प्रदर्शन ही कविजनों का मुख्य उद्देश्य माना गया है। अनेक कवियों ने 'कामसूत्र' में वर्णित कामी जनों की ललित चेष्टाओं के प्रदर्शन के लिए ही अपने काव्यों के अनेक अंश का निर्माण किया है। इस तत्कालीन रुचि का अज्ञान ही इन वर्णनों के ऊपर अश्लीलता के दोषारोपण करने का मुख्य कारण है।

संस्कृत काव्यों के प्रेम-वर्णन का अपना वैशिष्टच है। संस्कृत कवियों की दृष्टि में प्रेम दिव्यलोक की वस्तु होने के साथ ही इस भूतल पर विचरणशील भौतिक पदार्थ है। संस्कृत कवि काम को मानव-जीवन को क्षुब्ध करनेवाली भौतिक क्षुधा के रूप में ग्रहण करता है और इसीलिए काम के इस शारीरिक प्रभाव का चित्रण करने में वह पराङ्मुख नहीं होता। नारी-सौन्दर्य का चित्रण भी हमारे कवियों का कलात्मक होता है। वे नारी को भोग्य वस्तु से ऊपर उठाकर कलाभिव्यक्ति का मुख्य साधन पदार्थ मानते हैं। लक्षण तथा लक्ष्य ग्रन्थों में उभयत्र यही कलात्मक भावना सर्वत्र समादृत तथा संस्कृत की गई है। इस साहित्यिक वैशिष्टच तथा तत्कालीन लोकरुचि का विश्लेषण विना किये ऐसे वर्णनों की आधुनिक नियमों से समीक्षा करना तथा उन्हें अश्लील बतलाना ऐतिहासिक भूल है।

सदाचार के विषय में प्रत्येक देश तथा काल का एक निजी मापदण्ड होता है और उसी के सहारे उस देश तथा उस युग की साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। संस्कृत कवियों के इस प्रेमवर्णन को बीसवीं सदी के पाश्चात्त्य मापदण्ड से मापना उसी प्रकार अनुचित होगा जिस प्रकार भारतीयदृष्टि से शेक्सपीयर के नाटकों में

वर्णित प्रेम दृश्यों में कामुकता तथा अश्लीलता की उद्भावना। संस्कृत के आलोचक-प्रवर रुद्रट ने स्पष्ट ही लिखा है[१] कि किसी कवि को परदारा की न तो स्वयं अभिलाषा करनी चाहिए और न उसका उपदेश ही दूसरों के लिये करना चाहिए, परन्तु उसके चरित्र का चित्रण तथा रूप का वर्णन कर्तव्य दृष्टि से ही करना चाहिए। अतः संस्कृत का कवि नारी के रूप का वर्णन तथा प्रेम का चित्रण इस उदात्त भावना से प्रेरित होकर ही करता है। ऐसी दशा में उसके ऊपर अश्लीलता का आरोप एकदम मिथ्या है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत काव्यों में प्रेम के स्वरूप का बोध दो प्रकार से होता है— रूढ़िग्रस्त और सहज प्रतिभाजन्य। **रूढ़िग्रस्त प्रेम** का चित्रण भारवि तथा माघ के महा-काव्यों में उपलब्ध होता है। इनका प्रेम-वर्णन रूढ़िबद्ध होने पर भी न तो अनुचित है और न अप्रासंगिक। इसके स्वरूप के औचित्य का निर्णय तत्कालीन सामाजिक रुचि, वातावरण, शिक्षा-दीक्षा तथा आचार-विचार के ऊपर ही किया जा सकता है। संस्कृत काव्यों की सृष्टि राजदरबारों में हुई; जहाँ शिष्टता, सभ्यता और उच्च शिक्षा का प्राधान्य था। नागरिक रुचि भी सुसंस्कृत थी। कामशास्त्रीय अनेक तथ्यों का काव्यों में समावेश पाने का यही रहस्य है। संस्कृत काव्य का श्रोता सुसंस्कृत, कलाप्रवीण नाग-रिक होता था, जिसके चित्त-विनोद के निमित्त कामशास्त्रीय तथ्यों का उद्घाटन कविजनों के लिए आवश्यक होता था। यह सब होने पर भी काव्य में प्रेमाभिव्यंजना सौन्दर्य तथा कला की सीमा के भीतर पूर्ण औचित्य के साथ नियोजित की गई है। भारतीय समाज की सदाचार-सम्पन्नता ने प्रेम-वर्णन में अश्लीलता के लिए कभी अवसर तथा प्रश्रय नहीं दिया। अगस्टन युग के रोमन कवियों के रीति-ग्रन्थ में अश्लील तथा कामुक प्रेम का वर्णन संस्कृत कवियों के काव्यों में खोजने पर भी नहीं मिलेगा। इसके लिए तो उस समय का वैभव-सम्पन्न, कुरुचिपूर्ण रोमन समाज ही एकमात्र उत्तरदायी है। **सहज प्रतिभाजन्य** प्रेम का दर्शन हमें वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्यों में होता है, जिसमें साधना के सहारे दोषपूर्ण काम भी पूर्ण विशुद्ध और परिष्कृत प्रेम के रूप में परिणत हो गया है।

संस्कृत साहित्य में राष्ट्रियता

सामान्य रीति से समझा जाता है कि राष्ट्रीय भावना की कल्पना विदेशों की उपज है और अंग्रेजों के इस देश में आने पर उन्हीं के सम्पर्क में इस पवित्र भावना का उदय भारतवर्ष में हुआ, परन्तु यह मान्यता एकदम भ्रान्त है। देश-प्रेम, देशोन्नति तथा राष्ट्रीय समुदय की भावना संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में पूर्ण रीति से विकसित है। संस्कृत साहित्य ही स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक चिन्तन की पूर्ण अभिव्यक्ति है। संस्कृत साहित्य के उद्गम का युग भारतवर्ष की पूर्ण स्वतन्त्रता का काल है, जब भारतवर्ष विश्वभर में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा था, जब इसके अदम्य उत्साही सन्तान अपनी भुजाओं के बल पर भारतीय संस्कृति की पताका सर्वत्र फैला रहे थे तथा जब इसका 'विश्वबन्धुत्व' का संदेश संसार के सभ्य मानवों तथा जातियों को भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर कर रहा था।

---

१. नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।

सच पूछिये तो संस्कृत साहित्य से इस विषय में तुलना करने पर भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में निबद्ध साहित्य बहुत ही फीका तथा प्रभावहीन प्रतीत होगा, क्योंकि वह तो पराधीनता के युग की अभिव्यक्ति है और यही कारण है कि इन साहित्यों में भौतिक जीवन के प्रति वह उल्लास, भविष्य की ओर वह आशावाद तथा आध्यात्मिक जीवन की ओर वह हार्दिक अनुराग दृष्टिगोचर नहीं होता, जो संस्कृत-साहित्य की निजी सम्पत्ति है। फलतः संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रमण्डल की भावना, एक राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र को जीवित इकाई जानने की बुद्धि पूर्ण रूप से पायी जाती है।

वैदिक युग से ही यह कल्पना बद्धमूल है कि भारतीय आर्य "सप्त-सिन्धु" प्रदेश के ही निवासी हैं, कहीं बाहर से आकर यहाँ बसने वाले जीव नहीं हैं। फलतः इस मातृ-भूमि के प्रति उनकी अनुरक्ति होना स्वाभाविक ही है। वेद में यह पृथ्वी माता के रूप में, देवता के रूप में वर्णित है। प्राचीनतम द्योतमान देव दो ही हैं--एक तो है हमारे ऊपर प्रकाशमान आकाश, जो पितृदेव है तथा दूसरा है प्राणियों को आश्रय देनेवाली पृथ्वी, जो मातृ-रूपा मानी जाती है। वैदिक आर्यों के ये ही दोनों प्राचीनतम देव हैं। माता-पिता की यह युग्म कल्पना 'द्यौष्पितर' तथा 'पृथ्वी माता' के रूप में हमें वेदों के मन्त्रों में बहुशः उपलब्ध होती है। इस उदात्त कल्पना का प्रथम दर्शन हमें ऋग्वेद के ही मन्त्रों में मिलता है। कुछ मन्त्रों को लीजिये--

> द्यौर्मे पिता जनिता--(ऋग्वेद १।१६४।३३)
> द्यौर्नः पिता जनिता--(अथर्व ९।१०।१२)
> द्यौर्मे पिता पृथ्वी मे माता--(काठक संहिता ३७।१५।१६)
> इयं मे नाभिरिह मे सधस्थम्--(ऋग्वेद १०।६१।१९)

अथर्ववेद का **पृथ्वी-सूक्त** तो वैदिक आर्यों के राष्ट्र-प्रेम का समुज्ज्वल प्रतीक है। इस पूरे सूक्त (अथर्व १२ काण्ड, १ सूक्त) में पृथ्वी के स्वरूप का जो साहित्यिक वर्णन है वह आर्यों की देश-भक्ति का सरस परिचायक है। पृथ्वी की महिमा का यह महनीय विवरण स्वातंत्र्य के प्रेमी तथा स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्गार है। इस सूक्त के ऋषि ने ६३ मन्त्रों में मातृरूपिणी भूमि को समग्र पार्थिव पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में उद्घोषित किया है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने और सुख-सम्पत्ति की वृष्टि करने के लिये भव्य प्रार्थना की है। एक-दो दृष्टान्तों से इस माहात्म्य को परखिये--

> यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
> इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः॥
> सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।

अर्थात् जिसे अश्विन ने नापा, जिस पर विष्णु ने अपने पादप्रक्षेपों को रखा, जिसे सामर्थ्य के स्वामी इन्द्र ने अपने वास्ते शत्रुओं से रहित बनाया, वह भूमि मुझे इसी प्रकार दूध दे जिस प्रकार माँ अपने बेटे को दूध पिलाती है। एक दूसरे मन्त्र में पृथ्वी के ऊपर मानवों के नाचने-गाने, कूदने-फाँदने और लड़ने-भिड़ने का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है।

जहाँ युद्ध के समय सैनिकों का गर्जन होता है तथा नगाड़ा बजता है, वह पृथ्वी हमारे सब शत्रुओं को भगा डाले और हमारे शत्रुओं का नाश कर हमें शत्रुविहीन कर दे—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां नदति दुन्दुभिः ।।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्
असपत्नं मां पृथिवी कृणोतु ।। (मन्त्र ४१)

कितना उल्लासमय उद्गार है वैदिक ऋषि का और कितनी आशा है भौतिक जीवन को सुखमय बनाने की। वैदिक आर्य सर्वदा भौतिक जीवन को सुन्दर, सुखमय तथा उपयोगी बनाने की प्रार्थना अपने इष्ट देवताओं से किया करता था। जिस पृथ्वी पर उसका निवास था तथा जो उसके भोग-विलास और सुख-समृद्धि की जननी थी उसे पूजनीया माता के समान आदर की दृष्टि से देखना नितान्त स्वाभाविक था।

ऋग्वेद का नदी-सूक्त (१०।७५) अपने देश की पवित्र नदियों के प्रति उच्च आग्रह, हार्दिक अनुराग तथा प्रगाढ़ प्रेम का प्रतिनिधित्व करता है। इस मन्त्र में गंगा-यमुना का प्रथमतः उल्लेख इसका स्पष्ट प्रतीक है कि ये नदियाँ ऋग्वेदीय युग में भी पवित्रता की दृष्टि से देखी जाती थीं।

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जिकीये श्रृणुह्या सुषोमया ।।

इस सूक्त के अन्य मन्त्रों में भारतवर्ष की नदियों के नाम हैं और उनसे ऋषि कामना-पूर्ति के लिए विनय कर रहा है। फलतः वैदिक आर्यों की दृष्टि में ये नदियाँ कोई निर्जीव केवल जलमयी वस्तुयें नहीं थीं, प्रत्युत वे कल्याण करनेवाली सजीव देवता थीं और इसलिए उनसे प्रार्थना सुनने तथा कामना पूरा करने के लिए इतना आग्रह किया गया है। आर्य देश की एकता तथा अखण्डता की इससे बढ़कर शोभन कल्पना क्या की जा सकती है ?

पुराणों का प्रामाण्य––पुराणों में यह राष्ट्र-भावना और भी मुखरित होती है तथा राष्ट्र के एकत्व और देश-भक्ति का सरस राग स्पष्टतः सुनायी पड़ता है। प्रत्येक पुराण भारतवर्ष को एक इकाई के रूप में मानता है तथा इसके विभिन्न प्रान्तों, नदियों, पर्वतों, सरोवरों, तीर्थों, आश्रमों तथा नगरों का बड़ा ही विशद और यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करने में वह सर्वदा जागरूक रहता है। इसलिए प्रत्येक पुराण में "भुवनकोष" का विषय वर्ण्य विषयों में सम्मिलित किया गया है। भारतवर्ष की अखण्डता तथा देश-प्रेम का यह राग विष्णुपुराण तथा भागवत के प्रख्यात पद्यों में बड़ी सुन्दरता से अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। देवता लोग भारतवासियों की धन्यता के गीत गाते हैं, क्योंकि यह भारत देश स्वर्ग तथा मोक्ष पाने का सुखद पन्था है, और देवता होने के बाद भी यहाँ जन्म लेकर मानव अपने परम कल्याण का सम्पादन करता है (विष्णुपुराण २।३।२५)—

गायन्ति देवाः खलु गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

भागवत के शब्दों में तो स्वर्गलोक में कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारतवर्ष में क्षण भर की आयु पाना श्रेयस्कर है, क्योंकि इस कर्मभूमि के ऊपर क्षणभर में किये गये कर्मों का संन्यास कर मानव भगवान् नारायण के अभयपद को सद्यः प्राप्त कर लेता है—

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥

(भाग० ५।१९।२३)

भारतवर्ष में जन्म लेना देवताओं की भी ईर्ष्या का विषय है। देवता लोग भारत में जन्म लेने के लिये तरसा करते हैं और भारतवासियों के शोभन कर्मों की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते हैं कि भारतवासियों के ऊपर तो स्वयं भगवान् ही प्रसन्न रहते हैं। भारत के प्रांगण में जन्म लेना मुकुन्द की सेवा का मुख्य उपाय है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और इसलिये भारत में उत्पन्न होने के लिए हमारी भी स्पृहा है—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥

(भाग० ५।१९।२१)

पूजा के अवसर पर धार्मिक कृत्यों के विधान-प्रसंग में भी राष्ट्रीय भावना की पर्याप्त अभिव्यक्ति होती है। संकल्प के विधान का क्या रहस्य है ? संकल्प के अवसर पर प्रत्येक उपासक अपने सामने अखण्ड भारत का भौगोलिक चित्र प्रस्तुत करता है। वह अपने स्नान या दान के संकल्पवाक्य में देश, काल, कर्ता तथा कर्म इन चारों वस्तुओं का एक साथ योग देकर अपने आपको बृहत्तर भारत का एक प्राणी बतला कर गर्व का अनुभव करता है। वह जानता है कि वह जिस अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में भागीरथी में स्नान कर रहा है, वह जम्बूद्वीप के भरतखण्ड तथा भारतवर्ष के 'कुमारिका खण्ड' के अन्तर्गत विद्यमान तीर्थ है। भारतवर्ष को ही गुप्तकाल में 'कुमारद्वीप' की संज्ञा प्रदान की गयी थी, क्योंकि भारतवर्ष की लम्बाई दक्षिण में 'कन्याकुमारी' से लेकर उत्तर में गंगा के उद्गम स्थान तक मानी जाती थी—**आयामस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः।**

(मत्स्य० ११४।१०)

स्नान के समय जिस क्षण स्नानार्थी भारत की सप्त सिन्धुओं से अपने जल में समावेश के लिये इस मन्त्र में प्रार्थना करता है, उस समय उसके मानस-पटल पर भारतवर्ष के अखण्ड रूप का चित्र प्रस्तुत हो जाता है—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

पूजा के समय उपयुक्त वस्त्र के विधान से भी स्पष्ट है कि भारत में खद्दर का प्रचार प्राचीन काल से था; क्योंकि शास्त्र का आदेश था कि जो वस्त्र उस समय पहना जावे, उसे न तो जला होना चाहिये, न मूषक के द्वारा दूषित होना चाहिये, न सिला हुआ होना चाहिये, न पुराना होना चाहिये, इसके अतिरिक्त उसे विदेश में न बनकर स्वदेश में ही बना होना चाहिये। धर्मशास्त्र के प्रणेताओं का यह विशेष आग्रह है कि पूजा के अवसर पर स्वदेशी वस्त्र ही पहने जायँ। उस युग में बाहर से वस्त्रों का आना भले ही सिद्ध हो, पर

धार्मिक अवसरों पर स्वदेशी तथा स्वकीय वस्त्र ही पहने जाते थे। फलतः भारत में स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार प्राचीन काल से चला आता है। धर्मशास्त्रीय श्लोक यह है—

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद् विचक्षणः॥

इस प्रकार धर्मशास्त्र में भारतवर्ष अखण्डता, स्वदेशी वस्त्र (खद्दर) का धारण तथा सप्त-सिन्धुओं का मांगलिक स्मरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धार्मिक विधि-विधानों में भी राष्ट्रीय भावना का भव्य प्रसार था।

कालिदास का प्रामाण्य—कालिदास हमारे भारतवर्ष के महनीय राष्ट्रीय कवि हैं। अतः उनके काव्यों में देश-प्रेम की भव्य भावना की सत्ता मिलने पर हमें आश्चर्य नहीं होता। कालिदास उज्जयिनी के महाकाल के उपासक थे और इसलिए शिव की पूजा-अर्चना के प्रति उनका आग्रह रखना स्वाभाविक ही है। कालिदास ने शंकर की अष्ट-मूर्तियों का उल्लेख अपने काव्य तथा नाटकों में अनेक बार किया है। शाकुन्तल की नान्दी में भगवान् शिव के प्रत्यक्ष दृश्य मूर्तियों का क्रमबद्ध निर्देश है। मालविकाग्निमित्र की नान्दी में भी अष्टमूर्ति का संकेत है—"अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः।" इसी प्रकार कुमारसम्भव (६।७६) में भी इनका उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास ने शिव की अष्टमूर्तियों को उपासना के प्रति अपना विशेष आग्रह दिखलाया है। इसका रहस्य क्या है?

इन मूर्तियों के नाम हैं—सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश। इन मूर्तियों के प्रतीक शिवलिङ्गों का स्थापन भारतवर्ष के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक उपलब्ध होता है। इनमें यजमान की मूर्ति का प्रतीक शिवलिङ्ग नेपाल में पशुपतिनाथ माने जाते हैं तथा सबसे दक्षिण में चिदम्बरम् स्थान में आकाशमूर्ति का प्रतिनिधि शिव-लिङ्ग विराजमान है। इसी प्रकार चन्द्रमूर्ति के प्रतीक दो शिवलिङ्ग विद्यमान हैं—एक तो प्रख्यात सोमनाथ का ऐतिहासिक शिवलिङ्ग गुजरात में विद्यमान है तथा दूसरा चन्द्रनाथ का शिवलिंग चट्टग्राम (चटगाँव) में विराजमान है। इसी प्रकार अन्य मूर्तियों के प्रतीक रूप शिवलिंग भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं जिनका वर्णन पुराणों में दिया गया है। इस प्रकार नेपाल के पशुपतिनाथ से लेकर दक्षिण के चिदम्बरम् तक तथा पश्चिम में सोमनाथ से लेकर पूरब में चन्द्रनाथ (चटगाँव जिला, बँगला देश) तक भगवान् शंकर की मूर्तियाँ स्थापित पायी जाती हैं। अतः इन अष्टमूर्तियों के धारण-कर्ता शंकर की स्तुति कालिदास के हृदय में अखण्ड भारत की उज्ज्वल परिचायिका है। यह कवि समस्त भारत को एक अखण्ड अविभाज्य रूप में मानता तथा जानता है।

इतना ही नहीं, वह भारतवर्ष के भालस्थल पर विराजमान हिमालय का प्रशंसक कवि है। ऐसा कौन सच्चा भारतीय कवि होगा जिसके हृदय में हिमालय अपनी सुन्दरता, उदारता तथा भव्यता के कारण प्रकृष्ट प्रभाव नहीं जमाता? कालिदास की कविता में हिमालय अपने पूर्ण वैभव के साथ विलसित है। रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, शाकुन्तल में तो प्रसंगवश हिमालय विराजमान है, परन्तु कुमारसम्भव तो हिमालय के सौन्दर्य तथा

शोभा का ही कमनीय काव्य है। वहाँ हिमालय एक निर्जीव प्रस्तर-खण्ड न होकर सजीव देवतात्मा है, जिसके हिमाच्छादित कैलाश के ऊपर भूतभावन भगवान् शंकर, पार्वती के साथ अपनी अखण्ड तपस्या में निरत चित्रित किये गये हैं। कालिदास की प्रतिभा के आलोक में हिमालय का वह चित्र प्रकाशित होता है जिसकी पवित्रता, उदारता तथा प्रभा से भारतीय संस्कृति सद्यः आलोकित हो उठती है। कालिदास हिमालय के वैज्ञानिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक—इन समस्त रूपों का सांकेतिक परिचय देते हैं। जिस हिमालय का भौतिक रूप इस श्लोक में चित्रित है (कुमार० १।५)—

आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते श्रृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥

वही हिमालय धातु-रूपी लाल होठों, देवदारु-रूपी बाहुओं तथा शिलारूपी वक्षःस्थल को धारण करने वाला एक महनीय जंगम पुरुष के रूप में भी अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है इस पद्य में (कुमार० ६।५)—

धातुताम्रधरः प्रांशुर्देवदारु बृहद्भुजः ।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में भारतीय राष्ट्र की उन्नत कल्पना के दर्शन हमें नाना युगों में प्राप्त होते हैं। राष्ट्र की अभ्युन्नति के निमित्त शुक्ल-यजुर्वेद के एक मन्त्र में राष्ट्र में विभिन्न अंगों की अभिवृद्धि के लिये जो सुन्दर प्रार्थना उपलब्ध है वह आज भी—इतनी शताब्दियों के बीतने पर भी—उसी प्रकार अभिनन्दनीय है जिस प्रकार उस वैदिक युग में। आज स्वतन्त्र भारत की यही सांस्कृतिक प्रार्थना होनी चाहिये।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।

हे भगवन्! हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्राह्मतेज से सम्पन्न हों। क्षत्रिय शूरवीर, वाण चलाने में कुशल, शत्रुओं का संहार करनेवाले तथा महारथी उत्पन्न हों। धेनु दूध देने वाली हो। बैल बोझा ढोनेवाला हो। घोड़ा शीघ्रगामी हो। नारी सुन्दर गात्रवाली तथा रमणीय गुणवाली हो। रथ पर बैठकर समरांगण में उतरने वाला योद्धा विजयी बने। युवा सभा में बैठने की योग्यता रखनेवाला हो, अर्थात् सभ्य-शिष्ट, गुणी और विजयी हो। हमारे राष्ट्र में आवश्यकता के अनुसार मेघ वृष्टि दे। हमारी ओषधियाँ फलयुक्त हों तथा समय पर पक्व हों। हमारा योगक्षेत्र सदा सम्पन्न हो, अर्थात् अलभ्य वस्तु का लाभ हो तथा लभ्य वस्तु की ठीक-ठीक वृद्धि हो।

इस वैदिक मन्त्र में जिस आदर्श का चित्र प्रस्तुत किया गया है। वह नितान्त श्लाघनीय तथा अनुकरणीय है। वैदिक ऋषि की दृष्टि राष्ट्र के प्रत्येक अंग पर पड़ती है पशुओं से लेकर युवकों तक। वह प्रत्येक पदार्थ के अभ्युदय की कामना करता है। हमारे युवकों को

इस मन्त्र के 'सभेयो युवा' वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। 'सभेय' शब्द की व्युत्पत्ति है—सभायां साधुः सभेयः। सभा में निपुण होना ही युवक की भूयसी विशिष्टता है। सभा में ठीक ढङ्ग से बैठना-उठना, उसके नियमों से परिचित होना, अनुशासन मानना, बोलने की कला का पारखी बनना आदि अनेक विशिष्ट गुणों की सत्ता का संकेत 'सभेय' शब्द में विद्यमान है। वैदिक 'सभेय' शब्द का प्रतिनिधि शब्द लौकिक संस्कृत का 'सभ्य' शब्द है। इस प्रकार सभ्य बनने की मुख्य पहिचान है सभा में निपुण होना और यही सभ्यता का मुख्य आधार है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत के कवियों की मनोरम वाणी में भारत की राष्ट्रीयता का अपूर्व सन्देश उल्लसित होता है। वे भारत को एक राष्ट्र ही नहीं मानते, प्रत्युत उसे स्वर्ग से भी बढ़कर मानते हैं। कर्मभूमि भारत भोगभूमि स्वर्ग से निःसन्देह महनीय, विशाल तथा महत्तम है—इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन संस्कृत काव्यों में विशदता के साथ किया गया है।

संस्कृत साहित्य में विश्वबन्धुत्व की परिकल्पना

संस्कृत साहित्य की यह एक अनोखी विशेषता है कि वह मानवमात्र के लिए कल्याण की भावना को अग्रसर करता है। संकीर्ण स्वार्थ को ही मानव जीवन का चरम पुरुषार्थ माननेवाले पाश्चात्त्य देशों के साहित्य में जो एकांगिता विद्यमान है, वह संस्कृत साहित्य को स्पर्श नहीं करती। कारण इसका स्पष्ट है। साहित्य संस्कृति का अग्रदूत है। साहित्य संस्कृति का वाहन है। समाज की भावना को दर्पणवत् प्रतिबिम्बित करनेवाला साहित्य कितना भी आदर्शवादी हो, वह यथार्थता का चित्रण किये बिना नहीं रह सकता। उसकी व्याप्ति राष्ट्र की परिधि के द्वारा नियन्त्रित होतीं है। वह उस देश के प्राणियों में परिव्याप्त भावना को सर्वथा उल्लंघन करने की क्षमता नहीं रखता। पश्चिम के देश संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना से जकड़े हुए हैं। फलतः उनके साहित्य में उस संकीर्णता का ही परिचय हमें पदे-पदे मिलता है। वहाँ के साहित्यिक अपने राष्ट्र की चहारदिवारी के भीतर अपने को सीमित रखते हैं। इसलिए उनकी वाणी राष्ट्रीयता के परिबृंहण में लगी रहती है। इससे विपरीत, संस्कृत के कविजन उदारता का आश्रय लेकर संकीर्णता को अपने पास फटकने नहीं देते। फलतः संस्कृत का साहित्य विश्वबन्धुत्व की भावना से सर्वथा परिव्याप्त है।

वैदिक प्रार्थना में समष्टि भावना का पूर्ण साम्राज्य विराजमान है। वैदिक ऋषि व्यष्टि के कल्याण के लिए जगदीश्वर से प्रार्थना नहीं करता, प्रत्युत वह समग्र समष्टि के मंगल के लिए आशीर्वाद चाहता है। वह व्यक्ति तथा समाज से ऊपर उठकर समस्त विश्व के सुख-समृद्धि तथा मंगल के निमित्त ही प्रार्थना करता है। मन्त्रों का प्रामाण्य इस विषय में अक्षुण्ण है (यजु० ३०।३)—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

हे देव सविता, समस्त पापकर्मों को हमसे दूर करो। हमारे लिए जो भद्र वस्तु—कल्याणकारी पदार्थ हो, उसे हमें प्राप्त कराइये।

विश्वशान्ति, और विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावना से ओत-प्रोत वैदिक मन्त्रों में मानवमात्र में परस्पर सौहार्द, मैत्री तथा साहाय्य की भावना की उपलब्धि नितान्त स्वाभाविक है––(यजु० ३६।१८)

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।

मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखूं । हम सब लोग मित्र की दृष्टि से परस्पर में एक दूसरे को देखें ।

मानवमात्र का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह एक दूसरे की सर्वथा रक्षा तथा सहायता करे । केवल अपने ही स्वार्थ में उसे निविष्ट नहीं रहना चाहिए । इस भाव को द्योतित करता हुआ ऋग्वेदीय मन्त्र कहता है––

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः ।

वैदिक ऋषि भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह मानवमात्र के लिए सुमति–सद्भावना धारण करे उन प्राणियों के प्रति ही नहीं, जिन्हें वह देखता है, प्रत्युत उनके लिए भी, जो उसकी दृष्टि से ओझल हैं जिन्हें वह नहीं देखता––(अथर्व १७।१।७)

याँश्च पश्यामि याँश्च न ।
तेषु मा सुमतिं कृधि ।।

कितनी उदात्त भावना है यह । सामान्यतः हम उन्हीं के कल्याण की कामना करते हैं, जिन्हें हम देखते हैं अपनी आँखों से; परन्तु वैदिक ऋषि यहीं तक अपनी प्रार्थना को सीमित नहीं रखता, प्रत्युत वह निखिल विश्व के अदृष्ट प्राणियों के भी प्रति वह भावना रखने का नम्र निवेदन करता है ।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में विशिष्ट सूक्त हैं जिनकी संज्ञा है सांमनस्य सूक्त । इनमें विशेष रूप से विश्व-कल्याण की भावना परिव्याप्त है । इस विषय के एक दो मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं––

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे स जानाना उपासते ।।

इस मन्त्र का तात्पर्य बड़ा गम्भीर है । हे मनुष्यों, जैसे सनातन से विद्यमान दिव्य-शक्तियों से सम्पन्न सूर्य चन्द्रादि देव परस्पर अविरोध भाव से, प्रेम से अपने कार्यों को करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त हो, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव से रहो !

ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र इसी भावना को अग्रसर करता है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

मानवों को लक्ष्य कर आंगिरस संवनन ऋषि का उपदेश इस मन्त्र में निहित है। वह कहते हैं कि मानवों की आकूति––चित्तवृत्ति, हृदय तथा मन––सब समान हों तभी विश्व के प्राणी परस्पर में सौहार्द से निवास कर सकते हैं । अतः ऋषि केवल अपने

वैयक्तिक मंगल के लिए भगवान् से प्रार्थना नहीं करता, प्रत्युत वह मानव मात्र के हित का प्रार्थी है।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह अपना है और यह पराया है ऐसी गणना क्षुद्र चित्त वाले प्राणियों की है। उदार चरित वाले जनों की दृष्टि में तो यह समस्त वसुधा ही एक कुटुम्ब है। विश्व भावना की अभिव्यक्ति इससे बढ़कर सुन्दर शब्दों में नहीं की जा सकती। इस श्लोक के तात्पर्य के भीतर एक गहरी अनुभूति है। आजकल यातायात की सुविधा से यदि एक देश का मानव दूसरे देश के मानव के प्रति आवश्यकता के पाश में बद्ध होकर आकृष्ट होता है, तो इसे हम समझ सकते हैं। परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि ऐसी सुविधाओं से विरहित प्राचीन काल में भारत के निवासी विश्वबन्धुत्व की भावना में विश्वास ही नहीं करते थे, प्रत्युत अपने दैनन्दिन जीवन में उसका व्यवहार भी करते थे।

भारत के निवासी आर्यजन का जीवन विश्वबन्धुत्व का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है। प्रत्येक गृहस्थ 'बलि-वैश्वदेव' के अनुष्ठान के उपरान्त ही स्वयं भोजन करता है। यह बलि विश्व के समस्त देवताओं के ही लिए अन्न द्वारा तृप्ति की साधिका नहीं है, प्रत्युत पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि के जीवों को भी भोजनार्थ अन्न देने का विधान यहाँ पाया जाता है। इसी प्रकार श्राद्ध के अवसर पर ऋषियों, मानवों तथा स्वीय पूर्वजों की ही जल द्वारा तृप्ति नहीं की जाती, प्रत्युत नाग, सर्प आदि क्षुद्र जीवों को भी जलाञ्जलि देकर तृप्ति पहुँचाने का सार्वभौम नियम है। यह तर्पण प्रतिदिन विहित अनुष्ठान है, इससे प्रत्येक मानव अपने को संसार के समस्त प्राणियों के साथ सम्पर्क स्थापित कर विश्वबन्धुत्व की साकार उपासना करता है।

इस विश्वबन्धुत्व की भावना का एक गम्भीर दार्शनिक पक्ष भी है। यह समग्र विश्व परमैश्वर्य-मण्डित सत्य ज्ञान अनन्त पर ब्रह्म का ही तो विवर्त है। जगत् के जीव पर ब्रह्म के ही अंशभूत होने पर भी तद्रूप ही है। जगत् के भीतर एक ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर रमा हुआ है––अपनी अलौकिक घटनापटीयसी माया के कारण सर्वत्र व्याप्त है। विश्व का प्रत्येक अणु उसी की अमल शक्तिमत्ता का विजय घोष करता है। विश्व के समस्त जीव उसी परमपिता की सन्तान हैं। ऐसी दशा में उनमें पारस्परिक बन्धुत्व की भावना परिस्फुरित न होगी? यह कौन सचेता विश्वास कर सकता है। यह अद्वैत-सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। फलतः इस संस्कृति के परिवहन करने-वाले संस्कृत साहित्य में इस भावना का साङ्गोपाङ्ग रूप उपलब्ध होता है––यह कथन पुनरुक्ति मात्र है। हमारे संस्कृत के काव्यों में तथा रूपकों में यह भावना बड़ी स्फुटता से अपनी अभिव्यक्ति पा रही है। इसलिए प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान की समाप्ति पर साधक पुरुष अपना आदर्श इस प्रसिद्ध श्लोक के द्वारा प्रकट करता है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

इस विश्व में सब प्राणी सुखी हों, सब लोग रोग से आक्रान्त न हों, सब प्राणी कल्याण की उपलब्धि करें, कोई प्राणी दुःख का भाजन न हो।

ऐसे उदात्त विश्वबन्धुत्व की भावना की, व्यवहार तथा विचार उभय पक्षों में, सुन्दर अभिव्यक्ति संस्कृत साहित्य की निजी विशिष्टता है।

(२) संस्कृत काव्य का आरम्भ तथा उदय

भारतीय काव्य के निर्माण की पूर्ण प्रेरणा कवियों को रामायण तथा महाभारत जैसे महनीय राष्ट्रीय महाकाव्यों के अध्ययन से प्राप्त हुई; इसमें संशय करने का स्थान नहीं है। रामायण तथा महाभारत के पाश्चात्त्य पद्धति से एपिक के अन्तर्गत होने पर भी उनकी रचना शैली तथा विषय की विवेचना में नितान्त पार्थक्य है, जिसका संकेत पिछले अध्याय में विशेष रूप से दिया गया है। भारतीय महाकाव्य के विकास में वेद से भी परम्परया स्फूर्ति-प्राप्ति का संकेत हमें यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। वेदों में देवस्तुति के अतिरिक्त तत्कालीन दानशील उदार राजाओं की श्लाघनीय स्तुतियाँ भी उपलब्ध होती हैं, जिन्हें **'नाराशंसी'** के नाम से अभिहित करते हैं। प्रभूत दान के कारण प्रत्युपकार की भव्य भावना से प्रेरित मन्त्रों को 'दानस्तुति' की संज्ञा प्राप्त है। ऋग्वेद में (५।६१) श्यावाश्व ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा तरन्त तथा उनकी विदुषी महिषी शशीयसी के दान की खूब प्रशंसा की है। अथर्ववेद राजा परीक्षित के राज्यकाल में अनुभूयमान सौख्य की विपुल प्रशंसा में कतिपय मन्त्रों का उल्लेख करता है (२०।१२७)। संहिता, विशेषतः ब्राह्मणों में, प्राचीन कीर्ति-सम्पन्न राजाओं के विषय में अनेक ग्राह्य गाथायें भी उद्धृत की गई हैं, जिनमें प्राचीन ऐतिहासिक राजाओं के जीवन की किसी विशिष्ट घटना का साहित्यिक उल्लेख हमें प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप तथा ऐन्द्र महाभिषेक वाले अंशों में भी ऐसी मान्य गाथायें भूरिशः उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार के उपकरणों की सत्ता होने पर भी कविजनों ने इनका विशेष उपयोग अपने काव्यों में नहीं किया। केवल कवि-मूर्धन्य कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक में ऋग्वेदीय उर्वशी-पुरुरवा के संवाद को साहित्यिक काया प्रदान कर स्वीकृत किया, परन्तु मुख्यतया रामायण तथा महाभारत ही संस्कृत के श्रव्य तथा दृश्य काव्यों के अक्षय स्रोत हैं तथा संस्कृत गीति-काव्यों का मूल आधार श्रीमद्भागवत की मनोरम गीतियाँ हैं। अतः इन तीनों को हमने इसीलिए 'उपजीव्य काव्य' की कोटि में परिगणित किया है।

कतिपय पाश्चात्त्य विद्वानों की धारणा है कि प्राकृत-काव्य संस्कृत काव्य को उत्तेजना देनेवाला प्राचीनतम काव्य है, जिसका अनुवाद करके ही संस्कृत भाषा में काव्यों का जन्म हुआ। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक है और इन विद्वानों के केवल प्राकृत भाषा के पक्षपात का ही एकमात्र द्योतक है। साहित्य-जगत् में प्राकृत काव्यों का उदय न तो इतना प्राचीन है और न उनके संस्कृत में अनुवाद की बात का अब तक कोई निःसन्दिग्ध प्रमाण या पुष्ट आधार ही प्राप्त हुआ है जिससे पूर्वोक्त कथन की सत्यता किसी प्रकार मान्य हो सके। अत एव यह मत अब त्याज्य कोटि में ही अपना उल्लेख पा सकता है।

काव्य का पुनर्जागरण—संस्कृत काव्य के उत्थान तथा विकास के प्रसंग में मैक्समूलर का 'काव्य का पुनर्जागरण' (रिनेसाँ) का सिद्धान्त सर्वथा खण्डित तथा त्याज्य होने

पर भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विक्रम की आरम्भिक चार शताब्दियों में विदेशी शकों के प्रबल आक्रमणों के कारण भारत की अन्तरंग दशा नितान्त अशान्त थी, राजनीतिक वातावरण एकदम क्षुब्ध था, जिसके कारण काव्य पनप नहीं सका। साहित्य-रचना के लिए आवश्यक शान्त वातावरण की छाया भी इस युग में दृष्टिगोचर नहीं होती। फलतः यह अन्धकारमय युग संस्कृत काव्य की घोर निशा का काल है और इस निशा का भंग तथा कल्पना का मंगलमय प्रभात तब उदित हुआ, जब गुप्त साम्राज्य के वैभव का सूचक शंखनाद उद्घोषित हुआ। अतः गुप्तकाल में ललितकला का अभ्युदय सम्पन्न होने से संस्कृत काव्य का पुनर्जागरण मानकर मैक्समूलर ने विक्रम की आदिम शताब्दियों को कविता के अभाव का युग माना था।

परन्तु प्रकाशित शिलालेखों के गहरे अध्ययन से यह सिद्धान्त पूर्णतया भ्रान्त, निराधार तथा त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। डाक्टर ब्यूलर ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि इस युग में भी कमनीय स्तुतिकाव्यों की रचना होती थी; दानी राजाओं की कीर्तियाँ प्रशस्त प्रशस्ति-काव्यों में अंकित की गई हैं। यह युग गद्य तथा पद्य-उभयविध काव्यों के प्रणयन का काल था। शक क्षत्रप रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख (समय १५० इस्वी) अपनी शैली की रोचकता, भावप्रवणता तथा हृदयावर्जन के हेतु एक लघुकाय गद्य-काव्य का आनन्द देता है। उस युग में आलोचनाविषयक ग्रन्थों की रचना तथा इस शास्त्र के सिद्धान्तों का स्थिरीकरण किसी न किसी प्रकार किया गया था। यहाँ रुद्रदामन् स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त, शब्द-समय-सम्पन्न, उदार तथा अलंकृत गद्य-पद्य की रचना में प्रवीण बतलाया गया है।[1] गद्य-पद्य के गुणबोधक ये शब्द नितान्त पारिभाषिक हैं और किसी मान्य आलोचना-सिद्धान्त की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं। कविवर हरिषेण की प्रयागवाली समुद्रगुप्त-प्रशस्ति (समय ३५० ई०) समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य-पद्य-मिश्रित फड़कती भाषा में करती है। वत्सभट्टि द्वारा निर्मित मन्दसोर की प्रशस्ति (समय ५२९ मालव संवत्=४७३ ई०) वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर सरस काव्य के विरचन में सिद्धहस्त कवि की कमनीय कृति है।

कवि वत्सभट्टि कविवर कालिदास के मेघदूत से अवश्य परिचित हैं; क्योंकि उनके इस श्लोक पर उत्तर मेघदूत के प्रथम श्लोक की स्पष्ट छाया है—

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट-तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥१०॥

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः।
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ॥ (मेघ०)

यह प्रशस्ति नाना छन्दों में निबद्ध ४४ पद्यों में है। दशपुर का वर्णन कवित्वपूर्ण है और काव्यकला के विकास का पर्याप्त बोधक है। इस प्रकार ईस्वी सन् की आदिम पाँच शताब्दियों की काव्यरचना में वही शैली मिलती है, वही वर्णन-पद्धति अपनी झाँकी

१. स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्तशब्दसमयोदारालंकृत-गद्य-पद्य—गिरनार शिलालेख।

दिखलाती है, वही रसमय पदविन्यास अपना मंजुल रूप दर्शाता है जिसे हम संस्कृत के माननीय काव्यों में देखने के अभ्यस्त हैं। सूर्य का यह वर्णन नितान्त भव्य है—

यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः।
क्षीबाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः
पायात् स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान्॥

अधिक वृष्टि के कारण जब नदियाँ अपने किनारों से ऊपर बहने लगीं तब कवि को प्रतीत होता है कि पर्वत मानों अपने मित्र समुद्र की ओर अपना नदीमय हाथ फैला रहा था—

अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः।

हरिषेण के शब्दों में समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति से मण्डित यह स्तम्भ भूमि का बाहु प्रतीत होता है, जो देवताओं से राजा की विमल कीर्ति के भ्रमण की सुन्दर कहानी कहने के लिए ऊपर उठा हुआ है—

कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणमाचक्षाण इव भुवो वाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।

जिस युग में इतनी कोमल कल्पना को प्रश्रय देनेवाली कविता की रचना होती हो, इसे 'कविता की तमिस्रा' बतलाना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है? इसकी विशेष मीमांसा अपेक्षित नहीं।

इस प्रकार मैक्समूलर ने ईस्वी की आरम्भिक दो शताब्दियों में शकों के आक्रमण के कारण संस्कृत के साहित्यिक प्रयत्नों में ह्रास की जो कल्पना की थी, वह नितान्त निराधार है। इतिहास के साक्ष्य पर पश्चिमी शक संस्कृत के उन्नायक सिद्ध होते हैं, न कि विध्वंसक। शकों ने भारतीयता को स्वीकार कर अपने नामों को ही भारतीय नहीं बनाया, प्रत्युत भारतीय कला और धर्म को आश्रय दिया तथा १५० ईस्वी में ही संस्कृत भाषा को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया। बौद्ध कवि अश्वघोष ने इसी युग में धर्म-प्रचार की बुद्धि से संस्कृत में अपने दो महाकाव्यों की रचना की। लोगों के हृदय को कोमल काव्यकला के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति आवर्जित तथा आसक्त बनाने की अश्वघोषीय घोषणा क्या इस बात की समर्थ सूचिका नहीं है कि काव्य की लोकप्रियता उनके पूर्वकाल से ही होती आयी थी? उन्होंने नवीन धारा की सृष्टि न कर केवल प्राचीन धारा की परम्परा से लाभ उठाने का प्रयास किया। ऐसी दशा में नवीन ग्रन्थों के अन्वेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम की आरम्भिक शताब्दियाँ संस्कृत काव्य-प्रणयन की दृष्टि से कम आदरणीय नहीं हैं।

संस्कृत काव्य के उदय का इतिहास जानने के लिए व्याकरण शास्त्र के आदि आचार्य त्रयी—मुनित्रयम्—पाणिनि, वररुचि (कात्यायन) तथा पतञ्जलि के ग्रन्थों का

अध्ययन अपेक्षित है[1]। यह तो प्रसिद्ध ही है कि पाणिनि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में पुरुषपुर (पेशावर) के समीपस्थ शालातुर ग्राम के निवासी थे (आजकल लाहुर के नाम से प्रसिद्ध) तथा उनका आविर्भावकाल अष्टम शती ईस्वी पूर्व है। उनके वार्त्तिककार कात्यायन वररुचि दाक्षिणात्य थे तथा चतुर्थ शती पूर्व में विद्यमान थे। इन दोनों वैयाकरणों के द्वारा क्रमशः रचित 'जाम्बवती-विजय' (या पाताल विजय) तथा 'स्वर्गारोहण' नामक काव्यों का उल्लेख तथा इनकी कविता के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य (ईस्वी पूर्व द्वितीय शती) में काव्य गुणों से सम्पन्न पद्य उपलब्ध हैं। इन प्रमाणों के आधार पर महाकाव्य का उदय ईस्वी पूर्व की अष्टम शती में ही जब पाणिनि द्वारा हो चुका था, तब डा० मैक्समूलर की पूर्वोक्त कल्पना एकदम निराधार सिद्ध होती है। इस विषय का परिष्कृत विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

पाणिनि

पाणिनि के नाम से सूक्तिसंग्रहों में निर्दिष्ट पद्यों की सत्यता सिद्ध होने पर संस्कृत काव्य के उद्‌गम का युग अत्यन्त प्राचीन सिद्ध हो जाता है तथा मैक्समूलर की यह धारणा भी नितान्त निराधार प्रमाणित हो जाती है। पाणिनि के नाम से कमनीय पद्य केवल सूक्तियों में ही संगृहीत नहीं हैं, प्रत्युत कोशग्रन्थों में तथा अलंकार-शास्त्रीय पुस्तकों में भी उद्‌धृत किये गये हैं। कई लेखकों ने तो पाणिनि के पद्यों में दोष दिखलाकर अपने ही नियमों के उल्लंघन का दोष भी वैयाकरण के मत्थे मढ़ा है। इन पद्यों को लेकर पाश्चात्य पण्डितों में तीव्र मतभेद है। पुरातत्त्व-वेत्ताओं में इस विषय में बड़ा मतभेद है कि ये कवितायें वैयाकरण पाणिनि की हैं या अन्य किसी 'पाणिनि' नामधारी कवि की? दोनों में व्यक्तिगत अभिन्नता है या भेद? डाक्टर भाण्डारकर, पीटर्सन आदि विद्वान् पाणिनि के सूत्रों की वेदतुल्य शुष्क भाषा और इन पद्यों की सरस अलंकृत भाषा में विभिन्नता स्वीकार करते हुए यही कहते हैं कि इन श्लोकों का रचयिता पाणिनि वैयाकरण पाणिनि नहीं हो सकता। प्रौढालंकृत काव्यों का उद्‌गम वैयाकरण पाणिनि से बहुत इधर का है। उस समय में तो सरल-सुभग भाषा का ही साम्राज्य था। अलंकारों से विभूषित साहित्यिक भाषा का प्रचार उस सूत्रकाल से कई शताब्दी उतरकर हुआ। इस मत के विपरीत डाक्टर औफ्रेक्ट तथा डाक्टर पिशेल की सम्मति है कि पाणिनि को केवल एक खूसट वैयाकरण मानना बड़ी भारी भूल करना है, वह स्वयं अच्छे कवि थे। उनका मस्तिष्क नीरस व्याकरण के नियमों का भण्डार भले हो, परन्तु उनका हृदय तो कमनीय काव्यकला का सुकुमार आकर था। रही अलंकृत भाषा की बात, तो वेद में भी क्या सरस कविता के भव्य निदर्शन नहीं पाये जाते? अवलोकनीय अलंकारों की अनुपम छटा वेद में भी क्या रसिक हृदय को मुग्ध नहीं बना डालती? जब वेद में ही अलंकृत भाषा के सुभग दर्शन होते हैं तब पाणिनि के पद्यों में अलंकार के साक्षात्कार से हमें घबड़ाना नहीं चाहिये, न वैयाकरण तथा कवि पाणिनि की अभिन्नता के विषय में चीं-चपड़ करने के लिये उतारू

---

१. इन वैयाकरणों के देश-काल के विषय में द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ—संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (वाराणसी, १९६९, पृष्ठ ४१६–४६०)।

होना चाहिए। जो कुछ हो, यह प्रश्न है बड़ा विकट और यह अपने निर्णय के लिये अधिक सामग्री चाहता है।

आधुनिक विद्वानों को छोड़कर जब हम संस्कृत-साहित्य की परम्परागत प्रसिद्धि पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि पाणिनि ही इन पद्यों के निःसन्दिग्ध रचयिता माने गये हैं। सूक्तिग्रन्थों में राजशेखर ने पाणिनि को व्याकरण तथा 'जाम्बवतीजय' दोनों का रचयिता माना है—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्॥

सदुक्तिकर्णामृत में विशिष्ट कवि-प्रशंसा के विषय में उद्धृत एक पद्य[1] में भी सुबन्धु, रघुकार (कालिदास), हरिश्चन्द्र (गद्य-काव्य लेखक), शूर, भारवि तथा भवभूति जैसे उत्कृष्ट कवियों के साथ-साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम उल्लिखित है। जहाँ तक हम जानते हैं 'दाक्षीपुत्र' से वैयाकरण पाणिनि का ही संकेत है, क्योंकि महाभाष्य के अनेक स्थलों[2] पर यह विशेषण पाणिनि के लिये प्रयुक्त किया गया है। इस उल्लेख से भी दोनों की अभिन्नता सिद्ध होती है।

क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक छन्द ग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द को चमत्कार का सार बतलाया है और पाणिनि के उपलब्ध पद्यों में उपजाति वाले पद्य यथार्थतः बड़े सुन्दर है। फलतः दशमशती तक दोनों के ऐक्य की परम्परा जागरूक रही है—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥

यह बात बड़े महत्त्व की है कि पाणिनि यदा-कदा फुटकर पद्य लिखनेवाले साधारण कवि नहीं थे, प्रत्युत संस्कृत-साहित्य के सर्वप्रथम महाकाव्य के लिखने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। इस महाकाव्य का नाम कहीं तो **'पाताल-विजय'** पाया जाता है और कहीं **'जाम्बवती-जय'**। रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार 'नमि साधु' ने 'महाकवि भी अपशब्दों का प्रयोग करते हैं' इसे बतलाने के लिये पाणिनि के 'पाताल-विजय' से 'सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः' को उधृत किया है, जिसमें 'गृह्य' शब्द पाणिनि व्याकरण से अशुद्ध है। अमरकोश के टीकाकार राय मुकुट ने निम्नलिखित पद्य-खण्ड को इकारान्त 'पृषन्ति' (जलबुन्द) शब्द के उदाहरण के लिये उद्धृत करते समय इसे 'जाम्बवती-विजय' से बतलाया है :—

पयःपृषन्तिभिः स्पृष्टा वान्ति वाताः शनैः शनैः।

राजशेखर के ऊपर उद्धृत पद्य में, पुरुषोत्तम देव की भाषावृत्ति में तथा शरणदेव की दुर्घट-वृत्ति में पाणिनि के पद्यों को उद्धृत करते समय उनके काव्य का नाम 'जाम्बवती

१. सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

२. "सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः"—(महाभाष्य १।१।२० पर)

जय' या 'जाम्बवती-विजय' बतलाया गया है। जाम्बवती को लाने के लिये कृष्ण भगवान् को पाताल में जाकर विजय प्राप्त करना पड़ा था। अतः 'पातालविजय' 'जाम्बवती-विजय' का नामान्तर मात्र है, कोई भिन्न ग्रन्थ नहीं। शरणदेव की दुर्घटवृत्ति में अठारहवें सर्ग से एक पद्य उद्धृत किया[1] गया है, जिससे जान पड़ता है कि यह महाकाव्य कम से कम अठारह सर्गों का अवश्य था। अतः भारतीय परम्परा से विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण न मिलने तक वैयाकरण पाणिनि तथा कवि पाणिनि की एकता में अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है।

पाणिनि की कविता मधुर तथा सरस है। अलंकारों की छटा रसिक मन को अतीव आनन्दित कर रही है। ऐसी अनोखी उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया गया है कि हृदय-सागर में वलात् आनन्द-लहरी उठने लगती है। शृङ्गार रस का ही विशेष वर्णन है। प्राकृतिक दृश्यों का अतिशय अलंकृत भाषा में वर्णन बड़ा ही सजीव तथा मनोहर है।

> निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
> धारानिपातैः सह किन्नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥

वर्षाकाल में मेघों की प्रचण्ड गर्जना हो रही है। पाणिनि की सम्मति में यह नीरस गर्जना नहीं है; बल्कि उनका करुण क्रन्दन है। बात यह है कि रात के समय अभिसारिका के मुख को बिजुली रूपी आँखों से देखकर मेघों को यह सन्देह हो रहा है कि कहीं हमारे धारा-सम्पात के साथ-साथ चन्द्रमा जमीन के ऊपर तो नहीं गिर पड़ा? यदि ऐसा नहीं है, तो गाढान्धकार में अभिसारिका का इतना चमकीला चेहरा कहाँ से आया? नायिका के परम कान्तिमय मुख को देखकर उन्हें चन्द्रमा का सन्देह हो रहा है। इस सन्देह में विभोर हो वे इतना करुण-क्रन्दन कर रहे हैं।

> ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
> प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥

शरत्काल में चन्द्रबिम्ब विमल हो जाता है, परन्तु आकाश में मेघों के न होने से सूर्य की गर्मी पहिले से और भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्राकृतिक घटना पर पाणिनि ने विलक्षण कल्पना की सृष्टि की है। उनकी सम्मति में शरद् का व्यवहार नायिका के समान प्रतीत होता है। नायिका के समान शुभ्र पयोधरों (मेघ तथा स्तन) पर नखक्षत के समान रंगविरंगे इन्द्रधनुष को धारण करती हुई शरद् ऋतु कलंकी चन्द्रमा (मानो उपनायक) को प्रसन्न (निर्मल) कर रही है और साथ ही साथ सूर्य (नायक) के ताप (मानसिक दुःख तथा गर्मी) को भी अधिक बढ़ा रही है।

वररुचि

सूक्ति-संग्रहों में 'वररुचि' के नाम से बहुत से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। न केवल 'सुभाषितावलि' तथा 'शार्ङ्गधरपद्धति' में ही इनके पद्य पाये जाते हैं, बल्कि इनसे भी

---

१. त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्।
   चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे।
(जाम्बवतीविजये पाणिनिनोक्तम्.... इत्यष्टादशे सर्गे)

प्राचीन 'सदुक्तिकर्णामृत' में वररुचि-कृत श्लोकों की उपलब्धि होती है। यह वररुचि कौन थे? इसे ठीक-ठीक कहना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। पाणिनीय व्याकरण पर वार्त्तिक लिखनेवाले कात्यायन मुनि का भी नाम 'वररुचि' था, उधर 'प्राकृत-प्रकाश' नामक प्राकृत के अति प्राचीन व्याकरण बनानेवाले भी कोई 'वररुचि' हो गये हैं। कवि वररुचि—जिनके पद्य सूक्तिग्रन्थों में संरक्षित हैं—इन दोनों से भिन्न थे या अभिन्न? इसे निश्चयपूर्वक सिद्धान्त रूप से बतलाना कठिन काम है। लेखक का अनुमान है कि कवि वररुचि तथा वार्त्तिककार कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं। पतञ्जलि ने वररुचि के बनाये हुए किसी काव्य-ग्रन्थ (वाररुचं काव्यं) का उल्लेख महाभाष्य में किया है। यह काव्य-ग्रन्थ[1] आजकल उपलब्ध नहीं है।

यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

यदि वार्त्तिककार कात्यायन ही इन श्लोकों के रचयिता मान लिये जायँ, तो वररुचि का समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में होना चाहिये। कथा-सरित्सागर से साफ तौर से जाना जाता है कि वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध राजा नन्द के महामन्त्री थे। इन्होंने वहीं के 'वर्ष उपाध्याय' से सब विद्यायें पढ़ी थीं। व्याकरण के तो आप [illegible] चार्य ही हैं। डाक्टर भण्डारकर के कथासरित्सागर में उल्लिखित कथा को प्रामाणिक मानकर वररुचि (जिनका गोत्रज नाम 'कात्यायन' था) का समय ईसा से पूर्व चौथी सदी में माना है। इनकी कविता बड़ी मनोहारिणी है। माधुर्य तथा प्रसाद तो इसमें कूट-कूटकर भरा हुआ है। ऋतुओं के वर्णन में ही इनके अधिकतर श्लोक पाये जाते हैं। वर्णन सरल होने पर भी सजीव हैं तथा अलंकार से सुसज्जित हैं[2]।

पतञ्जलि

पतञ्जलि (१५० ई० पूर्व) ने अपने महाभाष्य में दृष्टान्त के ढंग पर बहुत से श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्धृत किया है, जिनके अनुशीलन से संस्कृत काव्यधारा की प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। पद्य के साथ गद्य काव्य की भी प्राचीनता का पता पतञ्जलि स्पष्ट रूप से देते हैं। 'लुब् आख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्त्तिक के व्याख्या-प्रसंग में उन्होंने वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक अनुपलब्ध आख्यायिका-ग्रन्थों का नाम निर्देश

---

१. वररुचि के काव्य का यथार्थ नाम 'स्वर्गारोहण' था। इसका परिचय 'कृष्णचरित काव्य' के इस पद्य से मिलता है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥ १४॥

इस श्लोक के तारतम्य से सूक्तिमुक्तावलि के पद्य का पाठ 'सदारोहण-प्रियः' के स्थान पर 'स्वर्गारोहणप्रियः' होना ही उचित प्रतीत होता है। फलतः कात्यायन वररुचि ने पाणिनि का अनुग्रह 'वार्तिक' लिखकर ही नहीं किया, प्रत्युत काव्य की रचना से भी उसकी पूर्ति की।

२. द्रष्टव्य मेरा 'संस्कृत सुकविसमीक्षा' पृष्ठ ४३–४६ (चौखम्भा प्रकाशन, १९६३)

किया है, जिससे गद्य-काव्य की प्रचुर लोकप्रियता का परिचय हमें मिलता है। इसके अतिरिक्त महाभाष्य में निर्दिष्ट काव्य-ग्रन्थ काव्यरचना की लोकप्रियता तथा व्यापकता की ओर संकेत करते हैं। 'वाररुचं काव्यं' पतञ्जलि के द्वारा निर्दिष्ट अद्यापि अनुपलब्ध एक ऐसा ही काव्य है। उस युग में नाटकों की रचना तथा अभिनय जनसाधारण के मनोरञ्जन का एक सामान्य साधन माना जाता था। पतञ्जलि ने 'कंसवध' तथा 'बलि-बन्धन' नाटकों का ही उल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत उनके प्रत्यक्ष अभिनय का भी स्पष्ट निर्देश किया है। अतः ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक में काव्य के नाना प्रकारों की रचनायें की जाती थीं तथा जनता में उनकी पर्याप्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी।

छन्दःशास्त्र के अनुशीलन से भी काव्य की प्राचीनता विशदरूपेण प्रमाणित होती है। पिंगल मुनि के 'छन्दःसूत्र' में नाना प्रकार के लौकिक तथा गीति-काव्योचित छन्दों का विवरण उपन्यस्त है। वैदिक छन्दों से लौकिक छन्दों का विकास तथा अभ्युदय गवेषणा का एक स्वतन्त्र विषय है, परन्तु नाना नवीन छन्दों की कल्पना अवश्यमेव तत्सम्बद्ध प्रचुर काव्य के निर्माण की ओर संकेत कर रही है। नवीन लौकिक छंदों का नामकरण भी भिन्न-भिन्न साधनों के आधार पर आश्रित था। कतिपय नाम तो छन्दों की स्वतःप्रवृत्ति, गति तथा लय के कारण प्रतीत होते हैं, जैसे मन्दाक्रान्ता (धीरे आक्रमण या गति वाली), द्रुत-विलम्बित (शीघ्र तथा विलम्ब से चलनेवाला छन्द), वेगवती, त्वरितगति आदि। कतिपय पुष्प तथा पौधों के नाम पर है, जैसे माला और मञ्जरी। कतिपय पशुओं के शब्द तथा आचरण के आधार पर हैं, जैसे शार्दूलविक्रीडित (सिंह जैसी क्रीडा), अश्व-ललित (घोड़ों का खेल), हरिणीप्लुता (मृगी की कूद), हंसरुता (हंसों की बोली), भ्रमरविलसित, तथा गजगति। परन्तु अधिकांश छन्दों का नाम सुन्दरियों के नाम पर है—तन्वी, रुचिरा, प्रमदा, प्रमिताक्षरा (परमित शब्दावली), मंजुभाषिणी, शशि-वदना, चित्रलेखा, विद्युन्माला, स्रग्धरा (माला धारण करनेवाली)। इन नामों की समीक्षा से हम इतना ही कह सकते हैं कि इन छन्दों का नाम शृङ्गारात्मक विषयों में प्रथम प्रयोग के आधार पर है। डाक्टर याकोबी का कथन है कि इन छन्दों का निर्माण तथा संस्कृत काव्यों में प्रयोग विक्रमपूर्व शताब्दियों से सम्बन्ध रखता है और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित शृंगारात्मिका गीतिकाव्य की रचना की स्फूर्ति तथा उत्तेजना संस्कृत गीति-काव्यों से प्राप्त हुई।

इस प्रकार संस्कृत भाषा में काव्य का उदय विक्रमपूर्व शताब्दियों की एक महत्त्वशाली घटना है। पतञ्जलि से आरम्भ कर अश्वघोष (प्रथम शतक) तक के काव्यों की अप्राप्ति होने से इन पूर्व-अश्वघोष काव्यों का पर्याप्त परिचय हमें नहीं है। मेरी दृष्टि में संस्कृत काव्य का पूर्ण उदय विक्रम संवत् के प्रतिष्ठापक विक्रमादित्य के समय में (विक्रम संवत् के आरम्भकाल से) हुआ। काव्य अपने रुचिर निर्माण तथा रचना के निमित्त शान्त वातावरण, आर्थिक समृद्धि तथा सामाजिक शान्ति की जितनी अपेक्षा रखता है, उतनी वह किसी गुणग्राही आश्रयदाता की प्रेरणा की भी। फलतः सौख्यपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के साथ किसी गुणग्राही नरपति की छत्रछाया की भी वह कामना करता है। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में वह युग विदेशी शकों के भयंकर आक्रमणों से भारतीय जनता,

धर्म तथा संस्कृति के रक्षक, मालव संवत् के ऐतिहासिक संस्थापक शकारि मालवगणाध्यक्ष विक्रमादित्य का समय है। इसी युग में भारतीय संस्कृति के उपासक हमारे राष्ट्रीय महाकवि कालिदास की भारती ने अपना अलौकिक चमत्कार दिखलाकर जनहृदय को आवर्जित किया। पाश्चात्त्य आलोचकों की दृष्टि में संस्कृत के प्रथम कवि अश्वघोष थे जिनके प्रभाव से प्रभावित होकर कालिदास ने गुप्त काल में अपने महनीय काव्यों की रचना की थी, परन्तु इतिहास के अचूक प्रमाणों के द्वारा प्रथम शतक में विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध होने पर कालिदास को उनका सभा-कवि मानना नितान्त औचित्यपूर्ण तथा प्रामाणिक है। यूरोपीय इतिहास में इसी समय में रोम साम्राज्य के संस्थापक आगस्टस सीजर के राजकवि वर्जिल ने अपने अमर महाकाव्य 'इनीड' की रचना कर रोम-साम्राज्य को प्राचीन गौरव से तथा लैटिन साहित्य को मान्य आद्य महाकाव्य से मण्डित किया था। कालिदास वर्जिल के समकालीन थे और इस प्रकार संस्कृत तथा लैटिन उभय भाषाओं में महाकाव्य की प्रतिष्ठा एक ही युग में मानना तुलनात्मक ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त समीचीन, शोभन तथा सुन्दर है।

(३) महाकाव्य का लक्षण तथा विकास

महाकाव्य का शास्त्रीय लक्षण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है। लक्ष्य के आधार पर लक्षण की कल्पना की जाती है--इस नीति के अनुसार वाल्मीकि रामायण तथा कालिदासीय महाकाव्यों के विश्लेषण करने से आलोचकों ने महाकाव्य के शास्त्रीय रूप का अनुगमन किया तथा आलंकारिकों ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उसके लक्षण प्रस्तुत किये। इन आलंकारिकों में दंडी सर्व-प्राचीन हैं, जिनका महाकाव्य का लक्षण सर्वप्राचीन माना जाता है। (काव्यादर्श १।१४–१९)। उनके अनुसार महाकाव्य की रचना 'सर्गों' में की जाती है। उनमें एक ही नायक होता है, जो देवता होता है अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, श्रृङ्गार अथवा शान्त—इनमें से कोई रस मुख्य (अंगी) होता है। अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं। कथानक इतिहास में प्रसिद्ध होता है अथवा किसी सज्जन का चरितवर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है, पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए न बहुत छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए और प्रतिसर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिये। वृत्त को अलंकृत करने के लिये सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है। बीच-बीच में वीर रस के प्रसंग में युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का भी सांगोपांग वर्णन रहता है। नायक तथा प्रतिनायक का संघर्ष काव्य की मुख्य वस्तु होती है। महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय की विजय तथा अधर्म और अन्याय का विनाश होना चाहिये।

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' (१६। १७–१९) में दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट काव्य-लक्षणों को कुछ विस्तार के साथ दुहराया है। ध्यान देने की बात यह है कि रुद्रट ने उतने ही विषय के उपबृंहण तथा अलङ्करण को उचित माना है जिससे कथा-वस्तु का कथमपि विच्छेद न हो सके। कालिदास के काव्यों में अलङ्करण काव्य-वस्तु का विच्छेद कथमपि

नहीं करता, परन्तु भारवि तथा माघ इस दुष्प्रभाव से बच नहीं सके। भारवि में मूल कथा के साथ दूरतः सम्बद्ध ऐसे विषय पाँच सर्गों तक (४, ५, ८, ९, १०) तथा माघ में ६ सर्गों (६–११) तक रक्खे गये हैं। इस प्रकार इस काल में प्रबन्ध-काव्यों में ऐक्य तथा समन्वय का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है और शृङ्गार-प्रधान विषयों का उपबृंहण मूल आख्यान के प्रवाह को बहुत कुछ रोक देता है। विषय-वर्णन में चमत्कार की कमी नहीं है, परन्तु इन नवीन वस्तुओं के योग से काव्य का विस्तार, अलङ्कार का विन्यास इतना अधिक हो जाता है कि पाठकों का हृदय आप्यायित न होकर उनका मस्तिष्क ही पुष्ट होता है। वर्ण्य-विषय तथा वर्णन-प्रकार के सामञ्जस्य का अभाव जो कालिदास तथा अश्वघोष में खोजने पर भी नहीं मिल सकता इस युग के मान्य कवियों के काव्य की जागरूक विशेषता है। **ब्राह्मण कवियों में चार महाकवि—भारवि, भट्टि, कुमारदास तथा माघ—इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं।**

महाकाव्य पर पाश्चात्य मत—पाश्चात्त्य मत से महाकाव्य (एपिक) दो प्रकार के होते हैं—(१) विकसित महाकाव्य (एपिक ऑफ ग्रोथ), (२) कलापूर्ण महाकाव्य (एपिक ऑफ आर्ट)[१]। विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है; जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडेसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथाचक्रों के रूप में वे प्राचीनकाल से बन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे। 'कलापूर्ण महाकाव्य' वह है जिसे एक ही कवि अपनी काव्यकला से गढ़कर तैयार करता है। इसमें प्रथम श्रेणी के काव्यों के समग्र गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु यह रहता है एक ही कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का परिणाम। जैसे लैटिन भाषा में वर्जिल कवि द्वारा रचित 'इनीड' महाकाव्य। वर्जिल ने अपने लिये होमर को आदर्श माना और उन्हीं की काव्य-कला का पूर्ण अनुसरण अपने महाकाव्य में किया। मिल्टन के पैरेडाइस लास्ट तथा पैरेडाइस रिगेण्ड होमर, वर्जिल तथा दाँते के महाकाव्यों के समान उत्कृष्ट मान्य 'कलापूर्ण महाकाव्य' हैं। इस दृष्टि से यदि संस्कृत काव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो वाल्मीकीय रामायण प्रथम श्रेणी में रखा जायगा तथा रघुवंश एवं शिशुपालवध आदि द्वितीय श्रेणी में।

महाकाव्य का विकास

लौकिक संस्कृत में कविता लिखने का उदय वाल्मीकि से हुआ। रामायण हमारा आदिकाव्य है। वाल्मीकि हमारे आदि कवि हैं। क्रौञ्चवध की जो घटना साधारण दर्शकों के हृदय में थोड़ी सी सहानुभूति उत्पन्न करने में ही समर्थ होती वही वाल्मीकि के रससिक्त हृदय में शोकतरङ्गिणी के प्रवाहित होने का कारण बनती है और रसावेश में महर्षि का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो जाता है। जिस अवसर पर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्' के रूप में वाल्मीकि की करुण-रसाप्लुत वैखरी स्खलित हुई, उसी समय भारतीय काव्य की दिशा का परिचय सहृदयों को मिल गया। काव्यतरङ्गिणी रसकूल का आश्रय लेकर ही

१. Epic of growth; Epic of art.

प्रवाहित होती रहेगी, इसकी पर्याप्त सूचना उसी समय मिल गयी। वाल्मीकि का आदि काव्य संस्कृत भारती का नितान्त अभिराम निकेतन है। सरसता और स्वाभाविकता ही इसका सर्वस्व है। नाना रसों का मंजुल समन्वय, वर्णन में नितान्त स्वाभाविकता, छोटे-छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण मधुर अर्थों की अभिव्यक्ति—इस काव्य की विशिष्टता है। स्थान-स्थान पर वाल्मीकि ने अपने काव्य को अलंकारों से भूषित करने का भी उद्योग किया है, पर इन अलंकारों से वस्तु का सौन्दर्य और भी अधिकता से फूटता है और रसिकों के हृदय को हठात् मुग्ध बना देता है। अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, शोभा का विकास होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है। वाल्मीकि के काव्य में अलंकार की छटा कम सुहावनी नहीं है। गरुड की यह उपमा रामचन्द्र की उदात्तता के अनुरूप ही है—

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान्।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान्॥

सीता के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का यह प्रकार कितना अनूठा है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत्।
नहि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने॥

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे जैसे रूप को बनाने वाले ब्रह्मा ने तुम्हें बनाकर बनाने के काम से हमेशा के लिए छुट्टी ले ली। हे शुभदर्शने! तुम्हारे रूप की तुलना जगत् में कहीं अन्यत्र नहीं है"। इस कथन में हृदय के स्वाभाविक भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

यह समासोक्ति भी सरसता का भव्य निदर्शन है—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥

इस कथन में सन्ध्या के ऊपर नायिका का तथा चन्द्र के ऊपर नायक का आरोप कितना सुन्दर है। 'अम्बर' का श्लिष्ट प्रयोग कितना सरस और सुबोध है। उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी वाल्मीकि ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। हनुमान् जी के लंकादाह के अनन्तर लौट आने पर उनके स्वागत के अवसर पर कवि ने उत्प्रेक्षा की लड़ी लगा दी है। मूर्त पदार्थ के लिए अमूर्त वस्तु का उपमान प्रस्तुत करना वाल्मीकि की प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। अशोक वाटिका में उदास बैठी हुई जानकी के लिए वाल्मीकि ने पचीसों नई उपमायें प्रयुक्त की हैं, जिनमें सर्वत्र यही विलक्षणता है (सुन्दरकाण्ड, १५ सर्ग)।

वाल्मीकि ने बाह्य प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इनके प्राकृतिक वर्णन में सर्वत्र बिम्बग्रहण का प्राधान्य है। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन देता है। यह तभी सम्भव है जब कवि के हृदय में प्रकृति के लिए सच्चा अनुराग रहता है। वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन अनुपम है—

अवस्यायनिपातेन किञ्चित् प्रक्लिन्न-शाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥

वन की भूमि जिसकी हरी-भरी घास ओस गिरने से कुछ गीली सी बन गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा हुआ भी जंगली हाथी अधिक शीत जल के स्पर्शमात्र से ही अपनी सूंड को सिकोड़ लेता है। वाल्मीकि की 'रसमय पद्धति' को हम **'सुकुमार मार्ग'** कह सकते हैं। रस ही उसका जीवन है; स्वाभाविकता उसका भूषण है। कालिदास ने इस शैली को अपना कर इतना यश अर्जन किया। इस पद्धति के मुख्यतया दो श्रेष्ठ कवि हैं—वाल्मीकि और कालिदास।

कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। कालिदास ने अपने आपको वाल्मीकि की कविता में सिक्त कर दिया था। उनसे बढ़कर रामायण का भक्त शायद ही कोई दूसरा कवि मिले। इसीलिए उनके काव्य में वाल्मीकि की मनोरम पदावली तथा मंजुल भाव पूर्णतया भरे पड़े हैं। वाल्मीकि को विना समझे कालिदास का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता। रघुवंश (१।४) में कालिदास ने 'पूर्वसूरिभिः' के द्वारा वाल्मीकि की ओर संकेत किया है। रघुवंश (१५।३३) में रामायण को 'कविप्रथमपद्धति' कहा गया है। कालिदास को अपनी काव्यकला को पुष्ट करने में वाल्मीकि से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली, यह सिद्धान्त सन्देहहीन है। कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी दृष्टि में प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजने वाली भगवद्-विभूति की एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। प्रकृति मानव पर प्रभाव डालती है। वह मनुष्य के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होती है। मानव भी प्रकृति को अपनी चिर-संगिनी समझता है। इस निसर्ग-भावना के समान ही कालिदास की कविता की कमनीयता है। अलंकारों का झंकार का वह युग न था। रसीली बोली पर ही रसिक समाज अपने को निछावर करता था। कालिदास की कविता में अलंकारों का भव्य विन्यास है, परन्तु वह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्य वस्तु को छोड़कर अलंकारों की छटा की ओर ही आकृष्ट हो जाय। उस अलंकार से वस्तु का सौन्दर्य निखरता है, उसका सलोनापन अधिक बढ़ता है। वह रसिकों के हृदय में बरबस घर कर लेती है।

कालिदास की शैली को परवर्ती कुछ कवियों ने बड़ी सफलता के साथ अपनाया। अश्वघोष के ऊपर कालिदास की स्पष्ट छाप है। गुप्तकाल के प्रशस्ति-लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी। इतना ही नहीं, कालिदास के काव्यों की ख्याति भारतवर्ष के बाहर भी कम्बोज देश (आजकल का हिन्दचीन) तक फैली थी। भारतीय विद्वान् जिन-जिन उपनिवेशों में धर्म और सभ्यता के प्रचार के लिये गये वहाँ उन्होंने कालिदास के काव्यों का प्रचार किया। इसलिए सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), कम्बोज, जावा आदि देशों में उपलब्ध संस्कृत शिलालेखों में कालिदास की कविता का पर्याप्त अनुकरण पाया जाता है।

उदाहरण के लिये कम्बोज के राजा भववर्मा के ६०० ई० के शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ तथा कालिदास के श्लोक साथ ही दिये जाते हैं जिससे इस महाकवि का विपुल प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है ।[1]

विचित्र-मार्ग—साहित्य शैली के विकास के ऊपर युगों की सामाजिक चेतना का विशेष प्रभाव पड़ता है । काल की साहित्यिक मान्यता, युग का वातावरण तथा सामाजिक रूढ़ियाँ—उस युग के साहित्य को एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती हैं । विक्रम के सप्तम अष्टम-शतक को साहित्य के इतिहास में 'परिवर्तन युग' माना जा सकता है । काव्य का लक्ष्य नवीन परिस्थितियों में विशेष रूप से परिवर्तित होने लगा। अबतक संस्कृत काव्य का लक्ष्य जनसाधारण का अनुरञ्जन था और इसीलिए इस युग के संस्कृत कवि साधारणजन के हृदय को स्पर्श करने वाली कविता के निर्माण में दक्ष दिखलाई पड़ते हैं । कालिदास तथा अश्वघोष का काल इसीलिए संस्कृत काव्य के इतिहास में अपनी सरलता, सरसता तथा सुबोधता से सम्पन्न काव्य की रचना में प्रख्यात माना जाता है, परन्तु गुप्त युग के सामूहिक शिक्षण तथा व्यापक सांस्कृतिक प्रसार के कारण भारतवर्ष का साहित्यिक वातावरण ही बदल जाता है । प्राकृत भाषाओं के उदय के हेतु भी संस्कृत भाषा का क्षेत्र सीमित हो जाता है । जनता प्राकृत भाषा की कविता के द्वारा अपना मनोरञ्जन करने लगती है । प्राकृत लोकभाषा होने के कारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करती है । अत एव संस्कृत काव्य का अब लक्ष्य साधारणजन न होकर पण्डितजन ही हो जाता है । इसी युग में बौद्ध न्याय का उदय तथा विकास सम्पन्न होता है, जिसके मतों को ध्वस्त करने के लिए ब्राह्मण नैयायिक अपने युक्तिकौशल का प्रदर्शन करते हैं । दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध पण्डितों का और वात्स्यायन तथा उद्योतकर जैसे ब्राह्मण नैयायिकों के उदय का यही युग है । फलतः इस युग का वातावरण ही पाण्डित्यमय है । अब ऐसे ही पण्डित पाठकों का हृदयावर्जन काव्य का लक्ष्य बन जाता है । राजदरबारों को ऐसे ही पाण्डित्यमण्डित विद्वान् सुशोभित करते थे । इन्हीं को लक्ष्य कर संस्कृत का कवि अपने प्रबन्ध-काव्यों की रचना करता था ।

इसीलिए इस युग के साहित्यिक आग्रह, पाण्डित्यमय वातावरण तथा वैदुषीमण्डित पाठकों का आवर्जन संस्कृत कवियों को नई प्रेरणा देने लगे । युग की विशिष्टता और साहित्यिक चेतना के कारण कविजनों के लिए प्राचीन रसमयी पद्धति को छोड़कर एक

---

१. (क) शरत्कालाभियातस्य परानावृततेजसः ।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि ।।
(शिलालेख ६)

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ।। (रघुवंश ४।४९)

(ख) यस्य सेनारजो धूतमुज्झितालंकृतिष्वपि ।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम् ।। (शिलालेख ७)
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधिः कृतः ।। (रघु० ४।५४)

नवीन शैली का ग्रहण आवश्यक हो गया, जिसमें विषय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार पर तथा सारल्य के स्थान पर पाण्डित्य पर ही विशेष आग्रह था तथा काव्य को सुसज्जित बनाने के लिए कामशास्त्र जैसे प्रौढ शास्त्रों का उपयोग आवश्यक हो गया। ऐसे ही नवीन युग के प्रतीक थे महाकवि भारवि तथा माघ। अत एव भारवि तथा तथा माघ को अपने काव्यों के संक्षिप्त वर्णन को पुष्ट, अलंकृत तथा पाण्डित्यपूर्ण बनाते हुए देखकर हमें कुछ आश्चर्य नहीं होता। यह पाण्डित्यमय युग की माँग थी जिसकी अवहेलना कथमपि नहीं की जा सकती थी। अत एव युगधर्म का इन कवियों के काव्यों में प्रतिबिम्बित होना नैसर्गिक घटना है, कोई आकस्मिक घटना नहीं।

संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा, क्योंकि उन्होंने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया। आचार्य कुन्तल इस अलङ्कार-बहुला पद्धति को 'विचित्र-मार्ग' की संज्ञा देते हैं। इस अलंकृत शैली की दो विशेषतायें हैं––(१) विषय-सम्बन्धी और (२) भाषा-सम्बन्धी। भारवि के पहले वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्य का जो विषय चुना था वह अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल है। कालिदास ने अपने रघुवंश में, केवल १९ सर्गों के भीतर दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक रघुवंश की अनेक पीढ़ियों का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया, परन्तु भारवि ने अर्जुन का किरात के पास जाना और उनसे युद्ध कर अस्त्र प्राप्त करने की स्वल्प कथा को २० सर्गों में कह डाला। इन्होंने अपने काव्य में पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः, ऋतु तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में अनेक सर्ग व्यय कर दिये और इस प्रकार इस छोटे से कथानक को इतना अधिक विस्तार प्रदान किया। कहने का तात्पर्य यह है कि भारवि के पहले काव्य का विषय विस्तृत होता था, प्राकृतिक वर्णन कम। परन्तु भारवि के बाद काव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृति-वर्णन अधिक। यही बात शिशुपालवध और नैषध जैसे महाकाव्यों में भी पाई जाती है।

दूसरी बात भाषा तथा शैली सम्बन्धी है। वाल्मीकि तथा कालिदास ने महाकाव्यों में सीधी, सादी, चलती और प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया। उनकी कविता प्रसाद-गुण से युक्त है। न तो उनमें कहीं क्लिष्ट कल्पना मिलती है और न अलङ्कार की बेसुरी झनकार। इनकी कविता में अलङ्कार के लाने का बलपूर्वक प्रयास नहीं किया गया है और न चित्रकाव्य लिखकर गोमूत्र और कमल का ही प्रदर्शन किया गया है। इनकी कविता में जहाँ कहीं भी अलङ्कार आये हैं वे स्वाभाविक रीति से अनायास प्रयुक्त हैं। उनसे कविता के समझने में कष्ट नहीं होता, बल्कि उनका सौष्ठव और अधिक बढ़ जाता है। परन्तु भारवि ने एक ऐसी शैली को जन्म दिया, एक ऐसी रीति का काव्य में प्रयोग किया जो अलङ्कार के भार से लदी है, श्लेष के प्रयोग से अत्यन्त दुरूह बन गयी है तथा चित्र-काव्य से प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान कठिन हो गयी है। अलंकारों की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है।[1]

इस अलंकृत शैली का उत्कर्ष माघ का प्रसाद है। अतः इस शैली की उद्भावना में भारवि और माघ का नाम संश्लिष्ट रहेगा। अब कवियों के सामने दो प्रकार की

---

१. द्रष्टव्य–मेरा ग्रन्थ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' दूसरा खण्ड, पृष्ठ १८६–१९६।

शैलियाँ विद्यमान थीं—(१) वाल्मीकि कालिदास की रसमयी शैली और (२) भारवि-माघ की अलंकृत शैली। पिछले कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार इन शैलियों में से अन्यतम को अपनाया। पद्मगुप्त परिमल ने 'नवसाहसांकचरित' में तथा श्रीहर्ष ने 'नैषध' में प्रथम शैली को अपनाया, परन्तु अपने काव्य को अलंकृत करने की प्रवृत्ति भी इनमें है। 'अलंकृत शैली' का भव्य निदर्शन रत्नाकर का 'हरविजय' है। इस परवर्ती युग के कवियों की दृष्टि में नैसर्गिकता के स्थान पर 'आलंकारिता' का विशेष मूल्य है। वाह्य प्रकृति के वर्णन में भी भिन्नता आ गई है। ये कवि लोग प्रकृति के मार्मिक रूप के विश्लेषण में नितान्त असमर्थ हैं; क्योंकि उनमें निरीक्षण का वस्तुतः अभाव है। श्रीहर्ष जैसे विदग्ध कवि की दृष्टि में सायंकाल में पश्चिम दिशा शबरालय में प्रहर के अन्त की सूचना देनेवाले कुक्कुटों (मुर्गों) की कलँगी के कारण लाल रंग की दिखलाई पड़ती है ! ! ! (नैषध चरित २२ सर्ग, ५ श्लोक)

कालिदास ने अनेक साहित्यिक रूढ़ियों को जन्म दिया है जिनमें एक रूढ़ि है—द्रुतविलम्बित छन्द में यमकमय ऋतुवर्णन। द्रुतविलम्बित के चतुर्थ चरण में उन्होंने यमक का बड़ा ही सरस विन्यास कर वसन्तशोभा का वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग में किया है। पिछले कवियों ने इस रूढ़ि को अपना लिया, पर यमक का इतना अधिक प्रयोग किया कि रसवत्ता जाती रही। कालिदास के यमक की स्वाभाविकता तथा मनोरमता के सामने माघ का ऋतुवर्णन-सम्बन्धी (६ सर्ग) कोई भी श्लोक खड़ा नहीं हो सकता। अलंकृत शैली का विकट रूप तब प्रगट होता है, जब कवि एक ही प्रबन्ध में राम की तथा अर्जुन की कथा सुनाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कभी-कभी तो तीन-तीन अर्थ एक ही श्लोक में आदि से लेकर अन्त तक निकलते हैं। ऐसे द्व्यर्थी महाकाव्यों में धनञ्जय का 'द्विसन्धान', विद्यामाधव का 'पार्वतीरुक्मिणीय', हरिदत्तसूरि का 'राघव-नैषधीय' कविराजसूरि का 'राघवपाण्डवीय' मुख्य हैं। त्र्यर्थी काव्यों में राजचूड़ामणि दीक्षित का 'राघवयादवपाण्डवीय' तथा चिदम्बरसुमति का 'राघव-पाण्डव-यादवीय' मुख्य हैं। कहना व्यर्थ है कि इन काव्यों में पाडित्य का प्रदर्शन ही मुख्य है, हृदय को विकसित करने वाली कला की अभिव्यक्ति नितरां न्यून है।

इस प्रकार महाकाव्य के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आरम्भिक युग में नैसर्गिकता का ही काव्य में मूल्य था। वही गुण आदर की दृष्टि से देखा जाता था, परन्तु आगे चल कर पाडित्य का जोर बढ़ा। न्याय तथा वेदान्त के गम्भीर अध्ययन के कारण पाडित्य का एक नवीन युग ही आ खड़ा हुआ। फलतः कवियों ने अपने काव्यों में अक्षराडम्बर तथा अलंकार-विन्यास की ओर अपना दृष्टिपात किया, उन्हें ही काव्य का जीवन मानने लगे और इसीलिए पिछले युग में सुकुमार मार्ग के स्थान पर विचित्र मार्ग का प्रसार हुआ।

—:०:—

चतुर्थ परिच्छेद

संस्कृत महाकाव्य–उत्कर्ष काल

(१) कालिदास

कालिदास भारतीय तथा पाश्चात्त्य उभय दृष्टियों से संस्कृत के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। नाट्यकला की सुन्दरता निरखिये, काव्य की वर्णनछटा देखिये, गीतिकाव्य के सरस हृदयोद्गारों को पढ़िये, कालिदास की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। उनके काव्यों की जितनी ख्याति निश्चित है, उनकी जीवनी तथा काल-निरूपण उतना ही अनिश्चित है। कालिदास की जन्मभूमि के विषय में बंगाल तथा कश्मीर के नाम लिये जाते हैं, परन्तु यह अभी तक अनिर्णीत ही है। कवि ने उज्जयिनी के लिए विशेष पक्षपात दिखलाया है, जिससे यही इनकी जन्मभूमि प्रतीत होती है। मेघदूत (१।२९) में यक्ष रास्ता टेढ़ा होने पर भी 'श्रीविशाला' विशाला (उज्जयिनी) को देखने के लिये मेघ से आग्रह करता है। उज्जयिनी के विशाल महलों और रमणियों के कुटिल-कटाक्षों को देखने से यदि वह वञ्चित रह गया तो उसका जीवन ही निष्फल है। कालिदास ने अवन्ती प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का सूक्ष्म वर्णन मेघदूत में किया है––वहाँ की छोटी-छोटी नदियों का भी नाम-निर्देश किया है तथा वर्णन दिया है। उज्जयिनी के प्रति उनके विशेष पक्षपात तथा सूक्ष्म भौगोलिक परिचय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कालिदास वहीं के रहनेवाले थे।

कालिदास निःसन्देह शैव थे। मेरी दृष्टि में वे उज्जयिनी के विख्यात ज्योतिर्लिङ्ग 'महाकाल' के उपासक थे। मेघदूत में महाकाल की उपासना के प्रति उनका आग्रह इसका आधार माना जा सकता है। महाकाल की शोभा का वर्णन कर यक्ष मेघ से कहता है कि उज्जयिनी में तुम किसी समय पहुँचो, परन्तु सूर्य के अस्त होने तक तुम्हें वहाँ ठहरना होगा। प्रदोष-पूजा के अवसर पर तुम अपना स्निग्ध गम्भीर घोष करना, जो महाकाल की पूजा में नगाड़े का काम करेगा और तुम्हें अशेष पुण्यों का भाजन बनावेगा (मेघ० श्लोक ३५)। इतना ही नहीं, कालिदास मन्दिर में पूजार्थ नियत की गई देवदासियों से परिचय रखते हैं। यह प्रथा दक्षिण के मन्दिरों में आज भी प्रचलित है, यद्यपि उत्तर भारत के मन्दिरों में यह विशेष रूप से नहीं दीख पड़ती। उज्जयिनी उदयन तथा वासवदत्ता के उदात्त प्रेम की क्रीडास्थली थी। फलतः कालिदास ने इस कथा से सम्बद्ध छोटी-छोटी घटनाओं तथा उनके नियत स्थानों का भी उल्लेख कर नगरी के प्रति पूर्ण पक्षपात प्रदर्शित किया है, जो उसे कवि की जन्मभूमि होने का गौरव प्रदान करने में सचेष्ट है।

स्थितिकाल—भारतीय जन-श्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नव-रत्नों के मुखिया थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी विक्रम के साथ रहने की बात सूचित होती है। विश्वविख्यात शकुन्तला का अभिनय किसी राजा की––सम्भवतः विक्रम

की—'अभिरूपभूयिष्ठा' परिषद् में ही हुआ था। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा के नायक होने पर भी विक्रम का नामोल्लेख नाटक के नाम में है तथा 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' आदि वाक्य इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। 'रामचरित' महाकाव्य के 'ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना' आदि पद्यों से भी इसी सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। अत एव जब तक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिले, तब तक यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कालिदास राजा विक्रम की सभा के रत्न थे।

कालिदास ने शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक बनाया है। अतः वे उसके (विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक के) अनन्तर होंगे। इधर सप्तम शताब्दी में हर्षवर्धन के सभा-कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त प्रशंसा की है। अतः कवि का समय विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम की सप्तम शतक के बीच में कहीं होना चाहिये। कालिदास के समय के विषय में प्रधानतया तीन मत हैं—

पहला मत—कालिदास को षष्ठ शतक का बतलाता है।

दूसरा मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानता है।

तीसरा मत—विक्रम सं० के आरम्भ में इनका समय बतलाता है।

षष्ठशतक में कालिदास—भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधिवाले चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है, जिनके समसामयिक होने से कालिदास का भी समय भिन्न-भिन्न सदियों में माना गया है। डॉक्टर[१] हार्नली का मत है कि यशोधर्मन् ने, जिसने कारुर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से परास्त किया था, 'विक्रमादित्य' की उपाधि भी ग्रहण की थी। अपनी इस महत्त्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में उसने नवीन संवत् चलाया, जो विक्रम के नाम से व्यवहृत हुआ, परन्तु इसे प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से—इसके ऊपर प्राचीनता का पुट देने के लिये—उसने इसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाया, अर्थात् ५४४ ई० की विजय-घटना की यादगार में उसने अपने नवीन संवत् के ६०० पूर्व, अर्थात् ५८ ईसवी पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारित की। विक्रम संवत् की यह नवीन कल्पना डाक्टर फर्गुसन ने की थी। हार्नली ने इसका उपयोग कालिदास के समय-निरूपण के लिए किया। उसने दिखलाया है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्यसीमा से बिल्कुल मिलता-जुलता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री[२] ने अनेक कौतुकपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास भारवि के अनन्तर छठीं सदी में विद्यमान थे।

इस मत का खण्डन—परन्तु कालिदास को इतना पीछे मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। हूणों को पराजित करने पर भी यशोधर्मन् 'शकाराति'—शकों का शत्रु—

---

१. **जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी** (J. R. A. S. 1903) पृ० ५४५।

२. Age of Kalidasa—J. B. O. R. S. Vol. II.

बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका, भाग २, पृ० ३१-४४।

नहीं कहा जा सकता। न उसके शिलालेखों से नवीन संवत् के स्थापन की घटना सच्ची प्रतीत होती है। विक्रम संवत् की स्थापना छठीं सदी में यशोधर्मन् के द्वारा मानना ज्ञात इतिहास पर घोर अत्याचार करना है; क्योंकि 'मालव संवत्' के नाम से यह संवत् अति प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध था। ४७३ ई० के कुमारगुप्त की प्रशस्ति के कर्ता वत्सभट्टि की रचना में ऋतुसंहार के कितने ही पद्यों की झलक दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को पाँचवीं सदी के अनन्तर मानना अनुचित है। अतः इस मत को प्रामाणिक मानकर कितने ही भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास की स्थिति बतलाई है।

गुप्तकाल में कालिदास––गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति माननेवाले विद्वानों में भी कुछ-कुछ भेद दीख पड़ता है। पूना के प्रोफेसर के० बी० पाठक की सम्मति में कालिदास स्कन्दगुप्त 'विक्रमादित्य' के समकालीन थे, परन्तु डॉक्टर रामकृष्ण भण्डारकर, साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा तथा अधिकांश पश्चिमी विद्वान् गुप्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय को कालिदास का आश्रयदाता मानते हैं।

(क) पाठक ने काश्मीरी टीकाकार वल्लभदेव के निम्नलिखित श्लोक के पाठ को प्रामाणिक मानकर पूर्वोक्त सिद्धान्त निश्चित किया[1] (रघु० ४।६७)––

विनीताध्वश्रमास्तस्य　　सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः　　स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्॥

इस पद्य के 'सिन्धु' शब्द के स्थान पर वल्लभदेव ने 'वंक्षू' पाठ माना है। 'वंक्षू' शब्द पाठक की सम्मति में OXUS (आक्सस) शब्द का संस्कृतीकरण है। अतः इस पाठ को प्रामाणिक मानने से यह कहना पड़ता है कि रघु ने हूणों को आक्सस नदी (जो पामीर से निकलकर अरब सागर में गिरती है) के किनारे उनके भारत आगमन के पहिले ही हराया था। यह घटना ४५५ ई० के पूर्व की हो सकती है; क्योंकि उस वर्ष स्कन्दगुप्त के प्रबल प्रताप के सामने हार मान भग्न-मनोरथ होकर हूणों को लौटना पड़ा था। अतः रघुवंश को कालिदास की प्रथम रचना मानकर पाठक ने उन्हें स्कन्दगुप्त का समकालीन माना है। विजयचन्द्र मजुमदार ने कुछ अन्य प्रमाण देकर इन्हें कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त दोनों के समय में माना है।[2]

(ख) पश्चिमी विद्वान् शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य उपाधि धारण करने वाले, चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में (जब भारत में चारों ओर शान्ति विराजमान थी और जो भारतीय कलाकौशल के पुनरुन्नति का काल माना जाता है) कालिदास को मानते हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु का दिग्विजय समुद्रगुप्त की विजय से सर्वथा मिलता-जुलता है। रघुवंश में वर्णित शान्ति[3] का समुचित काल चन्द्रगुप्त का ही समय था। इसके सिवाय इन्दुमती-स्वयंवर में उपस्थित मगध राजा के लिए

---

१. द्रष्टव्य—पाठक द्वारा सम्पादित मेघदूत (भूमिका) १९१६।

२. J. R. A. S. 1909, P. 731.

३. वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्। (रघु० ६।७५)

जो उपमा या विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है, परन्तु गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति बताना ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम विक्रमादित्य नहीं थे। जब इनसे भी प्राचीन मालवा में राज्य करनेवाले विक्रम का पता इतिहास से चलता है, तब कालिदास गुप्तकाल में कैसे माने जा सकते हैं ?

प्रथम शती में कालिदास--(क) ऐतिहासिक खोज से ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में शकों को परास्त करने वाले, विद्वानों को विपुल दान देने वाले उज्जयिनी-नरेश राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व का पता चलता है। राजा हाल की 'गाथासप्तशती'[1] में (रचनाकाल प्रथम शताब्दी) 'विक्रमादित्य' नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है, जिसने शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। जैन ग्रन्थों से इस बात की पर्याप्त पुष्टि होती है। मेरुतुङ्गाचार्य विरचित 'पद्यावली' से पता चलता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लौटा लिया था। यह घटना महावीर-निर्वाण के ४७० वें वर्ष में (५२७–४७०=५७ ई० पूर्व) हुई थी। इसकी पुष्टि प्रबन्धकोश तथा शत्रुञ्जय-महात्म्य से भी होती है।

प्राचीन काल में 'मालव' नामक गणों का विशेष प्रभुत्व था। ईस्वी पूर्व तृतीय शतक में इसने 'क्षुद्रक' गण के साथ सिकन्दर का सामना किया था, पर विशेष सहायता न मिलने से पराजित हो गया था। यही मालव जाति ग्रीक लोगों के सतत आक्रमण से पीड़ित होकर राजपूताने की ओर आई और मालवा में ईस्वी पूर्व प्रथम द्वितीय शताब्दी में अपना प्रभुत्व जमाया। यह गणराज्य था और विक्रमादित्य इसी गणतन्त्र के मुखिया थे। शकों के आक्रमण को विफल बनाकर विक्रम ने 'शकारि' की उपाधि धारण की और अपने मालवगण को प्रतिष्ठित किया। इसलिए इस संवत् का 'मालवगण-स्थिति' नाम पड़ा था।[2] गणराज्य में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का विशेष महत्त्व होता है। अतः यह संवत् गणमुख्य के नाम पर ही अभिहित न होकर गण के नाम पर 'मालव-संवत्' कहलाता था। अतः ई० पू० प्रथम शतक में विक्रम नाम-धारी राजा या गणमुखिया का परिचय इतिहास से भली-भाँति लगता है। इन्हीं की सभा में कालिदास की स्थिति मानना सर्वथा न्यायसंगत है।

निष्कर्ष---अपने आश्रयदाता 'विक्रम' की सूचना कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दी है। विक्रमोर्वशीय त्रोटक के अभिधान में नायक के स्थान पर 'विक्रम' का उल्लेख तथा उसके प्रथम अंक में 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः' वाक्य में 'विक्रम' शब्द का प्रयोग विक्रम के साथ कालिदास का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करता है। अभिज्ञान-शाकुन्तल के एक प्राचीन हस्तलेख (लेखनकाल सं० १६९९ वि०=१६४२ ई०) की एक प्रस्तावना में रसभाव-विशेष-दीक्षा-गुरु विक्रमादित्य साहसाङ्क नाम्ना निर्दिष्ट किये गये हैं

---

१. संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ (गाथासप्तशती ५।६४)

२. मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये ।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने ॥३४॥ (वत्सभट्टिः—मन्दसोर शिलालेख)

तथा भरत-वाक्य में 'गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यैः' में राजनीतिक अर्थ में व्यवहृत 'गण' शब्द 'गणराष्ट्र' का सूचक स्वीकृत किया गया है। प्रायः अभी तक विक्रमादित्य एकतान्त्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं, परन्तु ऊपर निर्दिष्ट हस्तलेख के प्रामाण्य पर वे गणराष्ट्र (मालव गणराष्ट्र) के गणमुख्य प्रतीत होते हैं। विक्रमादित्य उनका व्यक्तिगत अभिधान था (कथासरित्सागर का पोषक साक्ष्य है) तथा 'साहसाङ्क' उनकी उपाधि थी। उन्होंने शकों को उनके प्रथम बढ़ाव में पराजित कर इस क्रान्तिकारी घटना के उपलक्ष्य में 'मालवगण-स्थिति' नामक संवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चलकर 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गणराष्ट्र में व्यक्तिविशेष का प्राधान्य नहीं रहता। इसीलिए यह गण के नाम से प्रसिद्ध था। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा समस्त गणराष्ट्र उच्छिन्न कर दिये गये; फलतः अष्टम-नवम शती में सारे देश में निरंकुश एकतन्त्र की स्थापना हो जाने पर गणराष्ट्र की कल्पना ही विलीन हो गई। तभी गणमुख्य का नाम इससे सम्बद्ध कर दिया गया है और यह संवत् 'विक्रम' के नाम से प्रसिद्ध हो गया[1]।

विक्रमादित्य के गुप्त सम्राट् होने के विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियाँ हैं—(१) गुप्त सम्राटों का अपना वंशगत संवत् है, उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख में मालव अथवा विक्रम संवत् का उल्लेख नहीं है। जब उन्होंने ही विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं किया, तब जनता उनके गौरव के अस्त होने पर उनके नाम से इसे 'विक्रम संवत्' क्यों कहने लगेगी? (२) गुप्त सम्राट् पाटलिपुत्रनाथ थे, किन्तु विक्रमादित्य उज्जयिनीनाथ थे, अनुश्रुतियों के आधार पर ही नहीं, प्रत्युत रघुवंश (६।३६) के आधार पर भी। यहाँ इन्दुमती-स्वयंवर में अवन्तिनाथ को 'विक्रमादित्य' होने का गूढ़ संकेत विद्यमान है[2]। (३) उज्जयिनी के विक्रम का व्यक्तिगत अभिधान ही 'विक्रमादित्य' था, उपाधि नहीं। कथासरित्सागर में लिखा है कि उनके पिता ने जन्म-दिन को ही शिवजी के आदेशानुसार उनका नाम 'विक्रमादित्य' रखा, अभिषेक के समय की यह उपाधि नहीं है। इसके विरुद्ध किसी गुप्त सम्राट् का नाम 'विक्रमादित्य' नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त के विरुद क्रमशः 'विक्रमादित्य' तथा 'क्रमादित्य' (कहीं-कहीं विक्रमादित्य भी) थे। समुद्रगुप्त की यह उपाधि नहीं थी। कुमारगुप्त की उपाधि थी 'महेन्द्रादित्य', कोई नाम नहीं था। उपाधि होने से पहिले यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई पराक्रमी लोकप्रसिद्ध व्यक्ति रहा हो, जिसके नाम का अनुकरण पिछले युग के लोग करते हैं। गुप्त राजाओं की 'विक्रमादित्य' उपाधि अपने पूर्व किसी लोकख्यात व्यक्ति की सत्ता की परिचायिका है। अतः विक्रमादित्य की स्थिति प्रथम शती में गुप्तों से पूर्व मानना नितान्त समुचित है। इसी विक्रम की सभा के रत्न कालिदास थे।

(ख) बौद्ध कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। कुषाण—नरेश कनिष्क के समकालीन होने से उनका समय ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके तथा कालिदास के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि, वर्णन की शैली, अलंकारों का

---

१. विशेष द्रष्टव्य डॉ० राजबली पाण्डेय : विक्रमादित्य (चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी), १९५४।

२. बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥ (रघु० ६।३६)।

प्रयोग, छन्दों का चुनाव--आदि अनेक विषयों में कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। अश्वघोष प्रधानतः सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। काव्य की ओर उनकी अभि- रुचि का होना तथा उसे धर्मप्रचार का साधन मानना काव्यकला के उत्कर्ष का द्योतक है (सौन्दरनन्द १८।६३)। और यह उत्कर्ष कालिदास के प्रभाव का ही फल है। बुद्ध- चरित में अश्वघोष ने कालिदास के बहुत से श्लोकों का अनुकरण किया है। रघुवंश के ७ वें सर्ग में (श्लोक ५–१५) कालिदास ने स्वयंवर से लौटने पर अज को देखने के लिए आने वाली उत्सुक स्त्रियों का बड़ा ही अभिराम वर्णन किया है। अश्वघोष ने बुद्धचरित (तृतीय सर्ग, १३–२४ पद्य) में ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है। कुमारसम्भव में भी ये ही पद्य मिलते हैं। यदि कालिदास ने इसे अश्वघोष के अनुकरण पर लिखा होता, तो वे दो बार इसका प्रदर्शन कर अपना ऋण नितान्त अभिव्यक्त नहीं करते, उसे छिपाने का प्रयत्न करते। कालिदास की भाव-सुन्दरता अश्वघोष के द्वारा सुरक्षित न रह सकी। तुलना करने से कालिदास का समय अश्वघोष से प्राचीन प्रतीत होता है। अतः कालिदास का समय ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही मानना युक्तियुक्त है।

(ग) शाकुन्तल में सूचित सामाजिक तथा आर्थिक दशा का अनुशीलन सूचित करता है कि कालिदास बौद्ध धर्म से प्रभावित उस युग के कवि थे जब हिन्दू देवी-देवताओं के विषय में श्रद्धाविहीन विचार प्रचलित थे। कालिदास ने अभिज्ञान-शकुन्तल की नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया है। इस नान्दी में 'प्रत्यक्षाभिः' शब्द का प्रयोग कर कवि ने तत्कालीन देवता-विषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया है। जिस शिव की अष्टमूर्तियों का हमें प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है—जिनका साक्षात्कार हमें अपनी आँखों से हो रहा है, उन देवता के विषय में अश्रद्धा कैसे टिक सकती है? अविश्वास कैसे रह सकता है? इसी प्रकार षष्ठ अंक में कालिदास ने कर्तव्य-कर्म होने के कारण यज्ञयागादि का विधान ब्राह्मण के लिए आवश्यक बतलाया है। बौद्धों ने हिंसापरक होने के कारण यज्ञों की भरपेट निन्दा की, परन्तु शकुन्तला में एक पात्र कहता है कि क्या यज्ञ में पशु मारनेवाले श्रोत्रिय का हृदय दयालु नहीं होता? कुल-परम्परागत धर्म का परित्याग क्या कभी श्लाघनीय है? अतएव यज्ञों का अनुष्ठान सर्वदा श्रेयस्कर है; परन्तु उसके हिंसापरक होने पर भी याज्ञिक ब्राह्मणों का हृदय कोमल होता है--

सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयकम्।
पशुमारण-कर्मदारुणः अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥

यहाँ कवि ने बौद्ध धर्म के कारण यज्ञों के विषय में होने वाली निन्दा या अश्रद्धा को दूर करने का उद्योग किया है। अतः कालिदास का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जा रही थी तथा ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हो रहा था। उनका समय ब्राह्मणवंशी शुंगनरेशों (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के कुछ ही पीछे होना चाहिए। अतः विक्रम संवत् के प्रथम शतक में कालिदास को मानना सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(घ) कालिदास को प्रथम शताब्दी में रखने के लिए अन्य भी प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं--

(१) कालिदास ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग (श्लोक ३६) में 'अवन्तिनाथ' का वर्णन करते समय 'विक्रमादित्य' विरुद का संकेत किया है। कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य मालवगण के संस्थापक, काव्यकला के प्रेमी, शैव थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी उनके शैव होने का संकेत मिलता है। फलतः उनके विक्रमादित्य के सभापण्डित होने की अधिक सम्भावना है, न कि वैष्णव मतावलम्बी परमभागवत गुप्तनरेशों की सभा में।

(२) रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर के प्रसङ्ग में पांड्य नरेश का वर्णन किया गया है (श्लोक ५९–६४)। चतुर्थ शती में पाण्ड्यों का राज्य समाप्त हो गया था, परन्तु प्रथम शती में उनका राज्य विद्यमान था। कालिदास ने पाण्ड्य नरेश की 'उरगपुर' राजधानी बतलाया है, जो 'उरियाउर' का संस्कृत नाम है। पाण्ड्य नरेशों की यही राजधानी थी।

काव्यग्रन्थ

कालिदास की सच्ची रचनाओं का निर्णय करना आलोचकों के लिए एक दुष्कर कार्य है, क्योंकि कालिदास की काव्य-जगत् में ख्याति होने पर अवान्तरकालीन बहुत से कवियों ने 'कालिदास' का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपा रखा। कम से कम राजशेखर (१० शतक) ने तीन कालिदासों की सत्ता का पूर्ण संकेत किया है[1]। एक तो परम्परा की अविच्छिन्नता और दूसरे अनेक कालिदासों की सत्ता—दोनों ने मिलकर इस समस्या को जटिल तथा अमीमांस्य बना रखा है।

ऋतुसंहार—'ऋतुसंहार' कालिदास की प्रथम काव्यकृति है। विद्वानों की दृष्टि में बालकवि कालिदास ने काव्यकला का आरम्भ इसी ऋतु-वर्णन-परक लघुकाव्य से किया। छः सर्गों में विभक्त यह काव्य ग्रीष्म से आरम्भ कर वसन्त तक छहों ऋतुओं का बड़ा ही स्वाभाविक, अकृत्रिम तथा सरल वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु इसे कालिदासीय कृति मानने में आलोचकों में ऐकमत्य नहीं है। उनकी दृष्टि में न तो इसमें कालिदास की कमनीय शैली या वाग्वैदग्धी का परिचय मिलता है, न इसमें बाल-रचना की पुष्टि में ही कोई प्रमाण मिलता है। भारतीय दृष्टि से ऋतुओं का वर्णन रूढिगत तथा सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण है। अलङ्कार ग्रन्थों में उद्धरण का अभाव भी उक्त सन्देह की पुष्टि-सा करता प्रतीत होता है।

कुमारसम्भव—कालिदास की सच्ची निःसन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कुमार कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था, परन्तु यह महाकाव्य अधूरा ही हैं। इसके वर्तमान १७ सर्गों में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी के चमत्कार हैं ही। अष्टम सर्ग भी उनका ही निःसंशय निर्माण है। आलङ्कारिकों तथा सूक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गों में से पद्यों को उद्धृत किया है। कालिदासीय कविता के प्रवीण पारखी मल्लिनाथ ने इतने ही सर्गों पर अपनी 'संजीवनी' लिखी। इन आदिम अष्ट सर्गों में विषय की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य है। कविता का चमत्कार सहृदयों के लिए नितान्त हृदयावर्जक है। 'जगतः पितरौ' शिव-पार्वती जैसे दिव्य दम्पती के रूप तथा स्नेह का वर्णन नितान्त औचित्यपूर्ण

---

१. एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किम्॥ (सूक्तिमुक्तावली)

तथा ओजस्वी है। केवल अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलङ्कारिकों के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है। पञ्चम सर्ग में पार्वती की कठोर तपश्चर्या का वर्णन जितना ओजपूर्ण, उदात्त तथा संश्लिष्ट है उतना ही तृतीय सर्ग में शिवजी की समाधि का वर्णन भी है। ९ से लेकर १७ सर्ग किसी साधारण कवि के द्वारा लिखित प्रक्षेपमात्र है।

मेघदूत—यह कालिदास की अनुपम प्रतिभा का विलास है। वियोगविधुरा कान्ता के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-सन्देश भेजना मौलिक कल्पना है। सम्भव है यह हनूमान् को दूत बनाकर भेजने की रामायणीय कथा अथवा हंसदूत की महाभारतीय कथा के द्वारा संकेतित किया गया हो, परन्तु इसका सांविधानक तथा विषयोपन्यास कवि की मौलिक सूझ के परिणाम हैं। इसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का निदर्शन विपुल टीका-सम्पत्ति (लगभग ५० टीकाओं) से तो लगता ही है; साथ ही साथ तिब्बती तथा सिंघली भाषा में इसके अनुवाद से यह विशेषतः पुष्ट होती है। 'मेघदूत' को आदर्श मानकर संस्कृत में निबद्ध एक विपुल काव्यमाला है, जो 'सन्देश-काव्य' के नाम से विख्यात है[1]। पूर्वमेघ में कवि ने रामगिरि से अलका तक मार्ग के वर्णनावसर पर समस्त भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा का अभिराम उपन्यास किया है। यह बाह्यप्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है, तो उत्तरमेघ मानव-हृदय के सौन्दर्य तथा अभिरामता का विमल चित्रण है। यक्ष का प्रेम-सन्देश, उसके कोमल हृदय के स्वाभाविक स्नेह का तथा नैसर्गिक सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है और इस उदात्त प्रेम का अभिव्यंजक, काव्य-सुषमा तथा भावसौष्ठव से मण्डित यह ग्रन्थ रस का अक्षय्य स्रोत है जिसकी भावधारा सूखने की अपेक्षा प्रतिदिन आनन्दातिरेक से वृद्धिगत ही होती जा रही है।

रघुवंश—भारतीय आलोचना रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानती है और इसीलिए कालिदास के लिए ही 'रघुकार' (रघुवंश का रचयिता) अभिधान का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ की लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय विभिन्न काल में निर्मित ४० टीकाओं के अस्तित्व से भी भली-भाँति मिल सकता है। रघु के जन्म की पूर्व पीठिका से ही इस काव्य का आरम्भ होता है। दिलीप के गोचारण से रघु का जन्म होता है (द्वितीय तथा तृतीय सर्ग), जो अपने अदम्य पराक्रम से पूरे भारतवर्ष के ऊपर दिग्विजय करते हैं (चतुर्थ सर्ग) और अपनी अद्भुत दानशीलता दिखलाकर लोगों को चकित कर देते हैं (पंचम सर्ग)। इसके अनन्तर तीन सर्गों में इन्दुमती का स्वयंवर, अन्य समवेत राजाओं को परास्त कर रघुपुत्र अज का इन्दुमती से विवाह तथा कोमल माला के गिरने से इन्दुमती का मरण तथा अज का करुण विलाप क्रमशः वर्णित हैं। दसवें सर्ग से लेकर १५ वें सर्ग तक रामचरित का विस्तृत वर्णन है। यहाँ कालिदास ने जमकर रामचन्द्र के चरित का वैशिष्ट्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। त्रयोदश सर्ग में पुष्पकारूढ़ राम के द्वारा भारतवर्ष के स्थलों का रुचिर वर्णन कालिदास की प्रतिभा का विलास है। चतुर्दश सर्ग सीता के चरित की सुषमा से आलोकित है। राम के द्वारा परित्यक्ता गर्भ-भरालसा जनकनन्दिनी के प्रणय-सन्देश में जो आत्मगौरव, जो स्नेह भरा हुआ है वह पतिव्रता के चरित का उत्कर्ष है। अन्तिम कतिपय सर्गों में कालिदास

१. द्रष्टव्य—इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, जिल्द—४।

नाना राजाओं के चरित को सरसरी तौर से निरखते चले गये हैं, परन्तु अन्तिम १९ वें सर्ग में कामुक अग्निवर्ण का चित्रण बड़ी ही मार्मिकता के साथ कवि ने किया है। देखने में रघुवंश अधूरा-सा दीखता है, परन्तु कालिदास ने यहाँ प्रभुशक्ति की कल्पना में अपने विचारों को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त कर दिया है। प्रकृति-रंजन के कारण राज्य की समृद्धि होती है तथा प्रकृतिहिंसन के कारण राज्य का सर्वनाश होता है—यह उपदेश बड़े ही अच्छे ढंग से रघुवंश के अनुशीलन से प्रकट हो रहा है।

समीक्षण

महाकवि कालिदास की कविता देववाणी का शृंगार है। माधुर्य का निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस शय्या, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का मंजुल प्रयोग-कमनीय काव्य के समस्त लक्षण कालिदास की कविता में अपना अस्तित्व धारण किये हुए हैं। कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं, जिनके पात्र भारतीयता की भव्य मूर्ति हैं। जीवन की विविध परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में विशेष रूप से होगी, जनता का वही सच्चा प्रिय कवि होगा। कालिदास की विशेषता इसी में है। भारतीय समाज का सच्चा रूप उनके काव्यों में झाँकता है तथा उनके नाटकों में अपना अभिनय दिखाता है। कालिदास की कविता का प्रधान गुण है वर्ण्य–विषय तथा वर्णन-प्रकार में मंजुल सामञ्जस्य। कालिदास चुने हुए थोड़े शब्दों में जिन भावों की अभिव्यक्ति कर रहे हैं उन्हें दूसरा कवि विस्तार से लिखकर भी प्रकट नहीं कर सकता। वह जिसे छू देते हैं वह सोना बन जाता है। औचित्य के तो वे प्रवीण मर्मज्ञ हैं। जिन भावों का जिन शब्दों के द्वारा प्रकटन कलात्मक तथा रुचिर होगा, वे उन भावों को उन्हीं शब्दों में प्रकट कर अपनी भावुकता का परिचय देते हैं।

कालिदास के काव्यों में हृदय-पक्ष का प्राधान्य है। कवि मानव हृदय की परिवर्त्तन-शील वृत्तियों को समझने तथा उन्हें अभिव्यक्त करने में अद्भुत चातुर्य रखता है। संसार का अनुभव उसे गहरा था तथा ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष के ग्रहण करने में अपूर्व भावुकता थी। आनन्दवर्धन तथा जर्मन महाकवि गेटे ने एक स्वर से कालिदास के भावों की उदात्तता तथा महनीयता की प्रशंसा की है। कालिदास प्रतिभासम्पन्न स्वतन्त्र कवि हैं, जिन्होंने अपने काव्यों की शैली का रूप-निरूपण स्वयं किया। रसमयी पद्धति अथवा 'सुकुमार मार्ग' के कवि ने अपने भावों की तीव्रता तथा उदात्तता के संचार के लिए अलंकारों का भी प्रयोग बड़े ही औचित्य से किया। 'उपमा कालिदासस्य' का भारतीय आभाणक वस्तुतः सच्चा है। उनकी उपमायें लोक तथा प्रकृति के मार्मिक स्थलों से संगृहीत की गयी हैं तथा विषय को उज्ज्वल करने और काव्यसुषमा की वृद्धि में नितान्त समर्थ हैं। अन्तर्जगत् तथा बहिर्जगत् से चुने जाने के कारण इन उपमाओं में एक विलक्षण चमत्कार है।

उपमा कालिदासस्य

काव्य में अलंकार-प्रयोग के विषय में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने एक बड़ी रहस्यमयी उक्ति प्रस्तुत की है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शब्दक्रियो भवेत् ।
अपृथग्-यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ।।

रस के द्वारा आक्षिप्त होने के कारण जिसका बन्ध या निर्माण शक्य होता है और जिसकी सिद्धि में किसी प्रकार के पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, वही सच्चा अलंकार है--ध्वनिवादियों का यही मत है। प्रथम होती है रस की अनुभूति और तदनन्तर होती है उसकी अलंकृत अभिव्यक्ति। रसानुभूति तथा शब्दाभिव्यक्ति--दोनों एक ही प्रयास के परिणत फल हैं। कोई कलाकार जिस चित्तप्रयास द्वारा रस-विधारण करता है उसी चित्तप्रयास द्वारा अलंकारादि के माध्यम से रसप्रस्फुटन करता है; उसके लिए उसे किसी प्रकार के पृथक् प्रयास करने की जरूरत ही नहीं होती। रससवेग द्वारा अलंकार के स्वतः प्रकाशन का यह सिद्धान्त ध्वनिवादियों को ही मान्य नहीं है, प्रत्युत प्रख्यात आलोचक क्रोचे भी इससे पूर्णतया सहमत हैं। चित्त की सहजानुभूति (इन्ट्यूशन) एवं अभिव्यञ्जना (एक्स्प्रेशन)--इन दो वस्तुओं को वे दो प्रक्रियाओं से उत्पन्न नहीं मानते। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि कला की अभिव्यञ्जना की सम्भावना बीज-रूप में हृदय की रसानुभूति में ही निहित रहती है; जैसे निहित रहती है एक विराट वृक्ष की शाखा-प्रशाखायें, किसलय-पल्लव, फूल-फल आदि की रेखाओं की प्रकाशन-संभावना एक छोटे से बीज में। साहित्य के रस एवं साहित्य की भाषा में अद्वय योग रहता है। अभिनवगुप्त ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है कि रसाभिभूत हृदय वाले कवि के द्वारा अभिव्यक्त अलंकार--भाषा का यह समस्त सौन्दर्य--कटककुण्डलादिवत् कहीं बाहर से जोड़ा हुआ नहीं रहता, प्रत्युत वह काव्यपुरुष का स्वाभाविक देह-धर्म होता है। अभिनवगुप्त ने भी स्पष्ट ही कहा है--'न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ'। इस विषय में महाकवि कालिदास भी अद्वयवादी थे :--

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

वाक् तथा अर्थ का--काव्य की अन्तर्निहित भाववस्तु एवं उसके अभिव्यञ्जक शब्द का--परस्पर नित्य सम्बन्ध है, जैसे विश्वसृष्टि के आदि माता-पिता पार्वती-परमेश्वर का। त्रिगुणात्मिका शक्ति ही विशुद्ध चिन्मय शिव की विश्व में अभिव्यक्ति का कारण बनती है। शिव के आश्रय बिना शक्ति की लीला नहीं, शक्ति के बिना शिव का कोई अस्तित्व ही नहीं; वह शवमात्र होता है। साहित्य के क्षेत्र में भी भावरूप महेश्वर एवं शब्दरूप पार्वती--दोनों ही एक दूसरे के आश्रित हैं। महाकवि कालिदास की उपमा (या अलंकार) के प्रयोग के अवसर पर इस तथ्य का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है कि रसानुभूति की समग्रता को वर्ण, चित्र तथा संगीत में जो भाषा जितना अधिक मूर्त कर सकेगी, वह भाषा उतनी ही सुन्दर एवं मधुर होगी।

कालिदास अपनी उपमा के द्वारा देवता तथा मानव दोनों के गौरव को प्रतिष्ठित करते हैं। समाधि में निरत भूतभावन शंकर की उपमा द्वारा जिस अपूर्व स्तब्धता का परिचय दिया गया है उसका सौन्दर्य नितान्त अवलोकनीय है (कुमारसम्भव ३।४८)--

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहम्　　अपामिवाधारमनुत्तरङ्गम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधाद् निवापनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ।।

योगेश्वर महादेव शरीरस्थ समस्त वायुओं को निरुद्ध कर पर्यङ्कबन्ध में स्थिर अचंचल भाव से बैठे हैं, जैसे वृष्टि के संरम्भ से हीन अम्बुवाह मेघ हो (जल को धारण करनेवाला अम्बुवाह किसी भी क्षण में बरस सकता है), तरंग से हीन समुद्र हो (चंचल जलराशि का आधारभूत समुद्र जैसे तरंगहीन अचंचल हो; 'अपामिवाधार' शब्द की यही ध्वनि है) तथा निवातनिष्कम्प प्रदीप हो। यहाँ तीनों प्राकृतिक उपमानों के द्वारा कालिदास योगिराज की अचंचल स्थिरता की अभिव्यञ्जना कर उनके गौरव की एक रेखा खींचते हुये प्रतीत होते हैं।

रघुवंश (३।२) में कालिदास ने गर्भवती सुदक्षिणा का बड़ा सुन्दर चित्र उपमा के द्वारा खींचा है—

शरीरसादादसमग्रभूषणा　मुखेन　साऽलक्ष्यत　लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन　विचेयतारका　प्रभातकल्पा　शशिनेव　शर्वरी ।।

आसन्नप्रसवा सुदक्षिणा मानों प्रभातकल्पा रजनी हो। रजनी दिन को प्रकाश देने वाले सूर्य का प्रसव करती है, वैसे ही रानी वंशकर्ता उज्ज्वलमूर्ति रघु को प्रसव करने जा रही है। सूर्यरूपी पुत्र को गर्भ में धारण करनेवाली आसन्नप्रसवा विराट् रजनी की महिमामयी मूर्ति होती है, सुदक्षिणा की मूर्ति में भी वह गौरव प्रस्फुटित हो रहा है। शरीर की कृशता के कारण हीरे, जवाहिरों के भूषण स्वयं खिसक पड़े हैं, जैसे रजनी में टिमटिमाते तारे स्वयं खिसक जाते हैं और दो चार ही बच रहते हैं। लोध्र के समान ईषत्-पीला मुख पीले पड़ जानेवाले चन्द्रमा के समान प्रकाशहीन हो गया है। गर्भिणी के स्वाभाविक चित्रण के साथ ही प्रभातप्राया निशा का कितना समुचित वर्णन हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित हो जाता है।

कालिदास की उपमाओं की रसात्मिकता तथा रसपेशलता नितान्त मर्मस्पर्शी है। औचित्य तथा सन्दर्भ को शोभन बनाने की कला उनमें अपूर्व है। तपस्या के लिए आभूषणों को छोड़कर केवल वल्कल धारण करने वाली पार्वती चन्द्र तथा ताराओं से मण्डित होनेवाली अरुणोदय से युक्त रजनी के समान बतलाई गई है (कुमार० ५।४४)। स्तनों के भार से किंचित् झुकी हुई आतपसन्निभ लालवस्त्र को धारण करने वाली पार्वती फूलों के गुच्छों से झुकी हुई नवीन लाल पल्लवों से मण्डित संचारिणी लता के समान प्रतीत होती है—

पर्याप्त-पुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ।

स्वयंवर में उपस्थित भूपालों को छोड़कर जब इन्दुमती आगे बढ़ जाती है, तब वे राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये महलों के समान प्रतीत होते हैं। यहाँ राजाओं की विषण्णता तथा उदासी की अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वारा बड़ी सुन्दरता से की गई है—

संचारिणी दीपशिखेव　रात्रौ　यं यं व्यतीयाय　पतिंवरा सा ।
नरेन्द्र-मार्गाट्ट　इव　प्रपेदे विवर्णभावं　स　स　भूमिपालः ।।

इसी उपमा-प्रयोग के सौन्दर्य के कारण यह महाकवि 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से कविगोष्ठी में प्रसिद्ध है।

कालिदासीय उपमा की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह 'स्थानीय रञ्जन' (लोकल कलरिंग) से रंजित है और इससे श्रोता के चक्षु:पटल के सामने समग्र चित्र को प्रस्तुत कर देती है। परास्त किये जाने पर पुनः प्रतिष्ठित किये गये वंगीय नरेश रघु के चरण-कमल के ऊपर नम्र होकर उन्हें फलों से समृद्ध बनाते हैं, जिस प्रकार उस देश के धान के पौधे (रघु० ४।३७)। कलिंग-नरेश के मस्तक पर तीक्ष्ण प्रताप के रखने वाले रघु की समता गंभीरवेदी हाथी के मस्तक पर तीक्ष्ण अंकुश रखने वाले महावत से की गई है (रघु० ४।३९)। प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के नरेश रघु के आगमन पर उसी प्रकार झुक जाते हैं जिस प्रकार हाथियों के बाँधने के कारण कालागुरु के पेड़ झुक जाते हैं (रघु० ४।८१)। इन समस्त उपमाओं में 'स्थानीय रंजन' का आश्चर्यजनक चमत्कार है।

प्रकृति से गृहीत उपमाओं में एक विलक्षण आनन्द है। राक्षस के चंगुल से बचने पर बदहोश उर्वशी धीरे-धीरे होश में आ रही है। इसकी समता के लिए कालिदास चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छोड़ी जाती हुई (मुच्यमाना) रजनी, रात्रिकाल में धूमराशि से विरहित होने वाली अग्नि की ज्वाला, बरसात में तट के गिरने के कारण कलुषित होकर धीरे-धीरे प्रसन्न-सलिला होने वाली गंगा के साथ देकर पाठकों के नेत्रों के सामने तीन सुन्दर दृश्य को एक साथ उपस्थित कर देते हैं। ये तीनों उपमायें औचित्य-मण्डित होने से नितान्त रसाभिव्यञ्जक हैं (विक्रमोर्वशीय १।९)—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥

पात्र-चित्रण

कालिदास के पात्र जीवनी शक्ति से सम्पन्न जीते-जागते प्राणी हैं। उनकी शकुन्तला प्रकृति की कन्या, आश्रम की निसर्ग बालिका है, जिसके जीवन को बाह्य प्रकृति ने अपने प्रभाव से कोमल तथा स्निग्ध बनाया है। हिमालय की पुत्री पार्वती तपस्या तथा पातिव्रत का अपूर्व प्रतीक है, जिसके कठोर तपश्चरण के आगे ऋषिजन भी अपना माथा टेकते हैं। धीरता की मूर्तिधारिणी, चपल प्रेम की प्रतिमा मालविका, उन्मत्त प्रेम की अधिकारिणी उर्वशी,पारस्परिक ईर्ष्या तथा प्रणयमान की प्रतिनिधि इरावती—संस्कृत-साहित्य के अविस्मरणीय स्त्री-पात्र हैं। आदर्श पात्रों के सर्जन में रघुवंश अद्वितीय है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी की परिचर्या, अतिथि की इष्टपूर्ति के लिए धरिणीधर राजा की व्याकुलता, लोकरंजन के निमित्त तथा अपने कुल को निष्कलंक रखने के लिए नरपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का निर्वासन—कालिदासीय आदर्श सृष्टि के कतिपय दृष्टान्त हैं। कालिदास रमणी-रूप के चित्रण में ही समर्थ नहीं हैं; प्रत्युत नारी के स्वाभिमान तथा उदात्त रूप के प्रदर्शन में भी कृतकार्य हैं।

रघुवंश के चतुर्दश सर्ग (६१–६७ श्लोक) में चित्रित, राजाराम के द्वारा परित्यक्त, जनक-नन्दिनी जानकी का चित्र तथा उनका राम को भेजा गया संदेश कितना भावपूर्ण, गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। राम को 'राजा' शब्द के द्वारा अभिहित करना विशुद्ध तथा पवित्र चरित्र धर्मपत्नी के परित्याग के अनौचित्य का मार्मिक अभिव्यञ्जक है (रघु० १४।२१)—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य॥

सीता के चरित्र की उदारता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि इतनी विषम परिस्थिति में पड़ने पर भी वह राम के लिए एक भी कुशब्द का प्रयोग नहीं करती, बल्कि अपने ही भाग्य को कोसती है तथा अपनी ही निन्दा बारम्बार करती है।

पुरुष पात्रों का चित्रण भी उतना ही स्वाभाविक तथा भावपूर्ण है। गुरु की आज्ञा से नन्दिनी का सेवक दिलीप चरित्र में जितना सुन्दर है, वरतन्तु की इच्छापूर्त्ति करने वाला वीर रघु उतना ही श्लाघनीय है। रामचन्द्र का चरित्र इस महाकवि ने बड़ी कोमल तूलिका से चित्रित किया है। राम प्रजारंजक हैं और साथ ही साथ मानव भी हैं। वैदेही की निन्दा सुनकर राम के हृदय के विदरण की समता आग में तपे हुए अयोघन द्वारा आहत लोहे के साथ देकर कवि ने राम के हृदय की कठोरता तथा कोमलता दोनों की मार्मिक अभिव्यक्ति एक साथ की है (रघु० १४।३३)।

राम का हृदय लोहे के समान कठोर, अथ च तप्त होने पर कोमल है। अकीर्त्ति की उपमा अयोघन (लोहे का घन) के साथ देकर कवि उसकी एकान्त कठोरता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है। राम का स्वाभिमानी हृदय कहीं व्यक्त होता है (१४।४१), तो कहीं उनकी मानवता राजभाव के ऊपर झलकती है (१४।८४)। लक्ष्मण के लौट कर सीता का संदेश सुनाने पर राम की आँखों में आँसू छलकने लगते हैं, यह राजभाव के ऊपर मानवता की विजय है (रघु० १४।८४)——

बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्य-चन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥

प्रकृति-वर्णन

कालिदास प्रकृति देवी के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी सूक्ष्मदृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को सावधानता से हृदयगम किया था। उनके प्राकृतिक वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के सामने नाच उठती है। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा उसका मार्मिक अंश ग्रहण करना कालिदास की महती विशेषता है। मनुष्य तथा प्रकृति——दोनों का मंजुल सम्पर्क तथा अद्भुत एकरसता दिखाकर कवि ने प्रकृति के भीतर स्फुरित होनेवाले हृदय को पहचाना है। भारतीय प्राकृतिक वर्णनों में एक विचित्रता है। पाश्चात्य कवियों के वर्णन प्रायः आवरणहीन होते हैं, परन्तु संस्कृत कवियों के वर्णन अलंकृत होते हैं——ये महाकवि प्रकृति को सुन्दर अलंकारों से सजाकर पाठकों के सामने लाते हैं। कालिदास के वर्णन नितान्त सूक्ष्म, सुन्दर तथा संश्लिष्ट रूप में होते हैं।

मेघदूत भारतीय कवि की अद्भुत प्रतिभा के द्वारा चित्रित भारतश्री का एक नितान्त सरस चित्रण है। 'ऋतुसंहार' में समस्त ऋतुएँ अपने विशिष्ट रूप में प्रस्तुत होकर पाठकों का मनोरंजन करती हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग (४९–५३ श्लोक) में तपोवन का तथा त्रयोदश में त्रिवेणी का (५४–५७ श्लोक) सुन्दर वर्णन कल्पना के साथ निरीक्षण-शक्ति का मंजुल सामञ्जस्य है।

कालिदास की निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा पैनी है। उनका प्रकृति-वर्णन वैज्ञानिक तथा प्रतिभामण्डित है। इसके रमणीय उदाहरण सर्वत्र दीख पड़ते हैं। पर्वत के झरनों पर जब दिन के समय सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब उनमें इन्द्रधनुष चमकने लगता है, परन्तु सन्ध्या के समय सूर्य के पश्चिम ओर लटक जाने पर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखलाई पड़ते। इस वैज्ञानिक तथ्य तथा निरीक्षण-चातुरी का प्रत्यक्ष वर्णन कालिदास ने इस पद्य में किया है (कुमार० ८।३१)--

सीकर-व्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

किन्तु झरनों में इन्द्रधनुष के न दिखलाई पड़ने पर भी तालाबों के जल में लटकते हुए सूर्य की समतल कान्ति पड़ने से ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोने का पुल बना हो (कुमार० ८।३४)--

पश्य पश्चिम-दिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतु-बन्धनम्॥

ये उक्तियाँ रूढ़ि का अनुसरण करनेवाले कवि की नहीं हो सकतीं, वरन् ये उक्तियाँ उस कवि की हैं जो मुग्ध दृष्टि से प्रकृति की शोभा देखते हुए सब कुछ भूल जाता है। इस तथ्य का प्रत्यक्ष दृष्टान्त हिमालय का वर्णन है। संस्कृत कवियों में कालिदास को हिमालय सबसे अधिक प्यारा था और गाढ़ परिचय होने से उनके वर्णन नितान्त तथ्य-मण्डित, वैज्ञानिक तथा शोभन हैं। गुहा के भीतर कामकेलि में निरत किन्नरमिथुन के लिए जलद का तिरस्करिणी होना, वृष्टि से उद्वेलित ऋषिजनों का धूपवाले शिखर का आश्रय लेना, हाथियों के द्वारा विघटित सरल द्रुमों (चीड़ के पेड़) से बहनेवाले दूध का हवा के झोंके से सर्वत्र फैलना, जलवृष्टि का करका के रूप में परिवर्तन होना--आदि हिमालय प्रदेश की भौतिक विशेषताएँ कवि की सूक्ष्म अवलोकन-शक्ति के जागरूक दृष्टान्त हैं।

कालिदास के प्रकृति-वर्णन में अनेक वैशिष्ट्य हैं--कवि मानव-सौन्दर्य की तीव्रता तथा यथार्थता के अभिव्यंजन के निमित्त प्रकृति का आश्रय लेता है, तो कहीं वह प्रकृति के ऊपर मानव भावों तथा व्यापारों का ललित आरोप करता है। कहीं वह प्रकृति और मानव के बीच परस्पर गाढ़ मैत्री, सहज सहानुभूति तथा रमणीय रागात्मक वृत्ति का सम्बन्ध जोड़ता है, तो कहीं प्रकृति को भगवान् की ललित लीला का निकेतन मानकर आनन्द से विभोर हो जाता है। निःसन्देह कालिदास प्रकृति के अन्तःस्थल के सूक्ष्म पारखी महाकवि हैं, जिनकी दृष्टि प्रकृति के सौम्य-रूप, माधुर्यमय प्रवृत्ति तथा स्निग्ध सौन्दर्य के ऊपर रीझती है तथा उग्रता और भीषणता से सदा पराङमुख रहती है।

कालिदास : राष्ट्रमंगल

भारतवर्ष एक अखण्ड राष्ट्र है। इस विशाल विस्तृत देश के नाना प्रान्तों में भाषा तथा स्थानीय वेश-भूषा की इतनी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है कि बाह्यदृष्टि से देखनेवालों को विश्वास नहीं होता कि देश में समरसता का साम्राज्य है, अखण्डता का बोलबाला है; परन्तु बाहरी आवरण को हटाकर निरखनेवालों की दृष्टि में इसकी सांस्कृतिक एकता तथा अभिन्नता का परिचय पद-पद पर मिलता है। कालिदास भारतीय संस्कृति के हृदय थे। उनकी कविता में हमारी सभ्यता झलकती है; उनके नाटकों में हमारी संस्कृति विश्व के रंगमंच पर अपना भव्य रूप दिखलाती है। उनकी वाणी राष्ट्रीय भाव तथा भावना से ओतप्रोत है। इतिहास साक्षी है, इसी महाकवि ने आज से डेढ सौ वर्ष पहले, जब भारत पाश्चात्य जगत् के सम्पर्क में आया, तब इस देश के सरस हृदय, कोमल वाणी तथा उदात्त भावना का प्रथम परिचय पाश्चात्य संसार को दिया। आज भी हम इस महाकवि की वाणी से स्फूर्ति तथा प्रेरणा पाकर अपने समाज को सुधार सकते हैं तथा अपना वैयक्तिक कल्याण सम्पन्न कर सकते हैं।

कालिदास ने अखण्ड भारतीय राष्ट्र की स्तुति अभिज्ञान-शाकुन्तल की नांदी में की है। कविवर ने शङ्कर की अष्टमूर्तियों का उल्लेख किया है। कुमारसम्भव (६।२६) में भी इन्हीं मूर्तियों का विस्तार कर जगत् के रक्षण-कार्य का स्पष्ट संकेत है। अष्टमूर्ति-शङ्कर की उपासना कालिदास को अत्यन्त प्रिय थी। इसमें एक रहस्य है। महादेव की आठ मूर्तियाँ ये हैं——सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। ये समस्त मूर्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। अतः इन प्रत्यक्ष मूर्तियों को धारण करनेवाले इस जगत् के चेतन नियामक की सत्ता में किसी को सन्देह करने का अवकाश नहीं है। कालिदास वैदिक धर्म तथा संस्कृति के प्रतिनिधि ठहरे। 'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः'——इन शब्दों में वैदिक कवि ने निरीश्वरवादी बौद्धों को कड़ी चुनौती दी है। भगवान् की प्रत्यक्ष दृश्य-मूर्तियों में अविश्वास रखना किसी भी चक्षुष्मान् को शोभा नहीं देता। इतना ही नहीं, इस श्लोक में भारत की एकता तथा अखण्डता की ओर भी संकेत किया गया है। शिव की इन मूर्तियों के तीर्थ इस देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैले हुए हैं। सूर्य प्रत्यक्ष देवता है। चन्द्रमूर्ति की प्रतिष्ठा दो तीर्थों में है——एक है भारत के पश्चिम में काठियावाड़ का सोमनाथ-मन्दिर और दूसरा है भारत के पूरब में बंगाल का चन्द्रनाथ क्षेत्र। सोमनाथ का प्रसिद्ध तीर्थ प्रभासक्षेत्र में है और चन्द्रनाथ का मन्दिर चटगाँव से लगभग चालीस मील उत्तर पूर्व में एक पर्वत पर स्थित है। नेपाल के पशुपतिनाथ यजमान मूर्ति के तीर्थ हैं। पञ्च तत्त्वों की सूचक मूर्तियों के क्षेत्र दक्षिण-भारत में विद्यमान हैं। क्षितिलिंग शिवकांची में एकाम्रेश्वरनाम के रूप में है। जलंलिंग जम्बुकेश्वर के शिव-मन्दिर में मिलता है। तेजोलिंग अरुणाचल पर है, वायुलिंग कालहस्तीश्वर के नाम से विख्यात है, जो दक्षिण के तिरुपति बालाजी के कुछ ही उत्तर में है। आकाशलिंग चिदम्बर के मन्दिर में है। 'चिदम्बर' का अर्थ ही है 'चिदाकाश'। इसी से मूल-मन्दिर में कोई मूर्ति नहीं है, आकाश स्वयं मर्तिहीन जो ठहरा।

इस प्रकार भगवान् चन्द्रमौलीश्वर की ये आठों मूर्तियाँ भारत के सबसे उत्तरी भाग नेपाल से लेकर दक्षिण चिदम्बर तक तथा काठियावाड़ से लेकर बंगाल तक फैली हुई हैं और इनकी उपासना का अर्थ है समग्र भारतवर्ष की आध्यात्मिक एकता की उपासना। महाकवि ने राष्ट्रीय एकता की ओर इस श्लोक में गूढ़ रूप से संकेत किया है।

राष्ट्र का मंगल किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? क्षात्रबल तथा ब्राह्मतेज के परस्पर सहयोग से ही किसी देश का वास्तव में कल्याण हो सकता है। ब्राह्मण देश के मस्तिष्क हैं, उन्हीं के विचार तथा मार्ग पर समग्र देश आगे बढ़ता है। क्षत्रिय राष्ट्र के विजयी बाहु हैं, जिनकी संरक्षता में राष्ट्र पनपता है। मस्तिष्क और बाहु के इस परस्पर सम्मेल तथा साहाय्य का माहात्म्य वैदिक ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है। सम्राट् त्रैवृष्ण त्र्यरुण और महर्षि वृश-जान के वैदिक आख्यान का यही रहस्य है। कालिदास ने इस तत्त्व का स्पष्टीकरण बड़े सुन्दर शब्दों में किया है (रघुवंश ८।४)—

> स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
> पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा॥

अथर्ववेद के जाननेवाले गुरु वसिष्ठ के द्वारा संस्कार कर दिये जाने पर वह अज शत्रुओं के लिये दुर्द्धर्ष हो गया। ठीक ही है, अस्त्र-तेज से युक्त ब्रह्म-तेज आग और हवा के संयोग के समान प्रदीप्त हो उठता है।

भारतीय राजाओं का जीवन परोपकार की एक दीर्घ परम्परा होता है। कालिदास ने महाराज अज के वर्णन में कहा है कि उसका धन ही केवल दूसरों के उपकार के लिये नहीं था, प्रत्युत उसके समस्त सद्‌गुण दूसरों का कल्याण-सम्पादन करते थे; उसका बल पीडितों के भय तथा दुःख का निवारण करता था और उसका शास्त्राध्यन विद्वानों के सत्कार एवं आदर करने में लगाया गया था (रघु० ८।३)—

> बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहु श्रुतम्।
> वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना॥

राजा की सार्थकता प्रजापालन से है। 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'—हमारी राजनीति का आदर्श तत्त्व है। प्रकृति का अनुरञ्जन ही हमारे शासकों का प्रधान लक्ष्य होता था और प्रजा का कर्त्तव्य था राजा की भक्ति के साथ अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा। समाज वर्णाश्रम धर्म पर प्रतिष्ठित होकर ही श्रेयःसाधन कर सकता है, कालिदास की यह स्पष्ट सम्मति प्रतीत होती है। भारत का वास्तव कल्याण दो ही वस्तुओं से हो सकता है— त्याग से और तपोवन से। जिस दिन त्याग का महत्त्व कम हो जायगा तथा तपोवन के प्रति हमारी आस्था नष्ट हो जायगी, उसी दिन न हम भारतीय रहेंगे और न हमारी सभ्यता भारतीय रहेगी। आर्य संस्कृति की मूल-प्रतिष्ठा इन्हीं दो पीठों पर है। भारतीय राष्ट्र के संरक्षक रघु के जन्म का कारण नगर से बहुत दूर, वसिष्ठ के पावन आश्रम में निवास तथा गोचारण है। रघु का उदय गोमाता के वरदान का उज्ज्वल प्रभाव है। इसी प्रकार दुष्यन्त-पुत्र भरत का जन्म और पोषण हेमकूट पर्वत पर मारीचाश्रम में होता है। भारतीय राष्ट्र के संचालक नेता पावन तपोवन और पवित्र त्याग के वायुमण्डल

पले हैं और बड़े हुए हैं। हमारे राजाओं ने जिस दिन कालिदास के इस सन्देश को भुला दिया, उसी दिन उनका अधःपतन आरम्भ हो गया।

रघु की तेजस्विता तथा अग्निवर्ण की स्त्रैणता का कितना सजीव चित्र कालिदास ने खींचा है। रघु था त्याग का उज्ज्वल अवतार और अग्निवर्ण था स्वार्थ-परायणता की सजीव मूर्ति। रघु की वीरता तथा उदारता भारतीय नरेश का आदर्श है और रघु हिन्दू राजा का प्रतीक है, तो अग्निवर्ण पतित-पातकी भूपालों का प्रतिनिधि है। राजभक्त प्रजा प्रातःकाल अपने राजा का मुख देखकर सुप्रभात मनाने आती थी; परन्तु अग्निवर्ण मन्त्रियों के लाखों सिफारिस करने पर यदि कभी दर्शन देता था तो खिड़की से लटकाकर अपने केवल पैर का। प्रजा राजा का मुख देखने के लिये आती थी, पर पैर का दर्शन पाकर लौटती थी। वाह री विडम्बना! (रघु० १९।७)—

गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ।
तद् गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम्॥

अग्निवर्ण पार्थिव भोगविलास का दास था। उसे फल भी अच्छा ही मिला— राष्ट्र तथा देश का सत्यानाश। अग्निवर्ण के दुश्चरित्र का कुफल कवि ने बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इस चित्र को देखकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

कालिदास : गीता का आदर्श

वैदिक धर्म तथा दर्शन ने इस जगत् के उदय, संचालन तथा विनाश के निमित्त विश्व के अन्तर में एक विशाल दैवी शक्ति को अङ्गीकार किया है। विना उस शक्तिमान् की इच्छा के जगत् का छोटा से छोटा कार्य भी संपादित नहीं हो सकता। कालिदास ने उस शक्तिमान् को 'शिव' के रूप में ग्रहण किया है। 'शिव' जगत् के मङ्गलकारक तत्त्व का सामान्य अभिधान है। विश्व का प्रत्येक कण उनकी सत्ता की सूचना देता है। वैदिक धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा उदात्त है और कालिदास के ग्रन्थों में इसका उदात्ततम रूप दृष्टिगोचर होता है। कालिदास शङ्कर के उपासक होकर भी विष्णु तथा ब्रह्मा में उसी प्रकार श्रद्धा और आदर रखते हैं। वे क्षुद्र, संकीर्ण साम्प्रदायिकता से कोसों दूर थे। भगवान् की मूर्ति एक ही है जो गुणों की विषमता के कारण ब्रह्मा, विष्णु तथा शङ्कर का रूप धारण करती है। तत्त्व वस्तुतः एक ही है; त्रिविध रूप उपाधिजन्य है। इन त्रिदेवों में ज्येष्ठ और कनिष्ठ का भाव सामान्य है। कभी हरि शङ्कर के आदि में विद्यमान रहते हैं, तो कभी हर हरि के आदि में और कभी ब्रह्मा हरि और हर दोनों के आदि में स्थित हैं। ऐसी दशा में किसी एक देवता को बड़ा मानना तथा दूसरों को छोटा बतलाना नितान्त अनुचित एवं तर्कहीन है। कालिदास का कथन संशयहीन है (कुमारसम्भव ७।४४)—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ॥

आकाश से गिरनेवाला वर्षाकालीन जल एकरस ही होता है, परन्तु जिन स्थानों पर वह गिरता है उन स्थानों की विशेषता के कारण नाना रसों को प्राप्त करता है। ब्रह्म-तत्त्व भी ठीक इसी प्रकार समरस है। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है। परन्तु सत्त्व, रज तथा तम के सम्पर्क में आकर नाना कार्यों के निर्वाह के निमित्त वह विष्णु,

ब्रह्मा तथा शङ्कर नाम धारण करता है (रघु० १०।१७)। ब्रह्मतत्त्व अमेय है—उसके मान का पता नहीं चलता। कालिदास ने इसी लिये ब्रह्म की समता समुद्र से की है। समुद्र दश दिशाओं को व्याप्त किये हुए है और भिन्न-भिन्न समय में नाना अवस्थाओं को प्राप्त कर विद्यमान रहता है। अतः उसके रूप तथा प्रमाण का पता नहीं चलता। भगवान् विष्णु ने भी नाना स्थावर-जङ्गम का रूप धारण कर अपनी महिमा से समग्र विश्व को व्याप्त कर रखा है। इनके भी रूप का पता हमारी बुद्धि से नहीं चलता कि उनका स्वरूप किस प्रकार का है (ईदृक्तया) तथा वह कितना बड़ा है (इयत्तया) (रघु १३।५)-

ता तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा॥

भगवान् नित्य पूरिपूर्ण हैं। अतः उनके लिए कोई भी वस्तु अनवाप्त (अप्राप्त) तथा प्राप्तव्य नहीं है। जो व्यक्ति पूर्ण नहीं होता वह नाना प्रकार की वस्तुओं की कामना किया करता है, परन्तु जो स्वयं 'सर्वसमः' 'सर्वरसः' है उसके लिए किसी वस्तु की कामना की अपेक्षा ही नहीं रहती। ऐसी दशा में जन्म-कर्म का क्या कारण है? क्या कारण है कि भगवान् इस भूतल पर जन्म ग्रहण करते हैं तथा नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर कालिदास के शब्दों में 'लोकानुग्रह' है। वे करुणानिकेतन ठहरे, उनकी समग्र प्रवृत्तियाँ परार्थ ही होती हैं (रघु० १०।३१)—

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥

कालिदास इस श्लोक के भाव तथा शब्द दोनों के लिए ऋणी हैं (गीता ३।१२)–

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

कालिदास के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों पर गीता का प्रचुर प्रभाव दृष्टिगत होता है। गीता का 'कर्मयोग' कालिदास को सर्वथा मान्य है। इस संसार से आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये कालिदास द्वारा निर्दिष्ट मार्ग यह है (रघु० १०।२७)—

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पित-कर्मणाम्।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः-संनिवृत्तये॥

इस सारगर्भित श्लोक को हम कालिदास के दर्शन की 'चतुःसूत्री' मान सकते हैं। इसके चारों चरण नवीन तत्त्व की व्याख्या करते हैं। भगवान् की प्राप्ति के तीन साधन हैं--(१) भगवान् में चित्त को लगाना, (२) भगवान् को सब कर्मों को समर्पण करना, (३) संसार के सब विषयों से राग से रहित होना। चित्तावेश का प्रधान उपाय है—योग का अभ्यास। योग-विधि के द्वारा चित्त को एकाग्र कर भगवान् में लगाया जा सकता है। कालिदास 'योग' के बड़े भारी पक्षपाती हैं। उनका कहना है (कुमार० ६।७७)—

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।
अनावृत्ति-भयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः॥

रघुवंश के अष्टम सर्ग के आरम्भ में रघु को योग-विधि के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का वृत्तान्त प्रामाणिक रूप से वर्णित है। समग्र कर्मों को भगवान् को समर्पण करना चाहिये। कर्मों में फलरूपी विषदन्त हैं जिसे तोड़ना नितान्त आवश्यक है। समस्त कर्म बन्धनरूप हैं। जब कर्मों का फल भगवान् को समर्पण किया जाता है तब वे बन्धनरूप नहीं होते, प्रत्युत वे मोक्ष के सहायक बन जाते हैं। भागवत की यह सूक्ति इसी अर्थ की पोषिका है--रा ादि तभी तक स्तेन (चोर) हैं, जो चित्त को चुराकर इधर-उधर अस्त-व्यस्त किया करते हैं; गृह तभी तक कारागार है---बन्धनभूत है, मोह तभी तक पैर का बन्धन है, जब तक हे कृष्ण ! तुम्हारे सेवक हम नहीं बन जाते। भगवान् के भक्त सेवक बनते ही यह दशा बदल जाती है। उसी प्रकार कर्म बन्धन जरूर हैं, परन्तु ज्यों ही उनका फल भगवान् के चरणों में अर्पित कर दिया जाता है, त्यों ही उनका दोष दूर हो जाता है। बन्धन होने की अपेक्षा वे मोक्ष में सहायक होते हैं। श्रीमद्भागवत का महनीय श्लोक यह है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

तीसरी बात है रागहीनता, वैराग्य। संसार के विषयों में प्रेम-भाव नितान्त बन्धन है। वैराग्य अत्यन्त आवश्यक है। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'—पतञ्जलि ने चित्तनिरोध के उपायों में वैराग्य को विशेष महत्त्व दिया है।

इन उपायों से भगवान् की प्राप्ति होती है, जिससे सद्यः मोक्ष का उदय होता है। वह महत्त्वपूर्ण श्लोक गीता के निम्नलिखित श्लोक (१८-६५) पर अवलम्बित है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि कौन्तेय प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

कालिदास पक्के अद्वैतवादी थे। शास्त्र तथा आगमों ने सिद्धि के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये हैं; परन्तु इन मार्गों का चरम लक्ष्य भगवान् ही हैं। जिस प्रकार गंगाजी के प्रवाह भिन्न-भिन्न मार्गों से प्रवाहित होते हैं, परन्तु अपने अन्तिम स्थान समुद्र में ही वे गिरते हैं तथा अपना जीवन सफल बनाते हैं (रघु० १०।२६)—

बहुधाप्यगमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

भारतीय धर्म तथा दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है--भिन्नता में अभिन्नता की अनुभूति, नाना में एकता का साक्षात्कार। कालिदास ने अपने श्लोक में इसी उदात्त भावना को स्थान दिया है। इस श्लोक के भाव को जितना ही कार्य में परिणत किया जायगा उतना ही मंगल होगा और पारस्परिक विरोध तथा संघर्ष का अन्त होगा।

कालिदास : शिवसन्देश

राष्ट्रमंगल तथा विश्वकल्याण का मञ्जुल सामरस्य कालिदास के काव्यों में दृष्टिगत होता है। इस महाकवि की वाणी में जिस प्रकार आदिकवि वाल्मीकि की रसमयी धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार उपनिषदों तथा गीता का अध्यात्म भी मंजुलरूप में अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। भारतीय ऋषियों के द्वारा प्रचारित चिरन्तन तथ्यों को मनो-

भिराम शब्दों में भारतीय जनता के हृदय में उतारने का काम कालिदास की कविता ने सुचारु रूप से किया। कविता का प्रणयन मानव-हृदय की शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावों का आलम्बन कर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उदात्त भावना विद्यमान है जो भारतीयों को ही नहीं, प्रत्युत मानवमात्र को सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी। इस भारतीय कवि की वाणी में इतना रस भरा हुआ है, इतना जोश भरा हुआ है कि दो सहस्र वर्षों के दीर्घ काल ने भी उसमें किसी प्रकार का फीकापन नहीं उत्पन्न किया। उसकी मधुरिमा आज भी उसी प्रकार भावुकों के हृदय को रसमय करती है जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृति का भव्य रूप इन काव्यों में मधुर शब्दों में उपदिष्ट हैं। आज के युग में कालिदास का सन्देश बड़ा ही भव्य तथा ग्राह्य है।

मानवजीवन में नैराश्यवाद के लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतला कर निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं उसे सारहीन क्यों मानें? कालिदास का कहना है कि देहधारियों के लिये मरण ही प्रकृति है। जीवन तो विकृति-मात्र है। जन्तु श्वास लेता हुआ यदि एक क्षण के लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ है (रघु० ८।८७)—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

इस जीवन को महान् लाभ मानना चाहिये तथा इसे सफल बनाने के लिए अर्थ, धर्म तथा काम का सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहिये। इस त्रिवर्ग में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है (त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि—कुमार० ५।३८), परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाये रखने के लिये धर्म से विरोध करते हैं। धर्म को दबाकर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है। और धर्म को ध्वस्त कर काम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। भगवान् श्रीकृष्ण के शब्द में 'धर्म से अविरुद्ध काम' भगवान् की ही विभूति है। कालिदास ने अपने काव्यों तथा नाटकों में 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ' इस गीतावाक्य की सत्यता अनेक प्रकार से प्रमाणित की है।

मदनदहन का रहस्य यही है। मदन चाहता था कि पार्वती के सुन्दर रूप का आश्रय लेकर समाधिनिरत शङ्कर के हृदय पर चोट करें। प्रकृति में वसन्त का आगमन होता है। लता वृक्ष पर झूल-झूल कर अपना प्रेम जताने लगती है। एक ही कुसुमपात्र में भ्रमरी अपने सहचर के साथ मधु पान करती हुई मत्त हो जाती है। व्याधि के समान मदन संसार को त्रस्त करने लगता है। वह अपनी आकांक्षा बढ़ाता है और शङ्कर पर आक्रमण कर बैठता है। जगत् के कल्याण, आत्यन्तिक मंगल का ही तो नाम 'शङ्कर' है।

विश्व-कल्याण मदन की उपासना में नहीं है, प्रत्युत उसके धर्मविरोधी रूप के दबाने में है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। विश्व-कल्याण पर अपना मोहन बाण छोड़ता है। शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र 'ज्ञान नेत्र' है, जो प्रत्येक मनुष्य के भ्रूमध्य में विद्यमान है, परन्तु सुप्त होने से हमें उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। शंकर का

वह नेत्र जाग्रत है। इसी ज्ञान की ज्वाला में मदन का दहन होता है। धर्म से विरोधवाला काम भस्म की राशि बन जाता है। शंकर को वश में करने के लिये पार्वती तपस्या करती हैं जो धर्मसिद्धि का प्रधान साधन है। विना अपना शरीर तपाये तथा विना हृदय-स्थित दुर्वासना को जलाये धर्म की भावना जाग्रत नहीं होती। कालिदास ने काम का जलना दिखाकर यही चिरन्तन तथ्य प्रकट किया। पार्वती ने घोर तपस्या कर अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में काम तथा धर्म के परस्पर संघर्ष में हमें काम को दवा कर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। जगत् का कल्याण इसी साधना में सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाज का गहरा सम्बन्ध है। व्यक्ति की उन्नति वांछनीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाज की उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तियों के समुदाय का ही नाम 'समाज' है। कालिदास वैयक्तिक उन्नति के साथ सामाजिक उन्नति के पक्षपाती हैं। उनका समाज श्रुतिस्मृति के आधार पर निर्मित समाज है। वह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है। सत्य के लिये परिमित भाषण करता है। यश के लिये विजय की अभिलाषा रखता है, प्राणियों तथा राष्ट्रों को पददलित करने के लिये नहीं। गृहस्थी में निरत होता है सन्तान उत्पन्न करने के लिये, कामवासना की पूर्ति के लिये नहीं। कालिदास द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाज का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे शैशव में विद्या का अभ्यास करते हैं, यौवन में विषय के अभिलाषी हैं; वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण कर सारे प्रपंच से मुँह मोड़ कर निवृत्ति-मार्ग के अनुयायी बनते हैं तथा अन्त में योग द्वारा अपना शरीर छोड़ कर परम पद में लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाज की अपनी विशेषता है (रघु० १।७-८)—

> त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
> यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
> शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
> वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

यज्ञ—उपनिषदों में धर्म के तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमा से भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास ने इन स्कन्धों का विवेचन स्थान-स्थान पर बड़ी ही मनोरम भाषा में किया है। यज्ञ का महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञ के रहस्यों का ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भली-भाँति जानते हैं कि वसिष्ठ जी के यथाविधि सम्पादित होम द्वारा जल की वृष्टि होती है, जो अकाल से सूखने वाले शस्य को हरा-भरा बनाती है (रघु० १।६२)—

> हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
> वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥

नरराज तथा देवराज—दोनों का काम परस्पर संयोग से मानवों की रक्षा करना है। नरराज पृथ्वी को दुह कर उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त कर यज्ञ का सम्पादन करता है और देवराज इसके बदले में शस्य उत्पन्न होने के लिये आकाश से दुहकर पुष्कल वृष्टि

करता है। इस प्रकार ये दोनों शासक अपनी सम्पत्ति का विनिमय कर उभय लोक का कल्याण करते हैं (रघु० १।२६)--

दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मघवा दिवम् ।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥

यज्ञपूत जल के द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थों की सिद्धि हमारे महाकवि को मान्य है। रघु सर्वस्वदक्षिण यज्ञ के अनन्तर कौत्स की याच्ञा पूरी करने के लिये जिस रथ पर बैठते हैं उसे वसिष्ठ जी ने मन्त्रपूत जल से अभिमन्त्रित कर दिया है और उसमें आकाश, नदी, पहाड़ आदि विकट तथा विषम मार्गों पर चलने की अपूर्व क्षमता है। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में सामाजिक कल्याण के साधनों में यज्ञ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दान—दान की गौरवगाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी श्रान्त नहीं होते। समाज आदान-प्रदान की भित्ति पर अवलम्बित है। धनी-मानी व्यक्ति का संचित धन केवल उन्हीं की आवश्यकता अथवा व्यसन पूरा करने के लिये नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग उन निर्धनों की उदर-ज्वाला शान्त करने में भी है जो समाज के ही विशेष अङ्ग हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में डंके की चोट कहा गया है कि दैवीवाग् मेघगर्जन के रूप में सदा पुकारती है--दाम्यत (अपने इन्द्रियों को वश में रखो), दत्त (दान दो) तथा दयध्वम् (दया करो)। यदि हम लोग इस दैवी वाणी की पुकार सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं, तो यह अपराध हमारा है। दान के विना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायगा, इसमें संदेह नहीं। कालिदास ने रघुवंश के पञ्चम सर्ग में दान का बड़ा ही उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरतन्तु के शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिये तब रघु के पास आते हैं जब उन्होंने अपनी सारी संचित सम्पत्ति यज्ञ में दे डाली है। रघु अलकापुरी पर चढ़ाई कर यक्षराज कुबेर से धन पाने का उद्योग करते हैं। इतने में कोश में सोने की वृष्टि होती है। राजा का आग्रह है कि शिष्य सम्पूर्ण धन ले जाय और उधर शिष्य का आग्रह है कि वह अपने काम से अधिक एक कौड़ी भी न छूवेगा। दाता और ग्रहीता का यह आग्रह आश्चर्यजनक वस्तु है। यह दृश्य इस भारत-मही के भी इतिहास में दुर्लभ है, अन्य देशों की तो कथा ही क्या !

तप—तप भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है। इसकी आराधना से मनुष्य अपनी सारी कामनानों की ही पूर्ति नहीं करता, प्रत्युत परोपकार के यथावत् सम्पादन की योग्यता भी अर्जन करता है। मदन-दहन के अनन्तर भग्न-मनोरथा पार्वती ने तप को ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। कालिदास ने पार्वती के तप का रहस्य विशेष रूप से प्रकट किया है (कुमारसम्भव ५।२)--

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

पार्वती की तपस्या का फल था--'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटि का प्रेम और 'तादृशः पतिः' उस प्रकार का मृत्यु को जीतनेवाला महादेव रूप पति। जगत् के समस्त पति मृत्यु के वश हैं; एक ही व्यक्ति मृत्युञ्जय है। महादेव ही मृत्यु को भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आज तक कोई भी कन्या मृत्युञ्जय को

पति रूप में पाने में समर्थ नहीं हुई। और वह प्रेम भी कैसा ? कालिदास ने 'तथाविधं' शब्द के भीतर गम्भीर अर्थ की अभिव्यञ्जना की है। शंकर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दिया है। आदर की भी एक सीमा होती है। पत्नी को इतना उच्चस्थान प्रदान करना सत्कार का महान् उत्कर्ष है, आदर की पराकाष्ठा है। भारतीय कन्याओं के लिये गौरी की यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओं के सामने एक ही महान् आदर्श है, और वह है पार्वती का। भारतीय समाज में 'गौरीपूजा' का रहस्य इसी महान् स्वार्थ-त्याग के भीतर छिपा हुआ है। तपस्या ने गौरी को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। तपस्या करनेवाले ऋषियों के भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है, वे स्वयं शान्ति में रमते हैं, सूर्यकान्त मणि की भाँति वे छूने में बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेज के द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसी की धर्षणा नहीं सह सकते। यही है तपस्या का प्रभाव (शाकुन्तल २।७)—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाह्यात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ॥

कालिदास के सन्देश को हम तीन तकारादि शब्दों में प्रकट कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्व की शान्ति भंग करनेवाली वस्तु का नाम 'स्वार्थपरायणता' है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पन का स्वप्न देखती हुई क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि में निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्ष का यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्या की साधना के विना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्त्य जगत् ने नगर को विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण कर पूर्वी जगत् भी नागरिक सभ्यता की उपासना में दत्तचित्त हो चला, परन्तु कालिदास की सम्मति में तपोवन की गोद में पली हुई सभ्यता ही मानव का सच्चा मंगल कर सकती है। जिसने हमारे देश का 'भारतवर्ष' जैसा मंजुल नाम सार्थक बनाया उस दौष्यन्ति भरत का जन्म मारीच के आश्रम में हुआ। गोचारण का फल रघु के जन्म के रूप में प्रकट हुआ। दिलीप ने अपनी राजधानी का परित्याग कर वसिष्ठ के आश्रम में निवास किया तथा गुरु की गाय की विधिवत् परिचर्या की। उसी का फल हुआ इन्द्र जैसे वज्रधारी के मानमर्दक वीर का उद्गम। तपोवन में अलौकिक शान्ति तथा शक्ति का साम्राज्य छाया रहता है। प्रकृति निखिल विषमता को दूर कर समता के अभ्यास में निरत रहती है। हिंसक पशु भी इसी नैसर्गिक शान्ति के कारण अपनी प्रकृति भुलाकर परस्पर मैत्रीभाव से निवास करते हैं। कालिदास की दृष्टि में प्रपंच के पचड़े में पच मरनेवाला जीव दया का पात्र है। सुख में आसक्त जीव को तापस उसी दृष्टि से देखता है जिससे स्नान करनेवाला व्यक्ति तैल मर्दन करनेवाले व्यक्ति को, शुचि अशुचि को, प्रबुद्ध सुप्त व्यक्ति को, स्वच्छन्द गतिवाला पुरुष बद्ध पुरुष को (शाकुन्तल ५।११)—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥

जब तक यह संसार त्याग और तपस्या का आश्रय लेकर तपोवन की ओर नहीं मुड़ेगा, तब तक इसकी अशान्ति कभी नहीं बुझेगी, न पारस्परिक कलह कभी समाप्त होगा और न वैमनस्य की भावना कभी मिटेगी।

कालिदास का सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना के अन्तिम श्लोक में एक ही पद्य के रूप में प्रकट किया जा सकता है :--

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

राजा प्रजा के हित-साधन में लगे। शास्त्र के अध्ययन से महत्त्वशाली विद्वानों की वाणी सर्वत्र पूजित हो। शक्तिसम्पन्न भगवान् शंकर समग्र जीवों का पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्या हो सकता है? राजा का प्रधान कार्य प्रजा का अनुरंजन है। अराजक राज्य के दुर्गुणों से हम भली-भाँति परिचित हैं। राजा के बिना समाज उच्छिन्न हो जायगा, परन्तु राजा का प्रधान कर्तव्य होना चाहिये समाज की रक्षा। राष्ट्र को उन्नति तथा अभ्युदय के मार्ग पर ले जानेवाले उसके विद्वज्जन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वती का पूजन तथा समादर पवित्र कार्य है। राजा क्षात्रबल का प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्मतेज के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही देश का सच्चा कल्याण हो सकता है (रघु० ८।४)।

समाज की सुव्यवस्था होने पर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्ति का परस्पर अभ्युदय भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है।

सारांश--देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी धेनु की परिचर्या, अतिथि की इष्ट-पूर्ति के लिये राजा का सर्वस्वदान, लोकानुरंजन के लिये अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का त्याग--कालिदास के पात्रों में सर्वत्र देदीप्यमान हैं। कालिदास का समाज श्रुतिस्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। यह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है, सत्य के लिए परिमित भाषण करता है, यश के लिये विजय की कामना रखता है तथा सन्तान की इच्छा के लिये गृहस्थी जमाता है। वे धर्म के अविरोधी काम के पक्षपाती थे। जो काम हमारे कर्तव्यों के साथ संघर्ष मचाता है, वह नितान्त हेय है। हमारे लिए कालिदास का एक महान् सन्देश है जो तीन तकारादि शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है--त्याग, तपस्या और तपोवन। तपोवन में पली सभ्यता ही मानवों का सच्चा मंगल कर सकती है। क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग से होता है और सच्ची उन्नति तपस्या के बल पर हो सकती है। मानवजीवन का उद्देश्य संसार में आकर विषयों का दास बनना नहीं है; प्रत्युत भगवान् की सच्ची भक्ति कर तथा योग का साधन कर आत्मा के दर्शन में ही है। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य कोमल कला की दृष्टि से ही रोचक नहीं हैं, परन्तु आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी उपादेय हैं। इसका मूल कारण यही है कि कालिदास भारतीय कला के ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार नहीं हैं; बल्कि भारतीय संस्कृति के भी मर्मज्ञ व्याख्याता हैं।

(२) अश्वघोष

कविता भावों की विशेष उद्बोधिका होने के कारण मानव को अभीष्ट कार्य में प्रवृत्त करने का सबसे महत्त्वशाली साधन है। कविता हृदय के ऊपर गहरी चोट करती है; मानव-हृदय को सद्यः उत्तेजित करती है और इसीलिए सामान्य जनता के हृदय तक दर्शन

तथा धर्म के दुरूह तथ्यों को पहुँचाने के लिए धर्मप्रचारक बहुत पुराने समय से कविता का सहारा लेते आये हैं और आज भी लेते हैं। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष के काव्यकला की ओर आकर्षण का रहस्य यही है। सौन्दरनन्द के अन्त में उनकी स्वीकारोक्ति इस रहस्य की गुत्थी खोलने के लिए पर्याप्त है। जिस प्रकार कड़वी दवा को हृद्य बनाने के लिए उसे मधु से मिलाने की जरूरत होती है, उसी प्रकार पाठकों को धार्मिक तत्त्वों को मद्यः ग्रहण करने की दृष्टि से मोक्षधर्म के पदार्थ काव्यधर्म के द्वारा प्रकट किये गये हैं (सौन्दरनन्द १८।६३)—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥

यह पद्य अश्वघोष की काव्यकला की ओर प्रवृत्त भावना का स्फुट परिचायक है। वे मुख्यतः दार्शनिक हैं, दर्शन की तार्किक भाषा में बौद्धधर्म के मान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादक आचार्य हैं, परन्तु अपने उपदेश-क्षेत्र के विस्तार के निमित्त ही उन्होंने काव्यमार्ग का आश्रय ग्रहण किया। अश्वघोष की यह स्वीकारोक्ति इनके काव्यों के आलोचकों को उनकी समीक्षा करने में एक नई दृष्टि निःसन्देह प्रदान करती है।

जीवनी—अश्वघोष के निश्चित जीवन-चरित का अभी तक हमें निःसन्देह परिचय नहीं है। चीनी परम्परा से प्राप्त उनके जीवनचरित में विद्वानों को आज भी थोड़ी-सी सन्देह दृष्टि बनी हुई है। सौन्दरनन्द की पुष्पिका[1] से उनके परिचय की एक धुँधली रेखा हमारे सामने खिंच जाती है—वे साकेतक (अयोध्या के निवासी) थे, सुवर्णाक्षी के पुत्र थे तथा महाकवि होने के अतिरिक्त वे 'महावादी' बड़े तार्किक विद्वान् थे। उनके काव्यों की अन्तरंग परीक्षा से स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न, ब्राह्मण तथा वैदिक साहित्य के कुशल पंडित, महाभारत के, विशेषतया वाल्मीकीय रामायण के, मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका 'साकेतक' होना उनके रामायण की विशेष रुचि, मार्मिक अध्ययन तथा व्यापक प्रभाव का सूचक है। चीनी परम्परायें उन्हें कनिष्क के साथ अकाट्य-रूप से सम्बद्ध बतलाती हैं। कहा जाता है कि महाराज कनिष्क ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर जब तत्कालीन मगध-नरेश को अपनी विपुल बल-सम्पत्ति के सहारे पदाक्रान्त किया, तब उन्हें केवल दो शर्तों पर छोड़ दिया। पहली थी भगवान् तथागत के व्यवहृत भिक्षा-पात्र का ग्रहण तथा दूसरी थी उनके राज-कवि अश्वघोष का पुरुषपुर में निवास की प्रतिज्ञा। राजा ने इन दोनों शर्तों को मानकर प्रबल शत्रु के चपेटाघात से अपने को तथा अपने राज्य को बचाया। कनिष्क द्वारा आहूत चतुर्थ बौद्ध संगीति की प्रतिष्ठा तथा अध्यक्षता का गौरव अश्वघोष को ही प्रदान किया जाता है, परन्तु अभी तक यह निःसन्दिग्ध निर्णय नहीं हुआ है कि इस संगीति का अध्यक्षपद महास्थविर पार्श्व ने ग्रहण किया था अथवा महावादी

---

१. **आर्य-सुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्—सौन्दरनन्द की पुष्पिका।**

गर्भाधान से और अन्त होता है अस्थिविभाजन से उत्पन्न कलह, प्रथम संगीति तथा अशोक वर्धन के राज्य से। इसका अनुवाद धर्मरक्ष, धर्मक्षेत्र या धर्माक्षर नामक किसी भारतीय विद्वान् ने ही पंचम शतक के आरम्भ में (४१४–४२१ ई०) चीनी भाषा में किया था। तिब्बती अनुवाद नवम शतक से पूर्ववर्ती नहीं है। इस प्रबन्ध-काव्य की कथा को बुद्ध जन्म से प्रारम्भ कर क्रमशः अन्तःपुर-विहार, संवेग-उत्पत्ति, स्त्रीनिवारण, अभिनिष्क्रमण, छन्दक-विसर्जन, तपोवन-प्रवेश, अन्तःपुरविलाप—आदि का वर्णन करता हुआ कवि बुद्धत्वप्राप्ति तक हमें पहुँचा देता है। इस प्रकार अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के संघर्षमय जीवन की नाना घटनाओं का बड़ा जीता-जागता उज्ज्वल रुचिकर चित्र अंकित किया है।

सौन्दरनन्द—महाकाव्य में १८ सर्गों में निबद्ध सौन्दरनन्द यौवन-सुलभ उद्दाम काम तथा धर्म के प्रति जागरित प्रेम के विषम संघर्ष को भव्य भाषा में चित्रित करने वाला एक अद्भुत काव्य है, जो काव्यसुलभ गुणों की दृष्टि में बुद्धचरित की रुक्षता से कहीं अधिक स्निग्ध, सरस तथा सुन्दर है। इस काव्य की कथा बुद्ध के सौतेले भाई, सौन्दर्य की प्रतिमा सुन्दरनन्द के गृहत्याग, अपनी प्रियतमा सुन्दरी के मोहभंग तथा प्रवज्याग्रहण से सम्बन्ध रखती है। नन्द भोगविलास में आकण्ठमग्न एक सुन्दर राजकुमार है तथा उसकी पत्नी सुन्दरी नितान्त पतिव्रता सुन्दरी है। दोनों का सुखमय यौवन बीत रहा था शुद्धोदन के भव्य प्रासाद में, जब तथागत की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्होंने अपने भाई के जीवन को मङ्गलमय तथा कल्याणपूर्ण बनाने के लिए उन्हें प्रवज्या ग्रहण करने के लिए बाध्य किया। भोग की माधुरी में आसक्त नन्द जीवन के सुखों को कथमपि छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु बड़े ही कौशल से तथा प्रलोभन से वह प्रव्रज्या-मार्ग पर अन्ततोगत्वा बाध्य किया जाता है। उसीके हार्दिक भावना की, भोग-वासना के विपुल संघर्ष की नितान्त सरस अभिव्यक्ति सौन्दरनन्द में हमें मिलती है। नन्द तथा सुन्दरी की मर्म वेदना के चित्रण में अश्वघोष को जितनी सफलता मिली है उतनी ही उन्हें बुद्धधर्म के उपदेशों को सुन्दर भाषा में अंकित करने में भी। इस काव्य की तुलना में भारी-भरकम होने पर भी बुद्धचरित हृदय के भावों के वर्णन में, काम तथा धर्म के परस्पर वैषम्यमूलक भीषण संघर्ष के चित्रण में, बौद्धधर्म के आचार-प्रधान उपदेशों के हृदयावर्जक विवरण में निःसन्देह न्यून है। इसीलिए बुद्धचरित कवि की प्राथमिक रचना प्रतीत होता है। सौन्दरनन्द में अश्वघोष ने रच-पच कर अपना काव्यकौशल दिखलाया है। विषय की विशिष्टता के कारण भी उसे कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का तथा धार्मिक उपदेशों के पूर्ण विवरण देने का अच्छा अवसर यहाँ प्राप्त होता है। मेरी दृष्टि में सौन्दरनन्द विषय की गम्भीरता तथा कोमल काव्य-भावना के अंकन में बुद्धचरित की अपेक्षा कहीं अधिक सरस तथा सफल काव्य है।

शारिपुत्र-प्रकरण—शारिपुत्र-प्रकरण नव अंकों में विरचित एक महनीय प्रकरण था, जिसमें शारिपुत्र की बौद्धधर्म में दीक्षा का प्रसंग नाटकबद्ध किया गया था। इन तीनों ग्रन्थों का रचना-ऐक्य अन्तरंग परीक्षा पर भी आधारित है। इनमें भावों, विचारों तथा शब्दों का पारस्परिक विनिमय यत्र-तत्र स्पष्टतया लक्षित होता है। उदाहरणार्थ—बुद्धचरित ११।११, १२ का भावसाम्य सौन्दरनन्द के ११।३२,३७ पद्यों के साथ स्फुटतया

लक्षित होता है। किसी प्रतीक नाटक तथा सामाजिक नाटक के अंश इसी प्रकरण के हस्तलिखित प्रति के साथ ही उपलब्ध होते हैं। इनके अश्वघोष कृत होने में पर्याप्त मतभेद है। डॉ० कीथ इन दोनों नाट्यांशों को अश्वघोष की ही विशुद्ध रचना स्वीकार करते हैं[1] परन्तु डॉ० जानस्टन प्रतीक नाटक के ही पक्ष में हैं, दूसरे को वे भिन्नकर्तृक ही बतलाते हैं।[2]

अश्वघोष के एक नवीन नाटक का परिचय अभी मिला है। इस नाटक का नाम **'राष्ट्रपाल'** है। इसका परिचय जैन न्याय ग्रन्थों में दिये गये उद्धरण से चलता है। **अकलंक** ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्याय-विनिश्चय' में धर्मकीर्ति के मतों की परीक्षा की है तथा उनका खण्डन कर अपने मत की प्रतिष्ठा की है। **वादिराज सूरि** ने इसके ऊपर बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान लिखा है, जो 'न्याय-विनिश्चय-विवरण' के नाम से अभी प्रकाशित हुआ है। अकलंक ने इस ग्रन्थ में धर्मकीर्ति के कथन का उद्धरण दिया है, जो अश्वघोष के इस नवीन नाटक के रचयिता होने का तथ्य प्रकाशित करता है। यह उद्धरण पाद-टिप्पणी में नीचे दिया जाता है।[3] टीकाकार वादिराज ने स्पष्टतः नहीं लिखा है कि ये धर्मकीर्ति के वचन हैं, परन्तु प्रसंग से इस विषय में किसी प्रकार सन्देह नहीं रह जाता। विधुशेखर भट्टाचार्य ने इस उद्धरण को धर्मकीर्ति के 'वाद-न्याय' में ढूंढ़ निकाला है[4] जिससे इसके धर्मकीर्ति के मूल वचन होने में सन्देह नहीं रहता। इस उद्धरण से तीन बातों का निर्देश मिलता है—

(क) अश्वघोष एक विख्यात नाटक-रचयिता थे जिनके एक नाटक का नाम 'राष्ट्रपाल' था।

(ख) अश्वघोष के नाटक बौद्धों के द्वारा पढ़े जाते थे, गाये जाते थे तथा अभिनीत किये जाते थे। यह उन नाटकों की धार्मिकता तथा लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है।

---

१. द्रष्टव्य डॉक्टर कीथ-संस्कृत ड्रामा, पृ० २३०।

२. द्रष्टव्य बुद्धचरित का अंगरेजी अनुवाद, भमिका, पृ० २०–२१।

३. आत्मनि विवादे नास्त्यात्मेति वयं बौद्धाः।
'के बौद्धाः ?'
'ये बुद्धशासनमुपगताः।'
'को बुद्धः।'
'यस्य शासने भदन्ताश्वघोषः प्रव्रजितः।
कः पुनर्भदन्ताश्वघोषः ?'
'यस्य राष्ट्रपालं नाटकम्।'
कीदृशं च तन्नाटकम् ?'
इति प्रसङ्गमारचय्य 'नाद्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इत्यारभ्य पठति, नृत्यति, गायति च, अपरस्य व्यामोहनमनुवादे शक्तिव्याघातं च कर्तुमिति, तदपि वादिनां निग्रहमप्रस्तुताभिधानात्॥ (न्यायविनिश्चयविवरण, भाग २, पृ० २३९)

४. 'ए न्यू ड्रामा ऑफ अश्वघोष' (जर्नल ऑफ दी ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी, भाग ५, पृ० १५ आदि में प्रकाशित)।

(ग) 'राष्ट्रपाल' नाटक का आरम्भ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से होता है और यह स्मरणीय है कि भास के नाटकों का आरम्भ भी इन्हीं शब्दों से होता है।

'मज्झिम-निकाय' के 'रट्ठपाल-सुत्त' की कथा से यदि इस नाटक की कथा अभिन्न हो, तो यह निश्चित है कि यह नाटक नायक के अभिधान के कारण तन्नामधारी है, क्योंकि उस सुत्त के नायक का नाम 'रट्ठपाल' या 'राष्ट्रपाल' है। डॉ० बागची ने बौद्धन्याय के वर्णन करने वाले 'न्यायमञ्जरी-ग्रन्थिभंग' नामक चक्रधररचित ग्रन्थ में इसी उद्धरण की सत्ता ढुँढ़कर दिखलाई है। इससे सिद्ध होता है कि अश्वघोष ने 'शारिपुत्र-प्रकरण' के अतिरिक्त 'राष्ट्रपाल' नामक इस नाटक का भी प्रणयन किया था जो लोगों में काफी प्रसिद्ध था। धर्मकीर्ति बौद्ध आचार्य थे। फलतः एक बौद्ध ग्रन्थकार के नाटक का उनके द्वारा उल्लेख अपने ऊपर यथार्थता की मुहर धारण करता है।[1]

अश्वघोष की विद्वत्ता—अश्वघोष के विशाल अध्ययन तथा विद्वत्ता का स्पष्ट परिचय उनके महाकाव्य दे रहे हैं। पूर्व आश्रम में ब्राह्मण होने के कारण उनका ब्राह्मण-साहित्य का गाढ़ परिचय विस्मयावह नहीं हैं। वैदिक अनुष्ठान से परिचित अश्वघोष वसिष्ठ के लिए वैदिक अभिधान 'और्वशेय' का (बु० च० ९।९) तथा 'प्रोक्षण' तथा 'अभ्युदय' शब्दों का प्रयोग (बु० च० १२।३०) करते हैं। बुद्ध चरित के १२ वें सर्ग में उल्लिखित अराड-कलाम का गौतम को उपदेश महाभारत के सांख्य-सिद्धान्तों की शिक्षा से एकदम मिलता है। साकेतक होने के नाते रामायण के प्रति कवि के विशेष आग्रह से और रामायणीय पात्रों तथा तत्सम्बद्ध घटनाओं के प्रति पक्षपात से हमें आश्चर्य नहीं होता। पुत्र-शोक में अपने प्यारे प्राणों को निछावर करनेवाले महाराज दशरथ का उल्लेख कवि ने अनेक स्थानों पर किया है (बु० च० ८।७९)। तत्कालीन विद्याओं—नीति शास्त्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र, वैद्यक शास्त्र आदि उपयोगी विद्याओं—से परिचय कवि की व्यापक विद्वत्ता का सूचक है। व्याकरण से सम्बद्ध शास्त्रीय उपमाओं तथा विलक्षण पदों के प्रयोग करने में अश्वघोष कभी नहीं चूकते। सौन्दरनन्द के द्वितीय सर्ग में लुङ् लकार का एकमात्र प्रयोग, द्वादश सर्ग (१२।९,१०) में वैयाकरण उपमाओं का उपयोग, ६।३४ में लिट् लकार के बारह पदों का एकत्र प्रयोग, २।२८, २९ में 'अवीवपत्' का चार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग—ये सब कवि की इस रचना पर वैयाकरणत्व की छाप लगाने के लिए पर्याप्त हैं। दर्शन तो कवि का अपना अध्ययनक्षेत्र है। अतः उसने इस दार्शनिक ज्ञान का उपयोग बड़े ही सुन्दर ढंग से इन काव्यों में किया है।

समीक्षण

अश्वघोष की कविता में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। कवि एक विशेष उद्देश्य से तत्त्वज्ञान से हटकर कोमल काव्यकला का आश्रय लेता है और इस कार्य में वह सर्वथा सफल है। भावों के नैसर्गिक प्रवाह का कारण कवि के आध्यात्मिक जीवन से नितान्त सम्बद्ध है। तथागत के लोकसुन्दर चरित्र के प्रति कवि की गाढ़ श्रद्धा है तथा संसार की

---

१. द्रष्टव्य जर्नल आफ ओरियन्टल इन्स्टिच्यूट, जिल्द ११, संख्या ४. १९६२ जून, बड़ोदा (पृ० ४२८–४३२)।

अनित्यता की भावना इतनी बलवती है कि वह इन काव्यों के मार्मिक अंशों की रचना में अदम्य उत्साह तथा श्लाघनीय स्फूर्ति दिखलाता है। घटना के वर्णन में कवि का कौशल जितना जागरूक है उतनी ही श्लाघनीय है उसकी तर्कों की स्वच्छ तथा सुबोध प्रकार की विन्यास-चातुरी। भावों में तीव्रता लाने के निमित्त अश्वघोष ने परिचित वातावरण में संगृहीत, अत एव हृदय पर सद्यः प्रभाव जमानेवाली स्पृहणीय उपमाओं के प्रयोग करने में कुशलता दिखलाई है। धर्म का प्रचारक शास्त्र की शिक्षाओं को जन-साधारण के हृदय तक सरलता से पहुँचाने के लिए सामान्य जीवन की घटनाओं, वस्तुओं तथा पात्रों का प्रयोग तुलना के निमित्त किया करता है और अश्वघोष ने भी वही किया है। इसीलिए इनकी उपमा, दृष्टान्त तथा रूपक समधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं। जरारूपी यन्त्र से पीड़ित होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने वाले सारहीन शरीर की रस निचोड़े गये तथा जलाने के लिए सुखाये जाने वाले ऊँख से उपमा बड़ी ही प्रभावोत्पादक है।[1] सारथि के लौट आने पर कवि ने बुद्ध की माता, पिता तथा पत्नी के शोक का वर्णन बड़ी ही सरल स्वाभाविकता तथा सरसता के साथ किया है। वह मानव-हृदय के गहरे अन्तस्तल पर पहुँचने की क्षमता रखता है। बुद्ध के संन्यास की घटना उनके माता, पिता तथा पत्नी के हृदय में जिन भावों का उदय करती है उसका साधु चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति का परिचायक है। कवि का अलङ्कार-विधान रस का पोषक, भावों का उत्तेजक तथा प्रकृतार्थ का उपोद्‌बलक है। वज्र की आवाज सुनकर काँपनेवाले हाथी से शोकाहत शुद्धोदन की तुलना (बु० च० ८।७२) जितना औचित्यपूर्ण है, उतनी ही स्वाभाविक है बच्चे के साथ करुण क्रन्दन करनेवाले पक्षी से समता। पात्रों के औचित्य से उनके शोक तथा विलाप में भी स्पष्टतः पार्थक्य है।[2] पौराणिक तथ्यों के प्रति इनकी सहिष्णुता की प्रवृत्ति भी बड़ी ही सुन्दर है। वे इन बातों को बौद्धों की हेय दृष्टि से कभी नहीं देखते हैं। ये उनमें आस्था तथा श्रद्धा रखते हैं।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि अश्वघोष की कला भी उसी प्रकार से आदिम तथा प्राकृत है जैसे वे स्वयं धर्म तथा दर्शन में हैं। उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसमें धर्म-परिवर्तन का अदम्य उत्साह जागरूक है। अपने सन्देश की गरिमा में उनकी इतनी निष्ठा तथा आस्था है कि वे धर्म तथा दर्शन के विभिन्न मतों के पचड़ों में न पड़कर अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से मानव जीवन की सफलतापर आग्रह रखते हैं और इसीलिए अश्वघोष की कविता निःसन्देह कलात्मक है, परन्तु उसमें उस विकृत कला का दर्शन नहीं होता जो पिछले महाकाव्यों में वर्तमान मिलती है। अश्वघोष स्वभाव से कवि, शिक्षा के द्वारा प्रकृष्ट पण्डित तथा हार्दिक विश्वास के कारण धार्मिक व्यक्ति हैं। अश्वघोष की काव्य-कला की रमणीयता का रहस्य उनकी गम्भीर धर्म-प्रवणता के भीतर छिपा हुआ है। धर्म-प्रचार की प्रेरणा ने ही उन्हें कमनीय काव्य-कला के आश्रय लेने के लिये उत्साहित

---

१. यथेक्षुरत्यन्त-रस-प्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते।
तथा जरायन्त्र-निपीडता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति॥ (सौ० न० ९।३१)

२. द्रष्टव्य यशोधरा का विलाप (बु० च० ८।६०-६९), माता-पिता का विलाप (बही ८।७१-८६)।

किया। भावों की यथार्थता उनके काव्य में प्रचुर मात्रा में है। उनकी प्रसादमयी वाणी को पढ़ने पर यही प्रतीत होता है कि यह उनके हृदय से निकल रही है—विशुद्ध, कृत्रिमता से कोसों दूर। बनावट का वहाँ नाम नहीं है। यह अनगढ़ की भावना को अवश्य अग्रसर करती है, क्योंकि इसमें अभी वह स्निग्धता तथा चिकनाहट नहीं है जो कला के मँज जाने पर कवि की कविता में दीख पड़ती है। अश्वघोष की कविता पढ़कर आलोचक पुकार उठता है कि कवि अपनी सच्ची अनुभूतियों को कविता का कलेवर दे रहा है तथा बौद्ध धर्म की मैत्री-भावना तथा उदार दृष्टि को सार्वभौम बनाने के लिए तथा सद्यः हृदयंगम बनाने के हेतु वह घरेलू उपमा तथा दृष्टान्त का रमणीय प्रयोग कर रहा है। कहीं-कहीं पद-विन्यास की रुक्षता अवश्य ही आलोचक को खटकती है, विशेषतः बुद्धचरित में, परन्तु सौन्दरनन्द की रचना में कवि की वाणी में मनोहर स्निग्धता, हृदय को आवर्जन करने की अनुपम शक्ति तथा सुन्दर पदावली पाठकों के हृदय को हठात् अपनी ओर खींच लेती है। उनकी कविता में जीवनी शक्ति है तथा हृदयावर्जन की अद्भुत क्षमता है। छोटे-छोटे चुने हुए प्रसन्न शब्दों के द्वारा अपने धार्मिक सन्देश को काव्य का कमनीय विग्रह प्रदान करने में अश्वघोष एक सफल कवि हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

जीवन की निरन्तर अनित्यता दिखलाता हुआ कवि कितने सरल शब्दों में अपनी बात कहता है—

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्॥

संन्यासी बनकर फिर गृहस्थ बनने की सुन्दरनन्द की लालसा को धिक्कारता हुआ कवि अपनी भाव-शुद्धि तथा रम्य अनुभूति की सुन्दर सूचना दे रहा है—

कृष्णं बत यूथलालसो महतो व्याध-भयाद् विनिःसृतः।
प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः॥

वह मनुष्य उस चपल मृग के समान है जो व्याध के बड़े भारी भय से निकल कर गीत की ध्वनि से वंचित होकर जाल में स्वयं फँसना चाहता है।

(३) मातृचेट

मातृचेट के जीवन-चरित की अधिकांश बातें अभी तक अज्ञानान्धकार में ही हुई हैं। उनमें से केवल एक ही निःसन्दिग्ध घटना का पता चलता है और वह है इनकी महाराज कनिष्क की समकालीनता। कनिष्क ने बौद्धधर्म के दिव्य उपदेशों की शुश्रूषा में जब मातृचेट को अपने दरबार में बुलाया, तब अत्यन्त वृद्ध होने के कारण कवि ने अपनी असमर्थता प्रकट की और बौद्धधर्म के मान्य सिद्धान्तों का विवरणमय पद्यात्मक पत्र कनिष्क के पास भेजा। ८५ पद्यों का लघु काव्यमय यह 'महाराज कणिकलेख'[1] आज भी तिब्बती भाषा में अनूदित होकर सुरक्षित है। इन पद्यों में बुद्ध के आदेशानुसार नैतिक जीवन व्यतीत करने का उपदेश मुख्य रूप से ग्रथित है। करुणा से पूर्ण पद्यों में कवि ने

१. इसका अंग्रेजी अनुवाद डॉ० एफ० टामस ने इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में (भाग ३२, १९०३; पृष्ठ ३४५) किया है।

राजा को अन्त में उपदेश दिया है कि तेरा कर्तव्य है कि वन्यपशुओं को अभय दान दे तथा शिकार करना छोड़ दे। कतिपय विद्वान् मातृचेट को अश्वघोष और नागार्जुन से पश्चाद्वर्ती मानते हैं और इनके समकालीन राजा कनिक (कनिष्क) को कनिष्क द्वितीय बतलाते हैं।

ग्रन्थ

अपने दो स्तोत्रग्रन्थों के कारण बौद्ध-जगत् में ये 'स्तुतिकार' की महनीय ख्याति से मण्डित हैं। **१–वर्णार्हवर्णस्तोत्र** चार सौ पद्यों में निबद्ध स्तुतिकाव्य है। सम्भवतः इसीसे प्रेरणा प्राप्त कर नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक-कारिका' को तथा उनके विख्यात शिष्य आर्यदेव ने 'चतुःशतक' को चार सौ पद्यों में लिखा था। जैन ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्र की बीस विंशिकाओं का भी यही आधार ग्रन्थ प्रतीत होता है। साक्षात् रूपेण न सही, परम्परया प्रेरणा का मूल स्रोत मातृचेट का ही स्तुति-काव्य प्रतीत होता है। इसका तिब्बती अनुवाद आज भी प्राप्त है।[1] इसका संस्कृत नाम वर्णार्हवर्णस्तोत्र है (अर्थात् पूजनीय की स्तुति), जो मध्य एशिया में जर्मन अभियान के द्वारा संगृहीत ग्रन्थों में से अन्यतम है। इसमें १२ परिच्छेद हैं, जिनमें तथागत की भव्य और नितान्त सुन्दर स्तुति की गई है। मातृचेट निश्चय रूप से महायानी हैं (८।२३), समग्र ग्रन्थ अनुष्टुप् में ही निबद्ध है। मातृचेट के दूसरे स्तुतिग्रन्थ के साथ भाषा तथा भावगत साम्य नितान्त स्पष्ट है। दृष्टान्त के लिए मालोपमामण्डित यह पद्य नितान्त रुचिर है (१।२३, २४)—

> स्वरत्नैराकरमिव　　स्वधातुभिरिवाचलम्।
> चन्दनं　स्वरसेनेव　सरः　स्वजलजैरिव॥
> गुणैस्त्वाभ्यर्चयिष्यामि　त्वन्मतादेव　निर्हृतैः।
> स्वनिर्वान्तेन　हेम्नेव　काञ्चनविनं　मणिम्॥

इस स्तोत्र का मूल संस्कृत भी सानुवाद प्रकाशित हुआ है।[2]

२–अध्यर्धशतक—यह डेढ़ सौ अनुष्टुपों में निबद्ध बुद्धस्तव मातृचेट की सर्वप्रधान रचना है, जिसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय हमें इसके अनुवादों से ही लग सकता है। चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनूदित होने के अतिरिक्त मध्य-एशिया की 'तोखारी' भाषा में भी इसके अनुवाद का अवशेष इसकी महती ख्याति का पर्याप्त परिचायक है। १३ विभागों में विभक्त तथा १५३ अनुष्टुप् पद्यों से युक्त यह स्तुतिकाव्य अवान्तर-कालीन कवियों को प्रेरणा देनेवाला था। इसका अनुकरण स्वयं आचार्य दिङ्नाग ने किया। उन्होंने इसके प्रत्येक पद्य के साथ अपना एक पद्य जोड़ कर तीन सौ पद्यों का 'मिश्र-स्तोत्र' नामक स्तुतिकाव्य का निर्माण किया, जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में आज भी उपलब्ध है। जैन-संप्रदाय के अनेक महनीय आचार्यों ने इस काव्य के आधार पर नवीन स्तुतिकाव्यों का प्रणयन किया। सिद्धसेन की पाँच बत्तीसियों (=१६० पद्य), समन्तभद्र का

---

१. अंग्रेजी अनुवाद के लिए द्रष्टव्य—इ० ए० भाग ३४, १९०५, पृष्ठ १४५।
२. द्रष्टव्य बुलेटिन आफ स्कुल आफ ओरियण्टल स्टडीज, भाग १३ (संख्या ३ और ४), १९५०–५१, लण्डन।

'स्वयंभूस्तोत्र' (१४३ पद्य) तथा हेमचन्द्र का 'वीतराग-स्तोत्र' (१८७ पद्य) मातृचेट के आदर्श तथा आधार पर निःसन्देह निर्मित हुए हैं। मातृचेट तथा हेमचन्द्र के पद्यों में तो घनिष्ठ भावसाम्य है। सरल शब्दों में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति दोनों स्तोत्रों में समभावेन आदृत की गई है।[1]

समीक्षण

इस स्तुतिकाव्य की भाषा नितान्त सरल, प्रसन्न, आडम्बरहीन और कृत्रिमता से कोसों दूर है। कवि ने इसमें तथागत के आध्यात्मिक जीवन की झाँकी आरम्भ से उसकी पूर्णता तक बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में दी है। इस काव्य के प्रत्येक पद्य में कवि के हृदय की सरलता, सचाई तथा भावग्राहिता का चित्र हमें मन्त्रमुग्ध कर देता है। भावना वही है—तथागत धर्म के विपुल प्रसार की मंगल कामना। इसी औदार्य तथा सत्यता के कारण यह काव्य बौद्ध जगत् में अपनी विशिष्टता के लिए नितान्त विख्यात था। इत्सिंग ने इस काव्य की प्रशंसा में लिखा है "भिक्षुओं की परिषद् में मातृचेट की दोनों स्तुतियों का सुनना एक सुखद प्रसंग है, उनकी हृदय-हारिता स्वर्गीय पुष्प के समान है और उसमें प्रतिपादित उच्च सिद्धान्त गौरव में पर्वत के उच्च शिखरों की स्पर्धा करने वाले हैं। भारत में स्तुति के रचयिता कवि मातृचेट को साहित्य का पिता मानकर उनका अनुकरण करते हैं।" इत्सिंग का यह तथ्यकथन है, अर्थवाद नहीं। मातृचेट के स्तुतिपद्य में हृदय को स्पर्श करने की अलौकिक क्षमता है; तथागत के उच्च सिद्धान्तों को सुबोध शब्दों में प्रकट करने की विलक्षण सामर्थ्य है। बौद्ध आचार्यों तथा जैन सूरियों को स्तुति-काव्य लिखने की प्रशस्त प्रेरणा देने के कारण हम मातृचेट को 'स्तुतिकाव्य का जनक' मान सकते हैं।[2]

मातृचेट तथागत की स्तुति में कह रहे हैं कि हे नाथ ! आपकी करुणा परोपकार के सम्पादन में एकान्ततः संलग्न है, परन्तु आश्रयरूपी अपने शरीर के प्रति अत्यन्त निष्ठुर है। अतः आपकी करुणा स्वतः करुण होते हुए भी करुणाविहीन है। विरोधाभास का सुन्दर दृष्टान्त इस पद्य में प्रदर्शित किया गया है (अध्यर्धशतक, पद्य ६४)—

परार्थैकान्तकल्याणी कामं स्वाश्रयनिष्ठुरा।
त्वय्येव केवलं नाथ! करुणाऽकरुणाऽभवत् ॥

बुद्ध की अपूर्वता दिखला कर कवि कह रहा है—

अव्यापारितसाधुस्त्वं त्वमकारणवत्सलः।
असंस्तुतसखश्च त्वं त्वमसम्बन्ध-बान्धवः ॥

---

१. 'अध्यर्धशतक' का मूल संस्कृत पाठ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च पत्रिका भाग २३, खण्ड ४ (१९३७) में प्रकाशित हुआ है। विशेष आलोचना के लिए द्रष्टव्य विन्टरनित्स का इतिहास ग्रन्थ, भाग २, पृष्ठ, २७०–७२।

२. मातृचेट तथा हेमचन्द्र के भावसाम्य के लिए द्रष्टव्य विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ५, सं० २००२; भाग १, पृ० ३३८–३४३।

अश्वघोष की विपुल प्रसिद्धि ने मातृचेट की कीर्ति को इतना ढक लिया कि मातृचेट का व्यक्तित्व ही अभावकोटि में गिना जाने लगा था तथा दोनों की एकता भी चीनी-परम्परा में सिद्ध माने जाने लगी, परन्तु दोनों समकालीन होने पर भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, इसमें अब सन्देह के लिए स्थान नहीं है।

(४) आर्यशूर

बौद्ध जातकों को भी साहित्यिक शैली में लोकप्रिय बनाने वाले बौद्ध कवि आर्यशूर अश्वघोष के अनुकरण-कर्ता माने जा सकते हैं। इनके जीवन की घटनाओं के अपरिचय के कारण अश्वघोष की तथा इनकी अभिन्नता मानी गई है, परन्तु दोनों नितान्त भिन्न व्यक्ति हैं। अश्वघोष की काव्यशैली से प्रभावित होना ही दोनों की अभिन्नता का कारण माना जा सकता है। इनके मुख्य काव्य-ग्रन्थ 'जातकमाला' (या बोधिसत्त्वावदान-माला) की ख्याति भारत से बाहरी बौद्ध जगत् में कम न थी। ७ वीं शती में इसके विपुल प्रचार का भी परिचय हमें इत्सिग के यात्राविवरण से चलता है। अजन्ता की दीवारों पर जातकमाला के शान्तिवादी, मैत्रीबल, शिवि आदि जातकों के दृश्यों का अंकन तथा तत्तत् जातकों के परिचयात्मक श्लोकों का उट्टङ्कन निश्चय ही इनकी प्रसिद्धि तथा आविर्भाव का सूचक है (षष्ठ शतक)। आर्यशूर ने कर्मफल के ऊपर एक सूत्र लिखा था जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। अजन्ता की दीवारों में चित्रित होने से भी इनका समय पंचम शतक में निश्चयेन सिद्ध होता है। अतः इनका समय ३५० ई० से ४०० ई० तक निर्धारित किया जा सकता है।

ग्रन्थ

इनके तीन ग्रन्थों की उपलब्धि तिब्बती अनुवाद में ही होती है। उनके मूल संस्कृत की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है। इनके नाम हैं——**प्रगतिमोक्षसूत्र-पद्धति, बोधिसत्त्व-जातकधर्मगण्डी** तथा **सुपथनिर्देशपरिकथा**। **'सुभाषितरत्नकरण्डकथा'** (जातक-माला के परिशिष्ट में प्रकाशित) के रचयिता भी आर्यशूर नाम्ना निर्दिष्ट हैं, परन्तु दोनों की शैली तथा भाव में इतना अन्तर है कि इसके रचयिता जातकमाला के कवि से एकदम पृथक् व्यक्ति प्रतीत होते हैं। **'दिव्यावदान'** के ऊपर भी आर्यशूर का प्रभाव लक्षित होता है। अभिनन्द कवि ने 'विशुद्धोक्तिः शूरः' कह कर विशुद्ध संस्कृत भाषा की शैली के लिए इनकी जो प्रशंसा की है, वह जातकमाला के परिशीलन से यथार्थ प्रतीत होती है।

इनकी कीर्ति का स्तम्भ है **जातकमाला**[1], जिसमें ३४ जातकों का सुन्दर काव्यशैली तथा भव्य साहित्यिक भाषा में वर्णन है। इनके कुछ जातक तो पालिजातकों के आधार पर हैं, परन्तु अन्य जातक प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति पर ही आश्रित हैं। भारत में इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि हेमचन्द्र (१२ वीं शती) ने अपने 'अभिधान-चिन्तामणि' कोष में बुद्ध का अन्यतम नाम दिया है——'चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ'

---

१. डाक्टर कर्न द्वारा मूल संस्कृत (हार्वर्ड प्राच्य ग्रन्थमाला में) १९४३, तथा डॉ० वैद्य द्वारा सम्पादन (दरभंगा, १९५९)। डॉ० स्पेयर कृत अंग्रेजी अनुवाद (बौद्ध धर्म ग्रन्थमाला, आक्सफोर्ड में, १८९५)। केवल २० जातकों का हिन्दी अनुवाद सूर्यनारायण चौधरी द्वारा, पूर्णिया १९५२।

और इस शब्द की व्याख्या इसी ग्रन्थ के जातकों की ओर संकेत करती है---चतुस्त्रिंशत् जातकानि व्याघ्री-प्रभृतीनि जानातीति चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञः। इसकी दो व्याख्यायें संस्कृत में अनुपलब्ध होने पर भी तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं, जिनमें पहिली है टीका, जिसके लेखक कोई धर्मकीर्ति बतलाये गये हैं और दूसरी है पंचिका, जिसके लेखक का नाम नहीं दिया गया है। दो टीकाओं की रचना तथा तिब्बती अनुवाद इस ग्रन्थ की लोकप्रियता के निश्चय परिचायक हैं।

आर्यशूर की एक दूसरी काव्यरचना इधर प्रकाश में आई है। ग्रन्थ का नाम है **पारमितासमास**, जिसमें छहों पारमिताओं (दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा-पारमिता) का वर्णन ६ सर्गों तथा ३६४ श्लोकों में जातकमाला की ही सरल तथा सुबोध शैली में किया गया है[1]। बौद्ध-देशना के प्रचार की जिस भव्य भावना ने अश्वघोष की भारती को काव्यमय विग्रह पहनने का आग्रह किया, उसी ने आर्यशूर की वाणी को काव्यमयी सज्जा से अलंकृत होने को बाध्य किया। दोनों का इस भव्य मार्ग में पधारने का उद्देश्य समान ही था---रूक्षमनसामपि प्रसादः=रूखे मनवाले पाठकों को प्रसन्न कर बौद्ध उपदेशों का विपुल प्रसार तथा प्रचार[2]। दोनों अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुए जिसके प्रमाणों का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध कथाओं का काव्यात्मक रोचक आख्यान-शैली में अवतारण आर्यशूर का मुख्य कार्य है।

समीक्षण

पालिजातक बौद्ध कथाओं का विशाल भाण्डागार है। उन्हीं में से चुनी हुई उपदेशमयी कथाओं का यह संस्कृत अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। पालि-जातक की शैली वर्णन-प्रधान है। घटनाओं का सीधे-सादे शब्दों में कह डालना ही उनका उद्देश्य है परन्तु गद्य-पद्यात्मक आख्यान शैली में निबद्ध जातकमाला काव्यगुणों से ओतप्रोत है। इसकी शैली प्रसादमयी है। कथा के मार्मिक स्थानों का उद्‌घाटन इसकी विशिष्टता है। मानव-हृदय पर आघात करनेवाले तथा आवर्जन करनेवाले भावसन्तानों का भव्य विवरण देने में आर्यशूर किसी कवि से पीछे नहीं हैं। 'विश्वन्तर' जातक में राजकुमार विश्वन्तर की पत्नी उसे जंगल में जाने के लिए उत्तेजित करते समय वन के सौन्दर्य तथा सरसता से अपरिचित नहीं है। वह जंगल में मयूरों के सुन्दर नृत्य, मधुप-योषिताओं के माधुर्यपूर्ण गीत, कुसुम वृक्षों के परिमल से लदी हुई वायु तथा नदियों की कोमल कल-कल ध्वनि के प्रलोभन से अपने पतिदेव को लुभाती है (श्लोक ३३–३९)। काव्य में प्रचार की भावना विद्यमान अवश्य है, परन्तु सरल प्रकृति के साथ रागात्मिका वृत्ति के सद्‌भाव के कारण जातकमाला सचमुच एक श्लाघनीय काव्यकृति है। कवि ने अपने उद्देश्य के निमित्त बोलचाल की व्यावहारिक सरल संस्कृत का प्रयोग किया है और उसे अलंकार के आडम्बर से प्रयत्नपूर्वक बचाया है। पद्यभाग के समान गद्यभाग और भी सुश्लिष्ट, सुन्दर तथा सरस है। समास का

---

१. **रोम से प्रकाशित एनाली लेटरेनेन्सी** (Annali Lateranensi) **नामक पत्रिका की १०वीं जिल्द में प्रकाशित, १९४६।**

२. **स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।**
(जातकमाला, श्लोक २)

प्रयोग इसे रूक्ष--क्लिष्ट नहीं बनाता, प्रत्युत गाढ़-बन्धता के प्रदान करने में समर्थ होता है। गद्यपद्य-मिश्रित आख्यान-शैली में निबद्ध काव्य का यह उज्ज्वल उदाहरण है। वर्णन की मुख्यता होने पर भी आर्यशूर का यह काव्य अपनी सरल बोधगम्य शैली की सरसता तथा हृदयावर्जन के लिए प्रख्यात रहेगा।

नवीन भावों की झलक स्थान-स्थान पर भरपूर मिलती है:—

छाया तरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्ण-परश्वधानाम्।
धात्री न लज्जां यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम्॥

शीतल छाया तथा स्वादिष्ट फल देने वाले वृक्ष को काटने के लिए जिन्होंने कुठार उठाया है ऐसे लोगों के प्रति पृथ्वी माता जो लज्जित नहीं होती सो इसका हेतु चेतना-हीनता ही है। शैली की स्निग्धता, पदावली की मसृणता, भाषा की प्रसन्नता में आर्यशूर अश्वघोष के निःसन्देह समकक्ष कवि माने जा सकते हैं।

(५) भारवि

भारवि के जीवनवृत्त के विषय में उनका एकमात्र ग्रन्थ किरातार्जुनीय एकदम मौन है। दक्षिण के 'एहोड़' शिलालेख में इनका नामोल्लेख पाया जाता है। अनुमान यही होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। सौभाग्यवश दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' के आरम्भ में अपने पूर्वजों का वृत्तान्त कुछ विस्तार के साथ दिया है। लिखा है कि दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष, जिनका नाम दामोदर था, नासिक के समीपस्थ अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर दक्षिण प्रान्त में चले आये। अवन्तीसुन्दरी-कथा के सम्पादक पण्डित राम-कृष्ण कवि ने इन्हीं दामोदर के साथ भारवि की एकता मानी है, अर्थात् उनकी सम्मति में भारवि ही आचार्य दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष (प्रपितामह) थे, परन्तु जिस[1] वाक्य के आधार पर यह अभिन्नता मानी गई थी उसका पाठ अशुद्ध होने के कारण इस सिद्धान्त को अब बदलना पड़ा है। भारवि दण्डी के प्रपितामह नहीं थे, प्रत्युत प्रपितामह के मित्र थे, क्योंकि भारवि की सहायता से ही दामोदर राजा विष्णुवर्धन की सभा में प्रविष्ट हुए। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन् (सप्तम शतक) के सभापण्डित थे।

भारवि परम शैव थे। यह बात किरातार्जुनीय के कथानक तथा अवन्तिसुन्दरी-कथा के उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होती है। राजाओं के सहवास से जान पड़ता है ये राजनीति के बड़े भारी जानकार हो गये थे। राजशेखर ने लिखा है—कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि की भी उज्जयिनी में परीक्षा ली गई थी,[2] जिसमें उत्तीर्ण होने पर इनकी ख्याति बढ़ी थी।

---

१. यतः कौशिककुमारो (दामोदरः) महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।

२. श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा-
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

भारवि की **'आतपत्रभारवि'** भी संज्ञा थी। रसिकों ने जिस सुन्दर अर्थ से मुग्ध होकर इन्हें यह नाम दिया था वह नीचे के पद्य में व्यक्त किया गया है (किरात० ५।३९)—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्भूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥

स्थल कमलों के वन के वन खिले हैं, उनसे पीत पराग झर रहे हैं; हवा झोंके से बह रही है, वह पराग को उड़ा कर आकाश में फैला दे रही है। इस प्रकार कमल का पराग सोने के बने छाते की शोभा धारण कर रहा है। आकाश में फैला हुआ पराग सोने के बने पीले छाते की तरह जान पड़ता है। श्लोक का भाव बिल्कुल अनूठा है। सहृदयों को भारवि का कनकमय आतपत्र का सुन्दर प्रयोग इतना अच्छा लगा कि उन्होंने भारवि का नाम ही इसी के कारण 'आतपत्र भारवि' रख दिया।

स्थितिकाल—कालिदास के साथ भारवि का नाम दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय के ऐहोड़ के शिलालेख में मिलता है। यह शिलालेख दक्षिण के वीजापुर जिले के 'ऐहोड़' नामक ग्राम में एक जैन मन्दिर में मिला है। इस शिलालेख का समय ५५६ शकाब्द (अर्थात् ६३४ ईस्वी) है। शिलालेख की प्रशस्ति पुलकेशी के आश्रित रविकीर्ति नामक किसी जैन कवि की है। प्रशस्ति के अन्त में **रविकीर्ति** अपने को कविता-निर्माण करने में कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी बतलाता है।[1] **गंगनरेश** दुर्विनीत के समय के शिलालेख से जान पड़ता है कि **दुर्विनीत** ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी[2]। टीका लिखना उचित ही था; क्योंकि पूरे महाकाव्य में यही सर्ग सबसे अधिक क्लिष्ट है; क्योंकि भारवि ने इस सर्ग में चित्रकाव्य लिखा है। राजा दुर्विनीत का समय वि० सं० ५३८ (ई० ४८१) है। दुर्विनीत के इस उल्लेख से भारवि का समय ४५० ई० के आसपास ठहरता है—पंचमशती का मध्यकाल।

ग्रन्थ

भारवि की अमर कीर्ति जिस काव्य पर अवलम्बित है वह है सुप्रसिद्ध 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य, जो महाभारत के एक सुप्रसिद्ध आख्यान के ऊपर आश्रित है (वनपर्व का कैरात पर्व, अ० ३८–४१)। द्यूतक्रीडा में हारकर युधिष्ठिर द्वैत-वन में रहते थे। दुर्योधन की शासन-प्रणाली देखने के लिये उन्होंने वनेचर को भेजा। वनेचर पूरी जानकारी प्राप्त कर लौटा और दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की बातें बतलायी। भीम और द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिये उत्तेजित किया, परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़ समर छेड़ने की बात कथमपि स्वीकार नहीं की। इसी बीच में भगवान् वेदव्यास जी भी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने अर्जुन को पाशुपतास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या

---

१. येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

२. शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्ढकथेन किरातार्जुनीयपञ्चदश सर्ग-टीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।

करने के हेतु भेजा। अर्जुन ने कठिन तपस्या की। व्रतभंग करने के लिये दिव्याङ्गनायें भी आयीं, परन्तु व्रती अर्जुन व्रत से तनिक भी नहीं डिगा। भगवान् इन्द्र स्वयं अर्जुन के आश्रम में आये और मनोरथ-सिद्धि के लिये शिवजी की उपासना करने का उपदेश दे गये। अर्जुन ने और भी दत्तचित्त होकर शिव की आराधना की। मुनिगणों के कहने पर शिव ने अर्जुन के तपोबल की परीक्षा करने के लिये किरात का रूप धारण किया। एक मानवी शूकर अर्जुन की ओर भेजा गया। अर्जुन ने शूकर पर अपने बाण छोड़े; साथ ही साथ किरात ने भी अपने शरों को छोड़ा। अर्जुन का बाण सुअर का काम तमाम कर पृथ्वी में चला गया। बचे हुए बाण के लिए झगड़ा छिड़ गया। कभी धनञ्जय की विजय होती, तो कभी किरात का पक्ष प्रबल होता। अन्ततोगत्वा दोनों बाहुयुद्ध पर तुल गये। गाण्डीवी के बल से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने स्वयं अपना दर्शन दिया और अपना अमोघ पाशुपतास्त्र देकर अर्जुन की अभिलाषा पूरी की।

किरात में १८ सर्ग हैं जिसमें ऊपर वर्णित कथानक का वर्णन किया गया है, परन्तु बीच में कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के कथनानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त तथा जल-क्रीडा का बहुत कुछ विस्तार किया है। पूरा चौथा सर्ग शरद ऋतु, पंचम हिमालय पर्वत, षष्ठ युवतिप्रस्थान, अष्टम सुराङ्गना-विहार तथा नवम सुरसुन्दरी-सम्भोग के वर्णन में लगाये गये हैं। किरात में प्रधान रस वीर है। शृंगार रस भी गौणरूप से वर्णित किया है, वह मुख्य रस का अंगभूत ही है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द (श्रियः कुरूणामधि-पस्य पालिनीम्) से होता है। तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द आया है। भारवि ने 'मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' के अनुसार अन्त में मंगलार्थक 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है।

समीक्षा

भारवि का काव्य अपने 'अर्थ-गौरव' समीक्षा विवेचकों में प्रसिद्ध है "भारवेरर्थगौरवम्"। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थ-गौरव की पहिचान है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों के द्वारा प्रकट कर वास्तव में अपनी अनुपम काव्यचातुरी दिखलाई है। भारवि ने भीम के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर के द्वारा जिन शब्दों में कराई है, वे ही शब्द इनकी कविता के भी यथार्थ निदर्शन हैं (२।२७)—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

भारवि की दृष्टि में सत्काव्य के लिए इन बातों की आवश्यकता होती है—पदों की स्फुटता, अर्थ-गौरव का स्वीकार, शब्दों की पृथक्ता (भिन्न-भिन्न अर्थों को बतलाना) तथा सामर्थ्य-सम्पत्ति (पदों के द्वारा अभीष्ट अर्थ की द्योतना)। ये शोभन गुण उनके काव्य में विशेष रूप से पाये जाते हैं। भारवि ने कविता के नैतिक तत्त्वों की ओर अपना ध्यान खूब ही दिया है। वे कविता में नैतिक सिद्धान्त का प्रकाशन आवश्यक मानते हैं। इस विषय में उनका व्यावहारिक तथा शास्त्रीय अनुभव इतना प्रौढ़ और परिपक्व है कि उनके वाक्य उपदेशमय होने से पण्डितजनों की जिह्वा पर आज भी नाचा करते हैं।

वे जानते हैं कि हितकारक वचन का मनोहर होना नितान्त दुर्लभ है (हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः); सब किसी को मनोहर लगने वाली वाणी दुर्लभ होती है (सुदुर्लभाः सर्व-मनोरमा गिरः); गुण से ही किसी का आदर बढ़ता है, दैहिक विस्तार से नहीं (गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः); प्रियता का कारण परिचय न होकर गुण ही होता है (गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः); सज्जन के साथ विरोध भी विशेष लाभप्रद होता है (वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः); सेवक का काम मालिक को ठगना नहीं होता (न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः)। इन दृष्टान्तों के प्रदर्शन का यह अर्थ नहीं है कि भारवि में लोक-व्यवहार की ही प्रचुरता है तथा हृदयावर्जन के सामर्थ्य का अभाव है। भारवि की कविता में कोमल भावों को प्रदर्शन करने की पूरी क्षमता है। किरातार्जुनीय काव्य का मूल आधार महाभारत के वनपर्व (अध्याय ३८–४१) तथा शिव-पुराण (ज्ञान-संहिता अ० ६३–६७) की एक प्रख्यात घटना पाशुपत अस्त्र की अर्जुन के द्वारा प्राप्ति है, परन्तु इतनी थोड़ी-सी अरुचिर घटना को नवीन कोमल उपादानों से पुष्ट कर रुचिर तथा सरस बनाना भारवि की कला का वैशिष्ट्य है। भारवि की यह नई सामग्री (सर्ग ६–१०) काव्य के विकाश में बाधक न होकर सर्वथा साधक है। इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन की घोर तपस्या पर्वतवासी गुह्यकों को इतना भयभीत बना देती है कि वे इन्द्र के पास उपचार के लिए पहुँचते हैं, जो गान्धर्वों तथा अप्सराओं को अर्जुन की तपस्या को भंग करने के लिए भेजते हैं। ये देवयोनि के गण अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रस्थान करते हैं, परन्तु रास्ते में प्रकृति की सुषमा से मुग्ध होकर जंगलों में पुष्पचयन में आसक्त हो जाते हैं तथा जलक्रीडा में कालयापन करते हैं (अष्टम सर्ग), सूर्य के अस्त होने पर रात आती है तथा चन्द्रिका की छटा में ये लोग रतिलीला में लग जाते हैं (९ सर्ग) तथा प्रभात होने पर अपने कार्य की सिद्धि की ओर अग्रसर होते हैं और अर्जुन को डिगाने के लिए प्रयत्न करते हैं (१० सर्ग)। देखने में यह सामग्री पाण्डित्य का प्रदर्शन भले ही करे, परन्तु वस्तुतः वह नायक के चरित्र के उत्कर्ष को द्योतित करती है। इतने प्रभावशाली दैवी विघ्नों का विजेता पुरुष सत्य ही महनीय वीर तथा अभिनन्दनीय शूर सिद्ध होता है। फलतः यह नवीन सामग्री अनुपयोगी न होकर सर्वथा उपादेय है।

भारवि ने अपने काव्य को अलंकार से विभूषित करने का खूब प्रयत्न किया है। ऋतु, जलक्रीडा, चन्द्रोदय का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। चतुर्थ सर्ग में शरद ऋतु का वर्णन इतना नैसर्गिक और हृदयग्राही हुआ है कि इस जोड़ का दूसरा वर्णन ढूंढ़ निकालना कठिन है। अन्य प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन खूब अनूठा हुआ है। उपमा, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग भी उचित स्थान पर किया गया है। भारवि ने चित्रकाव्य लिखने में अपनी चातुरी दिखलाने के लिए एक समग्र सर्ग—पंचदश—ही लिख डाला है। इस सर्ग में सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्यान्य चित्र-काव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक अक्षर वाला भी एक श्लोक[1] लिखा है जिसमें 'न' के सिवाय अन्य वर्ण हैं ही नहीं। अतः कहीं-कहीं इनका काव्य कठिन-सा हो गया है। इसीलिये मल्लिनाथ ने

१. ननोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥ (१५।१४)

इनके काव्य को 'नारिकेलपाक' नारिकेल फल के समान बतलाया है (नारिकेलफलसन्निभं वचो भारवेः)। इतना होने पर भी इनकी कविता में एक विचित्र चमत्कार है—मनोरम गाम्भीर्य है, जो पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच लेता है।

राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन किरातार्जुनीय में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीमसेन और युधिष्ठिर का संवाद राजनीति के गूढ़ तत्त्वों से भरा हुआ है। अन्य सर्गों में राजनीति के ऊँचे सिद्धान्त उचित स्थान पर रखे गये हैं। भारवि में वक्तृत्व शक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की है। भारवि का विषय-प्रतिपादन वक्ता के दृष्टिकोण को हमारे सामने निर्मल दर्पण के समान रखने में सचमुच समर्थ है। भीम का ओजस्वी भाषण और युधिष्ठिर का सौम्य भाषण सुनकर पाठकों का हृदय वक्ता की ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है। भारवि को यह गुण निश्चय ही राजदरबार के सम्पर्क से प्राप्त हुआ होगा। इस काव्य में इसीलिए व्यावहारिक ज्ञान की प्रौढ़ता चमत्कारिणी है।

भारवि ने बहुत से छन्दों में कविता की है, परन्तु सबसे अधिक सुन्दरता से वंशस्थ का प्रयोग किया है। **क्षेमेन्द्र** ने वंशस्थ वृत्त को राजनीतिक विषयों के वर्णन के लिये सबसे अधिक उपयुक्त माना है—

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

अत एव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजनीति के विशेषज्ञ भारवि का वंशस्थ सबसे अच्छा हुआ है। लेखक को तो यही प्रतीत होता है कि भारवि के द्वारा वंशस्थ के सुचारु प्रयोग की सुषमा के कारण ही संभवतः क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ को राजनीति-वर्णन के लिये उपयुक्त छन्द माना है। क्षेमेन्द्र ने भारवि की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—

वृतच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥ (सुवृत्ततिलक)

कवि का व्यक्तित्व

भारवि का संसार का अनुभव उच्चकोटि का है। संसार के सुख-दुःख की पहिचान इन्हें खूब है। वे बड़े मानी प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में मान का—स्वात्माभिमान का—बड़ा आदर है। द्रौपदी तथा भीम ने अपने सम्मान की रक्षा के लिये युधिष्ठिर को जिस प्रकार उत्साहित किया है वह मनन करने का विषय है। कवि के स्वभाव में जितना मान का गौरव है, उससे कहीं अधिक विनय का महत्त्व है। किरात में जितने संभाषण मिलते हैं उनमें कहीं भी शिष्टाचार तथा विनय का उल्लंघन नहीं है, उनके पात्रों में अपने विरोधियों की बातें शान्तचित्त से सुनने की क्षमता है। वे अपने पक्ष का मण्डन बड़े तर्क से करते हैं तथा अपने विपक्षियों के कथन का भी खूब खण्डन करते हैं, परन्तु उनमें उद्वेग नहीं दीखता। भारवि माँगने को बड़ा बुरा मानते थे। इसे वे पण्डितों की मर्यादा को भंग करनेवाली बतलाते हैं—**धिग् विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्**। वे जानते हैं कि गुण प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं—**वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि**। सज्जनता के विशिष्ट गुणों का वे मर्म जानते हैं कि सज्जनों की वाणी निन्दा करना जानती ही नहीं, केवल गुणों का ही प्रकाश करती है—**'अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते'**। राजनीति का

उनका ज्ञान सिद्धांत-ग्रन्थों के अध्ययन का फल नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक कार्यों के अवलोकन का परिणाम है। राजनीति के तत्त्वों का तथा राजदूतों का इतना सजीव वर्णन किरात में मिलता है कि वह कवि-कल्पना नहीं हो सकता--वह तो आँखों से देखा हुआ स्वानुभूत यथार्थ वर्णन हो सकता है।

भारवि की कविता में गीतिमय माधुर्य की अपेक्षा वर्णनात्मक तथा तर्कात्मक ओज का ही प्राधान्य है। भारवि सुश्लिष्ट पदविन्यास के आचार्य हैं। कालिदास के समान प्रसादमयी हृदयावर्जक पदावली का अस्तित्व इनके महाकाव्य में तो सचमुच नहीं है परन्तु अर्थगौरवमय पदों का विलास यहाँ पूर्ण मात्रा में है। राजनीति के सिद्धान्तों का तार्किक रीति से प्रतिपादन तथा प्रकृति के दृश्यों का मनोहर वर्णन भारवि की भव्य कला के प्रौढ़ अङ्ग हैं। संसार की विपुल अनुभूति की पृष्ठभूमि पर किरातार्जुनीय में व्यावहारिक तत्त्वज्ञान का वर्णन कवि के अनुभव की विशालता, राजनीति की पटुता तथा कथनोप-कथन की चातुरी प्रदर्शित करने का पर्याप्त साधन है। भारवि से हम बहुत ही बड़ी बातों की आशा नहीं कर सकते, परन्तु जितना उन्होंने लिखा है प्रौढ़ता, अनुभूति तथा भावुकता के साथ लिखा है। और यह भारवि की निजी विशेषता है। संस्कृत काव्य की एक नवीन शैली—**विचित्र मार्ग**--की सृष्टि करने के लिये भी भारवि प्रबन्ध-काव्यों के विकास में एक गौरवपूर्ण स्थान धारण करते हैं।

भारवि के पात्रों का चित्रण महाभारत की अपेक्षा अपनी विशिष्टता रखता है। भारवि के पात्र मूल महाभारत की अपेक्षा कोमल तथा सौम्य हैं; औद्धत्य उनमें नहीं है। महाभारत में **भीष्म** अपने औद्धत्य के लिये बदनाम हैं, परन्तु भारवि के काव्य में वह मर्यादा के भीतर ही काम करते हैं। **द्रौपदी** का चरित्र अपमान से जलनेवाली उदात्त नारी का चरित्र है। मूल में द्रौपदी स्वार्थी के रूप में चित्रित की गई है, परन्तु यहाँ वह मनोज्ञ है। शान्त युधिष्ठिर के मानस में पाण्डवों की दुर्दशा का चित्र दिखलाकर युयुत्सा उत्पन्न करना तथा क्षत्रियोचित मार्ग से विचलित न होने पर आग्रह दिखलाना द्रौपदी का विशिष्ट कार्य है। अर्जुन तो इस काव्य का नायक ही ठहरा और उसमें समग्र नायक के गुण एकत्र संपिण्डित होकर अपनी विभूति दिखलाते हैं। इस प्रकार पात्रचित्रण में भी भारवि का वैशिष्ट्य है।

यह सच्ची बात है कि भारवि की अनुभूति राजनीति के विषय में बड़ी मार्मिक तथा तलस्पर्शिणी है, परन्तु प्रेम के कोमल राज्य में भी उनका प्रवेश कम नहीं था। छोटी परन्तु गम्भीरार्थ-प्रकाशिनी उक्तियों से भारवि का काव्य भरा-पूरा है।

पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनो नाप्यतेऽनुरूपः ॥

(किरात० १०।५०)

ऐसी ही सुन्दर उक्ति है। **'नास्ति तज्जगति सर्व-मनोहरं यत्'**--व्यक्तिविवेककार इस सौन्दर्य सिद्धान्त से वे पूर्णतया परिचित थे। वे जानते थे कि भविष्य में उपकार करने वाला उतना प्रिय नहीं होता किसी कृतज्ञ व्यक्ति के लिए जितना कि उपकार का सम्पादन करनेवाला (किरात० १३।१२)--

न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदानः ॥

इन्हीं सद्‌गुणों के कारण भारवि का काव्य इतना लोकप्रिय रहा है। भारत में ही नहीं, भारत के बाहर भी जावा के साहित्यिक विकाश के ऊपर किरातार्जुनीय का प्रभाव विद्वानों के आश्चर्य का विषय बना हुआ है।

भारवि की शैली

भारवि की भाषा उदात्त तथा हृदय को शीघ्र प्रभावित करने वाली है। वह कोमल भावों को प्रकट करने में उतनी ही समर्थ है जितनी उग्र भावों के प्रकाशन में। भाषा तथा शैली के विषय में भारवि ने अपने आदर्श का संकेत इस प्रख्यात पद्य में किया है (किरात १४।३)—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥

पुण्यशाली व्यक्तियों की सरस्वती प्रसन्न तथा गंभीर पदों से युक्त होती है। उसके सुन्दर अक्षर पृथक् रूप रखते हैं तथा कानों को प्रसन्न करते हैं। वह शत्रुओं के भी हृदयों को प्रसन्न करती है। 'प्रसन्न' का लक्ष्य शाब्दी सुष्ठुता से है तथा 'गम्भीर' का तात्पर्य अर्थ की गम्भीरता से है। भारवि की शैली का यही मर्म है। वह प्रसन्न होते हुए गम्भीर है। मित्र आलोचकों को प्रसन्न करने के साथ ही दुष्ट आलोचकों को भी आवर्जित करती है। फलतः **"प्रसन्नगभीरपदा सरस्वती"** भारवि की भाषा तथा शैली का द्योतक महनीय मन्त्र है।

इनको कविता के स्वरूप-ज्ञान के लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे (४।३७)—

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहि-विद्विषः॥

धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली है। कमल-लता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों की शोभा के साथ जलकी शोभा मिल रही है। खेत में धानों की पकी-पकी पीली शिखा (वालियाँ) हिल रही हैं जिनसे जल भी पीला हो गया है। खेत का यह रंजित जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंग-विरंगा धनुष् गलकर पानी के रूप में बह रहा है। यह अनोखी कल्पना है (४।३६)—

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥

शरद का सुहावना समय है। सुग्गों की पाँत उड़ रही है। शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे शुकों की पाँत मूँगे के टुकड़े के समान लाल-लाल चोंचों में धान की पीली-पीली बालियों को लिये हुए आकाश में उड़ी जा रही हैं। मालूम पड़ता है कि इन्द्रधनुष् आकाश में उगा हो। सुग्गों का शरीर है हरा, चोंच है लाल, उन चोंचों में ली हुई धान की वालियाँ हैं पीली। इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्रधनुष से कम सुहावनी जँचती हैं? भारवि ने शरद के इस शोभन दृश्य को कितने सरल शब्दों में वर्णन किया है। कल्पना एकदम नई है, वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है।

भारवेरर्थगौरवम्

संस्कृत के आलोचना जगत् में भारवि अपने अर्थ-गौरव के निमित्त नितान्त प्रख्यात हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थों की अभिव्यक्ति को हम 'अर्थगौरव' की कसौटी मानते हैं। अपने अभिव्यञ्जनीय भावों के प्रकटीकरण के लिए कवि उतने ही शब्दों को चुनता है जितने उस कार्य के लिए आवश्यक होते हैं। भारवि का अर्थ-गौरव उनकी गम्भीर अभिव्यञ्जना-शैली का फल है और इस शैली में शब्द तथा अर्थ दोनों के सुडौलपन की स्निग्धता है। भारवि गम्भीर व्यक्तित्व से मण्डित महाकवि हैं। उनकी कविता में भावों की उदात्तता है। मानव हृदय के भीतर प्रवेश कर उसके अन्तराल में पनपने वाले भावों के सूक्ष्म निरीक्षण तथा उनके प्रकटीकरण की महनीय शक्ति का अभाव उसकी काव्यकला में भले ही विद्यमान हो, परन्तु लोकसम्बद्ध तथ्यों के विवरण देने में वे सर्वथा कृतकार्य हैं।

अर्थ-गौरव की कमनीयता का उदय श्लेषालंकार के अभ्युदय के कारण अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। श्लेषानुप्राणिता उपमा का प्रदर्शनकारी यह प्रख्यात पद्य अर्थ-गौरव का चमत्कारी दृष्टान्त प्रस्तुत करता है (किरात १।२४)—

> कथा-प्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
> तवाभिधानाद् व्यथते नताननः सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥

जिस प्रकार साँप विषवैद्य के द्वारा उच्चरित गरुड और वासुकी के नामों से युक्त अत एव असह्य, मन्त्रपद से गरुड के पराक्रम का स्मरण कर नतमस्तक हो जाता है, उसी प्रकार जनसमूह में चर्चा के अवसर पर दुर्योधन आप का (युधिष्ठिर का) नाम सुनकर इन्द्रपुत्र अर्जुन के पराक्रम का स्मरण कर अपना सिर (लज्जा तथा सन्ताप के कारण) झुका लेता है। इस पद्य के कतिपय श्लिष्ट पद अर्थ-गौरव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—(१) तवाभिधानात्=तुम्हारे नाम से; त (तार्क्ष्य, गरुड़) तथा व (वासुकि) के नाम धारण करने वाला। एकदेश के ग्रहण से पूरे नाम का ग्रहण होता है—इस न्याय से 'तव' शब्द तार्क्ष्य तथा वासुकि का वाचक माना गया है। (२) आखण्डलसूनुविक्रमः=इन्द्र के सूनु (पुत्र=अर्जुन) के विक्रम (पराक्रम) का स्मरण करनेवाला; इन्द्र के सूनु (अनुज=विष्णु) के वि (पक्षी=गरुड) के क्रम (पादविक्षेप) का स्मरण करनेवाला। फलतः सभंगश्लेष की महिमा से सम्पन्न होने के कारण कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थों का समावेश इस पद्य को सौष्ठव प्रदान कर रहा है।

> विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
> स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥

जिस प्रकार विषम—गंभीर जलाशय सीढ़ी बना देने पर स्नान के योग्य बन जाता है उसी प्रकार समस्याओं की विकटता के कारण विषम नीतिशास्त्र किसी योग्य विद्वान् द्वारा व्याख्यात होने पर सुगमता से प्रवेश किया जा सकता है। इतना होने पर भी वह व्यक्तिविशेष दुर्लभ है जो कार्य के मार्ग का सम्यक् प्रतिपादन करता है। शास्त्र का प्रतिपादन सुलभ है, परन्तु तदनुसारी व्यवहार का प्रतिपादन दुष्कर है (किरात २।३)।

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन् वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ।।

परिणाम में लाभप्रद, श्रेष्ठ, क्षीण बल वाले रोगियों को (पाचन शक्ति की न्यूनता के कारण) कष्टप्रद, अत्यन्त वीर्य से सम्पन्न, अल्प मात्रा वाले रसायन में जिस प्रकार अनेक गुण दीखते हैं, उसी प्रकार परिणाम में हितकर, सारगर्भित, क्षीण शक्ति वाले व्यक्तियों को सन्तापकारी, अत्यन्त ओजस्वी एवं अल्पाक्षर द्रौपदी के वचन में अनेक (मर्यादारक्षण, राज्यलाभ आदि) गुण पाये जाते हैं। 'रसायन' के गुण का प्रतिपादक यह गम्भीरार्थक पद्य नितान्त विशद तथा अन्तरंग है (किरात २।४)।

निष्कर्ष यह है कि भारवि की प्रमुखता वर्णनात्मक तथा तार्किक प्रसंगों में विशेष है; लयसमन्वित गीति-काव्योचित माधुर्य का उनमें अभाव है। वे हिमालय के वर्णन में तथा राजनीतिक समस्याओं के तार्किक समाधान में जितने समर्थ हैं, उतने किसी कोमल भावों की अभिव्यञ्जना में नहीं। अलंकृत पदावली का विन्यास भारवि का निजी क्षेत्र है—असंशय तथा चमत्कारी वैशिष्ट्य।

(६) भट्टि

केवल भट्टि-काव्य के अन्तिम पद्य से कवि के जीवन का स्वल्प संकेत चलता है। सरलता से व्याकरण सिखलाने के लिए निर्मित भट्टि-काव्य के लेखक महाकवि भट्टि के पूरे जीवनचरित का परिचय पाना नितान्त दुष्कर है।

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम् ।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितिपो मतः प्रजानाम् ।।

इससे जान पड़ता है कि भट्टिस्वामी का **बलभी** में राजा **श्रीधरसेन** की सभा में सत्कार होता था, सम्भवतः ये उनके सभा-पण्डित थे। अतः श्रीधरसेन का काल ही भट्टि-काव्य का निर्माणकाल है। शिलालेखों में बलभी में राज्य करनेवाले श्रीधरसेन नामधारी चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०० ई० के आस-पास है और अन्तिम राजा का ६५० के लगभग। इन चारों राजाओं में से भट्टिस्वामी किस श्रीधरसेन के शासन काल में थे ? यह कहना अत्यन्त दुष्कर है, परन्तु श्रीधरसेन द्वितीय के एक शिलालेख में किसी भट्टिनामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। इस शिलालेख के भट्टि तथा महाकवि भट्टि को एक मानने में कोई भी साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु यदि दोनों नामसाम्य से एक मान लिये जायँ, तो भट्टिस्वामी का समय प्रायः निश्चित-सा हो जायगा। इस शिलालेख का समय ६१० ई० के आस-पास है।

ध्रुवसेन प्रथम के ताम्रपत्रों में राजा का विरुद मिलता है—दीनानाथोपजीव्यमान-विभवः परममाहेश्वरः सेनापतिर्धरसेनः। भट्टि ने पूर्वोदाहृत पद्य में श्रीधरसेन को 'प्रजानां क्षेमकरः' (प्रजाओं का कल्याण करनेवाला) उपाधि से मण्डित किया है और यह उपाधि राजा के पूर्व विरुद से भली-भाँति मेल खाती है। अतः अनेक विद्वानों की सम्मति है कि भट्टि श्रीधरसेन प्रथम के ही राज्यकाल में विराजमान थे। इनका समय ४७० ई० से लेकर ५०० ई० तक माना जाता है और इसी काल में भट्टि का आविर्भाव मानना नितान्त उपयुक्त है।

ग्रन्थ

भट्टिस्वामी का ग्रन्थ उन्हीं के नाम पर **भट्टि काव्य** कहलाता है। इसे **रावण-वध** भी कहते हैं। यह महाकाव्य २० सर्गों में समाप्त हुआ है, इसमें ३६२४ पद्यों का मनोहर संनिवेश किया गया है। इस महाकाव्य में मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र की जीवन-घटनाओं का वर्णन है। इस महाकाव्य का सुन्दर उद्देश्य यह है कि मनोरञ्जन के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण तथा अलंकारशास्त्र का पूर्ण ज्ञान पाठकों को प्राप्त हो जाय। संस्कृत व्याकरण के कठिन होने के कारण देववाणी के कुछ सच्चे भक्तों को इसे सरल बनाने की चिन्ता थी। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि बालकों को शब्दों की व्युत्पत्ति तथा समुचित प्रयोग एक साथ मालूम हो जायँ। पातञ्जल-महाभाष्य में उद्धृत कतिपय पद्यांशों से कई लोगों ने यह अनुमान निकाला है कि महर्षि पतञ्जलि के समय में भी ऐसे 'वैयाकरण काव्यों' का उद्भव हो चुका था। भट्टिस्वामी ने पूर्व विद्वानों के द्वारा अनभ्यस्त मार्ग का अनुसरण बड़ी उत्तम रीति से किया।

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥

कवि की दृष्टि में यह प्रबन्ध व्याकरण ज्ञान से मण्डित शास्त्र-चक्षु विद्वानों के लिए दीपतुल्य है, परन्तु व्याकरण से हीन व्यक्तियों के लिए तो अन्ध के समान हाथ पर रखे दर्पण के समान पदार्थों का प्रकाशक नहीं है। काव्य का यह वैशिष्टच ग्रन्थ के भीतर अक्षरशः चरितार्थ होता है। इसलिए यह सुधियों के लिए जहाँ उत्सव है, वहीं यह दुर्मेधों के लिए व्यसन है। फलतः भट्टि का पदचयन स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत वह शब्द-शास्त्र की कारा में बद्ध है। उन्मुक्त वातावरण की आशा उनसे करना व्यर्थ है। परन्तु अपने चुने हुये मार्ग में भट्टि निःसंदेह अग्रणी हैं—शास्त्रकवियों के मार्गदर्शक और आदर्श।

समीक्षा

यद्यपि व्याकरण-ज्ञान को लक्ष्य में रखकर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है, तथापि पाठकों को भूलना न चाहिये कि यह काव्य ही नहीं महाकाव्य है, व्याकरण-ग्रन्थ नहीं है। अत एव महाकाव्य के आवश्यक गुणों का निवेश कविवर ने बड़ी योग्यता के साथ किया है। भट्टि काव्य के चार सर्गों की, दसवें से लेकर तेरहवें तक की, सृष्टि काव्य की विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिये की गई है। दसवाँ सर्ग शब्दालङ्कार की सुन्दर छटा से सुशोभित है। यमकालङ्कार के जितने भिन्न-भिन्न उदाहरण इस सर्ग में उपलब्ध होते हैं उतने अन्य काव्यों में बहुत कम पाये जाते हैं। एकादश सर्ग की सृष्टि माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। उदात्त तथा अद्भुत भावों के प्रकटीकरण के लिये समग्र द्वादश सर्ग निर्मित हुआ है। त्रयोदश में भाषानिवेश खूब मनमोहक है। इन विशिष्ट सर्गों के अतिरिक्त भी अन्य सर्गों में प्रसाद तथा माधुर्य गुणों की कमी नहीं है।

भट्टि में वक्तृत्व-शक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की विद्यमान थी। इसके प्रमाण भट्टिकाव्य के कतिपय पात्रों के भाषण हैं। विभीषण के राजनीतिक भाषण से कविवर के राजनीतिक ज्ञान का परिचय हमें मिलता है। रावण की सभा में उपस्थित होने पर शूर्पणखा का भाषण

भी बड़े महत्त्व का है। कविवर ने भाषणों का उन पात्रों के समुचित ही निवेश किया है। शूर्पणखा के भाषण (५ म सर्ग) से उस कुलटा के कुटिल स्वभाव का परिचय हमें साफ तौर से मिलता है। प्राकृतिक दृश्यों के स्मरणीय वर्णन करने में कविवर भट्टि की शक्ति अच्छी दीख पड़ती है। द्वितीय सर्ग में शरद् ऋतु का वास्तव में विमल वर्णन है। द्वादश सर्ग में प्रातःकाल का कमनीय वर्णन किया गया है। यह प्रातर्वर्णन साहित्य भर में अपना स्पर्धी नहीं रखता। महाकवि माघ का प्रभातवर्णन संस्कृत में खूब प्रसिद्ध है, परन्तु लेखक की धारणा है कि कविवर माघ की दृष्टि भट्टि के प्रभात-वर्णन पर अवश्य पड़ी थी। कम-से-कम दोनों वर्णनों में बहुत से समानता के विषय हैं। दोनों कवियों ने शृङ्गाररसाविष्ट रति-अनुरक्त कामी तथा कामिनियों के विलास-वर्णन में अधिक शक्ति खर्च की है। कहीं-कहीं माघ के पद्यों पर भट्टि के पद्यों की छाया स्पष्ट दृग्गोचर हो रही है। सारांश यह है कि कविता के विचार से भट्टिकाव्य विशेष न्यून श्रेणी का नहीं ठहरता। कवि भट्टि अपने प्रशंसनीय उद्योग में पूरे सफल हुए हैं। इस काव्य में पाठकों को काव्य-परिचय के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण का भी यथेष्ट ज्ञान हो जाता है।

भट्टिकाव्य में निर्दिष्ट रामकथा वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही है, परन्तु इसमें कतिपय वैशिष्ट्य ध्यान देने योग्य हैं। दशरथ के शैव होने का उल्लेख मिलता है; पुत्रेष्टि यज्ञ में कोई देवता प्रकट नहीं होते, प्रत्युत दशरथ की पत्नियाँ ही हवन की गई चरु का अवशिष्ट खाती हैं। विवाह केवल राम तथा सीता का ही निर्दिष्ट है। राम और लक्ष्मण दोनों मिलकर खरदूषण और उनके साथी राक्षसों का वध करते हैं। लक्ष्मण द्वारा सीता को शाप देने के अनन्तर एकादश में राक्षसियों का संभोग शृंगार वर्णित है। इस विशिष्टता की जानकारी इसलिए भी आवश्यक है कि भट्टिकाव्य का प्रभाव जावाद्वीप के प्राचीन रामायण पर (जिसे **रामायण-काकविन** कहते हैं; रचना-काल १० शती; लेखक अज्ञात) विशेष रूप से पड़ा है। रामकथा के पूर्वोक्त वैशिष्ट्य इसमें सब उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, इसका सर्गविभाजन भी भट्टिकाव्य के ही समान है। रामायण काकविन में युद्ध वर्णन विस्तार से हैं, जिससे भट्टिकाव्य के २२ सर्गों की सामग्री यहाँ २६ सर्गों में बढ़ा दी गई है। दोनों का अवसान युद्धकाण्ड की कथा तक ही है।[1]

सूर्योदय का एक रमणीय वर्णन है :—

दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत् सन्ततरश्मिरज्जुः।
प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्युज्जहारेव ततो विवस्वान्॥

यह समस्त संसार गहरे कीचड़ की तरह गाढ़ान्धकार में धँसा हुआ है, जिससे स्थावर तथा जंगम प्राणियों के शरीर बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ते। उदयाचल पर उदय होनेवाला सूर्य रस्सीरूपी किरणों को चारों ओर फैलाकर उस अन्धकार से संसार को मानों ऊपर उठा रहा है। सहृदयमर्मस्पर्शिणी उत्प्रेक्षा माघ के प्रभात-वर्णन की स्मृति दिलाती है। अलंकार-ग्रन्थों में बहुशः उद्धृत 'एकावली' का ललित दृष्टान्तरूप यह पद्य भी भट्टि ही की रचना है—

---

१. द्रष्टव्य—रामकथा, पृष्ठ २६४–२६५।

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षटपदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ।।

शरद् की सुषमा का वर्णन है। तालाब का ऐसा कोई जल नहीं था जहाँ सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई कमल न था जिसमें भौंरें छिपे न हों। ऐसा भौंरा भी न था जो मीठी गुंजन नहीं करता था। ऐसी कोई गुंजन न थी जो मन को नहीं हर लेती थी। सब साधन एक से एक बढ़कर सुन्दर थे।

भट्टि को ही आदर्श मानकर श्री **भट्ट-भीम** ने "**रावणार्जुनीय**' नामक काव्य का प्रणयन किया। कवि कहीं **भूम या भौमक** नाम से प्रसिद्ध है, वह वलभी का निवासी था, परन्तु यह नगर, ग्रन्थ की पुष्पिका के अनुसार, कश्मीर में वराहमूल (आजकल बारामूल नामक प्रसिद्ध नगर) के पास 'उडू' नामक गाँव है। कवि स्पष्टतः कश्मीरी है। जयादित्य ने काशिका में तथा क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में भौमक को उद्धृत किया है। फलतः इनका समय सप्तम शती है। इस ग्रन्थ के २७ सर्गों से कार्तवीर्य के चरित का वर्णन है और प्रायः समग्र अष्टाध्यायी के सूत्रों का उदाहरण यहाँ होने से विशेष उपयोगी है। भट्टिकाव्य की अपेक्षा यह भौमक-काव्य शैली की दृष्टि से सुबोध तथा सरस है। (प्रकाशित काव्य-माला संख्या ६८)।

(७) कुमारदास

उस कराल काल को हम किन शब्दों में कोसें, जिसने साहित्य जगत् में लब्धवर्ण कुमारदास के कमनीय कल्पना-प्रसूत महाकाव्य **जानकीहरण** को अकाल में कवलित कर रखा था कि वह अनेक वर्षों के विपुल प्रयास से अभी-अभी सम्पूर्ण रूप में हमारे सामने आया है। कुमारदास के रुचिर पद्यों का उद्धरण सूक्ति ग्रन्थों (शार्ङ्गधरपद्धति, सुभाषितावली, सदुक्तिकर्णामृत) में ही उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत कोश ग्रन्थ (राममुकुट की पदचन्द्रिका, सर्वानन्द की टीका सर्वस्वकामधेनु), व्याकरण ग्रन्थ (जैसे वर्धमान के गणरत्न-महोदधि तथा उज्ज्वलदत्त की उणादिसूत्रवृत्ति) तथा अलंकार ग्रन्थ (हेमचन्द्र के काव्यानुशासन, भोज के शृंगारप्रकाश, तथा राजशेखर की काव्यमीमांसा) में उनके वैयक्तिक जीवन, पद्यखण्डों तथा काव्य-वैशिष्ट्यों का पर्याप्त संकेत मिलता है। राजशेखर के इस प्रशस्ति पद्य ने तो भावुकों के हृदय को रघुवंश के प्रतिस्पर्धी 'जानकीहरण' की रसचर्वणा के लिए लालायित कर रखा था—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणस्य यदि क्षमौ ।।

श्लोक का भावार्थ है कि रघुवंश (रामचन्द्र) के रहते किसी की क्षमता जानकी को हरण करने की थी, तो रावण की ही। इसी प्रकार कालिदास के रघुवंश (काव्य) रहते किसी को जानकीहरण रचने का यदि सामर्थ्य था, तो कवि कुमारदास को। यह प्रशस्ति ध्वनि से कुमारदास को लंका के अधिपति रावण का स्वदेशी बतला रही है। उत्तर भारतीय जानकी को तथा तद्विषयक काव्य को लंकापति रावण ने तथा लंकावासी कुमारदास ने हठात् अपहरण किया था।

इस प्रकार जानकीहरण की पर्याप्त प्रसिद्धि कविगोष्ठी में निःसन्देह थी, परन्तु वीस सर्ग वाले समग्र जानकीहरण का नागराक्षरों में प्रकाशन का श्रेय १९६६ ई० में प्रयाग को मिला।[1] इतः पूर्व १८९१ ई० में लंका के विद्यालंकार कालेज के प्रिन्सिपल धर्माराम स्थविर ने शब्द-प्रतिशब्द अनुवाद सहित सिंघली लिपि में आदि के १४ सर्ग और १५ सर्ग के आदिम २२ पद्यों को सम्पादित-प्रकाशित किया था। उसी के आधार पर जयपुर के पण्डित हरिदास शास्त्री ने १८९३ में कलकत्ते से नागराक्षरों में इसे प्रकाशित कराया। बड़ी खोज के वाद प्रयाग के प्रतिष्ठित पण्डित व्रजमोहन व्यासजी ने हिन्दी अनुवाद के साथ समस्त २० सर्गों को संपादित कर संस्कृतज्ञों का बड़ा उपकार किया है। अब अनुशीलन के लिये यह महाकाव्य सुलभ हो गया। यह जानकीहरण की प्राप्ति तथा प्रकाशन का आवश्यक इतिवृत्त है।

जीवनवृत्त—काव्य के भीतर कवि का नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के अन्त के चार पद्यों से कुमारदास के विषय में एक फीकी जानकारी मिलती है—(१) कवि के पिता का नाम **मानित** था, जो विद्वान् होने के अतिरिक्त वीर योद्धा भी थे और लंकाधिपति कुमारमणि के सेनानी थे। युद्धभूमि में लड़ते-लड़ते मानित ने अपना प्राण विसर्जन किया (२०।६०)। (२) कवि के एक मातुल का नाम मेघ और दूसरे मातुल का नाम अग्रबोधि था; ये दोनों ही शूरवीर थे (२०।६१–६२)। (३) इन दोनों ही मातुलों ने दुहमुँहे बच्चे को पैदा होने के समय से ही अपने पुत्र की तरह बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा, क्योंकि कवि के पिता युद्ध में वीरगति प्राप्त कर चुके थे और कवि जन्म से ही व्याधि-ग्रस्त थे। बड़े होने पर कुमारदास ने अपने मातुलों की सहायता और प्रेरणा से इस काव्य का प्रणयन किया (२०।६३)। इन पद्यों से स्पष्ट है कि कुमारदास लंका के अधिपति न थे, प्रत्युत लंकाधिपति कुमारमणि के आश्रित एक वीर तथा विद्वान् कुल में उत्पन्न हुये। निष्कर्ष यह है कि कुमारदास को लंका के अधिपति मानने की किंवदन्ती इस अन्तरंग परीक्षा से सदा-सर्वदा के लिए ध्वस्त हो जाती है। कुमारदास के रोग का पता जानकी-हरण से नहीं चलता, परन्तु राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इनके जात्यन्ध (जन्मान्ध) होने की जनश्रुति का उल्लेख किया है (काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय)।

समय—इनके आविर्भावकाल का पता बहिरंग तथा अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर किया जा सकता है। जानकीहरण के प्रथम सर्ग को १७ वें श्लोक में कटाह (मलयद्वीप का 'केडा') पर आधिपत्य, १८ वें श्लोक में काञ्ची में सार्थवाहों का जमघट होना, १९ वें में यवनों के राजा यावनेन्द्र का पराजय तथा २० वें पद्य में तुरुष्क के राजा का पतन वर्णित है। सन्दर्भ से पता चलता है कि कटाह द्वीप पर आधिपत्य करनेवाला राजा काञ्ची से सम्बद्ध था। यह घटना पल्लव-साम्राज्य के इतिहास के अनुशीलन से समझी जा सकती है। पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मा (६१०–६४० ई०) का पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंह-वर्मन् प्रथम (६४०–६६८ ई०) अपने पराक्रम के कारण पल्लव राजाओं में सर्वश्रेष्ठ तेजस्वी शासक था। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इसी काञ्ची राजा के द्वारा किये गये वीर पराक्रमों का संकेत पूर्व वर्णन में स्वीकार करते हैं। अतः उनकी दृष्टि में जानकी-

१. प्रकाशक—मित्रप्रकाशन इलाहाबाद, १९६६।

हरण का समय सप्तम शती का उत्तरार्ध होना चाहिये।[1] एक बहिरंग प्रमाण से यह समय कुछ और पीछे ढकेला जा सकता है। 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' में ज़ानकीहरण के दो पद्य (इयत् पृथुत्वं कृशदेहयष्टेः १।३० तथा आसीदयं चन्द्रमसोः १।३७) उद्धृत मिलते हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल षष्ठ शती का अन्तिम चरण अनुमित है।[2] अतः 'जानकीहरण' की स्थिति षष्ठ शती के पूर्वार्ध में मानना अनुपयुक्त न होगा। जो कुछ भी हो, सप्तम शती मे तो यह कथमपि अर्वाचीन नहीं सिद्ध होता।

दन्तकथा—कहा जाता है कि जानकीहरण की कालिदास ने खूब प्रशंसा की, जिसे सुनकर कुमारदास ने कालिदास को सिंहल बुलाया। कालिदास राजा के आग्रह करने पर लंका गये और वहाँ किसी सुन्दरी के यहाँ इनका आना-जाना प्रारम्भ हुआ। दुर्भाग्यवश कालिदास पकड़े गये और मार डाले गये। मित्र की मृत्यु के कारण प्रेम से विह्वल होकर कुमारदास ने कालिदास की चिता पर आत्मघात कर डाला। आज भी लंका के दक्षिण प्रान्त में कालिदास का समाधिस्थान है। समाधिस्थान के पड़ोस के भिक्षु कहा करते हैं कि कुमारदास ने अपने मित्र के प्रसन्नार्थ उनकी ही भाषा में एक पहेली पूछी जिसे कालिदास ने बूझ लिया और उसका उत्तर अपनी मातृ-भाषा में दिया। कुमारदास और कालिदास की समसामयिकता सिंहल की पुस्तकों पर ही निर्धारित है। पूजावली (१३ शती में निर्मित प्रख्यात सिंघली ग्रन्थ) में कुमारदास मुद्गलायन के पुत्र, षष्ठशतक में सिंघल पर शासन करनेवाले कुमारदास से अभिन्न तथा कालिदास की चिता पर प्राण देने वाले बतलाये गये हैं। पेरुकुम्बासिरित (१६ शती का सिंघली ग्रन्थ) में यह घटना पुनः निर्दिष्ट है, जिससे पता चलता है कि लंका में कालिदास की हत्या तथा उनकी चिता पर शोकविह्वल कुमारदास के प्राणत्याग की घटना सिंहली-परम्परा से नितान्त प्रख्यात है।

ग्रन्थ

जानकीहरण कुमारदास की एकमात्र रचना है। इस महाकाव्य में २० सर्ग हैं। यह रामायणी कथा को लेकर लिखा गया है। पहले सर्ग में अयोध्या, राजा दशरथ तथा उनकी महारानियों का वर्णन है। दूसरे सर्ग में बृहस्पति ब्रह्मा से सहायता माँगते समय रावण के चरित्र का वर्णन करते हैं। तीसरे सर्ग में राजा दशरथ की जलकेलि तथा सन्ध्या का काव्यमय रमणीय वर्णन है। चतुर्थ तथा पंचम सर्गों में दशरथ के महल में चार पुत्र पैदा होते हैं और रामजन्म से लेकर ताड़का तथा सुबाहु वध तक की कथायें हैं। षष्ठ सर्ग में राम-लक्ष्मण को साथ लिये विश्वामित्र जी जनकपुर पधारते हैं और जनक से उनकी भेंट होती है। सप्तम में राम और सीता का प्रेम तथा विवाह है। अष्टम में राम-सीता का शृंगार वर्णन है। नवम में सब भाई अयोध्या लौटते हैं। दशम सर्ग में दशरथ राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय एक लम्बी वक्तृता देते हैं। रामचन्द्र का यौवराज्याभिषेक सर्वसम्मति से किया जाता है। बहुत सी घटनाएँ घटती हैं। सर्ग की

---

१. जानकीहरण की भूमिका, पृ० २१–२२; प्रयाग संस्करण।

२. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृष्ठ २९५, (वाराणसी, १९६९)।

समाप्ति के पहले ही जानकी का हरण हो जाता है। एकादश सर्ग में राम तथा हनुमान की मित्रता का वर्णन है। बालिवध के अनन्तर वर्षा ऋतु का अत्यन्त मनोहर वर्णन मिलता है। द्वादश सर्ग में शरद्काल में सुग्रीव के अन्वेषण-कार्य में न लगने पर लक्ष्मण जी उनको झिड़कियाँ सुनाते हैं। सुग्रीव रामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिए उनके पास आता है तथा पर्वत का वर्णन करता है। त्रयोदश में लंकादहन का वर्णन है। चतुर्दश में वानर लोग समुद्र के ऊपर सेतु बनाते हैं। कवि यहाँ पर सेना के पार जाने का चमत्कारी वर्णन करता है। पंद्रहवें सर्ग में अंगद जी रावण की सभा में राम के दूत बनकर जाते हैं। सोलहवें में राक्षसों की कमनीय केलियों का वर्णन है। सत्रहवें से लेकर बीसवें सर्ग तक संग्राम का वर्णन है। अन्त में रामचन्द्र रावण पर विजय प्राप्त करते हैं। राम-विजय के साथ यह महाकाव्य समाप्त होता है।

समीक्षा

कुमारदास भारवि और माघ के अन्तरालवर्ती युग के प्रतिनिधि कवि हैं। महाकवि कालिदास के अनेक शताब्दियों के अनन्तर संस्कृत काव्यशैली में एक विशिष्ट परिवर्तन सामने आया। कालिदास की रससिद्ध शैली का स्थान अलंकारों से जटित तथा अर्जित वैदुष्य के प्रदर्शन की 'विचित्र शैली' ने ले लिया। महाकवि भारवि इस विचित्रमार्ग के उद्भावक कवि थे जहाँ मूल वस्तु को चमत्कारी अलंकारों से सुसज्जित करने की कलात्मक प्रवृत्ति का जन्म होता है और कथावस्तु के सूत्र की परम्परा को विच्छिन्न कर चमत्कारी उपकरणों की सजावट ही कवि का मुख्य लक्ष्य बन जाता है। किरातार्जुनीय महाकाव्य इस शैली का प्रथम महत्त्वशाली प्रतिनिधित्व करता है। कुमारदास उसी युग के कवि थे। फलतः कालिदासीय वैदर्भी के प्रशंसक होने पर भी युगप्रकृति को अवनतेन शिरसा उन्होंने स्वीकार किया और ऐसे काव्य का प्रणयन किया जिसमें कवि के अनुराग को दोनों प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक होने पर भी विचित्रमार्ग ने उन्हें अपना परमाराधक भक्त बनाया। रघुवंश को आदर्श मान कर कुमारदास ने काव्य का प्रणयन आरम्भ किया, परन्तु ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते गये आदर्श से दूर हटते चले गये—दूर, एकदम दूर—इतनी दूर कि वे मुड़ कर भी नहीं देखते कि वे सुकुमार मार्ग से कितनी दूर बहक कर चले गये। कवि के बहकने के प्रमाण जानकीहरण के सर्गों की तुलनात्मक आलोचना से विज्ञ आलोचक को भली-भाँति मिल जाते हैं।

कोमल भावों के चित्रण में, मधुर पदावली के विन्यास में, तथा हृदय में गुदगुदी पैदा करनेवाली कल्पना के सर्जन में वे आरम्भिक सर्गों में स्पष्टतया संलग्न दीखते हैं (रामजन्म तथा रामविवाह का वर्णन द्रष्टव्य है), परन्तु युद्ध के चित्रण में अन्तिम सर्गों में चित्रकाव्य की छटा छहराती है और विदग्धों के हृदय से हटकर पण्डितों के मस्तिष्क को ही वह आप्यायित करती है। कुमारदास ने भारवि का अनुगमन कर उद्यानक्रीडा, जल-क्रीडा, रतोत्सव, सचिवमन्त्रणा, दूतसंप्रेषण, युद्धादि का परम्परानिष्ठ वर्णन किया, परन्तु इतना ध्यान रखा कि वह वर्णन मूल कथा को एकदम विच्छिन्न न कर दे। मध्य-युगीय कवियों ने जीवनदर्शन, मानवमूल्य आदि सुन्दर तथ्यों की ओर एकदम उदासीन वृत्ति धारण की और कुमारदास भी उस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं हैं। एकाक्षर, द्व्यक्षर,

विलोम, सर्वतोभद्र, मुरजबन्ध, निरोष्ठ्य, प्रतिलोम तथा नाना प्रकार के यमक के प्रति कवि की असाधारण अभिरुचि का सफल प्रदर्शन (१८ सर्ग) उन्हें भारवि-सम्प्रदाय का अभ्यस्त कवि घोषित करने के लिए पर्याप्त है। तथापि कुमारदास में संयम है—वे किसी वर्णन को अति की सीमा तक नहीं पहुँचाते। प्रकृति के कोमल पक्ष के वे पारखी हैं। सन्ध्या, सूर्यास्त, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि का अलंकृत वर्णन प्रकृति के नैसर्गिक स्नेह की अभिव्यक्ति से उन्हें वंचित नहीं करता। इसके प्रमाण में कतिपय दृष्टान्त यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

कुमारदास राम के बालक रूप के वर्णन में 'बाल-मनोविज्ञान' का बड़ा ही सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करते हैं (४।८)—

न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः॥

'राम यहाँ नहीं हैं, कहाँ चले गये' जब स्त्रियाँ खेलवाड़ में कहने लगीं तो उनके सामने ही बालक (राम) ने बहाने से हाथों से अपना मुँह ढक लिया जैसे वहाँ हैं ही नहीं।

राम के सलोने सुभाव का एक चटकीला चित्र देखिये (४।११)—

अयि दर्शय तत् किमुन्दुराद् भवतोपात्तमिति प्रचोदितः।
दरिदर्शयति स्म शिक्षया नवरं दन्त-चतुष्टयं शिशुः॥

स्त्रियाँ पूछ रही हैं—'अरे, बताओ तो तुमने चूहे से क्या लिया है?' ऐसा पूछे जाने पर पहिले से ही सिखाया-पढ़ाया वह बच्चा अपने नये-नये दाँत के चौके को दिखा देता था। कितना सुन्दर है यह शिशुलीला का चित्रण! इसमें कालिदासीय प्रभाव निःसन्देह अपनी रुचिर अभिव्यक्ति पा रहा है!!!

प्रातःकाल का यह वर्णन कितना अभिराम तथा पेशल है (जानकीहरण ३।७८)—

विरामः शर्वर्या हिमरुचिरवाप्तोऽस्तशिखरं
किमद्यापि स्वापस्तव मुकुलिताम्भोरुहदृशः।
इतीवायं भानुः प्रमदवनपर्यन्तसरसीं
करेणाताम्रेण प्रहरति विबोधाय तरुणः॥

[रात समाप्त हो चली, चन्द्रदेव अस्ताचल को चले गये; हे मुकुलित कमलाक्षी, तू क्या अब तक सो रही है? यह कहकर क्रीडोद्यान तक फैली हुई सरसी को जगाने के लिए यह तरुण सूर्य अपने ईषत् ताम्रकरों से थपकियाँ दे रहा है]

यह है निसर्ग-सुन्दर भाव की मधुर अभिव्यञ्जना।

वर्णन की चित्रात्मकता नवीन उत्प्रेक्षाओं और समासोक्तियों में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुई है। प्रकृति के उपादानों में अनूठी कल्पनाओं ने मानवीय व्यापारों के मार्मिक दर्शन कराये हैं। इस प्रसंग में सूर्यास्त का यह दृश्य निराहने योग्य है—

द्रुतमपसरतैति भानुरस्तं सरसिरुहेषु दलार्गलाः पतन्ति।
भ्रमरकुलमिति ब्रुवन्निवालिः क्वणितकलं विचचार दीर्घिकायाम्॥

['जल्दी निकल भागो सूर्यास्त हो चला; कमलों पर उनकी पँखुड़ी रूपी अर्गला बन्द हो रही है'—यह चेतावनी सुनाता सा भौंरा सरसी पर इधर से उधर चक्कर लगाने लगा]।

रमणी-रूप के वर्णन की ओर भी कुमारदास की विशेष आसक्ति है। जिस शैली का विशिष्ट रूप हमें नैषधचरित में दृग्गोचर होता है 'जानकीहरण' में उसका शुभ आरम्भ ही समझिये (१।२९)—

दृष्टौ हतं मन्मथबाणपातैः शक्यं विधातुं न निमील्य चक्षुः।
ऊरू विधात्रा नु कृतौ कथं तावित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः॥

कौशल्या के रूप-वर्णन का प्रसंग है। बुद्धिमान् लोग इस चक्कर में थे कि आखिर ब्रह्मा ने कौशल्या के जाँघों को बनाया तो कैसे बनाया। यदि वे आँखें खोल कर बनाते, तो उनकी आँखें कामदेव के बाणों से विद्ध हो जातीं। और फिर आँख मूँद कर वे बना ही कैसे सकते थे।

मेरी दृष्टि में इतने सुन्दर काव्य में राम-सीता की रतकेलि का विस्तृत वर्णन (अष्टम सर्ग) बड़ा ही बेतुका, भद्दा और मर्यादा के एकदम विरुद्ध है। प्रतीत होता है कि इस विषय में कुमारदास के सिर पर भारवि का जादू सवार था कि मर्यादापुरुषोत्तम के लिए नितान्त अनौचित्यपूर्ण प्रसंग कवि ने उद्भावित किया। कवि ने यहाँ 'सिद्धरस' काव्य के लिए अभिनवगुप्त द्वारा उद्भासित नियम की सर्वथा अवहेलना की है।

(८) प्रवरसेन

संस्कृत के महाकाव्यों के ढंग पर प्राकृत में भी अनेक महाकाव्यों की रचना समय-समय पर होती रही। इन प्राकृत महाकाव्यों में संस्कृत महाकाव्य के सब विशिष्ट गुण विद्यमान हैं। कथावस्तु को अलंकृत करने का ढंग भी वही पुराना है। प्रकृति के मनोरम दृश्यों का, प्रभात तथा संध्या का, वसंत तथा वर्षा का, संश्लिष्ट वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत के महाकवियों ने अपने सहयोगी संस्कृत महाकवियों की रचनाओं से बढ़कर काव्यकला दिखलाने का प्रयत्न किया है। अनेक अंश में ये कवि लोग सफल भी हुये हैं। भारवि का समकालीन 'सेतुबन्ध' प्राकृत महाकाव्य का श्रेष्ठ प्रतिनिधि माना जाता है, जिसके विषय में बाण की यह सूक्ति है—

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

इस महाकाव्य के रचयिता प्रवरसेन किसी देश के राजा थे, पर वे किस देश के राजा थे? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें कश्मीर का राजा मानते हैं, अन्य लोग वाकाटक वंश के राजा प्रवरसेन से इनकी अभिन्नता मानते हैं। सेतुबंध का दूसरा नाम 'रावणवध' या 'दशमुखवध' है। इसमें सेतुबन्ध से आरम्भ कर रावणवध तक की कथा प्रौढ़ रीति से वर्णित है। बाणभट्ट भी इस महाकाव्य के कीर्तिशाली होने के प्रबल प्रमाण हैं। इन कारणों से स्पष्ट है कि सप्तम शतक से पहले ही इसकी रचना हो चुकी थी। यह प्रवरसेन नरेश वाकाटक वंश के ही अधीश्वर थे, जिनके साथ चन्द्रगुप्त

द्वितीय की पुत्री 'प्रभावती गुप्ता' का विवाह हुआ था। अतः षष्ठ शतक में इस महाकाव्य की रचना निश्चय रूप से हुई थी।

'सेतुबंध' में १५ 'आश्वास' हैं, जिसमें सेतुबंध से आरम्भ कर रामकथा का सुन्दर चमत्कारपूर्ण वर्णन है। इस काव्य में प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। 'गउडवहो' के समान नितान्त नवीन अर्थ की कल्पना तो यहाँ कम मिलती है, परन्तु जो कुछ मिलता है वह सरस भाषा में निबद्ध है। कालिदास के रचयिता होने की किंवदन्ती का रहस्य इसके साहित्यिक सौन्दर्य में छिपा हुआ है। हनुमान जी के आगमन पर रामचन्द्र जी की अवस्था का यह वर्णन नितान्त सुन्दर है—

दिट्ठ त्ति ण सद्दहिअं क्षीण त्ति सबाहमन्थरं णीससिअम्।
सोअइ तुमं ति रुराण पहुणा जिअइ त्ति मारुइ उपऊढा॥

'सीताजी को देखा है' इसे विश्वास नहीं किया। 'वह क्षीण हो गई है' इसपर वे रोते हुए दीर्घ निःश्वास लेने लगे। 'तुम्हें शोच करती है' इससे प्रभु रोने लगे। 'वह जीती है' यह जानकर राम ने हनुमानजी को आलिंगन किया।

वाक्पतिराज को प्रभावित करनेवाले हैं महाकवि **प्रवरसेन**—प्राकृत महाकाव्य **'सेतुबन्धु'** के रचयिता। इनके समय तथा देश का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। महाकवि कालिदास ने 'सेतुबन्ध' का प्रणयन किया, यह व्याख्याकार रामदास (जिन्होंने इस काव्य की व्याख्या १५९५ ई० में 'रामसेतु-प्रदीप' नाम से बनाई थी) की कोरी कल्पना है। दण्डी के अनुसार 'सेतुबन्ध' सूक्ति-रत्नों का सागर है तथा महाराष्ट्रीय प्राकृत में निबद्ध है।[1] बाण के द्वारा प्रशंसित होने से प्रवरसेन पंचमशती के कवि प्रतीत होते हैं। अनेक विद्वान् वाकाटकवंशीय राजा प्रवरसेन द्वितीय को 'सेतुबन्ध' के कर्त्ता से अभिन्न मानते हैं। प्राकृत भाषा का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव सेतुबन्ध को नियमतः प्राप्त है। इसमें १५ आश्वास या सर्ग हैं। कथा युद्धकाण्ड की है। सेतुबन्ध से लेकर रावणवध तक की लघु कथा महाकाव्य के प्रमुख उपकरणों से समृद्ध होकर एक विपुल काव्य के रूप में उपस्थित होती है। आरम्भ के ८ आश्वासों में शरद्, रात्रिशोभा, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के वर्णन किये गये हैं जिससे इसके ऊपर संस्कृत महाकाव्य की शैली का पूरा प्रभाव सुतरां लक्षित होता है। उत्प्रेक्षा तथा कल्पनाएँ मौलिक तथा चमत्कारी हैं। बीच-बीच में सूक्तियाँ भी कम मनोहारिणी नहीं हैं, मछलियों द्वारा सेतु को नष्ट करने का भी उल्लेख है। सज्जनों के विषय में दी गयी यह सूक्ति चुस्त और प्रभावमयी है—

ते विरला सुप्पुरुसा जे अमडन्ता घडेन्ति कज्जालावे।
थोअ चिअ ते वि दुमा जे अमुणिय कुसुम-निग्गमा देन्ति फलं॥

[वे विरले होते हैं सत्पुरुष, जो विना कहे ही कार्यों को घटित कर देते हैं। थोड़े ही होते हैं वे पेड़, जो फूल के उदय को विना सूचित किये ही—अर्थात् विना फूले ही फल को दे देते हैं]।

रण की अभिलाषा के वर्णन में कवि का यह कथन कितना सुन्दर है—

---

१. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥ (काव्यादर्श)

भिज्जई उरो ण हिअअं गिरिणा भज्जई रहो ण उण उच्छाहो।
छिज्जन्ति सिराण हाणा तुंगा ण उण रणदोहला सुहडाणम् ॥

[युद्धभूमि में सुभटों के वक्षःस्थलों का भेदन होता है, उनके हृदय का नहीं। गिरि से रथ का भेदन होता है, उत्साह का नहीं। सुभटों के शिरों का छेदन होता है, उनकी रण की अभिलाषाओं का छेदन नहीं होता]।

इसका दूसरा नाम 'रावणवहो' (रावणवधः) है। इसका प्रभाव अवान्तरकालीन महाकाव्य 'गउडवहो' आदि पर विशेष लक्षित होता है। राजतरंगिणी के कथनानुसार प्रवरसेन कश्मीर के ही राजा थे। आनन्दवर्धन ने आलोचना के एक विशिष्ट तथ्य का उल्लेख किया है---काव्य में अलंकारों का प्रयोग अच्छा नहीं होता, परन्तु रससमाहित चित्त वाले कवि के सामने वे अनायास ही चले आते हैं। उस दशा में वे ग्राह्य होते हैं, उपेक्षणीय नहीं। इस सिद्धान्त का दृष्टान्त सेतुबन्ध का वह प्रसंग है[1] जहाँ राम के मायाजन्य शिरश्छेदन को देखकर सीतादेवी विह्वल हो उठती हैं। 'रावणवहो' की एक अन्य विशेषता यह है कि 'कामिनीकेलि' नामक दसवें सर्ग में राक्षसियों का संभोग-वर्णन मिलता है। इसका प्रभाव अन्य रामचरित-विषयक काव्यों पर पड़ा है। इसीका अनुकरण भट्टिकाव्य (सर्ग ११), जानकीहरण (सर्ग ८), अभिनन्दकृत रामचरित (सर्ग १८), जावा के रामायण 'रामायण का कविन' (सर्ग १२) तथा कम्ब रामायण पर है।

(९) माघ

शिशुपालवध के कर्ता का नाम 'माघ' है। डॉक्टर याकोबी का मत है कि जिस प्रकार 'भारवि' ने अपनी प्रतिभा की प्रखरता सूचित करने के लिए 'भा-रवि' (सूर्य का तेज) नाम रखा, उसी भाँति शिशुपालवध के अज्ञातनामा रचयिता ने अपनी कविता से भारवि को ध्वस्त करने के लिए 'माघ' का नाम धारण किया, क्योंकि माघमास में सूर्य की किरणें ठंडी पड़ जाती हैं। परन्तु यह कल्पना बिल्कुल निराधार जान पड़ती है। शिशुपालवध के कर्ता का व्यक्तिगत नाम ही 'माघ' है, उपाधि नहीं। माघ की जीवन घटनाओं का पता **'भोजप्रबन्ध'** तथा **'प्रबन्ध-चिन्तामणि'** से लगता है। दोनों पुस्तकों में प्रायः एक-सी कहानी दी गयी है। माघ ने ग्रन्थ के अन्त में अपना थोड़ा परिचय भी दिया है। इन सबको एकत्रित करने पर माघ के जीवन की रूपरेखा को हम जान सकते हैं।

जीवनी---माघ के दादा सुप्रभदेव वर्मलात नामक राजा के, जो गुजरात के किसी प्रदेश का शासक था, प्रधान मन्त्री थे। अतः माघ कवि का जन्म एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मणकुल में हुआ था। इनके पिता 'दत्तक' बड़े विद्वान् तथा दानी थे। गरीबों की सहायता में इन्होंने अपने धन का अधिकांश भाग लगा दिया। माघ का जन्म भीन-माल में हुआ था। यह गुजरात का एक प्रधान नगर था, जो बहुत दिनों तक राजधानी तथा विद्या का मुख्य केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने ६२५ ई० के आस-पास अपने

---

१. **अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति, यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे; यथा च मायारामादिशिरोदर्शनविह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ---(ध्वन्यालोक, पृ० ८७)।**

'ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त' को यहीं बनाया। इन्होंने अपने को **'भीनमल्लाचार्य'** लिखा है। हुवेनसांग ने भी इसकी समृद्धि का वर्णन किया है। पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर भी पड़ा। ये भी खूब दानी निकले। राजा भोज से इनकी बड़ी मित्रता थी। राजा भोज का इन्होंने अपने घर पर बड़े आवभगत से सत्कार किया। धीरे-धीरे अधिक दान देने से निर्धन हो गये। यह धारा का प्रसिद्ध राजा भोज नहीं हो सकता। इतिहास इसे असंभव सिद्ध कर रहा है। अत एव कुछ लोग 'भोजप्रबन्ध' की कथा पर विश्वास नहीं करते, परन्तु इतिहास में कम से कम दो भोज अवश्य थे। एक तो प्रसिद्ध धारानरेश भोज (१०१०-५० ई०) थे और दूसरे भोज सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए। सम्भवतः इसी दूसरे राजा के समय में माघ हुए थे। 'भोजप्रबन्ध' ने दोनों भोजों की कथाओं में गड़बड़ी मचा डाली है।

माघ अपने मित्र भोज के पास आश्रय के लिये आये। 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा है कि इनकी पत्नी राजा के पास 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्' आदि पद्य को, जो माघ-काव्य के प्रभात-वर्णन (११ सर्ग) में मिलता है, ले गयी। इस पद्य को सुनकर राजा ने प्रभूत धन दिया। उसे लेकर माघ-पत्नी ने रास्ते में दरिद्रों को बाँट दिया। माघ के पास पहुँचने पर उसकी पत्नी के पास एक कौड़ी भी न बच रही, परन्तु याचकों का ताँता बँधा ही रहा। कोई उपाय न देखकर दानी माघ ने अपने प्राण छोड़ दिये। प्रातःकाल भोज ने माघ का यथोचित अग्निसंस्कार किया और बहुत दुःख मनाया। माघ की पत्नी भी सती हो गई।

माघ के जीवन की यही घटना ज्ञात है। यह सच्ची है या नहीं, परन्तु इतना तो हम निःसन्देह कह सकते हैं कि माघ परम्परानुसार एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। जीवन के सुख की समग्र सामग्री इनके पास थी। पिता ने इन्हें शिक्षा दी थी। पिता के समान ही ये दानी तथा उपकारी थे। सम्भवतः भोज के यहाँ इनका बड़ा मान था।

समय--माघ के समय-निरूपण के लिए एक संदेह-हीन प्रमाण उपलब्ध हुआ है। आनन्दवर्धन ने शिशुपालवध के दो पद्यों को ध्वन्यालोक में उदाहरण के लिए उद्धृत किया है---रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः (३।५३) तथा त्रासाकुलः परिपतन् (५।२६)। फलतः माघ आनन्दवर्धन (नवम शती का पूर्वार्ध) से प्राचीन हैं। एक शिलालेख से इसका यथार्थ ज्ञान होता है। डॉ० कीलहार्न को राजपुताने के 'वसन्तगढ़' नामक किसी स्थान से 'वर्मलात' राजा का एक शिलालेख मिला है। शिलालेख का समय संवत् ६८२, अर्थात् ६२५ ई० है। शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न-भिन्न मिलता है। धर्मनाम, वर्मनाम, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठ-भेद पाये जाते हैं। भीनमाल के आसपास के प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डॉक्टर किलहार्न 'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रय-दाता को यथार्थतः अभिन्न मानते हैं। अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास है। अत एव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग ६५० ई० से लेकर ७०० ई० तक होगा, अर्थात् माघ का आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध मानना उचित है।

ग्रन्थ

माघ की कीर्तिलता केवल एक ही महाकाव्य **'शिशुपालवध'** रूपी वृक्ष पर अवलम्बित है। श्रीकृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदिनरेश शिशुपाल के वध का सांगोपांग वर्णन है। यही 'शिशुपालवध' महाकाव्य का वर्ण्य विषय है। इसका प्रेरणा स्रोत मुख्यतया श्रीमद्भागवत है, गौण रूप से महाभारत। वैष्णव माघ के ऊपर भागवत अपना प्रभाव जमाये था। फलतः उसी के आधार पर कथा का विन्यास है। सर्गों की संख्या २० तथा श्लोंको की १६५० (एक हजार छः सौ पचास)। द्वारका में श्रीकृष्णके पास नारद पधार कर दुष्टों के वध के लिए प्रेरणा देते हैं (१ सर्ग); युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जाने के लिए बलराम तथा उद्धव द्वारा मन्त्रणा द्वारा निश्चय किया जाता है (२ स०); श्रीकृष्ण दलबल के साथ इन्द्रप्रस्थ की यात्रा करते हैं (३ स०); तदनन्तर महाकाव्य के पूरक विषयों का वर्णन आरम्भ होता है। रैवतक का (४ स०), कृष्ण के रैवतक-निवास का (५ स०), ऋतुओं का (६ स०), वनविहार का (७ स०), जलक्रीडा का (८ स०), सूर्यास्त तथा चन्द्रोदय का (९ स०), मधुपान और सुरत का (१० स०), प्रभात का (११ स०), प्रातःकालीन अभियान का (१२ स०), पाण्डवों से मिलन तथा सभा-प्रवेश का (१३ स०), राजसूययाग तथा दान का (१४ स०), शिशुपाल द्वारा विद्रोह का (१५ स०), दूतों की उक्ति-प्रत्युक्ति का (१६ स०), सभासदों के क्षोभ तथा युद्धार्थ कवचधारण का (१७ स०), युद्ध का (१८ तथा १९ स०) तथा श्रीकृष्ण और शिशुपाल के साथ द्वन्द्व युद्ध का वर्णन २० सर्ग में निष्पन्न होता है। इस विषयसूची पर आपाततः दृष्टि डालने से स्पष्ट है कि लघुकाय वृत्त को परिबृंहित कर महाकाव्यत्व के निर्वाह के लिए माघ ने आठ सर्गों की योजना (४ सर्ग—११ सर्ग) अपनी प्रतिभा के बल पर की है। अलंकृत महाकाव्य की यह आदर्श कल्पना महाकवि माघ का संस्कृत साहित्य को अविस्मरणीय योगदान है, जिसका अनुसरण तथा परिबृंहण कर हमारा काव्यसाहित्य समृद्ध, सम्पन्न तथा सुसंस्कृत हुआ है।

समीक्षा

माघ और भारवि

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर अपने पूर्ववर्ती 'भारवि' से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। भारवि शैव थे, जिनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है; माघ वैष्णव थे, जिन्होंने विष्णु-विषयक महाकाव्य की रचना की। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्र-चारु' कहते हैं। भारवि की कीर्ति को ध्वस्त करने में माघ ने कुछ भी उठा नहीं रक्खा। 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिकता पैदा कर दी है। किरात के समान ही माघ-काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में, 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं' है, उसी प्रकार माघ के प्रारम्भ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के

अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है।

शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्णन-क्रम में समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है। दूसरे सर्ग में राजनीति-कथन है। अनन्तर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु-वर्णन भी दोनों में है--किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है---किरात के पाँचवें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का। अनन्तर दोनों में संध्याकाल, अंधकार, चन्द्रोदय, सुन्दरियों की जलकेलि---आदि विषयों के वर्णन कई सर्गों में दिये गये हैं। किरात के तेरहवें तथा चौदहवें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में बाण के लिये वाद-विवाद हुआ है, माघ के सोलहवें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि के बीच हुआ है। किरात के पंद्रहवें तथा माघ के उन्नीसवें सर्ग में चित्रबंधों में युद्ध-वर्णन है। इस प्रकार समता होने पर भी रसिक जन माघ के सामने भारवि को हीन समझते हैं:--

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः।' उपमा, अर्थ-गौरव तथा पदलालित्य--इन तीनों गुणों का सुभग दर्शन हमें माघ की कमनीय कविता में होता है। बहुत से आलोचक पूर्वोक्त वाक्य को किसी माघ-भक्त पण्डित का अविचारितरमणीय हृदयोद्गार भले ही बतावें, परन्तु वास्तव में पूर्वोक्त आभाणक में सत्यता है। माघ में कालिदास जैसी उपमाएँ भले न मिलें, फिर भी इनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निःसन्देह प्रशंसनीय हैं। माघ की 'पदशय्या' इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

माघ की विद्वत्ता

माघ केवल सरस कवि ही नहीं थे, प्रत्युत एक प्रकाण्ड सर्वशास्त्र-तत्त्वज्ञ विद्वान् भी थे। भारवि में राजनीति-पटुता अवश्य दीख पड़ती है, श्रीहर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह उन दोनों कवियों में विरल है। उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। परन्तु माघ का पाण्डित्य सर्वगामी है। वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक का विशिष्ट परिचय इनके काव्य में पाया जाता है। माघ का श्रुति-विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवन-कर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख है (११।४१)। वैदिक स्वरों की विशेषता भी आपको भली-भाँति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है इस नियम का उल्लेख मिलता है (१४।२४)। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना डालता है--एक स्वर के उदात्त होने से अन्य स्वर 'निघात' हो जाते हैं। इस स्वर-विषयक प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर रीति से किया है--निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव (२।९५)। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता है। दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। सांख्य के

तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथम सर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है (१।२३) वह सांख्य के अनुकूल है। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है। "मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि (४।४५) पद्य में चित्त-परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। आस्तिक दर्शनों को कौन कहे ? नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्चकोटि का था। माघ बौद्धदर्शनों से भी भली-भाँति परिचित थे (२।२८)। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियाँ दिखलायी गयी हैं। माघ ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न अंगों की उपमा बड़ी सुन्दरता से दी है। माघ एक प्रवीण वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण के सूक्ष्म नियमों का पालन अपने काव्य में भली-भाँति किया है। व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। माघ सांख्ययोग के पारखी कवि हैं, तो श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्त के मर्मज्ञ कवयिता हैं।

माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे (माघ ११।१)। जगह-जगह पर संगीत-शास्त्र के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराया गया है। अलंकार-शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना क्षैत्र है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्त्वों को सम्यक् रूप से समझाने के लिये अलंकार-शास्त्र के नियमों का सहारा लिया है। माघ ने एक सच्चे कवि-आलंकारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा दोनों को 'काव्य' माना है (२।८६)।

कहने का सारांश यह है कि माघ एक महान् कवि-पण्डित थे। उनका ज्ञान हिन्दू-दर्शन, नाट्य-शास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा उत्कृष्ट था। माघ ने अपना सम्पूर्ण ज्ञान कविता-कामिनी को अर्पण कर दिया—उन्होंने कविता की बाँकी छटा दिखाने के लिये समग्र संस्कृत-साहित्य के उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा।

माघ की काव्यकला

संस्कृत भारती के महाभागवत कवि माघ ने अपने महाकाव्य के कथा-वस्तु को श्रीमद्भागवत (१०।७१-७५) के आधार पर ही मुख्यतया प्रस्तुत किया है। काव्य की प्रधान घटना का मुख्य आधार भागवत पुराण ही है। माघ की काव्यशैली 'अलंकृत' शैली का चूडान्त दृष्टान्त है, जिसका प्रभाव अवान्तर कवियों के ऊपर बहुत ही अधिक पड़ा। माघ परिष्कृत पदविन्यास के आचार्य हैं। सीधे-सादे शब्दों में पदार्थ-निरूपण ऊँचे काव्य की कसौटी नहीं है, प्रत्युत वक्रोक्ति से मण्डित तथा शाब्दिक और आर्थिक चमत्कार के उत्पादक अलंकारों से सुसज्जित पदविन्यास ही माघ की दृष्टि में सच्चे काव्य का निदर्शन है। फलतः इनके काव्य में समासों की बहुलता, विकट वर्णों की उदारता, गाढ़-बन्धों की मनोहरता पाठकों के हृदयावर्जन में सर्वथा समर्थ होती है। माघ के प्रवीण पद्य उस गुलदस्ते के समान हैं जिसे माली ने अनेक रंगीन फूलों के मंजुल मिश्रण से तैयार किया है और जो खूब कटे-छँटे नपे-तुले, विदग्ध जनों के मनोविनोद के लिए प्रस्तुत एक नयनाभिराम कलात्मक पदार्थ होता है, परन्तु कहीं-कहीं, विशेषतः उन्नीसवें सर्ग में युद्ध-

वर्णन के प्रसंग में, चित्रालंकारों का बाहुल्य कवि की शाब्दिक चमत्कारिणी प्रतिभा का निर्देशक होने पर भी आलोचकों के नितान्त वैरस्य का कारण बनता है। अर्थालंकारों का उपन्यास बड़ी ही मार्मिकता से किया गया है। माघ ने नाना प्रकार के लघुकाय गीति-छन्दों का प्रयोग कर अपनी सहृदयता तथा विदग्धता का परिचय दिया है। 'मालिनी' छन्द के तो माघ रससिद्ध आचार्य हैं। एकादश सर्ग में प्रभात के वर्णन में प्रयुक्त 'मालिनी' की शोभा अप्रतिम है।

माघ 'पण्डित-कवि' हैं। इन्होंने नाना शास्त्रों के विषयों का उपयोग अपनी उपमा तथा उत्प्रेक्षा जमाने के लिए बड़ी सुन्दरता से किया है। उदात्त-चरित शिशुपाल एक ही चाल में अपने शत्रुओं को उसी प्रकार मार भगाता है जिस प्रकार एक ही पद में विद्यमान उदात्त स्वर अन्य स्वरों को निघात स्वर (अनुदात्त) बना देता है। इस उपमा में वैदिक व्याकरण के मूल तथ्य का पाण्डित्यपूर्ण संकेत है। यही कारण है कि सामान्य जनों के लिए यह काव्य कुछ कठिन सा भान होता है। माघ के वर्णनों में—चाहे वे प्राकृतिक हों या मानुषिक—अपूर्व सजीवता है। कवि के प्राकृतिक पर्यवेक्षण का परिणाम उसके स्वाभाविक वर्णनों में खूब ही झलकता है। माघ ने अपने काव्य के उपबृंहण के लिए पर्वत, ऋतु, जल-क्रीडा, चन्द्रोदय, प्रभात आदि का चित्र बड़ी ही कुशल तूलिका से चित्रित किया है। माघ का प्रभात-वर्णन अपनी स्वाभाविकता तथा सरसता के कारण साहित्य-संसार में अद्वितीय है। शिशुपालवध का समग्र एकादश सर्ग प्रातःकालीन रंग-भरे दृश्यों की भव्य झाँकी प्रस्तुत करता है। 'रैवतक' के वर्णन में उद्भावित एक नवीन कल्पना 'माघ' के 'घण्टा-माघ' अभिधान का कारण बनती है। पर्वत की हाथी से तथा उसके दोनों ओर लटकने वाले सूर्य तथा चन्द्र की घण्टा से तुलना प्राचीन आलोचकों को इतनी रुची कि उन्होंने मुग्ध होकर उन्हें 'घण्टा-माघ' का विरुद दे डाला (माघकाव्य ४।२०)।

"माघे सन्ति त्रयो गुणाः"

(क) उपमा की सुषमा—नवीन चमत्कारी उपमा का विन्यास माघ की विशिष्टता है। माघ के पात्रों में खूब सजीवता है। आकाश से उतरनेवाले काले-काले मेघों के नीचे कर्पूरपाण्डुर महर्षि नारद के रूप-चित्रण में कवि जितना सफल है, उतना ही उनके सन्देश-कथन में भी। भगवान् श्रीकृष्ण का रूप तथा उनका सहिष्णु चरित्र बड़ा ही सुन्दर है। कवि की अलोकसामान्य प्रतिभा सामान्य पदार्थों में भी विशिष्टता उत्पन्न कर देती है, नित्य-परिचित वस्तुओं में भी नवीनता का संचार करती है। वह प्रकृति के हृदय को समझता है तथा मधुर शब्दों में उसे अभिव्यक्त करता है। प्रातःकालीन दिवाकर का बालक रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है (११।४७), तो प्राची में सूर्योदय का यह रंगीन दृश्य एक चिरस्मरणीय वस्तु है (शिशुपालवध ११।४४)—

विततपृथुवरत्रा-तुल्यरूपैर्मयूखैः कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभिर्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥

चारों ओर फैली हुई मोटी रस्सियों के समान, किरणों के द्वारा खींचा जाता हुआ बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य दिशारूपी नारियों के द्वारा समुद्र के जल से निकाला

जा रहा है। जिस प्रकार कलश रस्सों की सहायता से बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार पूर्व-समुद्र में डूबे हुए सूर्य को दिशायें किरणरूपी रस्सियों से खींचकर निकाल रही हैं। जिस प्रकार जल में डूबे घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल मचता है, उसी तरह प्रातःकाल की चुहचुहाती चिड़ियाँ शोर मचा रही हैं। प्रातःकाल के समय, पक्षिगण का मनोहर कोलाहल कर्णपुट को सुख देता है। चारों ओर किरणें फैलाने वाले बाल-सूर्य का यह सुन्दर वर्णन है।

रैवतक से बहनेवाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है (४।४७)—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥

पहाड़ी नदियाँ कल-कल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी गोद में लोट-पोट किया करती हैं। अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं। इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा, जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है, वह कितना भी कठोर हो द्रवीभूत अवश्य हो जाता है। "पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः"। अतः रैवतक भी पक्षियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिए रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

(ख) अर्थ का गौरव—भारवि के समान माघ में भी अर्थ-गौरव के उत्पादन में विशेष क्षमता थी। वे भली-भाँति जानते हैं कि कतिपय वर्णों के ही विन्यास से वाङ्मय में अनन्त विचित्रता उसी प्रकार उपजती है जिस प्रकार केवल सात स्वरों से ग्रथित होनेवाला गायन अनन्त रूप से विचित्र बन जाता है (२।७२) और इसीलिए वे वाणी के प्रतान को पटी के प्रसार के समकक्ष मानते हैं (२।७३)। अर्थ के गाम्भीर्य से माघकाव्य भरा-पूरा है। यह दार्शनिक तथ्यों के उद्घाटन के अवसर पर विशेष रूप से खुलता है (१४।१९)—

तस्य सांख्यपुरुषेण तुल्यतां बिभ्रतः स्वयमकुर्वतः क्रियाः।
कर्तृता तदुपलम्भतोऽभवद् वृत्तिभाजि करणे यथर्त्विजि॥

[यज्ञ का प्रसंग है। होम आदि क्रियाओं (पाप-पुण्य कर्मों) को स्वयं न करते हुये सांख्यशास्त्र में वर्णित (उदासीन) पुरुष की समानता धारण करनेवाले राजा युधिष्ठिर को अन्तःकरण के समान ऋत्विजों द्वारा अधिष्ठित यज्ञ की भावना से कर्तापन की प्राप्ति हुई]। चतुर्दश सर्ग में याग का वर्णन इतना विशद है कि कवि के अनुष्ठान-विधिज्ञता पर याज्ञिकजन रीझ उठते हैं। मन्त्र के उच्चारण का विधान इस प्रकार ऋत्विज् लोग कर रहे थे कि उसके अर्थ समझने में किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं था (१४।२४)—

संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति।
शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते॥

आशय है कि मन्त्रों में जहाँ कहीं ऐसे सन्देह उत्पन्न करने वाले समास आ जाते थे जिनका विग्रह कई प्रकार से हो सकता था, तो ऐसे स्थलों पर व्याकरण के ज्ञाता ऋत्विज्-गण

स्वर के ही द्वारा यजमान के प्रकृत कर्म के अनुकूल अर्थ का निश्चय विग्रह के द्वारा कर रहे थे।

आदर्श राजा के स्वरूप का यह चित्रण कितना समुचित तथा चमत्कारी है—

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥२।८२॥

शस्त्र जिसकी बुद्धि है, जिसके अंग प्रकृति (प्रजा), स्वामी, अमात्य आदि हैं, जिसका कवच दुर्वेद्य मन्त्र की सुरक्षा है, जिसके नेत्र गुप्तचर हैं, जिसका मुख सन्देशवाहक दूत होता है—ऐसा राजा सामान्य जन न होकर अलौकिक पुरुष होता है। इस अल्पकाय श्लोक में अर्थ का गौरव पूरी मात्रा में विद्यमान है।

(ग) पद का लालित्य—माघ तो पदविन्यास के बादशाह ठहरे। न केवल शब्दों तथा पदों के ललित विन्यास में ही माघ निपुण थे, प्रत्युत नित-नूतन श्रुति-मधुर शब्दावली के तो मानों वे श्लाघ्य शिल्पी थे। नूतन-नवीन शब्दों का उन्होंने इतना अधिक प्रयोग किया है कि संस्कृत में यह आभाणक ही प्रसिद्ध है कि माघ के नव सर्ग बीतने पर नव शब्द मिलता ही नहीं—नव-सर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते। यह कथन अर्थवाद नहीं है, प्रत्युत तथ्यवाद है। पदमाधुर्य की निपुणता के आचार्य माघ की कविताकामिनी की प्रशस्ति किन शब्दों में की जाय? उनके शब्दों में इतनी संगीतात्मक एकरसता है कि वीणा के तारों के झंकार की भाँति अर्थावबोध की प्रतीक्षा विना किये ही वह श्रोताओं के हृदय को रसाप्लुत बना देती है। वसन्त की सुषमा का संकेत कितनी सुन्दरता से 'शब्दी ध्वनि' द्वारा विद्योतित हो रहा है (५।२०)—

मधुरया मधुबोधितमाधवी—मधुसमृद्धसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥

श्लोक के सरस वर्णों के उच्चारण के समय जीभ फिसलती हुई मानों चली जाती है विना किसी परिश्रम के, अनायास ही; विना अन्त तक पहुँचे वह ठहरने का नाम ही नहीं जानती। कर्ण-कुहरों में अमृत रस घोलने वाली मधुर पदावली ही पर्याप्त आनन्द देने वाली है। इन पद्यों का स्वाद साधारण पाठक भी ले सकता है, परन्तु माघ के पाण्डित्य-मण्डित अर्थों को समझना उसकी समझ से बाहर की बात है। उचित ही है कवि-पण्डित माघ की काव्यकला परखने के लिए हृदय के साथ मस्तिष्क की भी नितान्त आवश्यकता होती है। 'विचित्र मार्ग' के उद्भावक भारवि और माघ की अलंकृत शैली का प्रभाव केवल भारतवासी कवियों पर ही नहीं पड़ा, प्रत्युत बृहत्तर भारत के भी कवि उससे उतने ही प्रभावित हैं जितने भारतीय कवि। ठीक ही है—मेघे माघे गतं वयः।

माघ-काव्य की व्याख्यायें

माघकाव्य की अनेक टीकाओं की उपलब्धि होती है, जिनमें से मुख्य हैं—(१) वल्लभदेव-निर्मित 'सन्देहविषौषधि', (२) रंगराज-रचित, (३) एकनाथ-रचित, (४) चारित्रवर्धन-प्रणीत, (५) मल्लिनाथ-रचित सर्वंकषा, (६) भरत-मल्लिक-रचित सुबोधा, (७) दिनकरमिश्र-रचित सुबोधिनी, (८) गोपाल-रचित 'हसन्ती'।

इनमें भी कालक्रम की दृष्टि से वल्लभदेव की टीका सर्वप्राचीन है। वल्लभदेव काश्मीर के निवासी होने से 'राजानक' उपाधि से मण्डित थे। इनके पौत्र कैयट के उल्लेखानुसार इनका वंशक्रम इस प्रकार है—आनन्ददेव—वल्लभदेव—चन्द्रादित्य—कैयट। ये कैयट महाभाष्य के टीकाकार वैयाकरण कैयट से नितान्त भिन्न व्यक्ति हैं। इन्होंने आनन्द-वर्धन-रचित 'देवीशतक' की टीका ४०७८ कलि-संवत् (९७७ ई०) में लिखी थी। फलतः इनके पितामह वल्लभदेव का समय इतः पूर्व ९४० ई० के लगभग मानना सुसंगत है। ये वल्लभदेव सुभाषितावली के प्रणेता वल्लभदेव से भिन्न व्यक्ति हैं। ये इन व्याख्याओं में अपनी प्रौढ़ता तथा प्रामाणिकता के लिए प्रख्यात हैं। इन्होंने माघकाव्य के अतिरिक्त लघुत्रयी, रत्नाकर-रचित 'वक्रोक्तिपंचाशिका' की विशद व्याख्या तथा आनन्दवर्धन-रचित 'देवीशतक' का संक्षिप्त विवरण लिखा है। इनमें माघकाव्य[1] और मेघदूत[2] की टीका प्रकाशित है।

---

१. इस टीका का प्रकाशन चौखम्भा कार्यालय, वाराणसी से किया गया है, मल्लि-नाथी टीका के साथ, १९२९।

२. डॉ० हुल्श द्वारा सम्पादित तथा लंडन से प्रकाशित।

पञ्चम परिच्छेद

संस्कृत महाकाव्य—अपकर्ष काल

(१) अभिनन्द

अभिनन्द के कवित्व की ख्याति संस्कृत साहित्य में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होती है, परन्तु उनका **'रामचरित'** महाकाव्य अभी हाल में प्रकाशित होकर आलोचकों के सामने आया है[1]। सूक्ति-संग्रहों, कोश की टीकाओं तथा अलंकार-ग्रन्थों में इनके नाम का संकेत तथा इनके श्लोकों का उद्धरण अनेक स्थलों पर मिलता है। शार्ङ्गधर-पद्धति (१४ शती का प्रथमार्ध) तथा सदुक्तिकर्णामृत (र० का० १२०३ ई०) में अभिनन्द के अनेक पद्य उद्धृत हैं, जिनमें से कतिपय रामचरित में उपलब्ध हैं। उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्र-वृत्ति (१३ वीं शती का मध्यभाग) में, सर्वानन्द ने अमरकोशटीका (र० का० ११५९ ईस्वी) में और भोजराज ने (११ शती) शृंगार-प्रकाश तथा सरस्वती-कण्ठाभरण में अभिनन्द के पद्यों को उद्धृत किया तथा सोड्ढल ने अपनी उदयसुन्दरीकथा (११ शती का प्रथमार्ध) में अभिनन्द का अनेक बार उल्लेख किया। सोड्ढल ने कालिदास तथा बाण के समकक्ष 'अभिनन्द' की प्रशस्त स्तुति की है[2]—

वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दमर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे।
रसेश्वरं नौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि॥

क्षेमेन्द्र (११ शती का प्रथमार्ध) ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में अभिनन्द को सरस अनुष्टुप् का सर्वश्रेष्ठ कवि होना स्वीकार किया है[3]—

अनुष्टुप्-सततासक्ता साऽभिनन्दस्य नन्दिनी।
विद्याधरस्य वदने गुलिकेव प्रभावभूः॥

इन निर्देशों का स्पष्ट तात्पर्य है कि ११ शतक से पहिले ही अभिनन्द नामक कवि की सत्ता थी तथा उनके कमनीय पद्य अपने सौन्दर्य तथा लालित्य के कारण भिन्न-भिन्न सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत किये गये थे। अभिनन्द का दूसरा नाम 'आर्याविलास' या केवल 'विलास' भी मिलता है। अभिनन्द नामक दो कवियों का पता इतिहास में चलता है। ये दोनों भिन्न हैं या अभिन्न? 'कादम्बरी-कथासार'[4] तथा 'योगवासिष्ठसार' के रचयिता अभिनन्द ने अपना स्पष्ट परिचय दिया है। इनके पिता थे जयन्तभट्ट, पितामह कल्याणस्वामी तथा प्रपितामह शक्तिस्वामी। इनके प्रपितामह शक्ति मूलतः गौड या बंगाल के

---

१. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (बड़ोदा) में प्रकाशित, संख्या ४६, १९३०।

२. उदयसुन्दरी-कथा (गा० ओ० सी०, बड़ोदा), पृ० १५७।

३. सुवृत्ततिलक (काव्यमाला, गुच्छक द्वितीय), पृ० ५३।

४. काव्यमाला (संख्या ११) में प्रकाशित।

के निवासी थे, परन्तु काश्मीर के दार्वाभिसार नामक ग्राम में आकर वहीं विवाह कर सदा के लिए बस गये। इन पूर्वजों में से दो विशेष महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। अभिनन्द के पिता **जयन्तभट्ट** तो प्रख्यात न्यायग्रन्थ 'न्याय-मंजरी' के रचयिता हैं तथा प्रपितामह **शक्तिस्वामी** काश्मीर—नरेश ललितादित्य मुक्तापीड के मन्त्री थे। 'रामचरित' महा-काव्य के रचयिता का भी सम्बन्ध गौड देश से है। इसलिए ये गौडाभिनन्द के नाम से भी कहीं-कहीं उल्लिखित हैं। इन्होंने अपने को 'शातानन्दि' नाम से उल्लिखित किया है, अर्थात् इनके पिता का नाम **शतानन्द** था[1]। अनेक आलोचक दोनों अभिनन्दों को अनेक बातों में साम्य होने के हेतु अभिन्न व्यक्ति मानते हैं, परन्तु दोनों के कुल की भिन्नता दोनों की भिन्नता का बलवान् प्रमाण है। कोई कारण नहीं दीखता कि 'कादम्बरी-कथासार' का अभिनन्द, जो अपनी वंश-पराम्परा का उल्लेख साग्रह तथा साभिमान करता है, 'राम-चरित' में एकदम मूक है और अपने पिता का एक सामान्य रूप से निर्देश कर अपने काम से छुट्टी ले लेता है। दोनों के पितृनाम भी भिन्न ही हैं। रामचरित के कर्ता के पिता का नाम शतानन्द था तथा कादम्बरी-कथासार के प्रणेता का पितृनाम 'जयन्त' था। यह भिन्नता भी ध्यान देने योग्य है।

अपने आश्रयदाता की स्तुति में अभिनन्द ने अनेक शोभन पद्यों को अपने काव्य में निर्दिष्ट किया है। इनके आश्रयदाता का नाम था—हारवर्ष युवराज। ये पाल वंश में उत्पन्न तथा विक्रमशील के पुत्र थे[2]। कवियों के आश्रयदाता होने के कारण इनकी प्रशस्त स्तुतियाँ बड़ी रोचक हैं—

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम्।
स्वकोशः कविकोशानामाविर्भावाय संभृतः॥

ये धर्मपाल कुल के कैरव बतलाये गये हैं[3]। ये धर्मपाल पालवंश के द्वितीय शासक थे, जिन्होंने नवम शती के प्रथम चतुर्थ भाग (८२५ ई०) तक राज्य किया था। फलतः हारवर्ष भी पालवंश के ही नहनीय राजा थे, परन्तु उपलब्ध वंशावली में इनका नाम नहीं मिलता। सोड्ढल ने अभिनन्द का उल्लेख कवि-प्रशस्ति में राजशेखर (९२५ ईस्वी) से पूर्व ही किया है। धर्मपाल के अनन्तर उनके द्वितीय पुत्र देवपाल[4] ने नवम शती के मध्य भाग में बड़ा ही समुज्ज्वल शासन किया। अतएव अनुमान किया जाता है कि 'हारवर्ष' देवपाल ही नामान्तर था। धर्मपाल की उपाधि विक्रमशील थी तथा उन्होंने राष्ट्रकूट वंश की राजकुमारी रण्णादेवी से विवाह किया था। सम्भव है कि उनका राष्ट्र-कूटों के नाम की समता वाला 'हारवर्ष' घरेलू नाम था तथा 'देवपाल' राजकीय नाम था।

---

१. तथा तूर्णं कवेः कस्य निर्गतं जीवतो यशः।
हारवर्षप्रसादेन शातानन्देर्यथाऽधुना॥ (रामचरित, पृष्ठ ३९)

२. विचिन्त्यतामान्तरतापशान्तये स केवलं विक्रमशीलनन्दनः।
(वही, पृष्ठ ३९, ६३, ८०)

३. श्रीधर्मपाल-कुल-कैरव-काननेन्दुः—रामचरित, पृष्ठ २५३।

वे युवराज कहलाते थे, परन्तु इन्होंने स्वयं गौडदेश पर शासन किया था[1]। अभिनन्द का भी इस प्रकार आविर्भाव-काल नवम शतक का मध्य भाग ठहरता है।

'रामचरित' एक सरस महाकाव्य है। रामायण के किष्किन्धा काण्ड से आरम्भ कर युद्धकाण्ड तक का कथानक यहाँ ३६ सर्गों में निबद्ध है, परन्तु अधूरा ही है। इसकी पूर्ति के लिए अन्त में दो परिशिष्ट चार-चार सर्गों के हैं, जिनमें पहला परिशिष्ट अभिनन्द की रचना है तथा दूसरा परिशिष्ट कायस्थ-कुल-तिलक किसी **भीम कवि** की कृति है। 'रामचरित' की शैली विशुद्ध वैदर्भी है। प्रसाद तथा माधुर्य गुणों का यहाँ साम्राज्य विराजता है। गौडदेशीय कवि होने पर भी अभिनन्द में गौडी रीति का दर्शन नहीं होता। ऋतु तथा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन करने में कवि ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का निदर्शन प्रस्तुत किया है। कालिदास की स्पष्ट छाया अभिनन्द के ऊपर है। इसलिए सूक्तिमुक्तावली के एक प्रशस्त पद्य में अभिनन्द कालिदास के समकक्ष घोषित किये गये हैं[2]। सोड्ढल अभिनन्द को 'वागीश्वर' मानते हैं। फलतः कथानक को सुन्दर ढंग से रखने में, कमनीय काव्यकला के विन्यास में, प्रसादमयी वाणी की रचना में अभिनन्द की प्रतिभा सर्वदा प्रशंसनीय मानी जायगी। कालिदास (प्रथम शती) तथा पद्मगुप्त परिमल (११ शतक) के बीच में अभिनन्द ही रसमयी पद्धति के सुकुमार कवि हैं, यह निःसन्देह कहा जा सकता है। अभिनन्द अनुष्टुप् छन्द के सबसे श्रेष्ठ रचयिता हैं—क्षेमेन्द्र का यह कथन रामचरित में पूर्णतया चरितार्थ होता है।

(२) अमरचन्द्र सूरि

विस्तृत तथा विशाल महाभारत की विविध रसमयी कथा को काव्यमय शैली में संक्षेप में प्रस्तुत करना अपने—आप में एक महनीय साहित्यिक चमत्कार है और इसमें सफलता पाना प्रतिभाशाली कवि के ही सामर्थ्य की बात है। इस कार्य में महाकवि अमरचन्द्र सूरि ने **बालभारत**[3] की रचना कर निःसन्देह सफलता प्राप्त की। कवि अपनी प्रतिभा तथा आशुकवित्व के लिए विद्वद्गोष्ठी में पर्याप्त रूप से विश्रुत है। वे श्वेताम्बर मतानुयायी जैन महाकवि थे—गुजरात के चौलूक्यवंशी नरपति बीसल देव के सभा-कवि। और अत एव उनका आविर्भाव काल १३ शती का पूर्वार्ध है।

अमरचन्द्र ने महाभारत के १८ पर्वों की कथा को १८ पर्वों में निबद्ध किया है और प्रत्येक पर्व का विभाजन सर्गों में किया गया है। सब मिला कर सर्गों की संख्या ४४ और श्लोकों की सात सहस्र के लगभग है। यह समग्र रूप से असाम्प्रदायिक काव्य है जिसमें कवि ने मूल महाभारत के कथानक को बड़ी इमानदारी के साथ काव्यमयी शैली में निबद्ध किया और वह कहीं भी जैनधर्म का स्पर्श नहीं करता। कवि स्वयं ही इस 'वीराङ्क' काव्य को

१. **कृतेन प्रध्वस्तं कलियुगमकाण्डे बलवता**
कुलेन्दौ पालानामवति युवराज़े वसुमतीम्। (रामचरित, २।८)

२. **कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।**
अन्ये कवयः कपयः चापलमात्रं परं दधति॥

३. **काव्यमाला में प्रकाशित ग्रन्थांक ४५, १८९४.**

'महाकाव्य' की संज्ञा से विभूषित करता है और यह पौराणिक शैली को आत्मसात् करने वाला मुख्यतया महाकाव्य है। कवि की प्रतिभा बीच-बीच में प्रकृति के दृश्यों के अंकन में अपने को चरितार्थ करती है। महाभारत के ऐतिहासिक कथानक को काव्यमयी सज्जा से सुशोभित करने का प्रयास सर्वथा हृदयावर्जक है। अमरचन्द्र ने आदि पर्व के सप्तमसर्ग में वसन्त का बड़ा ही ललित-ललाम वर्णन प्रस्तुत किया है। अष्टमसर्ग में पुष्पावचय तथा जलकेलिका, नवमसर्ग में चन्द्रोदय का, दशम सर्ग में सुरापान तथा सुरत का तथा एकादश सर्ग में प्रभात का नितान्त अभिनव भावपूर्ण रसस्निग्ध वर्णन प्रस्तुत कर कवि ने अपनी नवोन्मेषमयी प्रतिभा का कमनीय विलास दिखलाया है। मूल कथानक को रुचिर तथा हृदयावर्जक बनाने की कविकामना अवश्यमेव सफल हुई है।

काव्यसौष्ठव–अमरचन्द्र की प्रतिभा की परीक्षा के लिए कतिपय पद्य यहाँ उद्धृत हैं।

कोकिल के नेत्र लाल होते हैं। इसके ऊपर सुन्दर कल्पना कवि ने की है (वालभारत, आदिपर्व ७।१७)—

विश्वत्रयं विजयते मकरध्वजोऽयमस्त्रीकृतेन मम कोमलकूजितेन।
एनं तथापि कुसुमास्त्रमुशन्ति लोकाः पुंस्कोकिलोऽरुणितदृष्टिरिति क्रुधेव॥

कामदेव मेरे ही कोकल कूजित को अस्त्र बनाकर समग्र विश्व को जीतता है, परन्तु इस तथ्य से अनभिज्ञ लोग उसे कुसुमास्त्र (फूलों का अस्त्र वाला) कहते हैं। इस घटना से कोकिल के नेत्र क्रोध से मानों लाल हो गये हैं।

सुन्दरी के मुखमद्य को पाकर वसन्त में बकुल खिल उठता है—इसी कविसमय को लक्ष्य कर कवि उसे मतवाले के रूप में चित्रित कर रहा है (७।२८):—

उत्फुल्लफुल्लमहसा हसति द्विरेफ-नादेन गायति विघूर्णति मारुतेन।
सद्यः प्रपद्य सुमुखीमुखमद्यमद्य धत्ते प्रमत्त इव कां बकुलो न लीलाम्॥

चन्द्रोदय के अवसर पर भूतल पर छिकटने वाली शुभ्र चन्द्रिका का वर्णन कवि की नई सूझ का पता देती है (बालभारत, आदि ९।५६)—

क्षीरनीरनिधिनीरदः शशी स्फारतारककदम्बबुद्बुदम्।
भूरि–वृष्टिभरचुम्बिताम्बरं कौमुदीमयमदीपयत् पयः॥

चन्द्रमा क्षीरसागर का मेघ है। चमकने वाले बड़े-बड़े ताराओं का समूह बुद्बुद के समान है। चन्द्रमा-रूपी मेघ ने आकाश को वृष्टि से स्निग्ध कर दिया है और चारों ओर छिटकनेवाली चाँदनी को जल के रूप में प्रकाशित कर दिया है। चन्द्रमा के ऊपर मेघ का आरोप नवीन तथा हृदयावर्जक है।

दोलारोहण का यह दृश्य नितान्त आकर्षक है। जब झूला आकाश की ओर बढ़ता है, तब ढीठ स्त्रियाँ डंडा छोड़ कर गीत गाती हुई हाथों से ताल देती हैं। जान पड़ता है कि स्त्रियों को आशंका है कि कहीं चन्द्रमा में स्थित मृगकलंक हमारे मुख पर न गिर पड़े, अत एव तालियाँ बजाकर मृग को भगा रही हैं (७।७१)—

प्रेङ्खोलनेऽम्बरगतेऽप्यतिधाष्ट्र्यमुक्त-
यष्टिग्रहाद् द्रुतविनिर्मितहस्तताला।

अत्रासयन् मृदुलगीतिभिरापतन्तं
काचिद् विधोर्मृगमिवास्य कलंकभीत्या ।।

एकादश सर्ग का प्रभात वर्णन शिशुपालवध के प्रभात वर्णन का अनुसरण करता है। अमरचन्द्र ने माघ के द्वारा इस वर्णन में प्रयुक्त मालिनी छन्द को अपना कर इसमें प्रभूत रुचिरता का संचार किया है। वेदव्यास की कविता का रसिक यह कवि प्रति सर्ग के आरम्भ में उनकी सुन्दर स्तुति कर अपनी कृतज्ञता प्रकाश करता है। स्तुति का नमूना देखिये—

सत्कं परब्रह्मविलोकमार्गमपङ्किलं दूरितकण्टकं यः।
श्रीभारतं ब्रह्म ततान शाब्दं स श्रेयसे सत्यवतीसुतोऽस्तु ।।

(३) काश्मीरी कवि

(१) मातृगुप्त

काश्मीर के कवियों में मातृगुप्त का भी नाम उल्लेखनीय है। इनकी जीवनी के विषय में राजतरंगिणी ही एक मात्र आश्रय है। उससे ज्ञात होता है कि इनका जन्म एक निर्धन ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, परन्तु उनके हृदय में कविता का अंकुर उनकी बाल्यावस्था में ही उग चुका था। किसी गुणग्राही हितैषी की खोज में ये उज्जयिनी में शासन करनेवाले राजा विक्रमादित्य (अपर नाम हर्ष) की सभा में जा पहुँचे और अपनी कमनीय कविता सुनाकर द्रव्य प्राप्ति की लालसा को ये पूरा करना चाहते थे। राजा था बड़ा गुणग्राही तथा कविजनों का स्वाभाविक हितैषी, परन्तु उसके दरवार में प्रथमतः प्रवेश शीघ्रता से न हो सका और प्रवेश होने पर भी राजा की कृपादृष्टि अपनी ओर खींचने में ये समर्थ भी न हो सके। दरवार में आते-जाते रहे, परन्तु इनकी कामना सफल न हो सकी। निर्धन की पूछ कहाँ ? कवि होने पर भी वे निर्धन होने से महाराज के पास विशेष नहीं जा सके। द्वारपाल इन्हें भीतर जाने ही नहीं देते थे। कवि को बड़ा दुःख हुआ, परन्तु जायें तो कहाँ जायँ ? तब वे राजा के द्वार पर ही टिक गये। जाड़े के दिन थे। विना वस्त्र के रात के समय कविजी को नींद भी नहीं आती थी। वे बैठे ही बैठे आग तापा करते थे। अकस्मात् आधीरात को राजा ने द्वारपाल को पुकारा, परन्तु वे सब पड़े खर्राटे ले रहे थे। अवसर पाकर कवि जी ने निम्नलिखित पद्य में अपनी शोचनीय दशा का परिचय दिया :—

शीतेनोद्धृषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः
शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे ।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी ।।

पद्य का भाव यह है कि उड़द की छेमी (फली) की भाँति मैं पाले से घिसा जा रहा रहा हूँ, होंठ मेरे फट गये हैं, आग बुझती जाती है—उसे सुलगाने के लिये मैं निरन्तर उसे फूंक रहा हूँ। भूख के मारे मेरा कण्ठ सूख गया है। मेरी यह दशा देखकर अपमानित भार्या की तरह नींद मुझे छोड़कर चली गई है तथा सुपात्र को दी गई पृथ्वी की तरह रात घट नहीं रही है।

महाराज विक्रमादित्य बड़े गुणग्राहक थे। ऐसी भावपूर्ण कविता सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उसी समय कश्मीर का राजा हिरण्य निःसन्तान मर गया था। उसकी गद्दी खाली थी। अत एव ये कवि कश्मीर के राजा बनाये गये। जब हिरण्य का भतीजा प्रवरसेन द्वितीय, जो तीर्थयात्रा करने के लिये गया था, लौटकर आया, तब मातृगुप्त ने पाँच वर्ष राज्य करने के बाद सिंहासन खाली कर दिया और शेष आयु संन्यासी बनकर काशी में जाकर बिताई।

मातृगुप्त तथा कालिदास

मातृगुप्त के विषय में इतना ही ज्ञात है। डाक्टर भाऊदाजी की राय में यही मातृगुप्त महाकवि कालिदास हैं। उनके सिद्धान्त के पोषक प्रमाण हैं : (१) यह दन्त-कथा प्रसिद्ध है कि विक्रम ने प्रसन्न होकर कालिदास को अपना आधा राज्य दे डाला था। (२) मातृगुप्त कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। यह विशेषण-सा दीख पड़ता है। कालिदास तथा मातृगुप्त समानार्थक ही हैं। (३) राजतरङ्गिणी में बड़े-बड़े कवियों का उल्लेख उनके समुचित ऐतिहासिक क्रम में किया गया है। इसमें लिखा है कि महाकवि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के आश्रित थे, परन्तु कालिदास का नामोल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। (४) राजा प्रवरसेन की प्रार्थना पर कालिदास ने प्राकृत में **सेतुकाव्य** लिखा, जिसे सेतुकाव्य के टीकाकार ने लिखा है। विद्यानाथ-कृत प्रतापरुद्र नामक आलं-कारिक ग्रन्थ में, जो १८ वीं शताब्दी के अन्त में लिखा गया था, सेतुकाव्य से एक आर्या उद्धृत की गई है और वह काव्य 'महाप्रबन्ध' कहा गया है। दण्डी ने भी इसकी बड़ी प्रशंसा की है। राजतरङ्गिणी में लिखा है कि राजा प्रवरसेन ने वितस्ता नदी पर, जहाँ कश्मीर की राजधानी थी, एक पुल बनवाया था। इसी सेतुबन्ध का वृतान्त सेतुकाव्य में दिया गया है। महाकवि बाण ने भी प्रवरसेन और सेतुकाव्य की प्रशंसा अपने हर्षचरित के प्रारम्भ में की है—

> कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
> सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

भाव यह है कि जिस प्रकार वानरों की सेना ने सेतु द्वारा समुद्र को पार किया था, उसी प्रकार प्रवरसेन की निर्मल कीर्ति सेतुकाव्य द्वारा समुद्र के पार पहुँच गई। इससे ज्ञात होता है कि राजा की प्रार्थना से इस काव्य के लिखे जाने की बात सही है।

परन्तु मातृगुप्त को कालिदास कहना नितान्त अशुद्ध है। इसके विरोध में बहुत से प्रमाण हैं। पहिली बात यह है कि कालिदास के नाटकों के नान्दी-पाठ से यह बात मालूम होती है कि कालिदास शिव-पार्वती के अनन्य भक्त थे, परन्तु राजतरङ्गिणीकार के कथना-नुसार कश्मीर के राजा मातृगुप्त ने पशुहिंसा-निषेध से बौद्धों तथा जैनों को शान्त किया, विष्णु का मन्दिर बनाकर वैष्णवों को प्रसन्न किया। सेतुकाव्य में पहले विष्णु का मंगला-चरण है फिर शिव का। सबसे बड़ी बात यह है कि संस्कृत-साहित्य के ज्ञाता कल्हण ने कहीं पर एक साधारण सूचना तक नहीं दी है कि मातृगुप्त शाकुन्तल के प्रसिद्ध लेखक थे। क्षेमेन्द्र की औचित्य-विचार-चर्चा से ज्ञात होता है कि मातृगुप्त नाम के कोई महाकवि थे। परन्तु क्षेमेन्द्र ने कालिदास के श्लोकों को उद्धृत करते हुए दोनों के एक होने के विषय में

कोई भी इशारा नहीं किया है। राघवभट्ट ने शाकुन्तल की टीका में मातृगुप्त के कई-एक उद्धरण दिये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने नाट्य के विषय में कोई ग्रन्थ लिखा था, परन्तु उनकी पुस्तक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सुना जाता है कि मातृगुप्त ने भरत नाट्यशास्त्र की एक टीका भी लिखी थी, परन्तु दुर्भाग्यवश यह टीका अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुई। अतः यह निश्चित है कि मातृगुप्त और कालिदास भिन्न-भिन्न कवि थे। डा० औफ्रेक्ट ने ४३० ई० में उनका राज्यकाल बतलाया है।

क्षेमेन्द्र द्वारा उद्धृत पद्य यह है—

नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः
कीरीकपोलतलकान्ततनुः शशाङ्कः।
आभाति नाथ ! तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु-
हिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम् ॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन् ! कपोल के समान सुन्दर चन्द्रमा प्रदोषकालरूपी कमलों का राजहंस नहीं है—कमलों में घूमता हुआ हंस नहीं है। यह तो आकाश में विचरने वाला आपका यश है, जो क्षीरसागर के फेन-समूह जैसा शुभ्र ज्ञात होता है। यह पद्य अपह्नुति अलंकार का उदाहरण है।

उपर्युक्त दोनों पद्यों को छोड़कर मातृगुप्त के नाम से वल्लभदेव की सुभाषितावली में एक पद्य और दिया गया है :—

नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राजन् संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन् ! न तो तुम अपनी प्रशंसा करना पसन्द करते हो, न बनावटी वेश-भूषा धारण करते हो। देने की इच्छा प्रकट नहीं करते परन्तु मीठे और अच्छे फल देते हो। हे नृप ! विना गरजे मेघ के समान तुम्हारी प्रसन्नता फल से ही ज्ञात होती है। फल के पहले कोई नहीं जानता।

कविवर के ये ही तीन पद्य ज्ञात हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कविता में प्रसाद गुण का बाहुल्य है तथा अलंकारों की भी अच्छी छटा है। कविवर के जीवन को जानकर कौन ऐसा होगा ? जो महाराज विक्रमादित्य की गुणग्राहकता और दानशीलता की प्रशंसा शतमुख से न करेगा। यदि मातृगुप्त स्वयं कालिदास नहीं थे; तो भी उनकी रचना यह सूचित कर रही है कि वे एक सुकवि थे।

संस्कृत साहित्य में मातृगुप्त का नाम केवल सुकवि होने से ही प्रसिद्ध नहीं है और न कविता के पुरस्कार में विशाल राज्य पाने के लिये ही; बल्कि वे हयग्रीववध महाकाव्य के रचयिता महाकवि भर्तृमेण्ठ के आश्रयदाता होने से भी अधिक विख्यात हैं।

(२) भर्तृमेण्ठ

महाकवि भर्तृमेण्ठ का नाम संस्कृत-साहित्य में आदर की वस्तु है। ये संस्कृत भाषा के एक बहुत ही अच्छे सुकवि थे। क्षेमेन्द्र विरचित सुवृत्त-तिलक, मम्मट के काव्य-प्रकाश तथा भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण, शृंगार-प्रकाश आदि अनेक रीति-ग्रन्थों में इनके

श्लोक पाये जाते हैं। सूक्ति-ग्रन्थों में भी इनकी बहुत-सी सूक्तियाँ संरक्षित हैं। राघव-भट्ट ने शाकुन्तल नाटक की टीका में इनका एक श्लोक उद्धृत किया है। भर्तृमेण्ठ ने **'हयग्रीव-वध'** नामक महाकाव्य लिखा था, जो दुर्भाग्यवश अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। रीति-ग्रन्थों तथा सूक्ति-ग्रन्थों में जो पद्य पाये जाते हैं वे ही इनकी उपलब्ध रचनायें हैं।

'हयग्रीव-वध' काव्य है या नाटक ? भ्रान्तिवश इसे कुछ लोग नाटक मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह महाकाव्य ही है। क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में अनुष्टुप् से आरम्भ होनेवाले महाकाव्यों में 'हयग्रीव-वध' का उल्लेख किया है तथा इसके आदिम श्लोक का निर्देश भी किया है। अतः इसके महाकाव्य होने में कोई भी सन्देह नहीं है। भोजराज ने भी महाकाव्य के दृष्टान्त में 'हयग्रीव-वध' के नाम का उल्लेख अपने श्रृंगार-प्रकाश में किया है। इस महाकाव्य की कभी भूयसी प्रशंसा तथा प्रतिष्ठा विद्यमान थी, परन्तु दुर्दैव से आज इसके कतिपय पद्य ही यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं।[1] राजशेखर ने मेण्ठ की सूक्तियों की उपमा 'सृणि' अर्थात् अंकुश से दी है। जिस प्रकार महावत के अंकुश के आघात से हाथी अपना सिर हिलाने लगते हैं, उसी प्रकार भर्तृमेण्ठ की कविता पढ़कर कवि-कुंजरों के सिर हिलने लगते हैं :—

> वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
> आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥

इतना ही नहीं, राजशेखर ने भर्तृमेण्ठ को वाल्मीकि तथा भवभूति के मध्य विद्यमान सुदीर्घकाल का प्रतिष्ठित कवि तथा वाल्मीकि का अवतार माना है। पद्मगुप्त परिमल ने अपने 'नवसाहसांकचरित' में भर्तृमेण्ठ की काव्यशैली को स्पष्टतः वैदर्भी मार्ग माना है तथा इनकी बड़ी प्रशंसा की है। इन उल्लेखों से भर्तृमेण्ठ की अलौकिक प्रतिभा का पर्याप्त परिचय मिलता है, परन्तु मम्मट की दृष्टि में इस काव्य में अनेक दोष दृष्टिगोचर होते हैं—विशेषतः अङ्गातिविस्तृति नामक रसदोष। श्रृङ्गार-प्रकाश के कथनानुसार इस काव्य के नायक हैं महादेव तथा प्रतिनायक हैं हयग्रीव। नायक को छोड़कर कवि ने हयग्रीव का ही विशेष वर्णन किया है। इसीलिए इस दोष के आविर्भाव का प्रसंग उप-स्थित होता है, परन्तु 'नाट्यदर्पण' के कर्ता रामचन्द्र की दृष्टि में यहाँ केवल 'वृत्तदोष' है, रसदोष नहीं। प्रत्युत वीररस का यहाँ प्रकर्ष दृष्टिगोचर है; वध्य हयग्रीव के शौर्य, विभूति आदि के अतिशय वर्णन के द्वारा। तथ्य यह है कि जो नायक इतने प्रतापशाली तथा वीर्यसम्पन्न प्रतिनायक को मार डालने में समर्थ होता है, वह रस की दृष्टि से तो अत्यन्त प्रतिभाशाली सिद्ध होता है। फलतः यहाँ वीररस का उत्कर्ष मानना ही उचित प्रतीत होता है।[2] ऐसे उत्कृष्ट काव्य को अधम कोटि में रखना, दोषैकदृष्टि आचार्य मम्मट का ही दृष्टिदोष है। इसीलिए 'उदयसुन्दरी' के प्रणेता कायस्थ कवि सोड्ढल की दृष्टि में भर्तृमेण्ठ तो कविता की रचना में अपूर्व चित्रकार हैं (कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे), जिनके चित्र में रस का प्रवाह होने पर भी (पक्षान्तर में पानी पड़ जाने पर भी) वर्णों की

---

१. द्रष्टव्य लेखक का 'संस्कृत-सुकवि-समीक्षा' नामक ग्रन्थ, पृ० १५२–१५५।
२. द्रष्टव्य रामचन्द्र का नाट्यदर्पण (बड़ौदा संस्करण) ३।२३।

(पक्षान्तर में चित्र के रंगों की) चमक वैसी ही बनी-रहती है, तनिक भी मलिन नहीं होने पाती—

स कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसाप्लुतेऽपि स्फुरति प्रकामं वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ॥

निश्चय ही भर्तृमेण्ठ कश्मीर के प्राचीन कवियों के अलंकाररूप हैं।

कश्मीर में संस्कृत काव्य तथा उसकी आलोचना की उपासना प्राचीन काल से होती चली आती है। इन प्राचीन काश्मीरी कवियों में भर्तृमेण्ठ अन्यतम हैं। कल्हण (तृतीय तरंग, २६४-६६) में अपनी राजतंरगिणी में इनके आश्रयदाता मातृगुप्त (जो कश्मीर के तत्कालीन नरपति थे, तथा जो कालिदास से कभी-कभी एकीकृत किये जाते हैं) के द्वारा इनके महनीय काव्य 'हयग्रीव-वध' के विशिष्ट सत्कार की घटना का उल्लेख किया है। मातृगुप्त के सभाकवि होने से इनका समय पंचम शतक का पूर्वार्ध माना जाता है। 'हयग्रीव-वध' के श्लोक सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत हैं, परन्तु कतिपय पद्यों के अतिरिक्त इसका कोई भी अंश आज अवशिष्ट नहीं है। राजशेखर इन्हें वाल्मीकि का नया अवतार मानते हैं-

वभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

यह महाकाव्य शोभन तथा प्रतिभासम्पन्न अवश्य होगा, तभी तो मातृगुप्त ने पुस्तक को बेठन में बाँधते समय उसके नीचे सोने का थाल रखवा दिया था कि कहीं इसका रस जमीन पर न चू जाय।

(३) रत्नाकर

हरविजय के रचयिता रत्नाकर कश्मीर के महाकवियों की रत्नमालिका के मध्यमणि हैं। काव्य का पूर्ण लालित्य इनकी कविता में लक्षित होता है। इनके पिता का नाम 'अमृतभानु' था। ये 'बालबृहस्पति' की उपाधि धारण करनेवाले काश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड (८०० ई०) के सभापण्डित थे। रत्नाकर का कालनिर्णय अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग साधनों के सहारे भली-भाँति किया जा सकता है। अपने ग्रन्थ 'हरविजय' के प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में ये अपने को 'बाल-बृहस्पति' का अनुजीवी बतलाते हैं (इति बालबृहस्पत्यनुजीविनो राजानकरत्नाकरस्य कृतौ....) यह 'बालबृहस्पति' कश्मीर के राजा चिप्पट जयापीड (नवमी शती का पूर्वार्ध) की उपाधि थी। कल्हण का कथन है—

श्रीचिप्पटजयापीडो बृहस्पत्यपराभिधः।
ललितापीडजो राजा शिशुदेश्यस्ततोऽभवत् ॥

(राजतरङ्गिणी ४।६८०)

ये जयापीड के अनुजीवी थे तथा उनके उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मा (८५५ ई०-८८४ ई०) के राज्यकाल में इनकी विपुल ख्याति फैली—(राजतरङ्गिणी ५।३९)

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

फलतः रत्नाकर के आविर्भाव का काल नवम शती का मध्यभाग मानना नितान्त समुचित है।

इनकी तीन रचनायें हैं—(क) **हरविजय**, (ख) **वक्रोक्तिपञ्चाशिका**, (ग) **ध्वनिगाथापञ्जिका**, जिनमें इनकी कीर्ति का मेरुदण्ड निःसन्देह हरविजय महाकाव्य ही है। हरविजय के ऊपर दो टीकायें मिलती हैं—(१) **राजानक अलक** की **'विषमपदोद्योतिनी'**। अपने नाम के अनुसार ही यह टीका कहीं-कहीं कठिन पदों का पर्याय केवल देती है; तात्पर्य का निर्देश नहीं करती। और यह अधूरी भी है। षष्ठ सर्ग के २५ श्लोक से आरम्भ कर ११७ वें श्लोक तक और ४६ वें सर्ग के ६८ वें श्लोक से काव्य के अन्त तक टीका नहीं मिलती। (२) दूसरी टीका **लघुपञ्चिका राजानक रत्नकण्ठ** द्वारा विरचित है, परन्तु यह पूरी उपलब्ध नहीं होती। इसकी प्रथम सर्ग की टीका में लेखक ने अपने विषय में इतना ही लिखा है कि वह काश्मीर का निवासी तथा श्री शङ्करकण्ठ का पुत्र था। वह धौम्यायन कुल में उत्पन्न था। टीका की रचना का समय है १६०३ शक= १६८१ ईस्वी। फलतः ग्रन्थकार के लेख के अनुसार यह टीका १७ शतक के उत्तरार्ध में लिखी गई। प्रथम टीकाकार राजानक अलक रत्नकण्ठ से निश्चित रूपेण प्राचीन हैं। ये अलक काव्य-प्रकाश के १०म उल्लास की पूर्ति करनेवाले अलक से भिन्न व्यक्ति प्रतीत नही होते। अलक का निर्देश काव्य-प्रकाश के एक हस्तलेख में किया गया है, जिसका समय १२१५ सं० (=११५८ ई०) है। फलतः हरविजय के ये टीकाकार अलक १२वीं शती से प्राचीन ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। सम्भवतः ये हरविजय के प्रथम टीकाकार हैं।

समीक्षा—कविगोष्ठी में रत्नाकर **'ताल–रत्नाकर'** के महनीय तथा सार्थक अभिधान धारण करते हैं। इस अभिधान का हेतु ताल की उपमा का प्रयोग है, जो आलोचकों की दृष्टि में मौलिक तथा नूतन है। उपमा वाला पद्य इस प्रकार है (हरविजय १९।५)—

अस्तावलम्बि–रवि–विम्बतयोदयाद्रि-
चूडोन्मिषत्–सकलचन्द्रतया च सायम्।
सन्ध्याप्रनृत्तहरहस्तगृहीतकांस्य-
तालद्वयेन समलक्ष्यत नाकलक्ष्मीः॥

सन्ध्या का सुभग वर्णन है। सूर्य का बिम्ब अस्ताचल के शिखर पर विराजमान है और उदयाचल की चूडा पर पूर्ण चन्द्रबिम्ब का उदय हो गया है। प्रतीत होता है कि ये दोनों सन्ध्याकाल में नृत्य करने वाले शंकर के हाथों में गृहीत काँसे के ताल हों। इनसे युक्त आकाश की शोभा नितान्त मनोहारिणी है। सूर्य-चन्द्र को कांस्यताल की कल्पना साहित्य-जगत् में अपूर्व है।

५० सर्गों में विभक्त यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य के इतिहास में अनेक गुणों के कारण अप्रतिम है। हरविजय का कथानक अतीव सरल तथा स्वल्प है। क्रीडासक्त पार्वती ने भगवान् शंकर के तीनों नेत्रों को अपने हाथों से बन्द कर दिया। इससे विश्वभर में अन्धकार ही अन्धकार फैल गया, क्योंकि शिव के तीनों नेत्र सूर्य, चन्द्र तथा वैश्वानर रूप होते हैं। यह अन्धकार ही 'अन्धक' असुर के रूप में परिणत हो गया। वह असुर इतना उन्मत्त हुआ कि वह संसार की सुरक्षा को चुनौती देने लगा। फलतः शिवजी ने

उसे मार कर विश्व की रक्षा की। इस स्वल्प कथानक को रत्नाकर ने अपनी प्रतिभा विस्तृत रूप दिया है। इसका पता सर्गों के वर्ण्य विषयों से लग जाता है। प्रथम सर्ग शङ्कर की नगरी का वर्णन; (३) सर्ग में ऋतु वर्णन; (४) पर्वत वर्णन; (१ पुष्पावचय वर्णन; (१८) जलक्रीड़ा; (१९) सन्ध्याकाल-वर्णन; (२०) चन्द्रोद (२२) समुद्रोल्लास; (२६) पानगोष्ठी; (२७) सम्भोग; (२८) प्रभात (३२) सर्ग से ३८ सर्ग तक दूत-कर्म; ३९—४९ तक युद्ध-वर्णन। ये वर्णन ग्रन्थ विस्तार के प्रधान कारण हैं।

'हरविजय' संस्कृत महाकाव्यों में परिमाण तथा गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जा है। इसमें पूरे पचास सर्ग तथा ४३२१ पद्य हैं। कम से कम इस काव्य का विपुल परिमा ही इसकी अद्वितीयता का परिचायक है, परन्तु काव्यगुणों के चमत्कार के कारण भी काव्य सचमुच ही अद्वितीय है। रत्नाकर के समय माघ की विपुल ख्याति थी। काव्य को दबा डालने के उद्देश्य से ही रत्नाकर ने इस काव्य का प्रणयन किया। वैष्णव थे, उन्होंने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' (अर्थात् भगव कृष्ण के चरित-कीर्तन के कारण सुन्दर) कहा है। उसी प्रकार शिवभक्त रत्नाकर अपने काव्य को 'चन्द्रार्धचूल-चरिताश्रय-चारु' लिखा है। कवि की यह गर्वोक्ति कि उन ललित, मधुर, सालंकार, प्रसादमनोहर, विकट यमक तथा श्लेष से मण्डित, चित्र के अद्वितीय वाणी को सुनकर बृहस्पति के चित्त में भी शंका उत्पन्न हो जाती है, गर्वमयी उक्ति ही नहीं हैं, उसके सत्य होने का पर्याप्त कारण भी विद्यमान है—

> ललितमधुरा सालंकाराः प्रसादमनोहरा
> विकटयमकश्लेषोद्धार—प्रबन्धनिरर्गलाः ।
> असदृशमतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
> न खलु नृपतेश्चेतो वाचस्पतेरपि शंकते ॥

काव्य का कथानक तो बहुत स्वल्प है—शंकर के द्वारा अन्धक असुर का वध; पर इसे अलंकृत, परिष्कृत तथा मांसल बनाने में कवि ने कुछ उठा नहीं रखा है। जलक्रीड़ा संध्या, चन्द्रोदय, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरह, पानगोष्ठी आदि के वर्णन में १५ स खर्च किये गये हैं। भाषा के सौन्दर्य में, ललित पदों की मैत्री में, नवीन चमत्कारी की कल्पना में, अभिनव वर्णनों के उपन्यास में, शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व में यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। माघ सचमुच रत्नाकर के सा काव्यप्रतिभा के प्रदर्शन में हतप्रभ दीख पड़ते हैं। रत्नाकर का अध्यात्मशास्त्र का भी पूर्ण, बहुमुख तथा परिनिष्ठित था। छठे सर्ग में लगभग दो सौ सुन्दर श्लोकों भगवान् की बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण स्तुति है, जिसके एक-एक पद्य से इनका गहरा शास्त्रा शीलन प्रकट होता है। इस महनीय काव्य का यद्यपि कल्हण ने उल्लेख किया है (५।३४ अलक ने व्याख्या से इसे मण्डित किया है, क्षेमेन्द्र ने वसन्ततिलका वृत्त की प्रशस्त प्रशंसा की है[1] तथा सूक्ति-संग्रहों ने इसके पद्यों को उद्धृत किया है; तथापि कश्मीर में भी इस

१. वसन्त-तिलकारूढा वाग्वल्ली गाढसंगिनी ।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने ॥—(सुवृत्ततिलक ।)

हस्तलिखित प्रतियों के अभाव से इसकी अवहेलना की घटना स्पष्ट प्रतीत होती है। संस्कृत आलोचक इस काव्य की भूयसी प्रशंसा करते हैं तथा रत्नाकर ने इस काव्य के सेवी अकवि पाठक को कवि तथा कवि को महाकवि बनाने की प्रतिज्ञा की है[1], तथापि इस काव्य में पाडित्य का बोझ इतना अधिक है कि उसके भीतर काव्य की चमत्कारी तथा प्रतिभाशाली उक्तियाँ दब-सी गई हैं।

हरविजय में अनेक अप्रसिद्ध तथा अप्रचलित शब्दों का विपुल प्रयोग उसे अत्यन्त कठिन तथा दुर्बोध बना रहा है। कतिपय शब्दों का प्रयोग-क्षेत्र तो कश्मीर तक ही सीमित है। कुछ शब्दों को उदाहरण रूप में लीजिए—वासतेयी (=रात्रि), कासर (=महिष), कुलि (=चटका), निशान्त (=गृह), रसायु (=भृङ्ग), एकपिङ्गल (=कुबेर), तालूर (=जलावर्त), झङ्करक (=तृणमय पुरुष), आकरवी (=कलिका)। अन्य काव्यों में कहीं-कहीं प्रयुक्त होने पर भी इनका विपुल प्रयोग 'हरविजय' के काठिन्य का सद्यः साधक है। कतिपय शब्दों के प्रति रत्नाकर की इतनी ममता है कि उन्हें वे विशेषरूप से प्रयुक्त करते हैं। यथा—'पट्ट' शब्द (कृपाणपट्ट, वैडूर्यपट्ट, दशनपट्ट अलिकपट्ट, ओष्ठपट्ट आदि); 'छटा' शब्द (धूमच्छटा, मेघच्छटा आदि); 'कूट' शब्द (कुम्भकूट, कटकूट, अंसकूट आदि) 'प्रेङ्ख' धातु तथा तज्जन्य शब्द (प्रेङ्खत् आदि), यमवाचक 'समवर्ती' शब्द (अमर में निर्दिष्ट होने पर भी विरल प्रयोग)। झाङ्कार, टाङ्कार आदि ध्वन्यनुकारी शब्दों के प्रयोग में कवि को विशेष अभिरुचि है।

अलङ्कारों का यहाँ भूयान् प्रयोग है, विशेषतः उत्प्रेक्षा का। घाव के ऊपर पट्टी बाँधने की उत्प्रेक्षा में कवि को विशेष आनन्द मिलता है, तभी तो इसका प्रयोग बहुबार किया गया है—

> आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोगनिर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः ।
> मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥

चित्रालङ्कार का विशेष प्रयोग सचमुच आश्चर्यकारी है। मुरजबन्ध, गोमूत्रिका-बन्ध, सर्वतोभद्र-बन्ध, पद्मबन्ध आदि सुप्रसिद्ध बन्धों की बात न्यारी है। आवलिबन्ध समन्जसबन्ध, तूणीबन्ध, काञ्चीबन्ध आदि अप्रसिद्ध चित्रबन्धों की सत्ता इस काव्य को एक महनीयता प्रदान करती है। भारवि और माघ की पद्धति के अनुसार ही ये बन्ध युद्ध-वर्णन के अवसर पर प्रयुक्त हैं। भारवि तथा माघ ने द्व्यक्षरबन्ध जहाँ केवल अनुष्टुपों में प्रयुक्त किया है, वहाँ रत्नाकर ने उसे वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता आदि दीर्घवृत्तों में प्रयुक्त कर अपने शब्द-कौशल का प्रकृष्ट ख्यापन किया है। ४३ तथा ४६ सर्ग ऐसे बन्धों से भरे-पड़े हैं।

रत्नाकर का शास्त्रीय पाण्डित्य भूरिशः प्रशंसनीय है। व्याकरण, न्याय, वेदान्त, सांख्य, कामशास्त्र आदि शास्त्रों में उनका प्रकृष्ट पाण्डित्य पदे-पदे लक्षित होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन तो काश्मीर की निजी सम्पत्ति ठहरा। ४७ वें सर्ग की 'चण्डिका-स्तुति

---

१. हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत कृतप्रणयो मम प्रबन्धे ।
अपि शिशुरकविः कविः प्रभावाद् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण ॥

शाक्त आगम में रत्नाकर का उत्कृष्ट वैदुष्य अभिव्यक्त कर रही है। एक दो पद्य पर्याप्त होंगे दृष्टान्त रूप में।

सांख्यमत के अनुसार शिव की यह स्तुति कितनी भव्य है (हरविजय ६।१८)—

प्रकृतेः पृथक् प्रकृतिशून्यतां गतः प्रतिषिद्धवस्तुगतधर्मनिष्क्रियः।
पुरुषस्त्वमेव किल पञ्चविंशकः स्फुटचूलिकार्थवचनैर्निगद्यसे[1]॥

न्याय-मतानुसारिणी स्तुति का निरीक्षण कीजिए (ह० वि० ६।७३)—

जनितेन्द्रियादिगविशुद्धिगोचरद्वचणुकादिबन्धगतकार्यदर्शनात्।
घटकुम्भकारवदकारकात्मनस्तव कारकत्वमनुमीयते बुधैः॥

इतने बड़े महाकाव्य में कोमल-गुण-सम्पन्न रसपेशल सूक्तियों को चुन निकालना दुष्कर कार्य है। सूक्तियों में रस का सद्भाव कम नहीं है, परन्तु हृदयपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष का प्राधान्य तो विशिष्टरूप से है ही—इसमें दो मत नहीं हो सकते। इस सरस सूक्ति के कोमल भावों को देखिये—

प्रेयांसमर्कमुपकण्ठगतं विकासि-
पद्माननाः कटकवर्त्मनि पङ्कजिन्यः।
रागादिवालिविरुतैः स्मरकेलिगर्भ-
मत्राविशं किमपि कोमलमालपन्ति॥

यह सुभाषित पद्य कितना तथ्यपूर्ण है—

न्याय्यं तदेतदिह तावदुपप्लवेऽपि
कुर्वन्ति यन्न जगति स्थितिभङ्गमार्याः।
मर्यादया विरहिताः प्रलयागमेऽपि
किं वाच्यतां जलधयो भुवने न याताः॥

निष्कर्ष यह है कि हरविजय अलंकृत काव्य शैली का चूडान्त निदर्शन है, उस युग में कालिदास जैसी कोमल पदावली वाली वैदर्भी का दर्शन विरल हो चुका था। युगधर्म ही पाण्डित्य के प्रदर्शन की ओर था। ऐसी दशा में नवम शती में ऐसे पाण्डित्यपूर्ण महाकाव्य का प्रणयन कोई विस्मयजनक घटना नहीं है।

(४) शिवस्वामी

शिवस्वामी कश्मीर के ही निवासी थे। ये स्वयं तो शैवमतावलम्बी थे, परन्तु 'चन्द्रमित्र' नामक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से इन्होंने बौद्ध-साहित्य में प्रसिद्ध एक अवदान को **'कप्फिणाभ्युदय'** अलंकृत महाकाव्य के रूप में गुम्फित किया। राजतरंगिणी से पता चलता है कि इनका उदय कश्मीर के विख्यात नरेश अवन्ति वर्मा के (८५८-८८५ ई०) राज्यकाल में हुआ था। इस प्रकार शिवस्वामी आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर के समसामयिक हैं। कश्मीर के इतिहास में यह काल साहित्य तथा कला की विशिष्ट उन्नति के कारण 'सुवर्णयुग' माना जाता है। किसी कारण शिवस्वामी का यह बौद्ध काव्य विस्मृत-प्रायः हो

१. यहाँ 'चूलिक' का अर्थ पञ्चशिख है। चूडा या शिखा धारण करने के कारण इस सांख्याचार्य का यह सार्थक अभिधान है।

गया था, परन्तु प्राचीन काल में इसकी पर्याप्त ख्याति थी। सुभाषित ग्रन्थों में इनके श्लोक उपलब्ध होते हैं। मम्मट ने ध्वनि के उदाहरण में इनके 'उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्' (१।२४) को उद्धृत किया है। इससे शिवस्वामी की कविता के प्रसिद्ध होने की सूचना मिलती है।

बौद्ध साहित्य में 'कप्फिण' का आख्यान विशेष रूप से प्रसिद्ध है। 'कप्फिण' दक्षिण देश (लीलावती) के राजा थे। कारणवश इन्होंने श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित को चढ़ाई कर परास्त किया। प्रसेनजित ने भगवान् बुद्ध का ध्यान किया जिससे प्रकट होकर उन्होंने कप्फिण को पराजित कर दिया। अन्ततः यह राजा बुद्ध के शरण में गया और उनके धर्मामृत का पानकर कृतकृत्य हुआ। इसी कथानक का वर्णन शिवस्वामी ने २० सर्गों में नाना प्रकार के छन्दों में किया है। कथा को अलंकृत तथा विकसित करने के लिये कवि ने मलय-पवन (६ सर्ग), षड् ऋतु (८ सर्ग), कुसुमावचय (९ सर्ग), जलक्रीडा (१० सर्ग), सूर्यास्त (११ सर्ग), चन्द्रोदय (१२ सर्ग), मदिरापान (१३ सर्ग), कामसूत्रानुसारी शृंगारिक क्रीडा (१४ सर्ग), प्रभात (१५ सर्ग) का उन-उन सर्गों में बड़ा ही कलापूर्ण वर्णन किया है। १८ वें सर्ग में चित्रयुद्ध के वर्णन में चित्रकाव्य की छटा है, तो १९ वें सर्ग में बुद्ध की संस्कृतप्राकृत-मिश्रित भाषा में प्रशस्त स्तुति होने से शान्त का सदृश प्रवाह है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'शिव' शब्द के आने से यह काव्य 'शिवांक' कहा गया है।

शिवस्वामी सचमुच एक महान् प्रतिभाशाली कवि थे। वे शैवमतावलम्बी थे, फिर भी उन्होंने अपने से विभिन्न धर्म के एक सामान्य आख्यान में अपनी प्रतिभा के बल से जान फूंक दी कि वह पाठकों के सम्मुख परिष्कृत तथा विशिष्ट आकार में चलता-फिरता दीख पड़ता है। उन्होंने अपने को बहुत कथाओं को जानने वाला, चित्रकाव्य का उपदेष्टा 'यमककवि' कहा है। यह कथन अक्षरशः सत्य है। सरस मृदुल शब्दों के गुम्फन की शक्ति इनमें खूब है। काव्य-प्रतिभा का सौन्दर्य इनके काव्य में विशेष मुग्धकारी है। शब्दालंकार के समान इन्होंने अर्थालंकारों—विशेषतः उपमा, उत्प्रेक्षा तथा श्लेष—का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया है। इनकी शब्दों पर विशेष प्रभुता है। प्राकृत का ज्ञान भी कम चमत्कारी नहीं है। हमारी दृष्टि में शिवस्वामी का यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य का रत्न है, जिसकी प्रभा विशेष अनुशीलन करने पर बढ़ती जायगी। शिवस्वामी ने रघुकार (कालिदास), मेण्ठ (भर्तृमेण्ठ) तथा दण्डी को अपना उपजीव्य माना है।[1] माघ तथा रत्नाकर के काव्यों का इन्होंने गाढ़ अनुशीलन किया था। इन कवियों की छाया, विशेषतः रत्नकर की कवि के काव्य पर खूब पड़ी है।

विरहिणी की यह उक्ति रमणीय तथा चमत्कारिणी है—

गतोऽस्तं धर्मांशुर्भज सहचरनीडमधुना
　　सुखं भ्रातः सुप्याः सुजनचरितं वायसकृतम्।
मयि स्नेहाद् वाष्पस्थगितनयनायामपघृणो
　　रुदत्यां यो यातस्त्वयि स विलपत्येष्यति कथम्॥

---

१. विदित-बहुकथार्थश्चित्रकाव्योपदेष्टा यमककविरगम्यश्चारु-सन्दानमानी।
अनुकृतरघुकारोऽभ्यस्तमेण्ठप्रचारो जयति कविरुदारो दण्डिदण्डः शिवाङ्कः॥ (२०।४७)

[हे भाई कौए, सूरज डूब गया, अब अपनी सहचरी के नीड में चले जाओ और वहीं सुखपूर्वक रहो। तूने सज्जन का काम किया। आँसुओं से आँखों के ढक जाने पर भी मेरे रोने का ख्याल न कर चला गया, भला वह निर्दय तुम्हारे शब्द करने पर कभी आवेगा?]

सूक्ति का सौन्दर्य तथा भाव सुतरां अवलोकनीय है। इस प्रकार की सूक्तियों से यह काव्य नितान्त अलंकृत तथा चमत्कारी है।

(५) क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र संस्कृत भाषा के महाकवियों में भी अलौकिक प्रतिभा से मण्डित महाकवि थे, जिनकी प्रतिभा ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में अपना जौहर दिखलाया। सरस्वती का यह वरद पुत्र शारदा देश का, अर्थात् कश्मीर का निवासी था, परन्तु जब यह उत्पन्न हुआ था तब कश्मीर का वातावरण कविता जैसी कोमल कला के अनुशीलन के लिए नितान्त अनुपयुक्त था। कश्मीर के इतिहास में वह युग असन्तोष, षड्यन्त्र, नैराश्य तथा रक्तपात का काल था। तत्कालीन राजा अनन्त स्वयं मानसिक दुर्बलता तथा बौद्धिक शिथिलता का पात्र था। तभी तो उसने १०६३ ई० में अपने ज्येष्ठ पुत्र कलश को राज्य देकर भी थोड़े ही वर्षों के अनन्तर पुनः उसे ग्रहण कर लिया। इसके अनन्तर वह १०७७ ई० में राज्यकार्य से अवश्य ही विरत हुआ और कुछ ही वर्षों के बाद, १०८१ ई० में, उसने आत्महत्या कर ली, और उसकी विदुषी महारानी सूर्यवती भी अपने पति की चिता पर सती हो गई।

इन्हीं पिता-पुत्र अनन्त (१०२८ ई०—१०६३ ई०) तथा कलश (१०६३ ई०—१०८९ ई०) के राज्यकाल में क्षेमेन्द्र की जीवन-लीला व्यतीत हुई। क्षेमेन्द्र के 'समयमातृका' का रचनाकाल १०५० ई० तथा अन्तिम ग्रन्थ 'दशावतारचरित' का रचनाकाल १०६६ ई० स्वयं ग्रन्थकार ने दिया है। क्षेमेन्द्र की सबसे पहिली कृतिकी सूचना १०३७ ई० की है। अतः उनका जन्म १००० ईस्वी के आसपास मानना उचित होगा। फलतः १०२५—१०६६ से भी चरित का लेखन काल निश्चित है। इनके पूर्वपुरुष **नरेन्द्र** जयापीड राजा के अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित थे। क्षेमेन्द्र अपने युग के अशान्त वातावरण से इतने असन्तुष्ट तथा मर्माहत थे कि उसे सुधारने तथा पवित्र और विशुद्ध बनाने के लिए और दुष्टता के स्थान पर शिष्टता की, स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना को दृढ़ करने के निमित्त अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को काव्य के नाना अंगों की रचना में लगाया। अपने युग के वातावरण को सुधारने के लिए कवि ने श्लाघनीय प्रयत्न किये और उनमें इन्हें सफलता भी मिली। महर्षि वेदव्यास के आदर्श पर रचना करनेवाला यह कवि नाम्ना ही नहीं, प्रत्युत कर्मणा भी 'व्यासदास' था। संस्कृत में कथा की रचना तो क्षेमेन्द्र की अलौकिक प्रतिभा के प्रसाद का एक अंशमात्र थी। कश्मीर-नरेश जयापीड के मन्त्रिप्रवर नरेन्द्र से क्षेमेन्द्र तक की वंशावली इस प्रकार है—नरेन्द्र—भोगेन्द्र—सिन्धु—प्रकाशेन्द्र—क्षेमेन्द्र। साहित्य विद्या का अध्ययन क्षेमेन्द्र ने आचार्य अभिनवगुप्त से किया था। थे वे तो त्रिकदर्शन के शिक्षास्थल काश्मीर के निवासी, परन्तु शैव न होकर वे वैष्णव थे। विष्णुतन्त्र में इनके दीक्षागुरु भागवताचार्य **सोमपाद** थे।

ग्रन्थ—क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) महाकाव्य—रामायणमंजरी, भारतमंजरी, बृहत्कथामंजरी, दशावतारचरित तथा

अवदानकल्पलता, । (२) उपदेशपरक काव्य—कलाविलास, समयमातृका, चारुचर्याशतक, सेव्यसेवकोपदेश, दर्पदलन, देशोपदेश, नर्ममाला, चतुर्वर्गसंग्रह; (३) अलंकार-ग्रन्थ—कविकण्ठाभरण, औचित्यविचार-चर्चा, सुवृत्ततिलक; (४) प्रकीर्ण—लोक प्रकाशकोश, नीतिकल्पतरु तथा व्यासाष्टक (समग्र रचनायें १९)।

क्षेमेन्द्र का काव्य-निर्माण का मुख्य उद्देश्य जनजीवन को उदात्त, चरित्र-सम्पन्न तथा शीलवान् बनाया था। इसलिये उन्होंने रामायण तथा महाभारत की प्रख्यात कथाओं का संक्षेप रूप प्रस्तुत किया क्रमशः **'रामायणमंजरी'** में तथा **'भारतमंजरी'** में (रचनाकाल १०३७ ई०)। इनका संक्षेप इतनी सुन्दरता और विवेक से किया गया है कि हमें मनोरंजन के साथ ही साथ मूल पाठ के निर्णय करने में भी इनसे पर्याप्त सहायता मिलती है। इन काव्यों की शैली प्रसादमयी, पदविन्यास कोमल तथा रसपेशल, अर्थयोजना रुचिर तथा कल्पनापूर्ण है। इनके अनुशीलन से शिक्षण तथा आनन्द दोनों प्राप्त होते हैं।

क्षेमेन्द्र की अन्य विशाल कथात्मक कृति है **'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता'**[1] जिसमें भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मों से सम्बद्ध पारमितासूचक आख्यानों का पद्यबद्ध वर्णन है। हीनयान में जो स्थान जातकों का है वही महायान में अवदानों का है। 'अवदान' का अर्थ है शुभ्रचरित। इन कथाओं में महायान की षट् पारमिताओं, अर्थात् पूर्णताओं, का निर्देश है, जिनकी प्राप्ति पर ही बोधिसत्त्व की पदवी निर्भर रहती है। इनमें सबसे महनीय है प्रज्ञापारमिता, ज्ञान की पूर्णता, जिसकी प्राप्ति होने पर ही बोधिसत्त्व का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस कल्पलता में १०८ पल्लव (कथाएँ) हैं, जिनमें अन्तिम पल्लव का निर्माण पिता की मृत्यु हो जाने पर क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने मंगलमयी पूर्ति की दृष्टि से की।

सोमेन्द्र कृत भूमिका से भी अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगता है। 'रामयश' नामक किसी प्रेमी बन्धु तथा 'नक्क' नामक किसी काश्मीरी बौद्ध भिक्षु के आग्रह पर इसकी रचना आरम्भ की गई। परन्तु ग्रन्थ की विशालता को लक्ष्य कर क्षेमेन्द्र ने तीन पल्लवों में ग्रन्थ समाप्त कर दिया। तदनन्तर स्वप्न में सुगत ने स्वयं कवि को लिखने का आदेश दिया। पूरे ग्रन्थ की रचना इसी सौगत आदेश का परिणत फल है। सोमेन्द्र की भूमिका से पता चलता है कि कल्पलता की रचना **महाराजा अनन्त** के राज्यकाल में सम्पन्न हुई। अपनी रचना के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही इसे तिब्बती भाषा में अनूदित होने का गौरव प्राप्त हुआ। एक वैष्णव कवि की कृति होने पर भी बौद्ध समाज में इतना आदर पाना क्षेमेन्द्र की धार्मिक उदारता, विशाल-हृदयता तथा सुन्दर काव्यशैली का पर्याप्त द्योतक है। १२०२ ईस्वी में तिब्बत के एक मान्य पण्डित कुन्दगह-ग्यल-म्तशन् को कश्मीरयात्रा में काश्मीरी बिद्वान् शाक्यश्री पण्डित ने इस ग्रन्थ को उपहार में दिया और लगभग ७० वर्षों के अनन्तर भारतीय पण्डित महाकवि लक्ष्मीशंकर की सहायता से तिब्बत के विख्यात विद्वान् 'सोन्तोन् लोच्छव' (भोटिया अनुवादक) ने चंगेज खाँ के पौत्र चीन-सम्राट् कुवले खाँ के धार्मिक गुरु फग्सपा की आज्ञा से इसका पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। सोन्तोन् की शैली इतनी सुन्दर तथा रोचक बताई जाती है कि कल्पलता का यह अनुवाद

---

१. **'बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली', दरभंगा से २ खण्डों में प्रकाशित, १९५९।**

तिब्बती भाषा का एक नितान्त श्लाघनीय-अनुकरणीय और उदात्त काव्य माना जाता है। क्षेमेन्द्र के पुत्र **सोमेन्द्र** को कतिपय विद्वान् कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं, परन्तु इस कथन में तनिक भी सार नहीं है। इन्होंने अवदान-कल्पलता का अन्तिम अवदान जीमूतवाहन के विषय में लिखा है। सोमेन्द्र द्वारा रचित 'जीमूतवाहन' का अवदान कथासरित्सागर के एतद्विषयक आख्यान से शैली तथा घटनाचक्र की दृष्टि से एकदम पृथक् है। कल्पलता की शैली नितान्त स्निग्ध, रसपेशल तथा हृदयावर्जक है। इसीलिए सोमेन्द्र ने इस ग्रन्थ की तुलना उस अविनश्वर 'विहार' से की है, जो अपने वर्णमय विग्रह के द्वारा श्रद्धालु बौद्धों तथा काव्यप्रेमी सहृदयों का सर्वदा अनुरंजन करता रहेगा।

'अवदान-कल्पलता' प्रसादमयी शैली में आख्यानों का बड़ा ही रुचिर वर्णन प्रस्तुत करता है। शैली के निदर्शन के लिए यह श्लोक पर्याप्त होगा, जिसमें बुद्ध का रूपक कल्पद्रुम के साथ सांगोपांगरूप से वैशद्य के साथ प्रस्तुत किया गया है (१।२)—

> सच्छायः स्थिरधर्ममूलवलयः पुण्यालवालस्थितिः
> धीविद्याकरुणाम्भसा हि विलसद्विस्तीर्णशाखान्वितः।
> सन्तोषोज्ज्वलपल्लवः शुचियशःपुष्पः सदा सत्फलः
> सर्वाशापरिपूरको विजयते श्रीबुद्धकल्पद्रुमः॥

क्षेमेन्द्र कथा लिखने की कला में नितान्त दक्ष हैं। कथा में यह केवल घटनाओं के विन्यास को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते। इसीलिए कथा-सरित्सागर से तुलना करने पर उनकी बृहत्कथामञ्जरी अवश्य ही निरी घटनाओं के उल्लेख में अपूर्ण प्रतीत हो सकती है। क्षेमेन्द्र की प्रतिभा का क्षेत्र दूसरा है। उनमें कलापक्ष की इतनी प्रधानता है कि वे अपने आख्यानों के वर्ण्य पदार्थों पर टिकते हैं, उन्हें भव्य वर्णनों से सजाते हैं तथा पाठकों के हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव डालते हैं। क्षेमेन्द्र की कथाएँ वृत्तप्रधान न होकर चरित्र-प्रधान हैं। रसपेशल वर्णन का रसिक कवि हृदयग्राही अवसरों को हाथ से जाने नहीं देता, प्रत्युत वह उसे अपने काव्य-कौशल से एक चिरन्तन सुन्दर वस्तु बना देता है। तीनों मञ्जरियाँ तथा अवदान-कल्पलता इसके उज्ज्वल प्रमाण हैं। 'हास्यकथा' के तो क्षेमेन्द्र बादशाह हैं। आलोचक इनके वर्णन और चरित्र-चित्रण पर रीझ जाता है। हास्यकथा का ऐसा सिद्धहस्त्र लेखक संस्कृत में दूसरा नहीं है, यह हम निःसन्देह कह सकते हैं। क्षेमेन्द्र की सिद्ध लेखनी पाठकों पर चोट करना जानती है, परन्तु उसकी चोट मीठी होती है। हास्य का आघात बड़ा सधा हुआ होता है, और इतनी सुन्दरता से होता है कि समाज का नग्न चित्र हमारे सामने खुलकर खड़ा हो जाता है।

क्षेमेन्द्र विदग्धों के ही कवि न होकर जनता के भी कवि हैं। उनकी रचना का उद्देश्य ही मनोरंजन के साथ-साथ जनता का चरित्र-निर्माण भी है और वे अवश्य ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति में पूर्णतः सफल हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर लिखे गये कलाविलास, चतुर्वर्ग-संग्रह, चारुचर्या, नीतिकल्पतरु, समयमातृका तथा सेव्यसेवकोपदेश जैसे लघुकाय ग्रन्थ लोकव्यवहार के परिज्ञान के लिए नितान्त उपादेय तथा सरस ग्रन्थ हैं। **'दशावतार-चरित'** इनकी अन्तिम रचना है (समाप्तिकाल ४१ लौकिकाब्द=१०६६ ई०)। इस

स्वतन्त्र, प्रौढ़ महाकाव्य में विष्णु के दशावतारों का बड़ा ही रोचक तथा विस्तृत वर्णन किया गया है। इसकी भाषा बड़ी ही मीठी, सरस तथा सुबोध है। न तो कहीं पाण्डित्य का प्रदर्शन है और न कहीं शब्द में अनावश्यक चमत्कार उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयास। इनकी भाषा में प्रवाह है; पदावली इतनी स्निग्ध है कि कहीं भी अनमेल शब्दों का प्रयोग नहीं दीखता। अरण्यवास के आनन्द का यह वर्णन कितना सुन्दर है—

दयितजनवियोगोद्वेगरोगातुराणां
विभवविरहदैन्यम्लानमानाननानाम् ।
शमयति शितशल्यं हन्त नैराश्यनश्यद्-
भवपरिभवतान्तिः शान्तिरन्ते वनान्ते ॥

[जिन लोगों का हृदय दयितजनों के वियोग के उद्वेगरूपी रोग से आक्रान्त है और धन के नाश से उत्पन्न होनेवाली दीनता के कारण जिनका मुख फीका पड़ गया है, उनके हृदय में गड़े हुये बाण को दूर हटाने में एक ही वस्तु समर्थ होती है और वह है अन्त में वन में निवास। उनके चित्त में निराशा के कारण संसार के परिभव का क्लेश दूर भाग जाता है और वे शान्ति का आनन्द लेने लगते हैं।]

(६) मंखक

क्षेमेन्द्र के बाद एक शताब्दी के भीतर ही कश्मीर के एक दूसरे महाकवि ने नवीन महाकाव्य रचा। इनका नाम मंखक है। **'श्रीकण्ठचरित'** में मंखक ने भगवान् शंकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया है। अपने कैलाशवासी पिता के आदेश से कवि ने इसका प्रणयन किया था। प्रसिद्ध आलंकारिक 'रुय्यक' इनके गुरु थे। ये गुरु-शिष्य कश्मीर के राजा जयसिंह (११२९–५० ई०) के सभा-पण्डित थे। फलतः मंखक का आविर्भावकाल १२ शती का पूर्वार्ध है।

श्रीकण्ठचरित में २५ सर्ग हैं। मूल कथानक तो छोटा है, पर महाकाव्य की पूर्ति के लिए दोला, पुष्पावचय, जलक्रीडा, संध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, क्रीडा तथा प्रभात का विस्तृत वर्णन ७वें सर्ग से लेकर १६वें सर्ग तक क्रमशः किया गया है। २५वाँ सर्ग तो तत्कालीन काश्मीरी कवियों का साहित्यिक वर्णन है, जो कवि के ज्येष्ठ भ्राता अमात्य लंकक (अलंकार) की सभा को अलंकृत करते थे। यह बड़ा ही जीवंत तथा रोचक वर्णन है। इसका साहित्यिक मूल्य बहुत-ही अधिक है। कविता उच्चकोटि की है। काश्मीरी कवियों की कविता का एक राग ही अलग है, जिसकी माधुरी सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है। पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना, भक्ति का उद्रेक—इसकी कुछ विशिष्टतायें हैं। द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा है। रमणीय उक्तियों में दोष का पता उसी प्रकार जल्दी चल जाता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र में जरा सा धब्बा (२।२९)—

सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः ॥

विना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नहीं खुलता। विना आँधी के मणिदीप और तैल-दीपक का अन्तर मालूम नहीं पड़ता (२।३७)—

नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षां ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण भेदेन वेत्ति शिखिदीपमणिप्रदीपौ॥

ये उक्तियाँ मंखक के समीक्षात्मक विचार को प्रकट करती हैं। मंखक ने काव्यशैली के लिए कालिदास का अनुगमन किया है और इसलिए इनके काव्य में कोमल पदावली में सरस भावों को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।

अन्धकार का यह वर्णन मौलिक, चमत्कारपूर्ण और मनोरम है। कवि कहता है कि सायंकाल का सूर्य जगत् के व्यवहार की गणना करनेवाले भगवान् काल का सोने का बना हुआ मसीभाण्ड (दावात) है। सायंकाल में जब सूर्य उल्टामुख करके गिर पड़ता है तो वही काली स्याही दावात से निकल कर सारे संसार में अन्धकार के रूप में फैल जाती है (श्रीकण्ठचरित १०।११)—

किन्नु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्यमवपुर्हिरण्मयम्।
तत्र यद्विपरिवर्तिताननै लिम्पति स्म धरणीं तमोमषी॥

(४) श्रीहर्ष

श्रीहर्ष के पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था। हीर काशी के राजा गहड़वालवंशी विजयचन्द्र की सभा के प्रधान पण्डित थे। सभा में किसी एक विशिष्ट पण्डित के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ। सुनते हैं कि यह विशिष्ट विद्वान् मिथिला देश के प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य थे। शास्त्रार्थ में हीर हार गये। मरते समय श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे इस पराजय का बड़ा दुःख है। यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पण्डित को शास्त्रार्थ में अवश्य जीतना। श्रीहर्ष ने गंगातीर पर 'चिन्तामणि' मन्त्र का वर्ष भर तक जप किया। भगवती त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुई। अप्रतिम पाण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष की वैदुषी ऐसी प्रखर निकली कि इनकी कविताओं को कोई समझता ही न था, अतः उन्होंने पुनः तपस्या की। भगवती ने कहा—आधी रात के समय माथे को जल से गीला रखो और दही पीओ। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। तब कहीं जाकर लोग इनके काव्यों को समझने में समर्थ हुए। समय पर वे विजयचन्द्र की सभा में गये। सभा में जाते ही राजा की स्तुति में यह सुन्दर पद्य सुनाया—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
माऽस्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥

कश्मीर में इनके ग्रन्थों का बड़ा आदर किया गया। प्रसिद्धि है कि ये मम्मट के भांजे थे। चांडू पण्डित ने अपनी टीका के आरम्भ में 'श्रीहर्षः स्वपितुर्विजेतुरुदयनकृतीः खण्डनखण्डखाद्यनामकग्रन्थेनाखण्डयत्' लिखकर उक्त प्रसिद्धि का समर्थन किया है

उदयन द्वैतवादी नैयायिक थे तथा श्रीहर्ष अद्वैतवादी वेदान्ती। फलतः श्रीहर्ष द्वारा उदयन के मत का खण्डन उपलब्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उदयन का नितान्त मौलिक ग्रन्थ 'न्यायकुसुमाञ्जलि' श्रीहर्ष की आलोचना का मुख्य विषय है। श्रीहर्ष ने नाम्ना उल्लेख नहीं किया है, परन्तु तात्पर्यपरिशुद्धि, बौद्धधिक्कार तथा न्याय-कुसुमाञ्जलि के प्रख्यात सिद्धान्तों का 'खण्डनखण्डखाद्य' में नितान्त स्पष्ट खण्डन है। विद्यासागरी टीका में उदयन के खण्डनीय मतों का विशद उल्लेख है।[1]

श्रीहर्ष केवल प्रथम कक्षा के महाकवि ही न थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदय-कली को खिलानेवाली स्वभाव-मधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली, अनेक पण्डितों का मद चूर्ण करनेवाली, तर्क-कर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृङ्गारभूत नैषधीय-काव्य की रचना की, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूडान्त निदर्शन रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की भी सृष्टि की। जिस श्रीहर्ष ने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण कश्मीर देश में अपनी विमलकीर्ति-पताका फहराई, उसी ने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करनेवाले मानी तार्किक-प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर डाला। कविवर की यह उक्ति नितान्त युक्ति-युक्त है—

> साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
> तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
> शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
> भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

श्रीहर्ष केवल कवि-पण्डित ही न थे, प्रस्तुत एक प्रचण्ड साधक तथा उन्नत योगी भी थे। गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मन्त्र को सिद्ध किया था, जिससे प्रसन्न हो भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी। चिन्तामणि मन्त्र का उद्धार तथा मन्त्र जपने का उच्च फल कवि ने स्वयं नैषध में सरस्वती के मुख से कहलाया है (१४।८८)। जब चिन्तामणि मन्त्र के जापक द्वारा किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देने से वह सुन्दर श्लोकों की अनायास ही रचना करने लगता है (१४।८९), तब पावन गंगा के तीर पर इस परम प्रसिद्ध मन्त्र को सिद्ध करने वाले श्रीहर्ष ने अद्भुत कल्पनामय नैषधकाव्य की रचना कर डाली, इसमें कौन-सा आश्चर्य है? श्रीहर्ष उच्चकोटि के

---

१ (क) 'शंका चेदनुमास्त्येव' (कुसुमांजलिः ३ स्तबक, श्लोक ६) का खण्डन खण्डनखण्डखाद्य, पृ० २६९–३७० पर है (लाजरस सं०, वाराणसी)
(ख) उपाधि का खण्डन (न्या० कु० ३ स्त०, श्लोक ७ का खण्डन खण्डन में है; प्रथम परिच्छेद, पृ० ३७२)
(ग) तात्पर्यपरिशुद्धि का खण्डन, खण्डन के पृ० १०१८ पर।
(घ) बौद्धधिक्कार में उदयन के भेद—समर्थन का खण्डन है (खण्डन, विद्यासागरी, पृ० ११७०)

योगी भी थे। आपने ही लिखा है कि वे समाधि में ब्रह्मानन्द का आस्वादन लिया करते थे। अपने आदरणीय महाकाव्य के अन्त में श्रीहर्ष ने अपने विषय में जो यह लिखा है वह निःसन्देह सत्य है (२२।१५५)—

> ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्
> यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
> यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
> श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्।

ये कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे। जयचन्द्र के वंशवाले राजपूत गहड़वाल कहलाते थे। ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में इस वंश का उत्तरी भारत में बड़ा नाम था। ये लोग कन्नौज के राजा कहलाते थे, परन्तु पीछे चलकर इन्होंने काशी को अपनी राजधानी बनाया। जयचन्द्र काशी से ही अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते थे। इनके पिता विजयचन्द्र ने तथा इन्होंने मिलकर ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ईस्वी तक राज्य किया था। अत एव कविवर श्रीहर्ष का आविर्भाव-काल विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभा-पण्डित होने के कारण द्वादश शताव्दी का उत्तरार्ध ठहरता है।

ग्रन्थ

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सब ग्रन्थों का नाम कविवर ने अपने नैषधीयचरित में उल्लिखित किया है। नैषध में उल्लेख-क्रम से ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

(१) **स्थैर्य-विचारण-प्रकरण**—नाम से ही यह ग्रन्थ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुमान से कहा जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा (४।१२३)।

(२) **विजय-प्रशस्ति**—जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की, जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा तथा विजयी वीर होने के अतिरिक्त कवि के आश्रय-दाता भी थे, प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गई थी (५।१३८)।

(३) **खण्डनखण्डखाद्य**—श्रीहर्ष का यही प्रसिद्ध खण्डनखण्डखाद्य नामक वेदान्त-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त-शास्त्र का एक अनुपम रत्न है। इसमें नैयायिक तर्क-प्रणाली का अनुकरण कर लेखक ने न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। पाडित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्चकोटि का है और श्रीहर्ष की अलोकसामान्य शास्त्र-चातुरी का प्रदर्शन कर रहा है (६।११३)।

(४) **गोडोर्वीशकुलप्रशस्ति**—नं० २ की तरह यह भी प्रशस्ति है, जिसको ग्रन्थकार ने गौड़-भूमि (बंगाल) के किसी राजा की प्रशंसा में बनाया था (७।१६०)।

(५) **अर्णववर्णन**—नाम से यह समुद्र का वर्णन जान पड़ता है (९।१६०)।

(६) **छिन्द-प्रशस्ति**—छिन्द नामक किसी राजा के विषय में लिखी गई काव्य-पुस्तक जान पड़ती है (१७।२२२)। 'छिन्द' किस देश का राजा था और उसका निवास-स्थान कहाँ था? यह आजकल बिलकुल अज्ञात है।

(७) **शिवशक्तिसिद्धि**—यह ग्रन्थ शिव तथा शक्ति की साधना के विषय में लिखा गया प्रतीत होता है। कहीं-कहीं शक्ति के स्थान पर 'भक्ति' पाठ है। तदनुसार इसका 'शिवभक्तिसिद्धि' भी नाम हो सकता है (१८।१५४)।

(८) **नवसाहसाङ्कचरितचम्पू**—श्रीहर्ष के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने नवसाहसांक के चरित को चम्पू के रूप में वर्णन किया था (२२।१५१)। 'नवसाहसांक' राजा भोज के पिता सिन्धुराज का विरुद विख्यात है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाङ्कचरित' नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का वर्णन किया है। नहीं कहा जा सकता कि श्रीहर्ष का यह चम्पू सिन्धुराज के विषय में था अथवा 'नवसाहसांक' विरुदधारी किसी अन्य राजा के विषय में।

(९) **नैषधीयचरित**—इस महाकाव्य में निषध देश के अधिपति राजा नल के पावन चरित का बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। इसमें २२ लम्बे-लम्बे सर्ग हैं जिसमें २८३० श्लोक हैं। तिसपर नल-चरित का अल्पांश ही श्रीहर्ष ने यहाँ वर्णन किया है। आरम्भ में राजा नल का विशद वर्णन है; नल का मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति का वर्णन है। राजा हंस को दमयन्ती के पास भेजते हैं। हंस वहाँ जाता है और अकेले में जाकर नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है। दमयन्ती के पूर्वानुराग का बड़ा ही प्रशस्त वर्णन है। राजा भीम अपनी कन्या दमयन्ती के लिए स्वयंवर की रचना करते हैं। इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम देवता भी दमयन्ती के अलोकसामान्य रूपवैभव की कथा सुन स्वयंवर में पधारना चाहते हैं तथा राजा नल को ही तिरस्करिणी विद्या के सहारे अपना दूत बना महल में भेजते हैं। नल देवताओं की ओर से खूब पैरवी करते हैं, परन्तु दमयन्ती का नल-विषयक निश्चय तनिक भी नहीं डिगता। स्वयंवर रचा जाता है। चारो देवता नल का ही रूप धारण कर सभा में उपस्थित होते हैं। सरस्वती स्वयं उस सभा में आती है और राजाओं का परिचय देती है। नल की प्रतिकृति-वाले पाँच पुरुषों को देख दमयन्ती घबड़ा जाती है। अन्त में देवतागण उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अपने विशिष्ट चिह्नों को प्रकट करते हैं, जिससे दमयन्ती राजा नल को सहज ही पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। जब देवतागण स्वर्ग को लौटते हैं तब कलि के साथ घनघोर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। देवता कलि को हराकर नास्तिकवाद का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। नल-दमयन्ती के प्रथम मिलन-रात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। संक्षेप में नैषध का यही सार है। जिस प्रकार खण्डन-खण्डखाद्य श्रीहर्ष के दार्शनिक ग्रन्थों में मुकुट-मणि है, उसी प्रकार यह नैषध उनके काव्यों का अलङ्कार है।

प्रतीत होता है कि खण्डन तथा नैषध दोनों की रचना समकालीन है। क्योंकि नैषध में स्पष्ट ही खण्डन का नाम्ना उल्लेख है (खण्डनखण्डतोऽपि सहजे ६।११३) तथा खण्डन में भी नैषधचरित का नाम्ना निर्देश है (तथाहमकथयं नैषध-चरितस्य परम-पुरुषस्तुतौ—खण्डन)। इससे प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने दोनों ग्रन्थों की रचना एक साथ ही की।

श्रीहर्ष की दार्शनिकता

श्रीहर्ष का दार्शनिक ज्ञान नितान्त प्रौढ़ तथा उच्चकोटि का है। संस्कृत-साहित्य में श्रीहर्ष में कवित्व तथा दार्शनिकता का, प्रतिभा तथा पाण्डित्य का मंजुल सम्मिलन है। नाना दर्शनों के विषय में उसका ज्ञान चतुरस्र था। वे अद्वैत-वेदान्त के प्रौढ़ आचार्य हैं, जिनका 'खण्डनखण्डखाद्य' नव्यन्याय की शास्त्रीय शैली में लिखा गया अद्वैत वेदान्त का चूडान्त ग्रन्थ है। श्रीहर्ष का दार्शनिक दृष्टिकोण पूर्ण अद्वैती है। वे अपनी व्यंग्यमयी शैली में अन्य दार्शनिकों की खिल्ली उड़ाने में बड़े ही पटु हैं। नैषध का १७ वाँ सर्ग दार्शनिक पाण्डित्य का निकष-ग्रीवा है। चार्वाक मत का मण्डन तथा खण्डन इतनी प्रौढ़ता से किया गया है कि यह सर्ग किसी दर्शन ग्रन्थ का अंश प्रतीत होता है, काव्य ग्रन्थ का नहीं।

कुलों में अनन्त दोषों की सद्भावना के कारण जाति की सदोषता, यज्ञ में पशुहिंसा, अग्निहोत्र तथा त्रयी की जीविकोपयोगिता आदि चार्वाक की ओर से प्रस्तुत किये गए प्रौढ़ सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी मार्मिकता से किया गया है। श्रीहर्ष ने वैशेषिक दर्शन को अन्धकार-निरूपक दर्शन मान कर उसकी बड़ी हँसी उड़ाई है। उनका कहना है कि जिस दर्शन का आद्य प्रवर्तक ही 'उलूक' नामधारी आचार्य है, वही तो अन्धकार के निरूपण करने में समर्थ हो सकता है (नैषध २२।३६)। इस उक्ति में मजेदार व्यंग्य के साथ पाण्डित्य का भी विशेष पुट है। 'ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्' का पूर्वपक्ष कर तम का दशम द्रव्यत्व खण्डन करनेवाले वैशेषिकों पर उलूक होने की बात बड़े सुन्दर ढंग से सिद्ध की गई है। वे न्याय-शास्त्र के रचयिता महर्षि गोतम को इसलिए 'गोतम' (पक्का बैल) मानते हैं कि वह मुक्त दशा में चेतन प्राणियों को विशेष गुण से हीन बतलाकर उनकी पत्थर के समान निर्जीव स्थिति को स्वीकार करते हैं।[1] मुक्त दशा में जीव में सातिशय आनन्द के प्रतिपादक अद्वैत की दृष्टि से नैयायिक मुक्ति के ऊपर रमणीय व्यंग्योक्ति है यह। श्रीहर्ष का अपना मत अद्वैत वेदान्त है और इसका उन्होंने स्थान-स्थान पर व्यंग्य रूप से तथा प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादन किया है। स्वयंवर में नल की आकृति धारण करनेवाले पाँच नलों में से सत्यभूत पंचम नल में दमयन्ती की श्रद्धा नहीं उत्पन्न हुई, क्योंकि मायानलों का रूप इतना चाकचिक्य-युक्त था कि उसकी दृष्टि इन्हीं के देखने में फँसी रह गयी, जिस प्रकार पंचमकोटि में आनेवाले परमार्थभूत अद्वैततत्त्व में लोगों की श्रद्धा नहीं जमती। सत्, असत्, सदसत् तथा सदसद्विलक्षण—इन पक्ष-चतुष्टय को लेकर ही सांख्य आदि दर्शन अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित कर लोगों को मतिभ्रान्त किया करते हैं। इनसे विलक्षण है अद्वैत, जो इस चतुष्टय से भिन्न होने के कारण पाँचवीं कक्षा में आता है।

> साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
> तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
> श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मताना-
> मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥ (१३।३६)

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ (१७।७५)

इस परम दार्शनिक पद्य से यही अर्थ निकलता है कि सब मतों में अद्वैततत्त्व ही अधिक ठीक है। अन्य मतों की बात सत्य हो सकती है, परन्तु वेदान्त-प्रतिपादित अद्वैततत्त्व ही **सत्यतर** है—उससे अधिक ठीकहै। यह उक्ति खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता के अनुरूप ही है।

श्रीहर्ष ने अपने दार्शनिक रूप का भी परित्याग कर एक नवीन चोला कहीं-कहीं पहन लिया है। वे मीठी चुटकी लेने और चुहलबाजी करने के बड़े ही शौकीन हैं, परन्तु उनका लक्ष्य होता है गम्भीर शास्त्र तथा प्रौढ़ शास्त्र चर्चा। लेकिन सर्वत्र वे छिपी हुई पते की बात बड़े सुन्दर ढंग से कह डालते हैं। वैयाकरणों की यह चुटकी बड़ी मजेदार है—

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥ (२२।८४)

लोक और व्याकरण में पद-प्रयोग के विषय में सदा से विवाद चलता आ रहा है। व्याकरण को बड़ा घमण्ड है कि जो शब्द मैं सिद्ध करूँगा, लोक को उसे ही प्रयोग में लाना पड़ेगा। परन्तु इस विषय में व्याकरण से बढ़कर लोक का ही प्रामाण्य अधिक है। लोक व्याकरण के पद-प्रयोगविषयक घमंड को चूर-चूर कर डालने में खूब ही समर्थ हुआ है। तभी तो मृग धारण करने पर भी तथा व्याकरण की रीति से सुसंगत होने पर भी लोक 'शशी' के जोड़-तोड़ पर चन्द्रमाको 'मृगी' कह कर नहीं पुकारता। बेचारे व्याकरण-वाले 'मृगोऽस्यास्ति' विग्रह कर 'मृगी' शब्द की व्युत्पत्ति करते ही रह गये, परन्तु लोक ने इनका तनिक भी ख्याल नहीं किया और अपनी मनमानी ही की, 'मृगी' का चन्द्रमा के अर्थ में प्रयोग होने ही न दिया। वैयाकरणों पर यह सुन्दर चुटकुला है। कलि के मुँह से श्रीहर्ष ने पाणिनि के एक सूत्र का विचित्र ही अर्थ करवा डाला है—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ (१७।७०)

स्त्री तथा पुरुष-प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें—अपवर्ग (मोक्ष) जो केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसकों) के ही लिये है। 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर पाणिनि ने भी पूर्वोक्त बात को स्वीकार किया है। कवि की सूझ अनूठी है, विचारे पाणिनि को भी अछूता नहीं छोड़ा। उन्हें भी इस दल-दल में ला घसीटा।

श्रीहर्ष के ऊपर प्राचीन कवियों में से कालिदास तथा माघ का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। दमयन्ती के स्वयंवर की कल्पना का जनक इन्दुमती स्वयंवर ही निःसन्देह है। कालिदास ने जहाँ एक सर्ग के भीतर ही इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन प्रस्तुत किया है, वहाँ श्रीहर्ष ने लम्बे-लम्बे चार सर्गों में (११–१४ सर्ग) दमयन्ती का स्वयंवर-वर्णन बड़े ही घटाटोप के साथ किया है। यहाँ भारतवर्ष के ही गण्यमान्य महीपाल नहीं आते, प्रत्युत नाग, यक्ष, राक्षस लोग भी पधारते हैं। यह सर्ग-चतुष्टय स्वयं एक प्रशस्ति काव्य प्रतीत होता है। यह बन्दीजनों की शैली में निर्मित प्रशस्त प्रशस्ति-काव्य होने पर भी पूरे काव्य की अन्विति में पूर्णरूप से संगत होता है। माघ का प्रभाव प्रभात-वर्णन (नैषध, सर्ग १९) के ऊपर स्पष्टतः विद्यमान है। अन्तर है शैली का। माघ के

प्रभात वर्णन में स्वाभाविकता का साम्राज्य है, तो श्रीहर्ष के वर्णन में अतिशयोक्ति का भव्य विन्यास है। परन्तु नैषध का यह पूरा सर्ग माघ के एकादश सर्ग के लिए ऋणी है।

समीक्षण

संस्कृत काव्य के अपकर्षकाल में आलोचकों की दृष्टि श्रीहर्ष के महनीय काव्य की ओर गड़ी हुई है, क्योंकि अन्धकार युग को आलोक प्रदान करनेवाला यही गौरवमय प्रशंसनीय काव्य है। श्रीहर्ष अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा अपने काव्य की मधुरता से स्वयं परिचित थे और इनका उन्हें गर्व भी था। अपने काव्य के लिए 'कविकुलादृष्टाध्वपान्थ' (८।१०९) तथा 'अन्याक्षुण्णरसप्रमेय-भणिति' (२० वें सर्ग का अन्तिम पद्य) का प्रयोग उनके नवीन रसमय मार्ग के आश्रयण का संकेत कर रहा है। उन्होंने 'नवार्थघटना के अपरित्याग' की अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह इस काव्य में किया है (एकामत्यजतो नवार्थ-घटनाम्)। तथ्य यह है कि नैषधचरित में वैदग्धी तथा पाण्डित्य का परम मंजुल योग काव्य की उदात्तता का पूर्ण परिचायक है। श्रीहर्ष विशुद्ध-विदग्ध-पदावली के आदरणीय आचार्य हैं। 'वक्रोक्ति' के द्वारा सामान्य अर्थ की विशिष्ट अभिव्यंजना के वे पूर्ण पण्डित हैं। वे पामरजनश्लाघ्य पदावली को काव्य के लिए नितान्त हेय तथा गर्हणीय मानते हैं। नल की वियोगपीडा से विह्वल तथा कटाक्षक्षेप की भी भूल जानेवाली आँखों के लिए कवि अपाङ्गरूपी अपने आँगन में थोड़े से घूमने में भी लँगड़ानेवाले खंजन की उपमा का प्रयोग कर 'वक्रोक्ति' का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है[1]। अलौकिक सूझ के कारण अर्थघटना में न कहीं फीकापन दीख पड़ता है और न पुनरुक्ति। कल्पना की भव्यता के कारण वर्णन की नवीनता सर्वत्र चमत्कारिणी है। चन्द्रमा के कलंक को कवि की भावनामयी दृष्टि नाना रूपों में अंकित करती है। नल के यात्रा-प्रसंग में सेनाओं के द्वारा उत्थापित धूलिराशि से पंकिल समुद्र के मंथन से उत्पन्न चन्द्रमा कहीं उसी पंक को धारण करता है[2] तो कहीं दमयन्ती के मुख बनाने के लिए ब्रह्मा के द्वारा सार-भाग काट लेने पर चन्द्रमा के छेदों से नीला आकाश झलकता हुआ दीख पड़ता है[3]। एकत्र वह कलंक पंक का प्रतीक है, तो अन्यत्र वही नीले आकाश के रूप का प्रतिनिधि है।

श्रीहर्ष **नारीरूप** के वर्णन में बड़े प्रवीण हैं। नैषध में दमयन्ती का रूप अनेक अवसरों पर वर्णित है और प्रत्येक अवसर पर अपूर्व नवीनता है। कवि में कल्पना का दारिद्र्य नहीं है। फलतः वह किसी कल्पना की पुनरुक्ति कर उसे बासी तथा फीका नहीं बनाता। विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन में भी श्रीहर्ष की चातुरी (चतुर्थ सर्ग) अद्भुत तथा मनोहारिणी है। इस प्रसंग में 'चन्द्रोपालम्भ' के विषय में इनकी उक्तियाँ बड़ी ही अनूठी तथा मौलिक हैं। दमयन्ती ने विषम पीडा के उत्पादक चन्द्रमा को नाना प्रकार से इतना अधिक उलाहना

---

१. अजनि पङ्गुरपाङ्ग-निजाङ्गण-भ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः। (नैषधचरित ४।...)

२. यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्-प्रतापानलधूममञ्जिमं।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्की भवदङ्कतां विधौ॥ (वही १।८)

३. हृतसारमिवेन्दु-मण्डलं दमयन्ती-वदनाय वेधसा।
कृतमध्य-बिलं विलोक्यते धृतगम्भीर-खनी-खनीलिम॥ (वही २।२५)

दिया है कि किन्हीं आलोचकों को इसमें कृत्रिमता की भावना उत्पन्न हो सकती है, परन्तु कवि की मौलिकता में किसी को संशय नहीं हो सकता। कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय शब्दों के चमत्कारी नवीन अर्थों को दिखलाकर बहुत स्थलों पर दिया है। कृष्णपक्ष की 'बहुल' संज्ञा का रहस्य इस घटना में है कि चन्द्रमा जैसे दुःखोत्पादक पदार्थ से हीन होने के कारण कृष्णपक्ष का अधिक आदर विरही जनों के द्वारा किया जाता है तथा जिस रात में चन्द्र के एकदम अभाव के कारण सत्कार की अपरिमिति (अत्युत्कर्ष) होती है, वही रात इसी कारण 'अमा' (मानहीन) के नाम से पुकारी जाती है (नैषध ४।६३)—

विरहिभिर्बहु मानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममीकृता॥

ब्राह्मणों के राजा होने के कारण—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' श्रुति के अनुसरण पर चन्द्रमा 'द्विजराज' नहीं कहलाता. प्रत्युत विरहियों की अपनी दंष्ट्रा रूपी कला से चर्वण करने के कारण ही वह दाँतों में श्रेष्ठ होने से इस नाम से मण्डित किया जाता है (४।७२)। इसी प्रकार श्रीहर्ष की दृष्टि में 'पञ्चशर' पद में 'पञ्च' शब्द संख्यावाचक न होकर 'प्रपञ्च' अथवा 'विस्तार' का बोधक है—पञ्चास्यवत् पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपञ्चवाची खलु पञ्च-शब्दः।

श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा

श्रीहर्ष ने नैषधकाव्य की रचना काशी में ही की। अतः कवि का काशी के लिए पक्षपात होना स्वाभाविक है (नैषध ११।११८-११९)। इस काव्य के अध्ययन का अधिकारी सामान्य जन न होकर विदग्ध जन ही हैं। श्रीहर्ष इस बात की तनिक भी परवाह नहीं करते कि अरसिक जन इसका अनादर करेंगे। वे तो उन सुधीजनों के सम्मान को अपने काव्य की प्रतिष्ठा मानते हैं, जो इस काव्य की उक्तियों के मर्म को समझने वाले हैं (नै० २२।१५०)। उनकी दृष्टि में अप्रौढ़ बुद्धिवाले पुरुष निरे बालक हैं। तथ्य यह है कि नैषध की रचना पण्डितों के निमित्त है, 'पण्डितम्मन्यों' (झूठे पाण्डित्यवाले गर्वीलों) के लिए नही। श्रीहर्ष ने स्वीकार किया है कि इसके भीतर स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वयं 'ग्रन्थग्रन्थि' रख दिया है, जिससे पण्डितम्मन्य जन इसके साथ खेलवाड़ न करें। वही सज्जन इसके आनन्द को पाने में समर्थ हो सकता है जिसने श्रद्धापूर्वक गुरु की आराधना कर उसकी कृपा से इन ग्रन्थियों को ढीला कर लिया है (नैषध २१।१५२)। इससे नैषध का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—यह 'विद्वज्जन-बोध्य' काव्य है, पामरजन-श्लाघनीय नहीं। इसीलिए आलोचकों की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन कविपण्डितों की दृष्टि में तो यह माघ तथा भारवि दोनों को परास्त करनेवाली साहित्यिक रचना है (उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः, क्व च भारविः), परन्तु आधुनिकों की दृष्टि में कृत्रिमता का भण्डार होने के कारण यह एक साधारण कोटि की कृति है। सत्य इन दोनों मतों के बीच में है। 'सूक्तियों' के चमत्कार के कारण यह महाकाव्य से बढ़कर अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु काव्य में 'सूक्ति' का ही चमत्कार सर्वोपरि नहीं रहता।

श्रीहर्ष में कवि-प्रतिभा अवश्य है और वह भी ऊँचे दर्जे की है, परन्तु कालिदास की रसभावमयी पद्धति से उसकी कथमपि तुलना नहीं की जा सकती। कालिदास नैसर्गिकता

तथा रसभाव के द्युतिमान् कवि हैं, श्रीहर्ष अलंकृत शैली के सर्वश्रेष्ठ काव्य-रचयिता हैं। श्रीहर्ष शृंगारकला के कवि हैं, परन्तु उनका श्रृङ्गारवर्णन कविहृदय का स्वाभाविक उद्गम न होकर वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर आधारित शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा रखता है। श्रृङ्गार के संयोग तथा वियोग—उभय पक्षों का चित्रण यहाँ बड़े घटाटोप के साथ किया गया है, परन्तु इनमें हृदयपक्ष का अभाव है, और कलापक्ष का प्राधान्य है। विप्रलम्भ की उक्तियाँ (चतुर्थ सर्ग) चमत्कारिणी अवश्य हैं, परन्तु वे मस्तिष्क का पोष करती हैं, मन का तोष नहीं। चन्द्र के उपालम्भ में रचित उक्तियाँ इसी प्रकार की हैं। सूक्ति के चमत्कार तथा नवीन कल्पना का प्रशंसक कौन आलोचक नहीं है, परन्तु उसमें हृदय को स्पर्श करने की क्षमता बहुत ही कम है। दमयन्ती की यह उक्ति अवश्य चमत्कारजनक है, जिसमें वियोगी वधुओं के मारने के कारण अपराधी चन्द्रमा घुमाकर आकाश से कृष्ण-रात्रि रूपी पत्थर के ऊपर पटका जाता है, जिससे तारारूपी छोटे-छोटे सफेद टुकड़े आकाश में उड़ कर चले गये हैं (नैषध ४।४९), परन्तु दुःख के समय इतना तर्क-वितर्क अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। परन्तु इससे उनके काव्य की महनीयता में कोई अपकर्ष नहीं होता। वे वास्तव में एक सच्चे कवि हैं। श्रीहर्ष नवार्थघटना में चतुर हैं—यह केवल डींग नहीं है, बल्कि वस्तुतः सत्य है। नख-शिख-वर्णन इसका स्पष्ट प्रमाण है। उन्हीं अंगों के वर्णन में एक नवीन स्फूर्ति दीख पड़ती है। कहीं-कहीं श्लेष के माहात्म्य से सूक्तियाँ बड़ी विलक्षण हो गई हैं। तभी तो दमयन्ती के रूप को देखकर मुनि लोग भी मोहित हो रहे हैं (७।९६)।

अलङ्कारों में श्रीहर्ष श्लेष, यमक तथा अनुप्रास के विशेष शौकीन हैं। श्लेष की पराकाष्ठा वहाँ दीखती है जहाँ एक ही पद्य में पञ्चनली का पृथक् वर्णन एकाकार शब्दावली में किया है (नैषध १३।२४)। इन अलङ्कारों की छटा से कविता बड़ी सुन्दर हो गई है। ये वैदर्भी रीति के कवि हैं, जिसकी इन्होंने स्वयं 'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः' (३।११६) के द्वारा सुन्दर प्रशंसा की है। प्रकृति-वर्णन में भी इन्होंने जहाँ लोकव्यवहार से अप्रस्तुत विधान का संग्रह किया है, वह अवश्य ही रुचिकर हुआ है। सायंकाल के समय चारों ओर फैलनेवाले अन्धकार के ऊपर बड़ी ही सुन्दर उक्ति कवि ने की है (२२।३२)—

> ऊर्ध्वार्पितान्युब्ज-कटाह-कल्पे यद् व्योम्नि दीपेन दिनाधिपेन।
> न्यधायि तद्भूममिलद्गुरुत्वं भूमौ तमः कज्जलमस्खलत् किम्॥

सूरज दीप के समान है, जिसके ऊपर कज्जल बटोरने के लिए आकाश उलटे टँगे हुए कटोरे की तरह जान पड़ता है। इसमें कज्जल इतना अधिक हो गया है कि वह जमीन पर गिर पड़ता है और चारों ओर फैल जाता है। लोक-व्यवहार से लिया गया यह अप्रस्तुत-विधान बहुत ही सुन्दर तथा हृदयावर्जक है।

सन्ध्याकाल की लालिमा पर कवि ने एक साथ ही अनेक चमत्कारिणी कल्पनायें प्रस्तुत की हैं, जिनकी रोचकता से कविहृदय आकृष्ट हुए विना नहीं रह सकता (२२।९)—

> कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य।
> तस्यैव सन्ध्या रुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि॥

कालरूपी किरात ने विकसित कमल रखनेवाली दिवसरूपी (सूंड पर लाल बिन्दुओं को धारण करनेवाले) हाथी को मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्या के रूप में उसकी रुचिर रुधिरधारा दीख पड़ती है तथा उसके मस्तक से जो मोती बिखरे हैं वे ही गगनमण्डल में उदित तारे हैं (२२।१२)--

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम् ।।

यह भानुरूपी भिक्षु (संन्यासी) दण्ड लेकर सब दिशाओं में दिन भर घूमता रहा है। अब सायंकाल को जलाशय में स्नान करने के लिए मानो वह सन्ध्याकाल के लाल गगन-मण्डल रूपी कषाय वस्त्र को ऊपर (अपने शरीर के ऊपरी भाग पर) धारण कर रहा है। सूर्य के अस्त होने के समय का यह रक्त आकाश नहीं है; बल्कि किसी स्नानार्थी संन्यासी का रक्त कषाय रखा हुआ जान पड़ता है। यह शास्त्रसम्बन्धी मौलिक सूक्ति है।

मार्मिक आलोचक की दृष्टि में नैषध काव्य केवल लौकिक प्रेम का प्रशंसक प्रशस्ति-काव्य नहीं है। वह अलौकिक प्रेम की भव्य भावना तथा साधना प्रस्तुत करनेवाला अद्वैतवादी कवि का एक रहस्यमय काव्य है। विश्वास नहीं होता कि 'खण्डनखण्डखाद्य' का लेखक कवि भौतिक प्रेम के वर्णन में ही अपनी सरस्वती की कृतार्थता चाहता है। दमयन्ती का सन्देश लेकर नल के पास हँस का जाना तथा दोनों का परस्पर अविच्छिन्न मिलन कराना आध्यात्मिक जगत् के तथ्य की ओर संकेत कर रहा है। दमयन्ती तथा नल का हँस के द्वारा मिलन गुरु के द्वारा जीव तथा ब्रह्म के परम मङ्गलमय संयोग का भव्य निदर्शन है। इस दृष्टि से अनुशीलनकर्ता के लिए काव्य में वर्णित अन्य घटनाओं का भी रहस्यात्मक संकेत समझना कठिन न होगा।

तथ्य यह है कि नैषध काव्य एक विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है, जिसमें सब वस्तुयें यथास्थान सुचारु रूप से अलंकृत कर रखी गई हैं, जिनके चुनाव तथा रमणीयता में सर्वत्र सुसंस्कृति तथा नागरिकता झलकती है। श्रीहर्ष अपने अलौकिक पाण्डित्य के लिए जितने प्रसिद्ध हैं, उतने ही वे अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा, विलक्षण वर्णन-चातुरी तथा रसमयी अनूठी उक्तियों के लिए भी विख्यात हैं। आज के आलोचक को 'परमाणुमध्या', 'अणिमैश्वर्यविवर्तमध्या' पदों में कृत्रिमता की गन्ध भले आवे, परन्तु पण्डित आलोचक नैषध काव्य की पाडित्यमयी उपमाओं पर, रमणीय रूपकों पर तथा हृदयावर्जक श्लेषों के ऊपर सदा रीझता रहा है और भविष्य में भी रीझता रहेगा। कालिदास की कोमल सूझ तथा नैसर्गिक कमनीयता के अभाव होने से हम श्रीहर्ष को तत्सम उच्चकोटि में अवश्य नहीं रख सकते, परन्तु पण्डित-कवियों में इनका स्थान निरापद, नितान्त ऊँचा तथा महत्त्वशाली है और भविष्य में बना रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। ऐसे ही रसिक मर्मज्ञों की ओर कवि ने स्वयं काव्य के अन्त में संकेत किया है।

(५) वस्तुपाल

वस्तुपाल रचित **'नरनारायणानन्द'** महाकाव्य अपने काव्य-सौष्ठव के कारण अधिक प्रख्याति की योग्य रचना है। काव्य में १६ सर्ग हैं, जिसके अन्तिम सर्ग में कवि की प्रशस्ति है। अन्य सर्गों में श्रीकृष्ण और अर्जुन की मैत्री, रैवतकपर्वत पर उनका विहार, अर्जुन

द्वारा सुभद्रा का हरण, बलदेव का युद्ध, श्रीकृष्ण के प्रयत्न से सन्धि तथा सुभद्रा के साथ अर्जुन का विवाह—ये घटनायें यहाँ महाभारत के आधार पर वर्णित हैं। विषय-वर्णन में महाकाव्यसम्बन्धी औचित्य प्रदान करनें के लिए कवि ने षड् ऋतुओं का (चतुर्थ सर्ग), सन्ध्या और चन्द्रोदय का (पंचम सर्ग), नवदम्पत्तियों की विलास क्रीडाओं का (षष्ठ सर्ग), सूर्योदय और प्रभात का (सप्तम सर्ग), युवतियों के पुष्पावचयन का (नवम सर्ग), युवतियों की जलक्रीडा का (दशम सर्ग) रोचक वर्णन तत्तत् सर्गों में बड़ी कमनीयता के साथ किया है। चित्रालंकार के अन्तर्गत प्रहेलिका, गोमूत्रिका आदि बन्धों का विन्यास (१४ सर्ग) किरातार्जुनीय की स्मृति उत्पन्न करता है। कथावस्तु में सुभद्रा-अर्जुन का विवाहरूप कार्य आदि से अन्त तक व्याप्त है और अन्य वर्णन इसी के पोषक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वस्तुओं के चित्रण में कवि सजग है और प्रकृति के वर्णन में उसकी निरीक्षण शक्ति को उसकी कल्पनाशक्ति परिपुष्ट करती हुई प्रतीत होती है। शैली प्रसन्नमयी वैदर्भी है। अलंकारों का रुचिर सन्निवेश है तथा शृंगार के साथ अन्य रस भी उचित स्थलों पर निविष्ट हैं। निष्कर्ष यह है कि सुभद्रा-परिणय के विषय में निबद्ध काव्यों में नरनारायणानन्द अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कवि जैन मतावलम्बी परम श्रद्धावान् अमात्यप्रवर वस्तुपाल है, परन्तु जैन मत की मान्यता को अग्रसर कर कहीं भी साम्प्रदायिक आग्रह को स्थान नहीं दिया गया है। महाकाव्य पूर्णतया वैष्णवभावापन्न है और वस्तुपाल की इस ताटस्थ्य वृत्ति पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है[1]।

वस्तुपाल की प्रसिद्धि उभय प्रकार की है। राजकार्य में वे जैसे प्रख्यात थे, सरस्वती की सेवा तथा कविजनों के आश्रयदान के लिए वे वैसे ही विश्रुत थे। तत्कालीन साहित्य में उनके शौर्य, औदार्य और जनोपयोगी कार्यों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा उपलब्ध होती है। वह कवि होने के अतिरिक्त कविपारखी भी था। कोई उसे 'वाग्-देवतासुत' कहता है (सोमदेव), तो कोई उसे 'सरस्वतीकण्ठाभारण' बतलाता है (राजशेखर)। कविजन उसे 'वसन्तपाल' के नाम से भी पुकारते थे। वस्तुपाल सरस्वती के सेवन में तथा कविजनों के प्रोत्साहन में धारानरेश राजा भोज की मधुर स्मृति सदा जगाते हैं, परन्तु वे राजा नहीं थे। थे केवल मन्त्री चौलूक्य-वंशी नरेश वीरधवल (सन् १२१९–१२३१) के, परन्तु औदार्य के विषय में वे किसी भी सार्वभौम नरपति से न्यून नहीं थे। इसीलिए कीर्तिकौमुदी, सुकृतसंकीर्तन तथा वसन्तविलास उनकी उदारता, साहित्य-सेवा तथा धर्मसेवा के स्मरण में निबद्ध लोकप्रिय काव्य हैं।

निम्नलिखित प्रशस्ति अतिशयोक्तिमयी होने पर भी उनकी प्रशंसा की रूपरेखा प्रस्तुत करती है—

> पीयूषादपि पेशलाः शशधरज्योत्स्नाकलापादपि
> स्वच्छा नूतनचूतमञ्जिरिभरादप्युल्लसत्सौरभाः।
> वाग्देवीमुखसामसूक्तविशदोद्गारादपि प्राञ्जलाः
> केषां न प्रथयन्ति चेतसि मुदं श्रीवस्तुपालोक्तयः॥

---

१. गायकवाड ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित, १९१६ ई०।

वस्तुपाल ने शत्रुंजयतीर्थ या गिरनार के लिए यात्रासंघ निकाले थे और अनेक बार यात्रायें की थीं। शत्रुंजय की अन्तिम यात्रा के लिए वह ई० सन् १२४० में रवाना हुआ, परन्तु मार्ग में उसकी मृत्यु हो जाने से यह यात्रा अधूरी रह गई। फलतः वस्तुपाल का समय १३ वीं शती का पूर्वार्ध है।

नरनारायणानन्द के काव्य-सौष्ठव के परीक्षाणार्थ कुछ पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। विकसित कमलों के पराग से सुगन्धित जलवाली सरसी पथिक-समूह को आकृष्ट कर तीर पर आश्रय लेने के लिए बाध्य करती है (४।३४)—

सरसी निजं सरसिजैरभितः सुरभीकृतं सरसमेव जलम्।
पथिकव्रजाय ददतीव मुहुर्विमलं सहंसरवतीरवती ॥

ऊँट के स्वभाव का चित्रण कवि ने बड़ी रसिकता के साथ किया है। ऊँट काँटेदार वृक्षों या कटुफलवाले वृक्षों को खाने में ही रस लेता है। उसे अंगूरलता, जामुन और आम्र जैसे मधुर फलवाले वृक्ष रुचिकर नहीं होते। वह बबूर को खाने में स्वाद रखता है। इसी का यह चित्रण नितान्त रोचक तथा आकर्षक है (८।१०)—

मुक्तद्राक्षास्तम्बजम्बू-रसालो
बब्बूलादिग्रासलोलाधरोष्ठः।
उष्ट्रव्यूहोऽहासि रूपानुरूपे
सत्याहारे पक्षिरावैर्वनीभिः ॥

सुभद्रा की चित्रवृत्ति का परिचय मदनलेख के प्रसंग में उसकी दूती इस प्रकार मार्मिक शब्दों में दे रही है (१।३६)—

दृग्वारिबिन्दुभिरुरोजतटे लुठद्भि-
र्भिन्नाञ्जनैः करजलेखनिकागृहीतैः।
एनं कथञ्चन वियोगभयातुरेयं
लेख्यं विलिख्य ननु मां भवतेऽन्वयुंक्त ॥

(६) वेदान्तदेशिक

रामानुजाचार्य के मत को प्रौढ़ तथा प्रतिष्ठित करनेवाले **वेंकटनाथ** की ही उपाधि **'वेदान्तदेशिक'** थी। इनके जीवन-चरित की घटनाओं का उल्लेख अवान्तरकालीन श्रीवैष्णव ग्रन्थकारों ने बड़ी श्रद्धा तथा आस्था के साथ किया है। इनका जन्म काञ्ची में शक सं० ११९० (=१२६८ ई०) में हुआ था। पिता का नाम था अनन्तसूरि तथा पितामह का पुण्डरीकाक्ष। तिरुपति के भगवान वेंकटेश्वर के प्रसाद तथा आशीर्वाद से जन्म होने के कारण ये 'वेंकटनाथ' के नाम्ना प्रख्यात हुये। तीव्र बुद्धि तथा प्रतिभा से मण्डित होने के कारण इन्होंने न्याय, मीमांसा, रामानुज दर्शन में विशेष योग्यता तथा प्रौढ़ि प्राप्त की। वैष्णव आगम तथा द्राविड आम्नाय के भी प्रौढ़ विद्वान् थे। वडकलै-सम्प्रदाय के आचार्य रूप में ये आदृत तथा पूजित थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों के निर्माण से श्रीवैष्णव-मत को खूब पुष्ट, प्रौढ़ तथा लोकप्रिय बनाया। कार्यक्षेत्र इनका

मुख्य रूप से था काञ्ची तथा श्रीरङ्गम्। इन्होंने भारत के प्रधान तीर्थों का विविध भ्रमण कर सम्पूर्ण देश के धार्मिक आचारों के विषय में विशिष्ट अनुभव प्राप्त किया था। इन्होंने सौ साल की आयु प्राप्त की थी। मृत्यु १३६९ ई० में मानी जाती है।

वेदान्तदेशिक ने श्रीवैष्णव-मत के प्रचार तथा पोषण के निमित्ति अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा विशाल लेखनकौशल का उपयोग किया। उनकी मुख्य कृतियाँ दर्शन से सम्बन्ध रखती हैं। फलतः दार्शनिक के रूप में ही उनकी ख्याति सर्वोपरि है। कवि के रूप में भी वे प्रसिद्ध थे तथा अपने काव्यों का प्रणयन वैष्णव धर्म को अग्रसर करने के लिए ही किया।

मुख्य काव्य ग्रन्थों में **यादवाभ्युदय** महाकाव्य अप्रतिम है। २४ सर्गों में विभक्त यह महाकाव्य भगवान् श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं की वर्णनपरक कमनीय रचना है। वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका में रहकर श्रीकृष्ण ने जिन कार्यकलापों का सम्पादन किया था, उनका बड़ा ही सुरुचिपूर्ण तथा मनोरम वर्णन पाठकों को पदे-पदे आकृष्ट करता है। एक सर्ग में रासलीला का रसमय उपन्यास है। भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों का स्थान-स्थान पर रमणीय वर्णन इनके भौगोलिक ज्ञान का विशद परिचायक है। अप्पय दीक्षित ने इसके ऊपर सुबोध व्याख्या लिखी है। यादवाभ्युदय में उन सब विषयों के वर्णन का प्राचुर्य है जिससे काव्य वृद्धिगत तथा चमत्कारी होता है। कवि के दार्शनिक होने के कारण दार्शनिक तत्त्वों का उपयोग काव्य-सौन्दर्य के परिवृंहण के लिए वैशद्येन किया गया है। रामानुज दर्शन के तथ्य बड़ी सुन्दरता से पिरोये गये हैं। जिस प्रकार अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जीवाश्रय देहरथ में निबद्ध, इन्द्रियरूपी अश्वों का नियमन करते हैं, उसी प्रकार अर्जुन के रथ के सारथि बनकर भौतिक अश्वों का उनका नियमन सर्वथा अनुपमेय है

यथा नियच्छत्ययमिन्द्रियाश्वान् जीवाश्रये देहरथे निबद्धान्।
तथाऽर्जुनस्यन्दनधुर्यनेता बभूव नान्येन निदर्शनीयः॥

(२३।२८)

सर्वथा स्वाधीन कृष्ण ने भाग्यवती स्वीय अंगनाओं के सत्त्वादि गुणों से घटित स्वीय माया जैसी दृढ़ रज्जुवाली दोला पर चढ़ा कर स्वयं ही बारंबार झुलाया। यहाँ दोला तथा माया का साम्य दार्शनिक तथ्य के रूप में नितान्त स्पृहणीय है (या० २४।२६)—

स्थिरधृतिरधिरोप्य रत्नडोलां गुणघटितामिव माधवः स्वमायाम्।
अगमयत गतागतान्यभीक्ष्णं सुकृतजुषः स्वयमङ्गनाः स्वतन्त्रः॥

वेदान्तदेशिक मुख्यतः कलापक्ष के यशस्वी कवि हैं। फलतः उनके काव्यों में अलंकारों का विशेष आकर्षण है। रूपकादि अलंकारों का विन्यास काव्य को रोचक तथा मनोरम बनाने में सर्वथा समर्थ है। मेघमाला के विषय में परम्परित रूपक की शोभा दर्शनीय है—

अक्ष्णोरञ्जनवर्तिका जवनिका विद्युन्नटीनामियं
स्वर्गंगायमुना वियज्जलनिधेर्वेलातमालाटवी।
वर्षाणां कबरी पुरन्दरदिशालङ्कारकस्तूरिका
कन्दर्पद्विपदर्पदानलहरी कादम्बिनी जृम्भते॥

मेघमाला है नेत्रों की अंजन-शलाका, आकाश सागर के तट की तमाल अरण्यानी, आकाश गंगा के समीपस्थित यमुना, विजुलरूपी नदियों की जवनिका, वर्षानायिका की चोटी, पूर्व दिशा की अलंकार रूपी कस्तूरी तथा काम गज के मदजल की धारा। काली मेघमाला का यहाँ नाना प्रकार के काले उपमानों से अभेदेन उपस्थापन किया गया है। उपमानों के चयन में कवित्व है, मनोरंजक प्रतिभा का विन्यास है।

जैन संस्कृत-महाकाव्य

जैन धर्मावलम्बी कविजनों ने अपनी काव्य-रचना द्वारा संस्कृत साहित्य के बहुमुखी विकाश में विशेष योग दान दिया है। प्राकृत ही जैनधर्म-ग्रन्थों की भाषा है जिसमें भगवान् महावीर के आध्यात्मिक उपदेशों का गुम्फन जनता के हितार्थ उन्हीं की भाषा में किया गया है। परन्तु जैन धर्म को तर्क की ठोस भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिए तथा अध्यात्मवेत्ता मनीषियों के लिए भी ग्राह्य तथा स्पृहणीय बनाने के लिए संस्कृत भाषा का आश्रय लेना नितान्त अनिवार्य हो गया। संस्कृत ही तो विद्वज्जनों की बोधगम्य भाषा थी—हृदय तथा मस्तिष्क, दिल और दिमाग दोनों को प्रभावित करने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। इसीलिए जैनियों के लिए काव्य के माध्यम से हृदय को उल्लसित करने की तथा तर्क के माध्यम से मस्तिष्क को परिपुष्ट बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस प्रकार जैनकाव्यों तथा जैनतर्क-ग्रन्थों के संस्कृत भाषा के माध्यम से निर्माण के लिए जैन मनीषी कटिबद्ध होकर विद्वत्समाज में अग्रसर हुये।

काव्य के लिए संस्कृत भाषा को प्रयोग करने वाले जैन विद्वानों में स्वामी **समन्तभद्र** (द्वितीय शती) का नाम अग्रगण्य माना जाता है। उन्होंने ही भक्तिरस से स्निग्ध श्लाघनीय स्तोत्रों की रचना कर संस्कृतकाव्यों के प्रणयन का श्रीगणेश किया। संस्कृत द्वारा चरित-काव्य लिखने की परम्परा सप्तमशती से आरम्भ होती है। वर्णनपरक काव्यों के साथ ही साथ शास्त्रीय दृष्टि से 'महाकाव्य' का प्रणयन भी इसी शती में आरम्भ हुआ जो अगली शताब्दियों में द्रुतगति से आगे बढ़ता गया। जैन चरित काव्यों का अपना एक वैशिष्टच है जो ब्राह्मणों द्वारा निबद्ध महाकाव्यों से उन्हें पृथक् करता है। काव्य की प्रक्रिया तथा भाषा में रंचकमात्र अन्तर नहीं है। दोनों ही धर्मों के कविजन प्रकृति के दृश्यों के द्वारा प्रभावित होकर अपनी भावभंगिमा अभिव्यक्त करते हैं। नदी, पर्वत, सरोवर, नगर आदि का अंकन समान आकार तथा समान मात्रा में उभयत्र उपलब्ध होता है, परन्तु मान्यता, आधार तथा उद्देश्य के विषय में उनमें पार्थक्य है और गहरा पार्थक्य है। इनकी गम्भीरता से छानबीन करने पर उनकी भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है:—

(१) संस्कृत काव्य वर्णाश्रम-धर्म को मान्यता प्रदान करते हैं। वर्णाश्रम की आधारशिला पर ही संस्कृत काव्य-प्रासाद प्रतिष्ठित हैं। जैन काव्यों में इस मान्यता का नितान्त अभाव है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इस चातुर्वर्ण्य से गठित समाज ब्राह्मण काव्यों में चित्रित है। जैन काव्य इसे स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका द्वारा गठित समाज ही उन्हें मान्य है। जातिवाद के लिए यहाँ स्थान नहीं।

(२) नायक के चयन में भी दोनों में अन्तर है। ब्राह्मण-काव्यों का नायक उदात्त-चरित्र राजा ही होता है, परन्तु जैन काव्यों में जैन धर्म के उपदेष्टा तीर्थंकर, पुण्य पुरुष, धार्मिक कार्यों द्वारा उपकारी व्यक्ति, और लोककथा में प्रचलित व्यक्ति, मुनि, उपकारी वणिक् आदि नायक होते हैं। फलतः जैन कवियों के लिए समाज में निम्नस्तर का प्राणी कथमपि उपेक्षणीय नहीं होता, यदि उसमें कल्याण-मार्ग के अभ्युदय के निमित्त किसी भी उपादेय गुण की सत्ता हो।

(३) दोनोंके आधार-ग्रन्थों में भी अन्तर है। ब्राह्मण—काव्य रामायण, महाभारत तथा पुराण में चित्रित कथा तथा पात्रों के आधार पर निर्मित किये गये हैं। जैनकाव्य के लिए आधार ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के पोषक पुराण हैं, जिनमें **आदि पुराण, उत्तर पुराण** तथा **हरिवंश** मुख्य हैं, जो त्रिषष्टि शलाकापुरुषों के (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलराम (बलभद्र), ९ वासुदेव (नारायण) तथा ९ प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण=६३ महापुरुष) जीवन-चरित का वर्णन पुराण शैली में करते हैं।

(४) दोनों के उद्देश्य में भी पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। जैन कवि अपने धर्म की अभिवृद्धि के लिए ही काव्य का आश्रयण करता है। वह त्याग, संयम तथा अहिंसा के आदर्श की व्याख्या के निमित्त उपदेश देने से नहीं चूकता। जैन धर्म का वर्णन ही उसका लक्ष्य होता है। मानव स्वयं पूर्णता का निकेतन है और वह अपने ही परिश्रम से आत्यन्तिक शान्ति तथा निर्वाण पाने में समर्थ होता है। उसे किसी बाह्य उपकरण की इसके लिए आवश्यकता नहीं होती। रत्नत्रय ही उसका एकमात्र साधन है। जैन कविजनों के लिए बौद्ध कवि अश्वघोष एक आदर्श उपस्थित करते हैं। शर्करा-मिश्रित कटुक औषध जिस प्रकार हृदयग्राही होता है, उसी प्रकार धर्म के कटुक उपदेश काव्य के द्वारा उपस्थित किये जाने पर अधिक सुगमता से हृदय में प्रवेश करते हैं। इस उद्देश्य से अधिकांश जैन काव्यों में धार्मिक उपदेशों का अस्तित्व है। कहीं-कहीं ये अपनी अधिकता तथा यथार्थता के कारण मूल रस के विघात में भी समर्थ होते हैं। फलतः जैन तत्त्वों की शिक्षा काव्य का अविभाज्य उपकरण है। परन्तु ब्राह्मण काव्यों का उद्देश्य मुख्यतया रसोन्मेष होता है।

(५) ब्राह्मण काव्य नायक के एक जन्म की ही कथा वर्णन करते हैं, परन्तु जैन संस्कृत काव्य अनेक जन्मों के द्वारा व्यक्तित्व के उदय तथा सम्पूर्णता को लक्ष्य कर नाना जन्मों की कथा सुनाते हैं। आरम्भिक कथानक में काम तथा अर्थ का भरपूर रोचक चित्रण रहता है तथा श्रोताओं का सहज मनोरंजन होता है, परन्तु कथानक की गति के साथ मनोरञ्जन की गति धीमी पड़ जाती है। इन काव्यों की परिणति शान्त रस में ही होती है। शृंगार, वीर आदि रसों का चित्रण अंगरस के रूप में ही किया जाता है। इसलिये इनका उत्तरार्ध पाठकों की दृष्टि से पूर्वाध की अपेक्षा कम आकर्षक तथा न्यून हृदयावर्जक होता है। कर्मवाद के तथ्य पर आधारित इन काव्यों की प्रगति का यह रूप अस्वाभाविक नहीं है, परन्तु आवर्जना की उत्पत्ति में न्यूनता भी अनिवार्य ही है। वही जैन काव्य कला की दृष्टि से सबसे अधिक सफल है जिसमें वर्णन तथा उपदेश, सरस वस्तु का चित्रण तथा जैन तथ्यों का विवरण—इन दोनों में मंजुल सामञ्जस्य है। विषय का ऐसा सन्तुलन रखना प्रतिभाशाली कवि की प्रतिभा का ही चमत्कार है।

(१) वराङ्गचरित

संस्कृत में निबद्ध जैनचरित-महाकाव्यों में **'वरांगचरित'**[1] नितान्त प्राचीन है। इस काव्य की प्रसिद्धि जैन संसार में पर्याप्त थी, परन्तु इसके सम्पादन का श्रेय डॉ० ए० एन० उपाध्ये को है, जिन्होंने १९३८ ईस्वी में इसका एक विमर्शात्मक संस्करण ऐतिहासिक भूमिका से साथ प्रस्तुत किया। इस काव्य के रचयिता का नाम **सिंहनन्दी था,** परन्तु इस नामधारी अन्य व्यक्तियों से उनका पार्थक्य का दिखलाने के लिए वे **जटासिंहनन्दी** या केवल **जटिल** के नाम से विश्रुत हैं। डॉ० उपाध्ये का अनुमान है कि जिनसेन ने अपने 'आदिपुराण' में (८३८ ई०) जिस 'जटाचार्य' का उल्लेख किया है[2] वे इस ग्रन्थकार से भिन्न नहीं हैं। जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण में (रचनाकाल ७८३ ई०) जिस 'वराङ्गचरित' की प्रशंसा की है[3] वह इस काव्य से अभिन्न ही है। इससे भी प्राचीनतर उल्लेख उद्योतन सूरि का है, जिन्होंने अपने प्राकृत 'कुवलयमाला' (रचनाकाल ७७८ ई०) में 'जडिय' और रविसेण की क्रमशः वरांग तथा पद्मचरित के लेखक के रूप में श्लाघा की है—

जेंहि कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरियवित्थारे।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो॥

इस गाथा में 'जडिय' से तात्पर्य जटिल मुनि से है जो स्पष्टतः यहाँ वरांगचरित के विस्तार करने वाले बतलाये गये हैं। ध्यान देने की बात है कि उद्योतन सूरि जटिल को रविसेन से प्राचीन मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। यदि यह अनुमान सत्य हो, तो जटासिंह नन्दी का समय उद्योतन सूरि से ही प्राचीन न होकर रविषेण से भी प्राचीनतर होना चाहिये। रविषेण द्वारा पद्मचरित की रचना ७०० ई० के आसपास मानी जाती है। अतः वरांग-चरित का निर्माणकाल सप्तमशती का उत्तरार्ध मानना सर्वथा समुचित होगा।

बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्ण के समकालीन वरांग नामक पुण्यपुरुष का जीवनचरित इस काव्य में महाकाव्य की शैली में चित्रित किया गया है। काव्य पर्याप्तरूपेण विस्तृत है ३१ सर्गों में व्याप्त। कवि का लक्ष्य वरांग के चरित के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत करना है और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक सर्गों की सृष्टि की है, जिसका कथा से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। फलतः जैन तत्त्वों का निरूपण अनुपाततः इतना अधिक है कि वह काव्य के रसिक पाठकों को उबाने वाला है। काव्य के सर्ग ४ से लेकर १० तक तथा २६—२७ सर्ग इन नव सर्गों को निकाल देने से कथा की निष्पत्ति में किसी प्रकार की त्रुटि लक्षित न होगी। शेष सर्गों में कथानक का विकास सुन्दरता से किया गया है। यह पूर्णतया शास्त्रीय महाकाव्य न होकर अर्ध-पौराणिक काव्य है। जटासिंहनन्दी ने अश्वघोष को अपना आदर्श मानकर सरस

---

१. प्रकाशित माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, संख्या ४०, बम्बई, १९३८। सम्पादक डॉ० ए० एन० उपाध्ये।

२. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः।
अर्थात् स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात्॥ (१।५०)

३. वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुरागं स्वगोचरम्॥ (हरिवंशपुराण १।३५)॥

काव्य के माध्यम से कठोर दार्शनिक तत्त्वों को पाठकों के हृदय में उतारने का श्लाघनीय उद्योग किया तथा इसमें उन्हें सफलता मिली। काव्य की शैली स्निग्ध न होकर रूक्ष है। प्रसाद गुण के प्राचुर्य के कारण काव्य में आकर्षण है। नगर, ऋतु, उत्सव, रति, विप्रलम्भ, विवाह, राज्याभिषेक आदि विषयों का वर्णन महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। चरितनायक वरांग और उसकी नवोढ़ा के शृंगार का सजीव वर्णन रस से स्निग्ध है (२ सर्ग)। पुलिन्दों की बस्ती का यथार्थ बीभत्स वर्णन है (१३ स०) तथा वीररस का सांग चित्रण युद्ध के अवसर पर सुन्दर बना है (१४ स०)। कवि में वर्णन करने की क्षमता है और वर्णन-प्रसंग में रोचक भावों का चित्रण भी उपलब्ध होता है। कवि ने स्वयं इसे काव्यशैली में निबद्ध 'धर्मकथा' के नाम से निर्दिष्ट किया है। वे कर्नाटक के निवासी थे जहाँ के रीति-रिवाजों का वर्णन काव्य में किया गया है।

निदाघमासे व्यजनं यथैव करात् करं सर्वजनस्य याति।
तथैव गच्छन् प्रियतां कुमारो बृद्धिं च बालेन्दुरिव प्रयातः ॥(२८६)।

यह पद्य स्वाभाविक रूप में एक तथ्य का प्रतिपादक है।

चलत्पताकोज्ज्वल-केशमाला प्राकारकाञ्चिः स्तुतितूर्यनादा।
प्रपूर्ण-कुम्भोरु-पयोधरा सा पुराङ्गना लब्धपतिस्तुतोष॥

नगरी की समता अङ्गना के साथ यहाँ दी गई है। इसी प्रकार के पद्यों के अनुशीलन से जिनसेन ने जटिल की प्रतिभा की प्रशंसा की है(वही ११।६६)।

'वरांग' की कथा जैन समाज में पर्याप्तरूपेण लोकप्रिय थी। संस्कृत में वर्धमान कवि ने 'वरांगचरित' की रचना १४ शती में ही नहीं की, प्रत्युत कन्नड़ तथा हिन्दी भाषा में भी यह चरित वर्णित किया गया है। कनड़ी भाषा में निबद्ध वरांगचरित के रचयिता कोई धरणि पण्डित हैं (१६५० ई० के लगभग)। हिन्दी में भी वर्धमान के संस्कृत वरांग चरित का अनुवाद पाण्डे लालचन्द्र द्वारा १८२७ वि० सं० में निबद्ध किया गया। दूसरा हिन्दी वरांगचरित कमलनयन नामक लेखक की रचना है[1] (वि० सं० १८७२=१८१५ ईस्वी)। **वर्धमान कवि** का 'वरांगचरित' तो पर्याप्त लोकप्रिय है। इन्होंने जटिल के वरांगचरित का संक्षिप्तरूप अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। इन्होंने केवल धार्मिक उपदेशों और विविध वर्णनों की काँट-छाँट की है, किन्तु कथानक की रूप रेखा ज्यों की त्यों रहने दी है। यह कवि की स्वीकारोक्ति से ही पता चलता है---

गणेश्वरैर्या कथिता वरा कथा वरांगराजस्य सविस्तरं पुरा।
मयापि संक्षिप्य च सैव वर्ण्यते सुकाव्यबन्धेन सुबुद्धिवर्धिनी ॥(१।११)

इस वरांगचरित में केवल १५ सर्ग हैं। कथानक पूर्ववत् है, परन्तु महाकाव्य का रूप देने के लिए इसमें नगर, ऋतु, प्रकृति आदि का रोचक वर्णन दिया गया है। काव्य प्रसाद गुण से युक्त है। छोटे-छोटे असमस्त पदों के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दरता से की गयी है। कथानक के अनेक रसोद्बोधक प्रसंगों का चित्रण सहृदयता से कवि करता है। अलंकारों की भी योजना स्पृहणीय है। धार्मिक तत्त्वों के वर्णन में कमी

१. द्रष्टव्य डॉ० उपाध्ये की भूमिका, पृष्ठ ७७।

होने के कारण यह पाठकों के लिए उद्वेजक कोटि तक नहीं पहुँचता। शृंगार तथा वीररस का अंगत्व है तथा काव्य का पर्यवसान शान्तरस में हुआ है, जो यहाँ अंगीरस है। जीवन की निःसारता का चित्रण कितना सुन्दर है (वरांगचरित १३।५)—

लक्ष्मीरियं वारितरङ्गलोला, क्षणे क्षणे नाशमुपैति चायुः।
तारुण्यमेतत् सरिदम्बुपूरोपमं नृणां कोऽत्र सुखाभिलाषः॥

अपने काव्य को ईर्ष्या-द्वेष से रहित होकर संशोधन कर निर्मल बना देने के लिए कवि आलोचकों से जो प्रार्थना करता है उसमें उपमा का संयोजन बड़ा ही मार्मिक है—

विशुद्धबुद्ध्या कवयो विमत्सरा विशोध्य सिंद्धि च नयन्तु मत्कृतिम्।
हिरण्यरेता इव सर्वदूषणं विदूरमुत्सार्य जनेषु काञ्चनम्॥ (१।९)

इस 'वरांगचरित' के रचयिता वर्धमान भट्टारक का समय १४वीं शती माना गया है।

(२) चन्द्रप्रभ-चरित

महाकवि **वीरनन्दी** की यह कमनीय रचना **चन्द्रप्रभचरित**[1] तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जीवनी का वर्णन करती है। इस काव्य के अन्त में दी गई प्रशस्ति से ये गुणनन्दि के शिष्य आचार्य अभयनन्दि के शिष्य थे। अन्तरंग परीक्षण से समय का पता नहीं चलता। **'पार्श्वनाथचरित'** में **वादिराज** ने (ई० १०२५) इस काव्य तथा कवि दोनों के नामों का उल्लेख किया है (१।२०)—

चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम्।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः॥

फलतः इसे १०२५ ईस्वी से प्राचीन होना चाहिये। श्रीनेमिचन्द्र शास्त्री ने इसका रचना-समय अनुमानतः ९७०–९७५ ई० माना है। फलतः चन्द्रप्रभचरित १० शती के उत्तरार्ध में प्रणीत हुआ—यह माना जा सकता है। अतः यह वरांगचरित से दो शताब्दी पीछे का काव्यग्रन्थ है।

वाराणसी मण्डल में चन्द्रपुरी (आज चन्द्रौटी) में उत्पन्न आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के चरित का वर्णनपरक यह महाकाव्य १८ सर्गों में विभक्त है (श्लोकसंख्या १६९७), जिनमें उनके सात भवों की कथा विस्तार से दी गई है। कवि कालिदास के मार्ग का विशेषरूपेण अनुयायी है। छोटे-छोटे असमस्त पदों में अन्तःप्रकृति तथा बाह्यप्रकृति दोनों का चित्रण बड़ी रोचकता के साथ किया गया है। महाकाव्य के समस्त लक्षणों से संयुक्त होनेवाला यह चरितकाव्य अपने विषय का आदिम काव्य माना गया है। प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों को देखने की तथा उन्हें अनुरूप आलंकारिक भाषा में वर्णन की प्रभूत क्षमता कवि को ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित करने में पूर्णतः समर्थ है। उदय के समय अरुणवर्ण चन्द्रमा को देखकर कवि उसे पूर्व दिशा के मस्तक पर शोभित जपाकुसुम की कमनीय कल्पना करता है (१०।३०)—

---

१. काव्यमाला ग्रन्थांक ३०, निर्णयसागर, बम्बई, १९१२

वितभावधिरोहदम्बरे विधुबिम्बं क्षणमुद्गमारुणम् ।
जनयद् हरिदिग्वधू-जपाकसुमापीडवितर्कमङ्गिनाम् ।।

वाटिका में उड़ने वाले भौंरे के लिए कवि कहता है कि बार-बार हाथ से हटाये जाने पर भी भौंरा नये विद्रुम के समान नायिका के अधर को अशोक का पल्लव समझकर दौड़ रहा है जिसे देखकर किसके मुँह पर मुस्कुराहट नहीं दौड़ जाती (८।५८) :

हस्तेन सुन्दरि मुहुर्विनिवारितोऽपि
भृंगस्तवाधरदलं नवविद्रुमाभे ।
धावन्नशोक नवपल्लवशङ्किचेताः
स्मेरं करिष्यति न कस्य मुखं वनान्ते ।।

वीरनन्दी का प्रधान लक्ष्य जीवन को निर्वाण की ओर ले जाना है। और इस उद्देश्य की पूर्ति में वे पूर्णतया सफल हैं। फलतः प्राचीन कवियों के भावों से प्रभावित होने पर भी उनमें मौलिकता है तथा रसपेशल पदावली में भावों की अभिव्यञ्जना की अद्भुत प्रतिभा है। और इसी में कवि की सफलता का रहस्य अर्न्तहित है।

(३) वर्धमानचरित

इसी दशम शती में कवि असग ने 'शान्तिनाथ-चरित' एवं 'वर्धमानचरित' नामक दो काव्यों का प्रणयन किया। दार्शनिक तथ्यों का इतना अधिक वर्णन है कि प्रकृत रस तथा कथावस्तु का वर्णन एकदम दब जाता है। प्रथम काव्य में सोलहवें तीर्थंकर-शान्तिनाथ का चरित चित्रित है, तो द्वितीय काव्य में महावीर स्वामी का जीवनचरित वर्णित है। यह दूसरा काव्य प्रथम काव्य की अपेक्षा निःसन्देह सुभग है। 'शान्तिनाथचरित' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि के पिता का नाम पटुमति और माता का नैरेति। दोनों प्राणी मुनि-भक्त तथा धार्मिक प्रवृत्ति के थे। कवि के गुरु का नाम नागनन्दि आचार्य था, जो व्याकरण, काव्य तथा जैन शास्त्रों के ज्ञाता थे। 'वर्धमानचरित' की प्रशस्ति उसकी रचना का काल शक सं० ९१० (=ईस्वी ९८८) बतलाती है। फलतः कविवर असग का आविर्भाव काल ईस्वी दशक शती का उत्तरार्ध है। वर्धमानचरित के पूरे १८ सर्गों में से केवल अन्तिम दो सर्ग वर्धमान महावीर के जीवन-चरित का सांगोपांग वर्णन करते हैं। इतर सर्गों में उनके पूर्वभवों की कथा विस्तार से वर्णित है। महाकाव्य के लिए उपयुक्त पदार्थों का चित्रण कवि ने बड़ी मार्मिकता से किया है। प्रकृति के दृश्य, सन्ध्या, प्रभात, मध्याह्न, रात्रि आदि के साथ ही नगरावरोध, विजय, राजसभा, दूतप्रेषण आदि का भी चित्रण कर कवि ने महाकाव्यत्व के उपकरणों से अपनी रचना को संपुष्ट किया है। महावीरस्वामी के चारित्रिक विकास का चित्रण अनेक जन्मों के भीतर से किया गया है। शैली वैदर्भी है तथा प्रसाद गुण का आधिक्य है। अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। मार्मिक स्थलों पर उपयुक्त रस की अभिव्यक्ति भी सहज-रूप में की गई है।

वसन्त के कोमल अवसर पर मलयानिल नर्तक के द्वारा लतारूपी अंगनाओं का वह नर्तन बड़ा ही सुखकारी प्रतीत होता है (२।५२)—

अनर्तयत् कोकिलपुष्करध्वनिः प्रयुक्तभृङ्गस्वनगीतिशोभिते ।
वनान्तरंगे स्मरबन्धिनाटकं लताङ्गना दक्षिणवातनर्तकः ।।

पारसंख्या का यह चमत्कार कम उल्लेखनीय नहीं है (५।१३)—

यत्राकुलीनाः सततं हि तारा दोषाभिलाषाः पुनरेव घूकाः ।
सद्वृत्तभङ्गोऽपि न गद्यबन्धे रोधः परेषां सुजनस्य चाक्षे ।।

केवल तारायें ही अकुलीन (न पृथ्वी में लीन) थीं, अलका नगरी में कोई भी व्यक्ति अकुलीन नहीं था । दोषा (रात्रि तथा दोष) के अभिलाषी केवल उल्लूक ही थे, अन्य कोई व्यक्ति दोषों का अनुरागी न था । सद्वृत्त (छन्द) का भंग गद्य में था, अन्यत्र सुचरित्र का भंग न था । रोध (निरोध, रोकना) केवल शत्रुओं का ही था, दूसरे का नहीं ।

(४) पार्श्वनाथचरित

पार्श्वनाथ जैनसम्प्रदाय के २३ वें तीर्थंकर थे । इनका चरित नाना भाषाओं में निबद्ध होने से नितान्त लोकप्रिय प्रतीत होता है । इस संस्कृत-काव्य के प्रणेता **वादिराज** अपनी काव्यप्रतिभा के लिए जितने प्रसिद्ध हैं, उससे कहीं अधिक अपनी तार्किक वैदुषी के लिए विश्रुत हैं । न्यायविनिश्चयविवरण तथा प्रमाणनिर्णय (दार्शनिक ग्रन्थ), यशोधर चरित (काव्य) तथा एकीभावस्तोत्र—इनकी अन्य रचनायें हैं । अन्तरंग परीक्षा से ही इनका समय निर्णीत है । इनके ही लेखानुसार 'पार्श्वनाथ-चरित' का निर्माण सिंहचक्रेश्वर या चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंह देव की राजधानी में रहते हुए शक संवत् ९६४ (=१०४२ ईस्वी) में सम्पन्न हुआ । फलतः वादिराज का समय ११ शती का पूर्व भाग है । इनकी षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति तथा जगदेवमल्लवादी आदि उपाधियाँ इनके दार्शनिक सार्वभौम वैदुष्य की साक्षात् साधिका हैं । इसीलिए इनके प्रसिद्ध पाण्डित्य का सूचक यह पद्य नितान्त विश्रुत है (एकीभावस्तोत्र २६ पद्य)—

वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः ।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः ।।

काव्यसौष्ठव—उत्तरपुराण में निबद्ध पार्श्वनाथ के समग्र चरित्र को पूर्णतया संस्कृत में प्रथम बार ग्रथित करने का श्रेय वादिराज को ही प्राप्त है । पार्श्वनाथ के पूर्व-भवों का चरित्र भी यथा-स्थान निर्दिष्ट है । बाह्य प्रकृति का सुन्दर चित्रण है और मानव-जीवन में व्यापी सुख-दुःखों के उतार-चढ़ाव का वर्णन कवि ने मार्मिकता से किया है । काव्य में १२ सर्ग हैं । रसों के वर्णन में शृंगार रस का चित्रण प्रचुरतया निबद्ध है । सुन्दरी नायिका का रूप-वर्णन बड़ा चटकीला है और उससे भी रोचक है मानोभावों का चित्रण । कलापक्ष का आश्रयण पर्याप्तरूपेण सुन्दर है । वादिराज की दृष्टि में भूताचल का स्वरूप हाथी के समान प्रतीत होता है (२।६८)—

यः पार्श्वभागप्रविलम्बितेन विचित्रजीमूतकुथेन रात्रौ ।
नक्षत्रमालापरिवीतमूर्धा सन्नद्धमन्वेति गजाधिराजम् ।।

पर्वत के अगल-बग़ल में रंगबिरंगे मेघ लटक रहे हैं और ऊपर रंगीन लतायें आच्छादित कर रही हैं । प्रतीत होता है कि रात में नक्षत्र-माला से आवृत यह पर्वत चित्र-विचित्र

आस्तरण को डाले हुये उस ऐरावत हाथी के समान लक्षित होता है जिसके मस्तक पर विभिन्न प्रकार की चित्रकारी की गई हो।

(५) प्रद्युम्नचरित

वादिराज की पूर्वोक्त रचना से लगभग पचास वर्ष पहिले **'प्रद्युम्नचरित'**[1] का प्रणयन **महासेन कवि** ने किया। ये लाट-वर्गट संघ के आचार्य थे, जिसका विशेष निवास गुजरात और राजपूताने में था। प्रद्युम्नचरित के प्रतिसर्ग की पुष्पिका में ये सिन्धुराज के द्वारा सम्मानित महामात्य पर्पट के गुरु बतलाये गये हैं। मुञ्जराज तथा सिन्धुल या सिन्धुराज (राजाभोज के पिता) के निर्देश से स्पष्ट होता है कि प्रद्युम्नचरित की रचना दशवीं शती के अन्तिम चरण (लगभग ९९० ईस्वी) में हुई। इन्हीं सिन्धुराज (अपर नाम नवसाहसाङ्क) के सभाकवि पद्मगुप्त परिमल ने संस्कृत में प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य का निर्माण किया था। फलतः पद्मगुप्त तथा महासेन दोनों समकालीन हैं। इस काव्य में १४ सर्ग हैं।

प्रद्युम्न श्रीकृष्ण के रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र थे। उनकी कथा भागवत (दशम स्कन्ध अ० ५२–५५) तथा विष्णुपुराण (पंचम अंश, अ० २६–२७) में जिस प्रकार प्रख्यात है, उसी प्रकार जैनधर्मियों में भी वह नितान्त लोकप्रिय है। प्रद्युम्न का चरित जिनसेन प्रथम के हरिवंशपुराण में विस्तार से तथा गुणभद्र के उत्तरपुराण में संक्षेप में दिया गया है। इनमें से हरिवंश का आधार मानकर कविवर महासेन ने प्रद्युम्न-चरित का पल्लवन किया है। श्रीकृष्ण का विवाह रुक्मिणी तथा सत्यभामा के साथ बड़े अच्छे ढंग से यहाँ वर्णित है। भागवत के प्रेमी पाठकों के लिए यह महाकाव्य अतीव रुचिकर, हृदयग्राही तथा मनोरंजक है। दोनों कथाओं में कुछ वैषम्य भी है, परन्तु कथानक की शैली एक ही प्रकार की है। प्रद्युम्नचरित का पर्यवसान माता रुक्मिणी के परामर्श से अपने पितृव्य अरिष्टनेमि से प्रद्युम्न की जैनधर्म की दीक्षा है। अतः शान्तरस ही अंगी रस है। अन्य रसों का भी स्थान-स्थान पर चित्रण है। भाषा सुभग-सरल, तथा प्रवाहमयी है। प्रसाद गुण की सत्ता से काव्य का आकर्षण निश्चयेन वृद्धिगत हुआ है। ठंढ़ी हवा के चलने से तथा मूसलधार पानी बरसने से कृषक लोग अपने समग्र उपकरणों को खेत में ही छोड़ कर काँपते हुए घर चले गये हैं। इस भाव का प्रकाशक यह पद्य देखिये (५।१०४)—

> सीत्कारवायुपरिकम्पितविश्वलोके
> वेगाद् विमुञ्जति जलं नववारिवाहे।
> सर्वं हलोपकरणं च विहाय तस्मिन्
> कृच्छ्राज्जगाम भवनं प्रतिवेपिताङ्गः॥

प्रसादमधुरा वाणी द्वारा रस का प्रवाह बहाने वाले महाकवि महासेन की शैली विशुद्ध वैदर्भी है। उसमें सरलता तथा सुकुमारता की पूर्णतया उपलब्धि होती है। भाव-चित्रण में भी कवि प्रवीण है। शास्त्रीय पाण्डित्य का प्रदर्शन इस काव्य में एकदम नहीं है।

---

१. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित, वि० १९७३।

फलतः शास्त्रीय विषयों के विवरण से जायमान दुरूहता तथा विषमता का यहाँ अभाव नितान्त श्लाघनीय है। प्रद्युम्न का चित्रण भागवत के परम्परानुसारी चित्रण के समकक्ष होने के कारण वैष्णव भावापन्न पाठकों के लिए भी यह काव्य मञ्जुल-मनोज्ञ है।

(६) शान्तिनाथचरित

१६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित कविजनों के लिए बड़ा प्रिय विषय रहा है। इसके ऊपर प्राकृत, संस्कृत तथा देशी भाषा में नाना कवियों ने अपनी लेखनी चलाई है। उनमें से मुख्य कविरचनाओं का संकेत इस प्रकार है—(१) हेमचन्द्राचार्य के गुरु **देवचन्द्रसूरि** के द्वारा रचित प्राकृत भाषा में; हेमचन्द्र के गुरु होने से देवचन्द्र का समय १२वीं ईस्वी शती का पूर्वार्ध है। (२) **हेमचन्द्र**-रचित 'त्रिषष्टि-शलाकापुरुष-चरित' के अन्तर्गत संस्कृत में यह चरित संक्षेप में वर्णित है। (३) काव्यप्रकाश की संकेत-नाम्नी टीका के प्रणेता **माणिक्यचन्द्रसूरि** द्वारा रचित शान्तिनाथचरित हस्तलेख के रूप में प्राप्त है। संकेत का रचनाकाल ११६० ईस्वी है, जिससे माणिक्यचन्द्र का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। (४) **अजितप्रभसूरि**-रचित शान्तिनाथचरित, जिसका ग्रन्थ में ही निर्दिष्ट रचनाकाल १३०७ विक्रमी =१२५० ईस्वी (कलकत्ता एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित)। (५) **मुनिभद्रसूरि**-रचित शान्तिनाथचरित, जिसका ग्रन्थ के अन्त में निर्दिष्ट रचनाकाल १४१० विक्रम सं० (१३५३ ई०) है। पूरा काव्य १९ सर्गों में समाप्त है। श्लोकों का परिमाण ६२७२ बताया गया है। ग्रन्थकार के गुरु का नाम गुणभद्रसूरि है। ये सूरिजी व्याकरण, साहित्य, तर्क आदि विषयों के पारंगत विद्वान् माने जाते थे। मुनिभद्रसूरि अपने सुयोग्य गुरु के समान ही दिल्ली के बादशाह फीरोजशाह तुगलक (राज्यकाल १३५१ ई०–१३८८ ई०) के द्वारा सम्मानित तथा समादृत थे—इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने ग्रन्थ की प्रशस्ति में स्वयं किया है।[२] फलतः मुनिभद्रसूरि का आविर्भाव काल १४ शती का मध्यकाल (लगभग १३२० ई०–१३७५ ई०) है।

कवि ने अपनी प्रशस्ति (श्लोक १०) में मुनिदेवसूरि-रचित शान्तिनाथचरित को अपने काव्य की आदर्श बतलाया है। इसमें शान्तिनाथ के पूर्वभवों का वर्णन अलंकृत भाषा में किया गया है। महाकाव्य की शास्त्रीय कल्पना की पूर्ति के निमित्त प्रतिभाशाली कवि ने आनुषंगिक विषयों का भी सरस-सुबोध वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया है। इतर जैन-काव्यों के समान यहाँ भी शान्तरस ही अंगी रस है, परन्तु वहाँ पहुचने से पहिले शृंगार, वीर आदि रसों का भी प्रसंगानुकूल वर्णन अतिशय आकर्षक है। वर्षाऋतु के ऊपर वधू का आरोप सुन्दर है—

> समुन्नमत्पीनपयोधरा रसं प्रपुष्णती केतकपत्ररोचना।
> प्रवर्तयन्ती सुमनोविकाशनं वधूरिव प्रावृडुपागमत् तदा॥

---

१. **यशोविजय ग्रन्थमाला में (संख्या २०) वाराणसी से प्रकाशित—पं० हरगोविन्द दास तथा बेचर दास द्वारा संशोधित।**

२. **तच्छिष्यो मुनिभद्रसूरिरजनि स्याद्वादिसंभावनः।**
श्रीपेरोजम हिमहेन्द्रसदसि प्राप्तप्रतिष्ठोदयः॥ (प्रशस्तिश्लोक ९)

वैदर्भी में निबद्ध यह काव्य पर्याप्तरूपेण सुन्दर और हृदभावर्जक है। शान्तिनाथके चरित की लोकप्रियता का अनुमान इन काव्यों के निर्माण से भलीभाँति लगाया जा सकता है।

शान्तिनाथचरित की इस परम्परा में सबसे प्राचीन काव्य कवि असग की ही मनोरम कृति है। इनकी दूसरी रचना 'वर्धमानचरित' का निर्माण ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार ९१० शक सं० (ई० सन् ९८८) है। फलतः कवि का समय दशम शती का उत्तरार्ध है। और असग का यह 'शान्तिनाथ चरित' अपने विषय की प्राचीनतम रचना है।

(७) धर्मशर्माभ्युदय

महाकवि **हरिश्चन्द्र** द्वारा प्रणीत इस महाकाव्य में जैनधर्म के १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित वर्णित है। धर्म तथा शर्म (कल्याण) उभय के अभ्युदय के साधक होने से इस काव्य का यह अन्वर्थक नाम है। ग्रन्थ के अन्त में लिखित प्रशस्ति के अनुसार इनका जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। ये जात्या कायस्थ थे और धर्मेण जैन थे। पिता का नाम था आर्द्रदेव और माता का रथ्या देवी। इनका एक आज्ञाकारी अनुज लक्ष्मण नाम का था। कवि का अध्ययन विशाल था, केवल जैनशास्त्रों के ही वे विद्वान् नहीं थे, प्रत्युत कालिदास और माघ के काव्यों के वे गुणग्राही अध्येता थे। उनके देशकाल का परिचय ग्रन्थ से नहीं मिलता। हरिचन्द्र नाम के अनेक कवियों की सत्ता होने से इनके वैयक्तिक जीवन का इदमित्थं ज्ञान हमें नहीं होता। हर्षचरित के आरम्भ में बाण द्वारा निर्दिष्ट **भट्टार हरिचन्द्र** से इनकी पृथक्ता सिद्ध है, क्योंकि वे थे गद्यबन्ध के रचयिता और ये हैं पद्यबन्ध के सम्राट्। कर्पूरमञ्जरी के प्रथम जवनिकान्तर में उल्लिखित हरिचन्द्र से इनकी अभिन्नता-भिन्नता मानने का कोई प्रबल साधन नहीं है। इनके काव्य के एक हस्तलिखित प्रति का समय १२८७ विक्रमी (१२३० ई०) है, जिससे इन्हें कथमपि अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। हरिचन्द्र ने अपनी दूसरी रचना **जीवन्धरचम्पू** की कथा-वस्तु का आधार **वादीभसिंह** के **गद्यचिन्तामणि** तथा **क्षत्रचूड़ामणि** को बनाया है। इतना ही नहीं, क्षत्रचूडामणि के अनेक पद्य बहुत ही कम परिवर्तनों के साथ जीवन्धरचम्पू में स्वीकृत कर लिये गये हैं[२]। फलतः इन्हें वादीभसिंह से अर्वाक्-कालीन होना चाहिए। श्रीहर्ष के नैषधचरित के अनेक पद्यों का प्रभाव धर्मशर्माभ्युदय की रचना पर स्पष्टतः लक्षित होता है। अत एव हरिचन्द्र का समय वादीभसिंह (११ शती) तथा श्रीहर्ष (१२ शती का उत्तरार्ध) के अनन्तर होना चाहिये।

'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य के समस्त लक्षणों से युक्त है। इसमें २१ सर्ग हैं। 'उत्तरपुराण' से गृहीत कथा-वस्तु को सरस तथा काव्योचित बनाने के लिए कवि ने स्वयंवर, विन्ध्याचल, षड्ऋतु, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि आनुषंगिक विषयों का बड़ा ही रुचिर वर्णन प्रस्तुत किया है। जैनधर्म के उपयोगी तात्त्विक विषयों के वर्णन से यह

---

१. काव्यमाला सं० ८ में प्रकाशित, १८९९। प्रशस्ति, श्लोक ९।

२. द्रष्टव्य—जीवन्धरचम्पू (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८) की प्रस्तावना, पृष्ठ ४२–४३।

काव्य शान्तरसोचित गौरव से भी मण्डित है। कवि अपने को रस और ध्वनि के मार्ग का सार्थवाह तथा इस काव्य को कानों के लिए अमृतरस के प्रवाह के समान सरस बतलाता है[1]—यह अत्युक्ति न होकर तथ्योक्ति है। लघुकाय कथा को पल्लवित करने के लिए हरिचन्द्र ने जिस रसध्वनि मार्ग का अवलम्बन किया है, वह नितान्त हृदयावर्जक है। काव्य की उत्तमता की कसौटी श्रीहर्ष के द्वारा भावग्रहण की सत्ता भी प्रमाणित करती है। कविता प्रसाद-गुणमयी है और वैदर्भी रीति में निबद्ध है। हरिचन्द्र ने कालिदास की शैली का ही सफल अनुकरण नहीं किया है, प्रत्युत उनके काव्यों के रसपेशल और चमत्कारी भावों को भी अपनाया है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

काञ्चीव रत्नोच्चयगुम्फिता क्षितेर्दिवश्च्युतेवामलमौक्तिकावलिः।
कृष्टा सशब्दं पुरुहूतदन्तिनो विराजते राजतश्रृंखलेव सा ॥ (९।७२)

पुण्यसलिला गंगा के प्रवाह का यह कमनीय वर्णन है। गंगा नदी ऐसी सुशोभित होती है, मानो रत्नों के पुंज से खचित पृथ्वी की करधनी हो, अथवा आकाश से गिरी हुई निर्मल मोतियों की माला हो अथवा शब्द के साथ खींची गई ऐरावत हाथी की चाँदी की बनी जंजीर हो।

अस्ताचलात् कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे।
उड्डीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नभस्तमोभिः ॥ (१४।२२)

अन्धकार के प्रसार पर एक नवीन कल्पना है। जब कालरूपी बानर में मधु के छत्ते के समान सायंकालीन सूर्य बिम्ब को अस्ताचल से उखाड़ कर फेंक दिया, तब उड़ने वाले मधुकरों के समान अन्धकार से यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया।

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः।
लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मंगलाक्षरम् ॥ (२।२५)

सुन्दरी का रुचिर चित्रण है। इस अनिन्द्य सुन्दरी को बनाकर ब्रह्मा मानों सृष्टि के ऊपर कलश रखना चाहता था। इसीलिए तो उसने तिलक से चिन्हित भौंहों के बहाने उसके मुख पर ॐ यह मंगलाक्षर लिख दिया।

कविवर हरिचन्द्र के ऊपर नैषधचरित के प्रणेता श्रीहर्ष का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है। हरिचन्द्र की अनेक सरस सूक्तियों का उद्गम स्थल नैषध काव्य है। जीवन्धरचम्पू (३।५१) का यह पद्य नैषध की एक प्रख्यात सूक्ति (२–३८) से निःसन्देह प्रभावित है—

सरोजयुग्मं बहुधा तपःस्थितं बभूव तस्याश्चरणद्वयं ध्रुवम्।
न चेत् कथं तत्र च हंसकाविमौ समेत्य हृद्यं तनुतां कलस्वनम् ॥

हरिचन्द्र का समय निःसन्देह श्रीहर्ष से पीछे तथा १२३० ई० से पूर्व है जब इनके महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदय का पाटन में उपलब्ध हस्तलेख लिखा गया। अतः इनका समय एकादश शतीका अन्तिम चरण तथा द्वादश शती का पूर्वार्ध है (लगभग १०७५ ई०—११५० ई०)।

---

१. स कर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त ॥—प्रशस्ति, सप्तम पद्य।

(८) नेमिनिर्वाणकाव्य

वाग्भट प्रथम का **'नेमिनिर्वाणकाव्य'** धर्मशर्माभ्युदय के ही समय की रचना प्रतीत होता है। इसमें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित पन्द्रह सर्गों में निबद्ध किया गया है। इसके रचनाकाल का निर्णय बहिरंग प्रमाण पर किया गया है। **'वाग्भटालंकार'** के रचयिता **वाग्भट द्वितीय** ने नेमिनिर्वाणकाव्य के अनेक पद्यों को विना नामनिर्देश के ही अपने ग्रन्थ में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ये सब उदाहरण विभिन्न प्रकार के यमकालंकार के हैं। 'नेमिर्विशाल नयनो' (नेमिनिर्वाण ६।५१), 'कान्तारभूमौ पिककामिनीनाम्' (६।४६), 'जहुर्वसन्ते' (६।४७) तथा 'वरणाः प्रसून किरणावरणा'' (७।२६)—ये चारों पद्य क्रमशः ४।३२, ४।३४, ४।३९ तथा ४।४० पर वाग्भटालंकार में उद्धृत हैं। इनके आश्रयदाता कर्णनरेन्द्र-सूनु जयसिंह देव (४।७६) का राज्यकाल १०९३-११४३ ई० तक माना जाता है। प्रभावकचरित के अनुसार वाग्भट का समय विक्रमी ११७९ (=११२६ ई०) और वि० १२१३ (=११५६ ई०) दिया गया है। फलतः आलंकारिक वाग्भट का समय १२ शती का पूर्वार्ध मानना समुचित है। यदि कवि वाग्भट आलंकारिक वाग्भट से अभिन्न हों, तो उनका यही समय है; यदि भिन्न हों, तो उनका काल इतः पूर्व होना चाहिए। १२ शती के प्रथम चरण से (११२५ ई०) ये कथमपि अर्वाचीन नहीं हैं।

नेमिनिर्वाण की कथावस्तु द्वारिका के यादववंशी राजा समुद्रविजय (जो वसुदेव के अग्रज तथा श्रीकृष्ण के पितृव्य थे) के पुत्र नेमिकुमार (या अरिष्टनेमि) के जीवन-चरित से सम्बन्ध रखती है। राजुल (या राजीमती) के साथ इनका विवाह होने वाला था, परन्तु विवाह से पूर्व देवपूजन के लिए बलिनिमित्त एकत्रित पशुओं के करुण चीत्कार से इनका हृदय द्रवीभूत हो गया और अहिंसा की उत्कट भावना से प्रेरित होकर वे तपस्या करने चले गये। नेमिकुमार का यह प्रख्यात पौराणिक आख्यान ही इस काव्य का मूलाधार है। कवि ने जिनसेन प्रथम के 'हरिवंश' पुराण से कथा-वस्तु का ग्रहण किया है और उसे काव्योचित रूप देने के लिए इन्होंने अवान्तर वर्णनों का भी सन्निवेश किया है, परन्तु विशेष नहीं। काव्य सुन्दर है, भारवि–माघ की शैली में प्रणीत; यमकालंकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में यहाँ किया गया है। उस युग का ऐसा वातावरण ही था जिसकी उपेक्षा कोई भी कवि नहीं कर सकता था। शृंगाररस के उद्बोधक दृश्य शान्तरस में चरम परिणति होने के लिए नितान्त चाकचिक्य से चित्रित किये गये हैं।

(९) जयन्तविजय

नेमिनिर्वाणकाव्य के निर्माण के लगभग एक शताब्दी के अनन्तर **जयन्तविजय** महाकाव्य की रचना सम्पन्न हुई। कवि ने ग्रन्थ के भीतर ही रचना का समय निर्दिष्ट किया है १२७८ विक्रमी (१२२१ ई०)। फलतः १३ शती के प्रथम चरण में ही प्रणीत यह महाकाव्य शिशुपालवध के समान 'श्री-अंक' है, जिसमें १९ सर्ग तथा २२०० पद्य हैं। इसके रचयिता का नाम **अभयदेव सूरि** है, परन्तु उनके जीवन की घटनायें एकदम अज्ञात हैं।

---

१. प्रकाशन काव्यमाला, बम्बई, १९३६ ई०

प्रकृति के नाना दृश्यों के चित्रण में कवि की अपूर्व क्षमता है और दृश्यों के अंकन में तथा भाव के उद्बोधन में वह माघ के समान ही सफल कवि है। काव्य की कथावस्तु न तो पूर्णतया पौराणिक है और न ऐतिहासिक, प्रत्युत लोककथाओं में चित्रित अद्भुतरस-मयी तान्त्रिक घटनाओं का आश्रयण लेकर अभयदेव ने इस नितान्त प्रौढ़ महाकाव्य का प्रणयन किया है। जयन्ती नगरी का वर्णन बड़ी रम्यता से प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति का चित्रण परम्परानुगामी होने पर भी नवीन कल्पना से प्रद्योतित हो उठा है। चतुर्थ सर्ग में तापस योगी के चित्रण-प्रसंग में श्मशानभूमि का वहुत भयंकर चित्रण कवि ने किया है—वीभत्स वस्तुओं के पुंज से मण्डित तथा राक्षस-पिशाचों की हुंकृति से सम्पन्न। काव्य की भाषा सरल और सुबोध है। सूक्तियों की प्रचुरता के कारण काव्य की शोभा बढ़ गई है, यथा 'सर्वं विधौ हि विमुखे विमुखं जनस्य'; 'फलति सहृदयेषु क्षिप्रमेवोपकारः'; 'किं सुगन्धीकर्तुं हि शक्यं लशुनं कदापि'—आदि सरस सूक्तियों से यह काव्य भरा पड़ा है। कहना न होगा कि 'जयन्तविजय' के निर्माण में कवि ने संस्कृत के मान्य कवियों, जैसे—कालिदास, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष—के भावों को बड़ी रोचकता के साथ अपनाया है; विशेषतः कालिदास का प्रभाव तो सर्वापेक्षया महनीय है। इसी प्रभाव के फलस्वरूप कवि की शैली वैदर्भी की कमनीय कान्ति का प्रदर्शन करती है (जयन्तविजय ६।८०)

दिशः प्रसन्नाः शरदीव नद्यो वातास्तरामोदभृतो जनाश्च।
बभूवुरग्रे सुरदुन्दुभीनां पयोदनादप्रतिमानिनादाः॥

रघुजन्म के समय के प्राकृतिक परिवर्तनों का वर्णनकारी श्लोक इसका निःसन्देह प्रेरक है (रघुवंश 'दिशः प्रसेदुः मरुतो ववुः सुखाः' ३।१४)

सप्तम सर्ग में वसन्त का वर्णन बड़े ही लालित्य से किया गया है। उस ऋतु में उत्पन्न नाना प्रकार के पुष्पों से विरही जनों को कितना क्लेश होता है—इस तथ्य का संकेत कवि ने आलंकारिक भाषा में सरस शब्दों में बड़ी सुन्दरता से किया है (जयन्त-विजय ७।३१) :—

माधवप्रणयिना मनोभुवा मानखण्डनविधौ मृगीदशाम्।
कोमलोऽपि कलकण्ठकामिनीपञ्चमध्वनिरमीयतास्त्रताम्॥

मलयानिल के चलने का संकेत कितना सुखद है (जयन्तविजय ७।२७)—

केरलीकुचतटीविलासिनः कुन्तलीचलितकुन्तलाञ्चलाः।
सिंहलीवदनचुम्बनप्रियाः संचरन्ति मलयाचलानिलाः॥

वर्णों की छटा नितरां अवलोकनीय है।

(१०) पद्मानन्द-महाकाव्य[२]

इस पौराणिक महाकाव्य के रचयिता जैन कवियों में नितान्त प्रौढ़, पाण्डित्य-सम्पन्न

---

१. काव्यमाला में प्रकाशित, ग्रन्थाङ्क ७५, १९०२ ई०।

२. प्रकाशक ओरियण्टल इन्स्टिच्यूट, बड़ोदा; सम्पादक एच० आर० कपड़िया एम० ए०, १९३२ ई०।

महाकवि **अमरचन्द्र हैं**, जिनकी अलौकिक वैदुषी, आशुकवित्व तथा प्रखर तेजस्विता के अनेक आख्यान प्रभावकचरित तथा प्रबन्धकोश में उपलब्ध हैं। प्रबन्धकोश (र० का० १४०५ विक्रमी=१३४८ ईस्वी) में तो अमरचन्द्र के विषय में सारस्वतमन्त्र की सिद्धि बतलाने वाला एक स्वतन्त्र प्रबन्ध ही पाया जाता है। इनकी 'वेणीकृपाण' उपाधि निम्नलिखित श्लोक की अलौकिक उपमा के आधार पर दी गई है। 'बाल-भारत' में प्रभात का वर्णन करते समय बताया गया है कि महादेवजी ने तो कामदेव को भस्म कर दिया, परन्तु दधि मथती हुई स्त्रियों की वेणी को इधर से उधर घूमती देखकर यही प्रतीत होता है कि कामदेव वेणी के रूप में तलवार चला रहा है। शिवजी के द्वारा पराभूत हुये अपने बाणों को छोड़ कर मदन ने यह नवीन आयुध धारण किया है, जो उसकी दृष्टि में अधिक समर्थ तथा तीव्र प्रहार करनेवाला है। वेणी-कृपाण की इस अनुपम उपमा के कारण ही अमरचन्द्र 'वेणीकृपाण' की उपाधि से विभूषित किये गये हैं (बालभारत आदिपर्व ११।६) :—

> दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणिदम्भात्
> अयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता।
> भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाण-
> श्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति॥

कवि अमरचन्द्र गुजरात के चौलुक्यवंशी प्रतापी नरेश वीसलदेव के सभाकवि थे, जिनका समय विक्रमी १३००–१३२० तक (ईस्वी १२४३—१२६३) माना जाता है। वीसलदेव के विश्रुत प्रधानामात्य वस्तुपाल भी अमरचन्द्र के उपदेशों को सुनने के लिए उनके पास जाया करते थे। फलतः अमरचन्द्र का समय १३ वीं शती का मध्यकाल है (लगभग ई० १२२०–१२७० ई० तक)।

पद्मानन्द महाकाव्य में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का वर्णन है। ऋषभनाथ के चरित में दिगम्बरी मान्यता के कथनानुसार दस भवों के चरित पाये जाते हैं, परन्तु उसके प्रतिकूल यहाँ द्वादश भवों का चरित संवलित है जिससे कवि के श्वेताम्बर मतानुयायी होने का प्रमाण मिलता है। महाकाव्य में १९ सर्ग हैं, जिनमें अन्तिम सर्ग प्रशस्ति रूप है और आरम्भ के ७ सर्गों में पूर्वभवों का चित्रण है। ऋषभनाथ का मुख्य चरित्र एकादश सर्गों में (८ सर्ग–१८ स०) विधिवत् वर्णित है। ऋषभदेव ने चक्रवर्ती सम्राट् का पद भी धारण किया था। फलतः राजनीति के विविध अंगों का विवरण विस्तार से दिया गया है। अमरचन्द्र कवि ही नहीं हैं, प्रत्युत 'कविकल्पलता' के प्रणेता होने के रूप में वे कवियों के शिक्षक भी हैं। 'बालभारत' के अध्ययन से उनके ब्राह्मण-भावापन्न होने की घटना नितान्त स्फुट है। पद्मानन्दकाव्य का सौष्ठव नितान्त स्पृहणीय है। रूढ़ विषयों के वर्णन में भी कवि अपनी मौलिक सूझ के चमत्कार दिखलाने से पराङ्मुख नहीं होता। ऋतुओं का वर्णन सजीव है। प्रकृति की सुषमा वर्णनों के माध्यम से सजीव हो उठती है। प्रसाद गुण का विलास नितान्त अवलोकनीय है। साथ ही साथ जैनधर्म के शिक्षण का भी निवेश स्थान-स्थान पर प्राचुर्येण किया गया है। उस युग के आचार-विचार की जानकारी की प्रभूत सामग्री इस काव्य में उपस्थित है, जो नितान्त रोचक और ज्ञानवर्धक

है। कवि ने ११ वें सर्ग में वर्षा का चित्रण रुचिरता के साथ किया है। कवि का कथन है कि वर्षा काल में हंसों के वियोग से व्याकुल होकर कमलिनी भ्रमरपंक्ति के रूप में श्वास छोड़ती हुई जल में निमग्न हो गई है। मेघ का गर्जन चारों ओर अद्भुत रूप से सुनाई पड़ रहा है (११।३०)—

श्वसितधूममलिच्छलतः क्षणात् कमलिनी परिमुच्य जलेऽब्रुडत् ।
विशदहंसवियोगभरातुरा समुदितेऽद्भुतनादिनि वारिदे ॥

(११) सन्तकुमार-महाकाव्य

जिनपाल उपाध्याय का सन्तकुमार-महाकाव्य सनत्कुमार चक्रवर्ती के जीवनचरित पर आधारित है। इस अप्रकाशित काव्य में २४ सर्ग बतलाये जाते हैं। कवि चित्रालंकारों की योजनायें और ऋतुओं के अलंकृतवर्णन में प्रवीण माना गया है।

(१२) पार्श्वनाथचरित

माणिकचन्द्र सूरि तथा **भवदेव सूरि**—दोनों कवियों ने **पार्श्वनाथचरित** नामक काव्यों की रचना की है। माणिक्य ने वि० सं० १२७६ (=१२१९ ई०) में 'पार्श्वनाथचरित' का निर्माण किया। इस काव्य में १० सर्ग तथा ६७७० श्लोक विद्यमान हैं। प्रधान कथा तो तीर्थंकर पार्श्वनाथ का ही है, परन्तु अनेक अवान्तर कथाओं में नलदमयन्ती तथा परशुराम की कथायें मुख्य हैं। यह काव्य अभी तक अमुद्रित है, परन्तु माणिक्यचन्द्र से अर्ध शताब्दी अनन्तर उत्पन्न भवदेव सूरि की रचना प्रकाश में आ चुकी है।

भवदेव सूरि की यह रचना[1] विपुलकाय आठ सर्गों में समाप्त हुई है। ग्रन्थ का परिमाण ६०७४ अनुष्टुप् है। ग्रन्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति से स्पष्ट है कि ये कालिकाचार्य की परम्परा में थे तथा ग्रन्थ-रचना का काल १३१२ विक्रम सं० (=१२५५ ईस्वी सन्) है। भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम तीन भवों का वर्णन है प्रथम सर्ग में, चतुर्थ-पंचम भवों का द्वितीय सर्ग में, षष्ठ-सप्तम भवों का तृतीय सर्ग में, अष्टम-नवम भवों का चतुर्थ सर्ग में, जन्म, कौमार तथा विजययात्रा का पंचम सर्ग में, विवाह, दीक्षा-देशना का षष्ठ सर्ग में, गणधर-देशना और शासन का सप्तम सर्ग में तथा विहार, निर्वाण का वर्णन अन्तिम अष्टम सर्ग में उपलब्ध होता है। कथानक का विस्तार से सरल और सुबोध भाषा में वर्णन करना कवि को अभीष्ट है। साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव बेतरह खटकता है।

(१३) मल्लिनाथचरित

इस काव्य[2] के रचयिता का नाम है—**विनयचन्द्रसूरि**। काव्य के अन्त की प्रशस्ति से इनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। ये रविप्रभसूरि के शिष्य अपने को बतलाते हैं। इन्होंने अपने 'कल्पनिरुक्त' नामक ग्रन्थ का रचनाकाल १३२५ वि०सं० (=१२६८ ईस्वी) बतलाया है। फलतः इनका समय १३ वीं शती का उत्तरार्ध है। 'मल्लिनाथ-काव्य' में आठ सर्ग हैं, जिनमें मल्लिनाथ स्वामी के पूर्व जन्मों की कथा

---

१. **यशोविजय-ग्रन्थमाला सं० ३२ में प्रकाशित, वाराणसी।**
२. **यशोविजय जैन ग्रन्थमाला में वाराणसी से प्रकाशित।**

विस्तार से दी गई है। कविता प्रसादमयी है। कवि का मुख्य तात्पर्य कथा का सरल भाषा में वर्णन करना है और इस उद्देश्य की यहाँ पर्याप्त पूर्ति हुई है। बीच-बीच में नीति-परक पद्य कथानक को रोचक बनाते हैं। अनुष्टुप् छन्द में प्रायः समस्त काव्य लिखा गया है।

(१४) अभयकुमारचरित

चन्द्रतिलक रचित इस काव्य में राजगृह के राजकुमार अभयकुमार का चरित, चातुर्य-कथा तथा मुनिव्रत-ग्रहण की कथा १२ सर्गों में वर्णित है। यह काव्य शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों से समन्वित है। कवि ने इसकी समाप्ति वि० सं० १३१२ (१२५७ ई०) में की।[1]

(१५) श्रेणिकचरित

जिनप्रभसूरि का **श्रेणिकचरित** भट्टिकाव्य के समान ही द्व्याश्रयकाव्य की शैली पर निबद्ध है। इसका दूसरा नाम **'दुर्गवृत्तिद्व्याश्रय'** महाकाव्य भी है। इस अभिधान का कारण यह है कि कातन्त्र व्याकरण के प्रयोगों का व्यावहारिक रूप यहाँ प्रदर्शित किया गया है। इस काव्य में १८सर्ग हैं। वर्ण्य विषय महावीर स्वामी के समकालीन मगध नरेश महाराज श्रेणिक का जीवन-चरित है। इस शास्त्रकाव्य का प्रणयन वि० सं० १३५६ (१३०० ईस्वी) में किया गया। व्याकरण की उलझन में पड़ने के कारण काव्यसौष्ठव का पूरा निर्वाह कवि द्वारा सम्भव नहीं हो सका है। आरम्भ के सात सर्ग ही प्रकाशित हैं।

(१६) मुनिसुव्रत-महाकाव्य

अर्हद्दास की रचना **मुनिसुव्रतमहाकाव्य**[2] बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की कथा का वर्णन करता है। मूलतः उत्तरपुराण पर आधारित यह काव्य दस सर्गों में समाप्त हुआ है। मूल कथा सर्गात्मना यहाँ वर्णित है। अवान्तर कथाओं का वर्णन नहीं है। प्रकृति के नाना दृश्यों का चित्रण सजीव तथा आकर्षक है। पौराणिक शैली में निबद्ध यह काव्य अलंकारजन्य चमत्कारों से तथा काव्यगुणों से सर्वथा मण्डित है।

(१७) विजयप्रशस्ति-काव्य

हीरविजयसूरि १६ वीं शती के बड़े प्रभावशाली जैन यति थे। उनका प्रभाव मुगल बादशाह अकबर के ऊपर विशेष रूप से लक्षित होता है। सूरिजी ने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया था, जिससे प्रभावित होकर उसने धार्मिक पर्वों के अवसर पर हिंसा बन्द कर दी थी। अकबर के धार्मिक विचारों की जानकारी के लिए अनेक काव्यों का निर्माण संस्कृत में हुआ है, जिनमें **देवविमलगणि** का **हीरसौभाग्य** (१७ शती) मुख्य है। हीर-विजयसूरि, विजयसेनसूरि तथा विजयदेवसूरि—इन तीनों प्रभावक मुनियों का ऐति-हासिक चरित **विजय-प्रशस्तिकाव्य**[3] का वर्ण्य विषय है। २१ सर्गात्मक इस काव्य के रचयिता का नाम हेमविजयगणि है। विषय का वर्णन सुबोध है।

---

१. प्रकाशक जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१७ ई०।
२. जैन सिद्धान्त भवन, आरा, १९२९।
३. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, सं० ३५ में बम्बई से प्रकाशित, १९३६।
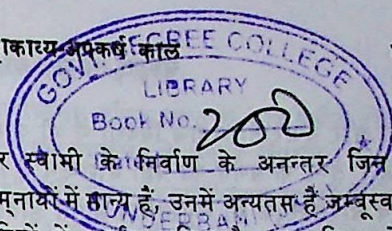
(१८) जम्बूस्वामिचरित

रचयिता **कविराजमल्ल**। महावीर स्वामी के निर्वाण के अनन्तर जिन तीन केवलियों का होना जैन धर्म के दोनों आम्नायों में मान्य हैं, उनमें अन्यतम हैं जम्बूस्वामी। उनका चरित्र जैनों, विशेषतः श्वेताम्बरियों में, पर्याप्त प्रसिद्ध है। इस विषय में उन लोगों के कई ग्रन्थ हैं। कवि राजमल्ल दिगम्बर-सम्प्रदाय के थे। इस काव्य का रचनाकाल विक्रम सं० १६३२ (=१५७५ ईस्वी) है। आगरे में रहकर काव्य का निर्माण किया गया। इसमें १३ पर्व हैं। आरम्भ के पर्वों में तो पूर्व जन्म की कथा दी गई है। पाँचवें पर्व से असली जम्बूस्वामी का चरित आरम्भ होता है और अन्तिम पर्व तक चलता है। आरम्भ पर्व में अकबर का जजिया के हटाने का भी उल्लेख है। काव्य सरल तथा सुबोध भाषा में निबद्ध है।

(१९) जगडूचरित

सर्वानन्द कवि का **जगडूचरित**[२] अपने विषय के चयन में अनुपम है। इस काव्य में जगडूशाह नामक एक धनी-मानी उपकारी व्यक्ति की जीवनगाथा वर्णित है, जिसने वि० सं० १३१२–१५ (=१२५५ ई०–१२५८ ई०) के भीषण दुर्भिक्ष में भूख से मरते हुए प्राणियों को बचाया था। वह दुर्भिक्ष इतना उग्र और भीषण था कि तत्कालीन गुजरात नरेश बीसलदेव जैसे राजाओं के पास भी अन्न नहीं था। जगडूशाह की जीवनी यहाँ सात सर्गों में वर्णित हैं।

जगडूशाह भद्रेश्वर पुर के निवासी थे। उनके ऊपर भगवती लक्ष्मी की अटूट कृपा थी। कहा गया है कि जगडू ने एक दिन एक बकरी के गले में 'सर्वसाधक' मणि को बँधा हुआ देखकर उसे खरीद लिया और मणि की विधिवत् पूजा से वे स्थायी सम्पत्ति के अधिकारी बन गये थे। वे अपनी विधवा पुत्री का पुनर्विवाह भी करना चाहते थे, परन्तु बन्धुबान्धवों के आग्रह पर उन्होंने विचार छोड़ दिया। समुद्री जहाजों के द्वारा वे अमूल्य हीरों के मालिक बन गये। भद्रेश्वर में जगडू ने अणहिलपाटन के शासक लवण-प्रसाद की सैनिक सहायता से एक विशाल दुर्ग बनवाया। गुरु-द्वारा त्रिवर्षीय दुर्भिक्ष की पूर्व सूचना पाकर उन्होंने देश-विदेशों से धान्य का संग्रह किया और दुर्ग को अन्न से भर दिया। दुर्भिक्ष के समय गुजरात, मालवा, सिन्ध, दिल्ली तथा काशी के नरेशों को प्रजा-पालन के लिए अनाज का वितरण किया।

एक उदार परोपकारी के चरितवर्णन के अतिरिक्त यह काव्य एक ऐतिहासिक घटना का भी वर्णन करता है। ईस्वी सन् १२५५ से १२५८ तक गुजरात में तीन वर्षों तक एक भीषण अकाल पड़ा था जिसमें वहाँ के शासक बीसलदेव के पास भी अन्न नहीं था। उस युग के राजाओं के नाम यहाँ उल्लिखित हैं। गुजरात में बीसलदेव, मालवा में मदन-वर्मा और काशी में प्रतापसिंह राज्य करता था। उस युग में समुद्र के मार्ग से व्यापार

१. गुणविजयगणि की टीका के साथ यशोविजय ग्रन्थमाला, सं० २३ में प्रकाशित, वाराणसी (वी० सं० २४३७)।

२. प्रकाशन आत्मानन्द जैन-सभा अम्बाला सिटी से हुआ है, १९२५ ई०।

होता था और गुजराती जहाज विदेशों में भी जाया करते थे। काव्य की भाषा सरल, सुबोध है। तथ्य के वर्णन का यहाँ वैशिष्ट्य है। साथ ही साथ अलंकार भी निविष्ट हैं। कवि चरितनायक का समकालीन प्रतीत होता है। उसने अनेक स्वानुभूत तथ्यों का यहाँ वर्णन किया है।

(२०) जैन लघुकाव्य

धनेश्वरसूरि का काव्य **'शत्रुञ्जयमाहात्म्य'**[1] शत्रुञ्जयतीर्थ के उद्धारकर्ता अठारह राजाओं का वर्णन करता है। वर्णन की शैली पौराणिक है। प्राचीन उद्धारक राजाओं के संग में भविष्य में होने वाले उद्धारकों में कुमारपाल, वाहड, वस्तुपाल और समर सिंह का उल्लेख है। इस पन्द्रह सर्गात्मक काव्य की अनुष्टुप् में रचना निबद्ध है। वस्तुपाल के उल्लेख से १३ शती के बाद की रचना है। **सकलकीर्ति** का **सुदर्शन चरित**[2] भी प्रायः इस काव्य के समकालीन प्रतीत होता है। कवि का जन्म १३८६ ईस्वी में हुआ था। फलतः उनका समय १५ शती का प्रथमार्ध है। इस अष्ट-सर्गात्मक काव्य में सुदर्शन नामक विश्रुत पुण्य-पुरुष का चरित अंकित है, जिसमें ब्रह्मचर्य की निष्ठा का विशिष्ट रूप से प्रकाशन है। अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध यह काव्य सूक्तियों तथा धर्मोपदेशों का आकर कहा जा सकता है। **वादिराज** (११ शती का पूर्वार्ध) का **यशोधरचरित**[3] इससे लगभग चार शताब्दी पूर्व की रचना है। चार सर्गों के इस लघु काव्य में अहिंसा के प्रभाव दिखलाने का विशेष वर्णन है। वादिराज महान् कवि थे और यह काव्य भी उत्कृष्ट कोटि की कविता का निदर्शक है। महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव से स्फूर्ति ग्रहण कर **जयशेखर सूरि** ने **जैनकुमारसम्भव**[4] काव्य का प्रणयन किया। इस काव्य की प्रशस्ति रचनाकाल १४८३ विक्रमी (१४२६ ई०) बतलाती है। फलतः यह १५ शती का काव्य है। प्रस्तुत काव्य में ११ सर्ग हैं, जिनमें कुमार भरत की जन्मकथा वर्णित है। काव्य की भाषा प्रौढ़ तथा शैली परिमार्जित है। इसी शती के प्रख्यात कवि **चारित्रभूषण** या **चारित्रसुन्दरगणि** की रचना **महीपालचरित** पाँच सर्गों में समाप्त है। इनके शीलदूत का समय १४८७ वि० (=१४३० ईस्वी) है। यह काव्य अभी तक अप्रकाशित है। इन सब काव्यों की अपेक्षा लोकप्रिय **वादीभसिंह** का **क्षत्रचूडामणि** काव्य है, जिसमें जीवक या जीवन्धर की प्रख्यात कथा सुभग पद्यों में वर्णित है। कवि का व्यक्तिगत नाम 'ओडयदेव' बतलाया जाता है। 'वादीभसिंह' तो उनकी उपाधि है जिसकी लोकप्रियता के कारण मूल नाम अप्रचलित हो गया है। इनके समय का यथार्थ निर्णय विद्वानों के विवाद का विषय है। बहुमत इन्हें १०वीं शती में मानने के पक्ष में है। क्षत्रचूडामणि में ११ लम्ब, अर्थात् परिच्छेद हैं। उत्तरपुराण में वर्णित कथा के आधार पर जीवन्धर की कथा यहाँ वर्णित है। दोनों में स्थान-स्थान पर अन्तर भी है, परन्तु वे विशेष महत्त्व के नहीं है। अनुष्टुप् छन्दों

---

१. पोपटलाल द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, वि० सं० १९९५।
२. मराठी अनुवाद सहित, सोलापुर से प्रकाशित १९२७ ई०।
३. कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ से प्रकाशित १९६३ ई०।
४. जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, १९४६ ई०।

में निबद्ध यह काव्य[1] सरस-सुबोध है। वादीभसिंह तमिल प्रान्त के कवि प्रतीत होते हैं। उन्होंने इसी कथा को 'गद्यचिन्तामणि' में रोचक गद्यकाव्य के रूप में बाँधा है।

धनदराज कवि-रचित **'त्रिशतीशृंगार'**, नीति तथा वैराग्य-विषयक शतकों में विभक्त है, और प्रत्येक विषय में एक-एक शतक है। ये जैन कवि हैं तथा श्रीमाल के निवासी प्रतीत होते हैं। ग्रन्थ की पुष्पिका में ये अपने पिता का नाम श्रीमालकुलतिलक संघपाल 'देहड़' बतलाते हैं। द्वितीय शतक के अन्त में रचनाकाल १४९० वि० सं० (१४३३ ई०) दिया गया है। फलतः इनका समय १५ शती का पूर्वार्ध है। भर्तृहरि के शतकत्रय के आदर्श पर यह त्रिशती प्रणीत है। कविता सुबोध है तथा भावों का प्रकाशन स्पष्टतया किया गया है। ग्रन्थकार के नाम पर ये तीनों शतक **'शृंगारधनद', नीतिधनद** तथा **'वैराग्य-धनद'** के नाम से प्रख्यात हैं[2]।

(२१) जैन सुभाषितकाव्य

जैन कवियों ने सुन्दर सुभाषित काव्यों का प्रणयन कर जनसाधारण में नीति के शुष्क उपदेश को अपनी काव्यप्रतिभा से अतीव सरस तथा हृदयग्राही बनाया है। ऐसे ग्रन्थों में दो काव्य अतीव लोकप्रिय हैं—(क) **अमितगति** का **'सुभाषितरत्नसन्दोह'**[3] तथा (ख) **सोमप्रभाचार्य** की **'सूक्तिमुक्तावली'**। अमितगति ने अपने काव्यों की प्रशस्तियो में रचनाकाल का निर्देश किया है। सुभाषितरत्नसन्दोह का रचनाकाल है १०५० विक्रमी सं० (=९९३ ई०), धर्मपरीक्षा का १०७० वि० (=१०१३ ई०) तथा पंचम संग्रह का १०७३ वि० सं० (१०१६ ई०)। इससे अमितगति का समय दशम शती का अन्तिम तथा ११ शती का प्रथम चरण है (लगभग ९७० ई०—१०२० ई०)। सुभाषित-रत्नसन्दोह में ९२२ पद्य हैं, जिनमें तत्त्वज्ञान तथा लौकिक नीति से सम्बद्ध ३२ विषयों का वर्णन किया है। यह संग्रह-ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत एक ही कवि की रचना है। भाषा सुबोध है तथा विषय को हृदयंगम और आवर्जक बनाने के लिए अलंकारों का यथोचित प्रयोग किया गया है। श्लेष के द्वारा वृद्धावस्था का मदिरा से सुन्दर साम्य दिखलाया गया है (श्लोक २७१)।

सोमप्रभ की **सूक्तिमुक्तावली**[4] पूरा एक शतक है। इसके गुणों से मुग्ध होकर महा-कवि बनारसीदास ने १६९२ वि० सं० (१६३५ ई०) में इसका हिन्दी पद्यों में सुभग अनुवाद किया। सोमप्रभ का जन्म वैश्य परिवार में हुआ था। ये हेमचन्द्राचार्य के सतीर्थ्य थे। सोमप्रभ प्राकृत तथा संस्कृत उभय भाषा के पण्डित थे। इन्होंने प्राकृत भाषा में 'कुमार-पालप्रतिबोध' का निर्माण वि० सं० १२४१ (११८४ ई०) तथा संस्कृत में 'सूक्तिमुक्ता-वली' का वि० सं० १२५० (११९३ ई०) में किया। फलतः इनका समय १२ शती का उत्तरार्ध है। 'सूक्तिमुक्तावली' में अस्तेय, सत्य, शील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया

---

१. सरस्वती-विलास सीरीज में तंजोर से प्रकाशित, १९०३ ई०।
२. काव्यमाला १३ गुच्छक में प्रकाशित।
३. काव्यमाला ग्रन्थांक ८२, सन् १९०९ ई०।
४. काव्यमाला सप्तम गुच्छक में प्रकाशित, पृ० ३५–५१।

आदि २१ विषयों पर कवि ने सुन्दर पद्यों की रचना की है। कवि ने किसी विषय को समझाने के लिए प्रचुर उदाहरणों की माला प्रस्तुत की है। इस विषय का एक ही पद्य मूर्ख की जीवननिष्फलता के विषय में प्रस्तुत किया जाता है—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यैन्धभारम्।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं
यो दुष्प्राप्तं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः॥

इस काव्य का अपर नाम **'सिन्दूरप्रकरण'** भी है।

(८) ऐतिहासिक महाकाव्य

रामायण-महाभारत के वर्णन-प्रसंग में 'इतिहास' की भारतीय कल्पना का कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इतिहास का आश्रय लेकर काव्य लिखने की परिपाटी संस्कृत साहित्य में नई नहीं है। कवियों ने अपने आश्रयदाता की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से उनका जीवन-चरित रोचक भाषा में लिखने का उद्योग किया। परन्तु उनका यह उद्योग शुद्ध साहित्य-कोटि में ही आता है, इतिहास-कोटि में नहीं; क्योंकि वे अपने आश्रयदाता के विषय में अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री भी देने का प्रयत्न नहीं करते। गुप्तकाल के कवि वत्सभट्टि ने कतिपय प्रशस्तियाँ ही प्रस्तुत की हैं। बाणभट्ट ने 'हर्ष-चरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के निर्माण का प्रथम अवतार किया, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से पद्मगुप्तपरिमल-काव्य प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जा सकता है।

(१) पद्मगुप्त 'परिमल'

संस्कृत का सबसे पहिला ऐतिहासिक महाकाव्य **'नवसाहसाङ्क चरित'**[1] है जिसमें धारा के विश्रुत नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज का विवाह नागराज शंखपाल की शशिप्रभा नाम्नी राजकुमारी से वर्णित है। रचयिता का नाम है **पद्मगुप्त 'परिमल'**। इस काव्य की अन्तरंग परीक्षा से कवि की कतिपय जीवनघटनायें उपलब्ध होती हैं। पद्मगुप्त मूलतः धारा के परमारवंशी 'वाक्पतिराज' उपाधिधारी विद्या-प्रेमी राजा मुञ्ज के राज कवि थे। मुञ्ज की विद्वत्ता, वदान्यता तथा गुणग्राहिता के प्रति कवि का श्रद्धालु होना नैसर्गिक है। वे मुञ्ज को 'सरस्वती रूपी कल्पलता का अद्वितीय कन्द' मानते हैं जिनके प्रसाद से अन्य कवि के द्वारा अनभ्यस्त, अर्थात् नितान्त मौलिक काव्यमार्ग पर अपने को संचरणशील बतलाते हैं[2]। वाक्पतिराज के स्वर्गवासी होने पर काव्य लिखने से वे पराङ्मुख हो गये थे, परन्तु उनके अनुज सिन्धुराज की प्रेरणा तथा उत्साहदान से पुनः काव्य-रचना में संनद्ध हुए[3]। आश्रयदाताओं का यह उल्लेख पद्मगुप्त के काल-निर्णय में

---

१. हिन्दी अनुवाद के साथ चौखम्भा वाराणसी द्वारा प्रकाशित, सन् १९६३।
२. सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम्।
यस्य प्रसादाद् वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णे पथि संचरामः॥ १।७।
३. दिवं यियासुर्मम वाचि मुद्रामदत्त यां वाक्पतिराजदेवः।
तस्यानुजन्मा कविबान्धवस्य भिनत्ति तां सम्प्रति सिन्धुराजः॥ १।८

सर्वथा सहायक है। तैलप द्वितीय ने ईस्वी ९९३–९९७ के बीच मुञ्जराज को मार डाला, जिसके पश्चात् सिन्धुराज सिंहासन पर बैठा, परन्तु १०१० ईस्वी में गुजरात के सोलंकी राजा चामुण्डराय के हाथों मारा गया। ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि सिन्धुराज के उत्कर्ष काल में इस काव्य की रचना की गई और यह काल अनुमानतः १००५ ईस्वी के आसपास पड़ता है। फलतः ११ शती के आरम्भकाल में ही नवसाहसांकचरित की रचना सम्पन्न हुई। मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में इनके पद्यों का उद्धरण भी इस काल-निर्णय का पोषक है। ११ वीं शती के उत्तरार्ध में काश्मीर में विश्रुत होने वाले काव्य की रचना यदि पचास साल पूर्व हुई हो, तो यह सर्वथा समुचित है।

कवि की योग्यता—'मृगाङ्कदत्त' के पुत्र, 'परिमल' अपर नामधारी पद्मगुप्त के देश का परिचय ग्रन्थ में नहीं मिलता, परन्तु काश्मीर के ही मम्मट तथा क्षेमेन्द्र (दोनों ११ शती उत्तरार्ध) द्वारा सर्वप्रथम उद्धृत किये जाने से यह अनुमान असंगत नहीं प्रतीत होता कि ये कश्मीर के ही निवासी थे। मम्मट ने विभिन्न अलंकारों के दृष्टान्त के लिए इनके चार पद्यों को उद्धृत किया है[1]। क्षेमेन्द्र द्वारा 'औचित्यविचारचर्चा' में परिमल नाम से उद्धृत पद्य किसी राजा की (सम्भवतः मुञ्जराज की) मृत्यु पर शोक-प्रकाशन करता है[2]। परन्तु वह 'नवसाहसांकचरित' में उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः इनका कोई अन्य-काव्य ग्रन्थ हो। पद्मगुप्त राजनीतिक और साहित्यिक इतिहास की परम्परा से पूर्ण परिचय रखते हैं। परमारवंश का वर्णन इस काव्य के ११ वें सर्ग (श्लोक ७१–१००) में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है और वह शिलालेखों के साक्ष्य द्वारा प्रामाणिक सिद्ध होता है। भोजप्रबन्ध ने तो सिन्धुराज की सत्ता को ही उड़ा दिया था। उसे इस काव्य ने सिद्ध किया और पूर्णतया सिद्ध किया। ये विक्रमादित्य तथा सातवाहन के द्वारा कवियों के आश्रयदान[3] की तथा राजा श्रीहर्ष द्वारा बाण और मयूर के एकत्र संघटित किये जाने की घटना से परिचय रखते हैं[4]।

पद्मगुप्त उस वैदर्भ मार्ग के कवि हैं जिस पर चलना उनकी दृष्टि में 'तलवार के धार पर धावनों है' (निस्त्रिंशधारा सदृश १।५)। इस मार्ग के सर्वाधिक प्रख्यात काश्मीरी कवि भर्तृमेण्ठ के लिए उनके हृदय में बड़ा सम्मान है और उनके अनुकरण कर्ता कवियों के पूर्णचन्द्र से अधिक यश से सम्पन्न होने के तथ्य के वे उद्घाटक हैं (१।६)। महाकवि कालिदास वैदर्भमार्ग के विश्व-विश्रुत कवि होने के नाते उनके आराध्य और आदर्श हैं। इनकी कविता के विषय में उनकी यह मार्मिक सूक्ति है (२।९३)—

---

१. काव्यप्रकाश १० उल्लास में एकावली, पर्याय, तथा विषम अलंकार के क्रमशः उदाहरण में नवसाहसांकचरित के १।२१, ६।६०, तथा १६।२८, १।६२ पद्य उद्धृत किये गये हैं।

२. काव्यमाला गुच्छक प्रथम, पृ० १२६।

३. अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्तं सातवाहने।
कविमित्रे विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती॥ ११।९३।

४. स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥ २।१८।

प्रसादहृद्यालङ्कारैस्तेन मूर्तिरभूष्यत ।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव ।।

कालिदास की कविता के समान ही पद्मगुप्त की वाणी प्रसादमयी है और हृदय को आकृष्ट करनेवाले अत्यन्त उज्ज्वल अलंकारों से विभूषित है। मेरी दृष्टि में कालिदासीय वैदर्भी का इतना सफल तथा आवर्जक उपासक दूसरा कवि खोजने पर भी न मिलेगा। उपमा का चमत्कार नितरां स्पृहणीय है, तो कल्पना की उड़ान ऊँची तथा मौलिक है। अलंकारों की योजना बेतुकी न होकर नितान्त सुरुचि-सम्पन्न तथा मूल रस की भावना को बढ़ाने वाली है। तथ्य यह है कि इनके अलंकार 'अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य' है—बिना किसी प्रयास के ही अलंकार स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। समग्र काव्य में श्रृंगाररस ही अंगी रस के रूप में उपन्यस्त है; इस रस के चित्रण में कवि नितान्त संयम से काम लेता है—न इतना अधिक कि अश्लीलता की कोटि को स्पर्श करे और न इतना कम कि हृदय में गुदगुदी ही न पैदा करे। कवि मध्यम-मार्ग का उपासक है इस विषय में। पात्रों का चित्रण सुरुचिपूर्ण है। प्रकृति का विन्यास, सूर्योदय, सूर्यास्त, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि का वर्णन परम्परानुसारी होने पर भी नई सूझ-बूझ का प्रकाशक है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पद्मगुप्त में हृदयपक्ष तथा कलापक्ष—दोनों का मञ्जुल सामञ्जस्य सहृदयों के हृदयावर्जन में सर्वथा समर्थ है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगा।

अन्धकार के वर्णनके अवसर पर कवि की यह मनोरम सूझ देखिये (१२।४५)—

उदरस्थितयोः कुतूहलाद् अलिनोः श्रोतुमिवास्फुटं वचः ।
कमलस्य निलीय निश्चलं दलसन्धिष्ववतिष्ठते तमः ।।

कमल के कोश के अन्दर बैठे हुए भ्रमर दम्पति के प्रेमभरे अटपटे वचनों को सुनने के लिए ही मानों अँधेरा उत्सुकता से छिप-छिप कर कमल की पँखुड़ियों के जोड़-जोड़ में बैठ गया है। आशय है कि भ्रमरदम्पति के प्रेमालाप को सुनने के लिए मानों अन्धकार-रूपी लम्पट कमल-कलियों के जोड़-जोड़ पर बैठा है।

साहित्य रस की प्रशस्ति में कवि की मार्मिक उक्ति है (१।१४)—

नमोऽस्तु साहित्यरसाय तस्मै निषिक्तमन्तः-पृषतापि यस्य ।
सुवर्णतां वक्त्रमुपैति साधोर्दुर्वर्णतां याति च दुर्जनस्य ।।

उस साहित्य रस को नमस्कार है जिसका एक कण भी अन्तःकरण को छू कर सहृदयों के मुख को सुवर्णता (आनन्द से चमत्कृति) प्रदान करता है और दुर्जन के मुख को विवर्ण (मलिन) बना देता है। यहाँ 'रस' शब्द में चमत्कार है। यह पारद की ओर भी संकेत करता है जिसका एक कण भी सुवर्ण बनाने में समर्थ होता है (१।६२) :—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ।।

यह बड़ी विचित्र बात है कि तमालतरु के समान नीलवर्ण वाली तलवार उस राजा के हाथ का स्पर्श करते ही त्रिलोकी का भूषण रूप शरत्कालीन चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश को पैदा करती है। काली वस्तु सफेद चीज पैदा करती है—विषमालंकार।

(२) बिल्हण

कश्मीरनिवासी महाकवि बिल्हण ने अपने महाकाव्य 'विक्रमांकदेवचरित' के अन्तिम १८ वें सर्ग में जो अपना जीवनचरित लिखा है, वह अनेक दृष्टियों से महत्त्व रखता है। उनके जीवन का पूरा नक्शा हमारे सामने खिंच जाता है। काश्मीर के राजा गोपादित्य ने बिल्हण के पूर्वपुरुष, प्रपितामह मुक्तिकलश को मध्यदेश से लाकर अपने यहाँ सम्मान के साथ रखा (विक्रमांक० १८।७३)। इनके पितामह का नाम था राजकलश और पिता का ज्येष्ठकलश (जिन्होंने पातञ्जल-महाभाष्य की किसी लोकप्रिय टीका का प्रणयन किया था), माता का नागदेवी। बिल्हण अपने पिता-माता के मध्यम पुत्र थे, अग्रज का नाम इष्टराम तथा अनुज का आनन्द था। इनकी शिक्षा-दीक्षा कश्मीर में ही हुई थी। कश्मीर के ऊपर बिल्हण को बड़ा ही गर्व था। वे उसे सरस्वती के प्ररोह की मुख्य स्थली मानते थे—केसर तथा कविता कश्मीर को छोड़कर अन्यत्र नहीं उपजती। वहाँ की विशिष्ट क्रीडा का यह वर्णन आज भी यथार्थ है—

> यत्र स्त्रीणां मसृणघुसृणालेपनोष्णा कुचश्री-
> स्ता: कस्तूरीपरिमलमुचः पट्टिका राङ्कवाणाम्।
> नौपृष्ठस्थाः शिशिरसमये ते वितस्ता-जलान्तः-
> स्नानावासाः प्रचुरमपि च स्वर्गसौख्यं दिशन्ति ॥

इस पद्य में वर्णित कस्तूरी के गन्ध से सिक्त पश्मीने (राङ्कव) की पट्टियाँ तथा वितस्ता के भीतर चलनेवाले शिकारा तथा नौका-गृह (हाउस बोट) का आनन्द आज भी स्वर्ग का सौख्य प्रदान करता है।

अपने कवित्व के प्रदर्शन के निमित्त बिल्हण ने पूरे भारत की साहित्यिक यात्रा सम्पन्न की। उनकी इस यात्रा के प्रमुख देश तथा नगर थे—कश्मीर, वृन्दावन, मथुरा (पण्डितों को पराजित किया)—कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी, डाहल (राजा कर्ण के सभा-कवि गङ्गाधर का पराजय), धारा, गुजरात (राजा कर्णदेव के द्वारा प्रभूत सत्कार)—अनहिलवाड़,सोमनाथ, कल्याण। आश्रयदाता की खोज में दक्षिण भारत के कल्याण नगर के चालुक्यवंशीय नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६ ई०—११२७ ई०) के दरबार में जा पहुँचे। गुणग्राही राजा ने इनका खूब सत्कार किया तथा विद्यापति की उपाधि से मण्डित किया। जीवनभर वहीं बने रहे। गंगा के किनारे अपने शेष दिन बिताने की इन्होंने अभिलाषा प्रकट की है, परन्तु पता नहीं चलता कि यह अभिलाषा पूर्ण हुई या नहीं? ये अन्तिम समय में काशी आये या कल्याण में ही अपनी जीवनालीला संवृत की?

बिल्हण का समय राजाओं के निर्देश से निश्चित किया जा सकता है। काश्मीर के तीन राजाओं के ये समकालीन थे। राजा अनन्त की रानी सूर्यमती (सुभटा) प्रख्यात थी। इनके पुत्र राजा कलश के तीन पुत्र थे—हर्षदेव, उत्कर्ष तथा विजयमल्ल। राजतरंगिणी में इनकी विशेष चर्चा है। अनन्तदेव के राज्यकाल में ही जब कलश युवराजपद पर अभिषिक्त हुए (१०६२ ई०), तब बिल्हण ने कश्मीर से प्रस्थान किया। अनन्त की

मृत्यु १०८० ई० में हुई जिसके अनन्तर इन्होंने अपना महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का प्रणयन किया। हर्षदेव का राज्याभिषेक १०८८ ई० में हुआ था। यह अशेष देश-भाषाओं का ज्ञाता, सर्वभाषाओं में सत्काव्य का प्रणेता केवल काश्मीर में ही प्रख्यात न था, प्रत्युत इसकी कीर्ति देशान्तरों में भी पहुँची थी।[1] बिल्हण भोजराज का निःसन्देह समकालीन था। राजा अनन्त की रानी सूर्यमती के भाई क्षितिराज को इन्होंने भोज के समान ही 'कवि-बान्धव' कहा है। कल्हण ने भी इनका उल्लेख किया है।[2] फलतः इनका आविर्भाव काल ११ वीं शती का उत्तरार्ध मानना सर्वथा तर्कयुक्त है।

बिल्हण स्वभाव से मानी थे, राजाओं के दोषों को प्रकट करने में समर्थ थे, अपने समय में भी एक लोकप्रिय कवि थे जिनके काव्य को लोग बड़े चाव से पढ़ते थे (१८।८१)। थे तो वे शिवोपासक शैव ही, परन्तु उनमें धार्मिक सहिष्णुता पूरी थी। इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने **कर्णसुन्दरी** नाटिका में 'जिन' की भी भव्य स्तुति लिखी है। इनके तीन काव्य प्रख्याति-प्राप्त हैं—(१) विक्रमाङ्कदेवचरित महाकाव्य, (२) कर्णसुन्दरी नाटिका, (३) चौर-पञ्चाशिका (गीतिकाव्य)। विक्रमाङ्कदेवचरित ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें वीररस का प्राधान्य है। नाटिका में शृङ्गार का प्रामुख्य है और चौर-पंचाशिका में विशेषतः वियोग का प्राचुर्य है। तीनों अपने विषय में प्रख्यात काव्यग्रन्थ हैं। वीररसाश्रयी महाकाव्य में ऋतुओं का तथा प्रकृति का चित्रण पर्याप्तरूपेण चमत्कारी है। वसन्त का वर्णन है, सप्तम तथा दशम सर्गों में, ग्रीष्म का १२ वें में, वर्षा का १३ वें में, शरद का १४ वें में तथा हेमन्त का १६ वें सर्ग में। बिल्हण की प्रमुख शैली वैदर्भी है, जिसके द्वारा इन्होंने कालिदास के पद्यों का अनुकरण बड़ी सफलता से किया है। प्रतिभा अनूठी है और कहने का प्रकार अपनी विशिष्टता से मण्डित है। चालुक्यवंशी नरेश का यह चरित-प्रधान काव्य इतिहास से विरुद्ध नहीं जाता, जिसका विवरण तत्कालीन शिला-लेखों में हमें उपलब्ध होता है। इतना तो निश्चित है कि कवि का उद्देश्य विशुद्ध इतिहास का लेखन नहीं है। वह तो इतिहास के बहाने काव्य का प्रणयन करता है। फलतः इस काव्यमय उद्देश्य की यथेष्ट पूर्ति इस महाकाव्य में लक्षित होती है।

अपने ग्रंथ **'विक्रमांकदेव चरित'**[3] में इन्होंने चालुक्यवंशी नरेश राजा विक्रमादित्य के ऐतिहासिक चरित का वर्णन साहित्य की सरस शैली में निबद्ध किया है। आरम्भ तो होता है वंश के मूल पुरुष चालुक्य से, जो ब्रह्मा के चुलुक से उत्पन्न होने के कारण इस नाम से अभिहित किये गये। अनेक राजाओं के निर्देश के अनन्तर काव्य-नायक के पिता आहवमल्ल का (सन् १०४०–१०६९) विशेष रूप से वर्णन है। शंकर की आराधना से इन्हें तीन पुत्र उत्पन्न हुए—सोमेश्वर, विक्रमादित्य और जयसिंह। राजा मध्यम पुत्र को ही युवराज

---

१. **सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः।**
कृत्स्नविद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि ॥ (राजतरङ्गिणी ७।६१०)

२. **स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ**
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ ॥ (वही ७।२५९)

३. **सरस्वती-भवन संस्कृत टेक्ट्स में प्रकाशित, वाराणसी।**

बनाना चाहता था। परन्तु उन्होंने अग्रज के रहते राज्य नहीं स्वीकार किया। सांघातिक ज्वर की असह्य पीडा की शान्ति आहवमल्ल ने तुंगभद्रा के किनारे जाकर अपने प्राण परित्याग से की। कवि इसके अनन्तर तीनों भाइयों में राजगद्दी के लिए होने वाले संघर्ष का वर्णन करता है। तीनों में मध्यम भ्राता विक्रमादित्य ही ने चोलदेश के राजा को परास्त कर अपने को सिंहासनारूढ़ बनाया। वह राजपूत राजकुमारी चन्दलदेवी के स्वयंवर का समाचार सुनता है तथा वहाँ पहुँचने पर राजकुमारी उसे चुन लेती है। राजकुमारी को वह वधू रूप में प्राप्त करता है। तदनन्तर वसन्त का रमणीय वर्णन है (सर्ग ८), पुष्पावचय, सहस्नान तथा मधुपान का विस्तृत वर्णन किया गया है (सर्ग ९–११)। इस प्रसंग में एक पूरा सर्ग (सर्ग १२) केवल स्नान के दृश्यों में विरचित है और उसके बाद वर्षाकाल का सुभग चित्रण है (सर्ग १३), परन्तु छोटा भाई जयसिंह उपद्रव करने लगा था जिससे उसका दमन करना पड़ा, परन्तु उसका अपराध क्षमा कर दिया गया (सर्ग १४–१५)। मृगया का वर्णन बड़ा रोचक है (सर्ग १६)। राजा ने विक्रमपुर नामक नगर बसाया, कमलाविलासी विष्णु का मन्दिर बनवाया, काञ्ची पर अधिकार किया और सुख से राज्य किया (सर्ग १७)। अन्तिम सर्ग में कवि की रोचक आत्मकथा है।

इस काव्य को इतिहास की कसौटी पर कसने से अनेक त्रुटियाँ लक्षित होंगी, परन्तु काव्य की दृष्टि से यह अनुपम रचना है—मौलिक, रसपेशल तथा चमत्कार-मण्डित। वैदर्भी रीति का अनुसरण बड़ा सुन्दर है तथा भाषा प्राञ्जल और सरल-स्पष्ट है। वे श्लेष तथा अनुप्रासादि के प्रयोग में अत्यधिकता नहीं करते। परम्परानुगत ऋतुओं का वर्णन चमत्कार से मण्डित है। कालिदास का प्रभाव विशेषरूपेण लक्ष्य है, विशेषतः स्वयंवर-वर्णन इन्दुमती-स्वयंवर के वर्णन की सफल प्रतिच्छाया है। चतुर्थ सर्ग में राजा आहवमल्ल की मृत्यु का चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है। यह स्वाभाविक कारुण्य का सुन्दर वर्णन है जिसमें मरणासन्न राजा की महत्ता और धैर्य का प्रभावशाली चित्रण है। रसों में वीररस की प्रधानता है, परन्तु करुण तथा शृंगार का भी यहाँ सफल अंकन है। बिल्हण कविगोष्ठी में अपनी कल्पनाप्रौढ़ि के लिए नितान्त विश्रुत हैं। इनके वर्णनों में कवि की स्वच्छ प्रतिभा, ऊँची कल्पना, कमनीय पदयोजना तथा रोचक यथार्थता पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है। कश्मीर के दृश्यों का सरस चित्रण नितान्त आकर्षक है। अपने पैतृक स्थान 'खोनमुख' का यह वर्णन कितना सुन्दर तथा चित्रात्मक है—

ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानां
　किं श्रीकण्ठश्वसुरशिखरिक्रोडलीलाललाम्नः।
एको भागः प्रकृतिसुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते
　द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम्॥

अद्भुत कथाओं के प्रथम निवास स्थान और शिव के श्वसुर हिमालय पर्वत की गोद के लीलामय भूषण उस खोनमुख के विषय में हम क्या कहें? जिसके एक भाग में स्वाभाविक सुन्दरता से युक्त कुंकुम पैदा होता है, और दूसरे भाग में सरयू के किनारे पर उगने वाले रसभरे पौंड़ों (ऊख) के टुकड़े के समान पाण्डुवर्ण के अंगूर उपजते हैं"। प्रतीत होता है कि प्रथम चरण में बिल्हण अपने जन्म-स्थान को 'बृहत्कथा' के उद्गम स्थल होने की ओर

संकेत करते हैं। काशी में भागीरथी के तीर पर अपने अन्तिम दिनों को तपस्या तथा शिवाराधन में बिताने वाले शिवभक्तों का यह चित्रण नितान्त सुभग है (विक्रमांक० १८।५०) :—

मन्दाकिन्याः पवनचटुलोत्तालवीचिदुकूल-
कूलोत्संगे विरचितवतां योगनिद्रानियोगम्।
शेषाः केषामपि परिणतौ वासराः पुण्यभाजां
शान्तस्वान्तः-स्थितिगिरि-सुतावल्लभानां प्रयान्ति॥

बिल्हण राजाओं को सन्तत उपदेश देते थे कि सुकवि जनों के प्रति विरोध छोड़ कर प्रेम तथा आदर करना सीखो। सन्तुष्ट कवियों के द्वारा निबद्ध रामकथा को गौरव मिला और क्रुद्ध कवियों के द्वारा ही त्रिभुवन-विजयी रावण हास्यास्पद बना—

हे राजानः त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धा कीर्तिः स्फुरति भवतां नूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्रं
क्रुद्धैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः॥

खलों के प्रति उनकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है (१।२९)—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलस्य।
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव॥

दुर्जन लोग सुन्दर-रसीली कविता का रसास्वादन छोड़ कर केवल दोषों के खोजने में लग जाते हैं। सुन्दर केलिवन में प्रविष्ट हुआ ऊँट केवल काँटों को ही देखता है, कोमल पत्तों और फूलों पर उसकी दृष्टि कभी नहीं जाती। बिल्हण की प्रौढोक्ति का द्योतक यह पद्य रमणीय तथा हृदयावर्जक है (सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० ५९५)—

हेमाम्भोरुहपत्तने परिमलस्ते नो वसन्तानिल-
स्तत्रत्यैरिव यामिकैर्मधुकरैरारब्धकोलाहलः।
निर्यातस्त्वरया व्रजन् निपतितः श्रीखण्डपङ्के द्रवै-
र्लिप्तो केरलकामिनीकुचतटे खञ्जः शनैर्गच्छति॥

पद्य में वासन्ती वायु का बड़ा ही सुन्दर रसपूर्ण तथा चमत्कारी वर्णन है। पद्य का आशय है कि सुवर्ण-कमल के नगर में वसन्त की हवा ने सुगन्ध को चुराया, तब मानों रक्षक के रूप में रहने वाले भौरों ने बड़ा शोर मचाना शुरू किया। जल्दी से वायु वहाँ से भागा, परन्तु केरली ललनाओं के कुच तट में लेपे गये चन्दन के कीचड़ में धँस जाने से वह लँगड़ाने लगा और यही कारण है कि मलयमारुत धीरे-धीरे बहता है। उत्प्रेक्षा बड़ी सुन्दर है और वासन्ती वायु के मन्दगमन के कारण की खोज सचमुच बिल्हण के सहृदयत्व का परिचायक है।

(३) कल्हण

आधुनिक ऐतिहासिक रीति से साधनों के पर्यालोचन के आधार पर निर्मित **राजतरंगिणी** प्राचीन कश्मीर का एक महनीय इतिहास-ग्रन्थ है और इसके विद्वान् रचयिता का नाम

कल्हण है। राजतरंगिणी कश्मीर के राजनैतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा को जानने के लिए सचमुच एक विश्वकोश है। बीसवीं शती की वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति से परीक्षा करने पर यह बिल्कुल ठीक, प्रामाणिक तथा खरा नहीं ठहर सकता, तथापि अपनी व्यापक दृष्टि तथा आधारभूत ग्रन्थों के पर्याप्त उपयोग के कारण राजतरंगिणी वस्तुतः संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इसके मर्मज्ञ रचयिता कल्हण कश्मीर के निवासी थे। आढ्य ब्राह्मणवंश में उत्पन्न होने के कारण तथा राजदरबार के जीवन को नजदीक से देखने के हेतु कल्हण का अनुभव विशेष रूप से विशाल तथा विस्तृत था। इनके पिता **चणपक** तत्कालीन कश्मीर-नरेश हर्षदेव (१०८९–११०१ ई०) के प्रधान अमात्य थे, जो अपने आश्रयदाता के सुख में तथा दुःख में, उन्नति में तथा अवनति में, ह्रास में तथा विलास में समभावेन एकनिष्ठा से सेवा करना जानते थे तथा राजा की हत्या किये जाने पर जिन्होंने सेवाकार्य से सदा के लिए संन्यास ले लिया। इनके पितृव्य **कनक** भी हर्ष के कृपापात्रों में तथा विश्वासी अनुजीवियों में से थे, जिन्होंने जीवन की सन्ध्या में कश्मीर से नाता तोड़कर काशी में आकर निवास किया था। कल्हण का वास्तव संस्कृत नाम **कल्याण** था, जिन्होंने अलकदत नामक किसी विशेष पुरुष की छत्रछाया को अपने कल्याण तथा ग्रन्थ-निर्माण के लिए अपनाया था। यदि ये चाहते तो अपने पिता के समान ही राज्य के उच्च अधिकार-पद पर प्रतिष्ठित हो सकते थे, परन्तु तत्कालीन राजनैतिक संघर्ष तथा परिवर्तन के युग में इन्होंने अपने को अधिकार-पद से वंचित रख कर राजदरबारों की गाथा निबद्ध करने में ही अपने को निमग्न किया। इसलिए वह निष्पक्ष दृष्टि से घटनाओं के अवलोकन में सर्वथा समर्थ हैं। इन्होंने राजतरंगिणी की रचना सुस्सल के पुत्र राजा जयसिंह (११२७-११५९ ई०) के राज्यकाल में की। सन् ११४८ ईस्वी में कल्हण ने इतिहास लिखना आरम्भ किया तथा सन् ११५० ईस्वी में उन्होंने दो वर्षों के भीतर ही इसे समाप्त किया।

राजतरंगिणी में आठ तरंग हैं, जिनमें आठवाँ तरंग समग्र ग्रन्थ के आधे से भी मात्रा तथा परिमाण में बढ़कर है। कल्हण का श्लाघनीय उद्योग था—कश्मीर के अत्यन्त प्राचीन काल से आरम्भ कर अपनी १२ वीं शती तक के इतिहास का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करना। राजतंरिणी के आरम्भ के तरंगों में वर्णित भूपाल पौराणिक गाथा के आधार पर आश्रित होने के कारण अनेक अंशों में कल्पना-जगत् के ही जीव हैं, प्रामाणिक इतिहास के पात्र नहीं। परन्तु ज्यों-ज्यों कवि अपने समय की ओर ढलता गया है, त्यों-त्यों उसका इतिहास प्रामाणिक, खरा तथा सच्चा उतरता गया है। आरम्भ तो होता है विक्रमपूर्व द्वादश शती के किसी गोनन्द नामक राजा के वर्णन से, परन्तु ग्रन्थ के आरम्भिक तीन परिच्छेदों में राजाओं का निर्देश बिना किसी काल या तिथि के उल्लेख से ही किया गया है। सर्वप्रथम निर्दिष्ट की गयी तिथि ८१३-१४ ईस्वी है और यहाँ से आरम्भ कर ११५० ईस्वी तक की घटनायें, अर्थात् चार सौ वर्षों का इतिहास नितान्त पूर्ण, विशेष प्रामाणिक तथा एकान्त वैज्ञानिक प्रतीत होता है, क्योंकि यह पूर्ण ऐतिहासिक शैली पर निर्मित हुआ है। अष्टम तरंग की घटनाएँ तो कवि के साक्षात् दर्शन तथा प्रभूत अनुभव के ऊपर आश्रित होने से विशेषतः प्रामाणिक हैं।

कल्हण की ऐतिहासिक दृष्टि अर्वाचीन इतिहासवेत्ता की शोधक दृष्टि के समान है, जो अपने उपकरणों तथा साधनों को पर्याप्त परीक्षण के अनन्तर ही ग्रहण करता है। वे अपने देश के इतिहास तथा भूगोल से गाढ़ परिचय रखते हैं। उन्होंने प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी ग्यारह ग्रन्थों का उपयोग इस इतिहास में पूरी छानबीन के बाद किया, जिनमें केवल 'नीलमत पुराण' ही आज उपलब्ध है। सुव्रत पण्डित का ग्रन्थ दुष्ट-वैदग्धी से तीव्र होने के कारण विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सका (१।११-१२)। क्षेमेन्द्र की 'नृपावली' कवि की रचना होने से रमणीय अवश्य थी, परन्तु अनवधानता के कारण इसका कोई भी अंश दोष-विरहित नहीं था[1]। हेलाराज के ग्रन्थ **पार्थिवाली** से भी अनेक राजाओं के नाम तथा धाम संकलित किये गये हैं, परन्तु कल्हण पण्डित मार्मिक शोधक थे, फलतः उन्होंने शिलालेख, दानपत्र, प्रशस्ति आदि अन्य ऐतिहासिक उपकरणों की सहायता से अपने ग्रन्थ को भरसक पूर्ण तथा प्रामाणिक बनाया है। उदार दृष्टि होने के कारण कल्हण संकीर्णता तथा एकदेशीयता के जाल से बिल्कुल बचे हैं। वे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुयायी शैव थे; तन्त्रों में उनकी पूरी आस्था थी, परन्तु कदाचारी तान्त्रिकों के दुराचारों तथा दुष्ट-प्रवृत्तियों की निन्दा करने में वे तनिक भी पराङ्मुख नहीं हुए।

शैव होने पर भी वे बौद्धधर्म पर अविश्वास तथा अनास्था की दृष्टि नहीं रखते, प्रत्युत उसके अहिंसातत्त्व के पूर्ण प्रशंसक हैं। बौद्धधर्म ने कश्मीर की घाटी में विशेष रूप से घर कर लिया था, तथा जनता के हृदय में प्रतिष्ठित हो गया था। इसलिए कल्हण ने महाराज अशोक के बौद्धधर्माश्रयी कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, तथा कश्मीर नरेशों के द्वारा बौद्ध मन्दिरों और विहारों के निर्माण का उल्लेख प्रशंसात्मक शब्दों में किया है। कल्हण ने लिखा है कि उदाराशय कश्मीर-नरेश अधिकार पद पर प्रतिष्ठा के लिए योग्यता की कद्र करते थे। योग्य व्यक्तियों को भिन्न धर्मानुयायी होने पर भी उच्च पदों पर रखने से कभी वंचित नहीं रखते थे। **ललितादित्य** कश्मीर के विशेष मान्य शैव राजा थे, परन्तु इनका अग्रमन्त्री तुषार देश का निवासी था। नाम था चंकुण। इसने अष्टम शतक में अपने नाम पर 'चंकुण-विहार' नामक एक सुन्दर विहार बनवाया और मगधदेश से राजा के द्वारा लाई गयी विशालकाय बौद्ध-प्रतिमा को अपने विहार में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार की धार्मिक सहिष्णुता तथा बौद्ध-शैव सहयोग के अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत कर कल्हण पण्डित ने अपनी उदार बुद्धि तथा विवेक का गाढ़ परिचय हमें दिया है।

कल्हण खरा, निष्पक्ष ऐतिहासिक था। आजकल के पाश्चात्त्य ऐतिहासिकों में यह दोष विशेषतः जागरूक रहता है कि ये अपने ही देश की गौरव-गाथा गाने में, चाहे वह कितना भी छिद्रों तथा दोषों का शिकार हो, कभी नहीं चूकते। परन्तु वह पक्षपात और संकीर्ण जातीयता से एकदम उन्मुक्त तथा स्वतन्त्र है। काश्मीरी होने पर भी कल्हण काश्मीरियों की भीरुता तथा मिथ्याभाषण, संग्राम से पलायनवृत्ति, परस्पर कलह तथा विद्रोह, पक्षपात तथा दुराग्रह, संघर्ष तथा संग्राम, क्षुद्रता तथा हृदय-दौर्बल्य के विवरण

---

१. **केनाप्यनवधानेन कवि-कर्मणि सत्यपि।**
अंशोऽपि नास्ति निर्दोषः क्षेमेन्द्रस्य नृपावलौ॥ (१।१३)

देने में कभी नहीं चूकता। ब्राह्मणों के दोषों को बतलाने तथा निकालने में भी वह पराङ्-मुख नहीं होता। वह काश्मीरी सैनिकों की भीरुता तथा दगाबाजी की खूब निन्दा करता है, परन्तु अन्य प्रान्तीय राजपूत सिपाहियों की वीरता की प्रशंसा करने में वह सदा अग्रसर है। वह अपने आदर्श को लक्ष्य रख कर कहता है—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

प्रशंसा का पात्र वही गुणवान् पुरुष होता है, उचित न्याय करनेवाले न्यायाधीश के समान जिसकी वाणी बीते हुए अर्थ तथा घटना के वर्णन करने में दृढ़ रहती है और वह न किसी के ऊपर पक्षपात करती है और न किसी के साथ द्वेष ही रखती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि कल्हण पण्डित ने अपने इतिहास में इस आदर्श का परिपालन पूर्ण रूप से किया है। इसी कारण राजतरंगिणी मानवों के हृदय परखने के लिए, अतीत को बिल्कुल प्रत्यक्ष बनाने के लिए तथा इतिहास की मार्मिक घटनाओं से उपयोगी शिक्षा तथा मननीय उपदेश ग्रहण करने के लिए आज भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है। कल्हण के अर्वाचीन दृष्टि-कोण में तथा उसके सहानुभूतिपूर्ण हृदय में इस महत्त्व का रहस्य छिपा हुआ है। इस प्रकार कल्हण इतिहास की कल्पना में पक्का यथार्थवादी है, जो कल्पना-जगत् में विचरण न कर अपने ठोस अनुभव के ऊपर ही घटनाओं के वर्णन को श्रेयस्कर समझता है। वह इतिहास के कारुणिक मानव पक्ष का अनुयायी है। उच्च धनाढ्य कुल में उत्पन्न होने से वह स्वय कमी तथा आवश्यकताओं को नहीं जानता था; तथापि समाज के दीन-हीन पददलित लोगों से उसे पूर्ण सहानुभूति थी। इसीलिए उसका यह ग्रन्थ राजाओं के उथल-पुथल का इतिहास होने के अतिरिक्त मानवीय उदात्त भावनाओं को अंकित करने वाला एक श्लाघनीय प्रयत्न है और यही इसका ऐतिहासिक मूल्यांकन है। हरिजनों के साथ बर्ताव, राजनैतिक उद्देश्य से उपवास कराना आदि अनेक घटनायें वर्तमान युग की राजनैतिक समस्याओं के सुलझाने की दिशा की ओर पूर्ण संकेत बतलाती हैं।

काव्यसुषमा—कल्हण अपने को इतिहासवेत्ता न मानकर विशेष रूप से कवि मानता है। वह कवि के महनीय गुणों से पूर्ण परिचित है। वह जानता है कि सुकवि की वाणी अमृत रस को भी तिरस्कार करनेवाली होती है। अमृत के पीने से केवल पीने वाला ही अमर बन जाता है, परन्तु कवि की वाणी दोनों के (अपने तथा अपने वर्णित पात्रों के) यशरूपी शरीर को अमर बना देती है—

वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।
येनायाति यशःकाये स्थैर्यं स्वस्य परस्य च॥ (१।३)

वह कवि की तुलना प्रजापति ब्रह्मा के साथ करता है; क्योंकि दोनों रम्य निर्माणशाली होते हैं तथा अतीत काल को साक्षात् प्रस्तुत करने की अलौकिक क्षमता से मण्डित होते हैं—

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः॥ (१।४)

राजतरंगिणी काव्यदृष्टि से भी एक महर्घ रत्न है जिसकी प्रभा आज भी उतनी ही आनन्ददायिनी है तथा जिसकी वर्णनशैली सहृदयों को आज भी अपनी सरलता और

सरसता से सद्यः आवर्जित कर रही है। कल्हण वाल्मीकि तथा व्यास के काव्यरत्नों से पूर्ण परिचित तथा प्रभावित हैं। काश्मीरी कवियों में उन्होंने बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित का गाढ़ अनुशीलन किया था और इसका प्रभाव उनकी कविता पर पूर्ण रूप से पड़ा है। श्रीकंठ-चरित के लेखक मंखक ने स्पष्ट ही लिखा है कि कल्हण ने अपने काव्य-दर्पण को इतना रमणीय तथा साफ कर रखा है कि उसमें बिल्हण की प्रौढ़ोक्ति सद्यः प्रतिबिम्बित होती है।[1] अपने प्रतिभाप्रसार तथा वैचित्र्य-वर्णन के लिए पूर्ण अवसर न पाकर खेद प्रकट किया है, परन्तु उनकी यह माध्यस्थ-वृत्ति हानि उत्पन्न न कर कविता के लिए लाभकारी ही सिद्ध हुई है। हर्ष की कुटिलता तथा दुष्टता को उन्होंने अपनी आँखों देखा था और देखा था उच्चल तथा सुस्सल के परस्पर संघर्ष एवं मारकाट को। फलतः जगत् के व्यापारों से उन्हें नैसर्गिक उपरति हो गई थी। इसीलिए वे शान्तरस को अपने काव्य का प्रधान रस मानते हैं। संसार के पचड़े की सूक्ष्म दृष्टि से निरखने वाला कल्हण भाग्य की दुर्दमनीयता तथा अवश्यंभाविता में पूर्ण विश्वास रखता है। वह अपने इतिहास को अपना काव्यकौशल प्रदर्शित करने तथा जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। वह अपनी कविता को अलंकारों की सजावट, शब्दों के चमत्कार तथा चाकचिक्य से कोसों दूर रखता है। उसके काव्य में एक विलक्षण सरलता तथा हृदय आकर्षण करने वाली साक्षात्-वृत्तिता है। कल्हण की कविता वर्णनात्मिका है, परन्तु उसमें पर्याप्त गति है; मनोहरता है और सबसे अधिक है लेखक की स्वतः अनुभूति का अंकन, जो उसमें जीवन-शक्ति डालने में सर्वथा समर्थ हुआ है। चरित्र-चित्रण में वह नितान्त सफल है। आरम्भिक नरपति तो केवल कल्पना-प्रसूत चरित्रों की कोटि में आते हैं, परन्तु पिछले राजाओं, जैसे अनन्त, अवन्तिवर्मा, हर्ष आदि का चित्रण वैयक्तिकता तथा यथार्थता से परिपूर्ण है। वर्णन में वह कविता के क्षुण्ण मार्ग से अपने आपको स्वतन्त्र रखता है और इस दृष्टि से उसका काव्य बाण तथा बिल्हण के काव्यों के प्रभूत आलंकारिक वैचित्र्य से कहीं अधिक मनोहर और हृदयावर्जक है। तथ्य यह कि कल्हण की अपनी एक विशिष्ट शैली है जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है, घटना का अनुभूतिपूर्ण विवरण ही मुख्य उद्देश्य है। और इसी से शब्दों की सजावट तथा स्निग्धता की ओर उनकी दृष्टि अधिक नहीं है।

कविकर्म की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कवि कह रहा है कि अपने प्रताप से भूमण्डल को निर्भय करने वाले राजाओं का नाम तथा काम कहाँ रहता ? यदि कवि की वाणी उनके चरित्र का रम्य विवरण प्रस्तुत नहीं करती—

> भुज-नवतरुच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
> जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।
> स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
> प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे॥

---

१. तथापचस्करे येन निजवाङ्मयदर्पणः।
बिल्हण-प्रौढि-संक्रान्तौ यथा योगत्वमग्रहीत्॥ (श्रीकण्ठचरित २५।७९)

राजा तारापीड़ के दुष्ट कर्मों का अन्त हुआ—ब्राह्मणों के ऊपर आक्रमण करने से और अपनी मृत्यु से। इस वर्णन में अग्नि और मेघ का दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर तथा रुचिकर हैः—

योऽयं जनापकरणाय श्रयत्युपायं तेनैव तस्य नियमेन भवेद् विनाशः।
धूपं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्निर्भूत्वाम्बुदः स शमयेत् सलिलैस्तमेव॥

अनुष्टुप् छन्द में ही समस्त ग्रन्थ की रचना है, परन्तु स्थान-स्थान पर बड़े छन्दों का भी प्रयोग को रुचिर तथा शैली को मंजुल बनाने के लिए किया गया है। स्निग्ध काव्य-शैली में काश्मीरी राजाओं का संघर्षमय जीवन चित्रित करने में तथा सामान्य जनता के साथ प्रचुर सहानुभूति दिखलाने में राजतरंगिणी भारतीय दृष्टि से आदर्श इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ होती है। उसकी यह विशिष्टता भारतीय साहित्य में कल्हण का अपूर्व कृतित्व है।

काश्मीर के विद्वान् कल्हण की राजतरङ्गिणी की पूर्ति अपनी रचनाओं द्वारा करते आये हैं। इसे पूर्तिकर्ता लेखकों में **जोनराज** अधिक महत्त्वशाली हैं। जोनराज संस्कृत में अनेक टीकाग्रन्थों के निर्माता, हैं विशेष कर 'पृथ्वीराजविजय' जैसे ऐतिहासिक काव्य की टीका के। ये काश्मीर के मुसलमान शासक जैनुल आब्दीन (१४१९ ई०–१४७० ई०) के आरम्भिक युग में वर्तमान थे तथा उसी के राज्यकाल में १४५९ ई० में उनकी मृत्यु हुई। उनकी **राजतरंगिणी**[1] में ९७६ श्लोक हैं। कल्हण और जोनराज के दृष्टिकोण में पार्थक्य है। कल्हण ने अपनी रचना द्वारा धर्मोपदेश देने का लक्ष्य रखा है। विपरीत इसके, जोनराज आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न ऐतिहासिक हैं जिनका इतिहास को यथानुभूत यथार्थ वर्णन करना ही लक्ष्य है। इस दृष्टिकोण के पार्थक्य से दोनों के वर्णन में अन्तर है। जोनराज के बाद **श्रीवर** ने १४५९ ई०–८६ ई० तक का इतिहास अपनी (तृतीय) राजतरंगिणी में निवद्ध किया। **प्राज्यभट्ट** की एतद्विषयक रचना प्राप्त है। **शुक** ने १५९६ ई० तक का इतिहास अपनी (चतुर्थ) राजतरंगिणी में दिया है। इस काल में काश्मीर अकबर के शासन के भीतर आ गया था। फलतः मुगलकाल का इतिहास शुक की राजतरंगिणी में निवद्ध है, जो कल्हण द्वारा प्रारब्ध परम्परा[2] का अन्तिम चरण है।

---

१. डा० रघुनाथ सिंह द्वारा सम्पादित यह राजतरंगिणी चौखम्भा विद्याभवन द्वारा अभी प्रकाशित हुई है (वाराणसी, १९७१)।

२. मूल का संस्करण और अनुवाद—बंगाल की एशिएटिक सोसाइटी के द्वारा, कलकत्ता, १८३५, डाक्टर स्टाइन का संस्करण १८९२ में तथा अंग्रेजी अनुवाद १९०० में। इसी समय पण्डित दुर्गाप्रसाद का सं० निर्णयसागर प्रेस बम्बई १८९२, रणजीत पण्डित का राजतरंगिणी का पूर्ण तथा प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद १९३५; केवल आधे भाग का (१–७ तरंगों का) हिन्दी अनुवाद, काशी १९९८ विक्रमी संवत्। अनुवाद तथा ऐतिहासिक विवेचन के साथ डॉ० रघुनाथ सिंह द्वारा सं०, (२ भाग वाराणसी)।

अकबर बादशाह को राजतरङ्गिणी से बड़ा प्रेम था और इसलिए उसने इसका अनुवाद फारसी में कराया और मुसलमान जनता के भीतर इसे लोकप्रिय बनाया। इसका प्रथम फारसी अनुवाद कश्मीर के राजा जैन उल-आबीदीन (१४२१ ई०–१४७२ ई०) की आज्ञा से किया गया, परन्तु कठिन भाषा में होने के कारण अकबर ने कश्मीर विजय के अनन्तर अल-बदाऊँनी से चलती-फारसी में अनुवाद कराया। जहाँगीर के समय में कश्मीर के ही एक उच्चकुलीन मुस्लिम विद्वान् हैदर मलिक ने इसका फारसी में संक्षिप्त संस्करण किया।

(४) हेमचन्द्र

हेमचन्द्र (१०८९ ई०–११७३ ई०) अपने समय के एक महान् युगस्रष्टा थे। उनके जीवन का लक्ष्य ग्रन्थों का निर्माण कर अपने आश्रयदाता को रिझाना न था, प्रत्युत धर्म और विद्या का प्रचार-प्रसार करना था। उनके जीवन की प्रधान घटनाओं का कालक्रम प्रायः निश्चित है। उनका जन्म १०८९ ई० में हुआ था और केवल पाँच वर्ष के वय में १०९४ ई० में वे जैनधर्म में दीक्षित किये गये। अणहिलपाटन के चालुक्यवंशी नरेश जयसिंह सिद्धराज के आदेश से इन्होंने 'सिद्धहेमचन्द्रानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ का प्रणयन ११३९ ई० में किया। इससे पूर्व ही १११० ई० में एक्कीस वर्ष की उम्र में वे सूरि या आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। जयसिंह की मृत्यु के अनन्तर ११४४ ई० में कुमारपाल सिंहासनारूढ़ हुए और ११५२ ई० में इनको हेमचन्द्र ने जैनधर्म में दीक्षित किया। अपने गुरु के आदेश से राजा ने जैनधर्म के अभ्युदय के लिए अनेक शोभन कार्य किये और अपने राज्य में पशुहिंसा बन्द कर दी। ११७३ ई० में ८४ वर्ष की आयु में हेमचन्द्र का देहावसान हुआ। ये एक साथ ही वैयाकरण, कवि, योगशास्त्रज्ञ, दार्शनिक एवं कोषकार थे। इसी कारण वे 'कलिकाल-सर्वज्ञ' की महनीय उपाधि से मण्डित किये गये।

रचनायें—नाना शास्त्रों में हेमचन्द्र ने प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें मुख्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) व्याकरण—**सिद्धहैम** (या सिद्धहेमानुशासन; स्वोपज्ञवृत्ति के साथ; (२) कोश—**हैमनाममाला** ('अभिधानचिन्तामणि' नाम्नी वृत्ति के साथ) **अनेकार्थसंग्रह, निघण्टुकोश** तथा **देशीनाममाला**। (३) छन्द—**छन्दोऽनुशासन**। (४) अलंकार—**काव्यानुशासन** ('अलंकारचूडामणि' व्याख्या के साथ)। (५) दर्शन—**प्रमाणमीमांसा** (जैन न्याय) तथा **योगशास्त्र** (१२ प्रकाशों में १२ सहस्र श्लोकों में समाप्त)। (६) काव्य—**कुमारपालचरित**[१] तथा **त्रिषष्टिशलाकापुरुष**।

इनमें 'कुमारपालचरित' ही द्वयाश्रय काव्य के नाम से प्रख्यात है। इसका कारण यह है कि इसमें चालुक्यवंशी नरेशों के जीवनवृत्त के वर्णन के साथ ही साथ हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के उदाहृत शब्दों का यथाविधि प्रयोग भी किया है। इस काव्य के दो अंश हैं—(क) संस्कृत अंश (आरम्भ के १२ सर्ग, लगभग २५०० श्लोक) जिसमें मूलराज से आरम्भ कर चामुण्डराय, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीन, कर्ण और सिद्धराज जयसिंह तक का इतिहास वर्णित है। (ख) प्राकृत अंश (८ सर्ग, ७५० प्राकृत पद्य), जिसमें

१. बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित (ग्रन्थ संख्या ६०, ६९ तथा ७६)।

कुमारपाल का जीवनचरित बड़े विस्तार से अंकित है। काव्य का यह अंश मुख्य है। पूर्व भाग तो इसकी मानों पूर्वपीठिका है। संस्कृत भाग पर टीका लिखी है **अभयतिलक गणि** ने एवं प्राकृत भाग पर **पूर्णकलशगणि** ने। कुमारपाल के रूप में हेमचन्द्र को जैनमत पर पूर्ण श्रद्धासम्पन्न सार्वभौम नरेश प्राप्त था। फलतः उनके जीवनचरित के वर्णन में उन्होंने पूर्ण प्रतिभा का प्रदर्शन किया तथा राजा के जीवनचरित को साहित्य सौन्दर्य से मण्डित करने में कुछ उठा नहीं रखा। हेमचन्द्र का यह काव्य अनेक कवियों को प्रेरणा देनेवाला सिद्ध हुआ है।[1]

हेमचन्द्र का यह द्वयाश्रय अथवा 'कुमारपालचरित' काव्य चालुक्यवंशी राजाओं का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करता है जिनकी राजधानी अणहिलपाटन थी। आरम्भ के ५ सर्गों में मूलराज का विशेष वर्णन है कि किस प्रकार उसने ग्राहरिपु को युद्ध में पराजित कर बन्दी बनाया। ६ सर्ग में मूलराज के पुत्र चामुण्डराय के जन्म की कथा है, जो युवक होने पर पिता के साथ लाट देश पर आक्रमण करता है वहाँ का राजा पराजित होता है। चामुण्डराय के राज्याभिषेक के अनन्तर मूलराज की मृत्यु हो जाती है। सर्ग ७ से लेकर १० सर्ग तक अनेक राजाओं का वर्णन है। ११ सर्ग में कर्णराज को जयसिंह नामक पुत्र होने का तथा राजा के स्वर्गवासी होने का वर्णन है। सर्ग १२–१५ तक जयसिंह के जीवन की विविध महनीय घटनाओं का वर्णन है। १६ सर्ग में जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के राज्याभिषेक का वर्णन हैं। १७ सर्ग में कुमारपाल की स्त्रियों के साथ वनगमन, जलक्रीडा आदि विलासों का वर्णन है। १८ सर्ग में राजा का आन्ननायक से युद्ध करने तथा उसे परास्त करने का वर्णन है। १९ सर्ग में कुमारपाल को प्रसन्न करने के लिए आन्ननायक अपनी कन्या प्रदान करता है। तदनन्तर राजा अपने शत्रुओं को परास्त कर न्याय से राजकाज करता है। २० सर्ग में कुमारपाल के अहिंसाप्रचार का सुन्दर वर्णन है।

इस संक्षिप्त परिचय से इस महाकाव्य के ऐतिहासिक महत्त्व का संकेत भली-भाँति मिलता है। गुजरात के चालुक्यवंशी नरेशों का यह बहुमूल्य प्रामाणिक इतिहास है। अन्तिम पाँच सर्गों में कुमारपाल के जीवनवृत्त का रोचक वर्णन है। जैनधर्म के प्रचारार्थ उसके कार्य-कलापों का विशद वर्णन हेमचन्द्र का प्रधान लक्ष्य है। व्याकरण के प्रयोगों का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए प्रणीत यह काव्य शास्त्रकाव्य के अन्तर्गत आता है और भट्टिकाव्य का सफल समकक्षी माना जा सकता है।

---

१. कुमारपाल के विषय में अनेक काव्य-नाटक लिखे गये। जयसिंह सूरि का 'कुमारपालचरित' १२६५ ई० में रचित हुआ (जैन भास्करोदय प्रेस, जामनगर)। अन्य ग्रन्थ हैं—
सोमप्रभाचार्य का प्राकृत-काव्य 'कुमारपालप्रतिबोध' (रचनाकाल ११८५ ई०, गायकवाड सं० सी० बड़ोदा १९२०); यशःपाल का 'मोहराजपराजय' नामक प्रतीक नाटक (बड़ोदा); जिनमण्डन का 'कुमारपालप्रबन्ध' (भावनगर, १९१५)। चारित्रसुन्दर-रचित 'कुमारपालचरित' जैन आत्मानन्द सभा (भावनगर, १९७४) द्वारा प्रकाशित एक भिन्न ही ग्रन्थ है।

त्रिषष्टि-शलाका-पुरुषचरित्र (परिशिष्ट पर्व के साथ) अर्ध ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिसमें जैनधर्म के महावीर के पश्चात्कालीन आदर्श ६३ महापुरुषों का जीवनचरित निबद्ध किया गया है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है। परिशिष्ट पर्व की रचना कर (१३ सर्ग तथा ३३७९ श्लोक) हेमचन्द्र ने मूलग्रन्थ को पूर्ण किया। यह महाकाव्य की विशुद्ध शास्त्रीय परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता, परन्तु है अपने-आप एक व्यापक विस्तृत चरित-काव्य। जैनधर्म में ६३ महापुरुष माने जाते हैं जिन्होंने अपने जीवन-चरित में धर्म का आदर्श पूर्णतः पालन किया था। इनकी पारिभाषिक संज्ञा है—शलाका पुरुष। इन्हीं का चरित निबद्ध करनेवाला यह महान् काव्य 'चरितकाव्य' की परम्परा में अन्तर्भुक्त माना जाना चाहिए।

(५) नयचन्द्र सूरि

रणस्तम्भपुर (रणथम्भोर) के प्रख्यात चौहानवंशी राजा हम्मीर अपनी शरणागत-वत्सलता तथा शौर्य-वीर्य के कारण मध्ययुगीय इतिहास में नितान्त प्रसिद्ध हैं। वे अपने समय के अग्रणी योद्धा तथा उदात्त महीपति माने जाते थे। १३५७ विक्रमी (=१३०१ ई०) के श्रावण मास में रणस्तम्भपुर का युद्ध अलाउद्दीन खिलजी ने स्वयं रणाङ्गण में जाकर जीता था और शरणागतवत्सल श्री हम्मीरदेव उसमें वीरतापूर्वक लड़ते-लड़ते काम आये थे। इसी ऐतिहासिक घटना का विस्तृत वर्णन नयचन्द्र सूरि ने हम्मीर-महाकाव्य में किया है। इस ऐतिहासिक काव्य में सब मिलकर १४ सर्ग और भिन्न-भिन्न छन्दों में निबद्ध १५७२ श्लोक हैं। अलाउद्दीन खिलजी का श्रीहम्मीरदेव से नाराज होने का कारण, रणथम्भोर के किले पर यवनों की चढ़ाई, नुसरत खाँ का युद्धस्थल में आहत होना तथा मारा जाना, अलाउद्दीन का रणक्षेत्र में स्वयं जाकर घोर युद्ध करना, रतिपाल का विश्वास-घात, राजपूतों की पराजय, जौहर व्रत और 'साका'—आदि घटनायें इतनी सूक्ष्मता के साथ लिखी गयी है कि विना किसी प्रामाणिक और प्रत्यक्ष आधार के किसी कवि के लिए उनका लिखना अशक्य है। स्वतन्त्र मुसलमान ऐतिहासिक लेखक भी इन घटनाओं का समर्थन करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने उस युग में उपलब्ध सम-सामयिक सामग्री के आधार पर इस काव्य का प्रणयन किया।

हम्मीर-महाकाव्य के रचयिता का नाम नयचन्द्र सूरि है। इन्होंने अपने पितामह नैयायिक जयसिंह सूरि से काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था। संवत् १३९१ (=१३४४ ई०) में कृष्णर्षिगच्छ की जिन्होंने स्थापना की थी तथा १३५७ विक्रमी में होने वाले रणथम्भोर के युद्ध को स्वयं देखा था अथवा उसे देखनेवालों से युद्ध की पूरी जानकारी प्राप्त की थी। नयचन्द्र सूरि ने इन्हीं के सहवास में रहकर इस युद्ध का यथार्थ विवरण प्रस्तुत किया, जो मुसलमान लेखकों के साक्ष्य पर उचित तथा प्रामाणिक ठहरता है। कवि की शैली बड़ी सुन्दर है। प्रसादमयी भाषा में निबद्ध यह काव्य सचमुच वीररस से सर्वथा आप्लुत है—ओजस्विता तथा स्फूर्ति प्रदान करनेमें यह काव्य सर्वथा समर्थ है। हम्मीर की स्तुति में प्रयुक्त यह पद्य सरल तथा यथार्थ है (हम्मीर-महाकाव्य ११९)—

१. प्रकाशक श्री जैन आत्मानन्द-सभा, भावनगर, १९१७।

सत्त्वैकवृत्तेः किल यस्य राज्यश्रियो विलासा अपि जीवितं च ।
शकाय पुत्री-शरणागतांश्च प्रयच्छतः किं तृणमप्यभूवन् ॥

कवि काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न होने पर भी बड़ा ही विनम्र तथा मृदुलचेता है और प्रकारान्तर से यह अपने ऊपर महाकवि कालिदास का ऋण तथा प्रभाव स्वीकार करता है। अपनी नम्रता का प्रदर्शन करता हुआ कवि कह रहा है—(१।११)

क्वैतस्य राज्ञः सुमहच्चरित्रं क्वैषा पुनर्मे धिषणाऽणुरूपा ।
ततोऽतिमोहाद् भुजमैकयैव मुग्धस्तितीर्षामि महासमुद्रम् ॥

यह पद्य स्पष्टतः कालिदास की प्रख्यात सूक्ति की सुधि दिलाता है। नयचन्द्रसूरि ने ग्वालियर के दुर्गपति तोमर महाराज वीरम के एक व्यंग्यवाक्य से प्रेरित होकर शृङ्गार, वीर तथा अद्भुत रस से सम्पन्न इस काव्य का प्रणयन किया (१४।४३)—

काव्यं पूर्वकवेर्न काव्यसदृशं कश्चिद् विधाताधुने-
त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि ।
तद्भ्रूचापलकेलिदोलितमनाः शृङ्गारवीराद्भुतं
चक्रे काव्यमिदं हमीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः ॥

इस घटना से इस महाकाव्य के प्रणयन-काल का संकेत भी मिल जाता है। वीरम ग्वालियर के दुर्गपति के पद पर १४५७ विक्रमी (=१४०० ईस्वी) में आसीन हुये और सम्भवतः १४७० विक्रमी तक उस पद पर प्रतिष्ठित बने रहे। इनके अन्तिम शिलालेख का समय १४६७ वि० (=१४१० ईस्वी) है। वीरमदेव का काल अधिक से अधिक संवत् १४७० तक माना जा सकता है, क्योंकि संवत् १४८१ में हम वीरम के पौत्र और गणपति के पुत्र डुङ्गर सिंह को दुर्गपति देखते हैं। फलतः इसकी काव्यरचना वीरम के जीवन-काल में सं० १४६७ से पहिले ही होनी चाहिए। फलतः हम्मीरकाव्य का प्रणयन-काल १५वीं शती के आरम्भिक वर्ष हैं (१४०० ईस्वी से लेकर १४१० ईस्वी)।

काव्य के प्रथम चार सर्गों में चौहान-नरेशों के वंशवृक्ष का काल-क्रमागत विवरण बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्व का है। ऐतिहासिकों का कहना है कि इस काव्य को ऐतिहासिक सामग्री मुसलमान इतिहासकारों के विवरण से भी पुष्टि पा रही है। तीसरे सर्ग में महाराज पृथ्वीराज का वर्णन, विशेषतः उनके देहावसान का कारण बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। नयचन्द्र सूरि का कथन है कि पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन गोरी को सात बार परास्त किया था, तथा प्रत्येक बार अपनी अनुकम्पा से उसे छोड़ दिया, परन्तु गोरी के द्वितीय आक्रमण में पकड़े जाने पर इन्होंने आमरण अनशन किया। इस घटना का उल्लेख इस सुन्दर पद्य में किया गया है (३।६५)—

अथ स धरणिकान्तः सद्गुणालीनिशान्तः
प्रतिहतखलजातः प्रौढराढावदातः ।
विधिविलसितयोगादाप्तबन्धः शकेन्द्राद्
द्विरपि रतिमहासीद् भोजने जीवने च ॥

और इसी अनशन करने से ही इनकी मृत्यु गोरी के कारागृह में हुई थी। इस यु
का वर्णन भी बड़ी उदात्त तथा ओजस्विनी शैली में किया गया है। तथ्य यह है कि चौहान
के इतिहास की जानकारी के लिये यह काव्य विशुद्ध इतिहास-ग्रन्थ के समान प्रामाणि
और विश्वसनीय है। इस क्षत्रियकुल के संस्थापक चाहमान से लेकर हम्मीरदेव त
३८ पीढ़ियों का अन्तराल पड़ता है। और प्रत्येक राजा का वर्णन उसके महत्त्व के अनुरू
ही कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से यहाँ उपन्यस्त है। संवत् १३३९ में राजा जैत्रसिं
ने अपने ज्येष्ठपुत्र हम्मीरदेव को राज्यसिंहासन देकर स्वयं वानप्रस्थ ले लिया था, जि
लगभग १८ वर्षों तक बड़े शान के साथ राज्य किया और अन्त में धर्म कीरक्षा में अ
प्राणों की आहुति देकर अमर-कीर्ति अर्जित की। इस प्रकार **हम्मीर-काव्य** इतिह
और काव्य दोनों दृष्टियों से एक प्रतिभासम्पन्न सफल रचना है।[1]

रणथम्भौर के इस इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध का यह 'हिन्दूसंस्करण' ऐतिहासिकों के अ
संधान का विषय है। इसमें अनेक नई बातों का वर्णन मिलता है। नयचन्द्र ने ब
प्रवाहमयी शैली में इस युद्ध की घटनाओं का क्रमबद्ध विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है
हम्मीर पर दो बार चढ़ाई की थी अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुग खाँ ने। पहल
चढ़ाई में पराजित होकर वह लौट गया था। दूसरी बार उसने बड़ी तैयारी के साथ अप
भ्राता नसरत खाँ के संग चढ़ाई की। किले के भीतरी स्थानों को देखने के लिए मोल्हण
देव नामक दूत भेजा गया, जिसने हम्मीर के सामने खिलजी के लौट जाने की दो शर्तें रखी–
हम्मीर की बेटी को व्याह में देना तथा महिमशाह आदि चारों मुगल सरदारों को लौ
देना, जो राजा की शरण में आकर रहते थे। हम्मीर ने उन प्रस्तावों को ठुकरा दिय
परन्तु सन्धि के विचार से रतिपाल को दूत बना कर भेजा गया। खिलजी किले के बाह
स्वयं शिविर डाले पड़ा था। उस धूर्त ने ऐसी चालाकी चली कि रतिपाल तथा रणमल
जो हम्मीर के विश्वासपात्र सरदार थे, अन्ततो गत्वा राजा का पक्ष छोड़कर खिलजी के
संग में चले गये। हम्मीर के पराजय की यही घटना कारण बनी। हम्मीर के युद्ध में जाने से
पहिले रानियों ने जौहर व्रत का पालन किया। राजा की छोटी पुत्री का आग में ज
मरना बड़ी करुणाजनक घटना थी। महिमाशाह ने भी अपने परिवार के लोगों क
अपने हाथों वध कर डाला। बड़ा घमासान युद्ध हुआ जिसमें हम्मीर ने बड़ी वीरता दिखलाई
परन्तु अन्त में उसने अपनी ही तलवार से अपना काम तमाम कर डाला। राजा के
राजकाल के १८ वें साल में यह घटना घटी थी। ग्रन्थ के अन्तिम सर्गों में यही घटन
विस्तार से वर्णित है।[1]

---

१. हिन्दी साहित्य में हम्मीर की वीरता पर अनेक काव्य लिखे गये हैं, जिनमें
चन्द्रशेखर कवि का हम्मीरहठ बड़ा ही लोकप्रिय है। ग्वालकवि का भी
एतद्विषयक काव्य अप्रकाशित ही है, परन्तु कवि जोधराज कृत हम्मीररासो
काव्य नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित हो चुका है। रचनाकाल
१७८५ संवत् (१७२८ ई०)। संस्कृत के काव्य तथा हिन्दी के इन काव्यों
के ऐतिहासिक विवरण में पर्याप्त पार्थक्य है। देखिए बाबू श्यामसुन्दरदास
लिखित 'हम्मीररासो' की प्रस्तावना।

ऐसी ऐतिहासिक रचना का एक सुन्दर निदर्शन (६) **'सुरजन-चरित'** महाकाव्य है[1] जिसे गौड़देशीय कवि **चन्द्रशेखर** ने १६ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी में लिखा। इसमें वर्णित राजा सुरजन अकबर के बड़े विश्वासपात्र सामंत थे तथा उनके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों में युद्ध के निमित्त भेजे गये थे। इस काव्य में बीस सर्ग हैं, जिनमें बूँदी के हाडावंशीय राजाओं का चरित बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। अतः साहित्यिक सौन्दर्य के साथ इसका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। चन्द्रशेखर कवि ने कालिदास की शैली का सफल अनुकरण यहाँ किया है।

संस्कृत के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के चरित को निबद्ध करने में विशेष उदारता का परिचय दिया है। ऐसे काव्यों का प्रकाशन धीरे-धीरे अब हो रहा है। विजयनगर के राजाओं के ऊपर भी अनेक चरित्र-काव्य हैं जिनमें **राजनाथ डिंडम** कवि का (७) **'अच्युत-रायाभ्युदय'** १२ सर्गों में निबद्ध एक इतिहास-प्रधान महाकाव्य है।[2] इसका अनुशीलन अच्युतराय के राज्यकालीन घटना, विजय तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की जानकारी के लिये नितान्त उपादेय है। अच्युत के सभापण्डित होने से इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६ शतक का मध्य भाग है। कविता साधारणतया प्रसादमयी तथा सुन्दर है। **गंगा देवी** का (८) **'मधुराविजय'** अथवा 'वीरकम्परायचरित' विजयनगर साम्राज्य के आरम्भिक काल से सम्बद्ध घटनाओं के परिचय के लिए नितान्त उपादेय है; क्योंकि इसकी लेखिका कम्पराय की रानी थी तथा इसने स्वयं ही अपने पति के विजयों का जीता-जागता सच्चा चित्र खींचा है। रचनाकाल १४ शतक है। **सन्ध्याकरनन्दी** का (९) **'रामचरित'** पालवंशीय नरेश रामपाल (१०८४-११३०) की जीवनी श्लिष्ट पद्यों द्वारा प्रस्तुत करता है; परन्तु ऐतिहासिक घटनाओं की विशेष जानकारी न होने से हम तन्निर्दिष्ट घटनाओं का विशेष मूल्य नहीं आँक सकते।

(१०) पृथ्वीराज-विजय[3]

उस दुर्दैव को हम किन शब्दों में कोसें जिसने हिन्दू-साम्राज्य के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज का जीवन-चरित 'पृथ्वीराज-विजय' एक ही अधूरी हस्तलिखित प्रति में सुरक्षित रखा है। इस महाकाव्य के टीकाकार **जोनराज** (१४४८ के आसपास) ही काश्मीरी नहीं हैं, प्रत्युत उसका रचयिता भी उसी देश का निवासी था। जब पृथ्वीराज की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो रही थी उसी समय इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

भारतवर्ष के अन्तिम स्वतन्त्र हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराज की विजय का वर्णन करने वाला यह भारतीय काव्य अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है। इसमें केवल १२ सर्ग ही अवशिष्ट हैं जिनमें पृथ्वीराज के पूर्वजों के चरित्र-वर्णन के अनन्तर पृथ्वीराज के विवाह का भी वर्णन पूर्ण नहीं हुआ है। उनके विजय की बात तो दूर रही जिसका होना ग्रन्थ के नाम की सार्थकता

---

१. श्रीचन्द्रधरशर्मा द्वारा सम्पादित, काशी १९५२।

२. वाणीविलास प्रेस से आदि के ६ सर्ग तथा ४-१२ सर्ग अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित हैं (१९४५)।

३. विशेष द्रष्टव्य—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ५, सं० १९८१, पृ० १३३–१८३।

सिद्ध करने के लिए नितरां अनिवार्य है। कवि के नाम का स्पष्ट संकेत नहीं है, परन्तु अन्तरंग अनुशीलन से पता चलता है कि इस महाकाव्य का प्रणेता काश्मीरी कवि जयानक हैं, जो पृथ्वीराज का आश्रय ग्रहण करने के लिए कश्मीर से अजमेर आया (१२ सर्ग) तथा उनके द्वारा समादृत होने पर अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गायन इस ऐतिहासिक महाकाव्य में किया। इसकी टीका भी उपलब्ध है जिससे पता चलता है कि लोलराज के पौत्र तथा नोनराज के पुत्र जोनराज ने श्रीकण्ठचरित तथा किरातार्जुनीय पर व्याख्या लिखने के अनन्तर इस काव्य की यह वृत्ति लिखी। द्वितीय राजतरंगिणी की रचना के विश्रुत विद्वद्रत्न और इतिहास-लेखक का इस काव्य पर टीका लिखना और वह भी 'आज्ञामवाप्य विदुषाम्' बताकर लिखना इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है कि पन्द्रहवीं शती में काश्मीरी पण्डित-समाज में इस ग्रन्थ का पर्याप्त प्रचार और सम्मान था। यह महाकाव्य पृथ्वीराज के विजय की प्रशस्ति में लिखा गया था। फलतः इसका रचना-काल ११९१ ई० तथा ११९३ ई० के बीच में होना चाहिए। ११९१ ई० गोरी को परास्त करने का वर्ष है तथा ११९३ ई० गोरी के हाथों पृथ्वीराज के पराजय का साल है। अतः ११९२ ई० में इस महाकाव्य की रचना सम्पन्न हुई—यह अनुमानतः हम ठीक समझते हैं।

पृथ्वीराज-विजय का सम-सामयिक रचना होने से ऐतिहासिक मूल्य पृथ्वीराज के समय तथा चरित-निरूपण के लिए अत्यधिक होता है, यदि यह पूर्णरूपेण उपलब्ध होता, परन्तु अवशिष्ट अंश भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह ऐतिहासिक गौरव रखने के साथ ही साथ साहित्यिक महत्त्व से भी मण्डित है। कवि जयानक की कविता सरस-सुबोध है। शैली में कृत्रिमता कम है। कवि में कल्पना-शक्ति, शब्द-विन्यास तथा सुन्दर-सरस वर्णन करने की क्षमता विशेष रूप से है। चमत्कारी सूक्तियों का यहाँ अभाव नहीं है। महाराज पृथ्वीराज के पूर्वजों के साथ ही साथ उनके आरम्भिक वर्षों के इतिहास जानने के लिए यह काव्य-ग्रन्थ निःसन्देह अनुपम, बेजोड़ और प्रामाणिक है। एक-दो उदाहरणों से इसकी कविता परखी जा सकती है।

राजा वासुदेव की मृगया का वर्णन करते समय कवि ने बड़ी चमत्कारमयी उक्ति लिखी है—

> यत्पुण्डरीकमवधीत् तत एव चन्द्रापीडोऽयमित्यधिजगाम यशः स राजा।
> दूरं गतस्तु मृगया-व्यसनेन चित्रं काम्दवरीं न कदापि मनसाऽप्यपश्यत्॥

श्लेष के चमत्कार से यह पद्य मण्डित है। पुण्डरीक (व्याघ्र तथा कादम्बरी में वर्णित श्वेतकेतु मुनि का पुत्र), कादम्बरी (मदिरा तथा बाण-काव्य की नायिका) का प्रयोग कर कवि ने बाणरचित कादम्बरी के कथानक का सुभग संकेत किया है।

दुर्जन कवियों की अवहेलना इस पद्य में बड़ी सुन्दरता से की है—

> ज्वलन्ति चेद् दुर्जनसूर्यकान्ताः किं कुर्वते सत्कवि-सूर्य-भासाम्।
> महीभृता दोःशिखरे तु रूढां पार्श्वस्थितां कीर्तिलतां दहन्ति॥

यहाँ 'सूर्यकान्ता' शब्द श्लेष से दो अर्थ द्योतित करता है—(१) सूर्यकान्तमणि तथा (२) पण्डितों में अशोभन जन (सूरीणाम् अकान्ताः)। आशय बड़ा सुन्दर है इस

श्लोक का। यदि दुर्जनरूपी सूर्यकान्त जलते हैं, तो महारविरूपी सूर्य की कीर्ति की वे कौन-सी हानि करते हैं? वे केवल उन्हीं महीभृतों (राजाओं तथा पर्वतों) की कीर्ति-लता को जलाते हैं जिनके शिखर पर वे चढ़े हुए रहते हैं। पद्मगुप्तपरिमल के 'नवसाहसांक-चरित' की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में यह काव्य नितान्त समर्थ है।

शम्भु कवि

काश्मीर के प्रख्यात कवि शम्भु ने अपने आश्रयदाता काश्मीर नरेश हर्ष (शासन-काल १०८८ ई०–११०० ई०) की प्रशस्ति (११) **'राजेन्द्रकर्णपूर'** नामक काव्य में की है। इसमें ७५ पद्य हैं। १९ वें श्लोक में हर्षदेव का तथा ४२ वें पद्य में काश्मीर का नाम उल्लिखित होने से वर्ण्य राजा के संकेत में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। कविता उच्चकोटि की है और परम्परागत शैली पर निबद्ध है। परन्तु नवीन चमत्कारी कल्पना का दर्शन सर्वत्र होता है। प्रशस्ति साहित्यिक सुषमा से समन्वित है, इसमें ऐतिहासिकता का पुट नहीं है। श्रीकण्ठचरित के अन्तिम सर्ग में शम्भु कवि का उल्लेख है।[1] फलतः इनका समय १२ शती का पूर्वार्ध है।

वस्तुपाल-विषयक काव्य

हेमचन्द्र के अतिरिक्त ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक जैन काव्यों की सत्ता संस्कृत में है, परन्तु इन काव्यों का अनुशीलन इन्हें द्वितीय कोटि में परिगणित करने के लिए पर्याप्त है। ये काव्य विविध वृत्तों के वर्णन से सम्बद्ध हैं, परन्तु इनमें उदात्त कोटि की कल्पना की आशा नहीं की जा सकती। गुजरात के प्रख्यात बघेला राजा वीरधवल और उनके पुत्र वीसलदेव के गुणग्राही तथा दानशील मन्त्री वस्तुपाल तथा तेजपाल की जीवनी से सम्बद्ध अनेक काव्यों की उपलब्धि हुई है। कविवर **सोमेश्वर** ने (१२) **'कीर्तिकौमुदी'**[2] नामक काव्य का प्रणयन वस्तुपाल की प्रशस्ति के रूप में किया। ये अणहिलपाटन के चालुक्य-वंशी राजाओं के वंशपरम्परागत पुरोहित थे। इन्होंने अपने काव्यग्रन्थ 'सुरथोत्सव' के अन्तिम सर्ग में अपनी कथा लिखी है, जिससे पता चलता है कि इनके पूर्वज, जिनका मूल-निवास 'बडनगर' था, वेद के प्रकाण्ड पण्डित और यज्ञकर्ता के रूप से प्रसिद्ध थे। सोमेश्वर वस्तुपाल के मित्र तथा आश्रित कवि थे। आबू और गिरमार पर्वतों पर वस्तुपाल द्वारा निर्मित जैन मन्दिरों में शिलालेख के रूप में अंकित प्रशस्ति-काव्य भी सोमेश्वर की रचना है। इस विषय की दूसरी रचना (१३) **'सुकृतसंकीर्तन'** है, जिसके एकादश सर्गों में वस्तु-पाल द्वारा बनाये गये मन्दिरों का तथा धार्मिक कृत्यों का विशिष्ट वर्णन है। इसके प्रणेता अरिसिंह अमरचन्द्र के समकालीन और वीसलदेव के सभा-पण्डितों में अन्यतम थे। इन दोनों कवियों में बड़ा सौहार्द था जिसके फलस्वरूप अमरचन्द्र ने **'सुकृतसंकीर्तन'**[3] के प्रत्येक सर्ग में चार नये पद्यों की रचना कर जोड़ा है। साहित्य-जगत् में इन दोनों की संमिलित रचना **'कविकल्पलता'** प्रख्यात है। महाकवि **बालचन्द्र-रचित** (१४) **'वसन्त-**

---

१. काव्यमाला गुच्छक प्रथम भाग में प्रकाशित, १८८६ ई०।

२–३. सिंधी सीरीज में भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित बम्बई, वि० २०१७।

विलास'[1] इसीविषय पर निबद्ध तीसरी रचना है। इसमें १४ सर्ग हैं, जिनमें वस्तुपाल के उदार कार्यों का विस्तार से वर्णन है। काव्यपरम्परा के अनुरूप पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय तथा सन्ध्या आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। वस्तुपाल ने धर्म की अभिवृद्धि के लिए जैन-तीर्थों की यात्रा अनेक बार बड़े समारोह के साथ की थी। उनका यहाँ सुभग वर्णन प्रसादमयी वाणी में किया गया है। यह चालुक्यवंश के राजनीतिक इतिहास का विस्तार से वर्णन करता है। फलतः ऐतिहासिक महत्त्व से मण्डित यह काव्य साहित्य दृष्टि से भी श्लाघनीय है। वस्तुपाल का ही अपर नाम 'वसन्तपाल' भी है और इसी नाम के ऊपर इस काव्य का अभिधान 'वसन्तविलास' है। इन काव्यों में से प्रथम दोनों की रचना वस्तुपाल के जीवितकाल में ही की गई, परन्तु तीसरी रचना उसकी मृत्यु के अनन्तर १२४० ई० की अन्तिम तीर्थयात्रा का वर्णन कर लिखी गई। फलतः इनका समय १३ वीं शती का पूर्वार्ध है। इसी विषय की चतुर्थ रचना **उदयप्रभसूरि** का **(१५) धर्माभ्युदय** काव्य है। वस्तुपाल के धर्मगुरु आचार्य विजयसेनसूरि के पट्टधर आचार्य उदयप्रभसूरि ने इस काव्य का निर्माण पुराणपद्धति पर किया है। वस्तुपाल संघपति थे और उन्होंने गिरनार, शत्रुंजय आदि तीर्थों की यात्रा बड़े आडम्बर तथा बड़े संघ के साथ अनेक बार की। इन्हीं तीर्थयात्रों का रोचक वर्णन इस काव्य में किया गया है। लेखक वस्तुपाल का समकालीन है, क्योंकि इस ग्रन्थ का हस्तलेख (जिसके आधार पर यह ग्रन्थ छपा[2] है) विक्रमी सं० १२९० (=१२३३ ईस्वी) में महामात्य वस्तुपाल ने ही लिखा या लिखाया। इसका अपर नाम **संघपतिचरित** भी है। १५ सर्गों में निबद्ध यह काव्य 'लक्ष्म्यंक' है, अर्थात् इसमें प्रति सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द विद्यमान है। काव्य में घटनाओं का वर्णन प्रधान है। समय १३ शती का प्रथम चरण। इनसे लगभग डेढ़ सौ वर्षों के अनन्तर जैन नयचन्द्रसूरि ने 'हम्मीरमहाकाव्य'[3] का प्रणयन भारतीय इतिहास में अपनी शरणागत-वत्सलता के लिए नितान्त विश्रुत राजा हम्मीर के जीवन-चरित के विषय में निबद्ध किया, जिसका विस्तृत अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है।

वाक्पतिराज

(१६) 'गउडबहो' प्राकृत में निबद्ध ऐतिहासिक काव्यों में अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण नितान्त प्रख्यात है। प्राकृत में विरचित होने पर भी यह संस्कृत महाकाव्यों की ही वर्णनरीति का अनुसरण करता है। इसके रचयिता **वाक्पतिराज** कन्नौज के अधिपति यशोवर्मा के सभापति थे और इस काव्य में उनकी ही गौड (मगध) नरेश के ऊपर किये गये विजय की विशिष्ट प्रशस्ति है। वाक्पति के निजी कथन से उनका भवभूति के द्वारा

१. गायकवाड संस्कृत सीरीज में बड़ोदा से प्रकाशित।

२. प्रकाशक भारतीय विद्याभवन, बम्बई। सिंधी जैनग्रन्थमाला ग्रन्थांक ४, वि० सं० २००५।

३. नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तने द्वारा सम्पादित और एजुकेशन सोसाइटी प्रेस, बम्बई १८७९ में प्रकाशित। ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए द्रष्टव्य नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १२ (सं० १९८८), पृ० २५९-३०९।

विशेष रूप से प्रभावित होना ध्वनित होता है। इस काव्य का निर्माणकाल अभी तक आलोचकों में सन्देह का विषय बना हुआ है। काश्मीर-नरेश ललितादित्य (७२४ ई०–७६० ई०) ने ७३४ ई० में यशोवर्मा को परास्त किया था। अतः मगधनरेश पर विजय तथा उसका वर्णनपरक यह काव्य ७३४ ई० से पूर्व ही निर्मित हो चुका था। डॉ० याकोबी ने गउडवहो में निर्दिष्ट सूर्यग्रहण का काल ७३३ ई० सिद्ध किया है। अतः इस काव्य की रचना इसी समय के कुछ पीछे होनी चाहिए। वाक्पति के उल्लेख से यही तात्पर्य निकाला जा सकता है कि महाकवि भवभूति इनके मार्गदर्शक तथा गुरु थे जिसके काव्यामृत के कण इस रमणीय काव्य में स्फुरित होते हैं (श्लोक ७९९)—

भवभूइ-जलहि-णिग्गय-कव्वामय-रसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेषु कहा-णिबेसेसु॥

वाक्पतिराज के अन्य प्राकृत काव्य '**मधुमह-विजय**' (गाथा ७९) की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है, परन्तु इनका एकमात्र उपलब्ध महाकाव्य—गउडवहो (गौडवधः) इनकी ख्याति को अक्षुण रखने में सर्वथा समर्थ है। ऐतिहासिक महत्त्व की अपेक्षा इस काव्य का साहित्यिक मूल्य कहीं अधिक है। अल्प घटना के वर्णन को कवि ने प्राकृतिक दृश्य, भौगोलिक स्थान तथा अवान्तर विषयों के विवरणों से खूब ही पुष्ट, परिमार्जित तथा उपबृंहित किया है। विन्ध्यवासिनी भगवती के पूजाविधान का वर्णन बड़ी सजीवता तथा मर्मज्ञता से चित्रित किया गया है। वाक्पतिराज बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न भावुक कवि थे। इनकी कल्पनाएँ स्थान-स्थान पर इतनी अनोखी, अपूर्व तथा रसमयी हैं कि इनका दर्शन संस्कृत साहित्य में भी नितान्त दुर्लभ है। कवि ने संस्कृत के महाकाव्यों का गाढ़ अनुशीलन किया है और उनकी ही स्वीकारोक्ति से (गाथा ८००) भास, रघुकार (कालिदास), सुबन्धु, तथा हरिश्चन्द्र के काव्यों से स्फूर्ति-ग्रहण करने की घटना का संकेत हमें मिलता है, परन्तु इनके प्रधान उपजीव्य भवभूति ही हैं। १२०९ गाथाओं में निबद्ध इस महाकाव्य के रचयिता की 'कविराज' उपाधि (कइराअलंक्षण) यथार्थ तथा वास्तव है। पद्मगुप्तपरिमाल द्वारा संस्कृत के प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व ही इसकी रचना सम्पन्न की गई। अतः यह हर्षचरित तथा नवसाहसांक-चरित के बीच की कड़ी प्रस्तुत करता है।

(९) स्त्री कवयित्री

कविता, संगीत, चित्रकला आदि मधुर हृदयहारी कलाओं का बीज नारियों के सहानुभूति-पूर्ण तथा रस से सिक्त हृदय में पुरुषों के कठोर हृदय की अपेक्षा अपने उगनेके लिए अधिक सहकारी सामग्री पाता है। वहीं यह सदा हरा-भरा पाया जाता है। संस्कृत साहित्य में स्त्री-कवियों ने भी बड़ी कमनीय तथा कोमल कविता, फुटकल या प्रबन्ध रूप में निर्मित की है। ऋग्वेद में अनेक स्त्रियों की बनाई हुई ऋचाएँ संगृहीत हैं, जिन्हें ऋषिका के नाम से पुकारते हैं। कविता की दृष्टि से भी ये ऋचाएँ उच्चकोटि की मानी जाती हैं। पालि-साहित्य में भी स्त्री-कवियों के द्वारा रचित सूक्तियों का संग्रह थेरीगाथा नामक ग्रन्थ में किया गया है। इन स्त्रियों ने सांसारिक भोगविलास को लात मारकर बौद्धधर्म की

शान्ति को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाया। प्राचीन कवियों के प्रशंसात्मक पद्यों से इस संस्कृत की स्त्री-कवियों के नाम का पता चलता है तथा सूक्ति-संग्रहों में संगृहीत कविताओं से ही इनकी उदात्त प्रतिभा का हमें परिचय मिलता है। ऐसी ४० स्त्री-कवियों के लगभग डेढ़ सौ पद्य इधर-उधर बिखरे पड़े हुए हैं, जिनमें विज्जका, सुभद्रा, फल्गुहस्तिनी, इन्दुलेखा, मारुला, विकट-नितम्बा, शीला-भट्टारिका के नाम मुख्य हैं। इनमें विज्जका की कविता परिमाण तथा लालित्य की दृष्टि से बढ़कर है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने कोई बृहद् प्रबन्ध-काव्य भी लिखा था, जो आजकल उपलब्ध नहीं है।

(१) **विज्जका**—मम्मटाचार्य ने अपने शब्दव्यापार-विचार में इनके 'दृष्टि हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि' (नं० ५०० कवीन्द्रवचनसमुच्चय) और 'धन्यासि या कथयसि' (२९८ कवीन्द्र०) को उद्धृत किया है। दूसरा पद्य काव्य-प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अर्थमूलक वस्तुप्रतिपाद्य अलंकारध्वनि के उदाहरण में भी दिया गया है। पहला पद्य धनिक के दशरूपावलोक तथा मुकुल भट्ट के 'अभिधावृत्तिमातृका' में उद्धृत किया गया है। भट्ट मुकुल का समय लगभग ९२५ ई० है। अत एव पूर्वोक्त पद्य की रचयित्री का समय अनुमान से ८५० ई० कहा जा सकता है। अतः विज्जका का आविर्भावकाल दण्डी तथा मुकुलभट्ट के बीच का काल (७१०-८५० ई०) माना जाता है।

कुछ विद्वानों का यह कथन है कि विज्जका तथा कार्णाटी विजया अभिन्न व्यक्ति हैं, जिसकी वैदर्भी रीति की प्रशंसा राजशेखर ने कालिदास से उपमा देकर की है (शार्ङ्गधर पद्धति १८४ श्लोक)—

सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥

इसी से विजया का कर्णाटदेशीय होना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इस गर्वोक्तिमय पद्य की लेखिका भी यही जान पड़ती है:—

एकोऽभून्नलिनात् ततश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापरे
ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया॥

पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की महारानी 'विजयभट्टारिका' के साथ 'विजया' की एकता नाम-साम्य की भित्ति पर मानकर इनका समय ६६० ई० माना गया है; क्योंकि विजयभट्टारिका के इसी समय के लेख पाये जाते हैं। अत एव वे विज्जका को भी सप्तम शताब्दी में बतलाते हैं।

विज्जका सहृदय भावुक का वर्णन कितने मार्मिक तथा सच्चे शब्दों में कर रही है:—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोम-विक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

सच्चा कवि अपने भावों को अभिधा के द्वारा कभी प्रकट नहीं करता। यदि बात स्पष्ट रूप से कह दी जाय तो चमत्कार ही क्या रह जाय? वह केवल व्यंजना की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। शब्दों के द्वारा अभिप्राय की व्यक्ति नहीं होती; वरन् कुछ

रसभरे मनोहर पदों में यह भाव झलकता रहता है। ऐसे महाकवि का सच्चा आस्वादक किसे कह सकते हैं? कवि के गूढ़-व्यंजनाद्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा काव्यानन्द की सूचना नहीं देता, वरन् चुप रहकर भी जिसके रोमांच हृदय की आनन्द-लहरी का पता साफ शब्दों में बतलाते हैं वही सच्चा रसिक है। ऐसे सहृदय-शिरोमणि को मैं प्रणाम करती हूँ। रसिक की यह अच्छी परिभाषा है। सारांश यह है कि जिस प्रकार सच्चे कवि का कार्य ध्वनि के द्वारा भावबोधन कराना है, उसी भाँति सच्चे भावुक का कार्य व्यंजना के द्वारा ही उसकी सराहना करना है।

(२) **सुभद्रा**—नामक कवियित्री की प्रसिद्धि उतनी नहीं है; क्योंकि इनकी रचनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता। वल्लभदेव की सुभाषितावली में इनका केवल एक पद्य उद्धृत किया गया है। सुभद्रा ने अवश्य अनेक कविताओं की रचना की होगी, नहीं तो राजशेखर को इनके कविता-चातुर्य के वर्णन का अवसर ही कहाँ मिलता। राजशेखर ने स्पष्ट ही इनकी कविता को मनोमोहिनी बताया है (सूक्तिमुक्तावली)—

पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचो—वृत्तिचातुर्येण सुभद्रया॥

(३) **फल्गुहस्तिनी**—इनका भी नाम संस्कृत साहित्य में अधिक नहीं है। कविता की अनुपलब्धि ही इसका मूल कारण ज्ञात होता है। सुभाषितावली में दो पद्य उद्धृत किये गये हैं। जिनमें पहला पद्य 'सृजति तावदशेषगुणाकरम्' भर्तृहरि के नीतिशतक में भी पाया जाता है। दूसरा पद्य 'त्रिनयन जटावलीपुष्पम्' शार्ङ्गधर-पद्धति में भी पाया जाता है।

(४) **मोरिका**—इनके नाम के चार पद्य सुभाषितावली और शार्ङ्गधरपद्धति दोनों संग्रहों में मिलते हैं। इन पद्यों के सिवाय और कुछ भी पता नहीं चलता।

(५) **इन्दुलेखा**—इनका नाम भी स्त्री-कवियों में है। इनके जन्मस्थान तथा समय का पता नहीं चलता। इनके काव्य-ग्रन्थ का भी पता नहीं चलता। वल्लभदेव की सुभाषितावली में इनका एक पद्य दिया गया है।

(६) **मारुला**—यद्यपि इनके नाम से एक ही कविता सुभाषितावलि में मिलती है, तथापि धनदेव के उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे प्रवीण स्त्रियों में गिनी जाती थीं।

(७) **विकटनितम्बा**—इसका जन्म कश्मीर देश में हुआ था। जन्मकाल और जीवन के बारे में अभी तक विशेष ज्ञात नहीं हो सका है। सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर का यह श्लोक इनके बारे में है:—

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रंजिताः।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरं वचः॥

(८) **शीला भट्टारिका**—इनका परिचय-पद्य धनदेव नामक किसी प्राचीन कवि का शार्ङ्गधरपद्धिति में उद्धृत किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि इनका नाम शीला था, जो कश्मीर की रहनेवाली थीं। इनकी रचना में मधुरता, शब्दों में सौष्ठव, अर्थों में मनमोहकता दीख पड़ती है।[1]

१. डॉ चौधरी ने 'Sanskrit Poetesses' ग्रन्थ के प्रथम भाग में इन कवियों के पद्यों का संकलन किया है, कलकत्ता १९३९।

(९) **देवकुमारिका**—ये उदयपुर के राजवंश की थीं। ये राणा अमरसिंह की पत्नी जयसिंह की पुत्रवधू तथा संग्रामसिंह की माता थीं। ये १७ वीं के उत्तरार्द्ध तथा १८ वीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थीं। इनके पुत्र का राज्याभिषेक १७१०–११ ई० में हुआ तथा १७१६ ई० में इन्होंने वैद्यनाथ की प्रतिष्ठा की जिसकी प्रशस्ति में इन्होंने **वैद्यनाथ-प्रासाद-प्रशस्ति** नामक प्रशस्ति काव्य की रचना की।[1] इस काव्य में ५ प्रकरण तथा १४२ पद्य हैं। इस ग्रन्थ में प्रथमतः उदयपुर के राणा लोगों का ऐतिहासिक, परन्तु संक्षिप्त वर्णन है। दूसरे प्रकरण में संग्रामसिंह के पट्टाभिषेक का वर्णन है। इतर प्रकरणों में मन्दिर की प्रतिष्ठा का रोचक विवरण है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह लघु काव्य नितान्त उपादेय है। इनकी शैली के उदाहरण में यह पद्य दिया जा सकता है—

> गुञ्जद्भ्रमद्-भ्रमरराजि-विराजितास्यं
> स्तम्बेरमाननमहं नितरां नमामि।
> यत्पाद पङ्कज-परागपवित्रितानां
> प्रत्यूहराशय इह प्रशमं प्रयान्ति॥

(१०) **मधुरवाणी**—ये तंजोर के प्रख्यात भूपाल रघुनाथ भूप की सभा-कवयित्री थीं। राजा ने आंध्रभाषा में रामायण की कथा निवद्ध की थी। इसी का संस्कृत पद्यों में मधुरवाणी में अनुवाद किया। यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता। अधूरे ग्रन्थ में १४ सर्ग तथा १५०० श्लोक हैं। काव्यकला की दृष्टि से ग्रन्थ अतीव उत्तम है। रामभद्राम्बा मधुरवाणी की समकालीन कवयित्री हैं।

(११) **रामभद्राम्बा**—इन्होंने रघुनाथ भूप की आज्ञा से **रघुनाथाभ्युदय**[2] का निर्माण किया। रघुनाथ तंजोर के नायकवंशीय नरेशों में अत्यन्त प्रख्यात थे। समय है १७ वीं शती का उत्तरार्ध। यह काव्य १२ सर्गों में विभक्त है, जिसमें रघुनाथ भूप का जीवन-चरित, वंश, सभा, सभाकवि तथा राजसी वैभव का बड़ा ही सच्चा चित्र चित्रित किया गया है। यह काव्य की दृष्टि से रुचिर होने की अपेक्षा ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी के लिए नितान्त उपादेय है। इसे हम चरित-काव्यों की श्रेणी में रख सकते हैं।

(१२) **तिरुमलाम्बा**—इनका समय १६ वीं शती का उत्तरकाल है। विजयनगर के प्रख्यात नरेश अच्युतदेव (१५२९ ई०–१५४२ ई०) के राज्यकाल में इन्होंने अपना प्रख्यात चम्पूकाव्य लिखा। इनके चम्पू का नाम है—वरदाम्बिका-परिणयचम्पू, जिसमें राजा अच्युतराय का वरदाम्बिका के साथ विवाह का रोचक प्रसंग बड़ी ही उदात्त शैली में निबद्ध किया गया है। लेखिका अपने को राजाधिराज अच्युतराय का 'प्रेम-सर्वस्व' तथा 'विश्वासभू' बतलाती है, जिससे मालूम पड़ता है कि राजा की इनपर विशेष कृपादृष्टि थी। ग्रन्थ की लम्बी पुष्पिका से भी राजा के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध का पूरा परिचय नहीं मिलता। जो कुछ भी हो, इनकी कविता बड़ी प्रौढ़ है। अच्युतराय के पूर्व

---

१. **'संस्कृत पोयटेसेज' (द्वितीय भाग) नामक ग्रन्थ में प्रकाशित, कलकत्ता १९४०।**

२. **डा० टी० आर० चिन्तामणि के द्वारा सम्पादित, मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित, १९३४।**

पुरुषों का इतिहास जानने के लिए भी यहाँ बड़ी ही उपादेय सामग्री संकलित है। काव्य में कलापक्ष भी बड़ी मार्मिकता के साथ निबाहा गया है। नाना प्रकार की शाब्दी चमत्कृति तथा अर्थ-प्रौढ़ि से समन्वित यह चम्पूकाव्य वास्तव में एक कमनीय कृति है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रीकवियों का भी संस्कृत काव्य के परिवर्धन में विशेष हाथ रहा है।

(१३) **गंगादेवी**—गंगादेवी का **'मधुराविजय'**[2] या **वीरकम्परायचरित्र** काव्य ऐतिहासिक काव्यों की माला में एक उज्ज्वल मणि है। यह काव्य साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से जितना सुन्दर है, ऐतिहासिक दृष्टि से उतना ही प्रामाणिक है। इसमें वर्णित घटनाओं का सम्बध विजयनगर साम्राज्य के आदिम काल से है, जब महाराज बुक्क ने दक्षिण भारत में फैलने वाले दुर्दान्त यवनों के उत्पीडन तथा आक्रमण से भारतीय धर्म तथा संस्कृति के रक्षण के लिए एक प्रभावशाली राज्य की स्थापना अपने पराक्रमी भ्राताओं तथा गुरु क्रिया-शक्ति और माधवचार्य की मन्त्रणा से की। गंगादेवी उन्हीं के सुपुत्र कम्पण की महिषी थीं और उन्होंने अपने वीर पतिदेव की विजय-यात्राओं का अत्यन्त सजीव, सच्चा तथा स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत कर इस काव्य को पूर्ण ऐतिहासिक बनाने का सफल प्रयत्न किया। घटनाओं में आँखों-देखी सहजता झलक रही है और इसीलिए यह विजयनगर के इतिहास के निमित्त नितान्त उपादेय तथा ग्राह्य माना जाता है। दुःख इतना ही है कि यह काव्य बहुत कुछ अधूरा ही है, परन्तु इसके उपलब्ध आठ सर्गों में कम्पण का यवन सुल्तान के हाथों से मधुरा के उद्धार का महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है।

गंगादेवी राजमहिषी होने के अतिरिक्त कमनीय काव्य-शैली की एक महनीय कवि हैं। इस काव्य में वैदर्भी की सहज सुषमा सहृदयों का हृदयावर्जन करती है। शब्दों में चमत्कार है, अलंकारों की कोमल सजावट है, प्रकृति के साथ हृदय का पर्याप्त सामञ्जस्य है, परन्तु श्लाघनीय वस्तु है चित्त की उल्लासमयी अपूर्वता, भावों में नवीनता का भव्य-दर्शन तथा कोमल हृदय का सहज प्रदर्शन। गंगादेवी की कविता में स्वाभाविक प्रवाह है तथा सुकुमार शब्दों में कोमल भावों की अभिव्यक्ति सरस नारी-हृदय की परिचायिका है। सौम्य पक्ष की प्रबलता है। प्रकृति को गंगादेवी ने देखा है अपनी प्रेमभरी दृष्टि से। इसीलिए मात्रा में विपुल न होने पर भी यह कविता गुणों की दृष्टि से ग्राह्य, रोचक तथा सरस है। अलंकारों की सजावट में गंगादेवी सरलता तथा स्वाभाविकता का आश्रय लेती हैं। मुकुलित कमल के चारों ओर विचरणशील भ्रमर की समानता किसी प्रहरी के साथ बड़ी सहृदयता से की गई है—

घटमानदलाररीपुटं नलिनं मन्दिरमिन्दिरास्पदम्।
परिपालयति स्म निक्वणन् परितो यामिकवन्मधुव्रतः॥

---

१. डॉ० लक्ष्मणस्वरूप के द्वारा सम्पादित तथा मोतीलाल बनारसीदास के द्वारा प्रकाशित, लाहौर, १९३८।

२. पण्डित हरिहर शास्त्री तथा श्रीनिवास शास्त्री के द्वारा सम्पादित ट्रिवेन्ड्रम से प्रकाशित, १९१६।

जिस प्रकार कोई प्रहरी किसी अमूल्य निधि के चारों ओर विचरण करता हुआ धीरे में कुछ गुनगुनाने लगता है, उसी प्रकार कमल-कोश के भीतर छिपे हुए मधु की रक्षा के लिए भ्रमर चारों ओर घूमता हुआ गुञ्जन कर रहा है। उपमा का औचित्य सहृदयता का नितान्त सूचक है।

वनस्थली में लहराते हुए जपा-कुसुमों के ऊपर किसी नायिका के द्वारा नीराजना का भव्य आरोप किया गया है इस पद्य में—

> वनभुवः परितः पवनेरितैर्नवजपाकुसुमैः कुलदीपिका।
> प्रथममेव नृपस्य निदेशतो विजयिनस्तुरगाननिराजयन् ॥

जिस प्रकार अनेकों दीपकों को एक पात्र में रख कर उनको घुमाते हुए नीराजना की जाती है, उसी प्रकार झूमते हुए गुलाबों पर घुमाई जानेवाली दीपवर्तिका की कल्पना है। यह कल्पना नितान्त कलात्मक है। यहाँ पर प्रकृतिनटी मानों सजीव होकर प्रसूनों के दीप जलाकर आरती कर रही है।

इन स्त्री कवियों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(क) सुभाषित ग्रन्थों में उद्धृत मुक्तक रचना वाली तथा (ख) प्रबन्धकाव्य-निर्माण करनेवाली। आरम्भ में निर्दिष्ट आठ कवयित्रियों को मुक्तक श्लोकों की रचना का श्रेय दिया जाता है तथा शेष को प्रबन्धकाव्य के निर्माण का। यह तो निश्चित है कि इन स्त्री-कवियों के प्रेम के विषय में ही अधिकतर कवितायें लिखी हैं, परन्तु मुक्तक पद्यों के अनुशीलन से उनके काव्य-गुणों का यथार्थ परिचय नहीं मिलता। प्रबन्धकाव्य की रचना करने वाली कवयित्रियों में प्रसादमयी वाणी में सरस-सुबोध कविता लिखने की क्षमता हम निश्चयेन पाते हैं। अवश्य ही यह मार्ग पुरुष कवियों द्वारा क्षुण्ण तथा अभ्यस्त है, तथापि इस मार्ग पर सुचारु रूप से चलना भी क्या कम योग्यता का सूचक है? स्त्री-सुलभ भावों की अभिव्यंजना इन प्रबन्धों में कम नहीं है। हम तो कोमल परिचित पदों के द्वारा मानव भावों की अभिव्यक्ति पूर्णतया इनमें पाते हैं। स्त्री-स्वभाव पर आधारित काव्यकला का दर्शन यदि आलोचकों को यहाँ नहीं मिलता, तो इन कवयित्रियों का दोष नहीं है। हम इनसे विशेष आशा नहीं कर सकते। गुणग्राही राजाओं के आश्रयदान से नारी-कवियों को स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है। ऐसे राजाओं में विजयनगर तथा तंजोर के राजाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

इन कवयित्रियों में गङ्गादेवी प्राचीनतम सिद्ध होती है। विजयनगर साम्राज्य के आदिम काल से उनका सम्बन्ध है, तो तिरुमलाम्बा का उसी साम्राज्य के उत्कर्ष काल से सम्बन्ध है। कृष्णदेव राय के उत्तराधिकारी अच्युतराय की पट्टमहिषी होने से उनका समय १६ शती का मध्यकाल है। रामभद्राम्बा तथा मधुरवाणी—दोनों का सम्बन्ध तंजौर के नायकवंशी राजा रघुनाथभूप (१७ वीं शती का उत्तरार्ध) के साथ है। रामभद्राम्बा ने अपने 'रघुनाथाभ्युदय' काव्य में अपने आश्रयदाता के जीवनचरित का अंकन पर्याप्त कुशलता से किया है। मधुरवाणी ने राजा द्वारा रचित आन्ध्र रामायण का संस्कृत अनुवाद अपने 'रामायण-कथासार' में किया है। तिरुमलाम्बा का चम्पूकाव्य तो चम्पूकाव्यों के इतिहास में अपने काव्यसौष्ठव के कारण निःसन्देह उल्लेखनीय है।

षष्ठ परिच्छेद

प्रकीर्णक काव्य

संस्कृत भाषा के कवियों के वर्ण्य विषय की सीमा नहीं है। वे नाना विषयों पर अपनी कल्पना के प्रसार का प्रदर्शन करते हैं। उन्होंने व्याकरण को लक्ष्य कर अनेक काव्यों का प्रणयन किया है, जिनमें भट्टिकाव्य प्रमुख स्थान धारण करता है। देवों के विषय में भी उनके काव्य हैं। इसी प्रकार के विषय वाले काव्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है:—(क) नीति-काव्य एवं उपदेश-काव्य, (ख) अन्योक्ति-काव्य, (ग) शास्त्र-काव्य, (घ) देवकाव्य, (ङ) यमक तथा श्लेष काव्य, (च) शृंगारी काव्य। संस्कृत के सूक्ति-संग्रहों का ऐतिहासिक परिचय भी यहीं निबद्ध किया गया है।

(१) नीतिकाव्य और उपदेश-काव्य

(क) नीतिकाव्य

संस्कृत साहित्य में नीति के वर्णनपरक विशेष ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें सूत्रात्मक पद्धति से जीवन को सुखमय तथा लाभप्रद बनाने के लिए उपयोगी नाना विषयों का वर्णन किया गया है। इन काव्यों की एक विशिष्ट सुबोध शैली है। प्रायः अनुष्टुप् वृत्तों का ही प्राचुर्य है, यद्यपि इतर वृत्तों में भी रचना उपलब्ध होती है। इनमें स्वाभाविकता इतनी अधिक है कि यें तुरन्त श्रोताओं के हृदय तक पहुँचकर अपना प्रभाव जमाने में समर्थ होते हैं। नीतिसूक्तियों का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त मौर्य के विख्यात अमात्य चाणक्य के साथ जुटा हुआ है। इन सूक्तियों के वास्तविक रचयिता के विषय में हमारा ज्ञान अधूरा है, परन्तु इनका सम्बन्ध चाणक्य से इतनी घनिष्ठता के साथ जुटा हुआ है कि इन सूक्तियों को हम **चाणक्यनीति** के नाम से स्वभावतः पुकारते हैं। इसका मुख्य कारण चाणक्य का एक महनीय राजनीतिवेत्ता होना है। फलतः इनमें व्यवहार-सम्बन्धी पद्यों के संग में राजनीति-सम्बन्धी श्लोकों का सद्भाव मिलता है। इनमें कतिपय पद्य मनुस्मृति में, महाभारत में तथा पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। इस विषय का विस्तृत अनुशीलन डॉ० लुड्विक स्टर्नबाख ने अनेक ग्रन्थों तथा शोध-निबन्धों में प्रस्तुत किया है। उन्होंने **चाणक्यनीति-शाखासम्प्रदाय** नामक ग्रन्थ में चाणक्य की नीतिसूक्तियों की छः वाचनाओं का एकत्र संग्रह सम्पादित तथा प्रकाशित किया है[1] :—(१-२) वृद्धचाणक्य (दो वाचनायें), (३) चाणक्यनीतिशास्त्र, (४) चाणक्य-सारसंग्रह, (५) लघुचाणक्य, (६) चाणक्य-राजनीतिशास्त्र तथा इनके आधार पर इस ग्रन्थ के मूल पाठ का निर्णय भी किया गया है।

---

१. प्रकाशन विश्वेश्वरानन्द इंडोलाजिकल सीरीज (सं० २७, २८ तथा २९) में किया गया है, होशियारपुर, १९६३।

वाचनाओं का परिचय

वृद्धचाणक्य के नाम से दो वाचनायें उपलब्ध हैं, जिनमें से प्रथम को सामान्य वाचना तथा द्वितीय को अलंकृत वाचना के नाम से पुकारते हैं। प्रथम वाचना में आठ अध्याय हैं। यह चाणक्यनीति का सरल तथा प्राचीन संस्करण माना जाता है। द्वितीय वाचना का अभिधान **चाणक्यनीतिदर्पण** है, जो १७ अध्यायों में विभक्त है। पद्य अधिकतर अनुष्टुप् वृत्त में हैं। कहीं-कहीं लम्बे वृत्तों में भी पद्य हैं। उपलब्ध ३३६ नीतिपद्यों में से १९७ श्लोक केवल इसी वाचना में उपलब्ध होते हैं और अवशिष्ट पद्य अन्य वाचनाओं में भी पाये जाते हैं। यह चाणक्य की वास्तव रचना है—विशुद्ध और मौलिक; यह कहना असम्भव है। वर्तमान रूप में इसके कतिपय पद्य महाभारत एवं मानव-धर्मशास्त्र से भी संगृहीत हैं। तृतीय वाचना का नाम **चाणक्यनीतिशास्त्र** है, जिसकी अवतरणिका में इसे नाना शास्त्रों से उद्धृत राजनीति का समुच्चय तथा सब शास्त्रों का बीज बतलाया गया है।[1] इसे चाणक्य द्वारा कथित मूलसूत्र कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि चाणक्य द्वारा निर्मित यह मूल ग्रन्थ प्राचीनों द्वारा माना गया है।[2] यह अष्टोत्तर शतक है—अनुष्टुप् में निबद्ध १०८ पद्य। 'अष्टोत्तरशत' की संख्या मांगलिक मानी जाती है और बहुत सम्भव है कि चाणक्यनीति की यही प्रथम तथा प्राचीन वाचना हो। चतुर्थ वाचना का अभिधान **चाणक्यसार संग्रह** है, जिसमें तीन सौ अनुष्टुप् संगृहीत हैं। आरम्भ में अवतरणिका रूपी तीन पद्यों में इसे नाना शास्त्रोद्धृत 'राजनीतिसमुच्चय' कहा गया है जिसके अध्ययन से कार्य-अकार्य, शुभ-अशुभ तथा धर्म, उपदेश और विनय का ज्ञान होता है। यह तीन शतकों में विभक्त है और प्रत्येक शतक में पूरे एक सौ अनुष्टुप् विद्यमान हैं। इसमें राजनीति के विस्तृत उपदेशों के संग में लोकनीति की भी सुन्दर शिक्षा दी गई है। इसके अन्तिम पद्य में सारचतुष्टय के अन्तर्गत काशीवास को प्राथमिकता दी गई है—

असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम्।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शम्भुसेवनम्॥

ये चारों वस्तुयें काशी में सुलभ हैं। फलतः इसका संग्रहकर्ता कोई काशीवासी अथवा काशी के प्रति निष्ठावान् व्यक्ति प्रतीत होता है।

पञ्चम वाचना **लघुचाणक्य**-नाम्ना प्रसिद्ध है। यह आठ अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में १० से १३ तक पद्य उपलब्ध होते हैं। यह वाचना भारत में अज्ञात अथवा अल्पज्ञात रही, परन्तु यूरोप में यह गत शताब्दी से ही प्रख्यात रही। इसका कारण यह था कि गेलेनास नामक यूनानी संस्कृतज्ञ ने मूल संस्कृत का यूनानी भाषा में १८२५ ई० में अनूदित कर प्रकाशित किया था, जो अन्य अनुवादों के माध्यम से यूरोपियन विद्वानों में विख्यात हुआ। षष्ठ वाचना **चाणक्यराजनीति-शास्त्र** के रूप में विद्यमान

**१. नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्।
सर्वबीजमिदं शास्त्रं चाणक्यं सारसंग्रहम्॥**

**२. मूलसूत्रं प्रवक्ष्यामि चाणक्येन यथोदितम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण मूर्खो भवति पण्डितः॥**

है, जो भारत में प्रसिद्ध नहीं था, परन्तु तिब्बती तंजूर में अनूदित होकर संगृहीत किया गया है नवम शती में। इस तिब्बती अनुवाद का संस्कृत में पुनः अनुवाद शान्ति-निकेतन से प्रकाशित हुआ है। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें उपलब्ध ५३४ श्लोकों में से ३९७ श्लोक (अर्थात् ७५ प्रतिशत श्लोक) केवल इसी वाचना में उपलब्ध होते हैं। यह वाचना चाणक्य के नीतिपद्यों का सर्वाधिक लोकप्रिय संस्करण है, क्योंकि इसके पद्य जावा तथा वाली के ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इसका राजनीति-शास्त्र नामकरण सार्थक है, क्योंकि चतुर्थ और पञ्चम अध्यायों में वर्णित विषयों का सम्बन्ध मुख्यतया राजनीति से ही है। चतुर्थ अध्याय का विषय है राजा और उसका व्यवहार तथा पञ्चम का है राजा के सेवक, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि तथा कर वसूलने की प्रणाली। इस ग्रन्थ की रचना का समय अनुमानतः निश्चित किया जा सकता है। 'अकारणाविष्कृतवैरदारुणात्' वाला कादम्बरी का प्रख्यात पद्य यहाँ संगृहीत है (५।२०) जिससे चाणक्य-राजनीतिशास्त्र के निर्माण का समय सप्तमशती के अनन्तर है। दशम शती में यह अपने उत्कर्ष युग में विद्यमान था, क्योंकि तिब्बती में अनुवाद किये जाने का यही युग है। सुभाषित संग्रहों में चाणक्य-नाम्ना उद्धृत पद्य इसी ग्रन्थ से संगृहीत है। गरुडपुराण की 'बृहस्पतिसंहिता' तथा चाणक्य की इस वाचना में अधिक साम्य मिलता है। बृहस्पति ने चाणक्य के श्लोकों का संचयन इसी वाचना से किया है, जिससे इसके प्रकृष्ट महत्त्व का पर्याप्त परिचय मिलता है। डॉ० स्टर्नवाख ने इन छहों वाचनाओं के आधार पर चाणक्यनीति के मूल रूप का संघटन बड़े परिश्रम और विवेक के साथ किया है। उनके अनुसार मूल ग्रन्थ में ११११९ श्लोक हैं, जब चाणक्य के नाम से निर्दिष्ट पद्यों की संख्या दो सहस्र से भी ऊपर है।

कहने का तात्पर्य है कि चाणक्यनीति भारतीय साहित्य का एक विशिष्ट ग्रन्थ-रत्न है जिसका प्रचार मानवजीवन के सुधार के लिए तथा राजाओं को नीतिशिक्षा के लिए भारत तथा बृहत्तर भारत के साहित्य में व्यापक रूप से उपलब्ध होता है। चाणक्यनीति के मूल तथा उपबृंहण की समस्या का पूर्ण समाधान अभी तक नहीं हो सका है। इसका वास्तव में कोई प्रणेता था, यह कहना भी संशय से खाली नहीं है।

इन नीतिसूक्तों के स्वरूप का परिचय सद्यः मिल जाता है। कहीं उपादेय वस्तुओं की गणना की प्रवृत्ति लक्ष्य होती है, तो कहीं सिद्धान्त पर बल देने के लिए एक ही शब्द की आवृत्ति की जाती है। संख्यानुसारी नियमों की प्रवृत्ति प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होती है, जो पालि अंगुत्तरनिकाय तथा जैन-स्थानांग जैसे ग्रन्थों में पूर्ण रूप से विकसित देखी जाती है। महाभारत की **विदुरनीति** में भी यह बड़ी सुन्दरता से दृष्टिगत होती है। विदुरनीति गृहस्थ के लिए आवश्यक चार वस्तुओं का संग्रह करने की शिक्षा देकर इसी प्रवृत्ति को अग्रसर करती है—

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥

चाणक्यनीति इस शैली का प्रयोग करती है—

शुष्कं मांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि।
प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यः प्राणहराणि षट्॥

उपमा के द्वारा उक्ति में प्रभावशालिता लाने का यह उद्योग भी लक्षित होता है—

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना ।
आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी ॥

उपदेश के औचित्य पर ध्यान दीजिये—

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम् ॥

यह श्लोक हितोपदेश में ही नहीं, मार्कण्डेयपुराण (३७।२३) में भी मिलता है। समान वस्तुओं के चयन का प्रभावशाली उदाहरण चाणक्यनीति का यह पद्य प्रस्तुत करता है—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥

यही पद्य वाराहपुराण (१५३।२६) में तथा महाभारत के शान्ति पर्व के अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है । उपमाओं का औचित्य-कथन का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है—

जललेखेव नीचानां यत् कृतं तन्न दृश्यते ।
अत्यल्पमपि साधूनां शिलालेखेव तिष्ठति[1] ॥

गृहस्थ के आदर्श का यह चित्र नितान्त मनोरम है—

अहिरण्यमदासीकं गृहं गोरस-र्वजितम् ।
प्रतिकूल-कलत्रं च नरकस्यापरो विधिः[2] ॥

चाणक्यनीति का बृहत्तर भारत में भ्रमण

चाणक्यनीति तथा पौराणिक सुभाषितों में भारतीय मनीषियों के लोक-व्यवहार और राजनीति-विषयक सूक्ष्म अनुभव तथा व्यापक ज्ञान का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति के द्वीपान्तर में प्रवेश तथा प्रसार के संग में इन सुभाषितों का भी प्रवेश तथा प्रसार सम्पन्न हुआ । ये सुभाषित बृहत्तर भारत के देशों में इतनी सुन्दरता से प्रविष्ट हो गये हैं कि वहाँ के निवासी अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए इनका सन्तत आश्रय लेते हैं तथा मनीषियों के अनुभवों से लाभ उठाकर अपने जीवन को सुखमय एवं कल्याणमय बनाते हैं । इन नीतिमयी सूक्तियों की लोकप्रियता बृहत्तर भारत के समस्त देशवासियों में हैं—तिब्बती, मंगोली, मंचूरियन, नेपाली, सिंघली, बरमी, सियामी, चाम, ख्मेर, जावा तथा बाली निवासियों में ये नितान्त लोकप्रिय हैं ।

तिब्बत भाषा के प्रख्यात ग्रन्थ-समुच्चय **'तंजूर'** में नीतमयी सूक्तियाँ उपलब्ध हैं। **'मसूराक्ष'** नामक विद्वान् का नीतिशास्त्र, **चाणक्यराजनीतिशास्त्र** का सम्पूर्ण अनूदित भाग, **विमलप्रश्नोत्तर-रत्नमाला, सुभाषितरत्ननिधि, शेरब्–दोंगबू** नामक ग्रन्थ यहाँ संगृहीत हैं । 'सुभाषितरत्ननिधि' में कई सहस्र सुभाषित उपलब्ध हैं, जिनमें से अनेक भारतीय मूल से उत्पन्न हैं । इस मूल संस्कृत के तिब्बती अनुवाद का अनुवाद मंगोल, पश्चिमी

---

१. चाणक्यसारसंग्रह ३।२१; २ वही २।९९ ।

मंगोल तथा मनचूरिया की भाषा में भी किया गया है, जिससे चाणक्यनीति चीन के इन उत्तरी प्रदेशों की भाषाओं में प्राप्त है जिससे तद्भाषाभाषी जन चाणक्य की उदात्त व्यवहारनीति के नियमों से पूर्ण परिचय रखते हैं। ध्यान देने की बात है कि चाणक्यनीति की षष्ठ वाचना समग्र रूप में तिब्वती भाषा में विद्यमान है।

नेपाल में सम्पूर्ण चाणक्यसारसंग्रह नितान्त लोकप्रिय है और अनेक सुभाषितसंग्रह उदाहरणार्थ सुभाषितरत्नकोष भी वहाँ विशेष रूप से प्रचलित हैं। सिंघली साहित्य (लंका) भी चाणक्यनीतियों से परिचय रखता है। सम्पूर्ण तृतीय वाचना—चाणक्यनीतिशास्त्र—सिंघली साहित्य में विद्यमान है, वहाँ की सिंघली लिपि में अथवा सिंघली अनुवाद में संस्कृत के दो बहुमूल्य सुभाषित ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके नाम **'व्यासकारय'** तथा **'प्रत्ययशतकय'** है। 'व्यासकारय' के अभिधान से प्रतीत होता है कि इनमें व्यास के वचन महाभारत से संगृहीत हैं, परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। इसमें चाणक्यनीति के तथा भर्तृहरिशतक के ही पद्य उपलब्ध होते हैं। 'प्रत्ययशतकय' के लगभग पचास प्रतिशत पद्यों के मूलस्थान का परिचय मिल गया है। ये मूल चाणक्यनीतिशास्त्र, पञ्चतंत्र तथा हितोपदेश आदि हैं। सिंघली साहित्य में उपलब्ध सुभाषित भी संस्कृत के ही सुभाषित हैं, जो सीधे न जाकर तमिळ भाषा के ग्रन्थों के माध्यम से वहाँ प्रविष्ट हैं।

ब्रह्मा में भी चाणक्य की नीति लोकप्रिय है। ये सूक्तियाँ बरमी पाली-साहित्य के **लोकनीति** नामक ग्रन्थ में संगृहीत हैं। ध्यान देने की बात है कि लोकनीति में बौद्ध नीतियों का संकलन नहीं है, प्रत्युत ब्राह्मणधर्मी नीतियाँ ही उसमें विराजती हैं। **धम्मनीति, सुत्तबड्ढनीति** तथा **राजनीति** नामक पालि ग्रन्थों में संस्कृत नीतियाँ उपलब्ध होती हैं। **नीति क्यन्** लोकनीति का वर्मी अनुवाद है जिसमें चाणक्यनीतिशास्त्र सम्पूर्णरूपेण उपलब्ध है।

ब्रह्मा का **लोकनीति** नामक पालि-ग्रन्थ थाईलैण्ड, चाम, ख्मेर की संस्कृति में भी भी प्रविष्ट है। चाणक्यनीति की चाणक्यनीतिशास्त्र वाली वाचना पूर्णरूपेण थाई लोगों में लोकप्रिय है। चम्पा, कम्बुज देश, लाओस तथा मलय देश में भी पालि लोकनीति प्रचलित रही है। कम्बुज देश में **लोकनीतिपकरण** (=प्रकरण) आज भी लोकप्रिय है तथा उसका उद्धार विद्वानों के प्रयास से अभी हुआ है। लाओस में भी चार सौ पद्यों की लोकनीति नामक पोथी विद्यमान है। इन देशों में चाणक्यनीति का प्रवेश पालि-भाषा के माध्यम से हुआ था, परन्तु प्राचीन जावासाहित्य में तो ये नीतियाँ संस्कृत से ही सीधे गृहीत कर ली गई हैं। भगवान् वररुचि द्वारा संगृहीत **'सारसमुच्चय'** नामक ग्रन्थ तो सुभाषितों का संग्रह है, जो केवल महाभारत से ही चुनकर एकत्र की गई है। प्राचीन जावाभाषा में निर्मित **श्लोकान्तर** नामक ग्रन्थ में भी भारतीय नीतिवाक्य ही शब्दतः तो नहीं, परन्तु अर्थतः विद्यमान है। पंचतन्त्र का ही इस भाषा में अनूदित रूप **नीति-कामन्दकी** या **तन्त्रिकामन्दक** के नाम से प्रख्यात है। इसमें भी संस्कृत के नीति-सूक्त उपलब्ध हैं। इस भाषा का एक दूसरा प्रख्यात ग्रन्थ **नीतिसार** का **नीतिशास्त्र** है। इसमें भी संस्कृत की सूक्तियाँ उपलब्ध हैं। भारत के पश्चिम में भी फारसनिवासियों ने चाणक्य-नीतिशास्त्र का फारसी में अनुवाद किया तथा स्पेन के एक विद्वान् ने १२ वीं या १३ वीं शती में उसका अरबी अनुवाद प्रस्तुत किया। फलतः चाणक्यनीति की यह भ्रमण

कहानी ग्रन्थ की उपादेयता तथा व्यावहारिकता का प्रकृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है, जो सद्यः आश्चर्यजनक है[१]।

नीतिकाव्य तथा उपदेश काव्य में सूक्ष्म पार्थक्य लक्षित होता है। जीवन के परिष्कार तथा मंगल के निमित्त उपदेश देना दोनों का समानरूपेण लक्ष्य है, परन्तु नीतिकाव्यों में सूक्ति का सौष्ठव विद्यमान रहता है, जब कि उपदेशकाव्यों में अर्थ की कल्पना पर आग्रह रहता है। नीतिकाव्य की चोट सीधे पड़ती है, जब कि उपदेशकाव्य का आघात परम्परया पड़ता है। चाणक्यनीति को आदर्श मान कर संस्कृत में एक विस्तृत साहित्य विद्यमान है। इससे प्रेरणा लेने वाले कवियों में भर्तृहरि प्राचीन हैं। इनका 'नीतिशतक' इस विषय का एक प्रतिनिधि काव्य माना जाता है। इनके काव्यों की विशेष चर्चा आगे की जायेगी।

(ख) उपदेशकाव्य

काव्य के मान्य तथा महनीय प्रयोजनों में 'कान्ता-सम्मित उपदेश' भी अन्यतम है। मनोरंजन के साथ शिक्षण, हृदयावर्जन के साथ तत्त्व का उपदेश यदि काव्य नहीं करता तो पाठकों का वास्तव आकर्षण नहीं हो सकता। संस्कृत के कवियों ने इस काव्य-तत्त्व के मर्म को खूब ही पहिचाना और इसलिए उन्होंने उपदेशपरक अथवा नीति-विषयक काव्यों का प्रचुर प्रणयन किया। उपदेश की भी दो शैली होती है—एक तो साक्षात् रूप से और दूसरी परोक्ष रूप से। प्रथम प्रकार में हम उन नीतिग्रन्थों की चर्चा नहीं करते जिनका उद्देश्य साक्षात् रूप से शिक्षा-दान होने पर भी रमणीयार्थ-प्रतिपादक न होने से जो काव्य के कोमल अभिधान से ही वञ्चित हैं। उपदेशपरक काव्यों का ही यहाँ समावेश हो सकता है, जो पाठकों के हृदय का अनुरंजन अपनी कमनीयता के कारण करते हैं तथा उनके मस्तिष्क की पुष्टि अपनी सुन्दर शिक्षा के द्वारा करते हैं। द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत उन काव्यों का अन्तर्भाव होता है जिनका उद्देश्य किसी चारित्र्यगत त्रुटि अथवा दोष का मार्जन होता है, परन्तु जो अपने कार्य की सिद्धि के लिए हास्यरस का आश्रय लेते हैं, अर्थात् किसी त्रुटि का, अथवा सामाजिक दोष का, वर्णन ऐसे गंभीर हास्य के साथ करते हैं कि वह पाठकों के हृदय में चुभ जाती है, घर कर लेती है और उसके दूर करने के लिए बद्धपरिकर हुए विना वह नहीं रह सकता। ऐसे काव्य-प्रकार को अंगरेजी में 'सेटायर' कहते हैं। प्रथम प्रकार की वहुलता देखकर हमारी धारणा उन्हीं के अस्तित्व के प्रति बद्धमूल हो जाती है, परन्तु द्वितीय प्रकार के 'हास्यापदेशक काव्यों' का भी सर्वथा संस्कृत-साहित्य में अभाव नहीं है। यह तो हम क्षेमेन्द्र के काव्यों के अनुशीलन से भली-भाँति कह सकते हैं।

कुट्टनीमत

कविवर दामोदर गुप्त की यह सरस-सरल कृति अपने विषय की महनीय रचना है। राजतरंगिणी तथा प्रकृत ग्रन्थ की पुष्पिका से इनका कश्मीरनरेश जयापीड (७७९ ई०—८१३ ई०) का प्रधान अमात्य होना सिद्ध होता है। कश्मीर का राजनीतिक इतिहास उथल-पुथल की कहानी है, जिसमें परिवर्तन की आकस्मिकता के हेतु समाज भी सहसा

---

१. **विशेष द्रष्टव्य डॉ० स्टेर्नवाखका लेख**—Puranic Wise Sayings in the literature of "Greater India" **पुराण, भाग ११, पृष्ठ ७३–११५।**

विशृंखल तथा अनियन्त्रित हो उठा था। क्षेमेन्द्र के युग (११ शतक) के समान दामोदर गुप्त का भी समय (८ म शतक) समाज में चारित्रिक पतन और शैथिल्य की दुःखद कहानी प्रस्तुत करता है। राजतरंगिणी के अनुसार जयापीड से पूर्ववर्ती दो-तीन राजा बहुत ही अन्यायी, अत्याचारी, लम्पट और कामुक थे। जयापीड सरस्वती के उपासकों का आश्रयदाता था। वह आरम्भ में बहुत ही पवित्र तथा धार्मिक जीवन बिताता था, परन्तु जीवन के अन्तिम काल में वह लम्पट बन गया तथा इन्द्रिय-सुख में ही आसक्त रहता था। उसके उत्तराधिकारी ललितादित्य का राज्यकाल भी इस विषय में विशेष सम्पन्न नहीं था। कल्हण का कहना है कि वह कुट्टनियों से घिरा रहता था, वेश्याओं की सरस कामोद्दीपन कथाओं में चतुर व्यक्तियों से उसकी घनिष्ठता थी। कतिपय ही स्त्रियों का सम्पर्क उसके सन्तोष का कारण नहीं बनता था। 'राजा कालस्य कारणम्।' राजा के चारित्रिक ह्रास का प्रभाव तत्कालीन राजकुमारों, धनी-मानी व्यक्तियों तथा समाज के कर्णधारों पर पड़ा तथा सामान्य जनता का जीवन भी इस प्रभाव से अछूता नहीं बच सका।

'कुट्टनीमत' के प्रणयन की यह पूर्वपीठिका है। दामोदर गुप्त ने इस समाज को बड़े नजदीक से देखा था तथा उसकी कमजोरियों और त्रुटियों ने उनके भावुक हृदय को बलात् अपनी ओर खींच लिया था। इस समाज के परिष्कार तथा परिशोधन के निमित्त ही उन्होंने उस उपदेशमय काव्य की रचना की। इसमें 'विकराला' नामक कुट्टनी के रूप का चित्रण इतनी सुन्दरता के साथ किया गया है कि उसकी अभव्य आकृति नेत्रों के सामने झूलने लगती है (आर्या २७–३०)। अन्दर को धँसी हुई आँखें, शरीर की त्वचा के शिथिल होने से ढीले-सूखे स्तन, ढलती उम्र के कारण सफेद-काले बालों से गंगाजमुनी बना हुआ सिर, सफेद धुली हुई चादर तथा धोती से मढ़ी हुई देह, गले के सूत्र में नाना प्रकार की ओषधियाँ मणके में बँधी हुई, चौकी पर बैठी, गणिका-वेश्यासमूह से घिरी विकराला सर्वदा के लिए कुट्टनी की अप्रतिम साहित्यिक मूर्ति प्रस्तुत करती है। मालती नामक नौंची को वह नाना प्रकार के दृष्टान्तों से कामिजनों से धन ऐंठने की शिक्षा इतने विस्तार से देती है कि सचमुच यह 'कुट्टनीमतम्' कुट्टनी के मत का प्रतिपादक कामशास्त्र का एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। प्राचीन युग के दो समृद्ध नगर—वाराणसी तथा पाटलिपुत्र—की काम-प्रवृत्ति का चिणत्र करने के कारण यह ग्रन्थ सांस्कृतिक मूल्य से भी महीयमान है। रत्नावली के अभिनय का यहाँ विवरण उपलब्ध होने से इसका नाटचशास्त्रीय दृष्टि से भी नितान्त महत्त्व है।

इसका काव्यपक्ष भी शोभन, आवर्जक तथा रोचक है। १०५९ आर्याओं में निबद्ध यह काव्य अपनी मधुरता तथा स्निग्धता के कारण संस्कृत काव्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। गोवर्धनाचार्य की आर्याओं के समान दामोदर गुप्त की आर्याएँ रचना के कौशल में, पदों के विन्यास में तथा अर्थ की अभिव्यञ्जना में सचमुच अद्वितीय हैं, जिनके विषय में हम गोवर्धन की उक्ति को किञ्चित् परिवर्तित कर कह सकते हैं—

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा दामोदरस्यार्याः॥

मेरी दृष्टि में दामोदर गुप्त आर्या के आद्य आचार्य हैं। इनकी काव्य-महिमा से अपरिचित जन ही गोवर्धन को आर्या का प्रथम कवि मानते हैं; वस्तुतः ये आर्या लिखने में 'आर्यासप्तशती' से तीन सौ वर्ष प्राचीन हैं। प्रवाहमयी सरस-सुभग आर्या की रचना के कारण हम दामोदर गुप्त को आर्या का परिष्कारक प्रथम महाकवि मानते हैं। इस काव्य में सौन्दर्य तथा माधुर्य का सन्निवेश इसे महनीय तथा माननीय बनाने में सर्वथा समर्थ है। इसीलिए मम्मट और रुय्यक ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में तथा वल्लभदेव और शार्ङ्गधर ने अपने सुभाषित-संग्रहों में इन्हें उद्धृत किया है। दो-चार उदाहरण इस अर्थ-गाम्भीर्य तथा शब्द-सौष्ठव के प्रदर्शनार्थ पर्याप्त होंगे।

मालती की विरह-दशा का परिचायक यह आर्या काव्य-प्रकाश में उद्धृत की गई है

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥१०३॥

वह बाला दिन-रात अपनी सखियों से कहती रहती है—ए सखि ! कपूर को हटाओ, मोतियों के हार को दूर करो, शरीर पर गरमी ठंढा करने के लिए रखे हुए इन कमलों से क्या लाभ ? मृणाल-कमल के नाल को बस करो। इन उपायों से क्या मेरे शरीर की गर्मी शान्त हो सकती है ? 'लकार' की बहुलता से पदों का शिथिल विन्यास कितना रसोपयोगी है।

महादेव के ऊपर मालती के निरीक्षण का प्रभाव इस आर्या में विन्यस्त है—

यदि सा पतति कथञ्चिद् वीक्षणविषये हरस्य तदवश्यम्।
त्रिभुवनमशिवं कुरुते वामेतरदेहभागमासाद्य ॥११९॥

वेश्याओं की तुलना चुम्बक के साथ बड़ी सुन्दरता से की गई है। जिस प्रकार अत्यन्त कठोर होने वाला (परमार्थ-कठोरा) चुम्बक पत्थर अपनी पहुँच में आये हुए (विषयगतम्) लोहे को खींचता है, उसी प्रकार परिणाम में कष्ट देने वाली (परमार्थ कठोरा), रूप से जीविका प्राप्त करने वाली वेश्यायें विषयों में आसक्त (विषयगतम्) मनुष्यों को अनिवार्यरूपेण खींच लेती हैं। लाख कोई कोशिश करे; यह कर्षण क्षण भर के लिए भी रुक नहीं सकता। यही इस उपमा का अभीष्ट व्यङ्ग्यार्थ है—

परमार्थकठोरा अपि विषयगतं लोहकं मनुष्यं च।
चुम्बकपाषाणशिला रूपाजीवाश्च कर्षन्ति ॥३२०॥

शैली प्रसादमयी है—आर्याओं में बड़ा रोचक तथा मञ्जुल प्रवाह है। दो-चार नवीन शब्दों के प्रयोग से प्रसाद का विघटन कथमपि नहीं होता। यत्र-तत्र श्लेष की भी छटा पर्याप्तरूपेण आकर्षक है। नीचे की आर्या में कोई राजा 'व्याकरण' के साथ उपमित किया गया है। यहाँ श्लेष सुन्दर होकर भी विषम नहीं है—

तत्रापि वृद्धियोगस्तस्मिन्नपि पुरुषगुणगणख्यातिः।
परिभाषा तत्रापि व्याकरणान्नातिरिच्यसे तेन ॥७८२॥

इस आर्या में वृद्धि, पुरुष, गुण, ख्याति, परिभाषा, शब्द व्याकरण के पारिभाषिक

शब्द हैं। साथ ही साथ इनका नृपपक्ष वाला अर्थ भी दुर्गम नहीं है। इन्हीं साहित्यिक सौन्दर्यों के कारण 'कुट्टनीमत' क्षेमेन्द्र का प्रेरणाप्रद मूलस्रोत माना जा सकता है।[1]

क्षेमेन्द्र

महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी तीव्र निरीक्षणशक्ति के द्वारा कश्मीर के तत्कालीन समाज तथा धर्म का खूब ही गहरा अनुशीलन किया था। महाराज अनन्तदेव (११ शतक) से पूर्व का कश्मीर कायस्थों तथा नियोगियों के मिथ्याचार तथा कूटाचार का पात्र था। देश के उच्चाधिकारी के नाते कायस्थों ने जनता को कुशासन से पीस डाला था। जनता कराहने लगी थी तथा रोटी-रोटी के लिए मोहताज बनी हुई अपना सच्चा रक्षक खोज रही थी। क्षेमेन्द्र ने अपनी ही खुली आँखों से जनता की दुरवस्था देखी थी और अपने ही खुले कानों से उन्होंने उनका करुण-क्रन्दन सुना था। फलतः उनका सहानुभूतिमय हृदय इनसे पिघल उठा और उन्होंने जनता के सच्चे दुःखों की रामकहानी बड़ी ही मार्मिकता से अप ा काव्यों में लिखी। क्षेमेन्द्र के कलम में जोर है, अनुभव में सचाई है, लेखन-शैली म तीव्रता है, कथन में ओजस्विता है और हृदय में दुःखों के बोझ से कराहनेवाली जनता के लिए सच्ची सहानुभूति है। इसीलिए क्षेमेन्द्र के इन काव्यों में तीव्र हास्य के साथ व्यंग्य से संपुटित अतीव मार्मिक उपदेश है।

क्षेमेन्द्र की कलम की चोट से पाठक दहल उठता है। इनके काव्यों में उपदेश होने पर भी वे नितान्त सरस, हृदयावर्जक हैं। सीधे-सादे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त सुन्दर भाव श्रोताओं के हृदय को स्पर्श ही नहीं करते हैं, प्रत्युत गहरी चोट करते हैं। उनके वर्णनों में नवीनता है तथा आधुनिकता की इतनी सुन्दर अभिव्यंजना है कि आज के पाठकों को भी उसकी रम्यता मोह लेती है। इन्हीं काव्यों का परिचय यहाँ अभीष्ट है।

कलाविलास——क्षेमेन्द्र के उपदेश काव्यों में कला-विलास[2] अपना प्रमुख स्थान रखता है। कलाशास्त्र के प्राचीन प्रवीण पण्डित मूलदेव ने जगत् को ठगने वाले धूर्तों की नाना विद्याओं का यहाँ परिचय दिया है, जिनका ज्ञान जनता को कपटियों के जाल से बचाने में समर्थ होगा। इस काव्य में १० सर्ग हैं जिनमें क्रमशः ये विषय वर्णित हैं——दम्भ, लोभ, काम, वेश्यावृत्त, कायस्थचरित, मद, गायन, सुवर्णकारोत्पत्ति, नाना धूर्त तथा समस्त कलावर्णन। क्षेमेन्द्र का पवित्र उद्देश्य है। ये कलायें अनेक प्रकार से अनेक रूप धारण कर मानवों को ठगती हैं, अत एव इनकी पूरी जानकारी उनसे बचने के लिए नितान्त आवश्यक है। विषय सरस-सुबोध शैली में निर्दिष्ट है। कायस्थ की कलम से निकलने वाले तथा अधिकारियों को ठगने वाले अक्षरों के विन्यास का यह कितना मार्मिक चित्रण है——

> कलमाग्रनिर्गतमषीबिन्दुव्याजेन साञ्जनाश्रुकणैः।
> कायस्थलुण्ठ्यमाना रोदिति खिन्नेव राज्यश्रीः॥

---

१. काव्यमाला के तृतीय गुच्छक में मूलमात्र प्रकाशित; पण्डित मनसुखराम त्रिपाठी ने नवीन संस्कृत व्याख्या से मण्डित कर बम्बई से प्रकाशित किया। श्री अत्रिदेव विद्यालंकार का हिन्दी अनुवाद काशी से प्रकाशित है (१९६१)।

२. काव्यमाला गुच्छक प्रथम में प्रकाशित।

अङ्गान्यासैर्विषमैर्मायावनितालकावलीकुटिलैः ।
को नाम जगति चरितैः कायस्थैर्मोहितो न जनः ॥

क्षेमेन्द्र ने इस काव्य में जिन कलाओं का चित्र खींचा है उनमें आश्चर्यजनक आधुनिकता दृष्टिगोचर होती है। वे ऐसे यायावर गायकों तथा चारणों से परिचित थे जो पात्रों और गाड़ियों के साथ लम्बे बालों को रखे हुए अनेक बच्चों को साथ लिए अपनी कला दिखला कर लोगों से इनाम माँगते हुए विचरण किया करते थे और माँगते-फिरते राह काटते चलते थे। उस वैद्यक-वर्णन में भी आधुनिकता की कमी नहीं है, जो झूठी औषधों को देकर अपने रोगियों को मौत के घाट उतारता है, पर प्रतिष्ठा तथा मान-मर्यादा पाने में अन्ततः समर्थ होता है। यही दशा इस ज्योतिषी की भी है जो अपने ग्राहकों के भविष्य-कथन करने का स्वांग रचना है, परन्तु उसके पीछे उसकी पत्नी कौन-सा कर्म करती है यह भी नहीं जानता। ये सब चित्र क्षेमेन्द्र के लोकव्यवहार के सूक्ष्म निरीक्षण के जीवन्त प्रमाण हैं। **दर्पदलन**[1] में क्षेमेन्द्र ने उच्चकुल, धन, विद्या, सौन्दर्य, साहस, दान तथा तपस्या से उत्पन्न दर्प की निःसारता दिखाई है। इसमें सात विचार हैं, जिनके आरम्भ में तद्विषयक उपदेशात्मक सूक्तियाँ हैं तथा उनकी युक्तिमत्ता दिखाने के लिए एक आख्यान दिया गया है, जिसका प्रधानपात्र अपने भाषणों से उन नीतियों की उपादेयता सिद्ध करता है। **चारुचर्या**[2] सदाचारविषयक शतक है, जिसमें अनुष्टुप् छन्दों के द्वारा पूर्वार्ध में नीति तथा उत्तरार्ध में उसके समर्थक उदाहरण इतिहास-पुराणों से दिये गये हैं। यह काव्य क्षेमेन्द्र की इतिहास तथा पुराणों के विभिन्न आख्यानों की बहुज्ञता दिखला कर उनके 'व्यासदास' अभिधान को सार्थक बनाने में सर्वथा समर्थ है।

चतुर्वर्गसंग्रह[3]--पुरुषार्थ चतुष्टय का विवरण देने वाला उपदेश काव्य हैं। इसमें चार परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्रशंसा निविष्ट की गई है। कविता हृदयावर्जिनी है। काम प्रशंसा में क्षेमेन्द्र ने उस सुन्दरी का कमनीयचित्रण किया है जो पतिदेव को लाने वाले घोड़े के कन्धों में लगी धूल को अपनी आँचल के कोने से झाड़ कर अपनी महती कृतज्ञता प्रकट कर रही है—

समायाते पत्यौ ब्रहुतरदिनप्राप्यपदवीं
समुलङ्घ्याविघ्नागमनचतुरं चारुनयना ।
स्वयं हर्षोद्वाष्पा हरति तुरगस्यादरवती
रजः स्कन्धालीनं निजवसनकोणावहननैः ॥

सेव्यसेवकोपदेश[4]--क्षेमेन्द्र ने इसमें सेवक की दीनदशा तथा प्रभुजनों के द्वारा किये गये दुर्व्यवहारों का वर्णन बड़े रोचक ढंग से किया है। इसमें ६१ पद्य हैं जिनमें अनेक छन्द प्रयुक्त हैं। कविता प्रसादमयी है तथा अपने वर्णनों से पाठकों का हृदय

---

१. काव्यमाला षष्ठ गुच्छक में प्रकाशित।
२. काव्यमाला द्वितीय गुच्छक में प्रकाशित।
३. काव्यमाला, पंचम गुच्छक में प्रकाशित।
४. काव्य[illegible], द्वितीय गुच्छक के शप्रकत।

आकृष्ट करती है। एक ही श्लोक पर्याप्त होगा जिसमें अन्योक्ति द्वारा आदिष्ट होने पर भी सेवक आशा नहीं छोड़ता--

विरम विरम नेयं पान्थ नम्राम्रमाला
बधिर खदिरपाली निष्फलैषा प्रयाहि।
इति बहुविधमुक्तः सेवकोऽन्यापदेशै-
स्त्यजति न विपुलाशापाश-बद्धः कुसेवाम् ॥

'समय-मातृका'[1] (वेश्याओं के सिद्धान्तों का प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थ) धनी मानी जनों को वेश्याओं के जाल से बचने की शिक्षा देने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखा गया है। इस ग्रन्थ की रचना २५ लौकिक संवत्सर (१०५० ईस्वी) में अनन्तदेव के राज्यकाल में हुई, इसका निर्देश ग्रन्थ के अन्त में किया गया है। इस ग्रन्थ में आठ 'समय' (परिच्छेद) हैं, जिनमें कश्मीर के 'प्रवरपुर' नगर की कलावती नाम्नी वेश्या को उसके नापित-जातीय गुरु ने वेश्याओं के सिद्धान्तों का--कुट्टिनी का उपयोग, कामुक जनों को वश में करने की कला तथा उनसे पैसा ऐंठने की विद्या आदि विषयों का--वर्णन बड़ी रोचकता के साथ किया है।

देशोपदेश--'देशोपदेश' तथा 'नर्ममाला' क्षेमेन्द्र के हास्यापदेशक काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं[2] जिनमें कवि ने अपनी अनूभुति के आधार पर कश्मीर के शासक वर्ग तथा समाज का बड़ा ही रंगीला, प्रभावोत्पादक व्यंग चित्र खींचा है। 'देशोपदेश' के आठ उपदेशों में से प्रथम उपदेश में दुर्जन के विचित्र चरित का वर्णन है, तो द्वितीय उपदेश में 'कदर्य' (कृपण) का बड़ा ही तथ्यपूर्ण विवरण है। क्षेमेन्द्र के 'कदर्य' में वर्तमानकालीनता का पुट देखकर आलोचक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। कदर्य घर में अकस्मात् किसी सगे-सम्बन्धी के आ जाने पर अपनी स्त्री से बनावटी कलह कर लेता है और उपवास रख लेता है, जिससे अभ्यागतजी टापते ही रह जायँ (२।१८) वह साठ साल के पुराने धान की बिक्री नहीं करता और दुर्भिक्ष का अभिलाषी यह कृपण अतिवृष्टि के आने पर आनन्द के मारे नाच उठता है (२।३३)। तृतीय परिच्छेद में वेश्या के विचित्र चरित्र का यथार्थ वर्णन है। चतुर्थ में कुट्टिनी की काली करतूतों का खासा चित्र कवि ने अपनी तीव्र लेखनी से खींचा है। पाँचवें में इसी से सम्बद्ध विट का वर्णन कम मनोरंजक नहीं है। छठे में उन गौडदेशीय छात्रों का कच्चा चिट्ठा है जो विद्याध्ययन करने के लिए तो उत्तर भारत के विभिन्न नगरों से कश्मीर में आते थे, परन्तु जिन्हें पढ़ना लिखना 'साढ़े बाइस' था और जो भोजनभट्ट बन कर पुंश्चली-भक्त बनने में ही अपनी अध्ययन-वृत्ति को चरितार्थ मानते थे। गौड़ छात्र का चित्र बड़ा ही सजीला, सच्चा तथा मार्मिक है। गौड़ छात्र कश्मीर की लिपि के अक्षर को भी नहीं पहचानता, परन्तु यह भाष्य, न्याय तथा मीमांसा के ग्रन्थों का अध्ययन शुरू कर देता है।[3] वह दम्भी इतना भारी है कि अपने को सबके

---

१. काव्यमाला सं० १०, बम्बई, १८८८।

२. काश्मीर संस्कृत सीरिज (नं० ४०) में प्रकाशित, श्रीनगर १९२४।

३. अलिपिज्ञोऽहंकार-स्तब्धो विप्रतिपत्तये।
गौडः करोति प्रारम्भं भाष्ये तर्के प्रभाकरे ॥ (देशोपदेश ५।८)।

स्पर्श से बचाता है, अपनी चादर अपने बगल में दबाये रहता है तथा मानों दम्भ के बोझ से दबे रहने के कारण वह अपनी बगल को सिकोड़ कर ही रास्ते में चलता है![1] (६।९); फिर तो वह काश्मीरी चावल के खाने से तुन्दिल शरीर होकर नाना प्रकार के जघन्य कामों में अपना दिन बिताता है। इस वर्णन की यथार्थता पाठकों के हृदय पर तत्कालीन गर्हणीय छात्र-जीवन की एक झाँकी सी दिखलाती है। सप्तम उपदेश किसी वृद्ध करोड़पति सेठ की नई ब्याही स्त्री को लक्ष्य कर बड़ा ही मनोरंजक विवरण प्रस्तुत करता है। वृद्ध दामाद का परिचय देते समय पिता अपनी अश्रुवर्षिणी दुहिता को कोमल शब्दों में समझाता है। लोगों में अरुचि उत्पन्न करने वाला, जोर से खाँसने वाला, धुंधली दृष्टि वाला बुड्ढा कन्यावरण के समय ज्वर की जीती-जागती मूर्ति सा प्रतीत होता है[2] (७।४)। वृद्ध के जीवित काल में पत्नी की केलिलीला का वर्णन क्षेमेन्द्र ने बड़ी मजीव भाषा में किया है। अन्तिम उपदेश में वैद्य, भट्ट, कवि, बनिया, गुरु, कायस्थ आदि विविध पात्रों का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत कर क्षेमेन्द्र ने यह ग्रन्थ समाप्त किया है। 'हासव्यपदेश-युक्ति' के द्वारा निर्मित इस काव्य का प्रधान लक्ष्य यह है कि हास से लज्जित होकर कोई भी पुरुष दोषों में प्रवृत्त नहीं होगा; इसी उपकार के लिए ग्रन्थकार का यह प्रयास निःसन्देह श्लाघनीय है--

हासेन लज्जितोऽत्यन्तं न दोषेषु प्रवर्तते ।
जनस्तदुपकाराय ममायं स्वयमुद्यमः ॥

नर्ममाला--'नर्ममाला' में तीन परिच्छेद ('परिहास') हैं जिनमें कायस्थ तथा नियोगी आदि अधिकारियों की कुत्सित लीलाओं का वर्णन बड़ी ही पैनी दृष्टि से किया गया है। ग्रन्थ में कवि के तत्कालीन समाज तथा धर्म के गहरे अवलोकन और अनुशीलन का पूरा परिचय मिलता है, परन्तु अनेक स्थलों पर कवि का वर्णन ग्राम्य, भोंडा तथा उद्वेगजनक है। चित्र को पूरा रंगीन बनाने को उत्कंठा ही इस विषय में विशेष दोषी सिद्ध होती है। नाना उपायों से कूटलेख[3] (ठगने के लिए लिखे गये झूठे लेख) का प्रयोग वर्णन में तथा भावना में बिल्कुल नवीन तथा आधुनिक प्रतीत होता है। कायस्थों के काले कारनामों--दूसरे को नाना प्रकारों से ठगना, रिश्वत लेना (उत्कोच), जालसाजी करना (कूटलेख़) आदि--का वर्णन बड़ा ही रोचक, तथ्य-पूर्ण तथा तत्कालीन समाज का प्रतिबोधक चित्र है। शैव गुरु के नितान्त गर्हणीय कृत्यों तथा वञ्चना-प्रकारों का वर्णन कुछ अतिरञ्जित सा अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु वैष्णव क्षेमेन्द्र के कथन की पुष्टि शैव कल्हण से निर्दिष्ट 'राजतरंगिणी' के द्वारा पर्याप्त मात्रा में होती है। गृह-कृत्याधिपति (गृहमन्त्री), परिपालक (गवर्नर), चाक्रिक (खुफिया पुलिस), लेखकोपाध्याय (हिसाब

---

१. स्पर्शं परिहरन् याति गौडः कक्षाकृताञ्चलः ।
कुञ्चितेनैव पार्श्वेन दम्भभारभरादिव ॥

२. कृतारुचिः पृथुश्वासस्तमोदृष्टिर्विरागवान् ।
कन्याया वरणे वृद्धो मूर्तज्वर इवागतः ॥ (देशोपदेश)

३. कृताङ्गुष्ठः स वामेन पाणिना दिविरो रहः ।
खलस्तस्य गृहं गत्वा विदधे भूर्जयोजनम् ॥ (नर्ममाला १।१३०)

किताव करनेवाला), गञ्जदिविर (अर्थमन्त्री), ग्रामदिविर (पटवारी), गुरु, वैद्य तथा अन्य पात्रों का चित्र इतना स्वाभाविक तथा रोचक है कि क्षेमेन्द्र की इस कला की प्रशस्त स्तुति विना किये आलोचक रह नहीं सकता।

स्याही तथा कलम के प्रभाव से कायस्थ समाज का कितना अहित करता है तथा अपने स्वार्थ की कितनी पूर्ति करता है, यह पद्य इस विषय का चमत्कारी निर्देशक है--

अहो भगवती कार्य-सर्वसिद्धिप्रदा मसी।
अहो प्रबलवान् कोऽपि कलमः कमलाश्रयः ।। (१।१४६)।

क्षेमेंद्र की प्रतिभा इस प्रकार के 'हास्यापदेशक'[1] काव्य के निर्माण में विशेष रूप से प्रसृत होती थी। संस्कृत साहित्य में एक विशिष्ट काव्य-प्रकार के उद्भावक होने के कारण क्षेमेन्द्र की मौलिक सूझ तथा अलौकिक कल्पना के लिए सुधी समाज उनका चिर ऋणी रहेगा।

नीति तथा उपदेश-विषयक प्रधान लघु काव्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है। **अप्पयदीक्षित** (१७ वीं शती) का **'वैराग्य शतक'** आर्या में निबद्ध पूरा एक शतक है। दीक्षितजी ने संसार की अनित्यता, शिव की भक्ति आदि विषयों का वर्णन प्रसादमयी वाणी में किया है (काव्यमाला गुच्छक प्रथम में प्रकाशित)

गुमानि कवि का **उपदेशशतक** एक सौ आर्याओं में निबद्ध क्षेमेन्द्र के चारुचर्या से प्रभावित प्रभावशाली नीतिकाव्य है जिसके आदि के तीनों पादों में प्रख्यात कथा का का उल्लेख है और अन्तिम चरण में तज्जन्य उपदेश अभिव्यक्त किया गया है। कविता प्रसाद गुण से युक्त है[2]। गुमानि कवि अलमोड़ा अंचल के निवासी पर्वतीय कवि थे जिनका समय १८ शती का उत्तरार्ध है। **दक्षिणामूर्ति** नामक कवि ने **लोकोक्ति-मुक्तावली**[3] की रचना इसी शैली पर की है। आरम्भ के तीन पादों में दिये गये उपदेश का समर्थन चतुर्थ चरण की लोकोक्ति द्वारा यहाँ किया गया है। इस काव्य में नाना वृत्तों में निबद्ध ९४ पद्य हैं जिनमें विद्वत्प्रशंसा, दुर्जनत्याग, द्वैत-निन्दा, शिक्षा पद्धति, विषाद-पद्धति तथा ज्ञानपद्धति में वर्ण्य विषय का विभाजन है। एक दो पद्यों से इसका वैशिष्टय जाना जाता है--

आतमानन्द-रस-ज्ञानामलं शास्त्रावलोकनम्।
भक्षितव्या अपूपाः किं 'गण्यानि सुषिराणि किम्'।।
कमले तव पदकमले विमले मम देहि चञ्चरीकत्वम्
नान्यत् किमपि न काङ्क्षे 'पश्चाद् गानं किमस्ति भिक्षायाः' ।।

कुसुमदेव के **दृष्टान्त-कलिका**[4] **शतम्** के देशकाल का परिचय नहीं मिलता। अनुष्टुप् वृत्त में यह काव्य निर्मित है जिसके प्रथमार्ध में नीति कथन है और उत्तरार्ध में

---

१. अपि सुजन-विनोदायोम्भिता हास्यसिद्ध्यै।
कथयति फलभूतं सर्वलोकोपदेशम् ।। (नर्ममाला ३।११४)

२. काव्यमाला गुच्छक २ में प्रकाशित। ३. वही, गुच्छक ११

४. ,, १४ गुच्छक में प्रकाशित।

उसकी पुष्टि में समुचित दृष्टान्त दिया गया है। दृष्टान्त चुन कर रखे गये हैं और चुभते हुए हैं। नीति की दृष्टि से नितरां आदरणीय है—

> स्वजातीय-विघाताय माहात्म्यं दृश्यते नृणाम्।
> श्येनो विहङ्गमानेव हिनस्ति न भुजङ्गमान् ॥९२॥
> शुभं वाप्यशुभं कर्म फलकालमपेक्षते।
> शरद्येव फलत्याशु शालिर्न सुरभौ क्वचित् ॥३१॥

नीलकण्ठ दीक्षित (१७ शती) का **कलिविडम्बन**[1] एक सौ दो अनुष्टुभों में विरचित कलियुग की महती विडम्बना का उत्कृष्ट दृश्य प्रस्तुत करता है। कलियुगी पण्डितों तथा सामान्य जनों के स्वभाव का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। लौकिक विषयों का गहरा ज्ञान पदे पदे कवि में दृष्टिगोचर होता है। शास्त्रार्थ के विषय में नीलकण्ठ का यह कथन कितना सटीक है कि मध्यस्थ मूर्ख होने पर हल्ला-गुल्ला मचाकर वादी को जीत लेना चाहिए। यदि वह पण्डित हो, तो उस पर पक्षपात का आरोप करना चाहिए—

> उच्चैरुद्घोष्य जेतव्यं मध्यस्थश्चेदपण्डितः।
> पण्डितो यदि तत्रैव पक्षपातोऽधिरोप्यताम् ॥३॥

कलियुगी धूर्त सिद्धों का यह स्वरूप-दर्शन नितान्त सच्चा है—

> सदा जपपटो हस्ते मध्ये मध्येऽक्षिमीलनम्।
> सर्वं ब्रह्मेति वादश्च सद्यः प्रत्ययहेतवः ॥९०॥

नीलकण्ठ की अपर रचना **शान्तिविलास**[2] शान्तिमय जीवन की प्रखर प्रशस्ति है। मन्दाक्रान्ता वृत्त में निबद्ध ५१ पद्यों का यह काव्य भौतिक जीवन की अनित्यता का चित्रण बड़ी रोचकता से करता है तथा संसार की विषम वागुरा से जीव को मुक्त करने की शिव से यहाँ भव्य प्रार्थना है।

काश्मीरक कवि **जल्हण** के '**मुग्धोपदेश**'[3] की शैली इन काव्यों से भिन्न है। इस लघु-काव्य (६६ पद्यों में विभक्त) में वेश्या के रूप-रंग, स्नेहहीनता, लोलुपता तथा अर्थ-लिप्सा का वर्णन बड़े रोचक ढंग में किया गया है। मंखक ने इन्हें लंकक की सभा का सदस्य लिखा है। फलतः इनका समय १२ शती का पूर्वार्घ है। ये राजपुरी (आजकल 'रजौरी' नाम से ख्यात) के स्वामी सोमपाल के सान्धिविग्रहिक के पद पर प्रतिष्ठित थे जिनके विषय में **सोमपाल-विलास** काव्य का प्रणयन किया (राजतरंगिणी ८।१४६७)। समस्त भारत का भ्रमण कर काश्मीर लौटने पर सज्जनों की प्रार्थना पर तरुणों पर दया-दृष्टि से इस मनोरम काव्य की इन्होंने रचना की। इनके दो श्लोक (२९ तथा ३२) सुभाषितावलि में उद्धृत हैं। फलतः यह काव्य पर्याप्त प्रसिद्ध था। मुग्धोपदेश के अन्तिम पद्य में इन्होंने काशी में संन्यासी जीवन बिताने की कामना की है। पता नहीं कि कवि की यह दिव्य कामना चरितार्थ हुई या नहीं? वर्णन में प्रौढ़ि है। उदाहरण के लिए गणिकाजन में प्रेम के अभाव का प्रतिपादक पद्य देखिए—

---

१. काव्यमाला पंचम गुच्छक में प्रकाशित।
२. ,, षष्ठ गुच्छक में ,, ।
३. ,, अष्टम गुच्छक में ,, ।

श्वैत्यं कल्पय कज्जले कपिकुलेष्वारोपयाचापलं
कोदण्डे जनयार्जवं विरचय ग्राव्णां गणे मार्दवम् ।
निम्बे साधय माधुरीं सुरभितामादौ रसोने कुरु
प्रेमाणं गणिकागणेऽपि चतुरः पश्चात् सखे द्रक्ष्यसि ।।

इसी जल्हण का **'सोमपालविलास'** एक प्रशस्तिपरक महाकाव्य है जिसकी 'अलंकारानुसारिणी' नामक टीका राजानक रुय्यक ने बनाई थी । इसका उल्लेख जयरथ ने अलंकार-विमर्शिणी में किया है--(पृ० ४४, ७३, ७६) ।

शंकराचार्य के नाम से प्रख्यात **प्रबोध-सुधाकर**[1] भाषा तथा भाव उभय दृष्टियों से नितान्त मञ्जुल काव्य है। इसमें १९९ आर्यायें हैं। जिनमें देहनिन्दा, विषयनिन्दा, मनोनिन्दा, मनोनिग्रह, वैराग्य तथा अद्वैत आदि १७ विषयों का श्लाघनीय वर्णन कवि को केवल अद्वैत-वेदान्ती सिद्ध नहीं करता, प्रत्युत कोमल पदावली का पुरस्कर्ता कवि भी बतलाता है । इसके अन्तिम पद्यों में व्रजविहारी गोपालकृष्ण के ध्यान का बड़ा ही रसमय चित्रण है । से पद्य कवि की प्रतिभा के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं—

य: शेषतूलिकायां मा-संवाहितपदो हि निद्राति ।
शेते स परिश्रान्तस्तरुमूले कम्बले गतः शिशुताम् ।।
यस्य तु नामोच्चारात् कालोऽपि हि बाधते न भक्तजनान् ।
जनदृग्भीत्या जननी तस्य कपोले ह्यदान्मषीतिलकम् ।।

काश्मीरक कवि **शिल्हण** हमारे लिए अपनी नैसर्गिक भाषा में वैराग्य के उत्पादक भावों के चित्रण करने के कारण नितान्त आकर्षक हैं । उनका नाम तो उन्हें काश्मीरी बतला रहा है, परन्तु उनके समय का यथार्थ परिचय नहीं मिलता । उनके वर्णन पर भर्तृहरि के भावों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है तथा एक पद्य तो हर्ष के नागानन्द (सप्तमशती) से लिया गया है । सदुक्तिकर्णामृत (१२०५ ई०) उनके पद्य को सर्वप्रथम उद्धृत करता है । फलतः उनका समय सप्तमशती तथा द्वादश शती के मध्य में कहीं होना चाहिए (सम्भवतः दशम शती) । डा० पिशल का यह कथन कि बिल्हण को ही भूल से शिल्हण मान लिया गया है महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि बिल्हण प्रबन्ध-रचयिता हैं, संकलनकर्ता नहीं जैसे शिल्हण हैं । इनका **शान्तिशतक**[2] काव्यकला की दृष्टि से मनोरम हैं । एक दो उदाहरण इसके पर्याप्त परिचायक हैं—

त्वामुदर साधु मन्ये शाकैरपि यदसि लब्धपरितोषम् ।
हतहृदयं ह्यधिकाधिक-वाञ्छाशतदुर्भरं न पुनः ।।

हे उदर, तुमको शाकों से भी सन्तोष हो जाता है । अतः तुमको मैं अच्छा मानता हूँ । परन्तु अपने पतित हृदय को क्या कहूँ जिसे सैकड़ों इच्छाओं के कारण सन्तुष्ट करना अधिक कठिन है ।

---

१. काव्यमाला अष्टक गुच्छक में प्रकाशित ।
२. जर्मन विद्वान् शोनफेल्ट द्वारा संपादित और लाइपजिग से प्रकाशित, १९१० ।

दधति तावदमी विषयाः सुखं स्फुरति यावदियं हृदि मूढता।
मनसि तत्त्वविदां तु विवेचके क्व विषयाः क्व सुखं क्वः परिग्रहः॥

भावार्थ है कि जब तक हृदय में मूढ़ता रहती है, तब तक ये सांसारिक विषय सुख[illegible] हैं। तत्त्ववेत्ताओं के विवेचक मन में न तो विषय ही शेष रहते हैं, न सुख और न पर[illegible] का ग्रहण

२ अन्योक्ति काव्य

अन्योक्ति-काव्य के द्वारा पाठकों के सामने रमणीय शैली में उपदेश प्रस्तुत कि[illegible] जाता है। इस प्रकार के प्रधान काव्यों का परिचय दिया जाता है। महाकवि [illegible] रचित **'अन्योक्तिमुक्तालता'**[1] कोमल पद-विन्यास तथा उदात्त भावना की दृष्टि से नि[illegible] उच्चकोटि का काव्य है। काश्मीर नरेश हर्षदेव (१०८८–११०० ई०) के सभा[illegible] शम्भु की विदग्धगोष्ठी में विशेष प्रतिष्ठा थी। मंखक ने श्रीकण्ठचरित में इन्हें 'महाक[illegible] कहा है तथा इनके पुत्र आनन्द का उल्लेख वहीं अलंकार की सभा में किया है। [illegible] पद्यों के इस कमनीय काव्य में पदों की शय्या तथा नोंक-झोंक नितान्त श्लाघनीय [illegible] रोचक पद्यों का चमत्कार देखने योग्य है––

इयं यदि रदच्छदच्छविरपाटला पाटला
नताङ्गि तव चेदियं रुचिरकिंचनं काञ्चनम्।
किमन्यदमृतद्रवः श्रवणयोरिदं चेद् वचः
क्व न भ्रमर-योषितां गलदहंकृतिर्हुंकृतिः॥

इनकी दो ही रचनायें उपलब्ध हैं। इस काव्य के अतिरिक्त **'राजेन्द्र कर्णपूर'** इन[illegible] प्रशस्ति-काव्य है। इन दो ही काव्यों की कमनीयता इन्हें महाकवि पद देने के लि[illegible] पर्याप्त है।

रुद्रकवि का **भावविलास**[1] १७ वीं शती की रचना है। इसके प्रणेता न्याय वाचस्[illegible] रुद्र कवि न्यायमुक्तावली के प्रख्यात रचयिता विश्वनाथ न्याय-पंचानन के अग्रज [illegible] ये प्रख्यात जयपुरनरेश राजा मानसिंह के पुत्र भावसिंह के सभा-पण्डित थे। अपने आश्र[illegible] दाता के प्रोत्साहन से इस अन्योक्ति काव्य की रचना की गई। पद्यों की संख्या [illegible] है। कविता नितान्त प्रौढ़ तथा भाव उदात्त है।

द्रविड कवि मौद्गल्य हरि के पुत्र **वीरेश्वर कवि** के काल का पता नहीं चलता। इनका **अन्योक्तिशतक**[2] एक सौ पाँच शार्दूल-विक्रीडित पद्यों से समन्वित है। कविता सामान्यरूपेण अच्छी है। **नीलकण्ठ दीक्षित** (१७ शती) का **अन्यापदेशशतक**[3] पू[illegible] काव्य की अपेक्षा काव्यगुणों में महनीय है। यह भी शार्दूलविक्रीडित वृत्त में ही लि[illegible] है, परन्तु पद्यों में प्रसाद गुण की महिमा दर्शनीय है। इसी नाम से प्रख्यात मैथिल मधु**सूदन** कवि की रचना **'अन्यापदेश शतक'**[4] इससे भिन्न है। कवि ने अपने पिता का नाम पद्मनाभ, माता का शुभदा, कुल का दुजती तथा जन्म प्रान्त का मिथिला नाम स्वयं अङ्कि[illegible]

१. काव्यमाला गुच्छक द्वितीय में प्रकाशित।

२. काव्यमाला पञ्चम गुच्छक; ३. वही षष्ठ गुच्छक। ४. वही नवम गुच्छक।

पद्य में उल्लिखित किया है। काल का परिचय नहीं मिलता। इस काव्य का एक हस्तलेख १८२२ संवत् (=१७६५ ई०) का उपलब्ध है। फलतः मधुसूदन कवि का समय अष्टादश शती के मध्यभाग के अनन्तर नहीं हो सकता।

(३) शास्त्र-काव्य

व्याकरण के पद-प्रयोगों की यथार्थ रूप से शिक्षा देने के निमित्त निर्मित काव्य **शास्त्र-काव्य** के नाम से व्यवहृत किये जाते हैं। ऐसे काव्यों का प्रथम निदर्शन भट्टि काव्य है जिसकी रचना विक्रम के षष्ठ शतक में की गई। भट्टि का यह काव्य एक मौलिक कल्पना की प्रसूति है और इसकी सफलता से प्रेरित होकर पिछले कवियों ने ऐसे काव्यों का निर्माण कर विशेष योग्यता प्रदर्शित की। कश्मीर के निवासी **भट्ट भीम** (भौम या भौमक) रचित **'रावणार्जुनीय'** काव्य रावण तथा कार्तवीर्यार्जुन के युद्ध वर्णन में निबद्ध है, जिसके २७ सर्गों में अष्टाध्यायी के क्रम से पदों का निदर्शन है। क्षेमेन्द्र ने शास्त्रकाव्य के उदाहरण में भट्टि-काव्य के साथ इस महाकाव्य के नाम का उल्लेख किया है (सुवृत्ततिलक ३।४)। इस निर्देश से भौमक का समय एकादश शतक से प्राचीन सिद्ध होता है। **हलायुध का 'कवि-रहस्य'** संस्कृत धातुओं के नानार्थ तथा समानाक्षर होने पर भी भिन्नार्थ का बड़ा ही सुन्दर विवेचक काव्य है। कवि हलायुध राष्ट्रकूट-वंशीय कृष्णराज तृतीय (९४०–९५३ ईस्वी) के सभापण्डित थे और इसीलिए इन्होंने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में ही समग्र उदाहरण दिये हैं।

केरल के कवि **वासुदेव** ने भगवान् श्रीकृष्ण का चरित तीन सर्गों में निबद्ध किया है जिसका नाम **'वासुदेव-विजय'**[1] है जिस काव्य में २२३ पद्य हैं। यह पूर्णतया शास्त्रकाव्य है—जिसमें पाणिनीय सूत्रों के उदाहरण प्रयुक्त किये गये हैं। स्थान की कमी के कारण यह समग्र अष्टाध्यायी के दृष्टान्त प्रस्तुत करने में असमर्थ है, परन्तु सूत्रसाध्य अप्रचलित प्रयोगों के दृष्टान्त से काव्य भरा हुआ है। इसकी पूर्ति केरल के ही **नारायण** कवि ने सर्गत्रयात्मक **'धातु-काव्य'**[1] का प्रणयन कर किया। इसमें पद्यों की संख्या २४८ है। कवि ने माधवीया धातुवृत्ति के द्वारा प्रदर्शित क्रम को स्वीकार कर क्रम से ही धातुओं का अथवा धातुजन्य शब्दों का यहाँ प्रयोग किया है। इस प्रकार कवि के प्रचुर वैयाकरण पाण्डित्य का परिचय पदे-पदे मिलता है। कवि ने धातुकाव्य को वासुदेव-विजय का पूरक बतलाया है। नमूने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है जिसमें २४५ से लेकर २५४ संख्या वाले दश धातुओं का क्रमशः प्रयोग है—

> जहर्ष जञ्जातुजितस्थलैरसौ तृषैरतुञ्जैर्गज-गञ्जिभिर्वृतम्।
> गर्जत् खरं गृञ्जितधेनुमोमुजद् वत्सोत्करं मुञ्जदजं वनन् व्रजम्॥ ३॥

पाणिनीय धातुपाठ में धातुओं की संख्या १९४४ है और इन समस्त धातुओं का धातुमुखेन या धातुज शब्दमुखेन क्रमशः प्रयोग नारायण कवि के पाण्डित्य का सूचक है। 'नारायणीय' काव्य के प्रणेता नारायण कवि ही धातुकाव्य के भी रचयिता हैं। समय

---

१. दोनों काव्य काव्यमाला दशम गुच्छक में प्रकाशित है।

१६ वीं शती का उत्तरार्ध है। दोनों काव्यों को मिलाकर श्रीकृष्ण का पूरा चरित्र चित्रित हैं।

वासुदेव के व्यक्तित्व के विषय में पर्याप्त मतभेद है। **'वासुदेव-विजय'** तथा **'युधिष्ठिर-विजय'** के रचयिता के समान नाम तथा समान जन्मस्थान (कोचीन में पेरु) होने के कारण दोनों अभिन्न माने गये हैं, परन्तु कुछ आलोचक इन दोनों को भिन्न व्यक्ति मानते हैं। केरल के एक अन्य कवि भी **वासुदेव** नामक थे जिन्होंने **गोविन्द-चरित, संक्षेप भारत, संक्षेप रामायण** तथा **कल्याण–नैषध** नामक काव्यों की रचना की थी। दोनों ग्रन्थों में साम्य होने के हेतु दोनों एक माने गये हैं, परन्तु 'वासुदेव विजय' तथा 'युधिष्ठिर विजय' के कर्ता को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानना उचित प्रतीत होता है[1]। नाम तथा जन्मस्थान की समता तथा काव्यशैली की समता के आधार पर यह अभेद आधारित है।

हेमचन्द्र का **'कुमारपाल चरित'** ऐतिहासिक काव्य होने से पहले ही निर्दिष्ट किया गया है, परन्तु ऐतिहासिक होने के साथ ही साथ यह 'शास्त्रकाव्य' भी है। इसके २८ सर्गों में प्रथम २० सर्गों में तो हैम व्याकरण के नियमों के अनुसार संस्कृत व्याकरण के रूपों का प्रयोग किया गया है, परन्तु अन्तिम आठ सर्गों में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के व्याकरण से संवद्ध रूपों का प्रयोग उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह काव्य उभय भाषाओं के व्याकरण जानने के लिए नितान्त उपयोगी है।

(४) देव-काव्य

(क) शैव-काव्य

भगवान् शंकर की अनेक लीलाओं का वर्णन पुराणसाहित्य में उपलब्ध होता है। शंकर-पार्वती के विवाह को प्रधान वृत्त मानकर 'कुमार-सम्भव' की रचना ने विदग्धों का हृदयावर्जन तो कर ही रखा था। इस युग के कविजनों ने भी इस आख्यान के ऊपर अनेक महाकाव्यों का प्रणयन किया। ऐसे काव्यों में **'उत्प्रेक्षावल्लभ'** के नाम से प्रख्यात **गोकुलनाथ** का **'भिक्षाटन'** काव्य माननीय है। १४ शतक से पूर्व रचित इस काव्य में शिव का चित्रण श्रृङ्गारिक वातावरण में किया गया है। शंकर भिक्षा माँगने के लिए इन्द्राणी आदि देवांगनाओं के पास जाते हैं जो इनका रूप देखकर नाना प्रकार की श्रृङ्गारी कल्पनाएँ करती हैं। परन्तु इससे कहीं अधिक प्रख्यात तथा कोमल भावना-प्रधान है **नीलकण्ठ दीक्षित** का **'शिवलीलार्णव'** महाकाव्य।[2] दीक्षित जी प्रख्यात दार्शनिक अप्पय दीक्षित के भ्राता अच्चा दीक्षित के पौत्र थे और मदुरा के राजा तिरुमल नायक (१७ शतक का आरम्भ काल) के सभा-पण्डित थे। इनके 'नीलकण्ठ-विजय-चम्पू' का रचनाकाल ४७३८ कलि शताब्द, अर्थात् १६३७ ई० है। अतः इनका समय १७ वीं शती का पूर्वार्ध मानना उचित है। इनका 'शिवलीलार्णव' महाकाव्य २२ सर्गों में मदुरा के सुन्दरनाथ शिव की स्थानीय विख्यात ६४ लीलाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है। ये लीलायें स्कन्दपुराण में

---

१. **द्रष्टव्य** Dr. Kunhan Raja Presentation Volume, Madras, १९४६, पृ० ३७४-३८५

२. **वाणीविलास से प्रकाशित।**

अन्तर्गत **'हलास्यमाहात्म्य'** में वर्णित बतलाई जाती है। इनका इससे परिमाण में स्वल्प अष्टसर्गात्मक काव्य **'गंगावतरण'** है जिसमें भगीरथ की कठिन तपस्या के फलस्वरूप भगवती गंगा के भूतल पर अवतरण का सुन्दर वर्णन है। नीलकण्ठ दीक्षित की शैली प्रसादमयी है। छोटे-छोटे सरस शब्दों में भूरि भावों के भरने की कला में यह शैव कवि सफल माना जा सकता है। द्रविड़ कवियों में ऐसा सुन्दर प्रतिभा-सम्पन्न, कविता लिखने वाला कवि विरला ही होगा। इन्होंने लोकशिक्षा के लिए **कलिविडम्बन, सभारञ्जन, अन्यापदेश शतक** आदि अनेक लघु काव्यों का भी प्रणयन किया है, परन्तु 'शिवलीलार्णव' ही इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है।

कश्मीर के निवासी, **जयद्रथ** रचित **'हरचरित-चिन्तामणि'** भगवान् शंकर के नाना चरितों तथा लीलाओं का वर्णनात्मक तथा अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध एक महनीय काव्य है। ये अलंकार-विमर्शिणी के रचयिता प्रसिद्ध आलंकारिक जयरथ के भाई थे। इन दोनों भाइयों के संरक्षक कश्मीर के राजा राजराज या राजदेव (१२०३ ई०–१२२६ ई०) थे। अतः इनका समय त्रयोदश शतक का आरम्भ काल मानना चाहिए। 'चिन्तामणि' की भाषा सरल तथा सुबोध है (काव्यमाला में प्रकाशित)।

(ख) कृष्ण-काव्य

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की ललित लीलाओं के वर्णन के विषय में भी अनेक काव्यों का निर्माण होता रहा है। **लोलम्बिराज** का **हरिविलास** पंचसर्गात्मक काव्य है बालकृष्ण की बाल केलियों का वर्णन परक सुचारु काव्य। ग्रन्थ के हस्तलेख में भी ग्रन्थ का रचनाकाल १५०५ शक (=१५८३ ई०) दिया गया है[1] जिससे लोलम्बिराज का आविर्भावकाल निश्चयेन षोडश शती का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। ग्रन्थ के भीतर ही इन्होंने अपने आश्रयदाता के कुल का वर्णन किया है। इनके आश्रयदाता कोई हरि नामक पुरुष थे जिनके हरिनामा पूर्वज गयाचल गिरि के राजा बतलाये गये हैं। काव्य छोटा होने पर भी चमत्कारी है। **वैद्यजीवन**–नामक लोकप्रिय वैद्यकग्रन्थ के प्रणेता का भी लोलम्बिराज ही नाम था, परन्तु वे हरिविलास के रचयिता से नितान्त भिन्न हैं। इन्होंने **वैद्यावतंस, चमत्कार-चिन्तामणि, रत्नकलाचरित** तथा मराठी भाषा में अन्य ग्रन्थों का प्रणयन किया था। वैद्यजीवन का सर्वप्राचीन हस्तलेख १६०८ ई० का है। फलतः इनका समय १६०० ई० से पूर्व होना चाहिए[2] (१५५० ई०–१६०० ई० आसपास)। हरिविलास[3] में पाँच सर्ग हैं जिनमें बाललीला, रासलीला, ऋतु, भगवत्-स्वरूप तथा कंसवध का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया गया है। कवि का भक्ति रस से आलुप्त हृदय सर्वत्र अपनी अभिव्यक्ति कर रहा है। नाना छन्दों का प्रयोग किया गया है, परन्तु सर्वत्र पदों में रमणीयता विद्यमान है—

---

१. शके मते बाणनभःशरेन्दुभिः सुभानु संवत्सरकोत्तरायणे।
अमोघमाघस्य च शुक्ल पक्षे कलौ कृतं काव्यमिदं जगन्मुदे।

२. द्रष्टव्य : लेखक द्वारा रचित "संस्कृत शास्त्रों का इतिहास" पृष्ठ ६३९-६४०।

३. काव्यमाला एकादश गुच्छक में प्रकाशित।

नवकुङ्कुमलिप्तविग्रहः श्रवणन्यस्तसुवर्णचम्पकः ।
विवरावलिनृत्यदङ्गुलिर्मुरलीं वादयते स्म माधवः ।।

यह पद्य लोलम्बिराज की काव्यकला का परिचायक माना जा सकता है।

रुक्मिणीहरण की विख्यात कथा को काव्यात्मक रूप देनेवाला, **राजचूडामणि** दीक्षित का **'रुक्मिणी-कल्याण'**[1] काव्य भी पाण्डित्य का ही विशेष निदर्शन है। ये अपने समय के द्रविड कवियों में अनेक ग्रन्थों के रचयिता के रूप में विशेष ख्यातनामा थे। तंजोर के राजा रघुनाथ नायक (१७ शतक का पूर्व भाग) के सभा-पण्डित थे। चैतन्य-मतानुयायी गौडीय वैष्णव कवियों ने श्रीकृष्ण के जीवन की चारु लीलाओं का रुचिर चित्रण अपने काव्यों में किया है। ऐसे काव्यों में **कृष्णदास कविराज** का **'गोविन्द लीलामृत'** महाकाव्य पर्याप्त विस्तृत (२३ सर्ग; २५११ श्लोक) है। इसमें कविने राधाकृष्ण की अष्टकालिक लीलाओं का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन किया है। वे कृष्णदास चैतन्यमहाप्रभु की सर्वश्रेष्ठ जीवनी 'चैतन्य-चरितामृत' (बंगला) के रचयिता होने से कहीं अधिक प्रख्यात हैं। इस काव्य में भक्त कवि की वाणी भक्तिमय पद्यों के गुम्फन में सर्वथा कृतकार्य होती है।

महाभारत के कथानक तथा अवान्तर आख्यानों के ऊपर ब्राह्मण तथा जैन कवियों ने नवीन काव्यों का निर्माण किया। **अमरचन्द्र सूरि** का **'बालभारत'** समग्र महाभारत को एक ही ग्रन्थ के भीतर निबद्ध करने का सफल प्रयास है। जिनदत्त सूरि का यह शिष्य गुजरात के राजा वीसलदेव (१३ कृ० का मध्यकाल) का सभापण्डित था। महाभारत के समान ही यह भी १८ पर्वों में तथा ४४ सर्गों में विभक्त है। वैदर्भी रीति में निबद्ध लगभग सात हजार पद्यों में महाभारत का यह संक्षेप सुन्दर तथा उपयोगी है। इसका परिशीलन पूर्व ही प्रस्तुत किया गया है। मलधारी **देवप्रभ सूरि** का **'पाण्डव-चरित'** भी इसी शती की रचना है जिसमें १८ पर्वों की कथा १८ सर्गों में अत्यन्त संक्षिप्त-रूपेण वर्णित है। ये भी गुजरात के राजा के आश्रित थे तथा १३ शतक में विद्यमान थे।

महाभारत के आख्यानों में नल की कथा पर्याप्त प्रसिद्ध थी और इसीलिए इस विषय के ऊपर अनेक काव्यों का निर्माण हुआ है। कपिञ्जल कुल में उत्पन्न तथा पुरी के महाराजा के सांधिविग्रहिक उत्कलदेशीय **कृष्णानन्द** का **'सहृदयानन्द'** काव्यशैली की दृष्टि से रोचक तथा सुबोध है। कृष्णानन्द की जाति का पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें कायस्थ मानते है, परन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। सान्धिविग्रहिक तो ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों हुआ करते थे। विश्वनाथ कविराज ने 'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं' (सहृदयानन्द ३।५२) पद्य को **साहित्यदर्पण** (८।८) में उद्धृत किया है। यही इनके समय की पिछली सीमा है। नैषधकाव्य पर इन्होंने ठीका बनाई थी, ऐसी अनुश्रुति प्रचलित है। फलतः कृष्णानन्द को श्रीहर्ष (१२ श०) तथा विश्वनाथ कविराज (१४ श०) के बीच में मानना उचित है। इसलिए इनका समय १३वीं शती मानना ठीक है। ये जगन्नाथपुरी के निवासी थे तथा इनके इष्टदेव नरसिंह थे; ऐसी कल्पना ग्रन्थ के मंगलश्लोकों के आधार पर की जा सकती है। इनके काव्य में नल का समग्र चरित चित्रित किया है। यह वर्णनप्रधान काव्य है

---

१. अडयार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित, १९२९ ।

तथा वैदर्भी में निबद्ध होने के कारण पर्याप्त रूप से रोचक और आकर्षक है। 'सहृदयानन्द' के १५ सर्गों में राजा नल तथा दमयंती की महाभारतानुसारी पूरी कथा निबद्ध की गई है। शैली रोचक तथा भाषा सुबोध है। **वामनभट्ट** बाण का **'नलाभ्युदय'** महाकाव्य आठ सर्गों में राजा नल के चरित्र का वर्णन करता है। भाषा सरल, सुबोध परन्तु आलङ्कारिक है। इसके रचयिता वामनभट्ट बाण तैलंगदेश के राजा वेमभूपाल (१५ शतक का मध्य भाग) के सभापण्डित थे, जिनका परिचय **'वेमभूपाल-चरित'** नामक गद्यग्रन्थ से भली-भाँति चलता है। इनकी अनेक रचनायें है जिनमें **'पार्वती-परिणय'** नामक नाटक **'कुमार-संभव'** से सफल अनुकरण होने के कारण विशेष विख्यात है।

(ग) राम-काव्य

रामकथा के ऊपर भी कई काव्य रचे गये हैं, जिनमें लोकनाथ तथा अम्मा के पुत्र **चक्रकवि** की रचना ''**जानकी-परिणय**' प्रख्यात है। १७ शतक में निबद्ध यह काव्य ८ सर्गों में समाप्त होता है तथा सीता के स्वयंवर तथा विवाह की कथा को विस्तार से प्रस्तुत करता है। **साकल्यमल्ल** रचित **'उदारराघव'** सम्पूर्ण रामायण का सारांश होने से कथा की जानकारी के लिए विशेष उपयोगी है। शिंगभूपाल (१३३० ई०) के समकालीन होने से इनका समय १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। **सोमेश्वर** कवि का **'सुरथोत्सव'** काव्य दुर्गासप्तशती में उल्लिखित कथानकों का सुविस्तृत वर्णन करता है। इसमें १५ सर्ग हैं। **गोविन्द मखी** (१६ शतक) का **'हरिवंश-सारचरित'** 'हरिवंश पुराण' में निबद्ध कथाओं का संक्षेप में वर्णन करता है। इस काव्य में २३ सर्ग हैं, जिनमें वैदर्भी रीति की प्रचुरता विशेष लक्षित होती है। ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इससे कुछ पीछे **वेंकटेश्वर** कवि ने **'रामचन्द्रोदय'** नामक महाकाव्य (३० सर्ग) में रामायण की कथा का वर्णन किया है। ये काँची के निवासी थे; परन्तु इस काव्य की रचना काशी में १६३५ ई० में हुई थी।

'रघुवीरचरित' महाकाव्य अभी हाल ही में अनन्त-शयन-ग्रन्थावली में प्रकाशित हुआ है जिसमें रामचन्द्र के वनवास से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। इसमें १७ सर्ग हैं जिनमें प्रौढ़ि तथा व्युत्पत्ति का प्रदर्शन है। इसके रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। आउफ्रेक्ट की पुस्तकसूची में 'रघुवीर चरित' के रचयिता कोई **मल्लिनाथ** बताये गये है। कहा नहीं जा सकता कि ये दोनों काव्य एक है या भिन्न? यदि प्रसिद्ध कोलाचल मल्लिनाथ इसके रचयिता हों, तो इसका रचनाकाल १४ शतक से हट कर नहीं हो सकता।

(५) यमक तथा श्लेष काव्य

संस्कृत आलंकारिकों ने यमक तथा श्लेष के अनेक भेदों का वर्णन कर काव्य को चमत्कृत तथा सुसज्जित करने के प्रचुर प्रकारों का दर्शन अपने ग्रन्थों में कराया है। वस्तुतः इन अलंकारों का प्रयोग वहीं तक श्लाघ्य तथा आदरणीय है जहाँ तक वे मूलभूत रस का न तो व्याघात करें और और न उसके उन्मीलन में किसी प्रकार का विघ्न प्रस्तुत करें। इस युग के कवियों का ध्यान इसी दिमागी कसरत को दिखलाने की ओर इतना अधिक था कि उन्होंने इन्हीं अलंकारों के प्रदर्शन की ओर अपनी समय शक्ति लगा दी। दण्डी ने यमक के अनेक प्रकारों का वर्णन 'काव्यादर्श' में किया है और इसी समम के कवि भट्टि

ने अपने काव्य के १० वें सर्ग में बीस श्लोक यमक-काव्य के रूप में लिखे है। **घटखर्पर** का **'यमक-काव्य'** केवल बाइस श्लोकों में है जिससे कोई विरह-विधुरा सुन्दरी अपने प्रियतम के पास वर्षा के आरम्भ में सन्देश भेजती है। इस काव्य को कालिदास की रचना मानना एक बिडम्बनामात्र है। इसके ऊपर आठ टीकाएँ मिलती है जिससे ग्रन्थ की क्लिष्टता की प्रसिद्धि का परिचय मिल सकता है। यमक काव्य का सबसे सुन्दर निदर्शन है **नीतिवर्मन्** रचित **'कीचकवध-काव्य'**[1] है। इसके रचयिता भारत के किसी पूर्वी प्रान्त के निवासी थे। समय इनका ग्यारह शतक के पूर्वतर है। 'कीचकवध' में केवल पाँच सर्ग तथा १७७ श्लोक हैं जिसमें चार सर्गों में तो पूरा यमक है, तीसरे सर्ग में श्लेष का पूर्ण साम्राज्य है जहाँ द्रौपदी द्वयर्थक वाक्यों के द्वारा पाण्डवों का प्रकृत परिचय देती है। कठिन होने के कारण ही यह काव्य प्रायः विस्मृतप्राय था और अभी हाल में प्रकाशित हुआ है।

वासुदेव का **'युधिष्ठिर-विजय'** यमककाव्य का एक उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। वासुदेव के जन्मस्थान के विषय में अब संदेह नहीं किया जा सकता। कभी वे कश्मीर के निवासी माने जाते थे, परन्तु नये प्रमाणों के आधार पर उनका निवास-स्थान केरल ही प्रतीत होता है। इनके गुरु भारत-गुरु थे, जो कुलशेखर के राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे।[2] कुलशेखर केरल के राजाओं की एक उपाधि है। इस काव्य की अच्युतरचित 'विजयदर्शिका' टीका में तथा शिवदास रचित 'रत्नप्रदीपिका' व्याख्या में 'वसुधामवतः' पद का श्लिष्ट अर्थ महोदयपुर का शासक किया गया है। यह महोदयपुर (आजकल कोचीन राज्य का तिरुवञ्चिक्कुल) केरल देश की प्राचीन राजधानी थी। केरल के अनेक कवियों ने इस काव्य की प्रशस्त प्रशंसा की है।[3] ये कोचीन राज्य के पेरुवन नामक स्थान के निवासी थे जहाँ के अधिष्ठातृ देव 'शास्ता' की कृपा से वासुदेव की प्रतिभा के उन्मेष की कथा केरल में नितान्त प्रसिद्ध है। फलतः ये केरलदेशीय कवि निःसन्देह थे। 'युधिष्ठिर विजय' के अतिरिक्त **'त्रिपुरदहन'** तथा **'शौरिकथोदय'** नामक काव्य के निर्माण का श्रेय इन्हें दिया जाता है। ये दोनों काव्य अभी तक हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध हैं। कुछ लोग **'नलोदय काव्य'** (चार सर्गों में २१० श्लोक) की रचना का श्रेय भी इन्हीं को देते हैं, परन्तु यह अभी संदिग्ध ही है। कालिदास ही इस काव्य के निर्माता माने जाते थे, परन्तु इसके टीकाकार **रामर्षि** (समय १६०० ई० के आसपास) की मान्यता के अनुसार इसके रचयिता **रविदेव** माने जाते हैं और इस कथन पर विद्वानों की आस्था स्थिर है।

'युधिष्ठिर-विजय' यमक काव्य का एक बहुत ही भव्य दृष्टान्त है। यमक-काव्य कभी-कभी बड़े क्लिष्ट तथा विषम हुआ करते हैं; परन्तु युधिष्ठिरविजय का यमक बहुत

---

१. जनार्दन सेन की टीका तथा सर्वानन्द नाग की टीका के उद्धरण के साथ ढाका विश्वविद्यालय से प्रकाशित, ढाका, १९२९।

२. तस्य च वसुधामवतः काले कुलशेखरस्य वसुधासवतः।
वेदानामध्यायी भारतगुरुरभवदादि-नामध्यायी॥ ६॥
(युधिष्ठिर-विजय—काव्यमाला, ग्रन्थांक ६०)

३. तस्मै नमोऽस्तु कवये वासुदेवाय धीमते।
येन पार्थकथा रम्या यमिता लोकपावनी॥

प्रसन्न, सरस तथा सरल है। ग्रन्थ में आठ उच्छ्वास हैं जिसमें महाभारत की कथा संक्षेप में, परन्तु सरसता के साथ वर्णित हैं। वसन्त की शोभा इस पद्य में बड़ी रोचकता से दिखाई गई है (२।४४)—

पथिकजनानां कुरवान् कुर्वन् कुरवो बभूव नवांकुरवान्।
प्रेक्ष्य रुचं चूतस्य स्तवकेषु पिकश्चकार चञ्चू तस्य ॥

[आशय है कि कुरव वृक्ष पथिक जनों के प्रलापों को उत्पन्न करता हुआ नये अंकुर के सम्पन्न हो जाय। आम के स्तवक के ऊपर बैठे हुए पिक ने उसकी शोभा देख अपने चञ्चुपुटों को खोल दिया।] इस काव्य के ऊपर काश्मीर के **राजानक रत्नकण्ठ** की टीका काव्यमाला में प्रकाशित है। टीका का रचनाकाल १५९३ शाके (=१६७१ ईस्वी) है, जब अबरंगशाली (अर्थात् औरंगजेब) दिल्ली ने शासन कर रहा था। इसके ऊपर **अच्युत** रचित 'विजयदर्शिका' तथा **शिवदास** की 'रत्नप्रदीपिका' हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध है, तथा अभी तक अप्रकाशित हैं।

संस्कृत में एक विचित्र रहस्यात्मक तथा शब्द-चमत्कारी काव्य है, जिसका नाम **राक्षस काव्य**[1] है। पद्यों की संख्या बीस है, परन्तु यह बड़ा ही लोकप्रिय था। अनेक टीकाएँ इसके ऊपर उपलब्ध होती हैं, परन्तु न तो इसके रचयिता का ही ठीक पता है, **न** इसके रचनाकाल का। **कालिदास** के नाम से बहुशः सम्बद्ध होने पर भी इसमें कालिदास की शैली का पूर्णतः अभाव है। **रविदास** या केरलीय कवि **वासुदेव** भी इसके कर्ता माने गये हैं। किसी **'राक्षस'** नामधारी कवि का श्लोक **'सदुक्ति-कर्णामृत'** (र० का० १२०३ ई०) में उद्धृत मिलता है। प्रेमधर, शंभुभास्कर, कविराज, कृष्णचन्द्र, अभयाकर मिश्र तथा बालकृष्ण पायगुण्ड (१६०० ई० के अनन्तर) के द्वारा निर्मित टीकायें इस काव्य पर मिलती हैं। राक्षस काव्य की एक टीका के हस्तलेख का समय १२१५ सं०=११५९ ईस्वी है। फलतः टीकाकार का समय ११०० के आस-पास होना चाहिए तथा मूल ग्रन्थ का काल १००० ईस्वी के लगभग मानना उचित होगा। 'जलद' के लिए यहाँ 'तर्यरिप्रद' जैसे विलक्षण शब्दों के प्रयोग से यह काव्य नितान्त कठिन हो गया है। **'कविराक्षसीय'** नामक एक सौ श्लोकों वाला अन्य काव्य है। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इसके ऊपर देवनाराध्य के पुत्र **नागणराय** रचित टीका भी मिलती है।[2]

श्लेषकाव्यों में **सन्ध्याकर नन्दी** का **'रामचरित'**[3] प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। ये उत्तरी वङ्गाल में पुण्ड्रवर्द्धन के पिनाकनन्दी के पौत्र तथा प्रजापति नन्दी के पुत्र थे। इन्होंने इस काव्य की पूर्ति रामपाल के पुत्र मदनपाल के (एकादश शतक का अन्तिम भाग) राज्यकाल में की। इस काव्य में भगवान् रामचन्द्र तथा पालवंशी नरेश रामपाल

१. निर्णयसागर से प्रकाशित।
२. महालिंगशास्त्री ने इसे सम्पादित कर अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। द्रष्टव्य, कलकत्ता ओरियण्टल जर्नल, १९३५ ई०।
३. हरप्रसादशास्त्री द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १९१०। इसका नवीन संस्करण डा० रमेशचन्द्र मजुमदार के सम्पादकत्व में वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी से प्रकाशित हुआ है, १९३६।

का एकसाथ वर्णन श्लेष के द्वारा बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। कवि के पि[illegible] राज्य के उच्च अधिकारी थे। अतः इन्हें राजदरबार की सच्ची घटनाओं का पूर्ण परि[illegible] था। इसलिये यह काव्य बंगाल के मध्ययुगीन इतिहास जानने के लिए विशेष महत्वपू[illegible] है। इसमें पाँच सर्ग तथा दो सौ बीस आर्याएँ हैं जिनको समझना तत्कालीन ऐतिहासि[illegible] वृत्त के परिचय न होने से एक टेढ़ी खीर है। रामपाल का समय ही (१०८४ ई०-११[illegible] ई०) कवि का समय भी होना चाहिए।

द्विसन्धान काव्य—रामायण तथा महाभारत की कथा को एक ही साथ एक का[illegible] में प्रतिपादित करने की ओर कवियों का ध्यान विशेष आकृष्ट हुआ। ऐसे द्व[illegible] काव्यों को दण्डी ने 'द्विसंधान' काव्य नाम दिया है। **धनंजय** का **द्विसंधान का[illegible]** (अपर नाम **राघवपाण्डवीय**) द्व्यर्थी काव्यों के इतिहास में प्राचीन होने के का[illegible] महत्त्वपूर्ण माना जाता है। राजा भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में महाकवि द[illegible] तथा धनञ्जय के द्विसंधान काव्य का निर्देश किया है, परन्तु दण्डी की एकमात्र[illegible] कोई कृति आजतक उपलब्ध नहीं हुई है। धनञ्जय की ही कृति उपलब्ध तथा प्रक[illegible] है। विनयचन्द्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने इसके ऊपर एक विस्तृत टीका लिखी थी जिस[illegible] सार संकलन कर जयपुर के पण्डित बदरीनाथ दाधीच ने सुधानाम्नी टीका लिखी है[illegible] प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'धनञ्जय' का नाम निर्दिष्ट है और इसीलिए [illegible] द्विसंधान काव्य 'धनञ्जयाङ्क' नाम से प्रख्यात है।

राजशेखर का इनकी स्तुति में निबद्ध यह पद्य 'सूक्तिमुक्तावली' में उप[illegible] होता है :—

> द्विसंधाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः।
> यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनञ्जयः॥

इस स्तुतिपरक पद्य से धनञ्जय का समय दसवीं शती के पूर्वार्ध से प्राचीन हो[illegible] निश्चत है। जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने 'षट्खण्डागम' की अपनी धवला टी[illegible] (८१६ ई० में समाप्त) में धनञ्जय के **'अनेकार्थनाममाला'** का एक श्लोक उद्धृत किया [illegible] जिससे इनका समय नवमशती से प्राचीन सिद्ध है। नाममाला में इन्होंने अकलं[illegible] (सप्तशती) का स्मरण किया है। अतः इनका समय अष्टम शती का उत्तरार्ध में हो[illegible] न्यायसंगत है (लगभग ७४०–७९० ई०)[२]। **'नाममाला'** कोष के रचयिता होने से[illegible] नैघण्टुक धनञ्जय भी कहे जाते हैं। ये जैन थे और इसीलिए रामायण तथा महाभा[illegible] के विषय में प्रख्यात जैन कथाओं का ही आधार इस काव्य में मिलता है। १८ सर्गों [illegible] विभक्त यह काव्य श्लेष-पद्धति से रामायण तथा भारत दोनों की कथाओं को एक सा[illegible] ही वर्णन करता है। श्लेष में सभंग श्लेष का आश्रय लिये जाने पर भी काव्य में वि[illegible] दुरूहता नहीं आने पाई है। प्रसाद गुण की स्थिति विशेष रूप से लक्षित होती है[illegible] मालीके वर्णन में कवि कहता है कि माली अपने पैरों से रहट के चक्कों को दबाता [illegible]

---

१. काव्यमाला, ग्रंथ संख्या ४९, बम्बई से सुधाटीका के साथ प्रकाशित, १८९५।

२. इसके लिए विशेष द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय–संस्कृत शास्त्रों का इति[illegible] पृ० ३४८–३४९ (वाराणसी, १९७०)

परन्तु पानी के फुहार से उसकी थकान दूर हो जाती थी। ऐसा लगता था कि मानो सीढ़ी बिना लगाये ही अपने भौतिक शरीरके साथ वह स्वर्गमें चढ़ने का प्रयत्न कर रहा है (१।१३)—

अरान् घटीयन्त्रगतान् गतश्रमः पयःकणैरग्रपदेन पीडयन्।
स यत्र कच्छी सतनुः सुरालयं प्रयुज्य निःश्रेणिमिवारुरुक्षति ॥

राघवपाण्डवीय के रचयिता **कविराज** के साथ धनञ्जय का पौर्वापर्य विचारणीय विषय है। कविराज के व्यक्तित्व एवं आविर्भाव-काल के विषय में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। के० बी० पाठक की सम्मति में कवि का व्यक्तिगत नाम माधवभट्ट था; 'कविराज' उसकी उपाधि थी जो वैयक्तिक नाम से कहीं अधिक प्रसिद्ध हो गई। वे जयन्तीपुर के कादम्बवंशी राजा कामदेव (राज्यकाल ११८२ ई०—११८७ ई०) के सभापण्डित थे। फलतः उसका आविर्भावकाल १२ वीं का उत्तरार्ध मानते हैं। डा० कीथ तथा विन्टरनित्स ने इस मत को अंगीकार किया है, परन्तु डाक्टर सुब्बैया ने प्रमाणित किया है कि इस कवि का वास्तव नाम ही 'कविराज' था; यह उपाधि नहीं थी। क्योंकि 'सूरि' शब्द (१।३५) नाम के अन्त में ही जोड़ा जाता है, किसी उपाधि के अन्त में नहीं। पाठक के द्वारा निश्चित समय के विषय में भी पर्याप्त सन्देह विद्वानों को है। कविराज ने अपने आश्रयदाता वीर कामदेव की तुलना राजा मुंज (१० वीं शती का अन्तिम चरण) के साथ बड़े आग्रह के साथ की है। सम्भव है इस तुलना का स्वारस्य कवि को मुंज के समकालीन तथा सभासद होने में है। सम्भवतः इनका समय दसवीं शती का उत्तरार्ध है। कविराज सूरि का 'राघवपाण्डवीय'[1] तेरह सर्गों में विभक्त ६६८ श्लोकों में विरचित है। हमारी दृष्टि में धनञ्जय कविराज से निःसन्देह पूर्ववर्ती कवि हैं जो अपने को सुबन्धु तथा बाणभट्ट जैसे वक्रोक्तिनिपुण कवियों की परम्परा में मानते हैं (राघवपाण्डवीय १।४१)—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग-निपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥

हरदत्तसूरि ने 'राघवनैषधीय'[2] काव्य में राम तथा नल का चरित्र श्लेष के द्वारा एकत्र निबद्ध किया है। भट्टोजिदीक्षित (१६५० ई०) के उल्लेख करने से तथा १८०० ई० के आसपास इनके काव्य की प्रति उपलब्ध होने से इनका समय १८ वीं शती प्रतीत होता है। चालुक्य सोमदेव (११२० ई०—११३८ ई०) के सभापण्डित **विद्यामाधव** ने **'पार्वतीरुक्मणीय'**[3] नामक नवसर्गात्मक काव्य में पार्वती और रुक्मिणी के विवाह का विशद वर्णन एक साथ किया है। **वेंकटाध्वरी** (१६ शतक के पूर्वार्ध) ने **'यादवराघवीय'**[3] नामक लघुकाव्य (३०० श्लोक))में विलोम पद्धति से राम और कृष्ण दोनों के चरित्र का

---

१. काव्यमाला ग्रन्थ संख्या ६२, १८९७, शशधर की टीका के साथ। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश की टीका कलकत्ता से प्रकाशित, १८८५।
२. काव्यमाला सं० ५८ में प्रकाशित, १९२६।
३. ये तीनों ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। इनके हस्तलेख मद्रास तथा तंजोर के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

एकत्र वर्णन किया है। यह श्लेषकाव्य न होकर विलोमकाव्य है, जिसमें साधारण क्रम से पढ़ने पर राम का चरित निकलता है और श्लोकों को उलटे क्रम से पढ़ने पर कृष्ण का चरित। कौशिक गोत्रोत्पन्न सूर्यनारायणाध्वरी के पौत्र तथा अनन्तनारायण के पुत्र **चिदम्बर** सुमति का प्रयास, श्लेष-काव्य का चूडान्त निदर्शन कहा जा सकता है जिन्होंने '**राघव-यादव-पाण्डवीय**' नामक काव्य में रामायण, महाभारत तथा भागवत की कथा—त्रितयी को एक साथ ही निबद्ध किया। ये विजयनगर के राजा व्यंकट (१५८६–१६१४ ई०) के सभापण्डित थे। इस काव्य में केवल तीन सर्ग हैं और यह अभी तक अप्रकाशित ही है। इन्होंने ही **पंचकल्याण चम्पू** नामक एक विचित्र चम्पू की रचना की है जिसमें एक ही श्वास में राम, कृष्ण, शिव, विष्णु तथा सुब्रह्मण्य के विवाह का कथानक वर्णित है। यह दो स्तवकों में हैं और कवि ने इसके ऊपर स्वयं ही '**शब्दशाणोपल**' नामक टीकाग्रन्थ लिखा था। श्लेष के चमत्कार-प्रदर्शन का यह सबसे विलक्षण प्रयास है जहाँ एक ही श्लोक के पाँच अर्थ निकलते जाते हैं। बहुलार्थक काव्य लिखने का प्रयास इसी ग्रन्थ की रचना के साथ समाप्त नहीं होता। स्पष्ट है कि इन कवियों का संस्कृत भाषा के ऊपर प्रभूत आधिपत्य है, परन्तु ये भाषा की वेदी पर भाव के समर्पण में ही काव्य का चमत्कार मानते हैं। **दैवज्ञ सूर्य्य** (१६ श०) ने अपने '**रामकृष्णविलोम काव्य**'[1] में श्लेष के बिना सहायता के ही द्व्यर्थक काव्य का निर्माण किया है। इसमें केवल ३६ या ३८ श्लोक हैं जिसके प्रथमार्द्ध में राम की और द्वितीयार्द्ध में कृष्ण की प्रशस्ति है। यहाँ श्लोक का उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध का ही विपरीत क्रम से निबद्ध पाठ है। यह विलोम काव्य विश्रुत है।

मेघविजय उपाध्याय नामक जैन कवि का **सप्तसन्धान** महाकाव्य श्लिष्टार्थ के चमत्कार के निमित्त विद्वद्गोष्ठी में प्रसिद्ध रहेगा। इस काव्य में ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, राम और कृष्ण इन सात महापुरुषों के चरित एक साथ निबद्ध हैं। काव्य में ९ सर्ग हैं। इसके रचयिता मेघविजय काव्य, व्याकरण, ज्योतिष तथा तर्कशास्त्र के पण्डित थे—इस तथ्य का परिचय उनकी विविध रचनाओं से मिलता है। कृपाविजय के शिष्य ये कविवर तपागच्छ के आचार्य थे तथा समस्यापूर्ति की कला में बेजोड़ माने जाते थे। ग्रन्थों की रचना का काल उनमें स्वतः निर्दिष्ट है। इनके '**देवानन्द महाकाव्य**' की प्रशस्ति में ग्रन्थ का रचनाकाल वि० सं० १७२७ (ई० सन् १६७०) बताया गया है। 'सप्तसन्धान' काव्य की समाप्ति का वर्ष वि० सं० १७६० (=ईस्वी सन् १७०३) है। इन्होंने हिन्दी के प्रख्यात जैन कवि **बनारसीदास** के नाटक '**समयसार**' (रचनाकाल वि० सं० १६९३=१६३६ ई०) के अनुकरण पर '**युक्तिप्रबोध**' नामक स्वीय रचना का निर्माण किया। फलतः मेघविजय का आविर्भाव १७ वीं शती का उत्तरार्ध तथा १८ वीं शती का प्रथम चरण है।

सप्तसन्धान काव्य की कथावस्तु बड़ी बुद्धिमत्ता से सजाई गई है जिससे पूर्वोक्त सातों महापुरुषों के जीवनविकाश का दर्शन भली भाँति हमें होता है। उनकी जीवनी की प्रधान घटनाओं का विवरण संक्षेप में, परन्तु स्पष्टरूपेण, दिया गया है। कथावस्तु अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसका चयन कवि ने पूर्ववर्ती पुराण एवं त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित

१. काव्यमाला गुच्छक ९, १८९९, पृ० ८०-१२१।

से किया है। कथा में शैथिल्य होना तो स्वाभाविक ही है। सातों महापुरुषों के चरित की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा मार्मिक स्थलों का उद्घाटन कथमपि नहीं हो पाया है और इसी की कवि से आशा करना ही अनुचित है। कवि का लक्ष्य श्लेषकाव्य की रचना है और इस विषय में वे सफल कहे जा सकते हैं। यह संस्कृत भाषा का ही वैशिष्ट्य है कि इतनी विभिन्न कथाओं का प्रकाशन परिमित पद्यों के माध्यम से हो सका है। ध्यातव्य है कि समस्त श्लोकों में श्लेष नहीं है। फलतः ऋतु तथा प्रकृति के चित्रण में सीधे-सादे श्लेषविहीन शब्दों का प्रयोग कवि के यथार्थ बोध का परिचायक है। एक दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे :—

कवि रात में खेतों की रखवाली करने वाले किसानों की ऋषियों के साथ रोचक तुलना उपस्थित करता है (सप्तसन्धान ७।२९)—

रजनि बहुधान्योच्चै रक्षाविधौ धृतकम्बलः
सपदि दुधुवे वारामारात् गवा गलकम्बलः।
ऋषिरिव परक्षेत्रं सेवे कृषीवलपुंगव-
श्चपलसबलं भीत्या जज्ञे बलं च पलाशजम्॥

अन्यत्र कवि गंगा को भारतक्षेत्र की वनिता के रूप में चित्रित करता है जो मनोरञ्जक तथा आकर्षक है (सप्तसन्धान १।१७)—

गङ्गाऽनुषङ्गान्मणिमालभारिणी सुरद्रुसेकामृतपूरसारणी।
क्षेत्रक्षमेशस्य रसप्रचारिणी सा प्रागुदूढा वनितेव धारिणी॥

मेघविजय समस्यापूर्ति में प्रवीण पण्डित कवि थे। इन्होंने **देवानन्द काव्य**[1] में विजयदेव सूरि के चरित का वर्णन किया है। यह माघ काव्य के श्लोकों के अन्तिम चरणों की समस्यापूर्ति के रूप में निबद्ध किया गया है। कहीं-कहीं माघ के श्लोकों के इतर पादों की भी समस्यापूर्ति की गई है। विजयदेव सूरि अपने युग के एक प्रख्यात सूरि थे (वि० सं० १६३४–१७१३; ईस्वी १५७७–१६५६)। बादशाह जहाँगीर भी उनका सम्मान करता था। समस्यापूर्ति में कवि का कौशल नितरां श्लाघनीय है। एक उदाहरण देखिये। गंगा नदी के वर्णनपरक इस पद्य के आद्य तीन चरण माघकाव्य के १।९ के चतुर्थ चरण की समस्यापूर्ति में निबद्ध है—

अथात्र जम्बूपपदेऽस्ति भारतं प्रभा-रतं द्वीपकुल-प्रदीपके।
महोदयं ध्यायदिवास्य गङ्गया 'विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया'॥

कवि अपने विनयी स्वभाव का संकेत इस पद्य में बड़ी सुन्दरता से कर रहा है (प्रशस्ति पद्य)—

नोद्रेकः कवितामदस्य न पुनः स्पर्धा, न साम्यस्पृहा
श्रीमन्माघकवेस्तथापि सुगुरोर्मे भक्तिरेव प्रिया।
तस्यां नित्यरतेः सुतेव सुभगा जज्ञे समस्याद्भुता
सेयं शारदचन्द्रिकेव कृतिनां कुर्यात् दृशामुत्सवम्॥

---

१. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९३७ में प्रकाशित।

इन्होंने शान्तिनाथ चरित[1] में नैषधकाव्य का प्रथम सर्ग समस्यापूर्ति के द्वारा समाविष्ट किया है और सो भी क्रमानुसार । नैषध का प्रथम चरण ग्रहण किया गया प्रथम पाद में, द्वितीय चरण द्वितीय पाद में, तृतीय चरण तृतीय पाद में और चतुर्थ चरण चतुर्थ पाद में । काव्य के छहों सर्ग इसी प्रकार से निर्मित है । कवि ने अपने तृतीय ग्रन्थ दिग्विजय[2] काव्य में (१३ सर्ग) विजयप्रभसूरि का जीवनचरित चित्रित किया गया है। साथ में अन्य सूरियों का भी चित्रण है । काव्य की दृष्टि से ग्रन्थ रोचक है। 'मेघदूत समस्या लेख'[3] नामक काव्य में मेघदूत की समस्या पूर्ति की गई है । फलतः मेघविजय उपाध्याय अपने वैदुष्यमण्डित कविता के लिए कविगोष्ठी में चिरस्मरणीय रहेंगे।

(६) शृंगारी काव्य

शृंगाररसात्मक काव्यों का प्रणयन संस्कृत कवियों द्वारा प्रचुरता से किया गया उपलब्ध होता है । इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय भर्तृहरिका शृंगार-शतक है । उसीसे स्फूर्ति ग्रहण कर पिछले युग के कवियों ने अनेक शृंगारी काव्यों का निर्माण किया । ऐसे काव्यों में नायिका के अंग-प्रत्यंगों की शोभा के साथ संयोग तथा वियोग इन दोनों दशाओं में उसके मनोभावों का भी सुन्दर वर्णन मिलता है । कतिपय प्रकाशित शृंगारी काव्यों का संक्षिप्त उल्लेख करना पर्याप्त होगा ।

उत्प्रेक्षावल्लभ कवि का **सुन्दरी शतक**[4] ऐसे काव्यों में अपनी मनोहरता के हेतु, प्रमुख उल्लेख पाने का अधिकारी है । कवि का व्यक्तिगत अभिधान 'गोकुल' था, परन्तु उक्त काव्य की रचना से प्रसन्न होकर सरस्वती ने इन्हें 'उत्प्रेक्षावल्लभ' उपाधि प्रदान की। रचना का समय १६५३ वि० सं० (१५९४ ई०) होने से ये १६ शती के उत्तरार्ध के कवि हैं । आर्या में निबद्ध यह शतक भाषा तथा भाव की दृष्टि से नितान्त मञ्जुल तथा आवर्जक है——

इन्दोरखण्डल – निर्यत्-पीयूष-मृष्टरसनो यः ।
अधरदलं तव सुन्दरि वर्णयितुं कल्पते यदि सः ॥

इसी शतक शैली में गोस्वामी जगन्निवास के आत्मज गोस्वामी **जनार्दनभट्ट** की रचना शृंगार-शतक[5] नाना वृत्तों में निबद्ध है । प्रिय के प्रलोभन के लिए सुन्दरी को अनेक उपदेश दिये गये हैं । **नरहरि** कवि का भी **शृंगार शतक**[6] ११५ पद्यों में नायिका के अंग-प्रत्यंग तथा वस्त्र आभूषण आदि का वर्णन सीधे-सादे शब्दों में करता है । ग्रन्थकार ने ९० पद्य में कालिदास, बाण तथा श्रीहर्ष का उल्लेख किया है परन्तु वह अपने विषय में मौन है। फलतः उनके देशकाल का पता नहीं चलता । **कामराज दीक्षित** का **शृंगारकलिका त्रिशती** इन तीनों से परिमाण में बृहत् होने के अतिरिक्त अक्षरक्रम से निबद्ध होने का वैशिष्ट्य धारण करती है । यहाँ नागरी वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण की बारह खड़ी (द्वादशाक्षरी)

---

१. जैन विविध शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित ।
२. सिंधी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित, १९४५ ।
३. आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर ।
४. काव्यमाला ९म गुच्छक । ५. वही ११ गुच्छक । ६. वही १२ गुच्छक।
७. काव्यमाला १४ गुच्छक में प्रकाशित ।

से श्लोक क्रमशः आरम्भ होते हैं। इस दृष्टि से इसकी कल्पना नवीन है। कामराज दीक्षित के पिता **सामराज दीक्षित** भी अच्छे कवि थे जिनकी **श्रृंगारामृत लहरी**[1] में श्रृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन विस्तार से किया गया है। सामराज भी स्निग्ध तथा रसपेशल कविता के भावुक रचयिता थे। कामराज के आत्मज **व्रजराज दीक्षित** का **'षड्ऋतु वर्णन'**[2] सुन्दर लघुकाव्य है। दीक्षित बान्धवकर उपनामक महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। **'श्रृंगारकलिका** आर्या में निबद्ध है और अनेक प्रकार के श्रृंगारिक भावनाओं को प्रकट करने में समर्थ है। नायिका वर्षाकालीन की चेष्टा का अवलोकन कीजिये—(१।९१)

> घोलं नवजलदानां श्रुत्वा विरहाकुला तन्वी।
> निःश्वासच्छलतो ननु पवनास्त्रं तत्र निक्षिपति ॥

विश्वेश्वर पाण्डेय का **रोमावलीशतक**[3] इन सबसे विशिष्ट है, क्योंकि इसमें नायिका की केवल रोमावली का ही एक सौ सुन्दर पद्यों में वर्णन है। कवि ने यहाँ जमकर अपनी कमनीय प्रतिभा का मधुर विलास दिखलाया है। उत्प्रेक्षायें बड़ी सुन्दर तथा आवर्जक हैं।

> आवासधाम्नि हृदये तव मन्मथस्य
> कुम्भौ सुवर्णघटितौ निहितौ स्तनौ किम्
> मन्ये तयोर्निपतन-प्रतिकारहेतो
> रोमालिरक्रियत मारकतीव यष्टिः ॥

इस पद्य में कवि नायिका के हृदय को कामदेव का आवासगृह तथा स्तनों को कनक-निर्मित कुम्भ बतला रहा है। इन दोनों को गिरने से बचाने के लिए रोमावली मरकत मणि की वनी आधार-यष्टि है। विश्वेश्वर पाण्डेय अलमोड़ा के निवासी पर्वतीय ब्राह्मण थे जो एक साथ ही कवि, गद्यलेखक तथा मूर्धन्य आलोचक थे। अलंकारकौस्तुभ उनका महनीय अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ है। समय १८ वीं शती का पूर्वार्ध। श्रीधरभट्ट के पुत्र **कृष्णवल्लभभट्ट** के द्वारा रचित **काव्यभूषण शतक**[4] नायिका का श्रृंगारी वर्णन परक काव्य है। नाना छन्दों में नायिका के अंग-प्रत्यंगों का तथा श्रृंगारी चेष्टाओं का वर्णन करने वाले इस काव्य का रचनाकाल १८५५ वि० सं० (=१७९८ ई०) है। कवि के देश का परिचय नहीं मिलता।

(७) इतर लघुकाव्य

रत्नाकर काश्मीर के विश्रुत कवि थे। वे शंकर के परम उपासक थे। **वक्रोक्ति-पंचाशिका**[5] में उन्होंने शिवपार्वती के वक्रोक्तिमय उत्तर-प्रत्युत्तर का वर्णन सुन्दरता से से किया है। यहाँ 'वक्रोक्ति' शब्द प्रचलित अर्थ में गृहीत है जिसमें वक्ता के वचन को सभंग या अभंग श्लेष के द्वारा अन्यथा ग्रहण कर मनमानी ढंग से उत्तर दिया जाता है। नाम के अनुसार ही इसमें पचास पद्य है। इसके ऊपर शिशुपालवध आदि महाकाव्यों के व्याख्याता वल्लभदेव ने टीका लिखी है। टीकाकार का समय दशम शतीका पूर्वार्ध है।

१—२. काव्यमाला १४ गुच्छक में प्रकाशित।
३. काव्यमाला अष्टम गुच्छक में ,,
४. काव्यमाला षष्ठ गुच्छक। ५. वही १ गुच्छक।

हरिकृष्णभट्ट रचित **'सीतास्वयम्वरकाव्य'**[1] १२७ पद्यों का एक लघुकाव्य है। ये अपने को श्रीधीर पीताम्बर नन्दन बतलाते हैं (१२६ श्लोक), परन्तु इनके देशकाल का पता नहीं चलता। काव्य भक्तिरस से पूरित है तथा वर्णन की सुषुमा से मण्डित है। महाकवि **बिल्हण** ने अपने चरित से सम्बद्ध **'बिल्हणकाव्य'**[2] अथवा चन्द्रलेखासक्तबिल्हणकाव्य नामक काव्य का प्रणयन किया है जिसमें गुजरात के राजा वीरसिंह के विदुषी कन्या चन्द्रलेखा का अध्यापन तथा अपने प्रणयानुराग का सुन्दरता से वर्णन किया है। काव्य आत्मचरित मूलक है। रचनाका काल १२ शती है। श्लोकों की संख्या १६४ है।

किसी अज्ञात कवि का **खड्गशतक**[3] वीररस की दीप्ति से प्रकाशमान शतक काव्य है। स्रग्धरा में निबद्ध यह काव्य प्रौढ़ रचना है जिसके प्रत्येक चरण से वीररस की सद्यः अभिव्यक्ति होती है। कृपाण की प्रशस्त स्तुति नितान्त रमणीय है।

(८) संस्कृत सूक्तिसंग्रह

चमत्कारपूर्ण चुटीली उक्तियों के चुनने का कार्य संस्कृत में बहुत दिनों से होता चला आया है। इन संग्रह-ग्रन्थों में मुक्तकों का संग्रह है। साथ ही साथ प्रबन्ध काव्य के भी भावपूर्ण कतिपय पद्यों का संकलन किया गया है। इन सूक्तिग्रन्थों की सहायता से हम संस्कृत साहित्य के अनेक मान्य कवियों का परिचय पाते हैं, जिनकी कविता ग्रन्थ के रूप में मिलती नहीं और जिनका नाम भी इन्हीं ग्रन्थों में ही रह गया है। भोजराज के सभाकवि **चित्तप** का नाम तथा पद्य सूक्तिग्रन्थों की कृपा से ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार संस्कृतसाहित्य की दृष्टि में इन ग्रन्थों का अनुशीलन बड़ा ही उपयोगी है।

सुभाषित-रत्नकोष संस्कृत साहित्य का सर्वप्राचीन सुभाषित ग्रन्थ है। **'कवीन्द्रवचन-समुच्चय'** के नाम से इसीका प्रकाशन कलकत्ते से डा० टामस के सम्पादकत्व में १९१२ ई० में हुआ था, परन्तु वह ग्रन्थ अपूर्ण था। अब नवीन हस्तलेखों की प्राप्ति होने से यह महत्त्वशाली ग्रन्थ समग्ररूप में प्रकाशित हुआ है। इसके संकलनकर्ता विद्याकर पण्डित हैं जिन्होंने लगभग ११०० ई० में इसका प्रथम संकलन किया। ये बंगाल के लब्धप्रतिष्ठ, पूर्वी बंगाल के मालदा जिले में स्थित, जगदल विहार के मान्य आचार्य थे। **बुद्धाकर गुप्त** तथा **भीमार्जुन सोम** ने (जो जगदल विहार में विद्याकर के सहयोगी आचार्य थे) इस ग्रन्थ का लगभग ११३० ई० में पुनः संस्कार किया। यह विहार बंगाल के पाल-वंशीय नरेशों द्वारा संस्थापित और संरक्षित था। इस विश्वविद्यालय में राजकीय उपाधि लामा तारानाथ के साक्ष्यानुसार, 'पण्डित' के रूप से दी जाती थी। यह कोष पाल-नरेशों की ही छत्रछाया में निर्मित हुआ था। इसमें भोज के पद्य सन्निविष्ट किये गये हैं। फलतः इसका रचनाकाल भोज (१००५ ई०–१०५४ ई०) के अनन्तर होना चाहिए। भोज का समय इसकी पूर्वकालीन अवधि है तथा श्रीधर दास (१२०५ ई०) का समय उत्तरकालीन अवधि। इसमें कुल ५० व्रज्याएँ (अर्थात् विभाग) हैं, जो विविध छन्दों वाले श्लोकों में विभक्त हैं। श्लोकों की पूर्ण संख्या एक हजार सात सौ उनतालीस (१७३९) है। ग्रन्थ का आरम्भ होता है 'सुगत-व्रज्या' से तथा अन्त होता है 'कविस्तुति' से। सुभा...

---

१. का० मा० गुच्छक १४। २. वही गुच्छक १३। ३. वही ११ गुच्छक में सटीक प्रकाशित।

के प्रति ग्रन्थकार का समधिक पक्षपात उसे बौद्ध सिद्ध करने में पर्याप्त है। अनेक अज्ञात तथा अल्पज्ञात कवियों की रचनाओं का यह मनोरम संग्रह साहित्य दृष्टि से भी आवर्जक तथा कमनीय है।[1]

इतर प्रख्यात ग्रन्थ **सदुक्तिकर्णामृत** है। इसको बंगाल के प्रसिद्ध राजा लक्ष्मण सेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र **श्रीधरदास** ने ११२७ शक (१२०५ ई०) में संकलित किया था। अतः इसका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त तथा तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। बंगाल आदि पूर्वीय देश के उस समय के प्रसिद्ध और आजकल नितान्त अज्ञात कवियों के पद्यों का संग्रह इसकी विशेषता है। सूक्तिसंग्रहों में सदुक्तिकर्णामृत सचमुच अपनी महत्ता तथा उपादेयता के कारण अद्वितीय माना जा सकता है। इसके विषयों की व्यापकता अद्‌भुत है। समग्र ग्रन्थ अमर, श्रृङ्गार, चाटु, अपदेश तथा उच्चावच नामक पाँच प्रवाहों में विभक्त है। प्रति प्रवाह में वीचियाँ हैं जिनकी संख्या ४७६ है, तथा प्रति-वीचि में पाँच पद्यों की व्यवस्था होने से पूरे श्लोकों की संख्या २३८० है। इस ग्रन्थ में उद्‌धृत कवियों की संख्या ४८५ है जिनमें से पचास के लगभग कवि ही हमारे पूर्व-परिचित हैं। शेष चार सौ से ऊपर कवियों के चुने हुए पद्यों का एकत्र संकलन इस बात का स्पष्ट साक्षी है कि मध्ययुग में संस्कृत काव्य की रचना अधिक मात्रा में होती थी। वसुकल्प, योगेश्वर, उमापतिधर, बल्लभदेव, वररुचि, लक्ष्मीधर, रविगुप्त, मधु (धर्माधिकरण), मनोक, प्रद्युम्न, धीरनाग, धर्मकीर्ति, धर्मपाल, धर्मयोगेश्वर आदि शतशः कवियों के नाम भी विस्मृतिगर्त में डूब गये रहते, यदि उनका निर्देश इस संग्रह में नहीं किया गया रहता। वैष्णव कविता का संकलन इसका प्रकृष्ट वैशिष्ट्य है। राजा लक्ष्मणसेन के कवि-हृदय का भी इससे परिचय मिलता है।[2]

सूक्तिमुक्तावली[3]—इस सूक्तिग्रन्थ का निर्माण त्रयोदशी के उत्तरार्ध में यादवनरेश कृष्ण (सन् १२४७–६०) के करिवाहिनीपति श्रीमहारोहक भगदत्त **जल्हण** ने किया। ग्रन्थकर्ता के कथनानुसार देवगिरि में यादववंशीय राजा मैलुगि (मल्लुगि) हुए। इन्हीं के हस्तिसेनानायक अत्यन्त पराक्रमी वत्सवंशीय ब्राह्मण 'दादा' नाम के थे। इन्हीं दादा की पाँचवीं पीढ़ी में महाकवि जल्हण पैदा हुए जो मैलुगि की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न राजा कृष्ण के हस्ति-सेनापति थे। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के विषय में एक विचित्र तथ्य है। **भानुकवि** ने ही अपने आश्रयदाता जल्हण के नाम से संस्कृत पद्यों का यह नितान्त मनोरम संग्रह प्रस्तुत किया, जिसका नाम है **सुक्तिमुक्तावली**। इसकी सूचना इस पद्य से भलीभाँति मिलती है—

शाकेऽङ्काद्रीश्वरपरिमिते वत्सरे पिंगलाख्ये
चैत्रे मासि प्रतिपदि तिथौ वासरे सप्तसप्तेः।

---

१. सं० गोखले तथा कौशाम्बी द्वारा हार्वर्ड प्राच्य ग्रन्थमाला में सं० ४२ के रूप में प्रकाशित (१९५७) तथा वही अँगरेजी में अनूदित १९६५।

२. पंजाब ओरियण्टल सीरीज नं० १५ म० म० रामावतार शर्मा द्वारा सम्पादित।

३. गायकवाड प्राच्य ग्रन्थमाला में प्रकाशित, (ग्र० सं० ८२) बड़ोदा १९३८।

पृथ्वीं शासत्यतुलमहसा यादवे कृष्णराजे
जल्हस्यार्थे व्यरचि भिषजा भानुना सेयमिष्टा ॥

ग्रन्थ का रचनाकाल ११७९ शक संवत् (=१२५८ ई०) है जब देवगिरि के यादववंशी राजा कृष्ण (१२४७ ई०–१२६० ई०) राज्य कर रहे थे। जल्हण कृष्णराज के ही करिवाहिनी-पति थे, जिनको यह पद वंशपरम्परया प्राप्त हुआ था। इन्हीं के नाम पर भानुकवि ने यह संग्रह बनाया। भानुकवि की कविता पर्याप्तरूपेण रोचक है जिसके उदाहरण इस संग्रह में मिलते हैं—

शाखाशतचितवियतः सन्ति कियन्तो न कानने तरवः।
परिमल-भर-मिलदलिकुलदलितदलाः शाखिनो विरलाः॥
कुर्वन्तु नाम जनतापकृति प्रसूनच्छायाफलैरविकलैः सुलभैर्द्रुमौघाः।
सोढास्तु कर्तनरुजः पररक्षणार्थमेकेन भूर्जतरुणा करुणापरेण॥

ग्रन्थ के अन्त में **वैद्यभानु** ने जल्हण के निमित्त इसकी रचना करने का यह उल्लेख विशेष महत्त्व नहीं रखता। जल्हण साहित्य के विशेष रसिक थे—इसका उल्लेख स्वयं वैद्यभानु ने किया है—

साहित्यविद्याहृदयं ज्ञातुमिच्छसि चेत् सुखम्।
तत् पश्य जल्हणकृतां सूक्तिमुक्तावलीमिमाम्॥
नाङ्गुलीयैर्न केयूरैर्न ग्रैवेयैर्न कङ्कणैः।
तथा भाति यथा विद्वान् कण्ठसंगतयाऽनया॥

'जल्हणकृताम्' स्पष्टतः इसके कर्ता का विस्पष्ट संकेतक है। वैद्यभानु ने भी कुछ श्लोक अन्त में अपनी ओर से जोड़कर इसे संस्कृत भी किया है। इसके विभाग 'पद्धति' के नाम से प्रख्यात है। इसके 'कवि-पद्धति' में अनेक अज्ञात तथा अल्पज्ञात कवियों की प्रशंसा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। श्लोकों का चयन बड़ा ही रमणीय तथा मञ्जुल है और इस दृष्टि से इसकी महत्ता बढ़ी-चढ़ी है। यादवनरेश कृष्ण के समकालीन होने से जल्हण का समय तेरहवीं शती का उत्तरार्ध है।

शार्ङ्गधर-पद्धति—शाकम्भरी-देशाधिपति चौहानवंशी नरेश हम्मीर अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा और अटूट हठ के लिए इतिहास में ख्यात हैं। ये रणथम्भोर दुर्ग के अधिपति थे और मीर-महिमा नामक एक मुसलिम व्यक्ति को शरण देने के कारण तत्कालीन दिल्ली वादशाह अलाउद्दीन खिलजी से लोहा लिया था (सन् १३०१ ई० में)। इन्हीं के प्रधान सभापण्डित थे राघवदेव, जिनके तीन पुत्र थे—गोपाल, दामोदर तथा देवदास। दामोदर के तीनों पुत्रों में लक्ष्मीधर और कृष्ण छोटे थे तथा **शार्ङ्गधर** जेठे थे। इन्हीं के द्वारा संगृहीत यह सूक्तिसंग्रह इन्हीं के नाम पर 'शार्ङ्गधर-पद्धति' के नाम से विख्यात है। अनुक्रमणिका के अनुसार यह पद्धति एक सौ तिरसठ (१६३) परिच्छेदों में विभक्त छः हजार तीन सौ (६३००) पद्यों का एक विशालकाय संग्रह है। आज प्रकाशित ग्रन्थ में परिच्छेदों की संख्या तो इतनी ही है, परन्तु पद्यों का संग्रह केवल ४६१६ ही है, जिससे प्रतीत होता है कि लगभग डेढ़ हजार पद्य कालकवलित हो चुके हैं। यह सूक्ति-संग्रहों में अपने विपुल आकार

के निमित्त ही प्रख्यात नहीं है, अपि तु विषय-संकलन की दृष्टि से भी यह अनुपम है। अनेक नवीन विषयों का समावेश इसकी भूयसी महत्ता है। ग्रन्थ के अन्त में शान्तरस तथा योग का विवरण बड़े ही विस्तार से दिया गया है। यह अन्तिम भाग प्रयाग से स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ था। डा० पीटर्सन ने १८८० सन् में इस ग्रन्थ को बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित किया था, परन्तु यह अप्राप्य है।

सुभाषितावली के रचयिता **वल्लभदेव** का देशकाल दोनों अभी तक अनिश्चित है। मेघदूत तथा माघकाव्य की टीका के रचयिता वल्लभदेव कश्मीर के निवासी थे और मल्लिनाथ (१४ वीं शती) के द्वारा माघकाव्य की टीका (२।४४) में तथा रायमुकुट के द्वारा अमरकोश टीका (सन् १४३२ में रचित) में निर्दिष्ट होने से इनका समय १४ वीं शती से प्राचीन ही सिद्ध होता है। इस सूक्तिग्रन्थ के संग्राहक वल्लभदेव टीकाकार से अर्वाचीन सिद्ध होते हैं। इन्होंने 'सुभाषितावली' में **जोनराज** तथा **भागवतामृतदत्त** के पद्यों को संगृहीत किया है। इनमें जोनराज मंखक के श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के टीकाकार हैं। इनका समय १४५० सन् के आस-पास है। कहा जाता है कि **भागवतामृतदत्त** द्वारा यह अन्योक्ति एक चुनौती के रूप में काश्मीर नरेश **शाहाबुद्दीन** द्वारा **मीरसाहब** के लिए भेजी गई थी,[1] जो कश्मीर के ऊपर आक्रमण करने की योजना बना रहा था :—

किमेवमविशङ्कितः शिशुकुरङ्ग लोलक्रमं
परिक्रमितुमीहसे विरम नैव शून्यं वनम्।
स्थितोऽत्र गजयूथनाथमथनोच्छलच्छोणित-
च्छटापटलभासुरोत्कटसटम्भरः केसरी॥

शाहाबुद्दीन का समय १३५२ ई० माना जाता है। बहुत सम्भव है कि अमृतदत्त का सम्बन्ध इन्हीं के दरबार से रहा हो। अतः जोनराज के पद्यों को उद्धृत करने के कारण सुभाषितावली का समय १५ शती मानना उचित प्रतीत है[2]। सुभाषितावली में वल्लभदेव के नाम से उद्धृत पद्य सम्भवतः संग्राहक के ही हैं अथवा तन्नामधारी प्राचीन टीकाकार के ? इस ग्रन्थ में कुल १०१ पद्धतियों तथा ३५२८ पद्य संगृहीत हैं। इस प्रकार यह संग्रह शार्ङ्गधर पद्धति की अपेक्षा छोटा है, लगभग ग्यारह सौ श्लोकों से।

प्रसन्न-साहित्यरत्नाकर-नन्दन पण्डित का यह सूक्तिसंग्रह अभी तक अप्रकाशित है, परन्तु हरप्रसाद शास्त्री के 'नेपालग्रन्थ सूची' के अनुसार इसकी एक प्रति नेपाल के प्रख्यात वीर पुस्तकालय में विद्यमान है। नन्दन पण्डित ने 'सुभाषित-रत्नकोश' से लगभग ४८० पद्यों को उसी क्रम से इसमें उद्धृत किया है और इसी प्रकार २४५ पद्य सुभाषित-रत्नकोश तथा सदुक्ति-कर्णामृत में सम्मिलित रूप में अभिन्न हैं। प्रास्ताविक पद्य में कवि का कथन है—'सहस्रं श्लोकानां व्यरचयदिदं नन्दनकविः', परन्तु श्लोकों की वास्तव संख्या १४२८ है—एक हजार से लगभग साढ़े चारसौ ऊपर। इस संग्रह में उड़ीसा के कपिलेश्वर गजपति, त्रिविक्रम गजपति तथा पुरुषोत्तम गजपति के पद्य उद्धृत हैं, जिससे संग्रहकर्ता उड़ीसा के राजवंश के परिचित प्रतीत होता है। इस राजवंश के

१. द्रष्टव्य—पीटर्सन कृत सुभाषितावली की प्रस्तावना।
२. सं० डा० पीटर्सन तथा म० म० पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा, बम्बई १८६६ ई०।

संस्थापक थे **कपिलेश्वर गजपति,** जिनके पुत्र थे पुरुषोत्तम गजपति, और इन्हीं के पुत्र थे प्रख्यात **प्रतापरुद्र गजपति;** जो १४९७ ई० में राजगद्दी पर बैठे। प्रतापरुद्र के पिता तथा पितामह के पद्यों का संग्राहक नन्दन पण्डित सम्भवतः उनकी सभा का पण्डित था, नहीं तो समकालीन तो अवश्य ही था। संग्रहकार का समय इस प्रकार १५ शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। सुभाषित-रत्नकोष' की प्रस्तावना में सम्पादकों ने इस ग्रन्थ का परिचय कुछ विस्तार से दिया है।[1]

पंद्रहवीं शताब्दी के बाद भी सूक्तियों का संग्रह होता चला आया। बंगाल के **रूप गोस्वामी** ने भी कृष्णपरक सुन्दर सूक्तियों का एक संग्रह **पद्यावली**[2] के नाम से किया। इस ग्रन्थ में राधाकृष्ण की ललित लीलाओं के विषय में रचित पद्यों का बड़ा ही कमनीय संकलन है। उस युग के अनेक वंगीय कवियों की सूक्तियाँ यहाँ संग्रहीत हैं, जिनके विषय में हमारी जानकारी बिलकुल ही नहीं है या बहुत ही कम है। इस छोटे संग्रह में १२५ कवियों से संकलित केवल ३८६ पद्य हैं। वंगीय अथवा वैष्णव कवियों से अतिरिक्त अमरुक, भवभूति आदि प्राचीन कवियों के पद्य संगृहीत हैं, परन्तु उन्हें राधाकृष्ण के सन्दर्भ में ही संकलित किया गया है। पद्यवेणी से प्राचीनतर संग्रह सूर्य **कलिंगराय** कृत **'सूक्तिरत्नहार'**[3] है जिसका संकलन १४ वीं शती के पूर्वार्ध में किया गया। संकलनकर्ता दक्षिण भारत के निवासी हैं और इसलिए तद्देशीय कवियों के रोचक पद्यों के संग्रह करने का गौरव इन्हें प्राप्त है।

आचार्य **सिद्धचन्द्रमणि** कृत **'सूक्तिरत्नाकर'** (१३ शती), **हरिदास** कृत **'प्रस्ताव-रत्नाकर'** (१६ शती) **हरिकवि** कृत **सुभाषित-हारावली, सुन्दरदेव** कृत **सूक्ति-सुधा** (१७ शती) **व्रजनाथ** कृत **पद्यतरङ्गिणी, वेणीदत्त** कृत **पद्यवेणी,**[4] **हरिभास्कर** कृत **पद्यामृत-तरङ्गिणी,**[4] **भट्ट गोविन्दजित्** कृत **सभ्याभरण,**[4] **नारोजी पण्डित** कृत **सूक्तिमालिका** तथा **सुभाषितरत्न-भाण्डागार** (निर्णय सागर, १९३५)——ये सूक्तिसंग्रहों में विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से कतिपय ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

१७ वें शतक में अनेक सूक्तिसंग्रह प्रस्तुत किये गये, जिनमें जगज्जीवन के पुत्र वेणीदत्त का **'पद्यवेणी'**, लक्ष्मण भट्ट अंकोलकर की **पद्य-रचना** (१६२५–१६५० के बीच में), तथा हरि कवि की **सुभाषितहारावलि** मुख्य हैं। **पद्यवेणी**[5] ग्रन्थ के संकलनकर्ता **वेणीदत्त** नीलकंठ के पौत्र तथा जगज्जीवन के पुत्र थे, जिनके अनेक पद्य इस ग्रन्थ में संगृहीत होने से ये दोनों स्पष्टतः कवि प्रतीत होते हैं। वेणीदत्त ने अपने 'पञ्चतत्त्व-प्रकाशिका' की रचना १६४४ ईस्वी में की। हरिनारायण मिश्र के द्वारा शाहजहाँ (१६२८–१६५८ ई०) की प्रशंसा में रचित एक पद्य यहाँ उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वेणीदत्त के आविर्भाव का काल १७ शती का उत्तरार्ध है। इस

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य सुभाषित-रत्नकोष की प्रस्तावना, पृ० २२-२३।
२. सं० ढाका विश्वविद्यालय से १९३४।
३. सं० अनन्तशयन ग्रन्थमाला, १९३९।
४. कलकत्ते से श्री यतीन्द्रविमल चौधरी ने प्रकाशित किया है।
५. डा० चौधरी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १९४४।

संग्रह में ८८९ पद्यों में से चतुर्थांश के लगभग श्लोक (२३१ पद्य) संग्रहकर्ता की ही रचना है। पद्यवेणी मध्ययुगीन कवियों की रचनाओं का एक प्रतिनिधि-संग्रह है, जिसमें उद्धृत ११४ कवियों में से लगभग बीस से अधिक हमारे परिचित कवि नहीं हैं। इन कवियों में से केरली, गौरी, पद्मावती, मोरिका और विकटनितम्बा जैसे स्त्री-कवियों की भी रचनायें यहाँ उद्धृत हैं। मुसलमान बादशाओं के विषय में पण्डितों द्वारा रचित प्रशस्तियाँ इसकी दूसरी विशेषता है। इस संग्रह के अवलोकन से स्पष्ट है कि मध्ययुग में संस्कृत काव्यों का आदर ही न था, प्रत्युत उसके उपासक कविजनों का भी अभाव नहीं था। पद्यवेणी से कुछ पहिले १५ वें शतक के उत्तरार्ध में जोनराज के शिष्य कश्मीर-निवासी श्रीवर ने **'सुभाषितावलि'** का संकलन किया जिसमें लगभग ३८० कवियों के पद्य उद्धृत हैं।

'पद्यरचना'[1] सुन्दर सूक्तियों का एक मनोरम संग्रह है। इसके रचयिता का नाम है—**लक्ष्मणभट्ट अंकोलकर**। इसमें पंद्रह परिच्छेद (व्यापार) हैं, जिनमें देवस्तुति, राजवर्णन, नायिकावर्णन, ऋतु तथा रस, नाना अन्योक्ति आदि के विषय में प्राचीन कवियों के सुन्दर पद्यों का संकलन किया गया है। लक्ष्मणभट्ट स्वयं प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे और यहाँ नाना विषयों पर उनके सुन्दर पद्य बड़े ही हृदयावर्जक हैं। पूरे पद्यों की संख्या ७५६ है। मध्ययुगीन अनेक कवियों के श्लोक यहाँ उद्धृत मिलते हैं, विशेषतः भानुकर (भानुदत्त) के श्लोकों की संख्या अधिक है। इन्होंने राजाओं के कीर्ति-प्रसंग में चक्रवर्ती बघेल की प्रशंसा में अकबरीय कालिदास के पद्य को उद्धृत किया है (पृ० ११, श्लोक १४)। फलतः इनका समय अकबर के अनन्तर है। १७ वीं के प्रथमार्ध में इनका समय मानना उचित है। मध्ययुग में अनेक सूक्तिसंग्रह रचे गये, जिनमें **सुन्दरदेव** का **सूक्तिसुन्दर** तथा **हरिभास्कर** की **पद्यामृत-तरंगिणी** प्रमुख हैं। सूक्तिसुन्दर अपेक्षाकृत छोटा है। इसमें शाहजहाँ के विषय में एक स्तुतिपरक पद्य का उल्लेख है। शाहजहाँ १६५८ ईस्वी में गद्दी पर बैठा। इस ग्रन्थ का एक हस्तलेख १७१० ईस्वी का है। फलतः इसका काल दोनों के बीच में १७ शती का उत्तरार्ध है। **हरिभास्कर** भी सुन्दरदेव के समकालीन ही थे। काश्यपवंशी आपाजिभट्ट के पुत्र भास्कर का उपनाम 'हरि' था और इसीलिए ये 'हरिभास्कर' के नाम से प्रख्यात हैं। इनकी **'पद्यामृत-तरंगिणी'** एक उत्कृष्ट सूक्ति-संग्रह है, जो पाँच तरंगों में विभक्त है—देव, नृप रस, अन्योक्ति तथा प्रशस्त्यादि तरंग। पद्यों की संख्या ३०१ है। इन दोनों संग्रहों में मध्ययुगीय अनेक अज्ञात कवियों के काव्य संरक्षित हैं। हरिभास्कर स्वयं एक अच्छे कवि थे, फलतः सूक्तियों का चुनाव बहुत ही अच्छा है। काव्यगत सौन्दर्य की अपेक्षा इसका ऐतिहासिक मूल्य कहीं अधिक है। इस ग्रन्थ की रचना काशी में १७३० विक्रमी (=१६७४ ईस्वी) में हुई। इस प्रकार ये दोनों सूक्तिसंग्रह समसामयिक हैं।[2] इन्होंने लक्ष्मण की गंगास्तुति को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। फलतः लक्ष्मण भट्ट का समय लगभग १६२५ इस्वी मानना ठीक होगा।

इसी युग का एक सूक्तिसंग्रह **मणिराम** (अथवा **मणिराम दीक्षित**) द्वारा प्रणीत उपलब्ध होता है जिसका नाम **श्लोकसंग्रह** है। यह संग्रह परिमाण में पर्याप्तरूपेण

---

१. काव्यमाला ग्रन्थसंख्या ८९, बम्बई, १९०८।
२. दोनों का प्रकाशन डा० चौधरी ने प्राच्य वाणी ग्रन्थमाला में कलकत्त से किया है।

विशाल है, क्योंकि इसमें संगृहीत पद्यों की संख्या १६०६ (एक हजार ६ सौ छः) है। इसमें कवियों के नाम तथा उनके ग्रन्थों का भी निर्देश स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। हरिनारायण मिश्र, भोजप्रबन्ध, अकबरीय कालिदास तथा आंकोल लक्ष्मण का नाम निर्देश ग्रन्थ के समय का संकेत करता है। अंकोलकर लक्ष्मण का समय १७वीं शती का प्रथम पाद है। मणिराम ने इस संग्रह में टोडरमल्ल की स्तुति में स्वरचित पाँच पद्यों को उद्धृत किया है जिससे प्रतीत होता है कि ये अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री राजा टोडरमल्ल के आश्रित तथा प्रशंसक थे। मणिराम लक्ष्मणभट्ट से पश्चात्कालीन प्रतीत होते हैं। अतः इनका आविर्भावकाल १७वीं का मध्यभाग मानना अनुचित नहीं होगा[1]। इन्होंने अपने गुरु का नाम हरिनारायण मिश्र लिखा है जिनके पद्य वेणीदत्त की पद्यवेणी में भी उद्धृत हैं।

१५ वीं शती तक निबद्ध सूक्ति ग्रन्थों में जो चयन, व्यापकता और वर्ण्य विषय की मौलिकता है, वह अवान्तर सूक्ति-संग्रहों में बहुत कम दृष्टिगोचर होती हैं। इस युग के ग्रन्थ प्रायः एकांगी हैं, क्योंकि प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उनका चयन नितान्त एक-देशीय अथच संकीर्ण है। यथा जैन कवि **सोमप्रभाचार्य**कृत **'सुक्ति-मुक्तावली'** (प्रकाशित काव्यमाला सप्तम गुच्छक में) केवल वैराग्य-विषयक पद्यों का संग्रह है और **रूप गोस्वामी** रचित पद्यावली केवल कृष्णलीला-परक सूक्तियों का संकलन है। इसी प्रकार एक कवि की कृति में ही इस प्रकार की संकीर्णता है, यथा **वेदान्तदेशिक** कृत **'सुभाषित-नीवी'** मनुष्य की प्रवृत्तियों की संकेतक सूक्ति का संग्रह है, तो **अमितगति** रचित **'सुभाषितरत्न-सन्दोह'** जैनधर्मपरक पद्यों का संकलन है। अधिकांश सूक्तिसंग्रहों में अनेक विषयों पर श्लोक —नवीन तथा प्राचीन-संगृहीत हैं, परन्तु किसी एक ही विषय पर श्लोकों का संग्रह सचमुच विलक्षण है। इस दृष्टि से केवल श्रृंगारी पद्यों का संग्रह करनेवाला **श्रृंगारालाप**[2] नामक ग्रन्थ निःसन्देह महत्त्वशाली है। यह ग्रन्थ ११ शतकों में विभक्त है और पूरे पद्यों की संख्या ११४५ (एक हजार एक सौ पैंतालीस) है। मूल ग्रन्थों का, जिनसे ये पद्य उद्धृत हैं, नाम बहुत हीं कम दिया गया है। बिल्हण का नाम निर्दिप्ट है जिससे यह संग्रह ११०० ई० से पूर्ववर्ती कथमपि नहीं हो सकता। इसकी एक ही अपूर्व हस्तलिखित प्रति का लेखनकाल १६१२ वि० सं० (=१५५६ ई०) है तथा लेखक का नाम **राम याज्ञिक** है। अन्तरंग परीक्षा से राम याज्ञिक ही इस ग्रन्थ के रचयिता प्रतीत होते हैं। काम की प्रशंसा के श्लोक रुद्रभट्ट कृत श्रृंगारतिलक से पूर्णतया मिलते हैं। एक सहस्र से अधिक श्लोक श्रृंगार के विषय में एकत्र करनेवाला यह लेखक हमारे धन्यवाद का पात्र हैं। यह विराट कमनीय सूक्तिसंग्रह प्रकाशन-योग्य है

१६वीं शती से लेकर आजतक अनेक कवियों के द्वारा रचित सूक्ति-संग्रह उपलब्ध हैं (अधिकांश अप्रकाशित), जिनमें पूर्वोक्त वैलक्षण्य लक्षित होता है। कतिपय विशिष्ट सूक्ति-संग्रहों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है:—

---

१. विशेष द्रष्टव्य गोडे—स्टडीज इन इंडियन लिटरटी हिस्ट्री, भाग ३, पृष्ठ २१६-२२३।

२. वही पृ० ९७-१०६।

(१) **प्रस्ताव-रत्नाकर**—**हरिदास कवि** ने सं० १६१४ (=१५५७ ई०) में इसे पूर्ण किया। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने अपना विशिष्ट परिचिय दिया है। ये खारागढ़-नरेश वरवीरशाहि के राज्यकाल में विद्यमान थे। इनके पिता पुरुषोत्तम प्राज्ञ तथा सदाचारी ब्राह्मण थे, जिनकी चार सन्तानों में हरिदास सबसे कनिष्ठ थे। ग्रन्थ में २१ परिच्छेद हैं जिनमें 'अन्योक्ति' के विषय में भी एक परिच्छेद है। इन अन्योक्तियों में से कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ कवि की नवीन रचनायें हैं। पद्यों के कर्ता का नाम निर्दिष्ट नहीं है[1]।

(२) **सूक्तिमालिका**[2]—इसके रचयिता **नारोजी पण्डित** हैं। कवि का परिचय नहीं मिलता, केवल ग्रन्थ की पुष्पिका से इनके पिता का नाम विश्वनाथ पण्डित उपलब्ध होता है। इसमें आठ पद्धतियाँ हैं तथा श्लोकों की संख्या एक सहस्र के कुछ ऊपर है। सबसे अधिक पद्य (२३८ पद्य) दशावतार के वर्णन में दिये गये हैं। यह विशिष्टता इस संग्रह की है। दशावतार पर आग्रह रखने के कारण ग्रन्थकार की अभिरुचि वैष्णव-धर्म के प्रति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। इसमें भी अनेक पद्य (विशेषतः अन्योक्तियाँ) संग्राहक की निजी रचनायें हैं। ग्रन्थ विशेष प्राचीन नहीं प्रतीत होता।

(३) **विद्याधर-सहस्रकार**[3]—ग्रन्थकार **विद्याकर मिश्र** मिथिला-निवासी मैथिल ब्राह्मण थे। सम्पादक ने भूमिका में इनके कुल का परिचय दिया है। कवि ने प्रस्तुत संग्रह ग्रन्थ में एक हजार पद्य संकलित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु इससे पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। अतः इसे पूर्ण करने का श्रेय मिथिला के कोइलखा ग्राम के निवासी किसी ज्योतिर्विद् महोदय को है, जहाँ ग्रन्थकार का विवाह हुआ था। इसमें १३० कवियों के द्वारा प्रणीत लगभग एक सहस्र पद्यों का संकलन है। इसमें अन्योक्ति-विषयक पद्यों का भी संग्रह है। ग्रन्थ अर्वाचीन है।

(४) **सुभाषित-रत्नभाण्डागार**—यह सुभाषित ग्रन्थों में अन्तिम माना जा सकता है। प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर संकलित इस भाण्डागार में दस हजार से अधिक पद्यों का संकलन है, जो संख्या की दृष्टि से सब सूक्ति-संग्रहों में महत्तम है। इसमें सात प्रकरण हैं—मंगलाचरण, सामान्य, राजा, चित्र, अन्योक्ति, नव रस तथा संकीर्ण। ये प्रकरण अवान्तर भागों में विभक्त हैं। कवियों का नाम नहीं दिया गया है। श्लिष्ट शब्दों के अर्थ का संकेत स्थान-स्थान पर किया गया है। तथ्य तो यह है कि यह भाण्डागार संस्कृत साहित्य का विशालतम संग्रहग्रन्थ है, जिसमें नाना विषयों की सूक्तियाँ विभिन्न रुचिवाले पाठकों के मनोरंजन के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करती हैं।

सूक्तिसंग्रहों के ऐतिहासिक विवरण में वेदभाष्यकार आचार्य **सायण** का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका उद्देश्य धार्मिक था। फलतः पुरुषार्थ के विषय में उन्होंने दो संग्रहों की रचना की—(क) **सुभाषित-सुधानिधि** तथा (ख) **पुरुषार्थ-सुधानिधि**। दोनों

---

१. डा० राजेन्द्र प्रसाद मिश्र के सूचनानुसार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के संग्रहालय (संख्या ९४४) में इसका लेख सुरक्षित है। पूरे ग्रन्थ में २१४ पृष्ठ हैं।

२. दी जर्नल आफ दी तंजोर सरस्वती महल लाइब्रेरी (खण्ड १३—खण्ड १५ सं० ३ तक), १९६१ में प्रकाशित।

३. प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डा० उमेश मिश्र के सम्पादकत्व में प्रकाशित, १९४२, प्रयाग।

का उद्देश्य एक ही है, परन्तु पद्धति भिन्न है। प्रथम ग्रन्थ कवियों के पुरुषार्थविषयक पद्यों का संग्रह है, तो दूसरा उसी विषय के व्यासरचित पद्यों का संकलन है।

सुभाषित-सुधानिधि[1]—इसकी रचना सायण ने आपने प्रथम आश्रयदाता कम्पण (१३४०–१३५४ ई०) के राज्यकाल में की थी जिसका उल्लेख इस ग्रन्थ की पुष्पिका में किया गया है। पुरुषार्थ-चतुष्टय के विषय में कवियों की रमणीय सूक्तियों का इसमें संग्रह है। धर्म पर्व में हैं ३८ पद्धतियाँ तथा २०३१ श्लोक, अर्थ पर्व में १३७ पद्धति तथा ६२७ श्लोक, कामपर्व में ५२ पद्धति तथा २१५ श्लोक एवं अन्तिम मोक्षपर्व में १६ पद्धति तथा ६३ श्लोक। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में २२९ पद्धतियाँ तथा ११९८१ श्लोक हैं। अनेक दृष्टियों से इसका महत्त्व है। यह शार्ङ्गधर पद्धति (रचनाकाल १३६३ ई०) से प्राचीन है। श्लोकों का संग्रह तो है, परन्तु उनके रचयिताओं का नाम नहीं है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व विजयनगर के शासकों का इतिवृत्त प्रस्तुत करने में है। **'राजचाटुपद्धति'** में इन शासकों के विषय में अनेक पद्य संगृहीत हैं। 'पुरुषार्थसुधानिधि' नामक सूक्ति संग्रह से इसका पार्थक्य स्पष्टतः लक्षित होता है। 'पुरुषार्थसुधानिधि' में केवल वेदव्यास के ही तत्तद्-विषयक श्लोक महाभारत एवं पुराणों से संगृहीत हैं, परन्तु सुभाषित सुधानिधि में अन्य कवियों द्वारा रचित पद्य संकलित है। विषय एक होने पर भी दोनों में पार्थक्य है।

पुरुषार्थ सुधानिधि[2] में चारों पुरुषार्थों के वर्णनपरक चार स्कन्ध हैं और प्रतिस्कन्ध में पृथक् अध्याय हैं। अध्यायों की संख्या धर्मस्कन्ध में है ४५, अर्थ स्कन्ध में २३, काम स्कन्ध में १४ और मोक्ष स्कन्ध में १९। विजयनगर के शासक बुक्कराय के आदेश से मन्त्रि-प्रवर माधवाचार्य ने अपने अनुज सायण को यह काम सौंपा कि पुरुषार्थ-विषयक सुन्दर श्लोक तथा उपदेशप्रद आख्यानों का संग्रह से प्रस्तुत करें। इस कार्य के सम्पादन में सायण ने महाभारत, पुराणों तथा उपपुराणों का गाढ़ अनुशीलन कर तत्तत् उपदेशों का बड़ा ही विराट तथा विशद संकलन प्रस्तुत किया। प्रथमतः उन्होंने तत्तत् विषयों के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक श्लोकों का संग्रह किया; तदनन्तर तद्विषयक आख्यानों को संक्षिप्त कर प्रस्तुत किया। इसमें कथासूत्रों को मिलाने के लिए दो चार श्लोक ऊपर से जोड़े गये हैं, अन्यथा समग्र संग्रह व्यासदेव के ही श्लोकों का है। यह बड़ा ही उपयोगी तथा उपादेय है। संक्षेप में व्यासजी के उपदेश आख्यानों से संवलित होकर यहाँ एक स्थान पर प्रस्तुत हैं।[3]

इन सूक्तिसंग्रहों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि मध्ययुग में विधर्मी मुसलमान बादशाहों के समय में भी संस्कृत काव्य की धारा सूखने नहीं पाई, प्रत्युत उसे बढ़ाने वाले सैकड़ों कवियों ने अपने-अपने मनोरम काव्यों की रचना से उसे सम्पन्न बनाया। इन कवियों का नाम भी आज हमारे लिए विस्मृति का विषय बन गया रहता, यदि ये सूक्तिसंग्रह आज उपलब्ध नहीं होते। फलतः ये ग्रन्थ साहित्यिक तथा ऐतिहासिक उभय दृष्टियों से उपादेय एवं संग्रहणीय हैं।

---

१. प्रकाशक कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़।

२. संस्करण मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैन्सुस्क्रप्ट सीरीज (ग्रन्थांक ३९ मद्रास, १९५५)

३. पुराणोपपुराणेभ्यो महतो भारतादपि।
व्यासवाक्यानि संगृह्य कथितानि मया यतः॥ पृथ्वी, पृ० ६५२।

सप्तम परिच्छेद

गीति एवं स्तोत्र काव्य

(क) गीति-काव्य

गीतिकाव्य का सामान्य वैशिष्ट्य संस्कृत-गीतकाव्यों में भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गीति की आत्मा भावातिरेक है। कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से वर्ण्य विषय तथा वस्तु को भावात्मक बना देता है। गीतियों का निर्माण उस बिन्दु पर होता है, जब कवि का हृदय सुख-दुःख के तीव्र अनुभव से आप्लावित हो जाता है और वह अपनी रागात्मिका अनुभूति को अपनी हार्दिक भावना की पूर्णता के कारण बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में परिणत करता है। 'स्व'-गम्य अनुभूति 'पर'-गम्य अनुभूति के रूप में परिणत करने के लिए कवि जिन मधुर भावापन्न रससान्द्र उक्तियों का माध्यम पकड़ता है, वही होती हैं गीतियाँ। इसके लिए कतिपय उपकरण आवश्यक होते हैं, जो इसके साधक तत्त्व होते हैं। भावमयता इनमें मुख्य है। यों तो संस्कृत के आलंकारिकों की दृष्टि में काव्यमात्र के लिए रसात्मकता अपेक्षित गुण है, परन्तु गीतिकाव्य के लिए तो यह अनिवार्य है। भावसान्द्रता के अभाव में कोई भी उक्ति गीति की महनीय संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकती। भावों में भी किसी एक भाव को केन्द्रस्थ होना नितान्त आवश्यक है। उस केन्द्र-स्थित भाव को अन्य भाव स्वसाहाय्य प्रदान कर उसे अभिवृद्ध, समृद्ध तथा परिपुष्ट किया करते हैं। इसे 'भावान्विति' का अभिधान दिया जा सकता है। सहज अन्तः प्रेरणा तो काव्यमात्र के लिए आवश्यक होती है, गीति के लिए तो वह नितान्त आवश्यक है। विषय का आधार तो नाममात्र का ही रहता है, वस्तुतः वह कवि के व्यक्तितत्व का प्रतिफलन होता है। गीतिकाव्य के विषय के लिए कवि अपने से बाहर नहीं जाता, प्रत्युत अपने हृदय के अन्तराल में स्थित स्वीय अनुभूति के द्वारा आत्मसात् किये गये विषय को अपने व्यक्तित्व के रंग में रँग कर वह इतनी सुन्दरता से, इतने मोहक शब्दों में व्यक्त करता है कि वह उसकी अपनी चीज होती है—विशुद्ध तथा परकीयत्व से नितान्त अमिश्रित। संक्षिप्तता तथा गेयता उसके अन्य उपलक्षण हैं। कवि को गीति में वर्ण्य विषय के परिबृंहण के लिए अवकाश नहीं होता; कभी-कभी भावना का आवेश इतना क्षणिक होता है कि कवि एक ही पद या पद्य में उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति कर देता है। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के तार-तम्य पर ही काव्य के परिमाण का प्रश्न आधारित रहता है। कभी-कभी अभिव्यक्ति दूरगामी होती है, तब काव्य का परिमाण मात्राकृत अधिक होता है, नहीं तो संक्षिप्तता गीतिकाव्य का आवश्यक तत्त्व होता है।

गेयता भी इसी प्रकार गीति का अनिवार्य उपादान है। काव्य तथा संगीत—दो पृथक् पृथक् अभिव्यक्तियाँ है। काव्य अपनी अभिव्यञ्जना के निमित्त संगीत का सहारा नहीं चाहता और संगीत भी अपने प्राकट्य के निमित्त काव्य का आलम्बन नहीं चाहता,

परन्तु दैवयोग से दोनों का एकत्र समन्वय कला की दृष्टि से एक अत्यन्त उत्कृष्ट अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है। और गीति उसका एक मधुमय मोहन स्वरूप है। इन सब तत्त्वों के सहयोग से गीति काव्यरूपों में एक उत्कृष्ट काव्य-रूप है।

संस्कृत भाषा में निबद्ध गीतिकाव्यों में यह पूर्वोक्त वैशिष्टय अपनी पूर्ण मात्रा में उपस्थित है। गीति-काव्य संस्कृत भारती का परम रमणीय अंग है। संस्कृत में गीतिकाव्य मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों प्रकार से उपलब्ध होता है। 'मुक्तक' से अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है। इसके समझने के लिए बाहरी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। संस्कृत के मुक्तक उन रसभरे मोदकों के समान हैं जिनके आस्वादमात्र के सहृदयों का हृदय सद्यः परितृप्त हो जाता है। जो आलोचक रस की पुष्टि के लिए प्रबन्धकाव्य को ही उत्तम साधन समझते हैं, उन्हें आनन्दवर्धन की यह उक्ति भुलानी नहीं चाहिए—मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु इव रसबन्धनाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण भर्तृहरि तथा अमरुक के शतक हैं। प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य के दृष्टान्त कालिदास का मेघदूत तथा उसी के अनुकरण पर लिखे गये **'सन्देश-काव्य'** हैं। गीति-काव्यों में मधुर पदावली के साथ संगीतमय छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। वर्णन विशेषकर श्रृङ्गार, नीति, वैराग्य तथा प्राकृतिक दृश्यों के हैं। यहाँ कोमल भावों की मधुरिमा प्रत्येक रसिक के हृदय को हठात् अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसका कारण यह है कि इन गीति-काव्यों का बाह्य रूप जितना अभिराम तथा सुन्दर है, उतना ही सुन्दर तथा पेशल उनका आभ्यन्तर रूप भी है।

वैशिष्टय

रमणी का सौन्दर्य इन काव्यों में जितनी सुन्दरता तथा स्वाभाविकता के साथ परिस्फुटित हो पाया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ-सा प्रतीत हो रहा है। नारी के हृदय तथा रूपछटा के रंगीन चित्र किस रसिक के हृदय में प्रमोद की सरिता नहीं बहाते? श्रृङ्गार की भिन्न-भिन्न अवस्था का मार्मिक चित्रण इस काव्य की महती विशेषता है। आलोचकों की यह धारणा नितान्त भ्रान्त है कि श्रृङ्गारिक काव्यों में इन्द्रिय के उत्तेजक काम का ही अभिराम चित्रण है। यह आक्षेप संस्कृतसाहित्य के श्रृङ्गार-प्रधान काव्य के विषय में आज भी किया जाता है, परन्तु ऐसे आक्षेपकों को संस्कृत-साहित्य के प्रमुख आलोचक रुद्रट की ये उक्तियाँ कभी न भूलनी चाहिए, जिनमें उन्होंने कामवर्णन के प्रति संस्कृत कवियों का आदर्श प्रस्तुत किया है। कवि को परदारा की न तो एषणा करनी चाहिए और न उसका उपदेश ही देना चाहिए और न कर्तव्य-बुद्धि से दूसरों के लिए उनकी प्राप्ति का उपाय ही बतलाना चाहिए। तब कवि का उद्देश्य क्या होता है? वह केवल काव्य के अंग होने के कारण ही विद्वानों की आराधना के लिए उनके चरित्र का वर्णन करता है। अतः इस कार्य में कवि का कोई दोष नहीं होता :—

> न हि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
> कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
> किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
> आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥

इन गीतिकाव्यों के अध्ययन से तो नारी प्रेम की उदात्तता तथा विशुद्धता का ही परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रकृति-चित्रण का भी इनमें प्रमुख स्थान है। बाह्य प्रकृति तथा अन्तः प्रकृति इन दोनों का परस्पर प्रभाव बड़ी सजीवता के साथ यहाँ दर्शाया गया है। संयोग तथा वियोग--उभय अवस्थाओं में प्रकृति मानवहृदय पर अपना प्रभाव डालने से विरत नहीं होती। उल्लसित हृदय को प्राकृतिक सौन्दर्य द्विगुणित कर देता है, परन्तु वही दृश्य विषण्ण हृदय की विषाद रेखा को और भी गाढ़ा बना देता है। इस प्रकार ये गीति-काव्य प्राकृतिक दृश्यों के चलचित्रों के समान रसिकों के सामने उपस्थित होकर अपना सौन्दर्य दिखलाते हैं।

मुक्तकों के दो प्रधान भेद किये जा सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है; धार्मिक मुक्तक (स्तोत्र) विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बद्ध रहते हैं। दोनों प्रकार के काव्यों की प्राचीनता संस्कृत में पर्याप्त रूप से है। समग्र वैदिक संहिताएँ देवताओं की विशिष्ट स्तुतियों से मण्डित हैं। गीतियों का उदय-स्थान तो स्वयं वेद ही है।

लौकिक गीतिका

मेघदूत

संस्कृत कें गीतिकाव्यों का आदिम ग्रन्थ महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' है। जिसमें धनपति कुबेर के शाप से निर्वासित एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण है। मेघदूत कालिदास के अन्तःप्रकृति तथा बाह्य-प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का भव्य भण्डार है। यहाँ बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मिली है वह संस्कृत के अन्य किसी काव्य में नहीं। पूर्वमेघ तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। कवि की पैनी दृष्टि में ग्रीष्म ऋतु की मन्द प्रवाहिनी नदी उस प्रोषित-पतिका के समान प्रतीत होती है जो अपने पति के वियोग में मलिनवसना बन बड़े क्लेश से अपना जीवन बिताती है। प्राकृतिक दृश्यों में विज्ञानसम्मत तथ्यों का भी पर्याप्त सन्निवेश है। यक्ष तथा उसकी प्रेयसी की विरहावस्था का वर्णन कर कवि ने मानव-हृदय का मार्मिक मनोहर चित्र उपस्थित किया है। मेघदूत वस्तुतः विरह-पीड़ित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है जिसके प्रत्येक पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अपने को अभिव्यक्त कर रही है। पूर्वमेघ बाह्यप्रकृति का मनोरम चित्र है, तो उत्तरमेघ अन्तःप्रकृति का अनुभव पर प्रतिष्ठित अभिराम वर्णन है।

समीक्षण—मेघदूत संस्कृत साहित्य का वह जाज्वल्यमान हीरक है जिसकी प्रभा समय के प्रवाह से और भी अधिक बढ़ती जाती है। वह बड़ी ही मंगलमयी घड़ी थी जब महाकवि कालिदास ने इस अमर काव्य की रचना की थी। बाह्य प्रकृति की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करने में तथा अन्तस्तल में सन्तत उदंय लेने वाले भावों के चित्रण में यह काव्य अपनी तुलना नहीं रखता। किसी विरहविधुरा प्रेयसी के पास मेघ को प्रेम का संदेश-वाहक दूत बनाकर भेजने की कल्पना ही विश्व के साहित्य में अपूर्व, कोमल तथा हृदयावर्जक है। वाल्मीकीय रामायण में अशोकवाटिका में रावण के द्वारा अपहृत जनकनन्दिनी के पास हनुमान को भेजना तथा महाभारत में हंस के द्वारा दमयन्ती के हृदय में राजा नल के

प्रति प्रणयभाव के प्रादुर्भाव की कथा अवश्यमेव कालिदास से प्राचीनतर है। परन्तु इनमें चेतन पदार्थों से ही दौत्य-कार्य की सम्मति दीख पड़ती है । किसी अचेतन वस्तु को प्रेम-प्रसंग में दौत्य कर्म के लिए भेजना तथा प्रणय में गाढ़ उत्कंठातिरेक की सद्यः अभि- व्यक्ति करना सचमुच एक प्रतिभासम्पन्न कवि की मौलिक कल्पना है । ऐसे प्रसंग की गूढ़ अभिव्यंजना की ओर लक्ष्य न करके संस्कृत के आद्य आलंकारिक भामह ने इसे 'अयुक्तिमत्' दोष के नाम से अभिहित किया है। उनका तर्क है कि मेघ, शुक्र, चन्द्रअ ादि पदार्थों को दूत बनाकर भेजना इसलिए युक्तिरहित है कि इनमें से कुछ पदार्थों की वाक्-शक्ति ही नहीं है (अवाचः), कुछ की वाणी नितान्त अव्यक्त है, जिससे वे अपने सन्देश को दूसरों से स्पष्टतया प्रकट नहीं कर सकते (अव्यक्तवाचः) तथा कुछ दूर देशों में विचरण करनेवाले हैं (दूरदेशविचारिणः); फलतः इन्हें दूत बनाकर भेजना युक्तिहीन नहीं तो क्या है ?

अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः ।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ।१।४३।।

इस प्रकार की विपरीत आलोचना का खण्डन कालिदास ने बड़ी भावुकता के साथ पहले ही कर दिया है--"कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।" काम से पीड़ित प्राणी चेतन तथा अचेतन के झमेले में नहीं पड़ता। वह तो उत्सुकता तथा उत्कण्ठा का शिकार बना रहता है, परन्तु फिर भी मेघ को दूत बनाने में सुन्दर युक्ति की सत्ता है। मेघ तो सूखते हुए पौधों को जल से सींच कर झड़ने से बचाता है और यहाँ तो एक जीता प्राणी विरह के मारे अधमरा बना हुआ सिसक रहा है और वह भी किसी धनकुबेर के क्रोध का भाजन बना हुआ प्रेयसी से वियुक्त होकर जीवन-यापन कर रहा है (धनपतिक्रोध- विश्लेषितस्य) । फलतः वह विशेष रूप से मेघ की दया का पात्र है---अनुकम्पा का भाजन है। कालिदास के इस समर्थन की ओर भामह ने स्वयं अपना सिर झुकाया और 'सुमेधा' के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इस कल्पना को ग्राह्य तथा अनुकरणीय माना--

यदि चोत्कण्ठया यत्तद् उन्मत्त इव भाषते ।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ।। (१४४)

नई-नई शताब्दियों में प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करना काव्य की महत्ता का स्पष्ट सूचक होता है । और इस कसौटी पर कसने से 'मेघदूत' को संस्कृत साहित्य में एक नवीन काव्य-प्रकार की उद्भावना का श्रेय प्राप्त है, जो 'सन्देशकाव्य' के नाम से प्रख्यात है। सर्वप्रथम महाकवि भवभूति ने अपने 'मालतीमाधव" में माधव के द्वारा मालती के समीप मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना का अनुसरण किया । यहाँ (९ अंक, २५-२६ श्लोक) दोनों पद्य 'मन्दाक्रान्ता' वृत्त में ही उपन्यस्त हैं ! भवभूति के बाद एक शताब्दी के भीतर ही हम जैन कवियों को मेघदूत के प्रति विशेषतः आकृष्ट होते पाते हैं। उन्हें यह काव्य इतना रुचिकर प्रतीत हुआ कि उन्होंने इसके समस्त पद्यों की समस्यापूर्ति कर नवीन काव्यों की रचना की । इनमें से कई कवियों ने मेघदूत के अंतिम चरणों को ही समस्या-रूप से ग्रहण कर उसकी पूर्ति अपनी ओर से की है, परन्तु **आचार्य जिनसेन** का कार्य

इस दृष्टि से नितान्त श्लाघ्य है, जिन्होंने मेघदूत के समस्त पद्यों के समग्र चरणों की पूर्ति की। मेघदूत की समस्यापूर्त्ति पर अनेक जैन काव्यों की रचना हुई है, जिनमें प्रमुख है :—

(१) **पार्श्वाभ्युदय**—इस काव्य में चार सर्ग हैं जिनकी कुल श्लोक संख्या ३६४ है। काव्य की भाषा प्रौढ़ है और मेघदूत के समान ही मन्दाक्रान्ता छन्द का व्यवहार किया गया है। समस्यापूर्ति के रूप में मेघदूत के समग्र श्लोक इस काव्य में प्रयुक्त हैं। समस्यापूर्ति का आवेष्टन तीन रूपों में पाया जाता है—(क) पादवेष्टित (मेघ का केवल एक चरण); ( ) अर्ध वेष्टित (दो चरण); (ग) अन्तरितावेष्टित जिसमें एकान्तरित, द्व्यन्तरित आदि कई प्रकार हैं। 'एकान्तरित' में मेघदूत के किसी श्लोक के दो पाद रखे गये हैं जिनके बीच में एक-एक नये पाद निविष्ट हैं। द्व्यन्तरित में दो पादों के बीच में दो नये पादों का सन्निवेश है। और इस प्रकार मेघदूतीय मन्दाक्रान्ता के समग्र चरण इस काव्य में निविष्ट कर दिये गये हैं।[1] २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ स्वामी की तीव्र तपस्या के अवसर पर उनके पूर्व भव के शत्रु शम्बर (कमठ) के द्वारा उत्पादित कठोर क्लेशों तथा शृंगारिक प्रलोभनों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है। मेघदूत जैसे घोर शृंगारी काव्य को अनुपम शान्तिरसान्वित काव्य में परिणत करना कवि की श्लाघनीय प्रतिभा का मधुर विलास है। समस्यापूर्ति के निर्वाह के निमित्त काव्य में काठिन्य अवश्य आ गया है, तथापि कवि का शब्द-कौशल तथा अर्थ-संयोजन श्लाघा के पात्र हैं।

काव्य के रचयिता **जिनसेन** द्वितीय वीरसेन के शिष्य थे। अपने गुरुभाई विनयसेन के प्रोत्साहन पर इन्होंने इस अप्रतिम काव्य की रचना की। काव्य के प्रतिसर्ग के अन्त में जिनसेन को अमोघवर्ष का गुरु बतलाया गया है। राष्ट्रकूटवंशीय अमोघवर्ष कर्नाटक तथा महाराष्ट्र का शासक था जो ८७१ वि० सं० (=८१४ ई०) में राज्यासीन हुआ था। पार्श्वाभ्युदय का उल्लेख हरिवंश पुराण (शक सं० ७०५=७८३ ई०) में किया गया है। जिनसेन द्वितीय ने वीरसेन द्वारा आरब्ध 'जयधवला' की परिसमाप्ति शक सं० ७५९ (=८३७ ई०) में की। फलतः कवि का समय अष्टमशती के अन्तिम चरण से लेकर नवमशती के द्वितीय चरण तक मानना सर्वथा समीचीन है (लगभग ७८० ई०–८४० ई०)। जिनसेन के ग्रन्थों का रचनाक्रम इस प्रकार है—पार्श्वाभ्युदय, जयधवला टीका, आदिपुराण। जिनसेन द्वितीय कवि ही न थे, प्रत्युत विचक्षण तार्किक थे।

पार्श्वाभ्युदय के स्वरूप-ज्ञान के लिए दो पद्य यहाँ दिये जाते हैं—

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पबाणैर्मदङ्गं
तल्पे नाल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृप्ते।
तीव्रापायत्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नापं
'क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः'॥ (४।३५)।

---

१. **इस ग्रन्थ के आधार पर प्रो० के० बी० पाठक ने मेघदूतका एक विशिष्ट संस्करण प्रकाशित किया है जो नवम शती में मेघदूत के स्वरूप का पूर्ण परिचायक है।**

यह श्लोक मेघदूत के चतुर्थ चरण की पूर्ति के कारण 'पादवेष्टित' कहा जायगा, तो निम्नलिखित श्लोक उत्तरमेघ (श्लो० २३) की आदि पादद्वयी को एक-एक पाद से संवलित करने के कारण 'एकान्तरित' कहलायेगा (३।३८)—

'उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां'
गाढोत्कथं करुणविरुतं विप्रलापायमानम् ।
'मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा'
त्वामुद्दिश्य प्रचलदलकं मूर्च्छनां भावयन्ती ॥

प्रकृति के दृश्यों के चित्रण में कवि समर्थ है। रेवा नदी का वर्णन करता हुआ कवि रेवा को पृथ्वी की टूटी हुई मोतियों की माला बतला कर उसके किनारे जंगली हाथियों की दन्तक्रीड़ा और पक्षियों के मधुर कलरव का वर्णन कर नदी तट का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है—

गत्वोदीचीं भुव इव पृथुं हारयष्टिं विभक्तां
वन्येभानां रदन-हतिभिर्भिन्नपर्यन्तवप्राम् ।
वीनां वृन्दैर्मधुरविरुतैराततीरोपसेवां
'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्' ॥ १।७५

(२) **नेमिदूत**—मेघदूत के चतुर्थ चरण की ही पूर्ति में दो जैन दूतकाव्य उपलब्ध तथा प्रकाशित हैं जिनमें एक है **नेमिदूत**[१] और दूसरा है **शीलदूत**। नेमिदूत सांगण के पुत्र **विक्रम कवि** की रचना है। इनके समय तथा चरित का यथार्थ परिचय उपलब्ध नहीं होता। नेमिदूत के हस्तलेख का काल वि० सं० १४७२ (=१४१५ ई०) है जिससे इस काव्य का रचनाकाल १४ शती में मानना उचित प्रतीत होता है। इसमें २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा उनकी पत्नी राजीमती का चरित चित्रित किया गया है। विरह-विधुरा राजीमती द्वारा अपने विरह का वर्णन बड़ा करुणोत्पादक तथा मर्मस्पर्शी है। मेघदूत की समस्यापूर्ति होने से यह भी दूतनाम्ना निर्दिष्ट है, अन्यथा इस चरितकाव्य में सन्देश का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। नायिका अपनी दयनीय दशा का निवेदन स्वयं करती है।

(३) **शीलदूत**[२]—यह बृहत्तपागच्छीय **चरित्रसुन्दरगणि** के द्वारा खम्भात में १४८२ वि० सं० (=१४२५ ई०) में १२५ श्लोकों में रचित मेघदूत के अन्त्य चरणों की समस्या-पूर्ति है। फलतः काव्यरचना का काल १५ वीं शती का आरम्भ काल है। इसमें विरक्त तथा दीक्षित स्थूलभद्रको उसकी पत्नी कोशा गृहस्थाश्रम में आने के लिए आग्रह करती है, परन्तु स्थूलभद्र अपनी आस्था पर आडिग है और अपने शील के द्वारा धर्मपत्नी को भी जैन धर्म में दीक्षित कर लेता है। शील की इस कार्य में हेतुता होने से ही यह 'शीलदूत' कहलाता है, अन्यथा यहाँ दूत की सत्ता नहीं है। १३१ पद्यों से संवलित इस काव्य में विप्रलम्भ की प्रधानता होने पर भी परिणति शान्तरस में ही है। इस काव्य में

---

१. गुणविनय की संस्कृत टीका के साथ नेमिदूत प्रकाशित है (कोटा, सं० २००५)।
२. यशोविजय ग्रन्थमाला वाराणसी से प्रकाशित।

कोशा की विरहदशा का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। इस प्रकार इन दोनों काव्यों में भावसाम्य की कमी नहीं है।

(४) **जैन मेघदूत**—मेघदूत के पद्यों की समस्यापूर्ति वाले इन दूतकाव्यों को छोड़कर जैन कवियों की इस विषय में स्वतन्त्र रचनायें भी उपलब्ध होती हैं। ऐसी रचनाओं में **जैन मेघदूत**[१] का स्थान निःसन्देह ऊँचा है। यह काव्य चार सर्गों में विभक्त है और इसमें १९६ श्लोक हैं। विषय वही है जो पूर्वोक्त 'नेमिदूत' में वर्णित है अर्थात् नेमिकुमार की प्रव्रज्या लेने पर राजीमती का उनके पास मेघ को दूत बना कर अपनी विरहदशा का सन्देश भेजना। ठीक मेघदूत की शैली पर निबद्ध यह काव्य विरह की अभिव्यक्ति में तथा भावों के प्रकटीकरण में मेघदूत का ऋणी है। अवश्य ही पदों में वह लालित्य तथा सौन्दर्य नहीं है जिसे हम कालिदासीय पद्यों में पाते हैं। तथापि इस काव्य में पर्याप्त आकर्षण है। नेमिकुमार की प्रव्रज्या के समाचार से नितान्त क्षुब्धहृदया राजीमती मेघ को देखकर इन शब्दों में अपनी मनोव्यथा प्रकट कर रही है—(जैन मेघदूत १।४)

> एकं तावद् विरहिहृदय-द्रोहकृन् मेघकालो
> द्वैतीयीकं प्रकृति-गहनो यौवनारम्भ एषः।
> तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद् व्यराङ्क्षीत्
> तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानसं भावि हा किम् ॥

इस काव्य के रचयिता महाकवि का नाम **मेरुतुंग** है। ये प्रबन्धचिन्तामणि के प्रणेता मेरुतुंग से पृथक् व्यक्ति हैं (रचनाकाल १३६१ विक्रमी=ईस्वी १३०४) तथा उनसे लगभग अस्सी वर्ष पीछे उत्पन्न हुए। इनका समय पट्टावली के आधार पर सन् १३४६–१४१४ तक माना जाता है। फलतः इस काव्य का रचनाकाल १४ शती का अन्तिम चरण है। ये वैयाकरण, तार्किक तथा कवि एक साथ तीनों थे।

(५) **पवनदूत**—मेरुतुंग के लगभग दो शताब्दी बाद **वादिचन्द्र** ने **पवनदूत**[२] नामक एक स्वतन्त्र दूतकाव्य का प्रणयन किया। मेघदूत के समान यह भी मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया है। कथावस्तु उज्जयिनी के राजा विजयनरेश तथा उनकी रानी तारा से सम्बन्ध रखती है अशनिवेग नामक एक विद्याधर रानी तारा को हर ले गया। राजा पवन के द्वारा रानी को अपना सन्देश भेजता है और मार्ग में पड़ने वाले नदी, पर्वत तथा नगरों में निवास करनेवाली स्त्रियों तथा उनकी विलासवती चेष्टाओं का सजीव वर्णन करता है। कवि वादिचन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने इस दूतकाव्य के अतिरिक्त **पार्श्वपुराण, ज्ञान-सूर्योदय** (नाटक), **पाण्डव-पुराण, यशोधर-चरित** आदि ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था। इनका काल प्रायः ज्ञात है। इन्होंने पार्श्वपुराण की रचना सन् १५८३ ई० में, श्रीपाल आख्यान की १५९४ में तथा ज्ञानसूर्योदय नाटक की १५९१ ई० में की। फलतः इनका समय १६ शती का उत्तरार्ध माना गया है।

---

१. **जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित, १९२४ ई०।**

२. **हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित १९१४ ई०।**

(६) **चन्द्रदूत**—खरतरगच्छीय कवि **विमलकीर्ति** की १६८१ विक्रमी की रचना है। कवि ने इसमें १४१ श्लोकों में चन्द्र को शत्रुञ्जय जाकर ऋषभदेव की वन्दना के निमित्त भेजा है। अगरचन्द नाहटा के संग्रह में हस्तलिखित प्रति है।

(७) **मेघदूत-समस्या-लेख**—उपाध्याय **मेघविजय** की १३० श्लोकों में रचना है जिसमें कवि ने मेघ के द्वारा गच्छाधिपति विजयप्रभसरि के पास विज्ञप्ति भेजी है। रचना-काल १७२० विक्रमी=१६६३ ईस्वी है।

(८) **चेतोदूत**—किसी अज्ञात जैनाचार्य की रचना, जिसमें चित्त को दूत बनाकर गुरु के पास विज्ञप्तिप्रेषण किया है। पद्य संख्या १२९। यह ग्रन्थ आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित है।

जैनेतर कवियों की दो पादपूर्तियाँ हैं—(१) **सिद्धदूत–अवधूतराम योगी** की १८... विक्रमी की रचना है जिसने कैलासस्थ ब्रह्मविद्या के पास छायापुरुष को दूत बना कर भेजा गया है। श्लोक सं० १३८। श्री हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाटन से १९२७ में प्रकाशित। (२) **हनुमद्दूत**—जोधपुर के आधुनिक कवि **नित्यानन्द शास्त्री** द्वारा विरचित तथा वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

सन्देशकाव्य का उदय तथा अभ्युदय

मेघदूत की प्रेरणा का स्रोत कहाँ है? प्रेम के प्रसंग में अचेतन पदार्थ के द्वारा सन्देश भेजना ही सन्देश काव्य का वैशिष्ट्य है जिसे कालिदास के इस काव्य ने ही सर्वप्रथम अभि-व्यक्त किया और वहीं से स्फूर्ति लेकर संस्कृत साहित्य में एक विशिष्ट साहित्य का अभ्युदय हुआ। उत्तर-मेघ में प्रयुक्त 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा' (उत्तरमेघ पद्य ३७) के आधार पर मल्लिनाथ का कथन है कि मेघदूत-रचना के समय कालिदास के मानसचक्षु के सामने राम के द्वारा हनुमान् को दूत बनाकर सीता के लिए सन्देश भेजने की घटना उपस्थित थी। परन्तु पवनतनय तो मूर्ति-सम्पन्न व्यक्ति हैं; फलतः अचे... सन्देशवाहक के अन्वेषणके लिए हमें अन्यत्र प्रयास करना पड़ेगा। कतिपय विद्वान् चीन देश के कवि **स्यू-काङ** (३०० ई०) को इस विषय में कालिदास का उत्तमर्ण मानते हैं क्योंकि उसने मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना की थी। चीन का **हस्कन** (१९६-२२१ ई०) नामक कवि भी, जिन्होंने नागार्जुन की 'प्रज्ञामूल-शास्त्र टीका' का चीनी अनुवाद किया, एक स्थान पर एक भद्र महिला द्वारा मेघ को दूत बनाकर अपने स्वामी के पास भेजने का वर्णन करता है। पालि जातक-साहित्य में 'कामविलाप जातक' एक आपत्तिग्रस्त पुरुष द्वारा कौआ को दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास भेजने का उल्लेख करता है। परन्तु ये सब उल्लेख प्रथम शती में उत्पन्न कालिदास को अधमर्ण सिद्ध करने में काल-व्याहत हैं। फलतः ये उनके प्रेरणास्रोत कथमपि नहीं माने जा सकते। इस प्रसंग में ऋग्वेद की एक महनीय घटना की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना उचित प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में श्यावाश्व आत्रेय का आख्यान तपस्या द्वारा प्रेम की साधना का एक अनूठा उज्ज्वल दृष्टान्त है। उनकी कथा ऋग्वेद के पंचम मण्डल . ६१ वें सूक्त में संकेतित है। सम्राट् रथवीति का आग्रह था कि वे ऋषि न होने वाले व्यक्ति (अनृषि) को अपनी कन्या

का विवाहार्थ दान न करेंगे। इस आग्रह से उत्साहित होकर श्यावाश्व ने घोर तपस्या की, मरुद् गणों की प्रशस्ति में मन्त्रों की रचना की तथा उनकी कृपा से ऋषि बन गये। इसकी सूचना अपनी भावी पत्नी को देने के लिए उन्होंने रात्रि देवी को दौत्य कर्म के लिए प्रेषित किया' (५।६१।१७) रात्रिदेवी ने इस कार्य को सहर्ष स्वीकारा और श्यावाश्व के ऋषि होने की सूचना तथा विवाह की पूर्वपीठिका तैयार करने के लिए वह स्वयं सम्राट् के पास गई। अचेतन पदार्थ का प्रणय प्रसंग में दौत्य कार्य करने का यह वैदिक उदाहरण इस विषय का आदिम दृष्टान्त है। सम्भव है कि कालिदास ने अपने मेघदूत की प्रेरणा यहीं से ग्रहण की हो।

मेघदूत शृंगारी काव्य अवश्य है, परन्तु यह एक सार्वभौम नैतिक उपदेश अपने भीतर सँजोये हुए हैं। मेघदूत काम तथा कर्तव्य के संघर्ष को रमणीयता से प्रस्तुत करने वाला उदात्त काव्य है। कर्तव्यच्युत यक्ष का यह प्रणय अपने उच्च लोकातीत धरातल (अलका) से च्युत होकर निम्न पार्थिव स्तर (रामगिरि) पर आ पड़ा था। दीर्घ-वियोग ने प्रणय के भीतर वर्तमान कर्तव्य-विरोध-रूपी मल को जला कर उसे विशुद्ध प्रेम के रूप में परिणत कर दिया। 'काम' की परिणति 'प्रेम' में हो गई। काम के शोधक विप्रलम्भ का सच्चा रूप वियोगी कवि कालिदास ने यहाँ चित्रित किया है। संभोग दशा में निरन्तर आस्वादन के कारण जो प्रेम घटता हुआ प्रतीत होता है, वही वियोग में स्नेहरस के उत्तरोत्तर पुञ्जीभूत होने के कारण महान प्रेमराशि के रूप में परिणत हो जाता है (मेघदूत, उत्तर, ४९ श्लो०)

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥

मेघदूत का यही सन्देश है कि वियोग ही सच्चे प्रेम का पोषक और परिणति विधायक होता है--"न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते"। इसकी सिद्धि पर काम कर्तव्य का सहयोगी बनता है, विरोधी नहीं। 'धर्माविरुद्ध काम' भगवान् की ही एक दिव्य विभूति है और इसी का निदर्शक यह प्रेम-काव्य है। कालिदास की यह प्रसन्न-मधुर वाणी, मन्द्राकान्ता की वह झूमती चाल, देश की यह मनोहर रूपमाधुरी--सबने मिल कर मेघदूत को अलौकिक रस से परिप्लावित कर दिया है। सचमुच प्रातिभ और प्रत्यक्ष--उभयविध गोचरों की जैसी रमणीय एकात्मता मेघदूत में है, वैसी कहीं अत्यन्त नहीं।

मेघदूत की काव्यसुषमा ने कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और उसी के छन्द, विषय तथा शैली का अनुसरण कर एक नवीन काव्यशैली का उदय हुआ। इस शैली में निर्मित काव्य **'सन्देश काव्य'** के नाम से प्रख्यात हैं। मेघदूत की शैली में निबद्ध दूतकाव्यों में सर्वप्राचीन धोयी का **'पवनदूत'** ही समझा जाता है, परन्तु जम्बू कवि के **चन्द्रदूत** को इससे भी प्राचीनतर होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। ११०५ विक्रमी सं० (=९५९ ई०) में प्रणीत मुनिपति चरित या **मणिपति-चरित** के लेखक **जम्बू कवि** का समय दशमशती का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। इनके इस लघुकाव्य को दूत-काव्यों के अग्रणी होने का निःसन्देह गौरव प्राप्त है। काव्य का वही चिर-परिचित विषय है

---

१. एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्भ्यार्य परावह । गिरो देवि रथीरिव ॥

प्रिय के पास किसी विरहिणी द्वारा सन्देश भेजना। इस यमकबहुल काव्य में कवित्व की अपेक्षा पाण्डित्य ही अधिक है। बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि **धोयी** ने 'पवनदूत' को चन्द्रदूत के पश्चात् निर्मित किया। दक्षिण देशों के दिग्विजय के पश्चात् राजधानी लौटकर आने वाले लक्ष्मणसेन के पास कोई तद्देशीया विरहिणी अपनी दयनीय दशा का परिचय पवन को दूत बनाकर भेजती है। यह सरस-सुन्दर सुबोध काव्य ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्त्व से भी मण्डित है। धोयी (समय १२ शती का उत्तरार्ध) के अनन्तर सन्देश काव्य का अभ्युदय सम्पन्न होता है और कविजन, विशेषतः बंगाल तथा केरल के, इस काव्यशैली को स्वीकार कर अपनी प्रतिभा का विशद परिचय देते हैं। मूलतः श्रृंगारिकता से मण्डित विषय का परित्याग कर मध्ययुगी जैन कवियों ने इसे शान्ति-रसापन्न तथा वैष्णव कवियों ने भक्ति-रसापन्न बनाया।

सन्देशकाव्यों के विकाश की एक दिशा नवीन भावों और विषयों के वर्णन की ओर है। मध्ययुगीय जैन तथा वैष्णव कवियों नें अपने दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों की विशद अभिव्यञ्जना के लिए दूतकाव्य का आश्रय लिया। दूतकाव्य में शान्त रस का समावेश सम्भवतः सर्वप्रथम जैन काव्य 'पार्श्वाभ्युदय' द्वारा नवम शती में हुआ। किसी जैन कवि ने धार्मिक नियमों और तात्त्विक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया (जैसे शीलदूत में तथा विक्रम कवि रचित १३ शतकीय नेमिदूत में), तो दूसरे कवि ने इसे 'विज्ञप्ति पत्र' का स्वरूप दिया जिसमें शिष्य अपने तापस जीवन तथा आध्यात्मिक उन्नति का परिचय अपने गुरु के पास भेजता है (जैसे चेतोदूत, विनयविजयगणिका इन्दुदूत आदि)। वैष्णव कवियों ने, विशेषतः बंगाल के गौडीय सन्त कवियों ने अपनी भक्ति-भावना की मधुर अभिव्यक्ति के लिए दूतकाव्य का पल्ला पकड़ा और इसे कृष्ण-काव्य का आवश्यक अंग बनाकर उसे भक्ति-रस से, कोमल पदावली से तथा स्निग्ध भावुक भावों से आप्लुत कर दिया। रूपगोस्वामी ने अपने **'उद्धवसन्देश'** में विरहिणी गोपाङ्गनाओं द्वारा भक्तितत्त्व का वड़ा ही सरस तथा रुचिर विवरण प्रस्तुत किया। मधुर-पदावली से समन्वित लगभग पचास दूतकाव्यों की सत्ता संस्कृत में उनकी लोकप्रियता की पर्याप्त सूचिका है। अनेक पक्षियों को दूत का कार्य सम्पादन करने के लिए चुना गया है (चातक दूत, कोकिल-दूत, पिक दूत आदि) परन्तु हंस की ओर कविजनों को विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। तत्सम्बद्ध कतिपय प्रौढ़ तथा प्रख्यात दूत-काव्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

हंससंदेश

हंस को दूत बनाकर भेजने वाले कवियों में **वेदान्तदेशिक** का नाम अग्रगण्य है। मेघदूत के आदर्श पर विरचित इनका **'हंस-सन्देश'**[1] अपने आदर्श से अनेक बातों में भिन्न है। दोनों का पार्थक्य सुनिश्चित है। मेघसन्देश में अपने स्वामी राजराजके कोपका भाजन, प्राकृत भोग का लोलुप यक्ष दक्षिण से उत्तर की ओर अपनी कामरसावलम्बनभूता कान्ता को लक्ष्य बनाकर काम-रसोद्दीपक तामस कृष्णवर्ण मेघ को दूत बनाकर भेजता है जिसका कथानक कविकल्पित है। हंससन्देश में अपवर्ग और श्रेय के दाता राघवेन्द्र रामचन्द्र स्वसंकल्प से दयिता के विरह का अनुभव करते हुए अपनी सहधर्मचारिणी जगन्माता

१. **मद्रास, कुम्भकोणम् तथा बंगलोर से टीका सहित प्रकाशित।**

जानकी को लक्ष्य बनाकर उत्तर से दक्षिण की ओर शुक्लवर्ण सात्त्विक राजहंस को दूत बनाकर भेजा जिसका कथानक नितान्त विश्रुत है। फलतः दोनों काव्यों में विषय की विलक्षणता स्पष्टतः संकेतित है। एक और महान् अन्तर है। मेघसन्देश श्रृंगारी काव्य है, तो हंससन्देश आध्यात्मिक रचना है। अपवर्ग का आनन्द देने वाले भगवान् नारायण मुमुक्षु जीव को ज्ञान प्रदान करने के लिए परमहंस-रूप किसी सात्त्विक आचार्य को भेजते हैं जिसके द्वारा उपदिष्ट होने वाला जीव भगवान् की प्रपत्ति करके संसार से मुक्त हो जाता है। यहाँ रामचन्द्र अखण्ड सच्चिदानन्द भगवान् हैं, जानकी मुमुक्षुजीव-स्थानीय है तथा हंस आचार्य-स्थानीय है। 'हंस-सन्देश' का यह आध्यात्मिक रहस्य स्वयं कवि को भी अभीष्ट था जिन्होंने सन्तजनों को सीताराम-विषयक निरवद्य तथ्य को साक्षात् करने के लिए इस सन्देशकाव्य को अन्तश्चक्षु का उन्मीलन कर देखने की प्रार्थना की है (हंससन्देश २।५०)—

विद्याशिल्प-प्रगुणमतिना वेङ्कटेशेन क्लृप्तं
चिन्ताशाणोल्लिखितमसकृच्छ्रेयसां प्राप्तिहेतुम्।
सीताराम-व्यतिकरसमं हंस-सन्देश-रत्नं
पश्यन्त्यन्तः श्रवणमनघं चक्षुरुज्जीव्य सन्तः॥

मन्दाक्रान्ता वृत्त में निबद्ध इस काव्य में दो आश्वास (परिच्छेद) हैं। प्रथम आश्वास में ६० श्लोक तथा दूसरे आश्वास में ५० श्लोक हैं। हनुमान् से लंका में सीता की स्थिति जानकर रामचन्द्र ने हंस को दूत बनाकर इस काव्य में भेजा है। प्रथम आश्वास में वेंकटाचल से लंका तक का मार्ग वर्णित है जो अपना भौगोलिक महत्त्व रखता है। द्वितीय आश्वास में लंका में सीता की दशा का वर्णन तथा राम द्वारा सन्देश का कथन है। कवि की अलौकिक प्रतिभा का दर्शन किस सहृदय को आनन्दमग्न नहीं बनाता? नवीन अलंकारों की छवि किस आलोचक का मानस रस-स्निग्ध नहीं बनाती? विद्रुम के वन से युक्त पयोधि को दावासक्त वन, सन्ध्याव्याप्त आकाश, सिन्दूर-रंजित गज, पीताम्बर से परिवेष्टित विष्णु, विद्युत्युक्त मेघ तथा स्त्री-पुरुष से उपलक्षित मिथुन के समान कह कर कवि ने चमत्कारी उपमाओं की माला ही प्रस्तुत कर दी है (हंससन्देश १।५५)—

दावासक्तं वनमिव नभः सन्ध्ययेवानुविद्धं
सिन्दूराङ्कं द्विपमिव हरिं स्वाम्बरेणेन जुष्टम्।
विद्युद्भिन्नं घनमिव सखे! विद्रुमारण्ययोगात्
देहैनैकं मिथुनमिव च द्रक्ष्यसि त्वं पयोधिम्॥

उत्तर हंस-सन्देश में विप्रलम्भ श्रृंगार की अपूर्व अनुभूति होती है। राम का कथन है कि वर्षाकाल के बीत जाने पर तुम्हारे विहारयोग्य शरदृतु में रात्रि के गर्वहास के समान चन्द्रालोक द्वारा व्याकुल होने वाली देवाङ्गनाओं के विरहजन्य अश्रुओं को बढ़ाती हुई चन्द्रकान्तमणि की भूमि में जल कणिकायें निकल रही हैं (२।४)—

काले यस्यां व्यपगत-घने त्वद्विहारोचितेऽस्मिन्
चन्द्रालोकैर्विलुलितधियां शर्वरीगर्वहासैः।

स्वर्ग-स्त्रीणां विरहजनितं वाष्पमुद्वेलयन्तो
निष्यन्दन्ते सलिलकणिकाः चन्द्रकान्तस्थलीनाम् ॥

इसके ऊपर अनेक टीकायें हैं जिनमें मुख्य हैं——**रंगराज आचार्य** (प्रकाश), **श्रीनिवास आचार्य, श्वेतारण्य नारायण शास्त्री** (मद्रास, १९०२), **श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परतन्त्र स्वामी** (रसास्वादिनी; कुम्भकोणम् १९१५–१६

रूप गोस्वामी का हंसदूत——रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे तथा वृन्दावन में गौडीय षट् गोस्वामियों में अत्यन्त प्रख्यात थे (समय १७ वीं का आरम्भ)। **हंसदूत** तथा **उद्धवसन्देश** इनकी भक्तिरस से स्निग्ध रचनायें हैं। हंसदूत में ललिता राधा की दयनीय दशा की सूचना देने के लिए हंस को श्रीकृष्ण के पास मथुरा भेजती है। अक्रूर के द्वारा गृहीत मार्ग का अनुकरण कर हंस मथुरा जाता है। वहाँ मथुरापुरी का वैभव, श्रीकृष्ण की मित्रमण्डली आदि का वर्णन बड़ा सुन्दर है। श्रीकृष्ण के सामने वृन्दावन की दयनीय दशा का, विशेषतः राधिका की मनोव्यथा का, बड़ा ही सच्चा चित्रण यह काव्य प्रस्तुत करता है। समग्र काव्य शिखरिणी-वृत्त में निबद्ध एक पूर्ण शतक है। भावों की अभिव्यञ्जना, कोमल पदावली का प्रयोग, उदात्त भावना की स्फूर्ति——इसके साहित्यिक सौन्दर्य के पर्याप्त निर्देशक हैं। कृष्ण का सन्तत चिन्तन रखने से राधा स्वयं कृष्ण बन गई है, परन्तु फिर भी उसके हृदय की बाधा कथमपि कम नहीं हो रही है——

कदाचिन्मूढेयं निविड-भवदीयस्मृति-मदा-
दमन्दादात्मानं कलयति भवन्तं मम सखी।
तथास्या राधाया विरह-दहनाकल्पितधियो
मुरारे दुःसाधा क्षणमपि न बाधा विरमति॥

इन दोनों की अपेक्षा नितान्त विशिष्ट है किसी अज्ञातनामा कवि का **हंससंदेश**[1]। यह एक शत मन्दाक्रान्ता वृत्तों में विरचित एक प्रौढ़ दार्शनिक ग्रन्थ है। कोई शैव माया के कारण शिवभक्ति से वियुक्त हो जाता है और इसलिए किसी मानसगामी हंस को दूत बनाकर भगवान् शंकर के पास भेजता है। इस काव्य में ज्ञान तथा योग का अद्भुत मिश्रण है। ज्ञान के द्वारा जिस प्रकार शिवसायुज्य की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार योग के द्वारा मूलाधार से कुण्डलिनी शक्ति का उत्थापन कर विभिन्न चक्रों से होकर सहस्रार में शिव के साथ मिलन का मार्ग भी प्रशस्त रूप से वर्णित है। इस प्रकार आध्यात्मिक तत्त्व के सरस विवेचन की कला का यह सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त है। इसके ऊपर एक पद्यबद्ध टीका है। केरल देश में ही हस्तलेख की प्राप्ति होने से सम्भवतः इसका लेखक केरल का ही निवासी है, परन्तु न मूल कवि का ही नाम ज्ञात है और न इसके टीकाकार का ही।

वीरेश्वर कवि का **वाङमण्डनगुण दूत**[2] सामान्य दूत-काव्यों से एक भिन्न सरणि का है। लेखक ब्रध्नपुर (सम्भवतः बुरहानपुर, मध्यप्रदेश) का निवासी अत्यन्त दरिद्र कवि है। इसलिए वह अपनी कविता को ही दूत बनाकर राजा भीमसेन के पास भेजता है और रास्ते में आनेवाले अनेक अप्रसिद्ध स्थानों का निर्देश करता हुआ राजपुरोधा दशरथ पण्डित

---

१. अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० १०३। ट्रिवेन्ड्रम, १९३०।
२. डा० चौधुरी द्वारा संपादित; कलकत्ता, १९४१।

की सहायता से राज-दरबार में प्रवेश करने का निर्देश करता है। तापी नदी के तीर पर बुधवारपुर, हसन यवन का बगीचा, कालिभित्ति, कारागृह की यन्त्रणा आदि का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। फलतः यह कवि मध्यप्रदेश का प्रतीत होता है। यह वीरेश्वर गोपालाचार्य का दौहित्र तथा श्रीराम त्रिपाठी का पुत्र था। सम्भवतः यह गुजराती प्रतीत होता है। काव्य १०१ शार्दूलविक्रीडित छन्दों में विरचित है। समय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

चन्द्र को भी दूतकर्म के लिए कविजनों ने चयन किया है। **'चन्द्रदूत'** लिखने वाले कवियों में **विनयप्रभु, विनय विजयगणि** और **कृष्णचन्द्र तर्कालंकार** हैं। इनमें प्रथम तथा तृतीय कवि के काव्य अपेक्षाकृत स्वल्पकाय और साहित्यदृष्ट्या विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं, परन्तु **विनयविजय गणि** का **'इन्दुदूत'**[1] नवीन विषय का संकेतक है। रचना का समय १७वीं शती है। कवि मन्दाक्रान्ता वृत्त में (१३१ पद्य) अपने गुरु कीर्ति-विजय के पास चन्द्रमा को दूत बनाकर भेजता है। शुद्ध शान्तरस की यहाँ प्रधानता है। विजयप्रभ सूरि सूरत में चातुर्मास्य करते हैं और उनके शिष्य विजयगणि जोधपुर में। चातुर्मास्य के अन्त में शिष्य पूर्णिमाचन्द्र द्वारा गुरु के पास अपना सांवत्सरिक क्षमापण सन्देश और अभिनन्दन भेजते हैं। बीच के नगरों तथा नदियों का वर्णन किया गया है। काव्य प्रसादमयी वाणी में निबद्ध है और दूतकाव्य के विकाश में एक नये मोड़ का प्रतिनिधि है।

इस प्रकार दूत काव्यों के द्वारा संस्कृत के कविजनों ने अपने हार्दिक भावनाओं की मधुर अभिव्यञ्जना की है जो गीति काव्य के इतिहास में अपना प्रामुख्य रखती हैं[2]।

भर्तृहरि

महाकवि भर्तृहरि की कविता जितनी प्रसिद्ध है, उनका व्यक्तित्व उतना ही अज्ञात है। हम उनकी स्थिति तथा जीवन-चरित्र से एकदम अपरिचित हैं। दन्तकथा के आधार पर कुछ लोग उन्हें राजा मानते हैं और वह भी विक्रमादित्य का जेठा भाई, पर उसके ग्रन्थ से राजसी भाव तो नहीं टपकता। अतः यह भी घटना निरी दन्तकथा के सिवाय विशेष महत्त्व नहीं रखती। अधिकांश विद्वान् उन्हें महावैयाकरण भर्तृहरि से अभिन्न मानते हैं, परन्तु इसके लिए भी पोषक प्रमाण प्रस्तुत नहीं है। पश्चिमी शोधक लोग चीनी यात्री इत्सिंग के कथन में आस्था रखते हुए भर्तृहरि को बौद्ध मानते हैं, जो गृहस्थी और संन्यासी जीवन के बीच सात बार इधर से उधर डोलते रहे। पर उनके शतकों का अनुशीलन डंके की चोट बतलाता है कि इनका लेखक वैदिक धर्मावलम्बी ही नहीं, बल्कि पूरा अद्वैतवादी था। वैदिक धर्म के आचार, विचार, पद्धति तथा प्रक्रिया पर उन्हें पूरा विश्वास तथा आग्रह था। उनका समय लगभग सप्तम शताब्दि में पड़ता है।

---

१. जैनसाहित्य-वर्द्धक सभा (खानदेश), १९४६ ई० से प्रकाशित।

२. दूतकाव्यों के लिए विशेष द्रष्टव्य—

(क) कृष्णमाचार्य—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (मोतीलाल, काशी) पृष्ठ ३६६–३६८

(ख) डा० चौधरी—वंगदूत-काव्येतिहासः (संस्कृत), कलकत्ता।

भर्तृहरि के तीन शतक हैं––(१) नीतिशतक, (२) श्रृङ्गारशतक, (३) वैराग्य-शतक। भर्तृहरि ने संसार का खूब ही अनुभव किया था और उस अनुभव के मार्मिक पक्ष के ग्रहण करने में वे सर्वथा कृतकार्य थे। जो कवि संसार के बीच रहता हुआ अपने अनुभव के बल पर उसके हृदय को समझने तथा कविता में सुचारु रूप देने में समर्थ होता है वही सच्चा लोकप्रिय कवि है। इस दृष्टि से भर्तृहरि सचमुच जनता के कवि हैं, जिनकी सूक्ष्म दृष्टि संसार की छोटी से छोटी वस्तु को निरख उससे उदात्त शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ होती है। **नीतिशतक** में वे उन उदात्त गुणों के ग्रहण करने के लिए आग्रह दिखलाते हैं जिनका अनुशीलन समग्र मानव-समाज का परम मंगल-साधक है। वे मनुष्य-जीवन को सद्गुणों के उपार्जन से सफल बनाने के पक्ष में हैं। जो व्यक्ति सुन्दर नर-देह पाकर भी सद्गुणों का उपार्जन नहीं करता वह उस व्यक्ति के समान उपहासास्पद है जो वैदूर्यमणि के बने हुए पात्र में चन्दन की लकड़ी से लहसुन पकाता है अथवा जो सोने के हल से अर्क (आक) की जड़ पाने के लिए जमीन जोतता है। भर्तृहरि की दृष्टि में वही वास्तव में सज्जन है जो दूसरों के परमाणु के समान छोटे गुण को पर्वत के समान बनाकर अपने चित्त में परम संतोष का अनुभव करता है:––

परगुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्।
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ?

श्रृंगार-शतक में हमारा कवि श्रृङ्गार के चटकीला चित्रण करने से नहीं चूकता। वह नारी-हृदय की सच्ची परख रखता है। प्रेम से प्रभावित कामी और कामुकों के चित्त में जो वृत्तियाँ अपना ललित खेल दिखलाया करती हैं उन्हें यह कवि सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, परन्तु वह इन रंगीली लीलाओं के विषय-परिणाम से भी भली-भाँति परिचित है। **वैराग्य-शतक** भर्तृहरि का सर्वस्व प्रतीत होता है। वे सन्तोष को परम सुख तथा वैराग्य को इसका एकमात्र साधन मानते हैं। सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्ति की यह उक्ति कितनी सजीव और चमत्कारजनक है:––

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःसङ्गमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते॥

[वे लोग सचमुच धन्य हैं जो पर्वत की कन्दराओं में निवास करते हुए परम ज्योति का ध्यान करते हैं और जिनकी गोदी में बैठे हुए पक्षी नेत्रों से बहने वाले आनन्द के आँसुओं के कणों को पिया करते हैं। हमारी आयु तो मनोरथ से बनाये गये महल, बावली और उपवन में विहारासक्त होने से दिन प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। सांसारिक पुरुष रात-दिन गृहस्थी की चिन्ता में डूबा हुआ अपना व्यर्थ जीवन बिताया करता है।]

भर्तृहरि की दृष्टि में तपस्वी जीवन ही नितान्त श्रेयस्कर है। मुनि के लिए पृथ्वी ही रमणीय शैय्या है। भुजायें ही तकिया हैं। आकाश ही चँदवा है। अनुकूल वायु ही पंखा है। शरत् का चन्द्रमा दीपक है। विरति उसकी प्रिया है। शान्त मुनि ऐश्वर्यशाली सम्राट् के समान सुख का अनुभव करता हुआ आनन्द पाता है:––

महीं रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ।।

अमरुक

अमरुक कवि की कविता जितनी विख्यात है उतना ही उनका व्यक्तित्व अप्रसिद्ध है। उनके देश और काल का ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। उनके समय के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि वे नवम शताब्दी से पूर्व विद्यमान थे, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उनके मुक्तकों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है :—

"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसाबबन्धाभिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा अमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृङ्गारस्यन्दिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।"

यह प्रशंसा किसी साधारण कोटि के आलोचक की न होकर एक आलंकारिक-शिरोमणि की है। उनकी सम्मति में अमरुक के मुक्तक इतने रस और भाव से भरे हुए हैं कि कि अल्पकाव्य होने पर भी वे प्रबन्ध से समता रखते हैं। यह प्रशंसा तो बहुत बड़ी है, परन्तु है सच्ची। हजार वर्ष से अधिक होते आये इन पद्यों की साहित्य-सुषमा पर विदग्ध समाज आज भी उसी प्रकार रीझता है जिस प्रकार वह पहले रीझता था। अमरुक का ग्रन्थ उन्हीं के नाम पर **अमरुक शतक** कहलाता है। अमरुक की कविता बड़ी मनोहारिणी हैं। शार्दुलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का उपयोग करने पर भी इनकी कविता में लम्बे-लम्बे समास नहीं आए हैं। अमरुक शब्द-कवि नहीं रस-कवि हैं। इनकी कविताएँ मनोरम शृङ्गार से लबालब भरी हैं। **अर्जुनवर्मदेव** ने बड़ी मार्मिकता से इस काव्य की आलोचना करते समय दिखलाया है कि कहीं-कहीं पददोष होने पर भी इनमें कोई रस की क्षति नहीं है। भला रसकवि कभी पदविन्यास के झमेले में पड़ा रहता है? उसके लिए पदविह्वलता तो वांछनीय होती है।

अमरुक के शृङ्गार वचनों के सामने अन्य कवियों के सरस वचन टिक नहीं सकते। आनन्दवर्धन का कथन यथार्थ है कि इनके एक-एक पद्य पूरे प्रबन्ध के समान हैं। जितने भाव एक प्रबन्ध में दिखाए जा सकते हैं अमरुक ने उतने भाव एक छोटे पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्होंने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता-जागता चित्र खींचा है और कामी तथा कामिनियों की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं पर पति को परदेश जाने के लिए तैयार देखकर कामिनी की हृदय-विह्वलता का चित्र है, तो कहीं पति के शुभागमन का समाचार सुनकर अंग-प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है। ये पद्य क्या हैं? संस्कृत-साहित्य के चमकते हीरे हैं। आलोचकों ने इन पद्यों को साहित्य की कसौटी पर कसा है और उन्हें चमकता खरा सोना पाया है। ये ध्वनि के सुन्दर नमूने हैं। इनके कारण अमरुक के प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है।

बिहारी के दोहों में कहीं-कहीं इनकी छाया दीख पड़ती है, परन्तु पद्माकर ने तो अपने जगद्विनोद में इनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिलकुल अपना लिया है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुँ पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते॥

[भावी प्रोषित-पतिका अपने जीवन से कह रही है--जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे हाथ के कंकण गिर गये, प्रिय मित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने की खबर सुनकर नेत्रों से सतत धारा बहने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न रहा, मन तो पहले ही जाने के लिए तैयार हो गया--ये सब मित्र एक साथ ही चलने के लिए उद्यत हो गये। हे प्राण, तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो! मेरे प्राणप्यारे के जाने की खबर सुन कर तुम भी चल बसो।]

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने! मानमधुना॥

[मानिनी को कोई सखी सिखा रही है--हे कठोर हृदयवाली! बस, अब मान छोड़ो। देखो, तुम्हारे प्राणप्यारे की कैसी बुरी दशा है। बिचारा सिर नवाये बाहर बैठा पागलों की तरह जमीन को खरोंच यहा है, प्यारी सखियों ने भोजन छोड़ दिया है। हमेशा रोने से उनकी आँखें सूज गई हैं, पिंजड़े के सुग्गों ने तुम्हारे शोक के मारे हँसना तथा पढ़ना छोड़ दिया है और तुम अभी तक मान किये बैठी हो? भला तुम्हें तनिक भी दया नहीं आती। जल्दी मान छोड़ो। मम्मट ने इसे ध्वनि काव्य का उदाहरण काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में दिया है।]

इन पद्यों की शान्तरसानुकूल व्याख्या करना सहृदयों के लिए नितान्त उद्वेजक है। इस विषय में महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद जी का यह कथन सर्वथा सत्य है-- "न च शुचिरसस्यन्दिष्वमरुश्लोकेषु परिशील्यमानेषु 'रहसि प्रौढ़वधूनां रतिसमये वेदपाठ इव' सहृदयानां शिरःशूलमेव जनयति।" टीकाकारों में सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक **अर्जुनवर्मदेव** हैं। इनकी टीका का नाम **'रसिकसंजीवनी'** है। ये प्रसिद्ध भोजराज के वंश में जन्मे थे और इनका समय तेरहवीं सदी का उत्तरार्द्ध है। इस टीका में प्रत्येक पद्य के रस तथा अलंकार का पूरा विवरण दिया गया है। प्रमाण में अलंकारग्रन्थों के वाक्य भी दिये गये हैं। रसिक-संजीवनी के अतिरिक्त **वेमभूपाल** की **'शृंगारदीपिका'** भी अच्छी टीका है।

भल्लट

ये संस्कृत के गीति-साहित्य के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हैं जिनके सुन्दर पद्यों का उद्धरण उत्तम काव्य के दृष्टान्त रूप से अलंकार-ग्रन्थों में दिया गया है। मम्मट, क्षेमेन्द्र, अभि-

नवगुप्त ने ही इनके पद्यों को उद्धृत नहीं किया है, प्रत्युत आनन्दवर्धन ने भी इन्हें उद्धृत कर भल्लट की अलौकिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। ये कश्मीर के निवासी थे और नवम शतक से पूर्ववर्ती थे। इसका परिचय हमें ध्वन्यालोक में उद्धृत पद्यों से भली-भाँति लगता है। 'परार्थे यः पीडामनुभवति भंगेऽपि मधुरः'—**भल्लट-शतक** का यह पद्य ध्वन्यालोक में दो बार उद्धृत किया गया है (पृष्ठ ५३, ३१८)। अप्रस्तुत-प्रशंसा में जो अर्थ वाच्य होता है वह कभी अविवक्षित रहता है, कभी अविवक्षित रहता है और कभी विवक्षिताविवक्षित। 'परार्थे यः पीडां' विवक्षित के उदाहरण में दिया गया है। 'कस्त्वं भो ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकम्'—भल्लट का यह पद्य अविवक्षित वस्तु को सूचित करने के लिए दिया गया है। आनन्दवर्धन के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण भल्लट आनन्द से पूर्ववर्ती ठहरते हैं। निश्चित ही है कि आनन्दवर्धन नवम शताब्दी के मध्यभाग में अवन्तिवर्मा के काल में विद्यमान थे। अतः भल्लट नवमी शताब्दी से प्राचीन हैं। सम्भवतः आठवीं के अन्तिम भाग में ये कश्मीर में विद्यमान थे।

आपकी कीर्ति केवल एक 'शतक' पर अवलम्बित है, जिसे इन्हीं के नाम पर '**भल्लट-शतक**'[1] कहते हैं। उन्हें छोड़कर आपका कोई दूसरा ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। 'भल्लटशतक' मुक्तक पद्यों का संग्रह है। कविता अनेक प्रकार की है, परन्तु अन्योक्ति की बहुलता है। सुन्दर शिक्षा देनेवाले नीतिमय पद्यों का यह आकर है। ऐसी अनूठी अन्योक्ति संस्कृत-साहित्य में बहुत कम देखने में आती है। पण्डितराज जगन्नाथ ही कुछ-कुछ इससे तुलना कर सकते हैं। पद्यों में मधुरता तथा प्रसाद गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है। सुन्दर अलंकारों की छटा मन को मुग्ध कर देती है। सुन्दर स्वभावोक्ति, कमनीय उत्प्रेक्षा, विमल उपमा तथा उपदेशमय अर्थान्तरन्यास सहृदयों के हृदय को आनन्द-विभोर कर देते हैं।

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्तं फलमपि च दैवात् परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः॥

विशाल सेमर के वृक्ष में नयन को सुख देनेवाले फूल खिले हुए थे। शुक की दृष्टि उन पर पड़ी; सोचा कि जब फूल इतना रमणीय है तब इसका फल भी अवश्य ही ऐसा ही मनोरम होगा। इसी विचार से उसने सेमर की सेवा की। ईश्वर की दया से—प्रकृति की प्रेरणा से—उनमें फल भी निकल आये। शुक को आशा बँधी थी कि पकने पर ये अवश्य ही मधुर तथा सुन्दर होंगे, परन्तु पकने पर भीतर से क्या निकला ? केवल रुई ! और उसे भी वायुदेव ने शीघ्र उड़ा डाला। जिस आशा से बेचारा शुक इतना आनन्द पाता था, इतने दिनों तक जिस फल की प्रतीक्षा की थी, वह अंत में बिल्कुल शून्य निकला। पूर्ण नैराश्य का सूचक यह पद्य नितान्त भावपूर्ण तथा आवर्जक है।

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।

---

१. काव्यमाला के गुच्छक २ में प्रकाशित।

अंगुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥

कोई मनुष्य अपने मित्र से किसी मूर्ख की बात कह रहा है कि भाई, मैं उसकी हालत क्या कहूँ ! वह ऐसा जड़ है कि कमलिनी के पत्ते पर गिरे हुए ओस के कण को मुक्तामणि समझता है, भला ऐसा भी कोई मूर्ख होगा ? मित्र ने उत्तर दिया---एक दूसरे जडात्मा का हाल तो सुनो ! कमलिनी के दल पर गिरा हुआ ओसकण उसकी उँगुली के अगले हिस्से के छूते ही जमीन पर गिर कर गायब हो गया, परन्तु उस मूर्ख को रात को सोच के मारे नींद नहीं आती है, वह सोचा करता है कि हाय ! उँगली से छूते ही वह मेरा चमकता मोती कहाँ उड़ गया; बस इसी में वह हैरान है। रात-दिन इसी सोच में बीते जाते हैं, नींद दर्शन नहीं देती। कहो, उससे वह बड़ा मूर्ख नहीं है ? असल बात यह है कि मूर्खों को इसी प्रकार की अयोग्य वस्तुओं में ममता हुआ करती है। मूर्खों की अस्थान-ममता का पता कैसे सुन्दर शब्दों में दिया गया है। काव्यप्रकाश में यह पद्य अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में उद्धृत किया गया है।

गाथा-सप्तशती

आजकल आलोचकों की यह नितान्त व्यापक धारणा है कि प्रगतिवादी कविता का जन्म इस युगी में हुआ है और यह भी पश्चिमी जगत् में। परन्तु यह धारणा निर्मूल तथा प्रमाण-रहित है। भारतवर्ष में ऐसा युग कभी नहीं था जब कवियों की दृष्टि समाज के आवरण को हटाकर उसके अन्त तक नहीं पहुँचती थी, जब उनका हृदय जनसाधारण के सुख-दुःख में, ह्रास और उन्नति में, सम्पत्ति और विपत्ति में अपनी सहनुभूति प्रकट नहीं करता था। संस्कृत के कवियों पर भी यह लाञ्छन कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता, प्राकृत भाषा के कवियों की बात ही न्यारी है। संस्कृत के कवि माननीय राजाओं की छत्रछाया में अपना काव्य लिखते थे अवश्य, परन्तु उनकी दृष्टि संकुचित होकर मानव-जीवन के सौख्य तथा वैभव की ओर ही आकृष्ट नहीं होती थी। उनका हृदय विशाल था, दृष्टि व्यापक थी तथा सहानुभूतिपूर्ण थी। इसलिये वे जनता के सुख-दुःख तथा राग-द्वेष के परखने में नितान्त कृतकार्य थे और अपने काव्य में उनकी झलक दिखाने में जागरूक थे। प्राकृत भाषा का कवि जो जनता के साथ इतना घुल-मिलकर रहता है, जनवाणी का इतना आदर करता है कि उसका काव्य विशेष रूप से प्रगतिशील होता ही है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसका स्पष्ट प्रमाण है गाथा-सप्तशती की कविता।

गाथा-सप्तशती प्राकृत भाषा के गीति-साहित्य की एक अनमोल निधि है। श्रृङ्गार रस की सम्पत्ति, नूतन भावों की अभिव्यक्ति, गूढ़ अर्थ की अभिव्यञ्जना तथा सुकुमार शब्दों के विन्यास के कारण इस काव्यरत्न की उज्ज्वल गाथायें सैकड़ों वर्षों से आलोचकों के अन्तरंग को आकृष्ट किये हुई हैं। ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश, रसगंगाधर आदि मान्य आकर-ग्रन्थों में रस तथा ध्वनि के भव्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये जाने का गौरव इन्हें प्राप्त है। यह उस युग की रचना है जब कवियों ने संस्कृत भाषा के व्यामोह को छोड़कर लोकभाषा के सौन्दर्य पर रीझ उसी में अपने भावों को प्रकट करने का श्लाघनीय उद्योग किया। कवियों में लोक-जीवन की सच्ची अनुभूति थी। उन्होंने जन-जीवन को अपनी

पैनी आँखों से देखा था; अपने सहानुभूतिपूर्ण हृदय से साधारण जनता के सुखदुःख को, राग-द्वेष को तथा उन्नति-अवनति को परखा था। इन गाथाओं के प्राकृत कवि सच्चे अर्थ में कवि थे--कोमल कल्पना के अधिकारी थे, उच्च उत्प्रेक्षा के उन्नायक थे। और इसीलिए इन गाथाओं की भूयसी प्रशंसा है संस्कृत के आलोचना-जगत् में। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में इसके सुभाषितों की तुलना रत्नों से की है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

'गाथा' प्राकृतभाषा का लोकप्रिय छन्द है और सात सौ प्राकृत गाथाओं के एकत्र संकलन के कारण यह ग्रन्थ 'गाहा सत्तसई' या गाथा-सप्तशती के नाम से विख्यात है। इसके संग्रहकर्ता कवियों के आश्रयदाता तथा स्वयं काव्यकला के उपासक एक महनीय नरेश थे, जिनका नाम **'हाल'** या **'शालिवाहन'** था। कथासरित्सागर से, कामसूत्र से तथा गाथासप्तशती की एक विशिष्ट हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका से पता चलता है कि हाल कुन्तल जनपद के अधीश्वर तथा प्रतिष्ठानपुर (पैठण) के अधीश थे। यह राज्य दक्षिण भारत में विद्यमान था। इनकी प्रधान रानी मलयवती संस्कृत भाषा की प्रवीण विदुषी थी जिसके विशेष अनुरोध से ही राजा ने संस्कृत भाषा का अनुशीलन किया था। राजा को सुगमता से संस्कृत सिखाने के लिए इनके सभा के अन्यतम विद्वान् वैयाकरण **शर्ववर्मा** ने कातन्त्र व्याकरण नामक नवीन व्याकरण की रचना कर डाली। इन्हीं के सभा-कवि गुणाढ्य कवि ने पैशाची भाषा में 'बृहत्कथा' नामक विशाल ग्रन्थरत्न का निर्माण किया, जो अपने मूल रूप में विद्यमान न रहने पर भी कथासरित्सागर, बृहत्कथा-मञ्जरी जैसे संस्कृत अनुवादों में उपलब्ध होकर आज भी कथा-साहित्य का एक विराट् विश्वकोश है। इनके प्रधान कवि का नाम था **'श्रीपालित'** जिनका अभिनन्द कवि ने अपने रामचरित-महाकाव्य में उल्लेख दिया है—

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः।

आज कवि-बृषभ श्रीपालित की कमनीय रचनायें कालकवलित हैं। गाथासप्तशती में उद्धृत दो चार गाथायें ही इनकी अवशिष्ट रचनायें हैं। ग्रन्थ के संकलन-काल के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। कतिपय विद्वान् इसे पञ्चम शतक की रचना मानते हैं, परन्तु बहुमत से इसका समय प्रथम शतक ही माना जाता है। हाल कवियों के आश्रयदाता ही न थे, प्रत्युत स्वयं काव्यकला के उपासक तथा शारदा-मन्दिर के पुजारी थे। उनकी रचनायें भी इस ग्रन्थ में संकलित उपलब्ध होती हैं। शकारि विक्रमादित्य के समान महाराज हाल की सभा भी कविरत्नों से विभूषित थी, जिनमें से अनेकों की रचनायें यहाँ संकलित की गई हैं। ऐसे महनीय कवियों के नाम ये हैं--वोडिस, चुल्लोह, मकरन्दसेन, अमरराज, कुमारिल, श्रीराज, भीमस्वामी, मलयशेखर, माऊराज, वाहव, विषमराज, मल्लसेन, उद्धव, प्रवरसेन, मणिराज, दुर्गस्वामी, भोजक, वसन्तसेन आदि-आदि। इन कवियों के न तो जीवनवृत्त का हमें परिचय है और न इनके समय का। पता नहीं कि इनमें से कितने हाल के समकालीन थे और कितने उनसे पूर्ववर्ती, परन्तु इनकी काव्यकला की गरिमा के विषय में किसी भी आलोचक को सन्देह नहीं हो सकता।

उस युग में प्राकृत का बोलबाला था। वही कविजनों की जिह्वा पर बैठकर लोक-रञ्जन के लिए अपना कौशल दिखलाती थी। सहृदय आश्रयदाता का भव्य आश्रय पाकर वह चमक उठी थी। 'कविवत्सल' महाराज हाल प्राकृत कवियों के कल्पतरु थे, जिनका आश्रय पाकर सैकड़ों कवियों ने प्राकृत गाथाओं के भीतर अपना कोमल हृदय भर दिया। उन्हीं के कथनानुसार एक करोड़ सुन्दर सूक्तियों में से सात सौ सूक्तियाँ इस रत्नकोश में संगृहीत की गयी हैं। (गाथा १।३)। हाल-युगीय साहित्य-मन्दिर के शिखर पर एक ही मन्त्र लिखा था—"अमिअं पाउअकव्वं–अमृतं प्राकृतकाव्यम्।" प्राकृत काव्य का ज्ञान ही सहृदयता की सच्ची परख थी उस युग में। तभी तो ऐसे काव्य के अनभिज्ञ व्यक्तियों की विदग्धगोष्ठी में काम की तत्त्वचिन्ता करते समय अपना मुँह छिपाना पड़ता था—

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणंति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥

वैशिष्टय

गाथासप्तशती में न हमें दरबारी कविता का नमूना मिलता है, न दरबारी वस्तुओं का चित्रण। राजकीय वैभव, भोग-विलास, नागरिक जीवन से सम्बद्ध जितनी बात हमें संस्कृत कविता में मिलती है, उन सबका एकदम अभाव है इस प्राकृत गीति-काव्य में। सामान्य लोकजीवन का चित्रण ही इसकी महती विशेषता है। इसका वातावरण एकदम घरेलू है। कहीं ग्रामतरुण की प्रेमलीला की झाँकी है, तो कहीं गाँव की अशिक्षित सरल-स्वभावा सुन्दरी के रागात्मक भावों का सुचारु चित्रण है। एक ग्रामीण सुन्दरी परदेश जाने के लिये मचलने वाले प्रियतम से बड़ी सरलता से पूछ रही है कि अभी तो कंघी तथा तेल का सेवन करने पर भी मेरी वेणी के टेढ़े बाल सीधे नहीं हुए हैं और अभी तुम परदेश जाने का प्रस्ताव चला रहे हो; यह कहाँ का न्याय है? (३।७३)।

उस नायिका की खीझ पर आलोचक मुग्ध है, जो बारम्बार फूंक देने पर भी आग को जगाने में समर्थ नहीं होती तथा उस विदग्ध सखी की चतुरता पर वह उल्लसित है, जो अग्नि को उसके मुखमारुत के पान करने का अभिलाषी बतलाकर कामुक के रूप में चित्रित करती है (१।१४) :—

रन्धणकम्म-णिउणिए मा जूरसु रत्तपाडल सुअन्धम्।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलई॥

उस सुन्दरी का स्वभाव कितना भोला तथा सीधा है जो अपने पति के परदेश जाने के दिनों को दीवाल पर लकीर खींच कर गिन रही है। पति को घर छोड़े अभी दोपहर भी नहीं हुआ कि उसने दीवाल के ऊपर 'आज वह गया', 'आज वह गया' इस प्रकार रेखा खींचकर पूरी दीवाल को रेखाओं से चित्रित कर दिया। सचमुच सीधेपन की पराकाष्ठा है यह :—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढमं व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहि चित्तलिओ॥ (३।८)

ध्यान देने की बात है कि स्त्रियाँ ग्रामीण अवश्य हैं, परन्तु उनका भाव ग्रामीण नहीं है। उनमें स्वाभाविकता है, सरलता है, परन्तु ग्राम्यता नहीं। हृदय में उदारता है, संकीर्णता नहीं। प्रेम को पहचानने की विदग्धता है; पति के हृदय को परखने की नागर-सुलभ क्षमता है। वे भोली हैं, परन्तु भोंड़ी नहीं। कोई हालिकवधू गोदावरी के किनारे अपने प्रियतम को खड़ा हुआ देखकर प्रेम-परीक्षा के लिए विषम मार्ग से नदी में उतरने लगती है (२।७), तो दूसरी सुन्दरी ग्रामदाह में सर्वस्व नष्ट हो जाने पर भी हृदय में ठंडक का अनुभव करती है; क्योंकि उसके प्रियतम ने उसके हाथ से घड़ा ले लिया है, उसकी वस्तुओं को बचाने के लिए।

गाथासप्तशती में वर्णन चित्रात्मक हैं, अर्थात् उन्हें देखकर रमणीय चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगते हैं। उस प्रपापालिका (प्याऊ पर पानी पिलाने वाली) की विदग्धता का कितना रमणीय चित्र हमारे मानस-पटल पर अङ्कित हो जाता है, जो जल की पतली धारा को और भी पतली करती जाती है, जब ऊपर आँख उठाकर राही पानी पीता जा रहा है तथा उसे डट कर निरखने के लिए अपने हाथ की उँगलियों को अलग करता जाता है :—(३।२९)

> उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलंगुली चिरं पहिओ।
> पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ॥

स्वाभाविकता इन प्राकृत गाथाओं में कूट-कूटकर भरी है। यहाँ हृदयपक्ष का प्राधान्य है। इसीलिए, अलंकार-ग्रन्थों में रसों के उदाहरण देने के समय इनका विन्यास किया गया है। कृत्रिमता का यहाँ लेश भी नहीं है; स्वाभाविकता का अखण्ड साम्राज्य सहृदयों के सामने लहराता रहता है। मानस भावों के उत्थानपतन का चित्र इतना रुचिर तथा सुन्दर है कि इस काव्य को हम मनोवैज्ञानिक अनुशीलन का भव्य उदाहरण मान सकते हैं। नपे-तुले थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक भावों का निवेश पद-पद पर हमें आह्लादित कर रहा है। भावाभिव्यञ्जक गाथाओं की उपमा 'मिनिएचर पेंटिंग' से दी जा सकती है। गाथाओं का भौगोलिक प्रदेश गोदावरी तथा विन्ध्य का प्रदेश है; क्योंकि उनमें अनेकत्र गोदावरी (२।८९, २।९३), विन्ध्यपर्वत (२।१७) तथा वहाँ के निवासी पुलिन्दों का (२।१६) विशेष वर्णनं उपलब्ध होता है।

गाथा-सप्तशती में कलापक्ष के प्रदर्शन की ओर भी कवियों की दृष्टि रमती है। कहीं पर प्राकृत भाषा की कृपा से एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग उपलब्ध होता है, तो कहीं पर उत्प्रेक्षा की ऊँची उड़ान दीख पड़ती है; परन्तु प्रकृत रस का विरोध कहीं नहीं होता। कृष्ण को लक्ष्य कर लिखी गई एक गाथा में 'गोरअ' शब्द का प्रयोग 'गोरज', 'गौरव' तथा 'गौरता' इन तीन अर्थों में किया गया है (१।७९)। उत्प्रेक्षा की बहार इस गाथा में बहुत ही सुन्दर है :—

> थोअं पि ण णीसरइ मज्झण्णे उअ सरीरतललुक्का।
> आअव-भएण छाही वि पहिअ ता किं ण वीसमसि॥

भाव यह है कि हे पथिक ! दोपहर के इस चिलचिलाती धूप में छाया भी शरीर के नीचे लुक छिपकर रहती है; धूप के डर से वह थोड़ा भी बाहर नहीं निकलती, तो तुम

विश्राम क्यों नहीं करते ? इस गाथा को पढ़ते ही श्रोताओं को बिहारी के 'जेठ दुपहरी धूप की छाँहों चाहत छाँह' की याद आये बिना न रहेगी। इस गाथा में हेतूत्प्रेक्षा का विन्यास बड़ा ही रुचिर हुआ है।

गोवर्धनाचार्य

बंगाल के अन्तिम नरेश लक्ष्मणसेन (१२ शती का उत्तरार्ध) की सभा के ये मान्य कवि थे। इनकी एकमात्र रचना **आर्यासप्तशती** है। यह काव्य 'गाथासत्तसई' को आदर्श मानकर तथा उससे प्रेरणा ग्रहण कर विरचित हुआ है। इस प्रेरणा को गोवर्धन स्वयं स्वीकारते हैं कि वाणी के नैसर्गिक प्रवाह का माध्यम तो लोकभाषा प्राकृत है। संस्कृत में उसे लाना उसके साथ बलात्करण है। कालिन्दी का प्रवाह नीचे की ओर ही जाता है। उसे आकाश में पहुँचाने का उद्योग बलात्कार नहीं तो क्या है ? (आर्या ५२)। गाथा-सप्तशती तथा आर्या-सप्तशती दोनों का विपुल प्रभाव हिन्दी के सतसई साहित्य पर है। हिन्दी के महाकवि बिहारी के ऊपर इन दोनों का प्रभाव प्रचुर मात्रा में है। ये तीनों महाकवि विशिष्ट छन्दों के रसिक हैं। हाल 'गाथा' के, गोवर्धन 'आर्या' के तथा बिहारी 'दोहा' के बादशाह हैं--इसे प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

गोवर्धनाचार्य शृंगाररस के मान्य कवि थे। जयदेव ने गीतगोविन्द के आरम्भ में इस तथ्य का स्वयं उद्घाटन किया है। गोवर्धन 'आर्या' की रचना में नितान्त विख्यात हैं। इनसे पहले दामोदर गुप्त को छोड़कर किसी अन्य कवि ने इस छन्द को इतने सुचारु तथा सुन्दर रूप में नहीं लिखा था। शृंगार की नाना अवस्थाओं का वर्णन भी मार्मिकता से किया गया है। नागरिक स्त्रियों की शृंगारिक चेष्टाओं का चित्रण जितना चटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की उक्तियाँ भी रसभरी, स्वाभाविक और मनोहर हैं। कवि मानवहृदय की प्रवृत्तियों का सच्चा पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामिनियों के हृदय में जो कल्पनायें ललित खेल किया करती हैं उनकी परख गोवर्धन कवि को खूब है। तथ्य यह है कि हमारे कवि ने आर्या जैसे छोटे छन्द में विशाल भावों को भर कर 'गागर में सागर' भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है।

> सा सर्वथैव रक्ता रागं गुञ्जेव न तु मुखे वहति।
> वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ॥

नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त है, पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती। अतः वह उस लाल गुंजाफल के समान है जो मुख को छोड़ सर्वाङ्ग में रक्त वर्ण है। दूसरी ओर नायक वचनचातुरी में दक्ष है, जो मुखमात्र ही से अपने प्रेम का ख्यापन करता है। अतः वह उस हरे शुक के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है।

विरह से संतप्त नायिका का यह वर्णन कितना चमत्कार-जनक है :--

> न सवर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः।
> बाला त्वद्विरहादपि जातापभ्रंशभाषेव ॥

अपभ्रंश भाषा के साथ विरहिणी की समता सचमुच अनूठी है। नायक के विरह से नायिका में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। वह उसका शोभन रंग नहीं रहा, न वह रूप है, न वह संस्कार (अंग-प्रत्यंग का परिष्कार) है, न वह स्वभाव। ही है

उसकी सुन्दरता एकदम बदल गई है—अपभ्रंश भाषा के समान, जिसमें न सवर्ण होता है, न रूप होता है, (संस्कृत भाषा की तरह), न संस्कार होता है (व्याकरण सम्बन्धी), न वह संस्कृत की प्रकृति (धातु आदि) ही रहती है। श्लेष के चमत्कार के साथ कवि का भाषा-ज्ञान भी बड़ी सुन्दरता से यहाँ अभिव्यक्त हुआ है।

जयदेव

राजा लक्ष्मणसेन की सभा में ये भी महाकवि रहते थे, जिनकी लेखनी ने 'गीतगोविंद' जैसे अमर काव्य की सृष्टि की है। महाकवि जयदेव उत्कल के केन्दुबिल्व नामक स्थान के निवासी थे। एकनिष्ठ होकर इस महाकवि के भक्तों ने इनकी लोकातीत जीवनी का संरक्षण चरितों में बड़ी तत्परता के साथ किया है। इनका जीवन आनन्दकन्द व्रजचन्द्र की दिव्य भक्ति में पगे हुए भक्त का जीवन था। इनका जीवन एक ही रस से बाहर-भीतर ओत-प्रोत था और वह रस था भक्तिरस। इनके **'गीतगोविंद'** में १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग गीतों से ही समन्वित है। सर्गों को परस्पर मिलाने के लिए तथा कथा के सूत्र को बतलाने के लिए कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी हैं। 'गीतगोविंद' भगवती संस्कृत-भारती के सौन्दर्य तथा माधुर्य की पराकाष्ठा है। महाकवि कालिदास की कविता में भी इस रसपेशल मधुर भाव का हमें दर्शन नहीं मिलता। इस काव्य में कोमलकान्त-पदावली का सरस प्रभाव तथा मधुर भावों का मधुमय सन्निवेश है। आनन्दकन्द व्रजचन्द्र तथा भगवती राधिका की ललित लीलाओं का जितना ललाम वर्णन यहाँ मिलता है, वह अन्यत्र कहाँ देखने को मिलता है? शब्दमाधुर्य के लिए 'ललित-लवङ्गलतापरिशीलन-कोमल-मलय-समीरे" वाली अष्टपदी का पाठ पर्याप्त होगा।

भावों का सौष्ठव भी उतना ही हृदयावर्जक है। विरहिणी राधिका के वर्णन में कवि की यह उक्ति कितनी अनूठी है। राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा झर रही है। जान पड़ता है विकट राहु के दाँतों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत की धारा बह रही हो :—

वहति च वलित-विलोचनजलभरमाननकमलमुदारम्।
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलन-गलितामृतधारम्॥

उपमा की कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की उड़ान में यह काव्य अनूठा तो है ही, परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है प्रेम की उदात्त भावना। राधाकृष्ण के प्रेम की निर्मलता तथा अध्यात्मिकता सुन्दर शब्दों में यहाँ अभिव्यक्त की गई है। श्रृङ्गार-शिरोमणि कृष्ण भगवतत्त्व के प्रतिनिधि हैं और उनकी प्रेमी गोपीकायें जीव की प्रतीक हैं। राधा-कृष्ण का मिलन जीव-ब्रह्म का मिलन है। साधनामार्ग के अनेक तथ्यों का रहस्य यहाँ सुलझाया गया है। अर्थ की माधुरी के लिए इस पद्य का पर्यालोचन पर्याप्त होगा—

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसंदीपकं
गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरुद्वयम्।
रतिस्तव कलावती रुचिर-चित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि! पृथ्वीगता॥

राधा का रसमय वर्णन है—तुम्हारे नेत्र मद से अलस—आलसी हैं (पक्षान्तर में 'मदालसा' नामक अप्सरा है), तुम्हारा मुख चन्द्रमा को दीप्त करने वाला है (पक्षान्तर—

'इन्दुमती' अप्सरा), गति जनों के मन को रमण करने वाली है (पक्षान्तर—'मनोरमा' अप्सरा); तुम्हारे दोनों उरुओं ने रम्भा (केला तथा 'रम्भा' नामक विख्यात अप्सरा) को जीत लिया है। तुम्हारी रति कला से युक्त है ('कलावती' अप्सरा)। तुम्हारी दोनों भौंहें सुन्दर चित्र के समान सुन्दर हैं (पक्षान्तर––'चित्रलेखा' अप्सरा)। हे तन्वी, पृथ्वी पर रहकर भी तुम देव-युवतियों के समूह को अपने शरीर में धारण करती हो। इस कमनीय पद्य में श्लेष के माहात्म्य से देवाङ्गनाओं के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। मुद्रालंकार के द्वारा 'पृथ्वी' छन्द का भी रुचिर संकेत सहृदयों के आनन्द का विषय है।

गीतगोविन्द का व्यापक प्रभाव उत्तर भारत में ही नहीं, प्रत्युत महाराष्ट्र, गुजरात तथा कन्नड़ प्रान्त के साहित्य पर भी पड़ा। महाप्रभु चैतन्यदेव गीतगोविंद की माधुरी के परम उपासक थे। उनके शिष्य प्रतापरुद्रदेव (१६ शतक) ने उत्कल के अनेक मन्दिरों में इसके नियमित गायन के लिए भूमिदान की व्यवस्था की थी। मराठी साहित्य में महानुभावी ग्रन्थकार **भास्कर भट्ट बोरीकर** (१२७५ ई०–१३२० ई०) के काव्य-ग्रन्थ 'शिशुपालवध' में गीत-गोविन्द से अनेक भाव-सादृश्य उपलब्ध होते हैं, जिसे ग्रन्थकार ने जयदेव से निश्चित रूप से ग्रहण किया है। गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के एक शिलालेख (संवत् १३४८=१२९१ ई०) का मंगलश्लोक गीतगोविंद के प्रथम सर्ग का अंतिम पद्य है। **अप्रमेय शास्त्री** (१७५० ई०) ने इस ग्रन्थ पर 'शृंङ्गार-प्रकाशिका' नामक व्याख्या कन्नड़ भाषा में लिखी है। मैसूर के राजा **चिक्कदेवराय** (१६७२ ई०–१७०४ ई०) ने गीतगोविंद के आदर्श पर **'गीतगोपाल'** नामक सुन्दर काव्य लिखा है, जो कन्नड़ देश में गीतगोविंद की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है[1]।

रूपगोस्वामी

श्री रूपगोस्वामी ने भगवान् श्रीकृष्ण, राधा, वृन्दावन तथा यमुना के स्वरूप और राधाकृष्ण की ललित केलि का बहुत ही रसमय वर्णन अनेक स्तुतिपद्यों में किया है। इन स्तुतियों का एकत्र संग्रह श्री जीवगोस्वामी के भाष्य के साथ **स्तवमाला** के नाम से प्रकाशित हुआ है।[2] इस माला में अनेक अष्टपदियाँ अपनी शोभा बढ़ा रही हैं, जिनके ऊपर जयदेव के गीत-गोविन्द का प्रभाव नितान्त स्फुट है। श्री रूपगोस्वामी प्रतिभा के धनी वैष्णव कवि थे, जिनका अन्तस्तल श्री राधाकृष्ण की विमल भक्ति के चिन्तन से नितान्त निर्मल था और जिनकी लेखनी कोमल हार्द भावों की अभिव्यक्ति में सर्वदा समर्थ थी। फलतः स्वतमाला की ये स्तुतियाँ गीतिकाव्य का मनोरम रूप उपस्थित करती हैं। राधाकृष्ण की उन ललित लीलाओं तथा केलियों का सांद्र-स्निग्ध वर्णन रसिक जनों का चित्त आकृष्ट करता है––

---

१. लोकप्रियता का अन्य प्रमाण इनकी विपुल व्याख्या-सम्पत्ति है। राणा कुम्भकर्ण (१५६३ ई०) तथा शङ्कर मिश्र (१७५९ ई०) की प्रकाशित व्याख्या के अतिरिक्त वनमाली भट्ट, विट्ठलेश्वर तथा भगवद्दास (रसकदम्ब-कल्लोलिनी नामक) की व्याख्यायें भी उपलब्ध हैं।

२. काव्यमाला, ग्रन्थ संख्या ८४, बम्बई, १९३०।

मरन्द - भर - मन्दिर - प्रतिनवारविन्दावली-
सुगन्धिनि विहारयोर्जलविहार-विस्फूर्जितैः ।
तपे सरसि वल्लभे सलिल-वाद्य-विद्याविधौ
विदग्धभुजयोर्भजे व्रजनवीन-यूनोर्युगम् ॥

इन गीतों की भाषा तथा शैली दोनों रस से स्निग्ध हैं तथा इनकी रचना में कवि-प्रतिभा की अमिट छाप बड़ी हुई है। सम्भवतः मूल वंगभाषा के छन्दों का भी प्रभाव यहाँ खोजा जा सकता है। इन गीतों में रूपगोस्वामी ने अपना नाम न देकर अपने अग्रज 'सनातन' का ही नाम रखा है, जिससे बहुत से आलोचकों को इन्हें रूप की रचना मानने में सङ्कोच है। एक ही गीत उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत है जिसमें राधा की सखी कृष्ण के सामने विरहिणी राधा की दयनीय दशा का वर्णन कर रही है--

अनधिगताकस्मिकागदकारणम् अर्पित-मन्त्रौषधि-निकुरम्बम् ।
अविरतरुदितविलोहितलोचनमनुशोचति तामखिलकुटुम्बम् ॥
देव हरे भव करुणाशाली ।
सा तव निशित-कटाक्ष-शराहतहृदया जीवतु कृशतनुराली ॥
हृदि वलदविरल-संज्वर-पटली-स्फुटदुज्ज्वल-मौक्तिक-समुदाया ।
शीतल-भूतल-निश्चल-तनुरियमवसीदति सम्प्रति निरुपाया ॥
गोष्ठ-जनाभय-सत्रमहाव्रत-दीक्षित भवतो माधव बाला ।
कथमर्हति तां हन्त सनातन-विषमदशां गुणवृन्द-विशाला ॥

गोविन्द दास

गौडीय वैष्णव कवि विशेषतः बंगला पदों की ही रचना किया करते थे, जिनकी एक विशाल राशि 'पदकल्पतरु' में संगृहीत है, परन्तु वे कभी-कभी संस्कृत गीतों की भी रचना किया करते थे और ये रचनायें बहुत सुन्दर तथा सरस हैं। **गोविन्ददास** १६ वीं शती के उत्तरार्ध में बङ्गाल में पैदा हुए थे। ये प्रथमतः शाक्त थे, परन्तु १५७७ ई० में श्रीनिवास आचार्य के द्वारा ये वैष्णव मत में दीक्षित किये गये। जीव गोस्वामी ने इनकी काव्य-प्रतिभा से प्रसन्न होकर इन्हें 'कविराज' की उपाधि प्रदान की। बंगला में तो इनके कई सौ सरस पद आज भी भक्तों का मनोरंजन करते हैं, परन्तु संस्कृत में भी इनकी सुन्दर गीतिका मिली है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती

इन्होंने हरिवल्लभ, या हरिवल्लभदास या वल्लभ के उपनाम से संस्कृत तथा वंगला ग्रन्थों का प्रणयन किया है। ये १५८६ शक (१६६४ ई०) में पैदा हुए। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के ये महनीय ग्रन्थकार थे। संस्कृत में इनका सबसे प्रख्यात ग्रन्थ है--भागवत की टीका **'सारार्थ-दर्शिनी'**। विश्वनाथ ने बंगला वैष्णव पदों का सबसे प्राचीन संग्रह तैयार किया जिसका नाम था **क्षणदागीत-चिन्तामणि**। इसमें सब मिलाकर ३१८ पद हैं, जिनमें इनकी पाँच संस्कृत रचनायें (पद) भी पाई जाती हैं। इसी प्रकार श्री-

निवास आचार्य के वंशज **राधामोहन ठाकुर** (१६९८ ई० १७७८ ई०) के भी संस्कृत गीत उपलब्ध होते हैं। ये महाराज नन्दकुमार के गुरु थे। अपने समय में कवित्व और विद्वता के लिए बंगाल में इनकी बड़ी ख्याति थी। इनके पदसंग्रह का नाम 'पदामृत-**समुद्र**' है, जिनमें इनके शताधिक बंगला पदों के अतिरिक्त चार संस्कृत गीतिकायें भी उपलब्ध होती हैं। इसके ऊपर राधामोहन ने स्वयं संस्कृत में टीका भी लिखी है। इस प्रकार वंगीय वैष्णवों ने संस्कृत में पदों की रचना कर गीतगोविन्द की परम्परा को समुज्ज्वल बनाया[1]।

(ख) स्तोत्र-साहित्य

संस्कृत का स्तोत्र-साहित्य बड़ा ही विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। प्रत्येक धर्म का भक्त अपने हृदय की बातें भगवान् के सामने प्रकट करने तथा उनकी महिमा के वर्णन में अपने कोमल तथा भक्ति-पूरित हृदय को अभिव्यक्त करता है, परन्तु हमारे भक्तों ने अपने हृदय की जितनी दीनता तथा कोमलता का और भगवान् की उदारता का परिचय दिया है वह सचमुच उपमाहीन है। हमारा भक्त-कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों के दर्शन से चकित हो उठता है तो कभी भगवान् के विशाल-हृदय, असीम अनुकम्पा और दीनजनों पर अकारण स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो उठता है। अपने पूर्व कर्मों की ओर जब वह दृष्टि डालता है तब उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन बना डालती है। बच्चा जिस प्रकार अपनी माता के पास मन-चाही प्यारी वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है और आत्म-विश्वास की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। ठीक यही दशा हमारे भक्त कवियों की है। वे अपने इष्ट देवता के सामने अपने हृदय के खोलने में किसी प्रकार की आनाकानी नहीं करते। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता को कोमल शब्दों में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों के द्वारा विरचित स्तोत्रों में बड़ी मोहकता है, चित्त को पिघला देने की भारी शक्ति है। संगीत का पुट मिल जाने पर इनका प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ जाता है। इस विशाल स्तोत्र-साहित्य के यथार्थ वर्णन के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ कतिपय प्रसिद्ध कवियों तथा उनके स्तोत्रों का ही परिचय प्रस्तुत किया जायेगा।

शिवमहिम्नःस्तोत्र

भाषा के लालित्य तथा भावों की दार्शनिकता के हेतु यह स्तोत्र शैवस्तोत्रों में अतिशय लोकप्रिय है। स्तोत्र की रचना शिखरिणी छन्द में होने के कारण यह नितान्त संगीतमय है और गेयता गुण से सम्पन्न है। आज भी अनेक शिवालयों में वीणा के ऊपर इस स्तोत्र के गाने की चाल प्रचलित है। स्तोत्र के भीतर ईश्वर की सत्ता आदि अनेक दार्शनिक विषयों पर गम्भीर तर्क उपस्थित किये गये हैं। यही कारण है कि इस स्तुति की अपरिमित महिमा गायी गई है—'महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।' आजकल की प्रचलित प्रतियों में इस स्तोत्र में ४० पद्य उपलब्ध होते हैं, परन्तु मधुसूदन सरस्वती की टीका केवल आदिम ३२ पद्यों के ही ऊपर है। इन्दौर राज्य के अन्तर्गत मालवा देश में

---

१. इन कवियों के संस्कृत पदों के उदाहरणार्थ द्रष्टव्य के० बी० पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम, पूना, १९३४, पृष्ठ ४१७–४२७।

नर्मदा के तट पर अमरेश्वर महादेव का मन्दिर है। उस मन्दिर की दीवार पर महिम्नः स्तोत्र के ३१ पद्य खुदे मिलते हैं। लेख का समय ११२० सं० (=१०६३ ईस्वी) है। इससे जान पड़ता है कि आज से आठ सौ वर्ष पूर्व केवल ३१ पद्य ही मूलभूत माने जाते थे तथा अन्त के आठ या नौ पद्यों को पाठकों ने अपनी इच्छानुसार बढ़ा दिया है। अन्तिम ९ श्लोकों में तो केवल ग्रन्थकर्ता का नाम तथा स्तोत्र-पाठ के फल का उल्लेख है। निश्चय ही यह अंश मूल स्तोत्र की रचना के अनन्तर जोड़ दिया गया होगा।

महिम्नःस्तोत्र के टीकाकारों ने '**पुष्पदन्त**'–नामक किसी गंधर्व को इसका रचयिता बतलाया है, परन्तु मद्रास की कितनी ही हस्तलिखित प्रतियों में कुमारिल भट्टाचार्य ही इसके कर्ता लिखे गये हैं।[1] एक टीकाकार ने कुमारिल को शिव के पुत्र सुब्रह्मण्य का अवतार मान कर इस स्तोत्र का लेखक माना है। ये बातें इस स्तोत्र की प्राचीनता तथा अतिशय आदर को सूचित करती हैं। डी० सी० भट्टाचार्य ने प्रबंधचिन्तामणि के आधार पर '**ग्रहिल**' को इसका रचयिता माना है[2], परन्तु अन्य किसी ग्रन्थ से इसकी पुष्टि न किये जाने के कारण यह मत भी उतना उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

प्रबंधचिन्तामणि में इस स्तोत्र का एक पद्य मिलता है। इससे इसका समय १२ वीं शताब्दी के इधर कभी नहीं हो सकता। परन्तु एक और प्रमाण की उपलब्धि से इसकी प्राचीनता स्थिर की जा सकती है। राजशेखर (दशम शताब्दी के आरंभ में) ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' के आठवें अध्याय में 'न्याय-वैशेषिक' के सिद्धान्त को दिखलानेवाले महिम्नः स्तोत्र के निम्नलिखित पद्य को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है[3]।

न्यायवैशेषिकीयः—स किंसामग्रीक ईश्वरः कर्ता इति पूर्वपक्षः। निरतिशयैश्वर्यस्य तस्य कर्तृत्वमिति सिद्धान्तः। अत्र—

> किमीहः किङ्कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
> किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
> अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
> कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥

यह श्लोक आजकल के पाठ अनुसार पाँचवाँ है। इसके मूलस्तोत्र का सत्य अंश होने में किसी प्रकार का संदेह उपस्थित नहीं किया जा सकता। दसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह स्तोत्र इतना प्रसिद्ध था कि राजशेखर ने पूर्वोक्त पद्य उद्धृत करते समय इसके नाम लेने की आवश्यकता नहीं समझी। अतएव यह स्तोत्र दसवीं शताब्दी में नितान्त विश्रुत था तथा उससे भी अधिक प्राचीन है।

स्तोत्र का एक पद्य सुबंधु (छठी शताब्दी) की वासवदत्ता के गद्य के सर्वथा अनुकूल है। मुद्रित पुस्तकों का ३२ वाँ श्लोक सर्वसाधारण में अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्लोक का

---

१. कैटेलाग आंफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स (मदरास), जि० १९; सं० १११०३।

२. इण्डियन एण्टिक्वेरी (वर्ष १९१७)।

३. काव्य-मीमांसा, पृ० ३७।

४. असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

भाव यथार्थ में रमणीय है। नीलगिरि के समान काली स्याही हो, समुद्र दावात हो, कल्पतरु की डार लेखनी हो, यह विशाल पृथ्वी कागज हो—इन उपकरणों से युक्त होकर यदि भगवती शारदा आपके गुणों को लिखे, तो भी हे भगवन् ! वह आपके गुणों के अन्त तक नहीं पहुँच सकती !! वासवदत्ता में भी ठीक ऐसे ही भाव की अवतरणा पाई जाती है। आवश्यक गद्यांश यह है—"त्वत्कृते याऽनया यातनानुभूता, सा यदि नभः पत्रायते सागरो मेलानन्दायते, ब्रह्मा लिपिकरायते, भुजगपतिर्वा कथकायते, तदा कथमप्यनेकयुग-सहस्रैरभिलिख्यते कथ्यते वा" (मेलानन्द=दावात)। अर्थ—तुम्हारे लिए इस बालिका ने जितनी यातना भोगी, वह यदि आकाश कागज हो जाय, सागर दावात बने तथा ब्रह्मा लिखनेवाला या शेषनाग कहनेवाला हो, तो किसी तरह अनेक युग-सहस्र में उसका वर्णन हो सकता है।

यदि पूर्वोक्त पद्य को वासवदत्ता के इस गद्य की छाया पर रचा गया मानें, तो स्तोत्र छठी शताब्दी के पहिले का कभी सिद्ध नहीं हो सकता। वासवदत्ता महाकवि सुबन्धु की मौलिक कल्पना का भाण्डार है। स्तोत्र में प्रायः अन्य अच्छे भावों को अपनाना कोई असम्भव नहीं जान पड़ता; तथापि इससे स्तोत्र के समय पर कुछ भी भाव नहीं पड़ता। ऊपर कहा गया है कि ११ वीं शताब्दी में केवल प्रारम्भ के ३१ ही पद्य थे, अतएव ३२ वाँ श्लोक—बासवदत्ता की छाया मानते हुए भी—पीछे का ही सिद्ध होता है। अतः इस भाव-साम्य से रचना के प्रश्न को कुछ भी सहायता नहीं मिलती। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि स्तोत्र आठवीं या नवीं शताब्दी में बना होगा—दसवीं के अनन्तर का कभी नहीं हो सकता।

मयूरभट्ट

ये काशीमण्डल के ही कवि थे। आज गोरखपुर जिले के कुछ प्रतिष्ठित ब्राह्मण लोग अपने को मयूरभट्ट की सन्तान मानते हैं। महाकवि बाणभट्ट के ये सगे सम्बन्धी थे। बाण के समान ही मयूरभट्ट की प्रतिष्ठा श्रीहर्ष के दरबार में थी। सुनते हैं कि किसी कारणवश इन्हें कुष्ठ रोग हो गया था जिसके निवारणार्थ उन्होंने सूर्य भगवान् की सुन्दर स्तुति लिखी। मयूर का 'सूर्यशतक' स्रग्धरा वृत्त में लिखा गया नितान्त प्रौढ़ काव्य है। स्रग्धरा वृत्त में लिखे गये काव्यों में यही प्रथम काव्य है। संस्कृत भाषा के ऊपर कवि की प्रभुता बहुत ही अधिक है। झनझनाते हुए अनुप्रासों की मधुर ध्वनि सहृदयों के हृदय का आवर्जन करती है। कवि सूर्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों और साधनों (जैसे रथ, घोड़ इत्यादि) के वर्णन में पूर्ण रूप से सफल है। मयूर मुख्यतया 'शब्द-कवि' हैं और नोंक-झोंक के शब्दों के रखने में बेजोड़ हैं।

बाणभट्ट

बाणभट्ट मयूरभट्ट के समकालीन ही न थे, प्रत्युत उनके सगे-सम्बन्धी भी थे। उनकी कीर्ति गद्य-काव्य के रचयिता के रूप में ही विशाल है। गीतिकाव्य के निर्माता के रूप में वे कम प्रसिद्ध हैं। उनका **'चण्डीशतक'** भगवती दुर्गा की स्रग्धरा वृत्त में बड़ी प्रशस्त स्तुति है। यदि बाण महाकाव्य के लिखने के लिए उद्यत होते तो इस क्षेत्र में भी उन्हें कम सफलता प्राप्त नहीं हुई होती, पर इधर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। चण्डीशतक

में बाण की उस परिचित शैली का चमत्कार हम पाते हैं––लंबे-लंबे समास, नोंक-झोंक के शब्द, कानों में झनकार करने वाले अनुप्रास तथा ऊँची उत्प्रेक्षा। भोजराज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में चण्डीशतक का यह प्रशस्त पद्य दृष्टान्त के रूप में दिया है :––

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषापघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥

शङ्कराचार्य

वाण-मयूर के लगभग पचास वर्ष के भीतर ही धार्मिक क्षेत्र को उद्भासित करने वाले एक महान् पुरुष का जन्म हुआ। इनका नाम था आचार्य शङ्कर। ये भगवान् की एक दिव्य विभूति थे; जिनकी कीर्तिकौमुदी आज भी उसी प्रशस्त रूप से समस्त जगत् को प्रद्योतित कर रही है। दार्शनिक जगत् में उन्होंने अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा की, परमार्थ दृष्टि से वे अद्वैत तथा मायावाद के परम प्रतिष्ठापक हैं, परन्तु व्यवहार-जगत् में नाना देवताओं की उपासना उन्हें अभीष्ट है। सगुण ब्रह्म की उपासना निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए आवश्यक साधन है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने उपास्य ब्रह्म के प्रतिनिधिभूत, विष्णु, शिव, गणपति, शक्ति, हनुमान् आदि नाना देवी-देवताओं की परम रमणीय स्तुतियाँ लिखी हैं। इन स्तोत्रों की संख्या वहुत अधिक है। इन सबको आदि शङ्कराचार्य की रचना मानना उचित नहीं है, परन्तु इनमें से अनेक प्रसिद्ध स्तोत्र आचार्य की ललित लेखनी के प्रसाद हैं।[1]

शङ्कराचार्य की काव्यकला बड़े ही ऊँचे दर्जे की है। उसे हम अन्तःप्रेरणा का, प्रशस्त प्रतिभा का मधुमय फल समझते हैं। शङ्कर की कविता निःसन्देह रसभाव-निरन्तरा है, आनन्द का अक्षय स्रोत है, उज्ज्वल अर्थरत्नों की मनोरम पेटिका है और कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उनके स्तोत्र हमारे स्तोत्र-साहित्य के श्रृङ्गार हैं। उनमें संगीत की इतनी माधुरी है कि श्रोताओं का हृदय उनकी ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है। 'भज गोविन्दम्'––केवल इसी स्तोत्र का पाठ इस कथन को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है––

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥
बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥

––की स्वरलहरी जब हमारे कर्णकुहरों में अमृतरस बरसाने लगती है तब जान पड़ता है हम इस क्लेशबहुल जगत् से ऊँचे उठकर किसी आनन्दमय दिव्यलोक में जा विराजते हैं। आचार्य की कविता का परम सौन्दर्य एकत्र देखने के लिए 'सौन्दर्य-लहरी' का अध्ययन

१. द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ––आचार्य शंकर पृष्ठ १५७–१६२; द्वितीय सं० प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३६ ई०।

पर्याप्त होगा। भगवती त्रिपुर-सुन्दरी के दिव्य सौन्दर्य की छटा इस लहरी में विशदता से प्रस्फुटित हुई है। भाषा तथा भाव, रस तथा अलंकार, साहित्य तथा तन्त्र—किसी भी दृष्टि से इस लहरी का अनुशीलन किया जाय, इसकी अलौकिकता पद-पद पर प्रमाणित होती है।

वैष्णव स्तोत्र

भगवान् विष्णु की स्तुतियों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण साहित्य है। कई कवियों ने विष्णु के विविध आयुधों की पृथक् स्तुति लिखी है, तो दूसरे कवियों ने विष्णु के केश से लेकर पाद तक के विभिन्न अंगों की प्रशंसा में पद्यों की रचना की है। इन स्तोत्रों से सौन्दर्य तथा माधुर्य की अनुपम धारा प्रवाहित होती है। इनमें प्रधान स्तोत्र यहाँ निर्दिष्ट हैं—

कुलशेखर

कुलशेखर का **'मुकुन्दमाला'** स्तोत्र श्रीवैष्णव मत के स्तोत्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कुलशेखर त्रिवांकुर राज्य के प्राचीन राजा माने जाते हैं, जिनका आविर्भाव दशम शतक में हुआ। ये वैष्णवधर्म के सुप्रसिद्ध आलवारों में अन्यतम माने जाते हैं। इनका 'मुकुन्दमाला' स्तोत्र वैष्णव स्तोत्र का मुकुट-मणि है। कवि कभी अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन करते आत्मविस्मृत हो जाता है, तो कभी वह भगवान् के विराट् रूप के दर्शन से चमत्कृत हो उठता है। इसकी श्लोकसंख्या में केवल ३४ ही हैं, परन्तु इनमें हृदय को आवर्जन करने की विचित्र शक्ति है।

> दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
> अवधीरित-शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

["मेरा निवास इस भूतल पर हो, या स्वर्ग में हो। हे नरक को दूर भगाने वाले भगवन्! चाहे मेरी स्थिति नरक में ही क्यों न हो? आप के शरद् ऋतु में खिले कमलों की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले चरणों को मैं मरण में भी सदा स्मरण किया करता हूँ।"]

यामुनाचार्य

ये वैष्णवमत के प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य के परमगुरु थे। इनका समय ईसा की दशवीं शती है। दक्षिण भारत ही इनके धार्मिक उपदेशों का प्रधान क्षेत्र था। इनका तमिल नाम 'आल-वन्दार' था और इसी कारण इनका परमरम्य स्तोत्र **'आलवन्दार स्तोत्र'** के नाम से विख्यात है, यद्यपि आन्तरिक सुषमा के कारण भक्तजन इसे 'स्तोत्र-रत्न' नाम से पुकारते आते हैं। कवि ने अपना भक्तिभावित हृदय भगवान् के सामने इतनी दीनता-भरे शब्दों में प्रकट किया है कि पाठकों का चित्त इसे पढ़ गद्गद हो जाता है। प्रपत्ति का भाव इसमें बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है—

> तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
> स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं समीक्षते॥

[हे भगवन्, मेरा चित्त आपके अमृतरस चुवाने वाले पद-पद्मों में रम गया है। भला अब वह किसी दूसरी चीज को क्योंकर चाहेगा? पुष्परस से भरे हुए कमल के

विद्यमान रहने पर क्या भौंरा तालमखाने के फूल को कभी देखता है ? उसे चखने को तनिक भी अभिलाषा क्या उसके हृदय में उठती है ?]

लीलाशुक

लीलाशुक ने '**कृष्णकर्णामृत**' नामक ललित काव्य में अपने देश और काल का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। केवल अपने गुरु का नाम 'सोमगिरि' निर्दिष्ट किया है। अपने को 'ईशानदेव-चरणाभरण' कहा है जिससे इनके पिता का नाम सम्भवत: ईशानदेव प्रतीत होता है। इनके दूसरे ग्रन्थ दैव की 'पुरुषकार' नाम्नी टीका की व्याकरण-शास्त्रज्ञों में पर्याप्त प्रसिद्धि है। उस ग्रन्थ के अध्ययन से इनका जन्मस्थान काञ्ची अनुमित होता है तथा इनका समय १३वीं शती का उत्तरार्ध (लगभग १२५० ई०–१३०० ई०) प्रतीत होता है[1]। गौडीय वैष्णवों की अनुश्रुति है कि महाप्रभु चैतन्यदेव (१४७६ ई०–१५३३ ई०) इस कमनीय काव्य को दक्षिण भारत से लाये थे। ऊपर निश्चित काल से इसकी असंगति नहीं होती। 'बिल्वमंगल' के नाम से इनकी प्रसिद्धि के लिए कोई दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

कृष्णकर्णामृत––कृष्ण की बाललीला पर आधारित यह गीतिकाव्य[2] नितान्त रस-पेशल, स्निग्ध तथा कोमल-कान्त है। कवि उन्हें अपने प्रियतम रूप में उपास्य बतला कर माधुर्य भक्ति का उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। 'गीतगोविन्द' ही इस काव्य की तुलना में आ सकता है, अन्यथा शब्दों के चयन, मधुरा रति के चित्रण तथा हृदय के विमल भावों के प्रकाशन में कृष्णकर्णामृत सचमुच कृष्णकाव्यों का मुकुटमणि है। चैतन्य मत में यह भागवत के समान ही प्रमाण माना जाता है। इसकी माधुरी के लिए दो पद्यों की बानगी देखिये।

कोई गोपी मुरली से कह रही है कि श्रीकृष्ण के अधरमणि के समीप जाने पर मेरी दीन दशा की खबर तो उस नन्दनन्दन के कानों में धीरे से कह देना––

अयि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्दश्वसनमधुरसज्ञे त्वां प्रणम्याद्य याचे।
अधरमणिसमीपं प्राप्तवत्यां भवत्यां कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्दसूनोः।

श्रीकृष्ण ही मोक्षमार्ग के दर्शक हैं––इस तथ्य का संकेत इस पद्य में कितने नाटकीय ढंग से किसी जिज्ञासु के सामने प्रस्तुत किया गया है। आध्यात्मिक तथ्य का निर्देश श्लेष के द्वारा रुचिरता के साथ यहाँ उपन्यस्त है :––

अग्रे दीर्घतरोऽयमर्जुनतरुस्तस्याग्रतो वर्तनी
सा घोषं समुपैति तत्परिसरे तीरे कलिन्दात्मजा।

---

१. विशेष द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय––संस्कृत-शास्त्रों का इतिहास, पृष्ठ ५४१–४२।

२. इसके दो पाठ उपलब्ध होते हैं। दक्षिणी पाठ में तीन आश्वास तथा तीन सौ पद्य हैं। बंगीय पाठ में केवल प्रथम आश्वास तथा ११२ पद्य हैं। प्रथम पाठ वाणीविलास से पापयल्लय सूरि रचित व्याख्या के साथ तथा बंगीय पाठ तीन टीकाओं के साथ डा० सुशील कुमार डे के सम्पादकत्व में ढाका से प्रकाशित।

तस्यास्तीरतमाल-काननतले चक्रं गवां चारयन्
गोपः क्रीडति दर्शयिष्यति सखे पन्थानमव्याहतम् ॥

वेदान्तदेशिक

भक्तकवि वेदान्तदेशिक के स्तोत्रों की संख्या पचीस से ऊपर है जिनमें रंगनाथ, बालगोपाल आदि नाना देवों की भक्तिपेशल स्तुति निबद्ध की गई है। इनके मुख्य स्तोत्रों के नाम हैं––**वरदराजपञ्चाशत्**––(काञ्ची के देवाधिदेव वरदराज की स्तुति ५१ पद्यों में), **हयग्रीव स्तोत्र** (३२ श्लोक), **अष्टभुजाष्टक** (अष्टभुजाधारी विष्णु की १०२ श्लोकों में स्तुति), **अच्युतशतक** (अच्युत भगवान् की १०२ प्राकृत गाथाओं में स्तुति), **गरुड़-पंचाशत्** (५२ श्लोक), **यतिराज सप्तति** (रामानुज स्वामी की ७४ श्लोकों में स्तुति), **दयाशतक** (भगवान् श्रीनिवास की दया का आध्यात्मिक रूपों में स्तवन), **गोदास्तुति** (२९ श्लोकों में आण्डाल की स्तुति) आदि। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण स्तोत्र-कृति है––**पादुका सहस्र**। स्तोत्रसाहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी 'पादुकासहस्र'[1] नामक स्तोत्र अलौकिक काव्यसम्पदा से मण्डित है। भगवान् रंगनाथ की पादुका की प्रशस्ति में निबद्ध यह काव्य ३२ पद्धतियों में विभक्त है जिनके नाम से वर्ण्य विषय का अनुमान लगाया जा सकता है––प्रस्ताव पद्धति, समाख्या पद्धति, समर्पण पद्धति आदि। कहना न होगा कि यह स्तोत्ररत्न सरस, रसपेशल तथा भक्ति-स्निग्ध होने के अतिरिक्त उपनिषद् के तत्त्वों के प्रतिपादक तथ्यों से भी सर्वथा मण्डित है। नादपद्धति (संख्या १४) में विशेपरूप से दार्शनिक तथ्यों का प्रतिपादन है और चित्रपद्धति (संख्या ३०) में नाना प्रकार के चित्रालङ्कारों का प्रदर्शन है। इतनी रससान्द्र विशाल मधुर रचना की अन्यत्र उपलब्धि विरल ही है। वेंकटाध्वरी ने प्रायः इसी काव्य से प्रेरणा तथा स्फूर्ति ग्रहण कर अपने अनुपम 'लक्ष्मीसहस्र' का निर्माण किया।

श्रीकृष्ण की पादुका के संचरण का प्रभाव देखिये––

वृद्धिं गवाँ जनयितुं भजता विहारान् कृष्णेन रङ्गरसिकेन कृताश्रयायाः।
सञ्चारतस्तव तदा मणिपादरक्षे ! वृन्दावनं सपदि नन्दनतुल्यमासीत्॥

पादुका के आश्रयण पर यदि दुःखों की निवृत्ति नहीं होती, तो प्रपन्नों के रक्षण से उत्पन्न कीर्ति को लज्जित होना पड़ेगा––

मातस्त्वदर्पितभरस्य मुकुन्दपादे भद्रेतराणि यदि नाम भवन्ति भूयः।
कीर्तिः प्रपन्नपरिरक्षण-दीक्षितायाः किं न त्रपेत तव काञ्चनपादरक्षे ॥९५८

वेंकटाध्वरी

वेदान्तदेशिक के 'पादुका-सहस्र' से स्फूर्ति ग्रहण कर वेंकटाध्वरी ने भगवती लक्ष्मी की स्तुति **'लक्ष्मीसहस्र'** नामक अनुपम स्तोत्र का प्रणयन किया। इन्होंने अपने 'विश्व-गुणादर्श चम्पू' में मद्रास में आने वाले अंग्रेजों को 'हूण' शब्द से अभिहित किया है तथा उनके कदाचारों का यथार्थ वर्णन किया है। अतः इनका समय १७ शती का पूर्वार्ध है। ये काञ्ची के निवासी श्रीवैष्णव मतानुयायी द्रविड़ ब्राह्मण थे। इस स्तोत्ररत्न में भगवती

१. **'पादुकासहस्र' मूलमात्र, पार्थसारथि एड्वोकेट देवकोट्टै द्वारा प्रकाशित।**

लक्ष्मी की स्तुति पूरे एक हजार पद्यों में की गई है। सैकड़ों श्लोक तो लक्ष्मी के ललित अंग के वर्णन में लिखे गये हैं। इस काव्य में अलंकारों की छटा सुतरां अवलोकनीय है। वेंकटाध्वरि मुख्यतः शब्द-कवि है। श्लेष लिखने में ये बेजोड़ हैं। इनका हृदय भक्ति-भावना से नितान्त आप्यायित है, परन्तु उनके पाण्डित्य का प्रकर्ष कम नहीं है। कभी वे भगवती से दया की भिक्षा माँगते हैं, तो कभी वे उनकी विरुदावलि गाने में व्यस्त हो जाते हैं। कभी उनकी दृष्टि लक्ष्मी जी के अंगों के सौंदर्य पर गड़ जाती है, तो कभी उनके श्रवण भगवती के गुणों के सुनने में लग जाते हैं। इन्होंने जो कुछ लिखा है उससे अलौकिक प्रतिभा, नित्यनूतन उत्प्रेक्षा और कमनीय रचनाचातुरी का परिचय मिलता है। संस्कृतभाषा में यह रसपेशल तथा उत्प्रेक्षामण्डित काव्य लिखकर वेंकटाध्वरि सच-मुच अमर हो गये हैं।

भगवती लक्ष्मी की कटि का यह वर्णन कल्पना में एकदम बेजोड़ है—

परमादिषु मातरादिमं यदिमं कोषकृताह मध्यमम् ।
अमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः ॥

हे मातः ! आप जगत् की जननी हैं। आपकी कटि इस सृष्टि के आदि में विद्य-मान व्यक्तियों में आदिम है—प्रथम है। भगवती सृष्टि की विधायिका ठहरीं, उनकी कटि सबसे आदि वस्तु है। ऐसी उत्तम वस्तु को अमर नामक कोशरचयिता ने मध्यम (नीच) बतलाया है। 'कटि' का पर्याय 'मध्य' या 'मध्यम' है। 'मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः। इस अनुचित-कथन की सजा उसे खूब मिली। वह तो ठहरा अमर-श्रेष्ठ देवता, पर इसी अपराध के कारण वह बन गया पामर, नीच तथा मध्यम, मध्यलोक का निवासी मनुष्य। देवता का मर्त्यलोक में जन्म लेना महान् दण्ड है। अब इसके श्लिष्ट अर्थ पर विचार कीजिए। 'परम' का अर्थ है—पर है मकार जिसमें, अर्थात् मकरान्त शब्द। 'आदिम' का अर्थ है—आदि में 'म' वाले शब्द तथा इसी रीति से 'मध्यम' से तात्पर्य मध्य में मकार वाले शब्दों से है। लक्ष्मी जी का मध्यम अंतिम मकार वाले शब्दों में आदि मकारवाला भी है, परन्तु फिर भी कोशकार उसे मध्य मकार वाला बतलाता है। इस उल्टी बात का फल यह हुआ कि वह स्वयं मध्यम (मध्य-मकार वाला) बन गया। 'अमर' के बीच में मकार है। अतः बुरे कथन का फल उसे ही मिला। वह स्वयं मध्यम बन गया। यहाँ प्रसन्न श्लेष की छटा सुतरां विलोकनीय है। प्रतिभा के साथ पाण्डित्य का मेल नितान्त सुन्दर है।

सोमेश्वर

'कीर्ति-कौमुदी' महाकाव्य और **'उल्लास-राघव'** नामक नाटक की तरह ही **रामशतक** काव्य में भी सोमेश्वर एक उच्चकोटि के कवि के रूप में दीख पड़ते हैं। 'राम-शतक' के कर्ता के समक्ष 'सूर्यशतक' और 'चण्डीशतक' के नमूने प्रस्तुत होते हुए भी किसी भी स्थान पर इन प्राचीनतर काव्यों का सोमेश्वर ने अनुकरण नहीं किया, किन्तु इतना ही कहा जा सकता है कि इन स्तोत्रों की लोकप्रियता से सोमेश्वर को इस रचना के लिए प्रेरणामात्र मिली हो। संस्कृत-साहित्य के उत्तरकाल में रचित स्तोत्रों की कृत्रिम शैली से 'रामशतक' सर्वथा मुक्त है । इसके विपरीत 'कीर्ति-कौमुदी' की

तरह इस काव्य का भी प्रसादगुण उल्लेख्य है। इस शतक में राम के समग्र जीवन को क्रमशः आधारित कर यह स्रग्धरामयी स्तुति सोमेश्वर ने प्रस्तुत की। भक्ति भाव और सहृदयता से 'रामशतक' साद्यन्त ओत-प्रोत है। सौ स्रग्धराओं से जोड़ी हुई ये कड़ियाँ लम्बे वृत्त पर कर्ता का प्रभुत्व भी बतलाती हैं और यही एकमात्र स्तोत्र संस्कृत स्तोत्र-साहित्य में कर्ता को सम्माननीय स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है।

विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी दृष्टि से राम का दर्शन करते थे, इसका मनोहर वर्णन कवि कर रहा है--

> पुण्यानां प्राक्तनानां फलमिति जनकेनान्तरात्मेति मात्रा
> साक्षादक्षीयमाणप्रणयनिधिरिति मातृभिश्च त्रिभिर्यः।
> नीतिमूर्तीत्यमात्यैः परपुरुष इति ज्ञानिभिर्ज्ञायमानः
> प्राप प्रौढि—क्रमेण दृढयतु नितरां राघवः स श्रियं वः॥

अर्थात् पिता ने पूर्व पुण्य के फल के रूप में, कौशल्या ने अन्तरात्मा के रूप में, तीनों माताओं ने साक्षात् अक्षय प्रेमनिधि के रूप में, अमात्यों ने नीतिमूर्ति के रूप में और ज्ञानियों ने परम-पुरुष के रूप में जिन्हें पहचाना, ऐसे युवावस्था प्राप्त कर रहे राघव आप सबकी श्री दृढ़ करें (श्लोक ६)।

रामचन्द्रजी ने जब वन में प्रवेश किया तब वन-श्री ने उनका जिस प्रकार स्वागत किया, उसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

> सन्दोहे पादपानां विकिरति कुसुमस्तोममुच्चैः पिकानां
> गीते नृत्यं श्रितासु व्रततिषु मरुता कीचकेषु ध्वनत्सु।
> संगीतं काननेन प्रथितमिव मुदा यत्र नाथे त्रयाणां
> लोकानामभ्युपेते स भवदवभयात् पातु पीताम्बरो वः॥

अर्थात् वृक्षसमूहों ने पुष्प बिखेरे, कोयलों ने उच्च स्वर से गीत गाये, लताओं ने नृत्य किया, पवन ने बाँसों (कीचकों) में धुन बजायी, याने बाँसुरी बजायी। तीनों लोकों के नाथ जिन रामचन्द्र का प्रवेश होते समय वन ने मानो आनन्दविभोर होकर इस तरह संगीत शुरू कर दिया, वे पीताम्बर-धारी संसार-दावानल के भय से आप सबकी रक्षा करें।

रामभद्र दीक्षित

रामविषयक स्तोत्रों की रचना में रामभद्र दीक्षित का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने इस विषय में अनेक स्तोत्रों का निर्माण किया है। रामभद्र दीक्षित नीलकण्ठ दीक्षित के सुयोग्य शिष्य थे और तंजोर के विद्याप्रेमी राजा शाहजी प्रथम (१६८४ ई०-१७११ ई०) के सभाकवि थे। अतएव उनका समय १७वीं का अन्तिम चरण है। इनके स्तोत्रों में उल्लेखनीय हैं---(१) **रामचापस्तव** जिसके १११ शार्दूलविक्रीडित पद्यों में रामचन्द्र के धनुष का बड़ा प्रौढ़ तथा उत्तेजक वर्णन है। (२) इनके **रामबाणस्तव** में

---

१. गा० ओ० सी० (बड़ोदा से) सोमेश्वर के 'उल्लास-राघव' नामक नाटक के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित।

भी रामचन्द्र के धनुष का वर्णन प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द में १०८ पद्य हैं। गौडी रीति में निबद्ध कविता वीररस से उद्दीप्त तथा प्रभाव से सम्पन्न है। इनका (३) **विश्वगर्भस्तव जानकीजानि** स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसके १२५ पद्यों के अन्तिम चरण में 'तस्मै प्रांजलिरस्मि दाशरथये श्री जानकीजानये' समस्या की पूर्ति की गयी है। यह स्तोत्र मंजुल भावों से सम्पन्न तथा भक्तों का हृदयावर्जक है। जगत् के विषम दुःखों से पीडित होकर कवि जानकीनाथ के शरण में जाने की शिक्षा देता है। (४) **वर्णमाला स्तोत्र** में ५० पद्यों की रचना वर्णमाला के अक्षरक्रम से की गई है। इनमें भी भगवान् श्रीरामचन्द्र की विशद रसस्निग्ध स्तुति है। भाषा सरस तथा शैली प्रसादमयी है। उदाहरण के लिए एक श्लोक पर्याप्त है—

रम्योज्ज्वलस्तव पुरा रघुवीर देहः कामप्रदो यदभवत्कमलालयायै।
चित्रं किमत्र चरणाम्बुजरेणुरेव कामं ददौ न मुनये किमु गौतमाय ॥

(५) रामभद्र दीक्षित का **रामाष्ट-प्रास** शब्दविन्यास में एक विचित्रता से मण्डित है। इसमें ११६ पद्य शार्दूलविक्रीडित में हैं और प्रत्येक पाद में दो दो अनुप्रास हैं। तमिल भाषा के काव्य में प्रतिचरण द्वितीय वर्ण के अनुप्रास पर विशेष आग्रह रहता है। इसी मान्यता को ग्रहण कर कवि ने शार्दूलविक्रीडित के प्रतिचरण के दोनों खण्डों में (१२, ७) द्वितीय वर्णका अनुप्रास रखा है। इसमें कविका शब्दपाण्डित्य विशेष रूपेण लक्षित होता है।

दानीयो रचितः श्रियामपि रिपोरानीय येनानुजः
पानीयाकरमेव योऽस्त्रशिखिना, ऽतानीदपोढ—स्मयम्।
आनीते विभवं च यस्य स वसन्मौनी वटद्रोस्तले
यानीमं शरणं मनोविहरण-स्थानीकृतं सीतया ॥

श्लोक का आशय है कि राम ने शत्रु रावण के अनुज को लक्ष्मी का दानीय (दानयोग्य) बना दिया, जिन्होंने समुद्र को अपने अस्त्र की अग्नि से गर्वरहित कर दिया; वट वृक्ष के नीचे रहने वाले मौनी शंकर जिनके माहात्म्य को जानते हैं; सीता को मनोविहार के स्थान रूप उन श्रीराम के शरण में मैं जाता हूँ। यहाँ द्वितीय अक्षर 'नी' का अनुप्रास प्रति चरण में ही नहीं, प्रत्युत यति के अनन्तर भी द्वितीय स्थान पर है। फलतः यह पद्य 'अष्ट प्रास' (आठ अनुप्रास) से मण्डित है।

राकानाथ-निभाननं वसुमती—नोकाभिरामाकृतिं
पाकाराति-पुरःसरामरसदः शोकापनोदक्षमम्।
कोकानन्दन-वंशज-व्रतपरी,-पाकावकृष्टोदयं
केकावन्नवपिञ्छनीलवपुषं, लोकामहे चेतसि ॥

इस पद्य में भी प्रतियति द्वितीय वर्ण 'का' का आठ अनुप्रास प्रयुक्त हैं। यह समस्त स्तोत्र रामभद्र दीक्षित के संस्कृत भाषा पर पाण्डित्य का सद्यः द्योतक है।

---

१ तथा २ का प्रकाशन काव्यमाला के १२वें गुच्छक में, ३ का १४ गुच्छक में, ४ का १३ गुच्छक में तथा ५ का दशक गुच्छक में किया गया है।

सुदर्शन शतक

'कूरनारायण' रचित **सुदर्शन-शतक**[1] काव्य प्रौढ़ि की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है। इसका रचयिता कवि द्रविड़देशीय रामानुजसम्प्रदाय का अनुयायी प्रतीत होता है। निश्चित समय का पता नहीं चलता; अर्वाचीन मानना उचित है। नारायण के विशिष्ट आयुध सुदर्शनचक्र का स्रग्धरा में निर्मित यह कवित्वमय वर्णन कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा का नमूना है।

जानकी–चरण–चामर

जानकीचरण-चामर[2] नामक स्तोत्र भी पर्याप्तरूपेण उदात्त भावना से तथा आलंकरिक प्रौढ़ता से मण्डित है। भगवती सीता के चरणों की यह प्रशस्त स्तुति कवि की भावुकता की कसौटी है। एक सौ ग्यारह शिखरिणी वृत्तों में यह समाप्त है। शब्दों की योजना, भावों की कमनीयता सर्वत्र दर्शनीय है। कवि का नाम **श्रीनिवासाचार्य** है और उसके पिता का कौन्तेयाचार्य। ये द्रविड़ प्रतीत होते हैं।

मधुसूदन सरस्वती

मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) के **"आनन्द-मन्दाकिनी"**[3] नामक स्तोत्र का भी यही विषय है––विष्णु के स्वरूप का नितान्त स्निग्ध वर्णन। **मधुसूदन सरस्वती** प्रसिद्ध अद्वैतवादी होने पर भी बड़े भारी भावुक कवि थे। उन्होंने भक्ति के स्वरूप-विवेचन के निमित्त **'भक्ति-रसायन'** जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उसी प्रकार कृष्ण की स्तुति में भी विशेष कविता लिखी है। आनन्द-मन्दाकिनी (१०२ पद्य) की कविता बड़ी कोमल, रस से स्निग्ध तथा माधुर्य से मण्डित है, जिसमें भक्ति-रस से पेशल कवि-हृदय की पूर्ण अभिव्यक्ति हो रही है। माधव भट्ट का **दानलीला**[4] काव्य कृष्ण और गोपियों की एक विशेष लीला के आधार पर लिखा गया लघु काव्य है। माधव भट्ट कर्णाटक देश के निवासी थे। ४८ पद्यों में कृष्ण की दानलीला का विशेष वर्णन रोचक भाषा में यहाँ किया गया है। रचना काल १६२८ संवत् (=१५७१ ई०) है। इससे एक शतक पीछे नारायण भट्ट, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ का समय आता है।

नारायण भट्ट

नारायणीय केरल देश का सबसे अधिक प्रख्यात स्तोत्र ग्रन्थ है। नारायण की स्तुति में निर्मित नारायण कवि द्वारा प्रणीत होने से इस काव्य का 'नारायणीय' नाम सर्वथा अन्वर्थक है। इस स्तोत्र-काव्य के प्रणेता प्रतिभाशाली कवि **नारायण** का परिचय पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। **नारायणभट्ट** केरल देश में नीलानदी के उत्तरतीरवर्ती तिरुनावा मन्दिर के पास मेप्पुत्तूर नामक मठ में मातृदत्त नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। अच्युत पिषारोटि नामक विद्वान

---

१. काव्यमाला अष्टम गुच्छक में प्रकाशित।

२. काव्यमाला षष्ठ गुच्छक में प्रकाशित।

३. काव्यमाला गुच्छक २ में प्रकाशित।

४. " " ३ " ।

से इन्होंने व्याकरण आदि नाना शास्त्रों का अध्ययन किया। वायुरोग से पीड़ित होने पर इन्होंने गुरुवायूर मन्दिर के उपास्य श्रीकृष्ण की स्तुति इस विपुल स्तोत्र के द्वारा की और फलरूप उस विकट रोग से मुक्त हुए—इसकी सूचना प्रायः स्तोत्र के पद्यों में उपलब्ध होती है। इस स्तोत्र के निर्माण से इनकी विपुल कीर्ति केरल देश में खूब फैली। अम्ब-लप्पुल के अधिपति राजा देवनारायण ने इन्हें अपना सभापण्डित बनाया और उन्हीं की प्रेरणा तथा आदेश से इन्होंने **प्रक्रिया-सर्वस्व** नामक प्रमेयबहुल व्याकरण ग्रन्थ लिखा जिसे भट्टोजिदीक्षित ने भी समादृत किया। इनके ग्रन्थों की संख्या १८ है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) नारायणीयम्, (२) मानमेयोदय (मीमांसा), (३) प्रक्रिया-सर्वस्व (व्याकरण), (४) धातुकाव्य, (५) अष्टमीचम्पू-काव्य (६) कैलासशैलवर्णना, (७) कौन्तेयाष्टक, (८) अहल्याशापमोक्ष, (९) पुष्पोद्भेद—अमरुकशतक की व्याख्या, (१०) शूर्पणखाप्रलाप, (११) रामकथा, (१२) दूतवाक्यप्रबन्ध, (१३) नालायनी-चरित, (१४) नृगमोक्ष प्रबन्ध, (१५) राजसूयप्रबन्ध, (१६) सुभद्राहरण-प्रबन्ध, (१७) स्वाहासुधाकर, (१८) कोटियविरह—सङ्गीतकेतु-शृङ्गारलीलाचरित।

अन्तरङ्ग परीक्षा से 'नारायणीय' की रचना का काल १५९० ई० पता चलता है। फलतः नारायणभट्ट का आविर्भावकाल १६वीं शती का अन्तिम भाग तथा १७ वीं शती का आरम्भकाल माना जा सकता है। नारायणभट्ट की काव्य-प्रतिभा का मेरुदण्ड है **नारायणीय काव्य**। गुरुवायूर के मन्दिर में बालकृष्ण की प्रतिमा स्थापित है, जो आज भी केरल का सर्वप्रख्यात जीवित तीर्थक्षेत्र है। यहीं रह कर नारायणभट्ट ने वातरोग की निवृत्ति के लिए इस महनीय स्तोत्र की रचना की। यह श्रीमद्भागवत की कथा का आधार लेकर विरचित है—ठीक स्कन्ध-क्रम से। इसमें पूरे एक शतक का दशक हैं। दशपद्यों के भीतर किसी विशिष्ट कथानक का वर्णन है। पद्य संख्या है एक सहस्र से कुछ ऊपर (१०३६ पद्य)। इसके ऊपर **देशमङ्गलकार्य** नामक ग्रन्थकार ने **'भक्तप्रिया'** नाम्नी टीका लिखी है।[1] दशम स्कन्ध की कथा के ऊपर नारायणभट्ट का पूर्ण आग्रह है। पूरे ग्रन्थ का आधा भाग इसी स्कन्ध के कथानकों के वर्णन में समाप्त हुआ है जिसमें पूरे पद्यों की संख्या ५९६ है। यह है तो भगवान् की स्तुति, परन्तु तदन्तर्गत तत्तत् कथाओं तथा प्रसङ्गों का भी विवरण दिया गया है। कृष्णपरक काव्यों का मुकुटमणि 'नारायणीयम्' सरस, सुबोध तथा सरल है। कविता वैदर्भी में उपन्यस्त है। प्रसाद गुण की सुषमा अव-लोकनीय हैं। दो-चार पद्य नमूने के तौर यहाँ उद्धृत हैं—

रास के लिए इच्छुक होने पर भी कारणवश अपने घर से बाहर न जाने वाली गोपिका को चिन्तन से ही मोक्ष प्राप्त हुआ—(६५ दशक, पद्य ७)

काश्चिद् गृहात् किल निरेतुमपारयन्त्यस्त्वामेव देव ! हृदये सुदृढं विभाव्य।
देहं विधूय परचित्-सुखरूपमेकं त्वामाविशन् परमिमा ननु धन्यधन्याः॥

---

१. इस टीका के साथ मूलग्रन्थ का संस्करण अनन्तशयन ग्रन्थमाला में (ग्रन्थांक १८) १९१२ ई० तथा हिन्दी अनुवाद गीता प्रेस से १९७२ ई० प्रकाशित है।

वैकुण्ठ का यह स्वरूप देखिये—(३।८)—

> माया यत्र कदापि नो विकुरुते भाते जगद्भ्यो बहिः
> शोकक्रोधविमोहसाध्वसमुखा भावास्तु दूरं गताः।
> सान्द्रानन्दझटी च यत्र परमज्योतिः प्रकाशात्मके
> तत् ते धाम विभावितं विजयते वैकुण्ठरूपं विभो॥

पूतना के चरित की यह झाँकी इस पद्य में देखिये (४०।३)—

> ललितभावविलासहृतात्मभिर्युवतिभिः प्रतिरोद्धुमपारिता।
> स्तनमसौ भवनान्तनिषेदुषी प्रददुषी भवते कपटात्मने॥

आदि से अन्त तक भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है, परन्तु तन्मुखेन समस्त कृष्णचरित का भी आलोचन किया गया है—यही इस भक्तिप्रवण काव्य का वैशिष्ट्य है।

अप्पयदीक्षित

शैवदर्शन के महनीय आचार्य अप्पयदीक्षित की रचना होने पर भी कांची के भगवान् वरदराज की यह स्तुति **'वरदराजस्तव'** अपनी मंजुल भावना और उदात्त दार्शनिक विचारों के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। श्री वेदान्तदेशिक ने भी वरदराज की स्तुति लिखी है और इसी स्तुति से अप्पयदीक्षित की कृति प्रभावित तथा उन्माहित प्रतीत होती है। १०६ सुन्दर श्लोकों में भगवान् के रूप का वर्णन बड़ी ही कमनीय भाषा में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दीक्षितजी नितान्त उदार भक्त तथा दार्शनिक थे।

पण्डितराज जगन्नाथ

अपने समय के बड़े ही उच्चकोटि के विद्वान् तथा सरस कवि थे। ये काशी-निवासी पेद्द भट्ट के पुत्र थे तथा जात्या आंध्र ब्राह्मण थे। तत्कालीन दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उसके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिये दिल्ली गये। उनकी विद्वता से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने इन्हें **पण्डितराज** की उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने अपना परिचय देते हुए दिल्लीपति के द्वारा आश्रय पाने की घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। युवावस्था में दिल्ली के बादशाह के आश्रय में अपना जीवन बिताया और वृद्धावस्था में मथुरा में निवास किया। पण्डितराज परम वैष्णव थे—जिसका परिचय वृद्धावस्था में मथुरा निवास के अतिरिक्त उनकी भक्तिमयी कविताओं से विशेष रूप से मिलता है। अपने चंचल चित्त को उपदेश देते समय पण्डितराज की यह उक्ति उनके वैष्णवत्व का पर्याप्त सूचक है (भामिनीविलास, चतुर्थ उ०)—

> रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
> वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
> सौन्दर्याद्भुतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
> रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥

रे चित्त! मैं तेरे हित की बात कहता हूँ, जरा ध्यान देना। कभी भूलकर भी वृन्दावन में गायों को चराने वाले नवनील मेघ के समान शरीरवाले से मित्रता

न करना, नहीं तो बड़ी हानि होगी. वह बड़ा चालाक मनुष्य है। अपनी मधुर मुस्कराहट में मुग्ध कर तुम्हें और तुम्हारे प्यारे विषयों का क्षण भर में नाश कर देगा। जरा सँभल कर रहना। कितना भक्तिरस–पूर्ण मार्मिक उपदेश है।

पण्डितराज स्वयं अच्छे आलोचक थे। प्राचीन शास्त्रकारों के विषय में बड़ी श्रद्धा रखते थे। काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनेक सिद्धान्तों का उन्होंने खण्डन किया है, परन्तु शिष्ट भाषा में. स्थान-स्थान पर उन्हें 'सहृदयशिरोमणि' कहा है। परन्तु समकालीन अनेक विद्वानों के साथ आपकी अनबन थी, खास कर भट्टोजिदीक्षित और अप्पय-दीक्षित से। सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा आदि ग्रन्थों के कर्ता भट्टोजिदीक्षित से अनबन का कारण यह था कि दीक्षितजी ने इनके गुरु वीरेश्वर के पिता शेष श्रीकृष्ण-रचित प्रक्रिया-कौमुदी की टीका **'प्रक्रिया-प्रकाश'** का खण्डन अपनी मनोरमा में किया था। अतएव जगन्नाथ ने गुरुभक्ति का अगाध परिचय देते हुए **'मनोरमाकुचमर्दन'** नामक ग्रन्थ में दीक्षितजी की 'मनोरमा' का खण्डन बड़े घटाटोप के साथ किया। अप्पयदीक्षित से भी बड़ी अनबन थी। कारण कुल-जातिगत वैमनस्य कहा जाता है। दीक्षित जी कांची के अलौकिक दार्शनिक तथा प्रतिभाशाली द्रविड़ कवि थे। आपने 'कुवलयानन्द' तथा 'चित्रमीमांसा' नामक अलंकार ग्रन्थों की भी रचना की है, जिनका खण्डन रसगंगा-धर में खूब किया गया है। 'चित्रमीमांसा' के खण्डन में 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नामक स्वतन्त्र पुस्तक ही जगन्नाथ ने बनाई।

संस्कृत साहित्य में पण्डितराज अपनी अभिमान-भरी गर्वोक्तियों के लिए भी खूब प्रसिद्ध हैं। भवभूति तथा श्रीहर्ष के समान इनमें आत्माभिमान की मात्रा अधिक थी। एक पद्य में इनकी साभिमान घोषणा है कि साक्षात् सरस्वती वीणा बजाने में आदर कम करके जिसके वचनों के अमृतमय रस को पीती है उसी पण्डितराज के श्रवण-सुभग वचन को सुनकर दो ही सिर नहीं हिलाते—एक नरपशु (पशु-तुल्य मनुष्य) और दूसरा साक्षात् पशुपति (शिव)। मनुष्यत्वयुक्त किस प्राणी को वह वाणी नहीं भाती?

पण्डितराज जगन्नाथ रसमयी पद्धति के प्रौढ़ कवि प्रतीत होते हैं। काव्य लिखने में इनकी प्रतिभा अलौकिक थी। इनकी शैली प्रसादमयी तथा कल्पना की उड़ान नितान्त ऊँची थी। भगवान् की स्तुति में इन्होंने अपने कोमल भावपूर्ण हृदय का परिचय दिया है। भाव बड़े कोमल तथा रुचिर हैं। मुगल दरबार में आदर-पूर्वक रहने पर भी इनकी कविता दरबारी नहीं है। **'जगदाभरण'** काव्य में दाराशिकोह का, **'आसफ-विलास'** (गद्य काव्य) में नवाब आसफ खाँ का तथा **'प्राणाभरण'** काव्य में कामरूप के राजा प्राणनारायण का वर्णन अवश्य इन्होंने किया है, परन्तु देव-विषयक प्रशस्तियों के लिखने में इनका हृदय विशेष रमता था। कवित्व के साथ पाण्डित्य का मंजुल सम्मि-लन इनके काव्यों में विशेष मिलता है। कविता लिखने की शक्ति इतनी अधिक थी कि इन्होंने रसगंगाधर में अलंकारों तथा रसों के उदाहरण के लिए अपने नये श्लोक बनाये; किसी प्राचीन उदाहरण को उच्छिष्ट समझकर छूना भी इन्होंने उचित नहीं समझा।

इनके काव्यग्रन्थों में पाँच लहरियों का स्थान मुख्य है। इन लहरियों के नाम ये हैं —(१) करुणा-लहरी, जिसमें भगवान् की दया की प्रार्थना की गई है। (२) गंगा-

लहरी या पीयूष-लहरी, (३) अमृत-लहरी (यमुना की स्तुति); (४) लक्ष्मी-लहरी (लक्ष्मीजी की स्तुति), (५) सुधा-लहरी (सूर्यस्तुति)। इनके स्फुट पद्यों का संग्रह 'भामिनी-विलास' में किया गया है।

(१) **करुणालहरी**—६० पद्यों की यह लहरी भगवान् के चरणारविन्द में कवि की एक विनीत प्रार्थना प्रस्तुत करती है। इसमें आत्म-समर्पण की प्रशस्त भावना है। भावों की कोमलता तथा पदों के मनोरम विन्यास द्वारा कवि अपने भक्तिपूरित हृदय का उद्गार सद्यः प्रकट करता है। कवि की यह उक्ति कितनी मार्मिक है कि गड्ढे के किनारे पर खड़े शिशु को राह चलता आदमी भी जोरों से पकड़ कर रोक देता है, परन्तु संसार-सागर में गिरता हुआ यह प्राणी संसार के जनक भगवान् के द्वारा क्या निवारणीय नहीं है—

> अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात्।
> जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथ विभो॥

(२) **गंगालहरी**—भगवती भागीरथी की सुन्दर शिखरिणी वृत्त में कमनीय स्तुति अपने भावोद्रेक के लिए रसिकों में विश्रुत लोकप्रिय स्तुति है। इसमें ५२.पद्य हैं। (३) **अमृत लहरी**—नितान्त लघुकाय है जिसमें केवल दश पद्यों के द्वारा यमुना की स्तुति प्रस्तुत की गई है। (४) **सुधालहरी**—तीस स्रग्धरा वृत्तों में निबद्ध भगवान् सूर्यदेवी की प्रौढ़ स्तुति है। इसमें पदों की प्रौढ़ि, समासों का बाहुल्य, घटाटोप शब्दों का प्रयोग नितान्त आवर्जक तथा आकर्षक है। (५) **लक्ष्मीलहरी**—एकतालीस शिखरणी पद्यों से संवलित भगवती लक्ष्मी की कोमल वर्णावलिमयी स्तुति है जिसमें कवि की नवीन कल्पना सहृदयों का मनोरंजन हठात् करती हैं। भगवती लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष का फल बड़ी सुन्दरता से वर्णित है—

> समीपे सगीत – स्वरमधुरभङ्गी मृगदृशां
> विदूरे दानान्धद्विरदकलभोद्दामनिनदः।
> बहिर्द्वारे तेषां भवति हयहेषाकलकलो
> दृगेषा ते येषामुपरि कमले देवि सदया॥

हे कमले, आपकी दयादृष्टि जिस व्यक्ति पर पड़ जाती है उसके समीप में मृगनयनियों के संगीत स्वर की माधुरी उल्लसित होती है; दूर पर मदमत्त हस्तियों के बच्चों का उद्दाम कलकल सुनाई पड़ता है तथा उसके द्वार का बाहरी भाग घोड़ों के हिनहिनाहट से गूंजने लगता है। एक क्षण में वह वैभवशाली बन जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ की कविता में स्वाभाविक प्रवाह है, पदों की मनोरम शय्या है तथा कल्पना का अभिराम चमत्कार है। भगवान् कृष्ण के चरणारविंद में उनकी गाढ़ भक्ति थी। इसी कारण उनके काव्य भक्तिरस से स्निग्ध हैं। हम उनके

---

१. करुणालहरी का प्रकाशन काव्यमाला द्वितीय गुच्छक में, अमृतलहरी तथा सुधालहरी का प्रथम गुच्छक में, तथा लक्ष्मीलहरी का द्वितीय गुच्छक में किया गया है। भामिनी विलास टीका के साथ निर्णयसागर से प्रकाशित है।

काव्य को 'द्राक्षापाक' का सुन्दर उदाहरण मानते हैं। कालिन्दी के किनारे गोपियों के साथ विहार करनेवाले व्रजचन्द्र श्रीकृष्ण की सुषमा बड़े ही सुन्दर शब्दों में चित्रित की गई है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभंगुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमति-चुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥

शाहजहाँ के सभा-पण्डित होने से पण्डितराज जगन्नाथ का जीवनकाल १५९० ई०—१६६५ ई० के आसपास माना जा सकता है। उनके व्यवहार से असन्तुष्ट अनेक विरोधी उस समय विद्यमान थे, परन्तु पण्डितराज का प्रभाव काशी तथा दक्षिण के अनेक कवियों के ऊपर स्पष्टरूप से पड़ा था। और १७ वें शतक के उत्तरार्ध में होने से ये कवि उनके प्रायः समकालीन अथवा कुछ ही पश्चाद्वर्त्ती थे। काशी के **भास्कर कवि** (अन्य नाम हरि कवि) ने अपने सुभाषितग्रन्थ 'पद्यामृत-तरंगिणी' में (जिसकी रचना १६७६ में हुई थी) पण्डितराज का एक पद्य उद्धृत किया है। सूरत के निवासी हरिकवि (भानुभट्ट) ने अपनी 'सुभाषित-हारावलि' में पण्डितराज के पाँच पद्यों को उद्धृत किया है। मराठी भाषा के विख्यात कवि **वामनपण्डित** (१६३६ ई०–१६९५ ई०) ने पण्डितराज की 'गंगा-लहरी' का समश्लोकी शिखरिणी में बड़ा ही सुन्दर मराठी अनुवाद किया, जो आज भी नितान्त लोकप्रिय है। महाराष्ट्रीय कवियों के ऊपर जगन्नाथ के व्यापक प्रभाव का यह भव्य निदर्शन है।

शैव-स्तोत्र

शाक्तस्तोत्रों के प्रणेता के रूप में **दुर्वासा** की ख्याति पर्याप्त रूपेण विस्तृत है, परन्तु वे एक महनीय दार्शनिक शैव-स्तोत्र के निर्माण के कारण भी कम प्रख्यात नहीं हैं। इस स्तोत्र का नाम है **परशम्भुमहिम्नःस्तव**[1]। यह तेरह प्रकरणों में विभक्त, तान्त्रिकतथ्य-बहुल, गम्भीरार्थ-प्रकाशक शैवस्तोत्र है, जिसके कतिपय प्रकरणों के अभिधान ही वर्ण्य विषय के द्योतक है—पराशक्तिस्कन्धरश्मि, इच्छाशक्तिस्कन्धरश्मि, ज्ञानशक्ति स्कन्ध-रश्मि, कुण्डलिनीशक्तिस्कन्धरश्मि, षडन्वयरश्मिविवेक आदि। दुर्वासा शिव की स्तुति में कह रहे हैं (१३।६)—

श्रुति-स्मृति-मिथःपथे प्रचलितोऽहमेकान्ततः
प्रभोः शिवगुरोस्तव त्रिजगदुन्नताज्ञां गतः।
भजामि परपावकं त्रिजगदात्महव्याशिनं
भवन्तमधिदैवतं भववने ज्वलन्तं स्वतः॥१३।६॥

१. '**मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य**' नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रकाशित पृ० २२०–२४० (चौखम्भा, वाराणसी, १९६६)।

लङ्केश्वर द्वारा विरचित **शिवस्तुति**[1] केवल दश पद्यों की है, परन्तु उसकी साहित्यिक सुषमा नितान्त श्लाघनीय है। इसके रचनाकाल के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि अप्पय दीक्षित (१६ शती) से यह प्राचीनतर है, क्योंकि उन्होंने 'कुवलयानन्द' में अनुज्ञालंकार के उदाहरण में इस पद्य को उद्धृत किया है—

भवद्भवन-देहली-विकट-तुण्डदण्डाहति-
त्रुटन्मुकुट-कोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते ।
व्रजेम भवदन्तिकं प्रकृतिमेत्य पैशाचिकीं
किमित्यमरसम्पदः प्रमथनाथ नाथाम हे ॥

जिसमें शंकर के समीप पिशाच बनकर निवास करने को अमरपुरी के अधिपति इन्द्रपद की प्राप्ति से बढ़कर सिद्ध किया गया है। **शंकराचार्य** के शैव-स्तोत्रों में स्रग्धरा में निबन्ध दो स्तोत्र बड़े महत्त्व के हैं। एक है **शिवपादादि-केशान्तवर्णनस्तोत्र**[2] (४१ पद्य) और दूसरा है **शिवकेशादिपादान्तवर्णनस्तोत्र**[3] (२९ पद्य)। नाम से ही वर्ण्य विषय प्रकट है। भगवान् शंकर के अवयवों का सुभग भाषा में सुन्दर वर्णन नितान्त मोहक है।

काश्मीर अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा (त्रिक) दर्शन का पीठस्थल है। यहाँ के माहेश्वराचार्यों ने दार्शनिक ग्रन्थों के द्वारा त्रिक के तत्त्वों का ही प्रतिपादन नहीं किया प्रत्युत अपनी भक्तिरसाप्लावित शिव-स्तुतियों से उन्होंने जनसाधारण के हृदय में शंकर के प्रति भक्तिभावना को उद्बुद्ध किया। काश्मीरी कविजन भगवान् शंकर के अनुरागी उपासक थे और उन्होंने भी शिव की श्लाघनीय स्तुतियाँ निबद्ध की हैं। ऐसे आचार्यों में उत्पलदेव मुख्य हैं, जिनकी **'शिवस्तोत्रावली'** शैवस्तोत्रों में एक महनीय स्थान रखती है। इसमें २१ विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह है। इन सबका एक ही विषय है—भगवान् शंकर के अनन्त गुणों का वर्णन और उनके कमनीय गुणों की मधुर झाँकी। इन पद्यों के भाव बड़े उच्चकोटि के हैं। भगवान् शंकर से संपर्क रखने वाली छोटी से छोटी चीज हमारे भक्तकवि को प्यारी है, परन्तु उनके सम्बन्ध से रहित प्रशस्त वस्तु भी उचित नहीं लगती :—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥

[हे भगवन्, आपके कण्ठ के कोने में रखा गया कालकूट भी मेरे लिए महान् अमृत के समान पोषक तथा संजीवक है, परन्तु यदि आपके शरीर से पृथक् होकर रहने वाला अमृत भी हो, तो वह मुझे नहीं रुचता। भक्त-कवि की भावुकता कितने स्पष्ट अक्षरों में अभिव्यक्त हुई है।]

इनका समय नवम शताब्दी है। इनके प्रशिष्य अभिनवगुप्त (दशमशती का उत्तरार्ध) प्रत्यभिज्ञादर्शन के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं, जिन्होंने अपने बहुमूल्य

---

१. काव्यमाला प्रथम गुच्छक में प्रकाशित।

२.—३. काव्यमाला षष्ठ गुच्छक में प्रकाशित।

ग्रन्थों द्वारा इस दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उत्पलाचार्य इनके दादा गुरु थे। अभिनव ने अनेक शैव-स्तोत्रों का प्रणयन किया है, जिनमें **ईश्वर-स्तोत्र** या **भैरव-स्तोत्र** नितान्त विख्यात है। गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति तथा सरस पदों का विन्यास इसकी विशिष्टता है। इस स्तोत्र का पद्य यहाँ उद्‌धृत है—

अन्तक मां प्रति मा दृशमेनां क्रोधकरालतमां विनिधेहि।
शङ्कर-चिन्तन-सेवन-धीरो भीषण-भैरव-शक्तिमयोऽस्मि ॥

'राजतरंगिणी' के प्रख्यात लेखक **कल्हण** (१२वीं शती) का **अर्धनारीश्वर स्तोत्र** लघुकाय होने पर भी महत्त्वपूर्ण शैवस्तोत्र है। इसमें भगवान् शंकर तथा भगवती पार्वती के मिश्रित विग्रह की रमणीय छटा का वर्णन १८ पद्यों में रोचक शब्दों द्वारा किया गया है। काव्यमाला १४ गुच्छक में प्रकाशित यह स्तोत्र कल्हण की शिवभक्ति का परिचायक है।

कल्हण के समकालीन काश्मीर कवि **लोष्टक** का **'दीनाक्रन्दन-स्तोत्र'**[1] भक्तिरस से स्निग्ध हृदय के भावों की मधुर अभिव्यक्ति करने वाला नितान्त रमणीय स्तोत्र है। श्रीकण्ठचरित के अन्तिम सर्ग में लोष्टदेव (या लोष्टक) तथा उनके पूज्य पिता रम्यदेव का पर्याप्त परिचय प्राप्त है। **रम्यदेव** काश्मीर के महान् अध्यात्मचिन्तक वेदान्ती थे जो अपने छात्रों के संरक्षण तथा शिक्षण दोनों के लिए कल्पद्रुम थे। टीकाकार जोनराज के अनुसार इन्होंने 'इष्टसिद्धि' नामक वेदान्त-ग्रन्थ पर विवरण भी लिखा है। इन्हीं के सुयोग्य आत्मज लोष्टदेव अपने जीवन की सन्ध्या में संन्यासी बनकर वाराणसी में रहते थे। इससे पूर्व वे अपने पिता के साथ लंकक की सभा के मान्य कवि थे। लंकक की प्रशंसा में निर्मित इनके पद्य श्रीकण्ठ-चरित में निविष्ट हैं (अन्तिम सर्ग, श्लोक ३७-४७) यह स्तोत्र काशीवास के समय लिखित विश्वनाथजी की स्तुति में निबद्ध है (५४ पद्य), जिसका 'दीनाक्रन्दन' अभिधान दीनता की अभिव्यक्ति तथा सरस भावों की विज्ञप्ति के कारण सर्वथा समुचित है। कवि कहता है कि मैंने आपकी सेवा पहिले कभी नहीं की, तो क्या मुझ दीन पर दया नहीं करेंगे ? अपने नीचे आने वाले व्यक्ति के श्रम को अपरिचित होने पर भी, क्या वृक्ष दूर नहीं करता ? (३५)—

पूर्वं न चेद् विरचिता तव देव सेवा तेनैव नैव दयसे श्रयतो ममार्तिम्।
किं प्रागसंस्तुत इति प्रतिपन्नमूलच्छायं गतश्रमरुजं न तरुः करोति ॥

शैवस्तोत्रों के प्रणयन में जगद्धरभट्ट का नाम प्रमुख है। जगद्धर भट्ट ने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय दिया है। उससे पता चलता है कि इनके पितामह का नाम **गौरधर** था, जो तत्कालीन विद्वन्मंडली में अग्रणी तथा यजुर्वेद के **'वेदविलास'** नामक भाष्य के रचयिता थे। इनके पिता रत्नधर कवि तथा शिवभक्त थे। इन्होंने अपने पुत्र यशोधर के लिए **बालबोधिनी** नामक कातन्त्र-व्याकरण की एक वृत्ति लिखी थी, जिसके ऊपर राजानक **शितिकण्ठ** ने संस्कृत में टीका लिखी है। ये भी काश्मीर के अंतर्गत पद्मपुर के निवासी

१. काव्यमाला षष्ठ गुच्छक में प्रकाशित।
२. द्रष्टव्य श्रीकण्ठचरित, २५ सर्ग, श्लोक ३१–३६।

थे तथा जगद्धर के दौहित्र के दौहित्री के पुत्र थे। इस व्याख्या की रचना शितिकण्ठ ने काश्मीर के बादशाह हसनशाह (१४७२-८४ ई०) के राज्यकाल में की थी। इस प्रकार जगद्धर शितिकण्ठ से पूर्व छठी पीढ़ी में वर्तमान थे। अत: जगद्धर का समय सौ-सवा सौ पूर्व १३५० ई० के आसपास मानना अनुमान-सिद्ध है।

स्तुति-कुसुमांजलि[1] में ३८ स्तोत्र हैं तथा श्लोकों की संख्या १४१५ है। जगद्धर भगवान् शंकर के अनन्य उपासक थे। इनका अंत:करण बाल्यावस्था से ही सदाशिव की आराधना की ओर झुका हुआ था। इस कारण सुधासहोदर शम्भुस्तवन को छोड़कर अन्य कोई ग्रन्थ लिखने की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। इसलिए वेणी-संहार और मालती-माधव के टीकाकार जगद्धर इनसे नितान्त भिन्न हैं। स्तुतिकुसुमांजलि में कवि ने ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदयद्रावक ढंग से शंकर को आत्मनिवेदन किया है कि कठिन-हृदय व्यक्तियों का भी चित्त भक्ति-भाव से आर्द्र हो जाता है। विशेषकर सप्तम, अष्टम तथा नवम स्तोत्रों में कवि ने करुण रस का परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इस काव्य में हृदयपक्ष के साथ कलापक्ष का भी पूर्ण सामंजस्य है। श्लेष तथा यमक लिखने में जगद्धर विशेष चतुर तथा सिद्धहस्त कवि हैं। पण्डित जनों को लक्ष्य कर लिखी गई कविता में अलंकारों की सजावट नितान्त आवश्यक मानी जाती थी। फलत: इस काव्य में भी अलंकारों की छटा विशेष हृदयावर्जक है। जगद्धर ने त्रिकदर्शन के सिद्धान्तों का प्रसंगत: वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया है, परन्तु यह इस विषय में 'शिवस्तोत्रावली' की समता नहीं पा सकता। त्रिकदर्शन के मान्य आचार्य की कृति होने से स्तोत्रावली दार्शनिकता से ओत-प्रोत है तथा त्रिकसिद्धान्तों का भाण्डार है।

> चारुचन्द्रकलयोपशोभितं भोगिभि: सह गृहीतसौहृदम्।
> अभ्युपेतघनकालशात्रवं नीलकण्ठमतिकौतुकं स्तुम:॥

[यहाँ शब्दश्लेष के द्वारा कवि ने शिवरूप मयूर की लौकिक मयूरों से विलक्षणता दिखाई है। लौकिक मयूर चारुचन्द्रक (मनोहर पंख) के लय हो जाने से उपशोभित नहीं होता परन्तु शिवरूप मयूर मनोहर चन्द्रकला से (चारुचन्द्रकलया) उपशोभित होता है। लौकिक मयूर भोगियों (सर्पों) से मित्रता ग्रहण नहीं करता, परन्तु शिव सर्पों से अत्यधिक प्रीति रखते हैं। लौकिक मयूर घनकाल (कठोर काल; यमराज) के साथ शत्रुता रखता है। अत: शिव अति कौतुक नीलकण्ठ हैं। यहाँ सभंगश्लेष की शोभा विशेष रूप से दर्शनीय है।]

> स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमध: कुकृत्यै
> स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
> दृप्त: पशु: पतति य: स्वयमन्धकूपे
> नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोक: ॥११।३८॥

[यद्यपि मैं अपने ही कुकृत्यों से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ, तथापि मैं आप जैसे करुणासागर के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ। यदि कोई उद्धत पशु अपनी ही उद्दण्डता से

---

१. काव्यमाला में राजानक रत्नकण्ठ की टीका के साथ प्रकाशित। हिंदी अनुवाद के साथ काशी से प्रकाशित, सन् १९६४।

वश किसी अंधकूप में गिर जाता है, तो दयालु लोग उसकी उपेक्षा कर क्या उसे वहीं छोड़ देते हैं ?] स्तुतिकुसुमांजलि ऐसे ही भाव-सुमनों के गुच्छकों से बहुशः परिपूर्ण है।

काश्मीर के ही **अवतार** नामक कवि की **ईश्वरशतक**[1] नामक कृति रचना-कौशल में दोनों से विलक्षण है। इनके काश्मीरक होने का संकेत संस्कृत तथा काश्मीर अपभ्रंश के भाषासमक का उदाहरण इस शतक में उपलब्ध है (४६ श्लोक)। अवतार कवि के समय का यथार्थ परिचय नहीं मिलता। 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' के टीकाकार राजानक-रत्नकण्ठ के पितामह का नाम अवतार था[2]। इस टीका का रचनाकाल १७३८ विक्रम सं० (१६८१ ई०) है। अतः टीकाकार के पितामह का समय १६३१ ई० के आसपास होना चाहिए। दोनों की अभिन्नता मानकर अवतार कवि को हम १७ शती के पूर्वार्ध में वर्तमान मानते हैं। ईश्वरशतक चित्रकाव्य के नाना प्रकारों से मण्डित काव्य है। इसमें पद्मबन्ध, डमरूबन्ध, हलबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, चक्रबन्ध, तूणबन्ध आदि नाना बन्धों में पद्य रचे गये हैं। श्लेष तथा यमक की तो यहाँ भरमार है। इस दुर्बोध काव्य को सुबोध बनाने के लिए कवि ने स्वोपज्ञ टीका लिखी है। प्रतीत होता है कि अवतार कवि ने आनन्दवर्धन के देवीशतक की स्पर्धा में इस चित्रकाव्य का प्रणयन किया है। कलापक्ष का प्राधान्य कवि के प्रकृष्ट शब्द-पाण्डित्य का सूचक है।

शाक्तस्तोत्र

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की स्तुति में शाक्त कवियों ने अपनी अलौकिक काव्यप्रतिभा का दिव्य चमत्कार प्रदर्शित किया है। त्रिपुरा ही ललिता के नाम से प्रख्यात हैं। पुराणों, तन्त्र ग्रन्थों में तथा शाक्त उपनिषदों में उपलब्ध शाक्तस्तोत्रों का निर्देश स्थानाभाव से यहाँ देना असम्भव है, केवल प्रख्यात शाक्त आचार्यों तथा कवियों की रम्य स्तुतियों का ही संक्षिप्त परिचय इस साहित्य के सौन्दर्य का किञ्चित् संकेत देने में पर्याप्त होगा :—

(१) **ललितास्तवरत्न**[4]—महर्षि **दुर्वासा** की रचना माना जाता है। त्रिपुरा-सम्प्रदाय में क्रोधभट्टारक की उपाधि से मण्डित दुर्वासा बड़े ही गम्भीर साम्प्रदायिक-रहस्यवेत्ता मुनि माने जाते हैं। वे सदनुग्रह तथा असद्-निग्रह के निमित्त देहधारी भगवान् ही माने जाते हैं तथा समस्त उपनिषदों के प्रथम देशिक (गुरु या आचार्य) होने का श्रेय उन्हें प्राप्त है[5]। २१३ आर्यावाली यह स्तुति **'आर्याद्विशती'** के अन्वर्थक नाम से भी विश्रुत है। दुर्वासा रचित **'त्रिपुरसुन्दरीमहिम्नस्तोत्र'** के नाम से प्रख्यात इतर स्तुति-नामा छन्दों में ५८ पद्यों से युक्त है। ये दोनों स्तुतियाँ शाक्त-सम्प्रदाय के अन्तस्तत्त्व को

---

१. काव्यमाला १४ गुच्छक में प्रकाशित। २. वही नवम गुच्छक।

३. सकलविपश्चिद्वर्यः प्रव्राजितवृत्रहामात्यः।
अवतारोऽजनि तस्मात् पाण्डित्यस्यावतार इव ॥—टीका की अन्तिम आर्या।

४. काव्यमाला के दशम गुच्छक में प्रकाशित।

५. सदसदनुग्रह-निग्रह-गृहीतमुनि-विग्रहो भगवान्।
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ॥
(त्रिपुरसुन्दरी-महिम्नः स्तोत्र, श्लोक ५८)

प्रकट करनेवाली गम्भीरार्थ-प्रकाशिनी मानी जाती हैं। ललितास्तवरत्न पर कोई टीका प्रकाशित नहीं है, परन्तु 'त्रिपुरसुन्दरीमहिम्नःस्तोत्र' अथवा **'त्रिपुरामहिमस्तोत्र'** के ऊपर विद्यानन्दनाथ के शिष्य **नित्यानन्दनाथ** की विस्तृत व्याख्या प्रकाशित है। ललिताम्बा के त्रैलोक्यसुन्दर सौन्दर्य का वर्णन इन स्तोत्रों का वैशिष्ट्य है।

शम्पा-रुचिभरगर्हा-संपादककान्तिकवचितदिगन्तम् ।
सिद्धान्तं निगमानां शुद्धान्तं किमपि शूलिनः कलये ॥

(**ललितास्तवरत्न, श्लोक १८५**)

(२) **पञ्चस्तवी—कालिदास** की रचनारूप में विश्रुत पञ्चस्तवी पाँच विभिन्न स्तवों के समूहरूप में प्रस्तुत हैं। स्तवों नाम हैं—(क) लघुस्तुति (२१ पद्य), (ख) घटस्तव (२१ पद्य), (ग) चर्चास्तुति (२३ पद्य), (घ) अम्बास्तुति (३२ पद्य) तथा (ङ) सकल जननीस्तव (३५ पद्य)। इन स्तवों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही साथ तान्त्रिक तथ्यों का भी मनोरम उद्घाटन है। इस पञ्चस्तवी की ख्याति एकादश शती में अवश्य हो गई थी, क्योंकि मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश (दशम उल्लास) में निम्नलिखित पद्य-गत अलंकार की मीमांसा की है—

आनन्दमन्थर-पुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु-मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः॥

यह 'घटस्तव' का प्रथम पद्य है जिसमें आनन्द से मन्थर इन्द्र के द्वारा माल्य से सत्कृत, महिषासुर के मस्तक पर हठात् स्थापित, मञ्जु मञ्जीर के रुनझुन से मनोहर भगवती के पादपङ्कज की प्रशंसा है। समस्त स्तुति त्रिपुरा सुन्दरी के विशिष्ट ध्यान तथा अलौकिक देहच्छटा का भव्य वर्णन है। लक्ष्मीधर इसे कालिदास की, परन्तु कामेश्वरसूरि आचार्य भगवत्पाद शंकराचार्य की, रचना मानते हैं। **'श्यामलादण्डक'** नाम से विख्यात पाँच दण्डकों से समन्वित एक प्रसिद्ध स्तोत्र है। इसमें मातङ्गी देवी की परम रम्य स्तुति की गई है। इसके कर्ता महाकवि कालिदास ही माने जाते हैं। इस स्तोत्र का साहित्यिक चमत्कार निश्चयेन उच्चकोटि का माना गया है (काव्यमाला प्रथम गुच्छक)।

(३) **सुभगोदयस्तुति—**शंकराचार्य के दादा गुरु **गौडपादाचार्य** की यह रचना तान्त्रिक तथ्यों के विश्लेषण तथा श्रीचक्र के विवरण के लिए नितान्त प्रख्यात है। इसमें ५२ शिखरिणी वृत्त हैं। कविता नितान्त उदात्त तथा आवर्जक है। सौन्दर्यलहरी की टीका में लक्ष्मीधर के कथनानुसार अनुष्टुप् छन्दों में भी 'सुभगोदय' नामक ग्रन्थ था; जिसपर शंकराचार्य तथा लक्ष्मीधर दोनों ने टीका लिखी थी (द्रष्टव्य श्लोक ११ तथा ३८ की टीका)। सौभाग्यभास्कर के अनुसार लल्ल ने इस पर टीका लिखी थी। इस प्रकार सुभगोदय-स्तुति की प्राचीनता तथा लोकप्रियता सिद्ध होती है। शंकराचार्य ने सौन्दर्य-लहरी की रचना में आचार्य गौड़पाद की परम्परा को अपनाया है।

(४) **शंकराचार्य—आचार्य शंकर** त्रिपुरासुन्दरी के महनीय उपासक थे और इसीलिए शृंगेरी मठ में भगवती की उपासना परम्परया आज भी प्रचलित है। आचार्य

---

१. काव्यमाला ११ गुच्छक में टीकायुक्त प्रकाशित है।

ने **'त्रिपुरसुन्दरी-मानसिकोपचार पूजा'**[1] तथा **'चतुःषष्टि-उपचारमानसपूजा'** में भगवती की मानसपूजा का वर्णन बड़े ही समारम्भ के साथ किया है। इनमें से प्रथम स्तोत्र १२८ पद्यों से समन्वित है और दूसरा ७३ पद्यों से युक्त है। मानसपूजा का वैविध्य बड़े विस्तार से वर्णित है—अत्यन्त सरस पदों में। परन्तु आचार्य का सर्वोत्तम शाक्तस्तव **'सौन्दर्यलहरी'**[2] ही निःसन्देह है। भगवती के दिव्य सौन्दर्य की छटा इस लहरी में जितनी प्रस्फुटित हुई है, उतनी शायद ही अन्यत्र हो। भाषा तथा भाव, रस तथा अलंकार, साहित्य तथा तन्त्र—किसी भी दृष्टि से अनुशीलन किया जाय, इसकी अलौकिकता पदे-पदे प्रमाणित होती है। यह पूरी एक शती है शिखरिणी की, जिसके आरम्भिक चालीस पद्यों में हम तन्त्रशास्त्र के गम्भीर रहस्य का परिचय पाते हैं तथा अवशिष्ट पद्यों में सिर से लेकर पैर तक त्रिपुरा के अंगप्रत्यंग के लोकातीत लावण्य का वर्णन है। साहित्य-सौन्दर्य तथा तान्त्रिक रहस्य—दोनों की उद्घाटना के लिए यह स्तोत्र निःसन्देह अनुपम है। इसके रहस्य को बताने वाली अनेक टीकायें हैं, जिनमें **लक्ष्मीधर** की **लक्ष्मीधरा**[3] प्रख्यात तथा लोकप्रिय है। भगवती ललिताम्बा के नेत्रों से लाल, सफेद तथा श्याम रंग की जो प्रभा फूटकर भक्तों के ऊपर पड़ती है, तो प्रतीत होता है शोण, गंगा तथा यमुना इन तीनों तीर्थों का एक अनुपम संगम उपस्थित होता है—

> पवित्रीकर्तुं नः पशुपतिपराधीनहृदये
> दयामित्रैर्नेत्रैररुणधवलश्यामरुचिभिः ।
> नदः शोणो गङ्गा तपनतनयेति ध्रुवममुं
> त्रयाणां तीर्थानामुपनयसि संभेदमनघम् ॥४५॥

शंकराचार्य का **'कनकधारास्तव'** भगवती लक्ष्मी की स्तुति में विरचित नितान्त मनोरञ्जक तथा कवित्वपूर्ण है। श्लोकों की संख्या २२ है। लक्ष्मी के केवल कटाक्ष का ही इसमें आलंकारिक वर्णन है। लक्ष्मी के नेत्र के ऊपर मेघ का यह रूपक कितना सटीक तथा सुसंगत है—

> दद्याद् दयानुपवनो द्रविणाम्बुधारामस्मिन् अकिञ्चनविहंगशिशौ विषण्णे।
> दुष्कर्म-घर्ममपनीय चिराय दूरं नारायण-प्रणयिनीनयनाम्बुवाहः ॥

शंकराचार्य की एक अन्य विशिष्ट शाक्त रचना है **अम्बाष्टक,** जिसमें अम्बा की प्रशस्त स्तुति एक अप्रसिद्ध वृत्त में की गई है। यह शब्दों के नोंक-झोंक के लिए रसिकों में विशेष प्रख्यात है। टिप्पणी के साथ यह प्रकाशित है (काव्यमाला गुच्छक २)।

(५) **मूकपंचशती**[4]—**मूक कवि** के द्वारा रचित पाँच शतकों का यह एक पुंज है, जिसमें शतकों के क्रमशः अभिधान हैं (क) **कटाक्षशतक,** (ख) **मन्दस्मितशतक,** (ग) **पादारविन्दशतक,** (घ) **आर्याशतक,** तथा (ङ) **स्तुतिशतक।** शतकों के नाम

---

१. काव्यमाला गुच्छक ९ में प्रकाशित।

२. अनेक टीकाओं के साथ मूल का संस्करण मद्रास से प्रकाशित है।

३. मैसूर ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित।

४. काव्यमाला पंचम गुच्छक में प्रकाशित।

से ही वर्ण्य विषय का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। प्रसिद्धि है कि कवि जन्म से ही मूक थे। काञ्ची की देवी कामाक्षी के दर्शन करते ही शारदा की अलौकिक कृपा से उनके मुख से अवाधगति से वाणी प्रस्फुटित हो गई जिसमें इन शतकों का निर्माण हुआ। वे काञ्चीपीठ के सिंहासनारूढ़ शंकराचार्य माने जाते हैं। यह शती नवीन उत्प्रेक्षाओं के विलास तथा कोमल कान्त-पदावली के विन्यास के लिए सर्वदा समादृत रही है। कटाक्ष अथवा मन्दस्मित जैसे एक ही पदार्थ के वर्णन में पूरे शतक की रचना अलौकिक प्रतिभा का निःसन्देह दिव्य विलास है। अलंकारों का कमनीय प्राचुर्य इसका जागरूक वैशिष्ट्य है। कटाक्ष के ऊपर पूरे रंगस्थल का यह सांग रूपक विशेष चमत्कारी है—

केशप्रभापटलनीलवितानजाले कामाक्षि कुण्डलमणिच्छविदीपशोभे।
कम्रे कटाक्षरुचि-रङ्गतले कृपाख्या शैलूषकी नटति शङ्करवल्लभे ते॥
(कटाक्षशतक, श्लोक २३)

कामाक्षी के पादारविन्दों की प्रणति आश्चर्यजनक कार्यों को सिद्ध करती है—

यशः सूते मातर्मधुरकवितां पक्ष्मलयते
श्रियं दत्ते चित्ते कमपि परिपाकं प्रथयते।
सतां पाशग्रन्थिं शिथिलयति किं किं न कुरुते
प्रपन्ने कामाक्ष्याः प्रणतिपरिपाटी चरणयोः॥
(पादारविन्दशतक, श्लोक १)

(६) **देवीशतक**[1]—ध्वन्यालोक के रचयिता **आनन्दवर्धन** की यह कृति कलात्मकता के प्रदर्शन का एक अनुपम स्थल है। कवि ने पूरे शतक में चित्रकाव्य की शैली से पद्यों का संगठन किया है। शतक के अन्तिम पद्य में कवि के इतर दो ग्रन्थों के निर्माण का उल्लेख है—आनन्दकथा (विषमबाणलीला) तथा त्रिदशानन्द (अर्जुनचरित)। नाना प्रकार के बन्धों के निर्माण में आनन्द ने अपने शब्दपाण्डित्य का ही अपूर्व चित्रण किया है। 'सुरसंधं मे' (श्लोक ७६) पद्य काव्यप्रकाश में संस्कृत तथा महाराष्ट्री के भाषाश्लेष के उदाहरण में उद्धृत है। ध्वन्याचार्य के काव्य में हृदयपक्ष की कमी आलोचकों को यहाँ बेतरह खटकती है। उदाहरण के लिए एक ही श्लोक पर्याप्त होगा (५०)—

सर स्वति-प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति।
सरस्वति कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति॥

श्लोक का आशय है—हे सरस्वति, आप अतिशय (स्वति) प्रसाद को धारण कीजिये और मेरे चित्तरूपी समुद्र (सरस्वान्) में आप स्थिति कीजिये। शरीर (क्षेत्र) रूपी कुरुक्षेत्र में आप सरस्वती नदी के समान सर्वदा निवास करने वाली हैं। 'सरस्वति' का विभिन्न चतुष्टय प्रयोग से यमकालंकार का यह सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस दुर्बोध काव्य का अर्थ समझना पाठकों के लिए टेढ़ी-खीर होता, यदि काश्मीर के महनीय पण्डित कय्यट ने अपनी विशद व्याख्या न लिखी होती। ये कय्यट महाभाष्य पर प्रदीप व्याख्या के रचयिता वैयाकरण कैयट से नितान्त भिन्न हैं। ये शिशुपालवध आदि

१. काव्यमाला नवम गुच्छक में प्रकाशित, १९१६।

काव्यों के विश्रुत टीकाकार वल्लभदेव के पौत्र तथा चन्द्रादित्य के पुत्र थे। टीका का समय ४०७८ कलि संवत् (=९७८ ईस्वी सन्) दिया गया है। फलतः दशम शती के उत्तरार्द्ध में कय्यट ने इस टीका का प्रणयन किया—आनन्दवर्धन से एक शताब्दी के भीतर ही।

अन्य शाक्त-स्तोत्रों में उल्लेखनीय हैं—मथुरा के निवासी **सामराजदीक्षित** (१६ शती का उत्तरार्ध) का **'त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजास्तोत्र'**[1], जो शंकराचार्य के एतन्नामक स्तोत्र से प्रभावित है; **सुन्दराचार्य** नामक किसी द्रविड कवि का **गीतिशतक**[2] अपनी रमणीय आर्याओं के लिए विख्यात रहेगा। दक्षिण के प्रख्यात कवि **नीलकण्ठदीक्षित** (१७ शती) का **आनन्दसागरस्तव**[3] कमनीय भावनाओं से भरा-पूरा है। भाषा सरस-सुबोध है और पदों की प्रसन्नता नितरां दर्शनीय है। नासिक के पास बाई नगर के निवासी महाराष्ट्र **लक्ष्मण कवि** की **'चण्डीकुचपञ्चाशिका'**[4] प्रौढ़ भावों से सम्पन्न है तथा कल्पना की प्रचुरता से मण्डित है। **कृष्णक पण्डित** रचित **'महाराज्ञीस्तोत्र'**[5] अनेक विशिष्टता से मण्डित है। काश्मीर में 'महाराज्ञी' नाम से भगवती की एक विशिष्ट मूर्ति की उपासना प्रचलित है जिसका आविर्भाव काश्मीर के तूलमूल्य (तुल-मुल) नामक तीर्थ में माना जाता है। महाराज्ञी की उपासना के आवश्यक पटल-पूजा-कवच-सहस्रनाम-स्तोत्र प्रकाशित हैं। यह स्तोत्र सरस-सुबोध तथा भक्तिभावापन्न है। इसमें ५९ पद्य हैं जिनमें वाग्देवता-रूपिणी महाराज्ञी का प्रकृष्ट स्तुति है—

नौ दीर्घदुर्गतिसरस्तरणोन्मुखानां यत्पादपङ्कजयुगप्रणतिर्नराणाम्।
कश्मीरपण्डितमनोरचितप्रतिष्ठां वाग्देवतातनुमुपैम्यहमाशु राज्ञीम्॥

इसके प्रणेता पण्डित कृष्णक निश्चयेन काश्मीरी हैं तथा अर्वाचीन प्रतीत होते हैं।

आनन्दमन्दिरस्तोत्र[6] की रचना कवीन्द्र बहादुर **लल्लादीक्षित** ने १८५९ विक्रमी (१८०२ ई०) में काशी की प्रख्यात देवी संकटा जी की स्तुति में लिखी। ये काशी-निवासी बान्धोकर उपनामक भारद्वाजगोत्री शंकरदीक्षित के पौत्र तथा लक्ष्मणदीक्षित के पुत्र थे। यह एक पूरा शतक है। स्तुति प्रसाद गुण तथा भक्तिभाव से सम्पन्न है।

जैन-स्तोत्र

जैन कवियों ने तीर्थंकरों की स्तुति में भक्तिरस से स्निग्ध, आत्म-निवेदन से परिपूर्ण सुन्दर स्तोत्रों का प्रणयन किया है, जिनकी संख्या शताधिक से भी अधिक है। प्राचीन स्तुतियाँ प्राकृत भाषा में निबद्ध की जाती थीं, क्योंकि प्राकृत ही जैनियों की धर्मभाषा है। संस्कृत में स्तुतिरचना का आरम्भ द्वितीय शती से होता है, जब आचार्य **समन्तभद्र** ने **स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन** और **जिनशतक** (या जिनशतकालंकार) का प्रणयन किया। आचार्य समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक तथा कवि तीनों एक साथ ही थे। उनके इन स्तोत्रों की भाषा सुरस, सुबोध है तथा भाव

१. काव्यमाला नवम गुच्छक में प्रकाशित।
२. वहीं प्रकाशित; ३ वही एकादश गुच्छक; ४. वही नवम गुच्छक।
५. 'मलयमारुत' में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति से १९६६ में प्रकाशित।
६. काव्यमाला १४ गुच्छक में प्रकाशित, १९०६ ई०।

दार्शनिक हैं। **स्वयंभूस्तोत्र**[1] प्रथम शब्द 'स्वयंभू' के कारण एतन्नाम्ना प्रसिद्ध है। इसमें १४३ पद्य हैं जिनमें २४ तीर्थंकरों की स्तुति बड़े ही मार्मिक ढंग से की गई है। इस स्तोत्र में भक्तिरस की गम्भीर अनुभूति की तरलता सहृदय भक्तों को बलात् अपनी ओर आकृष्ट करती है। **देवागम** स्तोत्र का प्रख्यात अभिधान **आप्तमीमांसा** है। इसमें ११४ पद्य हैं। इसके ऊपर **भट्ट अकलंक देव** का **'अष्टशती'** नामक भाष्य और आचार्य **विद्यानन्द**-प्रणीत **'अष्टसाहस्री'** नामक विपुलकाय व्याख्यान इसके गम्भीर अर्थ के प्रतिपादन में सर्वथा समर्थ माने जाते हैं। **युक्त्यनुशासन** समस्त जिनशासन को ६४ पद्यों में ही प्रस्तुत कर गागर में सागर भरने की लोकोक्ति को चरितार्थ करता है। अर्थ-गौरव की दृष्टि से यह अनुपम स्तव है, जिसमें दार्शनिक तथ्यों का विश्लेषण सुबोध भाषा में अभिव्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया गया है। आचार्य समन्तभद्र का चतुर्थ स्तोत्र जिनशतक तीनों की अपेक्षा अतिरिक्त वैशिष्टय से मण्डित है और यह वैशिष्ट्य है चित्रालंकार का प्रभूत प्रयोग। कवि के द्वारा कथित अभिधान **'जिनस्तुतिशतं'** है, यद्यपि मंगल श्लोक में प्रयुक्त होने से यह **'स्तुतिविद्या'** के नाम से अधिक प्रख्यात है (स्तुति-विद्यां प्रसाधये)। इसमें ११६ पद्य हैं तथा चित्रकाव्य की पद्धति से मुरजबन्ध, चक्रबन्ध, अनुलोम-प्रतिलोम, सर्वतोभद्र यहाँ निबद्ध किये गये हैं। यह स्तोत्र आचार्य समन्तभद्र को चित्रकाव्य के प्रणयन का आदि आचार्य सिद्ध कर ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है। जिनशतक, **जिनशतकालंकार** के नाम से भी इसकी ख्याति है। स्पष्ट है कि समन्तभद्र के स्तोत्रों में हृदयपक्ष के साथ कलापक्ष का भी मंजुल समन्वय है। प्रसादवाणी में निबद्ध इन स्तोत्रों के उदाहरण के लिए दो-तीन पद्य यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

तीर्थंकर के द्वारा प्रणीत धर्मतीर्थ का अवगाहन भक्तजनों को उसी प्रकार शीतल तथा ताप विरहित बना देता है जिस प्रकार गंगाजल में अवगाहन धर्मसन्तप्त हाथियों को—

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः॥

मुनि के वचनकिरणों की यह स्तुति प्रसन्न पदों से युक्त है—

न शीतलं चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥

दार्शनिक तथ्य से मण्डित यह पद्य रोचक तथा हृदयावर्जक है—

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधसिद्धिन्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन् असि मे स्तवार्हः॥

---

१. अनुवादक तथा सम्पादक श्री जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५०।

२. स्तुतिविद्या—सम्पादक और अनुवादक साहित्याचार्य पन्नालाल जैन, प्रकाशक पूर्ववत्।

समन्तभद्र ने अपने काव्यों से जिस स्तोत्रधारा को प्रवाहित किया वह कालान्तर में नितान्त समृद्ध तथा परिबृंहित काव्यविद्या के रूप में दृष्टिगोचर होती है[1]।

समन्तभद्र के लगभग तीन शताब्दियों के अनन्तर **सिद्धसेन दिवाकर** ने भी स्तोत्रों का प्रणयन किया, जो **'द्वात्रिंशिका'** के नाम से प्रख्यात हैं। बत्तीस-बत्तीस पद्यों की बत्तीस रचनायें 'द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका' कहलाती हैं, परन्तु वर्तमान में केवल २१ ही उपलब्ध हैं। ये स्तोत्र साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही आध्यात्मिक गाम्भीर्य से भी मण्डित हैं। कवि ने अलंकारों से समन्वित कर भावों की विशद अभिव्यक्ति की है। भाषा बड़ी ही प्रौढ़ तथा परिमार्जित है। कवि एक लोकप्रिय उदाहरण द्वारा तीर्थंकरों के समक्ष प्रवादियों के उपस्थित न होने की बात कहता है कि जिस प्रकार समृद्ध पक्षों से युक्त होने पर भी मयूर गरुड़ के पास पहुँचने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार तत्त्व को जानने वाले प्रवादिगण तीर्थंकर के पास नहीं पहुँच सकते—

समृद्धपक्षा अपि सच्छिखण्डिनो यथा न गच्छन्ति गतं गरुत्मतः
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा न ते गतं यातुमलं प्रवादिनः ॥

षष्ठी शती के उत्तरार्ध में विद्यमान **देवनन्दिपूज्यपाद** (लगभग ई० ४५०-५००) ने **सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति** आदि जिन बारह भक्तियों की रचना की है वे सुन्दर विशद स्तोत्र हैं[2]। इनमें भी अध्यात्म, नीति तथा प्रार्थना का विषय सुन्दरता से वर्णित है। इसी युग के प्रख्यात जैन तार्किक **पात्रकेसरी** ने **'जिनेन्द्रगुण-संस्तुति'** या **'पात्रकेसरी'** नामक स्तोत्र का निर्माण पचास पद्यों में किया। इस विश्रुत स्तोत्र के प्रथम पद्य के आदि पदों के कारण ही यह जिनेन्द्रगुण-संस्तुति के नाम से प्रख्यात है (जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता)। इसमें वीतरागी के संयम, ज्ञान, हित-चिन्तन आदि गुणों को लक्ष्य कर बड़ी प्रौढ़ स्तुति है।

पात्रकेसरी के लगभग एक शताब्दी के भीतर ही ऐसे भक्त कवि का उदय होता है कि जिनके रचित स्तोत्र में हृदय के कोमल भावों की, कारुण्य तथा स्निग्धता की बड़ी ही कमनीय मनोज्ञ अभिव्यक्ति हुई है। ये हैं **मानतंग आचार्य,** जिनका **भक्तामरस्तोत्र**[3] दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के लिए सर्वथा मान्य, आदरणीय तथा ग्राह्य है। ये बाण तथा मयूर के समकालीन कवि हैं। इस स्तोत्र में ४८ पद्य हैं, परन्तु श्वेताम्बरी परम्परा के अनुसार ४४ ही पद्य हैं (३२ से ३५ पद्यों को छोड़कर)। भक्त हृदय के स्निग्ध उद्गारों से समवेत यह स्तुति संस्कृत के स्तोत्रसाहित्य का एक अनुपम रत्न है। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कह रहा है कि मैं कम पढ़ा-लिखा हूँ और इसीलिए विद्वानों की हँसी का पात्र हूँ, तथापि हे जिन ! तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बना रही

---

१. विशेष द्रष्टव्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार रचित 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' पष्ठ ३४०–४३०। प्रकाशक श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, सं० २०१३।

२. नित्यपाठ-संग्रह में कारंजा से प्रकाशित, १९५६ ई०।

३. काव्यमाला सप्तम गुच्छक में प्रकाशित, १९२६।

है। वसन्त में कोकिल स्वयं बोलना नहीं चाहती, परन्तु आम की मंजरी उसे बलात् कूजने के लिए आग्रह करती है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत् कोकिलः किल मधौ मधुर विरौति तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतु॥

यह स्तोत्र वसन्ततिलका वृत्त में निबद्ध है। स्तुति है तो आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की ही, परन्तु भावों की उदात्तता के कारण यह किसी भी तीर्थंकर पर घटित की जा सकती है। इसके पद्यों का प्रभाव **कल्याणमन्दिरस्तोत्र**[1] में विशदरूपेण लक्षित होता है, जिसमें ४४ पद्यों में तीर्थंकर की भव्य स्तुति है। इसके रचयिता का नाम **कुमुदचन्द्र** कवि है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में सिद्धसेन दिवाकर का अपर नाम कुमुदचन्द्र माना जाता है, परन्तु विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में इस स्तोत्र का वर्णन श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के सर्वथा अनुकूल नहीं है। इसीलिए यह कवि सिद्धसेन से भिन्न ही है। भक्तामर के द्वारा प्रभावित यह स्तोत्र सप्तम शती के पीछे की रचना है और इस दृष्टि से भी यह द्वितीय शती के लेखक सिद्धसेन की कृति नहीं हो सकता। 'कल्याणमन्दिर' की कविता बड़ी प्रासादिक तथा नैसर्गिक है। कवि की उक्तियों में हृदय में सद्यः प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता है—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान् निदाघे प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

कवि का कथन है कि हे जिन! अचिन्तनीय महिमा वाली आपकी स्तुति की बात तो दूर रहे, आपका नाम ही जगत् की रक्षा करता है। निदाघ के दिनों में कमलयुक्त सरोवर का सरस वायु भी तीव्र आतप से सन्तप्त बटोहियों को शान्ति प्रदान करता है, जलाशय की बात तो दूर ठहरी। 'कल्याणमन्दिर' का कवि किसी लौकिक लाभ के लिए वीतराग जिन से प्रार्थना नहीं करता, प्रत्युत उन्हें इस लोक तथा परलोक में शरण्य होने की ही प्रार्थना करता है (४२ पद्य)।

इन स्तोत्रों की परम्परा अगली शताब्दियों में भी चलती रही। नवम शती में धनञ्जय कवि का **विषापहारस्तोत्र** (४० पद्य), ११ शती में **वादिराज का एकीभावस्तोत्र** या **कल्याणकल्पयुग**[2] (२५ मन्दाक्रान्ता वृत्त), **जम्बू कवि** का **जिनशतक** (स्रग्धरा में एक शत पद्य) आदि स्तोत्र पर्याप्तरूपेण प्रख्यात हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य ने भगवान् महावीर स्वामी की स्तुति में दो प्रौढ़ दार्शनिक स्तोत्रों की रचना की है जिनमें ब्राह्मण तथा बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की संक्षिप्त, पर विशद आलोचना की गई है। इनके नाम हैं— **अन्ययोग-व्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका** तथा **अयोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका**। दोनों में बत्तीस पद्य हैं[3]। मल्लिषेण सूरि की स्याद्वादमंजरी प्रथम के ऊपर पाण्डित्यपूर्ण टीका है, जो शैली तथा प्रतिपाद्य विषयों की सामग्री के लिए नितान्त विख्यात है।

---

१. काव्यमाला गुच्छक सप्तम। २. प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६७।
३. इन स्तोत्रों का भी प्रकाशन काव्यमाला सप्तम गुच्छक में किया गया है।

बौद्ध स्तोत्र

बौद्धों के महायान-सम्प्रदाय में स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। महायान-सम्प्रदाय में शुष्क ज्ञान के स्थान पर भक्ति की प्रधानता है। बुद्ध के सामने भक्ति से फल-फूल के अर्पण करने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है, यही मान्यता इस संम्प्रदाय की है। भक्ति की प्रधानता होने के कारण महायानी भिक्षुओं ने संस्कृत भाषा में सुन्दर स्तोत्रों की रचना की। शून्यवाद के प्रधान प्रतिष्ठापक आचार्य **नागार्जुन** के भक्तिपूरित स्तोत्र हाल में ही प्राप्त हुए हैं। उन्होंने चार स्तोत्रों का निर्माण किया था, जो **'चतुःस्तव'** के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं। सौभाग्यवश इनके दो स्तोत्र मूल संस्कृत में भी उपलब्ध हुए हैं, जिनमें एक का नाम है—**'निरौपम्यस्तवः'** और दूसरे का **'अचिन्त्यस्तवः'**। दोनों स्तोत्रों की भाषा सरस, चुस्त तथा भक्ति-संवलित है। जो लोग शून्य को बिल्कुल अभावात्मक मानते हैं उन्हें यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि नागार्जुन के ये स्तोत्र आस्तिकवाद के परम रमणीय उदाहरण हैं। इन पर कालिदास की छाया स्पष्ट है। उदाहरण के लिये इन श्लोकों को देखिए :—

नामयो नाशुचिः काये क्षुत्तृष्णा सम्भवो न च।
त्वया लोकानुवृत्त्यर्थं दर्शिता लौकिकी क्रिया॥
नित्यो ध्रुवः शिवः कायस्तव धर्ममयो जिनः।
विनेयजनहेतोश्च दर्शिता निर्वृतिस्त्वया॥

कुछ बौद्ध स्तोत्र **हर्षवर्धन**-रचित भी बतलाये जाते हैं, जो सम्भव है उनके अन्तिम वर्षों में लिखे गये हों। इनमें **अष्टामहाश्रीचैत्यस्तोत्र** तथा **सुप्रभात स्तोत्र** हैं। सर्वज्ञमित्र का **स्रग्धरास्तोत्र** अवान्तरकालीन रचना है। यह महायान-सम्प्रदाय में मातृदेवी और रक्षादेवी के रूप में नितान्त लोकप्रिय तारा देवी की स्तुति में निबद्ध एक रमणीय स्तोत्र है। इसकी रचना के विषय में एक आख्यान प्रसिद्ध है कि सर्वज्ञमित्र ने किसी ब्राह्मण की कन्या के विवाहार्थ धन संग्रह करने के लिए अपने को किसी राजा के हाथ बेंच डाला। वह राजा अनेक मनुष्यों के साथ इनकी भी बलि देने को उद्यत हुआ। तब इस स्तोत्र की रचना कर तारा की कृपा से इन्होंने सब प्राणियों के प्राणों को बचाया था।

अष्टम परिच्छेद

गद्य तथा चम्पू साहित्य

(१) गद्य साहित्य

संस्कृत भाषा का गद्यसाहित्य कुछ अपनी विशिष्टता लिए हुए है। आर्य ज के साहित्य में गद्य का प्रथम अवतार हमारी देववाणी में ही हुआ। वैदि संहिताओं में ही हमें गद्य का प्रथम दर्शन मिलता है। गद्य से मिश्रित होने के का ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है। प्राचीनतम गद्य का उदाहरण हमें इस वेद तैत्तिरीय-संहिता में उपलब्ध होता है। इस संहिता में गद्य भाग पद्य की अपेक्षा मा में कथमपि न्यून नहीं है। इस वेद की अन्य संहिताओं—जैसे काठक संहिता, मैत्राय संहिता आदि—में भी गद्य की सत्ता उसी मात्रा में है। कालक्रम में कुछ उतरकर अथ वेद का गद्य है। अथर्व का छठाँ भाग गद्यात्मक ही है। समग्र ब्राह्मणों की रचना ग रूप में ही है। यज्ञों के वर्णनात्मक होने से इसका प्रयोग उचित ही है। आरण्यकों में गद्य की प्रचुरता है। उपनिषदों में प्राचीन उपनिषद् गद्यात्मक ही हैं। इस प्रकार वैदि साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार तथा उदात्त रूप से हुआ है। लौकि संस्कृत के ग्रन्थों में तदपेक्षया गद्य का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है।

दर्शन के ग्रन्थों में जहाँ किसी सिद्धान्त का विवेचन ही मुख्य विषय है गद्य व्यापक प्रयोग मिलता है, परन्तु ज्योतिष तथा वैद्यक आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्र में जहाँ इसका प्रयोग औचित्य-प्राप्त है हमें गद्य का दर्शन भी दुर्लभ है। चरकसंहि में प्राचीन गद्य के नमूने अवश्य मिलते हैं, परन्तु अन्य वैद्यक ग्रन्थों की रचना छन्दोब ही है। ज्योतिष की भी यही दशा है। विशुद्ध साहित्य-ग्रन्थों की दशा इससे कु अच्छी नहीं है। पद्य के प्रति लेखकों के पक्षपात का कारण यह है कि पद्यबद्ध ग्र शीघ्रता से याद किये जा सकते हैं। छन्द का माध्यम उन्हें संगीतमय तथा लघुका बना देता है, जिससे वे स्मृतिपट पर अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं। लेखक छन्द का आश्रय लेने पर थोड़े में ही अपनी युक्तियों के प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है इन्हीं कारणों से लौकिक संस्कृत में गद्य का उतना विकास, प्रचलन तथा प्रसार न हुआ, जितना उनमें स्वाभाविक रीति से होने की आशा की जा सकती थी।

संस्कृत आलंकारिकों ने सिद्धान्तरूप से **कथा** तथा **आख्यायिका** के पार्थक्य ए वैशिष्ट्य का प्रदर्शन अपने ग्रन्थों में किया है, परन्तु यह वर्णन उतना स्पष्ट तथा विशद नह है। भामह ने प्रथमतः इस भेद की अवतारणा अपने काव्यालंकार में की (१। २९)। उनके अनुसार **आख्यायिका** की कथावस्तु वास्तव होती है, जिसे कवि स्व वक्ता रूप में प्रकट करता है। आख्यायिका के विभागों का नाम 'उच्छ्वास' होता है जिसके आदि और अन्त में भावी घटनाओं के सूचक श्लोक होते हैं, जो वक्त्र या अप

वक्त्र छन्द में निबद्ध होते हैं। **कथा** की कथावस्तु कवि की निजी कल्पना होती है, जिसका वक्ता नायक से कोई इतर व्यक्ति होता है। इसमें आख्यायिका के समान न तो 'उच्छ्वास' का विभाग रहता है, न वक्त्रादि वृत्तों की सत्ता। भामह के लक्षण किन लक्ष्यग्रन्थों को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं, यह यथार्थतः नहीं कहा जा सकता। दोनों के पार्थक्य की विभागरेखा इतनी फीकी तथा धूमिल है कि दण्डी ने इसका सर्वथा तिरस्कार बड़े जोरदार शब्दों में किया (काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, २३-२८ पद्य)। दण्डी की आलोचना का प्रधान लक्ष्य भामह का ही वर्गीकरण है। उनके कथन का यही तात्पर्य है कि कथा और आख्यायिका में किसी मौलिक भेद तथा पार्थक्य की कल्पना असम्भव है। उनका स्पष्ट मत है—

तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।

अर्थात् ये दोनों भेद की एक ही गद्यरूपा जाति के हैं। केवल नामकरण में ही विभिन्न संज्ञायें उपलब्ध होती हैं। रुद्रट ने भी अपने काव्यालंकार (१६।२०-२३) में इन गद्य-प्रकारों के प्रभेदों का वर्णन किया है, परन्तु यह वर्णन विशेष महत्त्व का नहीं है। हेमचन्द्र ने गद्यकाव्य का विभाजन अनेक प्रकारों में किया है (काव्यानुशासन, पृ० ४०६-७). परन्तु ये गद्यभेद प्रचलित नहीं हैं।

इन आलंकारिकों के लक्षण की मीमांसा करने से हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनके सामने किसी विशिष्ट लक्ष्यग्रन्थ का अभाव था और इसीलिए इनकी व्याख्यायें सिद्धान्तरूप से ही हैं। तथ्य यह है कि बाणभट्ट ने ही इस उभयविध गद्य-प्रकार का प्रथम दृष्टान्त प्रस्तुत किया अपनी प्रतिभा-संपन्न लेखनी से। उन्होंने स्वयं 'हर्षचरित' को आख्यायिका कहा है[1] तथा आदर्श आख्यायिका के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है (हर्षचरित १।२०)। कादम्बरी कथा को वे स्वयं 'अतिद्वयी, विशेषण से मण्डित करते हैं। इस शब्द के कुछ व्याख्याकार केवल 'अद्वितीय' अर्थ से ही सन्तोष करते हैं, परन्तु बाण का संकेत ऐतिहासिक दृष्टि से 'बृहत्कथा' तथा 'वासवदत्ता' (सुबन्धुकृत) से अवश्यमेव प्रतीत होता है। इस प्रकार गद्य के द्विविध प्रकार की रचना का वैशिष्ट्य बाण की कृतियों की मीमांसा पर अवलंबित है। **आख्यायिका** की कथावस्तु अवश्यमेव इतिहास में प्रसिद्ध तथा प्रख्यात होती है। **कथा** कवि के उर्वर मस्तिष्क की उपज होती है, जिसमें कल्पना का पूरा साम्राज्य अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजता है। शैली में कोई भेद नहीं होता।

गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति

कवि की प्रतिभा का प्रागल्भ्य पद्य की विधा में विशेष दृष्टिगोचर होता है कि गद्य की विधा में ? इस प्रश्न के उत्तर में आलोचकों की मान्य सम्मति है कि गद्य ही कवियों की कसौटी है, जिस पर कसे जाने पर उनकी कला का जौहर चमक उठता है। पद्यबन्ध नाना प्रकार के नियन्त्रणों से जकड़ा हुआ रहता है। मात्रा-छन्द हो या वर्णवृत्त,

---

१. **तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्बहणाकुलः।**
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्॥ (हर्षचरित १।१९)।

दोनों में मात्राओं तथा वर्णों की संख्या नियत रहती है; लघु-गुरु अक्षरों के विन्यास की पूरी व्यवस्था रहती है,; यति का नियम ऊपर से जकड़े हुये रहता है, 'पादान्तस्थं विकल्पेन' (पाद का अन्तिम लघु विकल्प से गुरु होता है) सामान्यतः मान्य होने पर भी स्थल-विशेष पर ही अपना वैभव दिखलाता है। इन व्यवस्थाओं तथा नियमों के जाल में नियन्त्रित कवि की वाणी का प्रसार सर्वतः अवरुद्ध होता है। कवि अपने भावों को अभिव्यक्त करने में स्वतन्त्र नहीं होता। फलतः वह पद्य के माध्यम में अपने को नियन्त्रित, परवश तथा परतन्त्र अनुभव करता है। इससे ठीक विपरीत है गद्य का माध्यम। इसमें कवि को अपने चमत्कारों को दिखलाने के लिए पूरा स्वातन्त्र रहता है। जिधर तथा जैसे भी वह अपनी कला को मोड़ता है, उधर तथा वैसे ही वह मोड़ खाने के बाध्य होती है। पद्य का कवि अपनी काव्यगत त्रुटियों के लिए अपने स्वीकृत माध्यम को अपराधी ठहरा कर अपने आप को निरपराधी मान बैठता है, परन्तु गद्य के कवि के लिए ऐसी छूट कहाँ ? गद्य के उन्मुक्त माध्यम के ऊपर दोषारोपण करने के लिए उसे अवसर कहाँ ? गद्य-रचना में किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने से यदि गद्यकवि की रचना में कोई साहित्यिक त्रुटि परिलक्षित होती है, तो उसका भागी वह स्वयं होता है, माध्यम के मत्थे अपना दोष फेंक कर वह सुख की नींद कभी सो नहीं सकता। इसीलिए दोनों प्रकार के माध्यमों को स्वीकार कर काव्य लिखने वाले कवियों की गद्यरचना ही दुष्करी मानी जाती है।

गद्य तथा पद्य द्वारा वर्ण्य विषयों का तारतम्य भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण (२।१९) में दिखलाया है। उनका कहना है माध्यम के वैशिष्टच से विषयका भी वैशिष्टच लक्षित होता है। अटवी आदि के वर्णन में पद्य की अपेक्षा गद्य की प्रगल्भता है तथा काव्यशास्त्रीय निर्वहणोचित अर्थ में पद्य की विशेष महिमा है। कोई अर्थ उभय माध्यमों के द्वारा और कोई अर्थ त्रिविध (गद्य, पद्य तथा मिश्र) माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति की योग्यता रखता है। कथा और आख्यायिका का निर्वाह गद्य के द्वारा ही समुचित रीति से हो सकता है और इसीलिए गद्यकवियों की अभिरुचि इस विषय की ओर सबसे अधिक है।

संस्कृत गद्य की विशेषता

संस्कृत गद्य की पहली विशिष्टता है—लाघव, लघुता। जो विचार अन्य भाषा में पूरे लम्बे वाक्य में प्रकट किये जा सकते हैं, वे संस्कृत गद्य के एक ही पद में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं, जिसका कारण समास की सत्ता है। समास संस्कृत भाषा का प्राण है। उसने अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता उसे प्रदान की है। ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढ़-बन्धता का संचार होता है जिससे गद्य का सौन्दर्य पूरे रूप में खिल उठता है। ओज का प्रधान लक्षण है—समास की बहुलता (समास-भूयस्त्व) और यही ओज गद्य का प्राण है। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"—यह उक्ति अवश्य ही आलंकारिक दण्डी की है, जिनका आविर्भाव गद्य-साहित्य के सुवर्ण युग में हुआ था, परन्तु संस्कृत गद्य की यह विशिष्टता बड़े प्राचीन काल से चली आती है।

इसका सद्भाव प्रथम तथा द्वितीय शतक के भी शिलालेखों में प्रचुरता से है। पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध क्षत्रप **रुद्रदामन्** के शिलालेख को पढ़ने पर यही जान पड़ता है कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य पढ़ रहे हैं, परन्तु यह गद्य बाण से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले उट्टङ्कित किया गया था। **हरिषेण** की प्रयागप्रशस्ति का गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ़, समासबहुल तथा उदात्त है। विजयस्तम्भ के वर्णन में कवि की यह उक्ति सदा विदग्धों को चमत्कृत करती रहेगी—

"सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपति-भवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रित: स्तम्भ: ।"

इस शैली का प्रयोग गद्यकाव्य के लिखने में किया जाता था, परन्तु कथानकों के वर्णन में सीधी-सादी भाषा का ही प्रयोग होता था।

शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य का ही साम्राज्य है। विचारविनिमय का तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्णन का उचित माध्यम गद्य ही है। शास्त्रार्थ के समय तो बोलचाल की शैली का प्रयोग हम पाते हैं, परन्तु युक्तियों तथा तर्कों के प्रदर्शन में हमें प्रौढ़ गद्य का प्रयोग उपलब्ध होता है। हमारे दार्शनिकों ने अपने विचारों को सुचारुरूप से अभिव्यक्त करने के लिए 'विचार-मापक' नवीन पारिभाषिक शब्दों की उद्भावना कर रखी है। गद्य तो विचारों को प्रकट करने का मुख्य माध्यम है, उसे विना युक्तियुक्त तथा प्रौढ़ बनाये हम अपने दार्शनिक विचारों को यथार्थरूप से प्रकट ही नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से हमारे दार्शनिकों ने अपनी शैली पर दार्शनिक गद्य की सृष्टि की है। तथ्य तो यह है कि कोमल भावों को प्रकट करने की जितनी शक्ति संस्कृत गद्य में है, उतनी ही या उससे अधिक दर्शनशास्त्र के दुरूह तथ्यों के अभिव्यक्त करने की भी क्षमता उसमें विद्यमान है। लैटिन भाषा का गद्य बड़ा ही प्रौढ़, सुन्दर तथा ओजस्वी बतलाया जाता है, परन्तु संस्कृत भाषा के गद्य में ये गुण उससे कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। दर्शन के पेचीदे, गूढ़ तथा सूक्ष्म तत्त्वों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा के ही द्वारा हो सकता है, यह जानकारों की माननीय सम्मति है। अत: देववाणी का गद्य प्राचीनता तथा प्रौढ़ता, उपादेयता तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से हमारे साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है—इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं।

गद्य का विकास

वैदिक काल से आरम्भ कर मध्यकाल तक गद्य के विकसित होने का इतिहास बड़ा ही मनोरम है। गद्य के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—वैदिक काल का सीधा-सादा बोलचाल का गद्य तथा लौकिक संस्कृत का प्रौढ़, समासबहुल गाढबन्धवाला गद्य। दोनों प्रकार के गद्यों में अपना विशिष्ट सौन्दर्य तथा मोहकता है। वैदिक गद्य में सीधे-सादे, छोटे-छोटे शब्दों का हम प्रयोग पाते हैं। 'ह' 'वै' 'उ' आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हैं। इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता तथा सुन्दरता का समावेश हो जाता है। समास की विशेष कमी है। उदाहरणों का बहुल प्रयोग है। उपमा तथा

रूपक का कमनीय सन्निवेश वैदिक गद्य को विदग्धों की दृष्टि में हृदयावर्जक बनाये हैं। इस कथन की पुष्टि में कालक्रम से गद्य का निरीक्षण आवश्यक होगा।

"व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्। स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्। तदेकमभवत्, तल्ललाममभवत्, तन्महदभवत्; तज्जेष्ठमभवत्, तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत्, तेन प्रजायत।" (अथर्व० १५ काण्ड, १ सूक्त)

ब्राह्मणग्रन्थों के पद्य का एक नमूना देखिए—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः। आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालं सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति। (एतेरेय ब्राह्मण १।)

"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति तद् भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।" (छान्दोग्य ७।२४)

वैदिक गद्य तथा लौकिक संस्कृत के गद्य को मध्य में मिलाने का काम पौराणिक गद्य करता है। यह गद्य नितान्त आलंकारिक तथा प्रासादिक है। श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण का गद्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसमें साहित्यिक गद्य का सच्चा सौन्दर्य विद्यमान है। उसमें विशेष गाढबन्धता की कमी अवश्य है, परन्तु भागवत का गद्य तो नितान्त प्रौढ़, अलंकृत तथा भावाभिव्यंजक है (विष्णु० ४।१३।४)-

यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किञ्चिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्ष्यामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्।

शिलालेखों में उपलब्ध गद्य भी नितान्त प्रौढ़, आलंकारिक तथा हृदयावर्जक है (रुद्रदामन का गिरनार लेख, १५० ई०)—

"प्रमाणमानोन्मान-स्वरगतिवर्ण-सारसत्त्वादिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेतैकांतमूर्तिना स्वयमधिगत-महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतुं सुदर्शनतरं कारितम्।"

शास्त्रीय गद्य

हमने ऊपर इस गद्य की विशिष्टता का प्रदर्शन किया है। हमारे समग्र दार्शनिक ग्रन्थ पद्य में ही लिखे गये हैं और उनमें अपने अर्थ-प्रकटन की योग्यता सुचारु रूप से विद्यमान है, परन्तु अर्थों की अभिव्यक्ति चरम लक्ष्य होने के कारण इन ग्रन्थकारों का ध्यान शब्दगत सौन्दर्य रखने की ओर कम गया है। शब्द रूखे-सूखे भले हों, मनोगत भावों को प्रकट करना उन्हें चाहिए। परन्तु इन दार्शनिकों के बीच कतिपय ऐसे भी ग्रन्थकार हैं जिनका गद्य विशुद्ध साहित्यिक गद्य के समान रस-पेशल तथा सुन्दर है।

इन दार्शनिकों की अपनी विशिष्ट शैली है, जिसका प्रयोग उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। ऐसे शास्त्रकारों में कालक्रम से चार को चुन सकते हैं—(१) पतंजलि, (२) शबरस्वामी, (३) शंकराचार्य, (४) जयन्तभट्ट। ये विद्वान् अपने शास्त्र के महनीय आचार्य हैं, पर साथ ही साथ इनका गद्य नितान्त उदात्त तथा विशेष प्रांजल है। इसे पढ़ते समय हमें तनिक भी भान नहीं होता कि इनमें किसी दुरूह विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है। महर्षि पतंजलि की महाभाष्य लिखने की शैली विलक्षण है। यह व्याकरण का आकर-ग्रन्थ तो है ही, साथ ही साथ अनेक शास्त्रों का पिण्डीभूत सिद्धान्त-द्योतक भी है। **पतंजलि** परिचित विषयों पर भी नई बात बतलाने से नहीं चूकते। उनकी भाषा बोल-चाल की और शैली में कथनोपकथन की रीति है। जान पड़ता है कि छात्र उनके सामने बैठे हैं और वे अपना सिद्धान्त उन्हें समझा रहे हैं। उनके गद्य की रमणीयता देखिए—

"ये पुनः कार्याभावा निवृतौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते। तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुज्यते।"

(पस्पशाह्निक)

शबरस्वामी प्रौढ़ मीमांसक हैं जिन्होंने कर्म-मीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। उनकी शैली भी सीधी-सादी तथा रोचक है (१।१।१५)—

इच्छयात्मानमुपलभामहे। कथमिति ? उपलब्धपूर्वे ह्यभिप्रेते भवतीच्छा। यथा मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुपलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्षफलानि न तानि प्रत्यस्माकमिच्छा भवति।

शंकराचार्य के गद्य की सुषमा निराली है। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ तथा प्रांजल हैं। **वाचस्पति मिश्र** जैसे विद्वान् ने उसे यथार्थतः प्रसन्न-गम्भीर कहा है। उनके गद्य में वीणा की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है। साहित्यिक माधुर्य तथा प्रसाद से पेशल यह गद्य संस्कृत भारती का सौन्दर्य है। उनके एक-एक वाक्य पर गद्य के पोथे निछावर किये जा सकते हैं। एक सारगर्भित वाक्य है—

"नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति।"

अर्थात् पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति के लिए घुटनों के बल रेंगना शोभा नहीं देता। आचार्य का गद्य मात्रा में भी अधिक है। ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों का भाष्य लिखना विशेष रचना-चातुर्य का द्योतक है। आचार्य के गद्य की अध्यासभाष्य सुषमा नितरां अवलोकनीय है—

"सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यवस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि। उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्-प्रत्ययविषयत्वात्। न चायमस्ति नियमः, पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यवसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालास्तल-मलिनताद्यध्यवस्यन्ति।"

जयन्तभट्ट न्यायशास्त्र के विख्यात आचार्य हैं। इनकी **'न्याय-मंजरी'** न्याय-दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनका गद्य बड़ा ही सुन्दर, सरस तथा प्रांजल है। न्याय तो स्वभाव से ही कठिन ठहरा, परन्तु इन्होंने उसे अपनी रोचक शैली से अत्यन्त हृदयगम बना दिया है। इनके गद्य में व्यंग्य उक्तियों की काफी भरमार है। इनकी शैली का परिचय इस उद्धरण से भली-भाँति लग सकता है :——

"आः क्षुद्रतार्किक सर्वथानभिज्ञोऽसि, ब्रह्मैव जीवात्मनो नहि ततोऽन्ये। न हि दहनपिण्डाद् भेदेनापि भान्तः स्फुलिगा अग्निस्वरूपा भवन्ति। तद् किं ब्राह्मण एवाविद्या ? न च ब्रह्मणोऽविद्या।"

पालि-गद्य

पालि बोल-चाल की भाषा थी जिसका प्रयोग भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में किया। जनता के हृदय तक अपने उपदेशों को पहुँचाना उनका उद्देश्य था और इसलिए उन्होंने देववाणी का आश्रय छोड़कर लोकवाणी का अवलम्बन ग्रहण किया। इनके गद्यात्मक उपदेश विषय को हृदयंगम कराने के लिए पर्याप्त हैं। त्रिपिटकों का पालि-गद्य बड़ा ही सरल तथा सुबोध है। पुनरुक्ति की उसमें बहुलता है। पालि-गद्य के दो रूप हैं——एक तो वह जो जातकों में मिलता है। यह स्वभाव से ही सीधा-सादा होने पर भी कथा के वर्णन में सर्वथा समर्थ है। दूसरा गद्य नितान्त प्रौढ़ है, जो शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्द-प्रश्न) का गद्य इसी श्रेणी का है। इसकी प्रौढ़ता के कारण अनेक विद्वानों को इसके मौलिक होने में सन्देह है। वे तो पूरे ग्रन्थ को संस्कृत में विरचित होने और पीछे पालि में अनुवाद किये जाने की कल्पना करते हैं। जातकों की भाषा में बोल-चाल के विशिष्ट शब्द और मुहावरों का प्रयोग दीख पड़ता है। जातक के शब्द उस युग की कल्पना है जिसमें वालमीकि-रामायण रचित हुआ। उदाहरण के लिए पालि के 'गोचर' तथा 'अनिय्यानिक' शब्दों को लीजिये। गोचर का अर्थ है——शिकार की खोज में जाना। यह प्रयोग 'शशजातक' में है (अत्तनो अत्तनो गोचरट्ठाने गोचरं गहेत्वा) साथ ही साथ वालमीकि में भी उपलब्ध है——गोचरं गतया भ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम (सुन्दर काण्ड) । 'अनिय्यानिक' का अर्थ है असुखकर, दुःख देने वाला। वालमीकि ने 'निर्याण' का प्रयोग सुख के अर्थ में किया है। निर्याणमिति मे मतिः (सुन्दर काण्ड)। पाली के सरल गद्य का अवतरण देखिए——

"अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो ससयोनियं निब्बत्तित्वा अरञ्ञे वसति। तस्स पन अरञ्जस्य एकतो पब्बतपादो, एकतो नदी, एकतो पज्जन्तगामको। अपरे पिस्स तयो सहाया अहेसुं मक्कटो, सिगालो उग्गा ति।"

प्रौढ़ पाली गद्य का सुन्दर नमूना देखिए——

"बुद्धानं विञ्जनं वधानेन समन्नागतानं सन्दस्सेन्तो नवङ्गजिनसासनस्तन उपदिसन्तो धम्ममग्गं धारेन्तो धमपज्जोतं उस्सापेन्ती धम्मयूपं, यजन्तो धम्मयागं, पग्गण्हन्तो धम्मद्धजं, उस्सापेन्तो धम्मकेतुं, धमेन्तो धम्मसंख आहनन्तो धम्मभेरिं, सीहनादं सागलनगरं अनुप्पतो होति।" (मिलिन्दपञ्हो पृ० २३, बाहिरकथा)

गद्य का अभ्युदय

संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने ४।२।६० सूत्र के अपने वार्त्तिक (आख्यानाख्यायिकेतिहास-पुराणेभ्यश्च) में आख्यान और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है। इन दोनों में स्वरूपतः भिन्नता का परिचय नहीं मिलता, परन्तु कोई भेद अवश्यमेव उस युग में विद्यमान था। पतंजलि ने 'यवक्रीत', 'प्रियङ्गु' तथा 'ययाति' का आख्यान के उदाहरण में तथा **'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा'** और **भैमरथी** (४।३।८७) का आख्यायिका के उदाहरण में नामनिर्देश किया है। काशिका में भी इन्हीं नामों का उल्लेख इस सूत्र की व्याख्या में मिलता है, परन्तु उनकी सत्ता का पता अभी तक नहीं चलता।

(१) सुबन्धु

गद्य-काव्य के लेखकों में सुबन्धु ही सर्वप्रथम लेखक हैं जिनका ग्रन्थ अलंकृत शैली में निबद्ध गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके समय तथा स्थान का यथार्थ परिचय अभी तक हमें नहीं चलता। बाणभट्ट के द्वारा प्रशंसित किये जाने के कारण ये बाण से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इन्होंने एक श्लेष के द्वारा न्यायवार्त्तिक के रचयिता प्रसिद्ध नैयायिक **उद्योगकर** का स्पष्टतः संकेत किया है—**न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्।** उद्योतकर का समय षष्ठ शताब्दी का अन्त तथा सप्तम का आदि माना जाता है। इस निर्देश से सुबन्धु का समय उद्योतकर के अनन्तर होना चाहिये। ऐतिहासिक गवेषणा उपयुक्त सामग्री के अभाव में समय का यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती। हर्षवर्धन (६०६-४८ ई०) के सभापण्डित होने से बाणभट्ट का समय ६३०—६४० ई० तक मानना उचित प्रतीत होता है। बाण से पूर्ववर्ती होने के कारण सुबन्धु का समय ६०० ई० के आसपास तथा पश्चाद्वर्ती होने के कारण दण्डी का समय ६५० ई० के बाद मानना उचित जान पड़ता है। फलतः गद्यकाव्यों के इन महनीय लेखक त्रयी का समयक्रम इस प्रकार है :— सुबन्धु बाणभट्ट दण्डी।

सुबन्धु ने अपने ग्रन्थ में जिस विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख बड़ी सौन्दर्य-मयी भाषा में किया है (वासवदत्ता १० पद्य)—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

वह विक्रमादित्य कौन था ? इसका परिचय यथार्थ रूप से नहीं मिलता। अधिक विद्वानों का मत है कि यहाँ विक्रमादित्य का संकेत राजा यशोधर्मा से है, जिसने बाला-दित्य की सहायता से हूणों के पराक्रमी नरेश मिहिरकुल को परास्त कर भारत से निकाल बाहर किया था। इनका भी समय षष्ठ शतक का मध्य भाग है। अतः सुबन्धु का काल इसी युग से कुछ हटकर होना चाहिए। इन सब निर्देशों से षष्ठ शतक का अन्तिम भाग सुबन्धु के आविर्भाव के लिये उपयुक्त काल प्रतीत होता है।

सुबन्धु कालिदास तथा कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन से अवान्तरकालीन हैं, क्योंकि इन्होंने 'वासवदत्ता' में इन दोनों कवियों का उल्लेख किया है। शकुन्तला के

द्वारा दुर्वासा के शाप के अनुभव का उल्लेख सुबन्धु को 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से परिचित सिद्ध कर रहा है। (विफलमेव दुष्यन्तस्य कृते दुर्वासस: शापमनुबभूव शकुन्तला)। यह उल्लेख निश्चित रूप से शाकुन्तल का ही है, महाभारतीय कथा का नहीं, क्योंकि मूल-कथा में दुर्वासा का शाप अनिर्दिष्ट घटना है। 'कामसूत्र-विन्यास इव मल्लनाग-घटितकान्तारसामोद:' स्पष्टत: ही कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन का निर्देश करता है। फलत: सुबन्धु का समय निश्चितरूप से कालिदास (प्रथम शती या चतुर्थ शती) तथा वात्स्यायन (पंचम शती) के पश्चाद्वर्ती है। इसलिए षष्ठ शती का अन्त उनका समय निर्णीत किया जाना उचित ही है।

ग्रन्थ

इनका एक ही ग्रन्थ है जो **वासवदत्ता** के नाम से प्रसिद्ध है।[1] सुबन्धु की इस वासवदत्ता का सम्बन्ध प्राचीन भारत की प्रसिद्ध आख्यायिका वासवदत्ता तथा उदयन की प्रणयकहानी से कुछ भी नहीं है। यह पूरा कथानक कवि के मस्तिष्क की उपज है। केवल नायिका का अभिधान प्राचीन है।

संक्षेप में कथानक यों है :—राजा चिन्तामणि का पुत्र राजकुमार कंदर्पकेतु स्वप्न में एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या को देखता है जिसकी खोज में अपने मित्र मकरन्द के साथ वह निकल पड़ता है। रात में विन्ध्य की तलहटी में वृक्ष के नीचे ठहरता है और पेड़ पर बैठी हुई सारिका से पता चलता है कि पाटलिपुत्र की राजकुमारी ने स्वप्न में कन्दर्पकेतु को देखा है जिसे खोजने के लिए उसकी सारिका तमालिका निकली है। इस प्रकार शुकदम्पति की सहायता से नायक और नायिका का मिलन होता है। दोनों के हृदय में आपस में गाढ़ अनुराग है, परन्तु वासवदत्ता का पिता शृंगारशेखर उसका विवाह किसी विद्याधर से करना चाहता है। इस अड़चन के कारण दोनों प्रेमी एक जादू के घोड़े पर चढ़कर विंध्याटवी को भाग निकलते हैं। कन्दर्पकेतु को सोते हुए छोड़कर वासवदत्ता बाहर जंगल में घूमने जाती है। वहाँ उसे पाने के लिए किरातों के दो झुंडों में लड़ाई होती है। वासवदत्ता एक ऋषि के आश्रम में चुपके से चली जाती है, जहाँ वह ऋषि के शाप से शिला बन जाती है। उधर जागने पर कन्दर्पकेतु वासवदत्ता के वियोग से आत्महत्या करने पर उद्यत होता है, परन्तु आकाशवाणी उसे रोकती है। अंत में वह जंगल में वासवदत्ता को खोज निकालता है, जो उसके छूते ही मानुषी का रूप धारण कर लेती है। पीछे मकरन्द भी आकर इनमें मिलता है। ये सब राजधानी लौटते हैं जहाँ सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

इस कहानी की छानबीन करने से स्पष्ट है कि यहाँ लोक-कथा में सर्वत्र प्रचलित अनेक रूढ़ियाँ प्रेमोत्पादन के लिए कारणभूत मानी गई हैं। कहानी की घटना बहुत ही स्वल्प तथा निर्जीव है, परन्तु सुबन्धु ने अपनी प्रतिभा पर आधारित सुन्दर वर्णनों के बल पर इनमें जान फूँक दी है। कवि यहाँ रोचक कहानी लिखने नहीं बैठा है, जिसके पात्र तथा घटनायें कौतुक और विस्मय उत्पन्न करती हों। उसका मुख्य उद्देश्य वर्णन ही है

१. सं० शिवराम की व्याख्या के साथ कलकत्ता से प्रकाशित। कृष्णमाचार्य की व्याख्या बहुत ही पाडित्यपूर्ण तथा उपादेय है—श्रीरंगम्, १९०६।

और इस वर्णन की चातुरी के लिये ही सुबन्धु की ख्याति साहित्य-जगत् में है। वासवदत्ता उन गद्य-काव्यों का प्रतिनिधित्व करती है जिनमें कथानक नितान्त स्वल्प रहता है और वर्णन प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है। कथावृत्त को कविकौशल से खूब अलंकृत तथा विशेष चमत्कृत बनाना ही कवि का ध्येय है।

समीक्षा

सुबन्धु नाना विद्याओं, तथा मीमांसा, न्याय, बौद्ध आदि नाना दर्शनों में नितान्त प्रवीण थे। इन्होंने श्लेष और उपमा के प्रसंग में रामायण, महाभारत तथा हरिवंश की अनेक प्रसिद्ध तथा अल्प-प्रसिद्ध घटनाओं और पात्रों का प्रचुर निर्देश कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया है। उनकी दृष्टि में सत्काव्य वही हो सकता है जिसमें अलंकारों का चमत्कार, श्लेष का प्राचुर्य तथा वक्रोक्ति का सन्निवेश विशेष रूप से रहता है—

"सुश्लेषवक्रघटनापटु सत्काव्यविरचनमिव।"

इसी भावना से प्रेरित होकर सुबन्धु की लेखनी श्लेष की रचना में ही विशेष पटु है। उन्होंने स्वयं अपने प्रबन्ध को 'प्रत्यक्षर-श्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्धनिधि' बनाने की प्रतिज्ञा की थी और इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह उन्होंने इस गद्यकाव्य में किया है। सुबन्धु वस्तुतः श्लेषकवि हैं। इन्होंने सभंग और अभंग उभय प्रकार के श्लेषों का विन्यास कर अपने काव्य को विचित्रमार्ग का एक उत्कृष्ट उदाहरण बनाया है। परन्तु उनके श्लेष कहीं-कहीं इतने अप्रसिद्ध, अप्रयुक्त तथा कठिन हो गये हैं कि उन्हें समझने के लिये विद्वानों के भी दिमाग चक्कर काटने लगते हैं। कहीं-कहीं तो विना कोश की सहायता के पाठक एक पग भी आगे नहीं बढ़ता और उसके ऊपर 'कोशं पश्यन् पदे-पदे' की उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है।

प्रसन्नश्लेष का यह उदाहरण रोचक तथा कमनीय है—

"नन्दगोप इव यशोदयान्वितः, जरासन्ध इव घटित-सन्धि-विग्रहः, भार्गव इव सदा न भोगः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः, सुमन्त्राधिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितो रक्षितगुश्च।"

[आशय है कि यशोदा से अन्वित नन्दगोप के समान वह राजा यश और दया से अन्वित था, जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राजा जरासन्ध के समान वह सन्धि और विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था। सदा नभ (आकाश) में गमन करनेवाले (सदा+नभो+गः) शुक्र के सदृश वह सदा दान तथा भोग से सम्पन्न था।]

सुबन्धु ने विरोध, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि नाना अलंकारों से अपने काव्य को सजाया है, परन्तु इन सब में भी श्लेष के कारण ही चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। अनेक उपमायें केवल शब्दसाम्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं। 'रक्त-पाद' होने के कारण कवि ने वासवदत्ता की उपमा व्याकरण शास्त्र से दी है। अष्टाध्यायी का एक पाद (४।२) 'तेन रक्तं रागात्' सूत्र से समन्वित है। उधर नायिका के भी पैर रक्त वर्ण के हैं। इस शब्द-साम्य के कारण ही यहाँ उपमा का चमत्कार है। नायिका का स्वरूप अत्यन्त प्रकाशमान है और इसी कारण वह उस न्यायविद्या के समान बतलाई गई है जिसके

स्वरूप का निष्पादन तथा ख्याति उद्योतकर नामक आचार्य के द्वारा सम्पन्न है (न्याय-विद्यामिव उद्योतकरस्वरूपाम्)। इस प्रकार के कौतूहलजनक उपमाओं के द्वारा पाठकों का मस्तिष्क अवश्य पुष्ट होता है तथा कवि की विलक्षण चातुरी का भी पूर्ण परिचय मिलता है, परन्तु यह केवल शाब्दी क्रीडा है, जो पाठकों के हृदय को तनिक भी स्पर्श नहीं करती। इस खेलवाड़ में कौतुक का ही विशेष स्थान है। शब्दों का यह तमाशा तमाश-बीनों के लिये ही आनन्दवर्धक हो सकता है, रसिकों के लिए नहीं।

परन्तु जहाँ सुबन्धु ने अपने श्लेष-प्रेम को छोड़कर काव्य का प्रणयन किया है वहाँ की शैली रोचक है तथा सहृदयों का पर्याप्त मनोरंजन करती है। साधारणतया गद्यकवि पद्यों के लिखने में कृतकार्य नहीं होता, परन्तु सुबन्धु का दृष्टान्त इससे विपरीत है। वे कोमल पद्यों की रचना में सर्वथा समर्थ हैं। सत्कविता की यह स्तुति बहुत ही कोमल शब्दों में विन्यस्त की गई है——

अविदितगुणापि सत्कवि-भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालती-माला ॥११॥

[जिनके गुणों का ज्ञान नहीं होता वह भी सत्कवियों की वाणी श्रोताओं के कानों में मधु की धारा उड़ेलती है। गंध से परिचय न मिलने पर भी, मालती पुष्पों की माला नेत्रों को वरबस खींचती है।]

वासवदत्ता की कल्पनाओं का प्रभाव पिछले कवियों पर भी पड़ा था। विरहदुःखों की अवर्णनीयता की यह अभिव्यंजना महिम्नःस्तोत्र के एक सुप्रसिद्ध पद्य की जननी है। सुबन्धु के शब्दों में——"त्वत्कृते याऽनया यातनाऽनुभूता सा यदि नभः पत्रायते, सागरो मेलानन्दायते, ब्रह्मा लिपिकरायते, भुजगपतिर्वा कथकायते तदा किमपि कथमप्यनेकैर्युग-सहस्रैरभिलिख्यते कथ्यते वा" (वासवदत्ता, पृ० ३०६–३०७)। [तुम्हारे लिए इसने जो यातना झेली है, वह यदि आकाश कागज बने, समुद्र दावात बने, ब्रह्मा लिखने वाला हो अथवा सर्पों का राजा कथक का काम करे तब किसी तरह से हजारों युगों में लिखी या कही जा सकती है।] महिम्नःस्तोत्र का **'असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे'** वाला प्रख्यात पद्य इसी की छाया पर निर्मित बहुत रुचिर तथा रोचक है।

सुबन्धु की यह प्रसन्न श्लेषमयी वाणी आलोचकों के लिए नितान्त आह्लादजनक है—

विषधरतोऽप्यतिविषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः ॥६॥

विद्वानों का यह कथन झूठा नहीं है कि खल विषधर सर्प से भी अत्यन्त विषम होता है। देखिए, विषधर तो केवल 'नकुलद्वेषी' ही होता है, अर्थात् वह नकुल से ही द्वेष करता है, परन्तु 'न+कुलद्वेषी' वह अपने कुल से कभी द्वेष नहीं करता, लेकिन खलों की विचित्र दशा होती है। वह तो अपने कुल से भी द्वेष तथा विरोध करता है। इस पद्य का प्राण है 'नकुलद्वेषी' पद, जो सुभग सभङ्ग के कारण नितान्त सरस तथा सरल है।

कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है, जो श्लेष के प्रपंच से रहित होने के कारण काफी मनोरंजक है। प्रभात का वर्णन इसका स्पष्ट उदाहरण है (पृ०

३१८), परन्तु यहाँ भी उपमा तथा उत्प्रेक्षा का साहित्य नहीं है। सच तो यह है कि सुबन्धु के काव्य में कलापक्ष का ही साम्राज्य है। उनकी यह 'वासवदत्ता' उस विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है जिसका प्रत्येक कक्ष चित्रों से भूषित है तथा अलंकारों के प्राचुर्य से जो दर्शकों की आँखों को हमेशा चकाचौंध किया करता है। कुन्तक के द्वारा वर्णित 'विचित्र-मार्ग' का सबसे सुन्दर उदाहरण है सुबन्धु की यही कृति। बाणभट्ट की यह आलोचना वस्तुतः श्लाघ्य तथा तथ्यपूर्ण है, जिसमें वासवदत्ता के द्वारा कवियों के दर्प को चूर्ण कर देने की बात कही गई है :—

कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पांडुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥

सुबन्धु तथा बाणभट्ट की शैली में महान् अन्तर है। सुबन्धु का गद्य यदि 'अक्षराडम्बर' का साक्षात् रूप है, तो बाण का गद्य स्निग्ध, रसपेशल 'पाञ्चाली' का भव्य प्रतीक है। सुबन्धु ने आँख मूँदकर सन्दर्भ का विना विचार रखे श्लेष का ही व्यूह खड़ा किया, परन्तु बाणभट्ट की दृष्टि वर्ण्य विषय तथा अवसर के ऊपर गड़ी हुई है। वह जो लिखते हैं वह अवसर तथा सन्दर्भ से संघर्ष नहीं करता। स्निग्ध, रसपेशल तथा हृदयावर्जक गद्य का जीवित प्रतीक बाण सहृदयों के हृदय को स्पन्दित करता है, जब कि सुबन्धु का गद्य केवल मस्तिष्क से ही टक्कर खाता हुआ कथमपि प्रवेश पाता है। दण्डी से भी सुबन्धु का पार्थक्य स्पष्ट है। दण्डी की तीव्र निरीक्षणशक्ति तथा यथार्थवादी शब्दविन्यास का अभाव 'वासवदत्ता' के लोकप्रिय न होने का पर्याप्त हेतु है। सुबन्धु, बाणभट्ट तथा कविराज के साथ 'वक्रोक्ति-मार्ग' के निपुण कवि माने गये हैं[1] अवश्य, परन्तु बाण का 'कादम्बरी' के सामने 'वासवदत्ता' का काव्य पण्डितों की गोष्ठी का ही केवल विषय है, विदग्धों की गोष्ठी से उसका सीधा सम्पर्क नहीं है।

(२) बाणभट्ट

हर्षचरित के आरम्भिक उच्छ्वासों में बाण का आत्मवृत्त वर्णित है। उसके आधार पर उनके असामान्य व्यक्तित्व का एक रमणीय चित्र हमारे सामने प्रस्तुत है। बाणभट्ट के पूर्वज सोननद पर प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। वह स्थान सम्भवतः बिहार प्रान्त के पश्चिमी भाग में था। बाण का कुल प्राचीन काल से ही धर्म तथा विद्या के लिये प्रख्यात था। इनका जन्म वात्स्यायन गोत्र में हुआ था। बाण के एक प्राचीन पूर्वज का नाम 'कुबेर' था। इनके घर पर वेदाध्ययन के लिए विद्यार्थियों का जमघट लगा रहता था। बाण ने तो कादम्बरी में यहाँ तक लिखा है[2] कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग शंकित होकर यजुर्वेद पढ़ते तथा सामवेद गाया करते थे, क्योंकि सब वेदों का अभ्यास करने वाले, मैनाओं के साथ-साथ पिंजड़ों में बैठे हुए, तोते उनको पद-पद पर

१. सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग-निपुणाः चतुर्थो विद्यते न वा॥

२. जगुर्गृहेऽभ्यस्तवाङमयैः ससारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा वटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः॥

टीका करते थे । कुबेर के चार पुत्रों में पशुपति सबसे छोटे थे । उनके पुत्र अर्थपति हुए। अर्थपति से **चित्रभानु** उत्पन्न हुए । यह भी सकल शास्त्र में पण्डित थे । उन्होंने धूम से उत्पन्न हुई कीर्ति को सकल दिगन्तों में फैलाया । इन्हीं चित्रभानु से बाणभट्ट का जन्म हुआ । थोड़ी ही उम्र में बाण के माता तथा पिता उन्हें अनाथ बनाकर इस असार संसार से चल बसे । बाणभट्ट के पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी । किसी सुयोग्य अभिभावक के न होने से बाण एक आवारा लड़का निकला । बुरे-बुरे साथियों के साथ वह आखेट और दुर्व्यसनों में लिप्त रहा । उसे देशाटन का बड़ा शौक था । कुछ साथियों के साथ वह देशाटन को निकला । बुद्धि-विकाश, सांसारिक अनुभव तथा उदार विचार कमा कर वह घर लौटा । लोग उसका उपहास करने लगे । अचानक एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण के एक दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया । पत्र में लिखा था कि श्रीहर्ष से कितने लोगों ने तुम्हारी चुगली खाई है, राजा तुमसे नाराज हो गये हैं । अत एव शीघ्र यहाँ चले आओ ! बाण श्रीहर्ष के पास गये । राजा ने पहले तो बाण की अवहेलना की, परन्तु पीछे उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न होकर बाण को आश्रय दान दिया । बाण ने कुछ दिनों तक हर्ष की सभा को सुशोभित किया । अनन्तर अपने घर लौट आये और लोगों के हर्ष का चरित पूछने पर बाण ने 'हर्षचरित' की रचना की ।

इससे स्पष्ट है कि बाण लड़कपन में बुरी संगत के कारण कुछ अव्यवस्थित से थे, परन्तु विद्वत्ता के प्रभाव से श्रीहर्ष के अत्यन्त प्रियपात्र बन गये । बाण का जीवन दारिद्र्य में नहीं बीता, बल्कि उनके पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी । हर्ष के आश्रय पाने से उनकी सम्पत्ति और भी बढ़ी । उन्होंने अपना जीवन एक सम्पन्न व्यक्ति के समान बिताया। बाण का यह जीवन साधारणतया निर्धनता में समय बितानेवाले संस्कृत कवियों के जीवन से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है । उनके पुत्र के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता । बाणभट्ट ने कादम्बरी पूरी नहीं बना पाई थी कि उनका देहान्त हो गया। पीछे उनके पुत्र ने इसकी पूर्ति की । यही कादम्बरी का उत्तरार्ध है । ऐसा निपुण तथा पितृभक्त पुत्र साहित्य-संसार में शायद ही कोई दूसरा मिल सके । उत्तरार्ध के आरम्भ में बाणतनय ने लिखा है—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः ।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य प्रारब्ध एष च मया न कवित्वदर्पात् ॥

पिताजी के स्वर्गवासी होने पर यह कथा-प्रबन्ध भी उनके वचन के साथ ही संसार में विच्छिन्न हो गया । इसके समाप्त न होने से सज्जनों के दुःख को देख कर ही मैंने इसे आरम्भ किया है, कवित्व के घमण्ड से नहीं । यह तो पिताजी का ही प्रभाव है कि उनके गद्य की भाँति मैं लिख सका हूँ, नहीं तो कादम्बरी (शराब) का स्वाद लेकर मैं बिल्कुल मतवाला सा हो गया हूँ; मुझे कुछ आगे-पीछे नहीं सूझता । मुझे भय है कि कहीं रस से वर्जित अपने वचनों से उसकी पूर्ति कर विदग्धों की अवहेलना का पात्र न बनूं—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविवर्जितेन तच्छेषमात्मवचसाप्यनुसंदधानः ॥

ऐसे निःस्पृह पुत्र का साहित्य-संसार नाम तक नहीं जानता। डाक्टर ब्यूलर ने इनका नाम भूषण भट्ट बतलाया था, परन्तु इधर की खोज से इनका नाम **'पुलिन' या 'पुलिन्दभट्ट'** सिद्ध होता है। कादम्बरी की शारदा लिपि में लिखित किसी प्रति की पुष्पिका में यही नाम मिलता है। इसकी प्रामाणिकता मुंज के समय (१० वीं सदी के अन्त) में लिखित **धनपाल की तिलकमञ्जरी** से सिद्ध होती है :—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्ध्रकृतसन्निधिः ॥

इस पद्य में श्लेषालंकार के द्वारा बाण के पुत्र का नाम 'पुलिन्ध्र' बतलाया गया है। ज्ञात नहीं कि बाणभट्ट के कितने बेटे थे। उत्तरार्द्ध कादम्बरी के रचयिता पुलिनभट्ट के विषय में हमारा ज्ञान बिल्कुल सच्चा है, परन्तु अन्य किसी पुत्र के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। एक प्रसिद्ध किंवदन्ती के आधार पर बाणभट्ट के कई पुत्रों का होना सिद्ध होता है। किंवदन्ती है कि जब बाण मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे, तब कादम्बरी को समाप्त करने की चिन्ता उन्हें सताया करती थी। उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाया और उनके साहित्यिक ज्ञान तथा प्रतिभा की परीक्षा करनी चाही। उन्होंने पुत्रों से 'आगे सूखा काठ पड़ा है' इस वाक्य का संस्कृत में अनुवाद करने को कहा। उनके ज्योतिषी पुत्र ने इस वाक्य का 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' यह कटुतापूर्ण नीरस अनुवाद किया, परन्तु उनके योग्य साहित्यमर्मज्ञ रसिक पुत्र ने 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' सरस तथा मधुर अनुवाद कर अपनी मनोहर रचनाशैली का प्रमाण पिता को दिया। पिता दूसरे पुत्र की कवि-प्रतिभा देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे ही कादम्बरी को समाप्त करने का भार सौंपा। एक किंवदन्ती[1] के आधार पर बाण 'सूर्यशतक' के कर्ता मयूर कवि के जामाता थे।

बाण का समय संस्कृत-साहित्य के लिये बड़े महत्त्व का है। उस समय विद्वानों तथा कवियों का अच्छा जमघट था। 'सूर्यशतक' के कर्ता मयूर कवि का आविर्भाव इसी समय में हुआ था। **'मानतुङ्ग'** नामक भक्त जैनाचार्य भी इसी समय में हुए थे। इनका 'भक्तामरस्तोत्र' जैनियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। मयूर तथा बाण-दोनों श्रीहर्ष के आश्रय में ही रहते थे। थानेश्वर से दूर, गुजरात की राजधानी बलभी में श्रीधरसेन के राज्यकाल में भट्टिकाव्य के कर्ता, भट्टिस्वामी का आविर्भाव भी इसी शताब्दी में हुआ था। गौतम-न्यायसूत्रों के भाष्य पर 'न्याय-वार्त्तिक' लिखनेवाले उद्योतकर का भी जन्म इसी शताब्दी में हुआ था। दण्डी ने भी बाण के कुछ ही पीछे 'दशकुमारचरित' तथा 'काव्यादर्श' की रचना की। अतः स्पष्ट है कि **बाण** का युग संस्कृत-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय है।

हर्षवर्धन के सभापण्डित होने के कारण बाणभट्ट का समय ईसा की ७वीं सदी में सिद्ध होता है। बाण का समय संस्कृत-कवियों की ऐतिहासिक क्रम-व्यवस्था के लिए बड़ा उपयोगी है। यदि बाण के हर्ष के समकालिक सिद्ध होने की बात न भी ज्ञात होती, तथापि

---

१. इस किंवदन्ती के लिये द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय रचित 'संस्कृत सुकवि-समीक्षा'– पृष्ठ २६६–२६७। (चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६)।

उनका सातवीं सदी में आविर्भाव होना परवर्ती कवियों के उद्धरणों से अवश्यमेव सि[illegible]
हो जाता। सबसे पहले वामन (७७९-८१३ ई०) ने 'काव्यालंकारसूत्र' में काद[illegible]
के एक लम्बे समासवाले गद्य को उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट ही वामन से बाणभट्ट [illegible]
प्राचीनता सिद्ध होती है। अत एव बाण का काल निश्चित रूप से सातवीं सदी है।

रचनायें

बाणभट्ट की लेखनी से अनेक ग्रन्थ-रत्नों की उत्पत्ति हुई, जिनमें से कतिपय र[illegible] साहित्य के जौहरी को देखने को मिले। सम्भवतः इनकी बहुत सी अमूल्य रचनायें [illegible] हो गई हैं। सूक्ति-संग्रहों तथा अलङ्कार-ग्रन्थों में इनके नाम से कितने ही सुन्दर पद्य मि[illegible] हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में बाण का एक पद्य उद्धृत किया है, जो काद[illegible] की विरहावस्था के वर्णन में लिखा गया है। इससे यह अनुमान निकालना स्वाभा[illegible] है कि बाण ने पद्य में भी कादम्बरी की कथा लिखी थी, परन्तु यह **'पद्यकादम्बरी'** [illegible] अभी तक उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सूक्तिसंग्रहों में बाण के नाम से [illegible] बहुत से पद्य इनके ज्ञात ग्रन्थों में नहीं मिलते, जिससे इनकी अन्य रचनाओं की सत्ता [illegible] अनुमान किया जा सकता है।

(१) मुकुटताडितक

भोज ने बाण की रचनाशैली की प्रशंसा में एक नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है-

"यादृग् गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः।"

(सरस्वती-कण्ठाभरण

कि गद्य के लेखन में बाण का जितना चमत्कार दृष्टिगोचर होता है, उतना पद्य[illegible] में भी। इस कथन का आधार क्या है? निःसन्देह 'पार्वती-परिणय' नामक नाटक [illegible] जो आन्ध्र-देशवासी वामनभट्ट बाण की रचना है। 'चण्डीशतक' के आधार [illegible] कल्पना नहीं कर सकते। तो वह कौन ग्रन्थ है? क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार[illegible] में पद्यकादम्बरी का उल्लेख किया है, जिसमें बाणभट्ट ने ही कादम्बरी की कथा को [illegible] के माध्यम से निबद्ध किया था। सुभाषित ग्रन्थों में उद्धृत पद्यों के साक्ष्य पर बाण [illegible] कोई पद्यग्रन्थ अवश्य था, जिससे ये पद्य यत्र-तत्र उद्धृत किये गये हैं। बाण की रच[illegible] की चर्चा के अवसर पर हम नलचम्पू के टीकाकार **चण्डपाल** और **गुणविजयगणि** के [illegible] निर्दिष्ट संकेत को हटा नहीं सकते, जिसमें उन्होंने बाण के द्वारा रचित 'मुकुटताडि[illegible] नामक नाटक का निर्देश तथा तत्रस्थ एक पद्य को उद्धृत किया है। इस नाम के ना[illegible] की सत्ता के विषय में भोजराज का 'श्रृङ्गारप्रकाश' भी प्रमाण उपस्थित करता है। [illegible] ने भीम के द्वारा कथित दो श्लोकों को उद्धृत किया है। 'मुकुटताडितक' नाटक महाभा[illegible] के कथानक के ऊपर आधृत है, जिसमें भीम दुर्योधन को मारकर उसके मुकुट को [illegible] फोड़ डालता है। 'वेणीसंहार' के कथानक से इसमें भिन्नता भी है। वहाँ तो वेणी [illegible] केवल संयमन ही किया गया है, परन्तु यहाँ तो दुर्योधन की राजसत्ता का भव्य [illegible] मुकुट ही भीम द्वारा ध्वस्त कर दिया गया है। भोज ने नाटक के केवल नाम का [illegible] किया है, परन्तु नलचम्पू के टीकाकारों ने स्पष्टतः उसे बाणभट्ट की रचना माना है।

जब तक कोई अन्यथा प्रमाण न मिले, तब तक 'मुकुटताडितक' को भी बाण भट्ट की ही अनुपलब्ध रचना माननी चाहिए।

(२) हर्षचरित

संस्कृत-साहित्य में यह सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। "ओजः समासभयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"—उस काल में गद्य का जीवन समास-बहुलता मानी जाती थी। इसी साहित्यिक नियम के अनुसार इस गद्यकाव्य की रचना की गई है। 'हर्षचरित' में आठ उच्छ्वास हैं। प्रथम उच्छ्वास के आरम्भ में ग्रन्थकार ने २१ श्लोक बनाये हैं, जिनमें कतिपय सामान्य बातों के अनन्तर व्यास, वासवदत्ता, भट्टार हरिश्चन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन, भास, कालिदास, बृहत्कथा जैसे मान्य कवियों तथा ग्रन्थों की प्रशस्त स्तुति है। यह वर्णन कवियों के समय-निर्देशन के लिए नितान्त महत्त्वशाली है। ये समस्त ग्रन्थ और ग्रन्थकार सप्तम शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं। शुरू के तीन उच्छ्वास बाण की संक्षिप्त जीवनी का वर्णन करते हैं और इस प्रकार 'आत्मकथा' के परिचायक हैं। इनमें वात्स्यायन वंश में जन्म, पूर्वजों का चरित, बाण का नाना संगियों के साथ देश-देशान्तर में भ्रमण तथा प्रत्यावर्तन आदि प्रथम उच्छ्वास में वर्णित है। दूसरे उच्छ्वास में हर्ष के भाई कृष्ण का लेखहारक मेखलक बाण को हर्ष के पास चलने का निमन्त्रण देता है जिसे स्वीकार कर बाण अपने गाँव से चलकर तीन पड़ावों के बाद 'अजिरवती' के तट पर मणितारा गाँव में पड़ी छावनी में जाकर श्रीहर्ष से भेंट करता है और उसका प्रेम तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। तृतीय उच्छ्वास में बाण घर लौट आता है और अपने चचेरे भाइयों के कहने पर हर्ष का चरित कहने बैठता है। आरम्भ में श्रीकण्ठ जनपद, उसकी राजधानी थानेश्वर, वंश के संस्थापक पुष्पभूति की कथा के अनन्तर तान्त्रिक साधनों में उनके सहायक **भैरवाचार्य** का विशद वर्णन है।

चतुर्थ उच्छ्वास में वंश के संक्षिप्त वर्णन के अनन्तर राजाधिराज **प्रभाकरवर्धन** तथा उनकी महिषी यशोमती का वर्णन है तथा इनके प्रथम पुत्र **राज्यवर्धन** की जन्मकथा बड़े विस्तार तथा रोचकता के साथ वर्णित है। अनन्तर हर्ष तथा राज्यश्री के जन्म का अतिविस्तृत वर्णन है। यशोमती का भाई अपने पुत्र 'भंडि' को राजकुमारों का साथी बनाता है। **मौखरि ग्रहवर्मा** के साथ राज्यश्री का विवाह बड़े ठाटबाट से तथा राजसी वैभव के साथ सम्पन्न होता है। पञ्चम उच्छ्वास से राजकुमारों की विजयगाथा आरम्भ होती है। हूणों को जीतने के लिए राज्यवर्धन हर्ष तथा सेना के साथ प्रस्थान करता है। हर्ष शिकार खेलने के लिए जाता है और पिता की असाध्य बीमारी का हाल सुनकर राजधानी लौट आता है। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पूर्व ही यशोवती सती हो जाती है और मृत्यु के अनन्तर समस्त प्रजा महान् शोक से संतप्त हो जाती है। षष्ठ उछ्वास में राज्यवर्धन के लौटने तथा पिता द्वारा हर्ष को राज्य देकर स्वयं छुटकारा पाने का प्रथमतः वर्णन है। ग्रहवर्मा की मृत्यु तथा मालव-नरेश द्वारा राज्यश्री को बंदी बनाना सुनकर उसका प्रतिकार करने के लिए राज्यवर्धन अकेले ही जाता है, वह मालव-नरेश को तो परास्त करता है, परन्तु गौडेश्वर शशांक के हाथ स्वयं मारा जाता है। हर्ष इसका बदला लेने की गम्भीर प्रतिज्ञा करता है।

सप्तम उछ्वास श्रीहर्ष के दिग्विजय का रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है। वह अपनी विपुल सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है। इसी समय प्राग्ज्योतिषेश्वर **भास्करवर्मा** का दूत हंसवेग अनेक प्रकार की भेंट तथा मैत्री का संदेश लेकर आता है। हर्ष सेना के साथ विन्ध्य प्रदेश में पहुँचता है तथा मालवराज पर विजयी होता है। भंडि मालव-राज की सेना तथा खजाने पर अधिकार करता है। अष्टम उच्छ्वास में हर्ष एक शबर युवक की सहायता से अपनी बहिन 'राज्यश्री' को खोजने का प्रयास करता है, जो कारागृह से निकलकर विन्ध्य के जंगल में इतस्ततः भटकती है। वह बौद्ध भिक्षु **दिवाकरमित्र** के आश्रम में पहुँचता है जहाँ एक भिक्षु आग में जलने के लिए तैयार किसी विपन्न **स्त्री** का पता देता है। हर्ष वहाँ जाकर अपनी बहन को समझा-बुझा कर **दिवाकरमित्र** के आश्रम में ले आता है, जो राज्यश्री को हर्ष के अनुसार जीवन-यापन की शिक्षा देता है। हर्ष भी सूचित करता है कि दिग्विजय-विषयक प्रतिज्ञा की पूर्त्ति होने पर वह स्वयं राज्यश्री के साथ ही गेरुआ वस्त्र धारण कर लेगा।

हर्षचरित के इस क्रमिक सारांश से स्पष्ट पता चलेगा कि वह कोई आधुनिक ढंग का रूखा-सूखा घटनाप्रधान इतिहास नहीं है, प्रत्युत विशुद्ध साहित्यिक शैली में निबद्ध एक रोचक वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य है। आधार है राजा हर्ष का इतिहास-प्रख्यात जीवन, परन्तु उसे अलंकृत तथा सजाने का कवि ने अपनी ओर से खूब प्रयत्न किया है। इसीलिए यह काव्यात्मक आख्यायिका अपने विशिष्ट काव्यप्रकार का आदर्श मानी जाती है। सामान्य रीति से वीररस की प्रधानता है, परन्तु करुणरस के उन्मेष में भी बाण ने अपनी लेखनी को सिद्ध लेखनी दिखलाया है। मरणासन्न प्रभाकरवर्धन का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया गया है। सतीवेश में यशोवती का वर्णन तथा उसका अन्तिम विलाप (पञ्चम उच्छ्वास), राज्यवर्धन का शोक वर्णन भी बाण के रससिद्ध काव्य के कुछ उज्ज्वल अंश हैं। दिग्विजय के लिए श्रीहर्ष के प्रयाण का वर्णन भी जीता-जागता तथा स्वानुभूत प्रतीत होता है। सप्तम उच्छ्वास में सायंकाल, वनग्राम (जंगली गाँव) तथा वहाँ के घरों का वर्णन बड़ी सरलता से किया गया है। हर्षचरित इस काव्यवैभव के लिए ही प्रख्यात नहीं है, प्रत्युत वह सप्तम शती के भारत का एक अत्यन्त उज्ज्वल तथा प्रामाणिक चित्र खींचता है। हर्ष के जीवन की घटनावली ज्ञात इतिहास से कहीं भी अनमेल नहीं जमती। उस युग की सांस्कृतिक उन्नति का यह परम परिचायक ग्रन्थरत्न है। इसकी सहायता से हम उस काल की वेष-भूषा, आचार-विचार, सेवा के प्रकार तथा प्रयाण की कला का जीता-जागता चित्र पाते हैं। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर शिल्पियों ने अपने अनुरूप जो भूषणसज्जा तैयार की है वह कला की दृष्टि से अनुपम है। इसी प्रसंग में नाना प्रकार के बाँधनू की रँगाई के कपड़ों का वर्णन बड़ा ही रोचक, ज्ञानवर्धक तथा सांस्कृतिक है। इस दृष्टि से हर्षचरित का मूल्य तथा महत्त्व ऐतिहासिकों के लिए बहुत ही अधिक है।[1]

---

१. द्रष्टव्य डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का ग्रन्थ—'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' (पटना, १९५३)।

(३) कादम्बरी

कथा—कादम्बरी की कथा एक जन्म से सम्बद्ध न होकर चन्द्रापीड तथा पुण्डरीक के तीन जन्मों से सम्बन्ध रखती है। आरंभ में विदिशा के राजा शूद्रक के प्रभाव तथा वैभव का परिचायक वर्णन है। उसके दरबार में एक परम सुन्दरी चाण्डालकन्या 'वैशम्पायन' नामक शुक को लेकर आती है जो मनुष्य की बोली में बोलता है और श्रोताओं के परम मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करता है। यही कादम्बरी की कथा आरम्भ करता है जिसके साथ वह स्वयं सम्बद्ध रहता है। इसी के बीच में ऋषि जाबालि के द्वारा वर्णित राजा चन्द्रापीड और उनके मित्र वैशम्पायन की कथा आती है। राजा चन्द्रापीड दिग्विजय के प्रसंग में हिमालय प्रदेश में जाता है। किन्नर-मिथुन के पीछे वह बड़ी दौड़धूप लगाता है। वह मिथुन तो अन्तर्हित हो जाता है और राजा 'अच्छोद' नामक दिव्य जलाशय के पास पहुँचता है, जहाँ वह अपने घोड़े को बाँधकर शिवालय में वीणावादिनी **महाश्वेता** के संगीत से आकृष्ट होकर जाता है और उससे परिचय पाकर उसकी प्रिय सखी **कादम्बरी** का दर्शन करता है। चन्द्रापीड और कादम्बरी के हृदय में दोनों के प्रति नैसर्गिक मधुर आकर्षण उपजता है, परन्तु प्रणय की पूर्ति के पहले ही राजा अपनी राजधानी उज्जैनी लौट आता है। ताम्बूल करंकवाहिनी **पत्रलेखा** कादम्बरी के वास्तव प्रेम का सन्देश लाती है और यहीं पूर्वकादम्बरी का अन्त होता है।

उत्तरभाग में चन्द्रापीड महाश्वेता के पास लौटता है और अपने प्रिय मित्र वैशम्पायन की विपत्ति का हाल जान लेता है, जो महाश्वेता से प्रणय स्थापित करने का उद्योग करता है, परन्तु उस तपस्विनी का कोपभाजन बन तोता बन जाता है। चन्द्रापीड अपने सुहृद् की विपत्ति से शोकाक्रान्त होकर अपना शरीरत्याग करता है। समाचार पाकर कादम्बरी आती है और विलाप करती है। चन्द्रापीड के माता-पिता—विलासवती और तारापीड—इस दुःखद घटना से नितान्त उद्विग्न हो उठते हैं (जाबालि-कथा की समाप्ति)। कपिञ्जल अपने मित्र शुक (जो वास्तव में मन्त्रिपुत्र वैशम्पायन है) को खोजने के लिए जाबालि के आश्रम में आता है और मित्र की दुरवस्था से दुःखित होता है। शुक उड़कर एक चाण्डाल के पास चला जाता है जो उसे अपनी कन्या को देता है और वही चाण्डाल-कन्या उसे शूद्रक के दरबार में लाती है। वह चाण्डाल-कन्या वस्तुतः पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है तथा पुण्डरीक ही उस जन्म का वैशम्पायन तथा इस जन्म का शुक है। राजा शूद्रक स्वयं पूर्व जन्म का राजा चन्द्रापीड है, जो कभी स्वयं चन्द्रमा था, परन्तु शापवश भूतल पर आया था। लक्ष्मी अन्तर्हित हो जाती है तथा शूद्रक और शुक का भी शरीरपात हो जाता है, जिससे चन्द्रापीड का पड़ा हुआ मृतक शरीर पुनर्जीवित हो जाता है और पुण्डरीक भी आकाश से उतर आता है। पुण्डरीक से महाश्वेता का तथा चन्द्रापीड से कादम्बरी का मिलन होता है और ये प्रणयी-युगल सुख से अपना जीवन बिताते हैं।

कादम्बरी बाणभट्ट की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है तथा यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पुलिन्द भट्ट की कृति है। कादम्बरी संस्कृत के गद्य-साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। भाषा और भाव, शब्द और अर्थ—दोनों का

उचित सम्मिलन इस गद्य-काव्य में लक्षित होता है। वर्णनों की सुन्दरता की क्या पूछी जाय ? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर-सैन्य रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आत्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभा रही है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अंक में विहार करनेवाली कलभाषिणी वीणा की तरह मंजुवादिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अलोक-सामान्य सौख्यों का अनुभव करनेवाली गन्धर्वराज-कन्या सरस-हृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त-चंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही अलंकारों की मधुर झनक कानों को सुख दे रही है—रागात्मिका वृत्ति की सुगम व्यंजना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है कि अलंकार तथा रस के मधुर-मिलन में—भाषा तथा भाव के परस्पर संपर्क में कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में—कादम्बरी संस्कृतसाहित्य में अनुपम है—अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देनेवाली सच्ची 'कादम्बरी' है—मीठी मदिरा है।

समीक्षा

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य-काव्य कादम्बरी अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीन काल में ही समालोचकों की दृष्टि बाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी थी। गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी भाँति पुरुष रूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप धारण किया—

> जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
> प्रागल्भ्यमधिकमाप्तु वाणी बाणो बभूवेति॥

बाणभट्ट के काव्य में चरित्र-चित्रण की अद्भुत कला है। उनके पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि उनकी मंजुल मूर्ति हमारे नेत्रपटल के सामने आकर उपस्थित हो जाती है। प्रजा-पालक तथा पराक्रमी महाराज शूद्रक की वीर मूर्ति सबके हृदय में उत्साह का संचार करती है। सौम्य तापस हारीत, ज्ञानवृद्ध जाबालि, वदान्य नरपति तारापीड, शास्त्र तथा लोककुशल अमात्य शुकनास, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कमनीयकलेवरा कादम्बरी—कवि की तूलिका से चित्रित ये पात्र पाठकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। सच्चा कवि वही होता है जो संसार का विविध अनुभव प्राप्त कर उसके मार्मिक पक्ष के ग्रहण में समर्थ होता है। इसी कसौटी पर कसने से बाणभट्ट की कविता खरे सोने के समान खरी उतरती है। कवि का लोकवृत्त-ज्ञान नानाविध तो था ही, पर उसकी यथार्थता और भी चमत्कारिणी है। बाणभट्ट कभी तो सुख-समृद्धि तथा भोग-विलास के जीवन चित्रित करने में अनुरक्त दीख पड़ते हैं, तो कभी वे तपस्वी जीवन की मार्मिक अभिव्यंजना में निरत दिखाई पड़ते हैं। तथ्य यह है कि बाणभट्ट का

अनुभव ही विशाल, विविध तथा यथार्थ था। बाण के पात्र वैयक्तिकता से मण्डित विशिष्ट प्राणी हैं।

प्रकृति-निरीक्षण

कादम्बरी में प्रकृतिवर्णन बड़ा ही सुन्दर तथा सजीव हुआ है। संस्कृत के कुछ महाकवि प्रकृति के मंजुल रूप के चित्रण में ही चतुर दीख पड़ते हैं, तो कुछ कवि प्रकृति के भयावह तथा रोमाचकारी स्वरूप के वर्णन में कृतकार्य प्रतीत होते हैं, परन्तु बाणभट्ट की यह भूयसी विशेषता है कि उनकी लेखनी ने प्रकृति के उभय प्रकार के मधुर तथा भयावह दृश्यों के वर्णन में समभाव से सफलता प्राप्त की। इन दृश्यों के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए कवि ने नाना अलङ्कारों की सहायता ली है। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या का स्तूप खड़ा कर कवि ने पाठकों के सामने अपने वर्ण्य विषय की मञ्जुल अभिव्यंजना की है। विन्ध्याटवी के भयंकर रूप का चित्रण बाण ने जितनी सफलता के साथ किया है यह सचमुच आश्चर्यजनक है। विन्ध्याटवी गिरितनया पार्वती के समान स्थाणु (शङ्कर तथा वृक्ष) से युक्त एवं मृगपति से सेवित है। जानकी के समान लव-कुश (कुश लव नामक लड़के तथा कुश के छोटे-छोटे टुकड़े) को उत्पन्न करनेवाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमद के सुगन्ध को धारण करनेवाली तथा सुन्दर अगरु और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस काम-परायण उत्कंठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पल्लवों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो। महर्षि जाबालि के आश्रम का सात्त्विक मनोरम वर्णन पढ़ किस पुरुष का चित्त तपोवन की भव्यमूर्ति से प्रभावित नहीं होता ? तपोवन के वर्णन में जितनी प्रभावोत्पादक बातों की आवश्यकता है उन सबका एकत्र वर्णन कर कवि ने सचमुच हमारे सामने बड़ा ही अनुपम दृश्य प्रस्तुत किया है। हम इस दृश्य को कभी नहीं भूल सकते जिसमें बाणभट्ट ने आश्रम के वृद्ध, अंध तापसों को परिचित वानरों के द्वारा छड़ी पकड़कर भीतर आने और बाहर ले जाने का वर्णन किया है—**परिचितशाखामृग-कर-दृष्टयष्टि-निष्काश्य-मान-प्रवेश्यमान-जरदन्धतापसम्**। ऋतुओं का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रभात तथा सन्ध्या, अन्धकार तथा चन्द्रोदय आदि प्रकृति के नाना दृश्यों के वर्णन बड़ी ही सहृदयता तथा यथार्थता के साथ अङ्कित किये गये हैं। **अच्छोद सरोवर** का वर्णन भी कवि की निरीक्षण शक्ति के प्राचुर्य का सुतरां बोधक है। बाण जानते हैं कि वायु के द्वारा उद्भूत जल-तरंग के कणों में सूर्य की किरण पड़ने पर हजारों इन्द्रधनुष उत्पन्न होते हैं। कहीं तट के ऊपर उगने वाले कदम्ब के पेड़ों से बन्दरों के कूदने का वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक है (तट-कदम्बशाखाधिरूढ-हरिकृतजलप्रपातक्रीडम्)। सरोवर की स्वच्छता के प्रदर्शन के लिए बाण ने उपमाओं की लड़ी खड़ी कर दी है।

> अद्य परिसमाप्तमीक्षणयुगलस्य द्रष्टव्यदर्शन-फलम्, आलोकितः खलु रमणीयानामन्तः दृष्टः आल्हादनीयानामवधिः, वीक्षिता मनोहराणां सीमान्त-लेखा, प्रत्यक्षीकृता प्रीतिजनननानां परिसमाप्तिः, विलोकिता दर्शनीयानामवसानभूमिः।

सुभगपदों का विन्यास इससे अधिक सुन्दर क्या हो सकता है ?

कादम्बरी का कलापक्ष

बाण की कादम्बरी में प्रकृति के सौम्य तथा उग्र रूप का वर्णन जितना रोचक है, उतना ही रोचक है उसके नाना वस्तुओं का वर्णन। वर्णनों को संश्लिष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए, भावों में तीव्रता प्रदान करने के हेतु बाण ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है, परन्तु 'परिसंख्या' अलंकार के तो वे सम्राट् प्रतीत होते हैं। बाण के समान किसी अन्य कवि ने 'श्लिष्ट परिसंख्या' का इतना चमत्कारी प्रयोग शायद ही किया हो। इन अलंकारों के प्रयोग ने बाण के गद्य में अपूर्व जीवनी-शक्ति डाल दी है। आदर्श गद्य के जिन गुणों का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है वे उनके गद्य में विशदतया वर्तमान हैं—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

अर्थ की नवीनता, स्वाभावोक्ति की नागरिकता, श्लेष की स्पष्टता, रस की स्फुटता, अक्षर की विकटबन्धता का एकत्र दुर्लभ सन्निवेश कादम्बरी को मंजुल रसपेशल बनाये हुए है। उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चम्पक पुष्पों के समान मनमोहक होते हैं—निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव। 'रसनोपमा' का यह उदाहरण कितना मनोरम है—

क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरेण इव मदेन नवयौवनेन पदम्।

'परिसंख्या' का यह रोचक प्रयोग विदग्धों का नितान्त हृदयावर्जक है जहाँ बाणभट्ट जाबालि के आश्रम का सुन्दर चित्र खींच रहे हैं :—

यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितम्, वयःपरिणामे द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतव्यसनम्, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः।

[वहाँ महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिड़ियों का वध नहीं होता था); वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायुपुराग) में था (वायु के झोंके में कोई बक-झक नहीं करता था); द्विजों—दाँतों—का गिरना बुढ़ापे में होता था, (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे; क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे); जड़ता उपवन के चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं, भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नि में थी, अन्यत्र नहीं; गीत सुनने का व्यसन मृगों को था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था); नाचने के समय मयूरों के पंख गिरते थे (और किसी को नृत्य के लिए विशेष अनुराग न था); भोग (फण) साँपों को था, मनुष्यों में भोग नहीं था; वानरगण श्रीफल (विल्व) के अभिलाषी थे, अन्य जन लक्ष्मी के फलों (श्रीफल) के इच्छुक न थे; अधोगति (नीचे जाना) वृक्षों की जड़ों में थी, मनुष्यों में नहीं।]

कादम्बरी का हृदयपक्ष

कादम्बरी में हृदयपक्ष का प्राधान्य है। कवि अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करता है, उनकी अवस्था–विशेष में होनेवाली मानस वृत्तियों का विश्लेषण करता है तथा उचित पदन्यास के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है। पुण्डरीक के वियोग में महाश्वेता के हार्दिक भावों की रम्य अभिव्यक्ति बाण की ललित लेखनी का चमत्कार है। चन्द्रापीड के जन्म के अवसर पर राजा तथा रानी के हृदयगत कोमल भावनाओं का चित्रण बड़ा ही रमणीय तथा तथ्यपूर्ण हुआ है। चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के अनन्तर स्वदेश लौट आने पर कादम्बरी के भावों का चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुन्दर निदर्शन है। बाण की दृष्टि में प्रेम भौतिक सम्बन्ध का नामान्तर नहीं है, प्रत्युत वह जन्मान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक संबंध का परिचायक है। कादम्बरी 'जन्मान्तर-सौहृद' का सजीव चित्रण है। विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के द्वारा एक सूत्र में बाँधनेवाली यह प्रणयकथा है। बाणभट्ट ने दिखलाया है कि सच्चा प्रेम कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। वह संयत तथा निष्काम होता है। काल की कराल छाया न उसे आक्रान्त कर सकती है, न काल का प्रवाह उसकी स्मृति को मलिन और धुँधला बना सकता है। महाश्वेता तथा पुण्डरीक का, कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का अनेक जन्मों में अपनी चरितार्थता तथा सिद्धि प्राप्त करनेवाला प्रेम इस आदर्श प्रणय का सच्चा निदर्शन है।

कवि ने जिस प्रणय की मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाहरी चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर केवल अनुरक्तिमात्र नहीं है, प्रत्युत वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्थल को परस्पर बाँधनेवाला और अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करनेवाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है। कादम्बरी की प्रणयलीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अपने माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती। शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ़ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भली-भाँति प्रमाणित करती है।

शुकनास ने राजकुमार चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों के वर्णन-प्रसंग में नीति तथा काव्य दोनों का बड़ा ही रम्य चमत्कार प्रस्तुत किया है। रूपों का विन्यास तथा उपमा का निवेश इतना सुन्दर है कि लक्ष्मी की मूर्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव हो उठती है। "लक्ष्मी तृष्णारूपी बिषलता के लिए संवर्धन की जलधारा है, इन्द्रिय-रूपी मृगों को लुभाने के लिए व्याध की गति है, सच्चरितरूपी चित्रों को पोंछ डालने के लिए धूम की रेखा है, यह सब अविनयों की पुरःसर पताका है, क्रोधावेग-रूपी ग्राहों की उत्पत्ति के लिए नदी है; विषयमधुओं की यह आपान भूमि है"—यह वर्णन रूपक की छटा से कमनीय है। अन्यत्र विरोधाभास का अपूर्व विलास है। कवि के विचार बड़े ही उदार तथा उदात्त हैं, लक्ष्मी के कारण उत्पन्न होनेवाले समस्त दोषों का इतना सूक्ष्म वर्णन कवि की दूरंगमा दृष्टि का प्रत्यक्ष फल है। महाश्वेता का दर्शन कर पुण्डरीक की

कामवासना का चित्रण बाण के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचायक है। कवि कह रहा है कि पुण्डरीक के हृदय में नये आनेवाले अतिथि मदन के लिए प्रत्युद्गमन करनेवाले रोमों का उद्गमन हो गया। मुनि के हाथ की रुद्राक्षमाला कम्प के कारण हिलने लगी, मानों वह व्रत के भंग से डर गई हो।

बाण की गद्यशैली : पाञ्चाली

बाणभट्ट की शैली गद्य कवियों के लिए आदर्शभूत है। वे प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं। जो आलोचक बाण के गद्य को भारतीय जंगलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं, वे सचमुच यथार्थता से कोसों दूर हैं। चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए बाणभट्ट ने समासबहुल ओजोगुण से मण्डित शैली का स्थान-स्थान पर अवश्य आश्रय लिया है, परन्तु अन्यत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाया है। कवि किसी एक शैली का क्रीतदास नहीं होता। वह तो विषय के अनुसार अपनी शैली को परिवर्तित किया करता है। जिस बाणभट्ट ने अटवी तथा सन्ध्या के वर्णन में दीर्घ समासों की छटा दिखलाई है, वे ही विरह-वर्णन के अवसर पर लघुकलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत करते हैं। बाण की लेखनशैली विषय-वर्णन के नितान्त अनुरूप, उचित तथा सरस है। जहाँ हृदय के भावों की अभिव्यञ्जना है वहाँ न तो समासों का प्रयोग है और न वाक्यों की दीर्घता है; छोटे-छोटे वाक्यों में ही वहाँ उचित वर्णन है। कपिञ्जल ब्रह्मचारी पुण्डरीक की मदनव्यथा से संतप्त होने के अवसर पर भर्त्सना कर रहा है—

> सखे पुण्डरीक ! नैतदनुरूपं भवतः, क्षुद्र-जनक्षुण्ण एव मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित् प्राकृत इव विकलीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। क्व ते तद् धैर्यम् ? क्वासौ इन्द्रिय-जयः ?

उपदेश देने के समय विषय को हृदयंगम तथा प्रभावशाली बनाने के विचार से इसी शैली का प्रयोग है। मन्त्री शुकनास युवराज चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों को दिखलाते समय लघु वाक्यों का प्रयोग कर रहा है—

> लब्धापि दुःखेन पाल्यते। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमभीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति।

परन्तु राजवैभव, नारी की रूपछटा और प्रकृति की रमणीयता के चित्रण के अवसर पर कवि दीर्घ समास तथा अलंकारों से मण्डित वाक्यों का प्रयोग करता है, जिससे पाठकों के हृदय पर वर्णन अपने संश्लिष्ट तथा संघटित रूप में अपने अंग-प्रत्यङ्ग से परिपूर्ण भाव में अपना प्रभाव जमावे तथा उनके नेत्रों के सामने वस्तु का पूर्ण चित्र झलक उठे। शूद्रक, जाबालि का आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी का वर्णन इसी शैली में प्रयुक्त होने से इतने सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बाण के गद्य में शैली तथा वर्ण्य विषय में अद्भुत सामञ्जस्य है।

सच तो यह है कि बाण के गद्य में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, चमत्कृत वर्णन-प्रणाली, अक्षयशब्द-राशि तथा कल्पनाप्रसूत मौलिक अर्थों की उद्भावना विशेष रूप से पाई जाती है। उनके गद्य में इतना प्रभाव तथा प्रवाह है कि अनुकरण करनेवाले कवियों के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके गद्य में इतना चमत्कार उत्पन्न नहीं हो पाता। इसीलिए तो **त्रिलोचन कवि** की दृष्टि में बाण की रसभाववती कविता के सामने अन्य कवियों की रचना केवल चपलतामात्र है :—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत् कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम्॥

राजशेखर के मत में बाण की शैली पांचाली रीति का भव्य निदर्शन है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिला-भट्टारिका-वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

पाञ्चाली शैली का प्राण है—वर्ण्यविषय के अनुरूप पदों का विन्यास। जैसा अर्थ वैसा शब्द। यदि वर्ण्य विषय घनघोर अरण्यानी है, तो कवि की वाणी उत्कट पदावली से मण्डित है। यदि वह कामिनी के रूपलावण्य का चित्रण है, तो कवि का पदविन्यास नितान्त ललित तथा कमनीय है। शब्द के ऊपर अखण्ड साम्राज्य बाण की अन्यतम विशिष्टता है। जो वस्तु एक बार कह दी गयी या पद-प्रयोग हो गया है, सो हो गया। फिर उसके दुहराने की कहीं आवश्यकता ही नहीं। शब्द-दरिद्र कवि ही उन्हीं शब्दों को बार-बार दोहराता है,परन्तु शब्द का धनी कवि शब्द-प्रयोग में कभी कंजूसी नहीं करता। उसे कमी ही किस बात की है ? इस प्रकार बाणभट्ट के वर्णन में स्निग्धता है, रुचिरता है, सुगढ़ चिक्कणता है। उनमें कोई भी वस्तु अनगढ़ नहीं। कादम्बरी तो उस बगीचे के समान है जिसका प्रत्येक अवयव, प्रत्येक वस्तु कवि के द्वारा खूब सजाई गई है और जिसमें सुन्दर गुलदस्तों की बहार अपने रंग से तथा अपनी महक से पाठकों का हृदय अपनी ओर बलात् खींच लेती है।

बाण संस्कृत भाषा के सम्राट् हैं। शब्दों पर उनकी अद्भुत प्रभुता है, गद्य में अद्भुत प्रवाह है। कहीं उनका गद्य घोर रोर करने वाली बरसाती नदियों की भाँति बड़े वेग से बहता है, तो कहीं वह शरत्कालीन शान्त सरिता के समान मन्द गति से चलकर अपूर्व सौन्दर्य दिखलाता है। वाक्यों के नवीकरण की विलक्षण योग्यता बाणभट्ट में है। 'कथितपदता' तो ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलती। सर्वत्र नवीन पदविन्यास, नूतन अर्थाभिव्यक्ति, अभिनव भावभंगी आलोचकों के लिए विस्मयावह आनन्द का साधन बनती है। संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मजुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यञ्जना हो सकती है—इसकी पूर्ण परिचायक बाणभट्ट की कादम्बरी है। इसीलिए प्राचीन आलोचक **धर्मदास** मुग्ध होकर बाण की स्तुति में यथार्थ रूप से कह रहे हैं—

रुचिर-स्वर-वर्णपदा रसभाववतो जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

(३) दण्डी

'अवन्ति-सुन्दरी' के आधार पर दण्डी का थोड़ा चरित्र प्राप्त होता है। कवि भारवि के तीन लड़के हुए, जिनमें **'मनोरथ'** मध्यम पुत्र था। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें **'वीरदत्त'** सबसे छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम **'गौरी'** था। इन्हीं से कविवर दण्डी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता-पिता मर गये थे। ये काञ्ची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जंगलों में इधर-उधर भटकते फिरते थे। अनन्तर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की नगरी में आ गए और वहीं रहने लगे। भारवि और दण्डी के सम्भावित सम्बन्ध के विषय में अब संदेह होने लगा है। जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह दामोदर की एकता मानी जाती थी उस श्लोक में नये पाठ-भेद मिलने से इस मत को बदलना पड़ा है। नया पाठ नीचे दिया जाता है—

> स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्।
> अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥१।२३

पहला पाठ प्रथमान्त 'भारविः' था, अब उसके स्थान पर द्वितीयान्त 'भारविं' मिला है जिससे यह अर्थ निकलता है कि भारवि की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन के साथ हो सकी। अतः दामोदर दण्डी के प्रपितामह थे, भारवि नहीं। इस नये पाठ-भेद से दोनों के समय-निरूपण के विषय में किसी तरह का परिवर्तन आवश्यक नहीं है। इस वर्णन से दण्डी के अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है। भारवि का सम्बन्ध उत्तरी भारत से न होकर दक्षिण भारत से था। हिन्दुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) दण्डी की जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था। भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस वर्णन से दक्षिण भारत की एक किंवदन्ती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम॰ रंगाचार्य ने एक किंवदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दण्डी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुण **वाचस्पति** की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में काञ्ची तथा वहाँ के शासक पल्लव-नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

> नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
> अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः॥

अत एव दण्डी को काञ्ची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानना इतिहास तथा किंवदन्ती दोनों से सिद्ध होता है।

स्थिति-काल

नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का नामोल्लेख पाये जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघली भाषा के अलंकार-ग्रन्थ

'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है[1]। इसका रचयिता, **राजा सेन प्रथम** महावंश के अनुसार ८४६-६६ ई० तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ भाषा के अलंकारग्रन्थ **'कविराजमार्ग'** में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से पूर्णतः लिये गये हैं या कहीं-कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गये हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण तो दण्डी से अक्षरशः मिलते हैं। इस के लेखक **'अमोघवर्ष'** का समय ८१५ ई० के आसपास माना जाता है। अत एव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनन्तर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती। यह तो दण्डी के काल की अंतिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिए। यह निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दण्डी की ही मौलिक रचना नहीं हैं, उनमें प्राचीनों के भी पद्य सन्निविष्ट हैं। 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीति-सुभगं वचः' में दण्डी के 'इति' शब्द के स्पष्ट प्रयोग से यहाँ जाना जाता है कि कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' से ही उद्धरण दिया गया है। अतः इनके कालिदास के अनन्तर होने में तो संदेह का स्थान ही नहीं है, परन्तु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के भी अनन्तर प्रतीत होते हैं।

> अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
> दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥

काव्यादर्श के इस पद्य में कादम्बरी में चन्द्रापीड को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है। दण्डी को बाणभट्ट (७ वीं सदी पूर्वार्द्ध) के अनन्तर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती है। प्रो० पाठक की सम्मति में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य हेतु का विभाग वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है।[2] काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंहवर्मा द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें, तो किसी प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य[3] तथा डाक्टर बेलवल्कर[4] ने भी इन दोनों की एकता मानकर दण्डी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैव-धर्म के उत्तेजक पल्लवराज नरसिंह वर्मा का समय ६९०-७१५ ई० माना जाता है। अतः इनके सभा-कवि दण्डी का भी समय बाणके पश्चात् सप्तम शती के अन्त तथा अष्टम के आरम्भ में मानना उचित प्रतीत होता है।

दण्डी के ग्रन्थ

राजशेखर ने इस प्रख्यात पद्य में दण्डी के तीन प्रबन्धों के अस्तित्व का स्पष्ट निर्देश किया है—

> त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
> त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

---

१. डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०५।

२. पाठक—इंडियन ऐण्टिक्वेरी १९१२ ई०। ३. वही, १९१२ ई०, पृ० ९०।

४. काव्यादर्श द्वितीय परिच्छेद पर टिप्पणी, पृ० १७६-७७।

दण्डी की इस विश्रुत प्रबन्धत्रयी में **काव्यादर्श** निःसन्देह अन्यतम रचना है—इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। आज कोई भी विज्ञ आलोचक **'छन्दोविचित'** तथा **'कला-परिच्छेद'** को, जो काव्यादर्श के आरम्भ तथा अन्त में निर्दिष्ट किये गये हैं, स्वतन्त्र ग्रन्थ मानने के पक्ष में नहीं है। 'छन्दोविचिति' तो छन्दःशास्त्र का ही अभिधान है और दण्डी ने भी स्वयं इसे काव्य में प्रवेश पाने के लिए विद्या के रूप में निर्दिष्ट किया है (सा विद्या नौविविक्षूणाम्—काव्यादर्श १।१०) दण्डी की ही दृष्टि में यह विद्या है, रचना नहीं। इसी प्रकार 'कलापरिच्छेद' भी काव्यादर्श का ही कोई अनुपलब्ध अंश है, जिसे दण्डी ने अवश्य लिखा था, परन्तु आज उपलब्ध नहीं है।

दण्डी का द्वितीय ग्रन्थ कौन है ? दण्डी के नाम से 'दशकुमार-चरित' नामक रोमाञ्चक आख्यानों तथा कौतूहल से परिपूर्ण ग्रन्थ पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। दशकुमार-चरित के विभिन्न पाठ-संस्करणों की परीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—भूमिका, मूल ग्रन्थ तथा पूरक भाग, जिनमें क्रमशः ५,८ तथा १ उच्छ्वास हैं। ये तीनों भाग आपस में मेल नहीं खाते। भूमिका भाग (५ उच्छ्वास) पूर्वपीठिका के नाम से प्रख्यात है तथा पूरक भाग उत्तर पीठिका के नाम से। और मध्यवर्ती मूल ग्रन्थ दशकुमार-चरित के अन्वर्थक नाम से प्रख्यात है। मूलग्रन्थ और पूर्वपीठिका के कथानकों में अत्यन्त घटना-वैषम्य है। मूलग्रन्थ के आठ उच्छ्वासों में केवल आठ ही कुमारों के विचित्र चरित का उपन्यास है, परन्तु नाम की सार्थकता सिद्ध करने के विचार से पूर्वपीठिका में अवशिष्ट कुमारों का चरित जोड़ दिया गया है और अधूरे ग्रन्थ को पूर्णता की कोटि पर पहुँचाने के लिए अन्त में उत्तरपीठिका भी जोड़ दी गई है। इस प्रकार आरंभ में पूर्वपीठिका और अन्त में उत्तरपीठिका से संपुटित समग्र ग्रन्थ ही आज 'दशकुमार-चरित' के नाम से प्रख्यात है।

इधर दण्डी के नाम से प्रकाशित **'अवन्तिसुन्दरी[1]-कथा'** तथा दशकुमारचरित के तुलनात्मक अनुशीलन से प्रतीत होता है कि कथा ही दण्डी की मौलिक रचना है। हस्त-लेखों की पुष्पिका का प्रामाण्य तो है ही, **अप्पयदीक्षित** (प्रसिद्ध वेदान्ती से भिन्न व्यक्ति) ने अपने **'नामसंग्रहमाला'** नामक ग्रन्थ में 'इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगात्' लिखकर दण्डी को इस ग्रन्थ का प्रामाणिक रचयिता सिद्ध किया है। इस कथा में 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका में वर्णित वृत्त है। अतः अनुमान लगाना सहज है कि 'अवन्तिसुन्दरी' ही दण्डी की विश्रुत कथा है, जिसका सारांश किसी व्यक्ति ने दशकुमारचरित की पूर्व-पीठिका के रूप में उपनिबद्ध किया। यह तथ्य ध्यातव्य है कि दशकुमारचरित का नाम न तो अलंकार के किसी ग्रन्थ में और न किसी व्याख्या-ग्रन्थ में ही निर्दिष्ट किया गया है। इसकी सर्वाधिक प्राचीन टीका 'पदचन्द्रिका' कवीन्द्राचार्य सरस्वती की रचना है (पुष्पिका से प्रमाणित)। फलतः दशकुमारचरित की रचना का काल १७ वीं शती से कुछ प्राचीन होना चाहिये।

---

१. दक्षिण भारती सीरीज में (मद्रास, १९२४) अंशतः प्रकाशित। अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि में (ट्रिवेन्ड्रम्, १९५४) पूर्णतः प्रकाशित। हस्तलेख की अपूर्णता के कारण यह संस्करण भी अधूरा ही है।

अवन्तिसुन्दरी बड़ी उदात्तशैली में विरचित कथा है। वर्ण्य विषय के अनुसार शैली में भी अन्तर पाते हैं। गाढबन्ध के लिए जहाँ समास की बहुलता है, वहाँ उपदेश के स्थलों पर असमस्त पदों का प्राचुर्य है। इसमें कादम्बरी की कथा का वर्णन है जिससे दण्डी बाणभट्ट के अनन्तर उत्पन्न हुए थे--यह तथ्य निश्चयेन प्रतीत होता है। शैली के ऊपर भी बाणभट्ट का प्रभाव पूर्णतः लक्षित होता है। मेरी दृष्टि में इसी गद्यकथा को लक्षित कर 'दण्डिनः पदलालित्यम्' वाला आभाणक विदग्ध-गोष्ठी में प्रचलित हुआ था। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। लक्ष्मी का यह वर्णन ललितपदों का विन्यास प्रस्तुत करता है--रज्जुरियम् उद्बन्धनाय सत्यवादितायाः, विषमियं जीवितहरणाय माहात्म्यस्य, शस्त्रमियं विशसनाय सत्पुरुषवृत्तानाम्, अग्निरियं निर्दहनाय धर्मस्य, सलिलमियं निमज्जनाय सौजन्यस्य, धूलिरियं धूसरीकरणाय चारित्रस्य (पृ० ४७)। इसके आरम्भ में प्राचीन कविविषयक स्तुति-पद्यों के अनन्तर दण्डी तथा उनके पूर्व-पुरुषों का ऐतिहासिक वृत्त वर्णित है जो आरम्भ में दिया गया है और जिससे दण्डी के आविर्भाव का काल सप्तम शती का अन्तिम अथवा अष्टम शती का प्रथम चरण सिद्ध होता है। अवन्तिसुन्दरी कथा ही निश्चयेन दण्डी का प्रख्यात गद्यकाव्य है। यह अधूरा ही उपलब्ध है। यदि यह पूर्णरूपेण उपलब्ध हो जाय, तो दशकुमारचरित के साथ इसके सम्बन्ध की पूर्ण समीक्षा हो सके।

दण्डी के तृतीय प्रबन्ध की सूचना हमें भोजराज के शृंगारप्रकाश से प्राप्त होती है। भोज ने इसे दो बार अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है[1]--'दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धाने' (सप्तम प्रकाश) तथा 'रामायण-महाभारतयोर्दण्डिद्विसन्धानमिव' (अष्टम प्रकाश)। दण्डी का यह **द्विसन्धान काव्य** श्लेष के द्वारा रामायण एवं महाभारत के दोनों कथानकों को समान पद्यों में वर्णन करता है, यह महाकाव्य आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु भोज के द्वारा निर्दिष्ट होने से इसकी सत्ता एकादश शती में अनुमानसिद्ध है। इस प्रकार दण्डी की प्रबन्धत्रयी है--काव्यादर्श, अवन्तिसुन्दरी तथा द्विसन्धानकाव्य। अत्यन्त प्रख्यात होने से दशकुमारचरित का परिचय यहाँ दिया जाता है।

दशकुमार-चरित

पुष्पपुरी (पटना) का राजा राजहंस मालवेश्वर मानसार को परास्त करता है, परन्तु तपस्या के बल से प्रभावसंपन्न होकर मानसार पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करता है और राजा को युद्ध में हराता है। राजहंस जंगल में चला जाता है और वहीं राजवाहन नामक पुत्र उसे उत्पन्न होता है। उसके मन्त्रियों के भी पुत्र उत्पन्न होते हैं। ये बड़े होने पर यात्रा के निमित्त परदेश जाते हैं और भाग्य की विषमता के कारण अलग-अलग देशों में पहुँच जाते हैं तथा विचित्र संकटपूर्ण जीवन बिताते हैं। राजवाहन से पुनः भेंट होने पर वे आपबीती सुनाते हैं और इन्हीं साहसी कुमारों के साहसपूर्ण घटनाओं का आकर्षक वर्णन प्रस्तुत करने वाला आख्यान ग्रन्थ 'दशकुमार-चरित' कहलाता है।

'दशकुमार-चरित' एक घटना-प्रधान कथानक है जिसमें नाना प्रकार की उल्लासमयी रोमांचक घटनाएँ पाठकों के हृदय में कभी विस्मय की और कभी विषाद

१. द्रष्टव्य डॉ० राघवन् : भोजज शृंगारप्रकाश, पृष्ठ ८३६–३८ (मद्रास, १९६३)।

की रेखायें खींचने में नितान्त समर्थ होती हैं। कहीं पाठक भयानक अरण्यानी के बीच हिंस्र पशुओं के चीत्कारों तथा दहाड़ों को सुनकर व्यग्र हो उठता है, तो कहीं वह समुद्र के बीच जहाज टूट जाने से अपने को पानी में काठ के सहारे तैरता हुआ पाता है। इन कहानियों का संबंध दोनों क्षेत्रों से हैं—स्थल-जगत् से तथा जल-जगत् से। मित्रगुप्त के जीवन में हमें तात्कालिक जलयात्रा का एक बड़ा ही रोचक चित्र मिलता है। मित्रगुप्त दामलिप्ति (ताम्रलिप्ति) नामक प्रख्यात बंगीय बन्दरगाह से किसी नवीन द्वीप में जहाज से जाता है। चट्टान की चोट पाकर जहाज टूट जाता है। बहुत देर तक तैरने के बाद संयोगवश उसे काठ का एक तैरता हुआ टुकड़ा मिलता है। रात-दिन उसी के सहारे बिताने पर यवन नाविकों का एक जहाज दिखलाई पड़ता है जिसके कप्तान (नाविक-नायक) का नाम 'रामेषु' है। यवनों के ऊपर अन्य युद्धपोत (मद्गु) का आक्रमण होता है। यवन नाविक इस नवीन विपत्ति से विचलित हो उठते हैं। मित्रगुप्त जिसे जंजीरों से बाँधा गया था मुक्त कर दिया जाता है। वह इस पोत के डाकुओं को अपनी वीरता से हराकर यवनों को बचाता है और उनसे पुरस्कृत होकर पुनः स्वदेश लौट आता है। इसी प्रकार की रोमांच तथा साहस से भरी हुई विस्मयावह घटनाओं से पूर्ण होने के कारण 'दशकुमार-चरित' का वातावरण नितान्त भौतिक है। छल-कपट, मार-काट तथा साँच-झूठ से ओत-प्रोत होने के कारण यह एक अत्यन्त सजीव रचना है। दण्डी की प्रतिभा घटनाओं की यथार्थता में चरितार्थ होती है। यथार्थवाद यहाँ पूर्णतः प्रतिबिम्बित हो रहा है।

'रामेषु' सीरिया की शामी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'सुन्दर ईसा' (राम=सुन्दर, ईषु=ईसा)। ईसाई धर्म के प्रचार के कारण यह नाम उस समय यवन नाविकों में चल चुका था। गुप्त काल में भारत की नौसेना के बेड़े देशान्तरों से व्यापार करने में तथा रत्नार्णवों की मेखला से युक्त भारतभूमि की रक्षा करने में नितान्त पटु थे। दण्डी के इस वर्णन से घटना की पुष्टि होती है। दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट 'मद्गु' नामक जंगी जहाज झपट्टा मारनेवाले समुद्री पक्षी की समता रखने के कारण इस नाम से पुकारा गया है। दशकुमार के तृतीय उछ्वास में 'खनति' नामक एक यवन व्यापारी से एक बहुमूल्य हीरा ठगने का उल्लेख है। 'खनति' की व्युत्पत्ति का पता नहीं कि वह किस भाषा का शब्द है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि दण्डी के युग में इरानी व्यापारी भारत में हीरा जवाहिरात का व्यापार करते थे।

सामाजिक दशा—दण्डी ने तत्कालीन समाज को अपनी पैनी दृष्टि से देखा था। इसलिए तत्कालीन समाज का व्यंग्य और विनोद से भरा यथार्थ चित्रण विशेष हृदयावर्जक है। समाज के शोभनपक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी रम्य चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण में जान फूंक दी है। दम्भी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण तथा छली वेश्याओं का चित्रण इतनी रुचिरता तथा यथार्थता के साथ किया गया है कि उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पाठकों के हृदय पर पड़ती है। 'अपहारवर्मा' के प्रसंग में 'काममंजरी' नामक वेश्या मरीचि नामक तापस को कितनी विदग्धता तथा बहादुरी से ठगती है यह देखने का विषय है। इस कथा में दण्डी ने तापसों के दम्भ तथा अभिमान पर खूब ही फबतियाँ

कसी हैं। नारी-हृदय की परख दण्डी को खूब ही थी। कहीं पतिवंचक क्रूरहृदया नारी का जघन्य चित्र है, तो कहीं पतिप्राणा पतिव्रता के कोमल हृदय की मनोरम झाँकी है। 'धमिनी' स्त्री-हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है, तो 'गोमिनी' पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति है। धूमिनी जैसे क्रूरहृदया नारी के चित्रण के लिए आलोचक दण्डी का सर्वदा ऋणी रहेगा।

इन कथानकों में कौतुक और विस्मय-जनक घटनाओं की प्रचुरता के कारण यहाँ 'अद्भुत रस' का प्रभूत संचार है। दण्डी नाना विद्याओं तथा शास्त्रों के पारंगत पण्डित प्रतीत होते हैं। इसलिए राजनीति का अन्तरंग वर्णन, कामशास्त्र के गूढ़ तथ्यों का प्रकटीकरण तथा चौरशास्त्र की अद्भुत बातें पाठकों को दण्डी के व्यापक तथा विचित्र पाण्डित्य का परिचय देतीं हैं। तथ्य यह है कि पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में रहने पर भी दण्डी दरबारी जीवन से कोसों दूर हैं। वे जनता के कवि हैं और इसलिए उनके गद्यकाव्य में जनता के हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, आनन्द-वेदना का परिस्फुरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। सप्तम शतक में भारतीय जनसाधारण के खेलकूद, आमोद-प्रमोद, आचार-विचार की जानकारी के लिए 'दशकुमार-चरित' का परिशीलन नितान्त उपयोगी और उपादेय है।

धार्मिक दशा—दण्डी के युग में शैवधर्म की प्रधानता थी। उज्जयिनी शैव-धर्म की एक प्रधान पीठस्थली थी, जहाँ 'महाकाल' का मंदिर कालिदास के समय से ही धार्मिक जनता का ध्यान आकृष्ट करता था। उस युग में यह शिक्षा का केन्द्र भी था, जहाँ बालक शिक्षण के निमित्त भेजे जाते थे। राजधानियों में शिव तथा स्वामी कार्तिकेय के भी मंदिर होते थे जहाँ विशेष पर्वों के अवसर पर राजा अपने परिवार के साथ दर्शनार्थ जाया करता था। श्रावस्ती नगरी में त्र्यम्बक (शिव) के समाज जुटने का उल्लेख है (पृ० १९५)। जैनधर्म भी पल्लवित था। जैन विहारों की सत्ता का अनेक स्थलों पर संकेत किया गया है। बौद्ध-धर्मावलम्बिनी शाक्यभिक्षुणियाँ विवाह कार्य के लिए दौत्यकर्म किया करती थीं—जो उनकी सामाजिक हीनता का विशेष परिचायक है। जनपदीय जनता का एक सभा-गृह होता था जिसमें उनके मनोरंजन के लिए संगीत का अनुष्ठान होता था। जनता के लिए इस युग में अनेक उत्सव हुआ करते थे, जिनमें **कामोत्सव** (आधुनिक होली) प्रमुख स्थान रखता था। गाँवों में मुर्गों का युद्ध भी लोकप्रिय था जिसे देखने के लिए लोग उमड़ पड़ते थे। मुर्गे दो प्रकार के बतलाये गये हैं (पृ० १९६)—**बलाका** जाति का दीर्घग्रीव सफेद मुर्गा तथा **नारिकेल** जाति का काला मुर्गा। पान खाने की विशेष चाल थी। आगन्तुक मित्र के सत्कार के लिए कपूर से सुगन्धित पान के बीड़ा देने की प्रथा थी। व्यवसाय का विशेष प्रचलन था। आज की तरह बाघ के चर्म तथा दृति (मशक) के बेचने की चाल उस समय खूब थी (पृ० २७०)। कुएँ से जल निकालने के लिए 'वंशनाली' (बाँस का चोंगा) का प्रयोग किया जाता था। (पृ० २५०)।

दण्डिनः पदलालित्यम्—साहित्यिक दृष्टि से 'दशकुमार-चरित' एक श्लाघनीय रचना है। यह आख्यान काव्य का उज्ज्वल दृष्टान्त है जिसके पात्र जीते-जागते जगत्

के प्राणी हैं और जिनका चित्रण शिष्ट हास्य तथा मधुर व्यंग्य का आश्रय लेकर प्रस्तुत किया गया है। कथानक में पारस्परिक मनोरम सामंजस्य है। वर्णन की स्वल्पता न तो कथानक के प्रवाह को रोकती है और न अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा में किसी प्रकार का अवरोध खड़ा करती है। दण्डी की गद्यशैली बड़ी ही सुबोध, सरल तथा प्रवाहमयी है। उनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से कहीं दबा हुआ है और न कहीं समास के प्रहार से प्रताडित है। उनका गद्य दिन-प्रतिदिन के व्यवहार-योग्य, सजीव और चुस्त है। उसकी प्रासादिकता दण्डी की निजी विशेषता है। ये अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से सदा बचाते हैं। इसलिए इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, मँजी हुई और मुहावरेदार है। सौबन्धव गद्य के समान न तो यह प्रत्यक्षर-श्लेषमय है और न बाणीय गद्य के सदृश यह समासों से लदी हुई तथा गाढबन्धता से मण्डित है। तथ्य यह है कि गद्य के इतिहास में दण्डी का अपना निजी मार्ग है। वे सुबन्धु तथा बाण इन दोनों की शैली का अनुगमन न कर एक नवीन .ार की शैली के उद्भावक हैं, जिनके विशेष गुण हैं--अर्थ की स्पष्टता, रस की सुन्दर अभिव्यक्ति, पद का लालित्य तथा दैनन्दिन प्रयोग की क्षमता। 'दण्डिनः पदलालित्यम्' के ऊपर पण्डितसमाज अपने को निछावर किए हुए है।

काम का यह वर्णन इस विषय में उदाहरण माना जा सकता है--कामस्तु विषयासक्तचेतसोः स्त्रीपुंसयोर्निरतिशयसुखस्पर्शविशेषः। परिवारस्त्वस्य यावदिह रम्यमुज्ज्वलं च। फलं पुनः परमाह्लादनं परस्परविमर्दजन्म स्मर्यमाणमधुरम् उदीरिताभिमानमनुत्तमं सुखमपरोक्षं स्वसंवेद्यमेव।

व्यावहारिक शैली के अनुरूप ही शब्दों का व्यावहारिक चयन है। व्यवहारों में आनेवाले वस्तुओं के परिचायक शब्दों का अर्थ-संकेत संस्कृतकोषों में बहुशः किया गया अवश्य है, परन्तु उन्हें प्रयोग में लाने की प्रेरणा दण्डी ने प्रदान की। दण्डी ने इन्हें व्यवहार-योग्य बनाया। इन शब्दों का आज राष्ट्रभाषा में व्यवहार उसे सक्षम तथा सामर्थ्यशाली बनायेगा। पान के पनडब्बा के लिए 'उपहस्तिका' (पृ० १९८), लँगोटी के लिये 'मलमल', एक जोड़ी धोती के लिए 'उद्गमनीय', पानी निकालने के लिये पात्र या डोल के निमित्त 'उदञ्चन', भूसी के लिए 'किशारु' तथा तक्र के लिए 'कालशेय', युद्धपोत के लिए 'मद्गु', जनपदीय सभा के लिए 'पंचवीर-गोष्ठ'--इन शब्दों का अर्थतः संकेत प्राचीन होने पर भी प्रयोगतः प्रथम व्यवहार दण्डी का वैशिष्ट्य है। **'अभवदीयं हि नैव किंचिद् मत्सम्बद्धम्'** (मेरा सब कुछ आप ही का है) तथा **'जीवितं ही नाम जन्मवतां चतुःपंचाप्यहानि'** (जीवन है दो चार दिनों का)--आदि वाक्य छोटे होने पर भी नितान्त अभिव्यंजक तथा सरस हैं। इन्हीं गुणों के कारण प्राचीन आलोचक लोग दण्डी को वाल्मीकि तथा व्यास के अनन्तर होनेवाला तत्समकक्ष तृतीय कवि मानते हैं--

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

(४) धनपाल

महाकवि बाणभट्ट ने गद्यकाव्य के लिखने में जो पद्धति चलाई उसका अनुकरण परवर्ती कवियों ने बड़े अभिनिवेश के साथ किया। **धनपाल** (१० वीं श०) की 'तिलक-

मञ्जरी' ऐसे ही अनुकरण का श्लाघनीय प्रयास है। ये काश्यपगोत्रीय जैन थे और भोजराज के पितृव्य मुञ्जराज के सभासद थे। इनकी तिलकमञ्जरी की भाषा बड़ी ओजस्विनी तथा प्रभावशालिनी है।

संस्कृत गद्यकाव्य के लेखकों में धनपाल की कीर्ति आज भी अक्षुण्ण है। जिस गद्य शैली को बाण ने अपनी मनोरम कादम्बरी के द्वारा प्रशस्त किया तथा जिसे दण्डी ने अपने सरस-सुभग दशकुमारचरित के द्वारा उज्ज्वल बनाया, उसे ही धनपाल ने अपनी सुन्दर 'तिलकमञ्जरी' के द्वारा चमत्कृत किया। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में इनका जीवन-वृत्त विस्तार के साथ दिया गया है जिससे हम इनके ऐतिहासिक वृत्त से पर्याप्त परिचय पाते हैं। उज्जयिनी के काश्यपगोत्रीय सर्वदेव नामक विद्वान् ब्राह्मण के ये पुत्र थे। ये दो भाई थे। इनके अनुज 'शोभन' इनसे पूर्व ही जैनधर्म में दीक्षित होकर एक तपस्वी मुनि बन गये थे। पीछे धनपाल ने भी जैनधर्म की दीक्षा ली। इस दीक्षा-ग्रहण की कथा भी विचित्रता से भरी है। एक बार इनके पिता ने श्रीवर्धमानसूरि नामक किसी जैन मुनि से अपने घर में संचित निधि का पता पूछा और आधी निधि देना स्वीकार किया। निधि की प्राप्ति हो जाने पर मुनि जी ने दोनों पुत्रों में से एक को जैन धर्म में दीक्षित करने के लिए माँगा। ब्राह्मण धर्म के अभिमानी होने से धर्मपाल ने जैनी दीक्षा लेने से अपनी असम्मति प्रकट की। अगत्या इनके अनुज शोभन जैन धर्म में दीक्षित होकर जैन-मुनि के रूप में जीवन यापन करने लगे। इन्हीं के उपदेश से धनपाल ने भी जैनधर्म को ग्रहण किया और इस मत में एक विशिष्ट विद्वान् तथा कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। ये धारा-नरेश वाक्पतिराज, अमोघवर्ष तथा उत्पलराज, विरुद से मण्डित राजा मुञ्ज तथा उनके उत्तराधिकारी प्रसिद्ध राजा भोज के सभापण्डितों में अन्यतम थे। इन राजाओं के द्वारा इन्हें विशेष सम्मान तथा आदर प्राप्त था। मुञ्ज महीपति (९७५ ई०–१०२२ ई०) ने इनकी काव्यकला से प्रसन्न होकर इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि दी थी, जिसका उल्लेख धनपाल ने अपने गद्यकाव्य 'तिलकमंजरी' के उपोद्घात में इन शब्दों में किया है—

> तज्जन्मा जनकाङ्घ्रिपंकजरजःसेवाप्तविद्यालवो
> विप्रः श्रीधनपाल इत्यविशदामेतामबध्नात् कथाम्।
> अक्षुण्णोऽपि विविक्तसूक्तिरचने यः सर्वविद्याब्धिना
> श्रीमुञ्जेन सरस्वतीति सदसि क्षोणीभृता व्याहृतः ॥

भोजराज के दरबार में भी इनकी भूयसी प्रतिष्ठा थी और इन्हीं के प्रोत्साहन से धनपाल ने 'तिलकमञ्जरी' नामक गद्य काव्य का प्रणयन किया जो इनकी काव्य-कला का चरम निदर्शन तथा इनकी कीर्ति का एकमात्र आधार है। **'ऋषभ-पञ्चाशिका'** तथा **'पाइउलच्छी (प्राकृत लक्ष्मी) नाममाला'** इनकी अन्य छोटी रचनाये हैं, परन्तु संस्कृत के गद्यकवियों में प्रभूत प्रतिष्ठा पाने का प्रधान साधन है इनकी 'तिलकमंजरी' नामक कथा। पूर्वोक्त निर्देशों से इनके आविर्भाव काल का यथार्थ संकेत मिलता है— दशम शती का अन्त तथा एकादशी का पूर्वार्द्ध जब मुञ्ज तथा भोजराज ने मालवा पर अपना राज्य किया तथा सरस्वती के वरद पुत्रों को अपनी राज्य-सभा में आश्रय देकर 'कविबान्धव' होने की ख्याति प्राप्त की।

संस्कृत गद्य के निर्माण में बाणभट्ट की प्रतिभा इतनी अलौकिक है कि इसका कोई भी लेखक उनके प्रभाव से अनभिभूत नहीं रह सका। उन्होंने गद्यकाव्य की ऐसी दिशा प्रदर्शित कर दी, ऐसी शोभन शैली का उन्मेष कर दिया कि पीछे के गद्यकवि उस मार्ग पर चलना अपना गौरव समझते थे और उनकी शैली के अनुकरण में अपने को कृतकृत्य मानते थे। धनपाल ने भी बाणभट्ट की शैली का अनुसरण किया और बड़ी सफलता से किया। धनपाल की शैली अपेक्षाकृत सुबोध है। प्रचलित शब्दों के प्रयोग से तथा समास के प्रति अत्यधिक अभिरुचि के अभाव से इनकी भाषा पर्याप्तरूपेण प्राञ्जल है और शैली दुरूहता के अपराध से सर्वथा वर्जित है। अलंकारों के रमणीय प्रयोग से वर्णनों में अभिनवता का पूर्ण स्फुरण है। बाण के समान ही धनपाल भी उपमा, उत्प्रेक्षा के साथ परिसंख्या के बड़े प्रेमी प्रतीत होते हैं। परिसंख्या का यह रमणीय विन्यास देखिए—

यस्मिन् राजनि अनुवर्तितशास्त्रमार्गे प्रशासति वसुमतीम्, धातूनां सोपसर्गत्वम्, इक्षूणां पीडनम्, पदानां विग्रहः, तिमीनां गलग्रहः, कुकविकाव्येषु यतिभ्रंशदर्शनम्, उदधीनामपवृद्धिः, द्विजातिक्रियाणां शाखोद्धरणम्, सारीणामक्षप्रसरदोषेण परस्परं बन्धवधमारणानि बभूवुः।

धनपाल की भाषा गति में मन्थर नहीं है; उसमें पर्याप्त प्रवाह है। इस प्रवाहमयी भाषा के निदर्शन के लिए इस वाक्य पर ध्यान दीजिए—

यथा न धर्मः सीदति, यथा नार्थः क्षयं व्रजति, यथा न राज्यलक्ष्मीरुन्मनायते, यथा न कीर्तिर्मन्दायते, यथा न प्रतापो निर्वाति, यथा न गुणाः श्यामायन्ते, यथा न श्रुतमुपहस्यते, यथा न परिजनो विरज्यते, यथा न मित्रवर्गो म्लायति, यथा न शत्रवस्तरलायन्ते, तथा सर्वमन्वतिष्ठत्।

स्त्रियों के कमनीय रूप के वर्णन में धनपाल की जैसी क्षमता है वैसी ही क्षमता युद्धों के वर्णन के अवसर पर भी है। कोमल वर्णन की रचना में चतुर इनकी लेखनी कठोर वर्णन में भी उसी प्रकार कृतकार्य होती है। युद्ध का यह वर्णन लीजिये जिसके पठनमात्र से युद्ध की भयंकरता का दृश्य नेत्रों के सामने हठात् उपस्थित हो जाता है—

दर्शकक्षुभितानां च वाजिनां ह्रेषितेन, हर्षोत्तालमूलताडिततुरंगबद्धरंहसां च स्पन्दनानां चीत्कृतेन, निष्ठुरधनुर्यन्त्र-निष्ठ्यूतामुक्तानां न निर्गच्छतां नाराचानां सूत्कारेण, समरभेरीणां झांकारेण, निर्भराध्मातसकलदिक्चक्रवालं यत्र साक्रन्दमिव साट्टहासमिव सास्फोटनरवमिव सकलं ब्रह्माण्डमभवत्।

सन्दर्भ के अनुसार भाषा तथा तदनुरूप शैली का विन्यास धनपाल की रसिकता का सूचक है। वीररस के वर्णन में समर्थ कवि की लेखनी कोमल विषयों के वर्णन में तदनुरूप वर्ण, रस तथा गुणों का आविर्भाव करती है तथा अपने पाठकों को मुग्ध कर देती है। धनपाल गद्य लिखने में मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं। जहाँ वे विकट गद्य

बन्ध से दूर हटते हैं, वहीं वे निष्प्राण गद्य के सर्जन से विरत होते हैं। उनकी भाषा में जान है, जीवन है, नवीन व्यावहारिक विषयों के यथार्थ अंकन की क्षमता से वह सर्वथा मण्डित है। उसमें एक कमनीय आकर्षण है जो पाठकों के हृदय को हठात् अपनी ओर खींच लेता है। धनपाल की यह 'तिलकमञ्जरी' संस्कृत गद्य के व्यावहारिक रूप का निदर्शन करने में आलोचकों द्वारा सर्वदा समादृत रहेगी—इसमें तनिक भी संशय नहीं।

(५) वादीभ सिंह

वादीभसिंह का **'गद्यचिन्तामणि'** अलंकृत शैली में लिखा गया एक रोचक गद्य-काव्य है। इसमें जिनसेन के 'महापुराण' (८९७ ई०) में वर्णित जीवन्धर की कथा का वर्णन ११ लम्बों में किया गया है। वादीभ ने इसी कथा को अनुष्टुप् जैसे सरल छन्द में लिख कर 'क्षत्रचूडामणि' (७४१ अनुष्टुपों में प्रणीत काव्य) का निर्माण किया। इनका समय एकादशशती में माना जाता है। इनका गद्य पर्याप्त रूप से रोचक तथा हृदयावर्जक है। हरिचन्द्र ने अपने 'जीवन्धरचंपू' में वादीभसिंह के पूर्वोक्त दोनों काव्यों में वर्णित कथानक का संक्षेप रूप प्रस्तुत किया है।

(६) वामनभट्ट बाण

'वेमभूपाल-चरित' या **'वीरनारायण-चरित'** वामनभट्ट बाण की श्लाघनीय रचना है[1]। **वेमभूपाल** कवियों के आश्रयदाता ही न थे, स्वयं सरस्वती के उपासक थे; जिनकी मुख्य साहित्यिक कृतियाँ हैं—**श्रृंगारमंजरी** (अमरुशतक की टीका), **सप्त-शतीसार** तथा **साहित्य-चिन्तामणि**। ये त्रिलिंग पर शासन करने वाले 'काम' नामक राजा के वंश में उत्पन्न हुए। अपने पिता पेड्ड कोमटीन्द्र के अनन्तर ये शासन के अध्यक्ष लगभग १४०३ ई० में हुए। ये बड़े दानशील थे। इनके द्वारा ब्राह्मणों को दिये गये अनेक ग्रामों का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। इन्हीं के सभाकवि वामनभट्ट थे, जो वत्स-गोत्रीय तथा कोमटियज्वा के सुपुत्र थे। बाण के हर्षचरित से स्फूर्ति ग्रहण कर इन्होंने इस सुन्दर गद्यकाव्य की रचना की। षड्भाषावल्लभ, कविसार्वभौम तथा अभिनव-भट्ट वाण—ये इनकी तीन उपाधियाँ मिलती हैं। इस कवि का पदविन्यास मधुर है, अलंकारयोजना सरस है तथा अर्थ का प्रकटीकरण सुन्दर है। वत्सगोत्रीय बाण को परास्त करने के विचार से वामनभट्ट ने इस गद्यकाव्य का निर्माण किया।[2] वामनभट्ट बाण की अन्य ख्यात रचनायें हैं—**नलाभ्युदय** (नलविषयक अपूर्ण काव्य—अनन्तशयन ग्रन्थमाला नं० ३), **रघुनाथचरित** (३० सर्गों का अप्रकाशित महाकाव्य), **'पार्वती-परिणय,' कनकलेखा, शब्दचन्द्रिका** और **शब्दरत्नाकर** नामक दो कोषग्रन्थ (अप्रकाशित)। 'पार्वतीपरिणय' एक सरस नाटक है जो नामसाम्य के कारण सुप्रसिद्ध बाणभट्ट के ऊपर भी आरोपित किया जाता है। **श्रृंगारभूषण** एक ललित

---

१. श्रीवाणीविलास प्रेस श्रीरंगम् से प्रकाशित।

२. बाणादन्ये कवयः काणाः खलु सरसगद्यसरणीषु।
इति जगति रूढमयशो वामनबाणोऽपमार्ष्टि वत्सकुलः॥ श्लोक ६।

भाण है। इन ग्रन्थों का रचयिता निःसन्देह एक प्रतिभाशाली कवि होने का अधिकारी है।[1]

(७) विश्वेश्वर पाण्डेय

विश्वेश्वर पाण्डेय की **मन्दारमंजरी** कादम्बरी की शैली में निबद्ध गद्यकाव्य का एक मनोरम रूप प्रस्तुत करती है। विश्वेश्वर पाण्डेय अलमोड़ा जिले के पाटिया ग्राम के निवासी भारद्वाज-गोत्री पर्वतीय ब्राह्मण थे। इनके पूज्य पिता लक्ष्मीधर वृद्धावस्था में काशी आये और भगवान् भूतभावन विश्वनाथ की अलौकिक कृपा से उन्हें पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, जो उन्हीं के नाम पर 'विश्वेश्वर' नाम्ना प्रसिद्ध हुआ। ये अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न विद्वान् थे, जिनकी रचनायें नानाशास्त्रों से सम्बद्ध होकर इनकी तत्तत् शास्त्रों के वैदुष्य की प्रतिपादिका हैं। **वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि** पाणिनीय व्याकरण का नितान्त प्रौढ़ तथा विस्तृत ग्रन्थ है, जिसमें अष्टाध्यायी की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। आरम्भ के तीन अध्यायों तक ही ग्रन्थ उपलब्ध तथा प्रकाशित है (चौखम्भा ग्रन्थमाला)। **तर्ककुतूहल** तथा **दीधितिप्रवेश** नव्यन्याय के प्रख्यात ग्रन्थ दीधिति के व्याख्यारूप हैं। **शृंगारमंजरी** प्राकृत में निबद्ध रमणीय सट्टक है। **अलंकारकौस्तुभ** (स्वोपज्ञटीका से मण्डित होकर काव्यमाला में प्रकाशित) इनके अलंकारशास्त्रीय प्रौढ़ पाण्डित्य का सुभग प्रतिपादक ग्रन्थ है। नैषधकाव्य की टीका अभी तक अप्रकाशित ही है। **रसचन्द्रिका, अलंकारप्रदीप, अलंकारमुक्तावली, कवीन्द्र-कण्ठाभरण** अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध लक्षण ग्रन्थ छोटे परन्तु उपयोगी हैं। काव्य-ग्रन्थों में **रोमावलीशतक** (का० मा० गुच्छक अष्टम) तथा **आर्यासप्तशती** काव्यसौष्ठव की दृष्टि से रमणीय तथा आवर्जक हैं। सुनते हैं कि लगभग चालीस वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गई। समय इनका १८ शती का पूर्वार्ध है। 'जयकृष्ण' नामक इनके पुत्र द्वारा लिखित रसमंजरी का हस्त-लेख १६४३ शक सं० का उपलब्ध है

इन्हीं की गद्यकाव्यमयी प्रौढ़ रचना है **मन्दारमंजरी**[2]। इसके दो भाग हैं—पूर्वभाग तथा उत्तरभाग। पूर्वभाग तो विश्वेश्वर की ही रचना है, परन्तु उत्तर-भाग उनके किसी शिष्य की रचना मानी जाती है जो समग्र रूप से उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के आरम्भ में २१ आर्यायें हैं, जिनमें देवताओं की स्तुति के अनन्तर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, सुबन्धु तथा बाण की स्तुतिपरक आर्यायें उपलब्ध हैं। मन्दारमंजरी कवि की उदात्त तथा प्रौढ़ रचना है। गद्यकाव्य के प्रख्यात समस्त गुणों से मण्डित यह रचना विशेष लोकप्रिय होने की योग्यता रखती है। इसमें वर्णन को स्निग्ध तथा रसमय बनाने के लिए कवि का विशेष आग्रह है। मगध के पुष्पपुर में राजशेखर नामक राजा तथा उनकी रानी, शासन आदि का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया गया है। कादम्बरी

---

१. **पार्वतीपरिणय वाणीविलास प्रेस से तथा शृंगारभूषण निर्णयसागर से प्रकाशित हैं।**

२. **पं० तारादत्त पन्त की कुसुमव्याख्या के साथ काशी से पूर्वार्धमात्र प्रकाशित है (पर्वतीय पुस्तकप्रकाशन मण्डल, काशी, सं० १९९५)।**

का प्रभाव होने पर भी कवि ने सर्वत्र नवीनता लाने का सफल प्रयत्न किया है। प्रकृति के चित्रण की कमी नहीं है। 'परिसंख्या' अलंकार का वैपुल्य तो नितान्त दर्शनीय है—

गौणार्थपरिग्रहः शब्देषु, न क्रियासु; पृष्ठदर्शनं सामप्रयोगेषु; न संगरेषु; अदृष्टपर्वत्वं विशिखत्वं च सायकेषु, न तत्तद्विहितक्रियापरेषु; द्विज-परीक्षणं लक्षणविचारेषु, न दानेषु; श्रुतिलङ्घनं वधूनां कटाक्षेषु, न जनेषु समभवत्।

उपमा, उत्प्रेक्षा तथा श्लेष की लड़ी देखने ही योग्य है। फलतः गद्य की प्रौढ़ता तथा कमनीयता में यह काव्य नितान्त श्लाघनीय है। श्लेष के चमत्कार के लिए कालि-दास की प्रशस्ति में निबद्ध यह पद्य प्रशंसनीय है (८)—

नेत्रीकृताग्निमित्रा कुमारसूर्जनितमेघरघुभावा।
कविता-मिषेण काली वशंगता कालिदासस्य॥

यहाँ कविता तथा काली का श्लेष है। कालिदास की कविता अग्निमित्र को नायक बनाने वाली, कुमारसम्भव की जननी तथा मेघ-रघुवंश की उत्पादिका है, काली भी अग्नि तथा मित्र (सूर्य) रूपी नेत्र वाली, कुमार की जननी तथा कृष्णवर्ण की सत्ता में मेघ में लघुत्व (रघुभाव) को उत्पन्न करने वाली है।

(८) अम्बिकादत्त व्यास

शिवराजविजय—गत शताब्दी के उत्तरार्ध में पण्डित अम्बिकादत्त व्यास द्वारा रचित यह गद्यकाव्य नवीनता से मण्डित है। वर्ण्य विषय है छत्रपति शिवाजी के चरित तथा दिग्विजय का वर्णन। ऐतिहासिक विषय के सुचारु निर्वाह के लिए अनेक घटनाओं का वर्णन सुन्दर रीति में यहाँ किया गया है। यह घटनाप्रधान काव्य है जिसमें कवि का आग्रह विशेष वर्णन पर न होकर घटना के वैविध्य पर है। देशभक्ति के उत्थान युग में निर्मित होने से इसमें देशभक्ति के उदात्त भावों का कमनीय वर्णन है। शिवराज विजय में १२ निःश्वास या अध्याय हैं। शिवजी के वीर चरित्र के सांगोपांग ऐतिहासिक वर्णन से यह मण्डित है। भाषा सरल-सुबोध है। ओजस्विनी अर्थपूर्ण तथा सुबोध होने के अतिरिक्त यथावसर यह उद्दाम भी है एवं कोमल भी है। घटनायें अधिकांश वास्तविक हैं, कपोल कल्पित नहीं। पूरा काव्य भारतीय राष्ट्रीय भाव से भरा-पूरा है। लिखने की शैली एकदम नवीन है। इसके लेखक पण्डित **अम्बिकादत्त व्यास** प्रतिभा के धनी, सनातनधर्मी भावना से स्निग्ध तथा कल्पना से मण्डित संस्कृत के एक अलौकिक कवि, प्रगल्भ वक्ता तथा शतावधानी विद्वान् थे। जन्म जयपुर में हुआ, परन्तु कार्यक्षेत्र बिहार था। आप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा समादृत सुकवि थे। १९१५ सं० १९५७ सं० इनका जीवन काल था। १९४५-५० वि० सं० के अन्तर्गत शिवराज विजय[1] का निर्माण किया गया। नवीनशैली में निबद्ध, यह नितान्त लोकप्रिय गद्यकाव्य संस्कृत में ऐतिहासिक उपन्यास कहाने की पूर्ण योग्यता रखता है।

१. प्रकाशक मूल तथा हिन्दी अनुवाद के साथ पं० कृष्णकुमार व्यास, व्यासपुस्त-कालय, वाराणसी, १९६९ (दशम सं०)।

(२) चम्पू-साहित्य

संस्कृत साहित्य में पद्यकाव्य और गद्यकाव्य से अतिरिक्त चम्पूनाम्ना अभिहित काव्य का विपुल साहित्य है। यह साहित्य अपने साहित्यिक सौन्दर्य, मधुरविन्यास तथा रस-पेशलता की दृष्टि से अन्य साहित्य से किसी मात्रा में न्यून नहीं है। 'चम्पू' काव्य का दण्डी ने ही सर्वप्रथम लक्षण निर्दिष्ट किया है (काव्यादर्श १।३१) :–

गद्यपद्यमयी काचित् चम्पूरित्यपि विद्यते ।

इस लक्षणवाक्य के 'काचित्' तथा 'विद्यते' पद संकेत करते हैं कि चम्पूकाव्य की सत्ता तो उस काल में अवश्य थी, परन्तु दण्डी को उसका विशद ज्ञान न था, केवल श्रवण-मात्र परिचय था। गद्य तथा पद्य का मिश्रण चम्पू का जीवातु था—इस विषय में वे आश्वस्त थे और हेमचन्द्र, वाग्भट, विश्वनाथ कविराज, शारदातनय आदि आचार्य भी इस विषय में एकमत थे। गद्यकाव्य अर्थ के गौरव तथा वर्णन की दृष्टि से महत्त्व रखता है तो पद्यकाव्य अपनी छन्दोबद्धता से जायमान गेयता और लय-सम्पत्ति से समृद्ध होता है। इन दोनों का मिश्रण वस्तुतः एक नूतन चमत्कार का, अद्भुत कमनीयता का, सर्जन करता है और इसीलिए चम्पूकाव्य की रचना की ओर रसिक जनों की दृष्टि कालान्तर में स्वतः आकृष्ट हुई।

चम्पूकाव्य के रचयिता कविजन इस चमत्कार के प्रमाण हैं, जो स्वसंवेद्य रसपेशल तथा वर्णनजन्य माधुरी का उत्पादक होता है। जीवन्धर चम्पू के रचयिता हरिचन्द्र चम्पू को बाल्य तथा तारुण्य से सम्पन्न किशोरी कन्या के समान अधिक रसोत्पादक अंगीकार करते हैं,[1] तो रामायणचम्पू के रचयिता भोजराज गद्य-समन्वित पद्यसूक्ति को वाद्य से युक्त गायन के समान अधिक हृदयावर्जक मानते हैं[2]। चम्पू को विश्वगुणादर्शचम्पू (१।४) के प्रणेता वेंकटाध्वरी (१७ शती) मधु-द्राक्षा के संयोग के तुल्य मधुमय, तत्त्वगुणादर्श (१।४) के रचयिता अण्णयार्य (१६७५–१७२५ ई०) पद्मरागमणि के साथ गुम्फित मुक्तामाला के सदृश आकर्षक, कुमारसम्भवचम्पू के लेखक शरभोजी द्वितीय (१८००–१८३२) सुधा तथा मद्य के संयोग के समान हृदयावर्जक, गोपालचम्पू के प्रणेता जीवराज (१६ शती का मध्य) चम्पूकाव्य के विहार को जलविहार के समान आनन्दप्रद तथा बाल भागवतचम्पू के कर्ता पद्मराज गद्यपद्य-मिश्रित चम्पू को कोमल किसलय-कलित तुलसीमाला के सदृश मनोमोहक मानते हैं। फलतः चम्पू के रचयिताओं की दृष्टि में चम्पू एक विलक्षण आनन्द की सृष्टि करता है, जो न गद्यकाव्य के द्वारा जन्य है और जो न पद्यकाव्य के द्वारा उद्भाव्य है।

गद्य तथा पद्य के द्वारा वर्णनीय विषयों का यथार्थतः विभाजन नहीं किया जा सकता-यह कथन सामान्यतः तथ्यपूर्ण है। परन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने पर दोनों के वर्ण्य

---

१. गद्यावली पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम् ।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग् बाल्यतारुण्यवतीव कन्या ॥ (जीवन्धरचम्पू १।९)

२. गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिर्हृद्या हि वाद्यकलयाकलितेव गीतिः ।
(चम्पूरामायण १।३)

विषयों का पृथक्करण किया जा सकता है। मानव हृदय की रागात्मिका वृत्ति के प्रबोधक भाव छन्द के माध्यम द्वारा बड़ी सुचारुता से प्रस्तुत किये जाते हैं, तो बाह्य वस्तुओं के चित्रण में गद्य का माध्यम अपनी विशिष्ट समर्थता दिखलाता है। फलतः गद्यपद्य के मिश्रित रूप का एकत्र विन्यास अवश्यमेव रुचिर तथा हृदयावर्जक होता है—इस तथ्य में सन्देह के लिए रंचक भी स्थान नहीं है। फलतः चम्पूकाव्य का अपना निजी वैशिष्ट्य है और इसीलिए इसकी रचना की ओर कविजनों का आग्रह होना स्वाभाविक है। गद्य तथा पद्य के इस मौलिक मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य की ओर कविजनों का आकलन विशेष उत्साह-वर्धक नहीं रहा है। वे बाह्य वस्तुओं के वर्णन को पद्य द्वारा तथा गाढ़ भावों के चित्रण को गद्य द्वारा प्रस्तुत करने में कभी पराङ्मुख नहीं होते। कभी तो वे गद्य द्वारा वर्णित तथ्य को पद्य द्वारा पुनरावृत्त करते हैं तथा कभी पद्य द्वारा केवल आख्यान की घटनाओं का वर्णन ही करते हैं। निष्कर्ष यह है कि चम्पू में गद्य तथा पद्य के प्रयोग के लिए कोई नियम नहीं है। कविजनों का जिधर रुझान हुआ, उधर ही वे बढ़ चले। माध्यम के झमेले में उन्होंने अपने को डालना कभी समुचित नहीं समझा। परन्तु इस मिश्रशैली के नैसर्गिक चमत्कार की ओर उनका ध्यान अवश्यमेव आकृष्ट हुआ—इसे तो मानना नितान्त उचित है।

चम्पू का आरम्भ—चम्पू काव्य गद्यकाव्य का ही प्रकारान्तर से उपबृंहण है। इसलिए इसके उदय का काल गद्यकाव्य के सुवर्ण युग से पश्चाद्वर्ती है। दशम शती से प्राचीन किसी चम्पू की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है, परन्तु गद्य-पद्य की मिश्रित शैली का प्रयोग नितान्त प्राचीन है। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में गद्यपद्यात्मक इस शैली का दर्शन होता है। अथर्वसंहिता में भी यत्र-तत्र यह शैली वर्तमान है। फलतः हम कह सकते हैं कि मिश्र-शैली उतनी ही प्राचीन है जितनी कि काव्य की गद्य अथवा पद्य शैली। संहिता से उत्तरकालीन साहित्य में इसकी उपलब्धि होना स्वाभाविक है। वैदिक आख्यानों में इस प्रयोग का मिलना समुचित है (द्रष्टव्य ऐतरेयब्राह्मण का हरिश्चन्द्रोपाख्यान, ३३ वाँ अध्याय)। आरण्यकों में (जैसे ऐतरेय आरण्यक), उपनिषदों में (जैसे कठ, प्रश्न, मुण्डक आदि) इसकी उपलब्धि प्राचीन परम्परा के अनुरूप है। पुराणों में (जैसे श्रीमद्भागवत् पञ्चम स्कन्ध, तथा विष्णुपुराण का समग्र ४ चतुर्थ अंश) गद्यपद्य का प्रयोग प्राचीन आख्यानों तथा राजवृत्तों के वर्णन में उपन्यस्त है। बौद्ध साहित्य का जातक तथा अवदान साहित्य इसी शैली में निबद्ध है। जैन साहित्य में इसका सर्वप्रथम दर्शन होता है हरिभद्रसूरि (७०० ई०—७७० तक) की 'समराइच्चकहा' नामक गद्यपद्य-मिश्रित प्राकृत-रचना में। ध्यातव्य है कि मिश्रशैली से सम्पन्न ये रचनायें चम्पूकाव्य के अग्रदूत नहीं हैं। चमत्कारपूर्ण शब्दावलि, सुन्दर कल्पना, समस्त पदों का प्राचुर्य, विशेषणों की बहुलता, श्लोकों में अलंकारों का विन्यास—ये मुख्यतया चम्पूकाव्य के वैशिष्ट्य हैं, परन्तु इनकी उपलब्धि ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों में नहीं होती। 'समराइच्चकहा' में उपलब्ध होने पर भी यह चम्पूकाव्य का, कालबाधित होने से, मूल स्रोत नहीं हो सकता। फलतः चम्पू के लिए समुचित आलंकारिक शैली का दर्शन न तो वैदिक साहित्य में होता है और न पालि के गद्य-पद्यमिश्रित जातकों में ही। पद्य के साथ आलंकारिक पद्य को मिश्रित

वनाने की पद्धति विक्रम की द्वितीय शती से लक्षित होती है। क्षत्रप रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख (समय ७२ शक=१५० ई०) तथा गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति (समय चतुर्थशती) आलंकारिक गद्यपद्य की मिश्रित शैली में निबद्ध होने के हेतु चम्पू काव्य के अग्रदूत मानें जा सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि दशमशती से पूर्व तक चम्पूकाव्य अपने साहित्यिक रूप में साहित्य के धरातल पर अवतीर्ण नहीं हो सका था और केवल उत्कीर्ण शिलालेखों की प्रशस्तियों तक ही सीमित था। सप्तम शती में दण्डी से पूर्व चम्पूकाव्य का उदय तो हो चुका था, परन्तु वह लोकप्रिय काव्य के रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव नहीं पा सका था। दशमशती के आरम्भ में चम्पूकाव्य पालने की गोद से निकलकर साहित्य के चिकने धरातल पर आ चमका और तब से १८ शती तक साहित्य के एक चमत्कारी विधा के रूप में समादृत होता आया।

नल-चम्पू

त्रिविक्रमभट्ट की रचना नलचम्पू (या दमयन्ती-चम्पू) चम्पू साहित्य का आदि ग्रन्थ है। शाण्डिल्यगोत्री श्रीधर के पौत्र तथा (नौसारी शिलालेख द्वारा प्रमाणित) नेमादित्य के पुत्र त्रिविक्रम सरस्वती की कृपा से ऐसे चमत्कारी चम्पू की रचना में समर्थ हुए। राष्ट्रकूटवंशी राजा कृष्ण तृतीय के पौत्र, राजा जगत्तुंग और लक्ष्मी के पुत्र इन्द्रराज तृतीय इनके आश्रयदाता थे। इनका राज्याभिषेक करंडक नामक नगर में ९८२ वि० सं० (=९१५ ईस्वी) में हुआ था। महाप्रतापी इन्द्रराज ने हैदराबाद के मान्यखेट से आकर कन्नौज के राजा महीपाल को परास्त किया था। फलतः त्रिविक्रमभट्ट का समय दशम शती का पूर्वार्ध है और ये प्रख्यात नाटककार राजशेखर के समसामयिक हैं।

नलचम्पू में राजा नल की प्रख्यात कथा का वर्णन है, जो महाभारत के नलोपाख्यान में वर्णित है। सात उच्छ्वासों में समाप्त इस चम्पू में दमयन्ती का वृत्तान्त जानकर इन्द्रादिकों तक उसके सन्देश पहुँचाने तक की कथा है। प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम पद्य में 'हरिचरणसरोज' पद विद्यमान है, जिसके कारण यह चम्पू 'हरिचरणसरोजाङ्क' कहलाता है। नलचम्पू में श्लेषों की बहुलता है, जो स्वतः सरस, पेशल तथा प्रसन्न हैं और इस प्रकार वे सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में उपलब्ध श्लेषों की तुलना में निःसन्देह मनोरम मञ्जुल हैं। इस चम्पू का वैशिष्ट्य है—सभंग श्लेष का प्रयोग। सभंग श्लेष के कारण काव्य में काठिन्य का उदय होना कवि को अवगत है **(वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेषविशेषतः)**, और इसलिए उसने अपने श्लेषों को इस दोष से यथासाध्य बचाया है। इनके श्लेषों का चमत्कार नितान्त श्लाघनीय है जिनमें अधिक तोड़मरोड़ करने की आवश्यकता नहीं होती। इनका 'परिसंख्या' अलंकार भी बाणभट्ट से इस विषय में समता रखता है।

त्रिविक्रमभट्ट का प्रख्यात नाम **'यमुना-त्रिविक्रम'** था। घंटा-माघ तथा ताल-रत्नाकर की तरह रसिक आलोचकों ने जिस पद्य के रमणीय भाव पर मुग्ध होकर इन्हें यह नाम प्रदान किया था वह है (नलचम्पू ६।१)—

१. 'विषमपदप्रकाश' टीका के साथ निर्णयसागर से १९३१ में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ भी चौखम्भा, वाराणसी से प्रकाशित।

उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुताया-
मनुसरति निशीथे शृङ्गमस्ताचलस्य ।
जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च ॥

रात का अवसान हो चला है, प्रभात की वेला समीप है। राजा को निद्रा से जगाने के लिए वैतालिक कह रहा है कि राजन्! प्रभात हो रहा है। इधर उदयगिरि के शिखर पर प्रभा के कारण प्रकाश चमक रहा है, उधर अन्धकार अस्ताचल की चोटी पर निवास करने के लिए जा रहा है। इस समय आकाश के बीचोबीच कोई अवर्णनीय तेज (प्रकाश और अन्धकार के संमिश्रण से उत्पन्न तेज) शोभित हो रहा है। जान पड़ता है मानो नीलवर्णा यमुना के जल से संगत पुण्यसलिला श्वेतनीरा आकाशगंगा का जल हो। पहले तो नभोमण्डल में केवल आकाशगंगा की ही स्थिति कविजनों को ज्ञात थी, परन्तु इस स्थान पर त्रिविक्रम ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से यमुना की भी अवतारणा की है। इसीलिए इस मनोरम सूक्ति से प्रसन्न होकर आलोचकों ने आपको **यमुनात्रिविक्रम** कहा है।

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥

इस रमणीय पद्य में (नलचम्पू १।११) कवि वाल्मीकिजी की स्तुति कर रहा है—उस मुनि को नमस्कार है जिसने रम्या रामायणी कथा का निर्माण किया। यह कथा सदूषण (दोष-सहित तथा दूषण नामक राक्षस से समन्वित) होने पर भी निर्दोष है—दोष से रहित है। तथा सखर (कटुतापूर्ण तथा खर राक्षस के साथ) होने पर भी कोमल है। इस पद्य में विरोधाभास अलंकार कितनी सफाई के साथ रखा गया है। तुलसीदास ने रामायण की प्रशंसा में इसी पद्य की छाया लेकर यह सोरठा लिखा—

बन्दौं मुनिपदकंज, रामायण जिन निरमयउ।
सखर सकोमल मंजु दोष-रहित दूषण-सहित ॥

त्रिविक्रम ने बड़ी सुन्दरता के साथ कुकवियों की समता बालकों के साथ की है:—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापा. कवयो बालका इव ॥ (१।६)

इस संसार में कुछ कवि लोग बालकों की तरह हैं। जिस प्रकार बालक पदन्यास में—पैर रखने में—अप्रगल्भ होते हैं—अनिपुण हुआ करते हैं, उसी प्रकार ये कविजन भी कविता के पद जोड़ने में नितान्त असमर्थ हैं। बालक अपनी जननी—माता—के अनुराग का कारण हुआ करता है—बालक को देखकर माता का हृदय खिल जाता है; ये कविजन भी पुरुषों के नीराग (राग के अभाव) के कारण होते हैं—इनकी कविता लोगों को पसंद नहीं आती। बालक जिस प्रकार बहुलालाप (बहु+लाला+प) होते हैं—बहुत लाला (लार) पीने वाले होते हैं, उसी प्रकार ये कवि लोग भी बहुत आलाप वाले होते हैं। इनके काव्यों में कुछ चमत्कार तो होता नहीं, परन्तु वे लिखने से बाज नहीं

आते—वहुत सी अनर्गल कविता श्रोताओं के गले मढ़ ही देते हैं। अतः कुकवियों तथा बालकों में कुछ भी अन्तर नहीं। चमत्कारिणी सूक्ति में कितना प्रसन्न श्लेष है—(१।२०)

भवन्ति फालगुने मासि वृक्षशाखा विपल्लवाः।
जायन्ते न तु लोकस्य कदापि च विपल्लवाः॥

आर्यावर्त का वर्णन है। वहाँ फालगुन महीने में वृक्षों की शाखायें (वि+पल्लव) पल्लव रहित होती हैं, परन्तु वहाँ के रहनेवालों को कदापि (विपद् लवाः) छोटी सी विपत्तियाँ भी नहीं होतीं। 'विपल्लवाः' में श्लिष्टार्थ सचमुच साफ-सुथरा है।

त्रिविक्रमभट्ट की द्वितीय रचना भी चम्पूकाव्य है—**मदालसाचम्पू** जो एक प्रणय कथा है। राजा कुवलयाश्व और उसकी रानी मदालसा का चरित मार्कण्डेय पुराण में (अध्याय १८ से २२ तक) विस्तार से वर्णित है। उसके आधार पर इस चम्पू काव्य का प्रणयन है। नलचम्पू की भाँति इसमें रमणीयता की कमी है, परन्तु कथा के विकास तथा काव्यसौष्ठव के कारण यह भी लोकप्रिय रचना है।

यशस्तिलकचम्पू

इस बृहत्काय तथा विश्रुत जैन चम्पू के प्रणेता **सोमदेव सूरि** नवमशती में अपने पाण्डित्य तथा शास्त्रीय विद्वत्ता के कारण विद्वद्गोष्ठी में अप्रतिम माने जाते थे। ये एक महान् तार्किक, सरस साहित्यकार, कुशल राजनीतिज्ञ, प्रबुद्ध तत्त्वचिन्तक तथा उच्चकोटि के धर्माचार्य थे। तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपंचानन, कविकुल-राजकुंजर आदि उपाधियाँ इनकी प्रकृष्ट प्रज्ञा तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व की परिचायक हैं। सोमदेव राष्ट्रकूटवंशी राजा कृष्ण तृतीय के समसामयिक एवं उनके आश्रित कवि थे, परन्तु यशस्तिलक की रचना कृष्णराज के सामन्त अरिकेसरी के पुत्र वाग्राज की राजधानी गंगधारा में हुई और समाप्ति ८८१ शक (=९५९ ई०) में की गई थी। फलतः सोमदेव का समय दशम शती का मध्यभाग है। अपभ्रंश काव्य **'जसहरचरिउ'** के रचयिता **पुष्पदन्त** सोमदेव के समसामयिक कवि थे, जो कृष्णराज तृतीय के मन्त्री भरत के आश्रय में रहते थे। यह काव्य भी यशस्तिलक में वर्णित यशोधरचरित के ही ऊपर आश्रित है।

यशस्तिलकचम्पू जैन पुराण में विश्रुत यशोधर के चरित का वर्णन बड़ी ही प्रौढ़ आलंकारिक शैली में करता है। चम्पू में आठ आश्वास हैं जिसके आदिम पाँच आश्वास में तो यशोधर के आठ जन्मों की कथा वर्णित है तथा अन्तिम तीन आश्वास जैनधर्म के तथ्यों का विस्तार से वर्णन करते हैं जिसके कारण वे 'श्रावकाध्ययन' नाम से प्रसिद्ध हैं। सोमदेव का आदर्श बाणभट्ट की कादम्बरी है, केवल समासबहुला गद्यशैली के अनुकरण में नहीं, प्रत्युत अनेक जन्मों की कथा के उपबृंहण में भी। इस चम्पू में अवन्ति के राजा यशोधर का शुभ्र चरित्र, उनकी पत्नी की कपट धूर्तता, राजा की मृत्यु तथा आठ जन्मों में नाना योनियों में जन्म तथा अन्त में जैन धर्म में दीक्षित होने का आख्यान बड़ी ही उदात्त तथा अलंकारप्रचुर शैली में विस्तार और वैशद्य से वर्णित है। कथा **गुणभद्र** के उत्तर**पुराण'** पर आश्रित है। जैन साहित्य में यशोधर की कथा बड़ी ही प्रख्यात रही है जिसका वर्णन संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी में नाना कवियों ने रुचिर रूप से विन्यस्त किया है।

यशस्तिलक[1] की भाषा बड़ी प्राञ्जल और शैली प्रौढ़ तथा आकर्षक है। वर्णन की प्रचुरता में यह कादम्बरी से घट कर नहीं है। सोमदेव अशेष विद्याओं और शास्त्रों में विलक्षण विचक्षण थे। फलतः इसमें उनके पाण्डित्य का दर्शन पदे-पदे होता है। उस युग की धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों का इन्होंने बड़ा ही रोचक विवरण प्रस्तुत किया है[2] तथा समाज और संस्कृति के उज्ज्वल चित्रण आलोचकों की प्रशंसा के विषय हैं।[3] **'नीतिवाक्यामत'** उनकी दूसरी सूत्रात्मक रचना है, जो सोमदेव की राजनीतिज्ञता का प्रौढरूपेण प्रकाशक है। उद्देश्य उनका जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन, प्रसार तथा प्रचार है, परन्तु उनकी प्रतिभा नितान्त आवर्जक है। वर्णन में उनका नैपुण्य कथानक को चटकीला बनाने में सर्वथा समर्थ है। पुरुषों का रूपवर्णन बड़े विस्तार से है, परन्तु स्त्री का रूपवर्णन अपेक्षाकृत कम है। पद्यों की प्रचुरता दोनों भागों में दृष्टिगोचर होती है। कवि में उच्चकोटि की प्रतिभा है—पद्यों के गुम्फन में तथा प्रकृति के चित्रण में। परन्तु सोमदेव प्राधान्येन सात्त्विक जीवन के उपासक सन्त पुरुष हैं। इसलिए उनके काव्य में धर्म तथा नीतिसम्बन्धी सूक्तियों का बाहुल्य होना स्वाभाविक है। वार्णिक तथा मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का चयन है इस चम्पू में।

'परोपदेशे पाण्डित्यम्' का समर्थन सुन्दर है—

विचक्षणः किन्तु परोपदेशे न स्वस्य कार्ये सकलोऽपि लोकः।
नेत्रं हि दूरेऽपि निरीक्षमाणमात्मावलोके त्वसमर्थमेव ॥

स्त्रीपुरुष की परस्पर अनुरक्ति का निर्देश इस रुचिर पद्य में है (२।२१६)—

एषा हिमांशुमणिनिर्मितदेहयष्टिः
त्वं चन्द्रचूर्णरचितावयवश्च साक्षात्।
एवं न चेत् कथमिमं तव सङ्गमेन
प्रत्यङ्गनिर्गतजला सुतनुश्चकास्ति ॥

वर्षा ऋतु में जलधारा से प्रताडित दीनदीना कुरङ्गी की दशा देखिए (१।६६)—

भूयः पयःप्लवनिपातितशैलशृंगे
पर्जन्यगर्जितवितर्जितसिंहपोते।
सौदामनीद्युतिकरालितसर्वदिक्के
कं देशमाश्रयतु डिम्भवती कुरङ्गी ॥

जीवन्धरचम्पू

प्रख्यात जैनचम्पू जीवन्धरचम्पू[4] हरिचन्द्र की रचना है। ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदयकाव्य के रचयिता हरिचन्द्र से अभिन्न माने जाते हैं। 'उत्तरपुराण' में वर्णित जैन-साहित्य में विश्रुत जीवन्धर की कथा का साहित्यिक रूप **वादीभसिंह** ने गद्य (**गद्यचिन्ता-**

१. श्रुतसागर की टीका के साथ दो खण्डों में निर्णयसागर से प्रकाशित।
२. द्रष्टव्य डॉ० हान्दिकी—यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर–शोलापुर १९४९।
३. डॉक्टर गोकुलचन्द जैन—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, काशी १९६९।
४. प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८।

मणि) में तथा पद्य (**क्षत्रचूडामणि**) में दोनों रूपों में प्रस्तुत किया था। इन्हीं से प्रभावित होकर हरिचन्द्र ने इस रोचक चम्पू का प्रणयन किया था। यह चम्पू नितान्त आकर्षक है। गद्यरचना में बाणभट्ट आदर्श माने गये हैं और उनकी विशद छाया यहाँ दीख पड़ती है। जैनधर्म के सिद्धान्तों का रोचक भाषा में कथानक के माध्यम से प्रकट करना कवि को अभीष्ट है और इस उद्देश्य में वह पूर्णतया सफल हुआ है—यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

उदयसुन्दरी कथा

सोड्ढल की रचना **'उदयसुन्दरीकथा'** इससे प्राचीन है जहाँ कवि ने स्वकल्पित आख्यान को चम्पू का रूप प्रदान किया है। इसमें बाण के 'हर्षचरित' को आदर्श मानकर कवि सुभग गद्य का प्रणयन करता है। इसमें प्रतिष्ठान नगर के राजा मलयवाहन का नागराज शिखण्डतिलक की कन्या उदयसुन्दरी के साथ विवाह आठ उच्छ्वासों में वर्णित है। प्रथम उच्छ्वास में कवि अपना चरित वर्णन करता है और पूर्ववर्ती सुकवियों की प्रशंसा पद्यों में करता है। भाषा का माधुर्य तथा भावों की नवीनता सर्वथा आकर्षक है। आकाश में छिटकी चाँदनी का बड़ा ही कमनीय वर्णन है—नवीन कल्पना से मण्डित-

> चान्द्रं महीमण्डलभाजनस्थं दुग्धं यथा यामवती-महिष्याः।
> वियोगिनां दृग्दहनोग्रतापैरुल्लासितं व्योमतले लुलोठ॥

छिटकी चाँदनी क्या है? वह महीमण्डलरूपी भाजन में रात्रिरूपी महिषी का चन्द्ररूपी दुग्ध है, जो वियोगियों के जलते हुये नयनों से दृष्ट होने पर उफान लेने वाले दूध के समान आकाश में विखर गया है।

सोड्ढल गुजरात के कायस्थ थे जिन्होंने गुजरात के शासक चालुक्य नरेश वत्सराज (१०२६–१०६० ई०) की प्रेरणा से यह कथा लिखी। अतः इनका समय ११ वीं शती है। ये कोंकण के तीन राजाओं द्वारा समादृत तथा आश्रित थे जिनके नाम हैं-चित्तराज, नागार्जुन तथा मुन्मुनिराज। ये तीनों भाई थे तथा क्रमशः गद्दी पर बैठे थे। इनका समय ११ शतक था।

रामायणाश्रित चम्पू

रामायण के आधार पर अनेक चम्पुओं की रचना उपलब्ध है। इनमें से अधिकांश सम्पूर्ण रामायण की कथा का चित्रण करते हैं, उत्तरकाण्ड की कथा पर स्वल्प चम्पू आश्रित हैं तथा मारुतनन्दन हनुमान के चरितवर्णन वाले चार चम्पू मिलते हैं। इन चम्पुओं में सर्वविश्रुत **रामायणचम्पू** भोजराज की लेखनी से प्रसूत है। धारानरेश भोज की वदान्यता के साथ ही साथ उनकी काव्यरचना भी महत्त्वपूर्ण थी। समय ११ वीं शती का मध्य भाग है। रामायणचम्पू का आधार महर्षि वाल्मीकि का रामायण है। ग्रन्थ किष्किन्धा काण्ड तक ही रचा गया था और पिछले काल के अनेक कवियों ने युद्धकाण्ड की पूर्ति कर चम्पू को सम्पूर्ण किया। युद्धकाण्डचम्पू के लेखकों में मान्य हैं—(क) भारतचम्पू तिलक के प्रणेता, **लक्ष्मणसूरि**; (ख) रत्नखेट दीक्षित के पुत्र, 'रुक्मिणीकल्याण' महा

---

१. गायकवाड ग्रन्थमाला, बड़ोदा में प्रकाशित।

काव्य के कर्ता **राजचूडामणि** दीक्षित (समय १७ शतक); (ग) **घनश्याम कवि,** (घ) **मुक्तीश्वर दीक्षित** तथा (ङ) **गरलपुरी शास्त्री** (मैसूर से प्रकाशित)। रामायण चम्पू की अनेक टीकासम्पत्ति प्राप्त है, जिसे नारायण, रामचन्द्र, कामेश्वर, मानवेद तथा घनश्याम ने निर्माण किया।

रामायणचम्पू[1] बड़ा रोचक तथा मञ्जुल चम्पू है। भोज ने पात्रों का चरित्र तथा कथाओं का विन्यास सुन्दरता से किया है। भोज का यह चम्पू काव्य के कलापक्ष का सौन्दर्य पूर्णत: प्रदर्शित करता है। प्रसादमयी शैली में नवीन भावों से परिचय चमत्कार जनक है। रावण के स्वरूप का परिचायक पद्य नितान्त मञ्जुल है (सुन्दरकाण्ड, श्लोक ४६):—

निःश्रेयसप्रणयिनीं पदवीं निरोद्धुं त्रैलोक्यपापपरिपाकमिवात्तरूपम्।
सूर्येन्दुपावकमहांसि तपोबलेन जित्वा यथेच्छमभिषिक्तमिवान्धकारम्॥

रावण ऐसा दीख पड़ता था मानो मुक्तिमार्ग रोकने के लिए शरीर धारण कर त्रैलोक्य का पाप आया हो अथवा सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि रूप तीनों तेजों को तपोबल से अभिभूत कर अन्धकार मानो स्वेच्छया अभिषिक्त होकर बैठा हो।

मेघों में बिजुली के कौंधने के विषय में बड़ी मनोरम उत्प्रेक्षा है—(रामायणचम्पू ४।३१):—

अम्भोधिपाने सलिलेन साकमापीतमौर्वाग्निशिखाकलापम्।
तप्तोदरा वारिधरा वमन्ति विद्युल्लतोन्मेषमिषेण नूनम्॥

वर्षाकाल में दामिनी कौंध रही है। मानो समुद्र से जल लेते समय मेघों ने जिस वडवानल की शिखाराशि को उदरस्थ कर लिया था, वह अग्नि जब उनके उदर में दाह उत्पन्न करने लगी तब वे मेघ उस शिखाराशि को विद्युत्प्रकाश के बहाने उगल रहे हैं।

महाभारताश्रित चम्पू

महाभारत का कथानक बहुत ही विस्तृत है। इसके कथानक को आश्रित कर निबद्ध चम्पुओं की संख्या (प्रकाशित तथा अप्रकाशित) सत्ताइस है। इनमें से कतिपय ही समग्र कथा को स्पर्श करते हैं। किसी विशिष्ट कथानक तथा उपाख्यानों पर आश्रित चम्पुओं की संख्या अधिक है। इस समुदाय के काव्यों में सर्वश्रेष्ठ तथा विश्रुत चम्पू है **अनन्तभट्ट**-प्रणीत **'भारतचम्पू'**। इसमें १२ स्तबक, एक सहस्र एकतालीस (१०४१) पद्य एवं दो सौ से ऊपर गद्य-खण्ड हैं। आरम्भ में कथानक विस्तृत है, परन्तु युद्धवर्णन के अवसर पर संक्षिप्त वर्णन है। अनन्तभट्ट के देशकाल का परिचय नहीं मिलता। केरल के प्रख्यात कवि नारायणभट्ट ने अपने प्रबन्धों में इस चम्पू के उद्धरण दिये हैं। अतः कवि का समय षोडश शतक से प्राचीन है, सम्भवतः १५ वीं सदी। अनन्त भट्ट द्रविड़ देश के कवि प्रतीत होते हैं।

---

१. गुजराती प्रेस से सटीक प्रकाशित। विस्तृत अध्ययन के निमित्त द्रष्टव्य डॉ० करुणा श्रीवास्तव : 'चम्पूरामायण का साहित्यिक परिशीलन' हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, १९६८।

कवि की प्रतिभा अलोकसामान्य है। उनके श्लोकों के ऊपर नैषधचरित का प्रभाव स्पष्टतः अनुमेय है। ये यथार्थ में शब्द पर अखण्ड प्रभुत्व रखने के साथ ही कोमल कल्पना, नवीन उत्प्रेक्षा तथा मनोमुग्धकारिणी उक्ति के लिए कविगोष्ठी में सदा स्मरणीय रहेंगे। नोंक-झोंक के शब्दों का प्राचुर्य सहृदयों को विशेष आह्लादक है। महाभारत के विविध प्रसंगों के वर्णन में कवि अभिरुचि रखता है और यह चमत्कारी वर्णन ही चम्पू-भारत का जीवातु है। कवि का युद्धवर्णन बड़ा प्रभावोत्पादक है, जिससे वे भयानक दृश्य पाठकों के सामने झूलने लगते हैं। अनन्तभट्ट वीररस के कवि हैं। अतः युद्ध के प्रसंग पर वीररस के वर्णन से कभी नहीं चूकते। आरम्भ में मृगया का वर्णन रघुवंश में राजा दशरथ की मृगया की बलात् स्मृति दिलाता है, भावों के चित्रण में तथा पदों के चयन में—

क्षोणीपतौ मदकलं प्रति कृष्णसारं
तूणीमुखे पतितपाणिनखाङ्कुरेऽस्मिन्।
एणीकुलानि तरलैर्यमुनाजलानां
वेणीमिवाक्षिवलनैर्विपिने वितेनुः॥

राजा के द्वारा जब हरिण के ऊपर तूणीर से बाण निकालने का अवसर आया, तब मृगियों ने अपने चंचल नेत्रचारणों से उस जंगल में यमुना जल की मानों वेणी चारों ओर बहा दी। इस पद्य के प्रति चरण में द्वितीय स्थान पर 'णी' वर्ण का अनुप्रास कवि को द्रविड़ होने की ओर संकेत करता है। यह द्राविडी कविता का आलंकारिक वैशिष्ट्य माना जाता है। १।७७ पद्य में भी यही चमत्कार लक्षित होता है। भारतचम्पू (३।६८) की सुन्दरता अवलोकनीय है—

कन्याकरं मृद्नति पादपद्मं पुष्यन्ति गात्रे पुलकाङ्कुराणि।
हरे हरे माधव माधवेति हरिस्मृतेरन्यथयांचकार॥

सुभद्रा द्वारा पादसंवाहन के अवसर पर यति-वेषधारी अर्जुन द्वारा शरीर के रोमांच को भगवत्स्मरण से उत्पन्न होने का यह अभिनय भावगोपन का कितना सुन्दर प्रकार है।

मध्ययुगीय अतिशयोक्ति के प्रवाह में पड़े हुए कवि द्वारा नायिका की कटि का अभाव देखकर हाथ में सुनहली करधनी लेकर ठिठकने वाली सखी का यह वर्णन उर्दू कवियों की सी अस्वाभाविकता का द्योतक है, जिसे गुणकोटि से दूर हटाना ठीक होगा—

सकलमपि वपुर्विभूष्य तन्व्याः सपदि सखी विपुलेक्षणाम्बुजापि।
चिरतरमनवेक्ष्य मध्ययष्टिं करधृतकाञ्चनकाञ्चिरेव तस्थौ॥

ऐसी ही चमत्कारी सूक्तियों के कारण यह भारतचम्पू कथा कहने वाले व्यास लोगों का नितान्त लोकप्रिय काव्य है।

कृष्णकथापरक चम्पू

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की सरस कथा भक्तजनों के गले का हार है ही। फलतः भागवत पुराण, विशेषतः दशम स्कन्ध, के आधार पर अनेक लेखकों ने अपनी लेखनी चलाई है। कालक्रम के यथार्थ परिचय के अभाव में उनका समय तत्त्वतः निर्दिष्ट नहीं किया

जा सकता। **अभिनव कालिदास** द्वारा प्रस्तुत **भागवतचम्पू**[1] सम्भवतः इन चम्पुओं में प्राचीन है। कवि के यथार्थ नाम से हम अपरिचित हैं। कृष्णमाचार्य के कथनानुसार ये सम्भवतः आन्ध्र के वेल्लालकुल के व्यक्ति थे। समय अनुमानतः ११ शतक माना गया है।[2] कृष्ण के चरित का वर्णन कवि का लक्ष्य है, परन्तु कवि ने भक्तिभावना के प्रदर्शन के लिए नहीं, प्रत्युत उत्तान शृंगार की अभिव्यञ्जना के लिए ही इस चम्पू का प्रणयन किया। यह छः स्तबकों में विभक्त है। राधा स्वकीया के रूप में चित्रित हैं तथा अन्तिम स्तवक राधाकृष्ण-मिलन के पूर्णतया भौतिक पक्ष का चित्रण करता है, जो उद्वेजक होने से आवर्जक नहीं है। इस चम्पू की अपेक्षा भक्तिरस की अभिव्यक्ति तथा वर्णन की प्रचुरता में **कवि-कर्णपूर** (१६ शती का मध्यकाल) का **आनन्दवृन्दावनचम्पू**[3] कहीं अधिक हृदयावर्जक, उदात्त रस-मण्डित तथा वृत्त-प्राचुर्यसम्पन्न है। चैतन्यमहाप्रभु के सम्प्रदाय में दीक्षित कविकर्णपूर अलौकिक प्रतिभा से मण्डित भावुक भक्त कवि थे। **'आनन्दवृन्दावन'** निःसन्देह चम्पू-साहित्य का शिरोमणि है, केवल विस्तार में ही नहीं, प्रत्युत काव्यकला के विशद विद्योतन में भी। इसके २२ स्तबकों में प्रथम स्तवक वृन्दावन का, द्वितीय से लेकर सात तक श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर बाललीलाओं का, ७–२० स्तवक तक श्रीकृष्ण के पौगण्ड्र लीला का, २१ में होली तथा २२ में दोला का चमत्कारी वर्णन कवि की अलौकिक प्रतिभा, सरस हृदयता तथा अद्‌भुत कविता का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। १७–२० स्तवकों में रासलीला का विस्तृत रसपेशल वर्णन कवि के भक्त हृदय का निःसन्देह साक्षी है। बीसवें स्तवक में रासप्रसंग में वाद्य तथा नृत्य का सजीव चित्रण कवि के ललित कला-नैपुण्य का सद्यः द्योतक है। कलापक्ष का चमत्कार होने पर भी हृदयपक्ष का नैसर्गिक प्रावल्य है इस चम्पू में। रास के समय जलविहार का यह वर्णन श्लिष्ट पदों के द्वारा मोक्षदशा की ओर रसिकों को उन्मुख कर रहा है—

> निर्लेपः कुचमण्डलो मृगदृशां हारावली निर्गुणा
> नेत्राम्भोरुहमज्जनेन रहितं नीरागमोष्ठाधरम्।
> निर्ग्रन्थिर्मणिमेखला कचततिर्मोक्षं गता काचन
> श्रीरासीद् द्विगुणैव सा घनरसे मग्नस्य योग्यं हि तत् ॥

श्रीमद्‌भागवत की भक्तिभावना पूर्णरूपेण उसमें सफलता के साथ अवतीर्ण हुई है। भगवान् नन्दनन्दन की वृन्दावनलीला का यह ललित काव्य अनेक दृष्टियों से अनुपमेय है। वृन्दावन ने अपने पुष्पों से राधा को अलंकृत किया है—

> कचौघे पुन्नागं वकुलमुकुलानि भ्रमरके-
> ष्वशोकं सीमन्ते श्रवसि सहकारस्य कलिका:।

---

१. गोपालनारायण कम्पनी द्वारा १९२९ में प्रकाशित, बम्बई।

२. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५०६, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, १९७१ काशी।

३. देवकीनन्दन प्रेस (वृन्दावन) से दो जिल्दों में प्रकाशित, १९०४। वीरचन्द्र की टीका के साथ बंगाक्षर में (कलकत्ता १९०८–१३); डॉ० बाँके बिहारी द्वारा हिन्दी भावानुवाद (बम्बई, १९६७)।

स्तनाग्रे वासन्ती-कुसुमदलमालेति कुसुमैः
स्वयं वृन्दा राधां सपदि मुमुदेऽलङ्कृतवती ॥

जीवगोस्वामी (१७ शती) का **'गोपालचम्पू'**[1] भी इसी बाललीला का चित्रण है। यह भगवान् श्रीकृष्ण की समग्र लीलाओं का रसमय वर्णन है। यह केवल काव्य-ग्रन्थ न होकर गौडीय वैष्णवों का सिद्धान्त-ग्रन्थ भी है, जिसमें उनके भक्तितत्त्वों का विवेचन विशदतया दृष्टान्तपुरःसर प्रस्तुत किया गया है। वीरमित्रोदय के प्रख्यात लेखक **मित्रमिश्र** के **आनन्दकन्दचम्पू**[2] का भी वर्ण्य विषय यही है—बाललीलाओं का सुभग वर्णन। मित्रमिश्र ग्वालियर के निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे—शाण्डिल्यगोत्रीय श्रीहंस मिश्र के पौत्र तथा परशुराम मिश्र के पुत्र। अपने आश्रयदाता ओडछानरेश वीरसिंहदेव (१६०५ ई०—१६२७ ई०) का विशिष्ट वर्णन ग्रन्थ के अन्तिम उल्लास में इन्होंने किया है। कवि का यह कथन ऐतिहासिक महत्त्व रखता है कि इसी राजा ने मथुरा में कृष्ण-जन्म (केशवकटरा के नाम से आज प्रसिद्ध) स्थान पर एक विशाल मन्दिर बनवाया था, जिसके ध्वंसावशेष आज भी मिलते हैं। शैली पर्याप्तरूपेण अलंकृत है। पद्य के समान इसका गद्य भी सुन्दर, संगठित तथा अलंकृत है। प्रथम उल्लास में मथुरा और यमुना का वर्णन बड़ा ही रमणीय है।

श्रीकृष्ण की एक विचित्र लीला से सम्बद्ध **'मुक्ताचरित्र'**[3] श्रीचैतन्यमहाप्रभु के शिष्य **रघुनाथदास** की रचना है, जिसमें श्रीकृष्ण मोती बोते हैं और दूध से सींच कर उसे उगाते हैं। इसका भीतरी तात्पर्य सत्यभामा से बढ़कर राधा के प्रति श्रीकृष्ण के स्वतन्त्र प्रेम का गौरव दिखलाना है। श्रीकृष्ण की द्वारिका-लीला से सम्बद्ध रुक्मिणीपरिणय कविजनों का प्रिय विषय रहा है। **अम्मल** तथा **गोवर्धन** नामक कवियों की एतद्विषयक रचनायें उपलब्ध हैं। **पारिजातहरणचम्पू**[4] में वाराणसी के लब्धप्रतिष्ठ वैयाकरण **शेषश्रीकृष्ण** की रचना होने का गौरव प्राप्त है (१६ वीं शती)। उस समय के काशिराज के अनुज नरोत्तम की प्रेरणा से निर्मित इस चम्पू का मुख्य रस श्रृंगार है—सपत्नी की ईर्ष्या तथा मान से संवलित। कवि में प्रतिभा है जिसका उपयोग प्रचुर पद्यों में किया गया है। मानिनी सत्यभामा का चित्रण बड़ा ही मनोरञ्जक है।

पौराणिक चम्पू

पौराणिक आख्यानों पर प्रणीत चम्पुओं की संख्या कम नहीं है। प्रह्लाद का चरित्र कवियों को सन्तत प्रेरक रहा है। **नृसिंहचम्पू** दैवज्ञ सूर्य का लघुकाय होने पर भी वैशिष्ट्य रखता है। भारद्वाजगोत्री नागनाथ के पौत्र तथा ज्ञानराज के पुत्र **सूर्यकवि** कवि होने के

---

१. काशी के 'पण्डितपत्र' में प्रकाशित। विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका के साथ बंगाक्षर में हुगली से खण्डशः प्रकाशित, १९१८ (अपूर्ण)।

२. सरस्वती भवन ग्रन्थामाला, सं० ३७, काशी से प्रकाशित १९३१।

३. नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी द्वारा बंगाक्षरों में प्रकाशित (वृन्दावन, १९१७)।

४. काव्यमाला बम्बई, ग्रन्थसंख्या १४, १९२६।

अतिरिक्त एक विज्ञ दैवज्ञ थे, जिन्होंने लीलावती के ऊपर अपनी टीका का प्रणयन १४६३ शाके (=१५४१ ई०) में किया। अतः इनका समय है १६ शतक का मध्यकाल। नृसिंह-चम्पू के पाँच उच्छ्वासों में कुल ७५ श्लोक एवं १९ गद्य खण्ड हैं। कवि ने इस चम्पू में नवों रसों का निवेश बड़ी मार्मिकता से किया है और यही इसका वैशिष्ट्य है। कवि की भाषा में लालित्य है। लक्ष्मी का यह वर्णन उनके पदबन्ध का द्योतक माना जा सकता है (नृसिंहचम्पू ५।३)—

सौन्दर्येण भृशं दृशोर्नरहरेः साफल्यमातन्वती
सभ्रूभङ्गमपाङ्गवीक्षणवशादाकर्षयन्ती मनः।
स्फूर्जत्कंकणकिंकिणीगणझणत्कारैः कृतार्थे श्रुती
कुर्वन्ती शनकैर्जगाम जगतामाश्चर्यदात्री रमा ॥

इसके डेढ़ शताब्दी के अनन्तर निर्मित मत्स्यावतार का वर्णनपरक **'मत्स्यावतारप्रबन्ध'**[2] केरल के प्रख्यात कवि **नारायणभट्ट** की रचना है (समय लगभग १५७५ ई०–१६२५ ई०)। इस लघुकाय चम्पू में केवल ६७ पद्य तथा १२ गद्य-खण्ड हैं। भागवत (८।२४) पर आश्रित यह लघुकाव्य मत्स्य की प्रख्यात कथा का बड़ा रोचक वर्णन करता है। 'नारायणीय' के प्रतिभासम्पन्न प्रणेता का यह चम्पू परिमाण में न्यून होने पर भी काव्य-सौष्ठव में नितान्त महनीय है। प्रलयकाल में नौका की स्थिति एवं हयग्रीव और मत्स्य का युद्ध बड़े मनोहर रूप में वर्णित है। पद्य की अपेक्षा गद्य-भाग अधिक प्रौढ़ है। नारायण भट्ट ने पौराणिक विषयों पर चतुर्दश 'प्रबन्धों' (चम्पू-काव्यों) का प्रणयन किया है, जिनमें से कतिपय के नाम ये हैं—**राजसूयप्रबन्ध**[3] (सभापर्व पर आधारित), **पांचालीस्वयम्बर** (आदिपर्व पर आश्रित), **स्वाहा-सुधाकरचम्पू**[4] (अग्नि की पत्नी स्वाहा एवं चन्द्रमा का प्रणयवर्णन), **कोटिविरह**[5] (नायक-नायिका के मिलन, विरह तथा पुनर्मिलन का वर्णनपरक काव्य), **नृगमोक्ष** (राजा नृग की मोक्षकथा), **अष्टमीमहोत्सवचम्पू** तथा इतर आठ प्रबन्ध[6]। इन प्रबन्धों का प्रणयन नारायण कवि ने रविनर्तक के आदेश से किया, जिनका प्रयोग चाक्यार लोग मन्दिरों में प्रस्तुत किया करते थे। अतः अधिकतर ये प्रबन्ध केरल के भीतर ही सीमित रहे।

परन्तु उसी युग के द्रविड़ कवि **नीलकण्ठ दीक्षित** के 'नीलकण्ठविजय' चम्पू की ख्याति अखिल भारतीयता से मण्डित है। ये नीलकण्ठ दीक्षित भरद्वाजगोत्रीय प्रख्यात दार्शनिक अप्पयदीक्षित के सहोदर अच्चा दीक्षित के पौत्र तथा नारायण दीक्षित के पुत्र थे।

१. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सं० २०१६।
२. दी युनिवर्सिटी मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम् (१९४५) द्वारा प्रकाशित।
३. संस्कृत-साहित्यपरिषद् कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।
४. काव्यमाला चतुर्थ गुच्छक में प्रकाशित।
५. काव्यमाला पंचम गुच्छक में प्रकाशित।
६. द्रष्टव्य डॉ० छविनाथ त्रिपाठी—चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, चौखम्भा, १९६५ (पृ० १८०)।

ग्रन्थकार ने इस चम्पू का रचनाकाल ४७३८ कलिवर्ष (=१६३६ ई०) बताया है (१।१०)। फलतः नीलकण्ठ का समय १७ शतक का पूर्वार्ध मानना समुचित है। इस चम्पू में वर्णित समुद्रमन्थन की कथा पुराण का नितान्त लोकप्रिय आख्यान रहा है।[1] इस काव्य के पाँच आश्वासों में यही कथा विस्तार तथा रोचकता से वर्णित है। इसमें कुल २७९ श्लोक एवं मात्रा में इससे कुछ कम गद्य भाग हैं।[2]

नीलकण्ठ सात्त्विक प्रकृति के शैव कवि थे। ये विलास को राजाओं के पतन का कारण मानते थे और दानवों एवं देवों के पराजय का भी यही कारण निर्दिष्ट किया गया है। काव्य में चमत्कार है। युद्ध का वर्णन ओजस्वी तथा यथार्थता से मण्डित है। कवि की यह प्रौढ़ रचना है, जिसमें प्रकृति के साथ ही साथ अध्यात्म तथा शिवस्तुति का भी मञ्जुल वर्णन है।

ऐतिहासिक तथा चरितविषयक चम्पू

भारतीय इतिहास के मध्ययुग से सम्बद्ध अनेक चम्पुओं की सत्ता है, जिनमें दो प्रमुख हैं—**वरदाम्बिकापरिणयचम्पू** तथा **'आनन्दरंगविजयचम्पू'**। प्रथम चम्पू की लेखिका **तिरुमलाम्बा** दक्षिण के विजयनगर के सम्राट् अच्युतराय (शासन काल १५२९ ई०–१५४२ई०) की पट्ट-महिषी थीं, जिन्होंने अपने पतिदेव की प्रणयकथा तथा वरदाम्बिका नामक सुन्दरी से परिणय का वर्णन बड़े ही उत्साह तथा उमंग के साथ किया है। लेखिका अपने को 'विविधविद्याप्रगल्भ–राजाधिराजाच्युतरायसार्वभौम–प्रेमसर्वस्वविश्वासभू (राजा के प्रेमसर्वस्व एवं विश्वास की भूमि) बतलाती है, जो उसके पट्टमहिषी होने का द्योतक है। यह चम्पू आश्वासों या स्तवकों में विभक्त न होकर एक ही प्रकरण वाला रुचिर ग्रन्थ है। ग्रन्थ के आरम्भिक पृष्ठों में अच्युतराय के पूज्य पिता राजा नृसिंह के दक्षिण भारत, विशेषतः चोलमण्डल, के दिग्विजय का वर्णन विस्तार से है। राजगद्दी पर आसीन होने के बाद अच्युतराय ने कात्यायनी देवी के मन्दिर में एक परम सुन्दरी कन्या वरदाम्बिका को देखा और अन्त में उससे विवाह किया। इसी लघुवृत्त को लेखिका ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से खूब पल्लवित किया है। पद्यों की अपेक्षा गद्य का यहाँ प्राचुर्य है उसी प्रौढ़ समास–बहुला शैली में, जो आचार्यों की सम्मति में गद्यकाव्य का जीवित है। वर्णन की कला में तिरुमलाम्बा को विशेष सफलता प्राप्त है। राजा नृसिंह के युद्धवर्णन में वीररस का, प्रणय-कथा के चित्रण में श्रृंगार रस का तथा ऋतुवर्णन में चमत्कार का विन्यास बड़ी सहृदयता के साथ कवयित्री करती है। अच्युतराय के अंग-प्रत्यंग का अलंकृत वर्णन तो गजब का है—इतना सुन्दर तथा रोचक कि शायद ही किसी स्त्री द्वारा पुरुष के सौन्दर्य का इतना सांगोपांग वर्णन कहीं उपलब्ध हो। संस्कृत भाषा के ऊपर प्रशंसनीय प्रभुता के, अलंकारों के विन्यास तथा चयन में अद्भुत सामर्थ्य के कारण यह चम्पू अपने वर्ग का एक श्रेष्ठ प्रतिनिधि माना जायेगा।

---

१. द्रष्टव्य भागवत ८।६–७; हरिवंश भविष्यपर्व ३० अ०, अग्निपुराण ३ अ०, पद्मपुराण उत्तर खण्ड, २६० अध्याय।

२. इस चम्पू का प्रकाशन बालमनोरमा प्रेस ने किया है, मद्रास, १९४१ ई०।

३. डॉ० सूर्यकान्त के सम्पादकत्व में अंग्रेजी अनुवाद के साथ चौखम्भा से प्रकाशित, वाराणसी, १९७०।

सन्ध्या की विमल वेला है। आकाश पीले रंग की सुषमा से मण्डित हो उठा है। कवयित्री की दृष्टि इस दृश्य को देखकर आह्लादित हो जाती है और इस प्रशस्त पद्य में उसकी कल्पना साकार हो उठती है (१५७ श्लोक)—

अरविन्दबन्धु-कुरुविन्दपिधाने चपलेन बालशशिना व्यपनीते।
घुसृणं वियन्मघवनीलकरण्डाद् गलितं यथाघनमदृश्यत सन्ध्या ॥

आशय है—आकाश बहुमूल्य नीलम की केसर से भरी पेटी है, जिसका माणिक्य मणि का बना ढक्कन स्वयं सूर्य है। चन्द्रमा के उदय होते ही सूर्य अस्ताचल पर डूब चला। जान पड़ता है कि चन्द्रमा ने अपनी बालसुलभ चञ्चलता के कारण उस ढक्कन को हटा दिया है, जिसमें चारों ओर पेटी का केसर बिखर गया है। प्राकृत दृश्य पर यह नवीन कल्पना कितनी मोहक तथा सरस है ! ! !

'आनन्दरंगविजयचम्पू'[1] इससे भी अधिक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। चरित-नायक आनन्दरंगपिल्लै (१७०९ ई०–१७६१ ई०) का व्यक्तित्व असाधारण था। वे १८ वीं शती के एक प्रखर राजनयिक, व्यापारी तथा पाण्डिचेरी के फ्रांसीसी-शासक विख्यात डूप्ले के भारतीय कारिन्दा थे। उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में फ्रांसीसी लोगों की प्रभूत सहायता की थी तथा उनके शासन को दृढ़ बनाया था। वे साहित्य के भी उपासक थे, जिसका प्रमाण है उनकी तमिळ भाषा में लिखी डायरी (दैनंदिनी), जिसका अंग्रेजी अनुवाद बारह भागों में मद्रासशासन ने प्रकाशित किया है।[2] इन्हीं की जीवनी तथा कार्यकलाप का वर्णन उन्हीं के आश्रित **श्रीनिवास कवि** ने बड़े विस्तार से यहाँ किया है।

आठ स्तबकों में विभक्त इस चम्पू का निर्माणकाल ग्रन्थ के ही साक्ष्य पर, ४८५४ कलिसंवत् (=१७५२ ई०) है। यह चरितनायक के जीवन का उत्कर्षकाल था। आरम्भ में कवि ने आनन्दरंग के जन्म, यौवन, शिक्षा-दीक्षा तथा विवाह का वर्णन विस्तार तथा वैशद्य से किया गया है। चम्पू के षष्ठ तथा सप्तम स्तबकों में दक्षिण भारत के दीर्घ-कालव्यापी, कर्नाटक युद्धों का (१८ वीं शती) विस्तृत वर्णन है तथा उनमें आनन्दरंग के महनीय कार्य का समुचित उल्लेख है। यह चम्पू अब तक अज्ञात अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का प्रथम बार उद्‌घाटन करता है, जिसकी जानकारी उस काल की राजनीतिक एवं सामरिक स्थिति समझने के लिए नितान्त आवश्यक है। डूप्ले के फ्रान्स लौट जाने पर अन्य शासक के समय भी चरितनायक का महत्त्व कथमपि क्षीण नहीं हुआ था। ऐतिहासिक वृत्त के वर्णनोपयोगी गद्य-पद्य का प्रयोग यहाँ बड़ी सूझ-बूझ के साथ किया गया है। न लम्बे-लम्बे समासों की भरमार है और न श्लेष—द्वारा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग। शैली प्रसादमयी है। नये-नये विषयों का भी समावेश यहाँ मनोरंजक ढंग से किया गया है। आनन्दरंग ने पाण्डिचेरी में विशाल वैभवसम्पन्न महल बनवाया था,

---

१. डॉ० राघवन के सम्पादकत्व में प्रकाशित, मद्रास, १९४८।

२. 'डायरी आफ आनन्दरंगपिल्लै' के नाम से १२ जिल्दों में अंग्रेजी में अनूदित और प्रकाशित, मद्रास, १९०४–१९२८ ई०।

जिसके ऊपर बजने वाली एक बड़ी घड़ी लगा रखी थी। यह उस युग के लिए अजीब चीज़ थी। कवि ने इसका सुन्दर वर्णन किया है (आनन्दरंगचंम्पू ४।२२)—

> निर्यलं यत्र घण्टा ध्वनति च भवने बोधयन्ती मुहूर्तान्
> दैवज्ञान् हर्षयन्ती समयमविरतं ज्ञातुकामानशेषान्।
> प्राप्तुं श्रीरंगभूपात् फलमनुदिनमागच्छतां भूसुराणां
> तत्सिद्धि सूचयन्ती प्रकटयतितरामद्भुतां रागभङ्गीम्॥

फ्रांसीसी गवर्नर के लिए कवि ने 'हूणराज' शब्द का प्रयोग किया है, लाल चेहरा होने के कारण। यह साहित्यिक औचित्य रखता है। प्राचीन भारत में हूण लोग अपने लाल-लाल मुखमण्डल के लिए विख्यात थे, यहाँ तक कि नारंगी का फल सद्यः मुण्डित हूण के चिबुक का प्रतिस्पर्धी माना गया है—'सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्' (वामन-काव्यालंकार वृत्ति में उद्धृत पद्यखण्ड)। वेंकटाध्वरी ने भी मद्रास के तत्कालीन व्यापारी अंग्रेजों को हूण नाम से अभिहित किया है।

युद्धवर्णन में बड़ी प्रौढ़ि का आश्रयण है। हैदराबाद के निजाम के पुत्र के युद्ध का एक दृश्य देखिए, जहाँ अपनी जान बचाने में तत्पर योद्धा मूल्यवान् आभूषणों को फेंक रहा था, जिन्हें चाण्डाल लोग (जनंगम) बटोर रहे थे और जहाँ हूण लोग (अंग्रेज तथा फ्रान्सीसी) धन और मूल्यवान् रत्नों की पोटली को लूट रहे थे। युद्ध का यह यथार्थ वर्णन प्रौढ़ भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त है (७।५०)—

> प्राणत्राणपरायणारिसुभट-त्यक्तोरुमूल्यस्फुरद्-
> भूषान्वेषि जनंगमौघनिविडक्रोडं निरस्तात्मनि।
> स्कन्धावारमभूत् क्षणेन समरे तस्मिन् निजामात्मजे
> वीरे हन्त धनौधरत्नपटलीलुण्टाकहूणोत्करम्॥

यह चम्पू बतलाता है कि मद्रास किले में स्थित 'चेन्न केशव' के मन्दिर के कारण ही वह नगर 'चेन्नकेशवपुर' के नाम से अभिहित था। इसी शब्द का विकृत रूप है 'चेन्नपट्टन' या 'चेन्नपुरी' जो मद्रास का तमिळ भाषा में अभिधान है। इसी ग्रन्थ के साक्ष्य से इस अभिधान की यथार्थ व्याख्या उपलब्ध होती है।

जीवनचरित-विषयक चम्पू

प्रख्यात धार्मिक आचार्यों का जीवनचरित भी चम्पूकाव्यों का श्लाघनीय स्रोत रहा है :—

आचार्य शंकर के दिग्विजय पर प्रमुख चम्पू निम्नलिखित हैं :—(क) **आचार्यदिग्विजयचम्पू,** बाधूलगोत्रोत्पन्न **वल्लीसहाय** कवि की रचना है (१५३९ में रचित), जो अपूर्ण ही उपलब्ध होती है, (ख) **जगद्गुरुविजय**—श्रीकण्ठशास्त्री की रचना, मैसूर से प्रकाशित है; (ग) **लक्ष्मीपति** का **शंकरचम्पू,** (घ) **नीलकंठ** का **शंकरमन्दारसौरभ,** तथा (ङ) **बालगोदावरी**—रचित **शंकराचार्यचम्पूकाव्य**—इस विषय की अन्य रचनायें हैं।

(२) श्रीवैष्णवमत के मान्य आचार्यों के विषय में चम्पू उपलब्ध हैं--(क) **नाथमुनिविजयचम्पू**--मैत्रेयगोत्री कृष्णमाचार्य के पुत्र रामानुजदास की रचना है, जो चार उल्लासों में पूर्ण है (अप्रकाशित); (ख) **रामानुजचम्पू**[१]--दश स्तवकों में विभक्त यह काव्य रामानुज की जीवनी विस्तार से वर्णित करता है। ग्रन्थ के आरम्भ में इसके लेखक रामानुजार्य ने अपनी जीवनी विस्तार से दी है। समय लगभग १६ शती का अन्तिम भाग। कवि की वर्ण्य विषयों के सहचर विषयों की ओर भी दृष्टि गई है। मार्मिक स्थलों के वर्णन होने पर भी कवि आचार्य की जीवनी को अपना लक्ष्य बनाता है। फलतः आख्यान में शैथिल्य नहीं है। काव्य में प्रौढता तथा आकर्षण है। गद्य तथा पद्य दोनों के द्वारा कथा का स्वाभाविक विकास हुआ है। शबरजातीया स्त्री का यह चित्रण (३।४६) स्वभावोक्ति-मण्डित है--

> विस्तीर्णे कर्णपत्रे द्विपदशनमये कर्णयोर्धारयन्ती
> गुञ्जामालां दधाना गलभुवि वलये शंखक्लृप्ते वहन्ती।
> कस्तूरीचित्रकोद्यन्निटिलशशिकला देवतेवाटवीनां
> काचित् कान्तारपार्श्वे विलसति किमयं व्याधयूथाग्रगण्यः।।

(ग) **अहोबलसूरि**-रचित **यतिराजविजयचम्पू** इससे प्राचीन माना गया है। इनकी दूसरी खण्डित रचना **विरुपाक्षमहोत्सवचम्पू** में वर्णित ऐतिहासिक वृत्त से ये विजयनगर के संस्थापक विद्यारण्यमुनि के समकालीन प्रतीत होते हैं। फलतः इनका समय १४ शती का उत्तरार्ध अनुमेय है। 'यतिराजविजय' में १७ उल्लास हैं, जिसमें अन्तिम उल्लास अपूर्ण है। रामानुज की जीवनी विस्तार से वर्णित है। भाषा सीधी-सादी, समास के आडम्बर से सर्वथा विहीन है। 'विरुपाक्षमहोत्सव' उस युग के एक विशाल धार्मिक समारोह का जीता-जागता महनीय वर्णन है--आकर्षक एवं मनो-रंजक (मद्रास से प्रकाशित; प्रथम चम्पू अप्रकाशित)। (घ) वेदान्तदेशिक की जीवनी का वर्णनपरक **आचार्य-विजय** (अथवा **वेदान्ताचार्यविजय**) चम्पू किसी 'कवि-तार्किक-सिंह' **वेदान्ताचार्य** की रचना है। वेदान्तदेशिक १३वीं शती के सार्वभौम श्रीवैष्णव आचार्य थे। इनकी कथा को यह कवि 'प्राचीनोक्ति' बतलाता है। फलतः इसका काल १५-१६ शती से प्राचीन नहीं होना चाहिये। भाषा में सौष्ठव, पदलालित्य तथा बहुल समासवत्ता आदि गद्यशैली के समस्त गुण यहाँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। कविता प्रौढ़ है तथा ओज गुण की विशेषता श्लाघनीय है। (अप्रकाशित)।

(३) ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवनचरित के विषय में चम्पुओं का बाहुल्य है। यथा पद्मनाभमिश्र-रचित **वीरभद्रदेवचम्पू**[२], जो रीवाँनरेश रामचन्द्रदेव के पुत्र वीरभद्रदेव का चरित छः उच्छ्वासों में वर्णन करता है। ऐतिहासिक तथ्यों से समन्वित यह काव्य भाषा की दृष्टि से भी श्लाघनीय है। ग्रन्थ के ही आधार पर इसका रचनाकाल १६३३ वि० सं० (=१५७८ ई०)।

---

१. गवर्नमेण्ट ओरियन्टल मैन्युस्क्रिप्ट सीरीज (नं० ६, मद्रास) १९४२, में प्रकाशित।
२. प्राच्यवाणी सीरीज में प्रकाशित (संख्या १२, कलकत्ता) १९५२।

वेंकटाध्वरी––इनका नाम केवल वेंकट था, पर यज्ञ सम्पादन के कारण ये यज्वा अथवा अध्वरी कहलाते थे। अतः इन्होंने अपने को 'वेंकटार्ययज्वा' लिखा है। विश्व-गुणादर्श चम्पू के अन्तरंग परीक्षण से वेंकटाध्वरी के जीवनवृत्त का परिचय मिलता है। ये काञ्ची के समीपस्थ 'अरशाणिपाल' नामक ग्राम (अग्रहार) के निवासी थे। इनका कुल पाण्डित्य के लिए प्रख्यात था। ये कर्नाटक के राजा कृष्णराय के गुरु ताताचार्य के भागिनेय अप्पय गुरु के पौत्र तथा रघुनाथ दीक्षित के पुत्र थे। ध्यातव्य है कि इनके पितामह अप्पय गुरु विख्यात अप्पयदीक्षित से भिन्न व्यक्ति हैं। इनका गोत्र अत्रि था। इनके पिता उस अग्रहार के स्वयं स्वामी थे। ये रामानुजसम्प्रदाय के वडकलै मत के अनुयायी श्रीवैष्णव थे, जिनके आराध्य लक्ष्मीनारायण थे। चन्नपट्टण (मद्रास) के वर्णन में अवसर पर इन्होंने वहाँ रहने वाले हूणों के दुराचार का निर्देश किया है––दुर्लभाः खलु हूणेभ्यः कुत्सिततया लोके।

> हूणाः करुणाहीनास्तृणवद् ब्राह्मणगणं न गणयन्ति।
> तेषां दोषाः पारेवाचां ये नाचरन्ति शौचमपि॥

यहाँ 'हूण' का अभिप्राय समुद्रमार्ग से यात्रा करने वाले विदेशी, जैसे अंग्रेजों से है जो मद्रास शहर में १७वीं सदी के मध्यभाग में आकर रहने लगे थे। फलतः वेंकटाध्वरी का समय १७वीं शती का मध्यभाग सिद्ध होता है।

इनकी पाँच रचनाओं का परिचय मिलता है :––(१) विश्वगुणादर्शचम्पू, (२) लक्ष्मीसहस्र, (३) वरदाभ्युदय अथवा हस्तिगिरिचम्पू, (४) उत्तररामचरितचम्पू तथा (५) यादवराघवीयम्। श्रीनिवासविलासचम्पू इनकी संदिग्ध रचना मानी जाती है। इनके आदिम दोनों काव्य कवि की अलौकिक प्रतिभा के उज्ज्वल प्रतीक हैं। 'लक्ष्मीसहस्र' की रचना एक ही रात में सम्पन्न की गई––ऐसी जनश्रुति है। लक्ष्मी के विषय में यह भक्तिरस से स्निग्ध कविता कलापक्ष से भी मण्डित है।

विश्वगुणादर्शचम्पू––वेंकटाध्वरी (१७ शती) की यह रचना विषयवर्णन तथा कल्पना में नवीनता रखती है। इस चम्पू में विश्वावलोकन के लिए उत्सुक कृशानु और विश्वावसु नामक दो गन्धर्वों की कल्पना की गई है। कृशानु केवल दोषदृक् है, परन्तु विश्वावसु गुणग्रहणैककौतुकी है। किसी तीर्थ या स्थल के गुणों का वर्णन प्रथमतः विश्वावसु करता है। तब कृशानु उसके दोषों का उद्घाटन करता है। तदनन्तर विश्वा-वसु उन दोषों का निराकरण कर शंका का समाधान करता है। इस कथनोपकथन शैली में निबद्ध यह काव्य उस युग की धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा की बड़ी ही रोचक आलोचना करता है। कवि संस्कृतभाषा के असाधारण ज्ञाता थे। जब श्री-वैष्णवों में भी तेंनकलै मतानुयायी आचार्यों के आचरणों पर तीखा प्रहार करने से वे नहीं चूकते, तब माध्व गुरुओं की तथा मायावादी अद्वैतियों की उपेक्षा कैसे सम्भव है? कविता में श्लेष का चमत्कार, प्रतिभा का दिव्य निदर्शन तथा भौगोलिक तथ्यों का विस्तार विशेषतः विलोकनीय है। स्थलवर्णन तो इस चम्पू का मेरुदण्ड है। वेदान्तियों, कवियों, तार्किकों, ज्यौतिषियों आदि का गुणदोष का विवेचन बड़ी मार्मिकता से कवि ने किया है। राजा की चाकरी करने वाले भृत्य की कितनी उचित आलोचना है (श्लोक ५७१)––

नैषां सन्ध्याविधिरविकलो नाच्युतार्चाऽपि साङ्गा
न स्वे काले हवननियमो नापि वेदार्थचिन्ता ।
न क्षुद्वेलानियममशनं नापि निद्राऽवकाशो
न द्वौ लोकावपि तनुभृतां राजसेवापराणाम् ॥

काशी के विषय में वेंकटाध्वरी का चमत्कारी पद्य देखिये (श्लोक ७५)—

वाराणसि त्वयि सदैव सरोगभूमावारोग्य-भूमिरिति काममलीकवादः ।
संतस्थुषां भवति यत्र वपुः सशूलं जन्मान्तरेऽपि जलभारवदुत्तमाङ्गम् ॥

इस पद्य में 'आरोग्यभूमि' का श्लेष रहस्यमय है। अः=विष्णुः (बिन्दुमाधव रूपी), रेण नेत्राग्निना मुक्तः उः शिवः (विश्वेश्वर), तौ गच्छतीति अरोगाः, अर्थात् विष्णुशिवभक्ताः तस्याभावः आरोग्यम्, तेन युक्ता भूमिः ; अर्थात् काशी शिव तथा विष्णु दोनों देवों की प्रिय भूमि है। इस पौराणिक तथ्य का उद्घाटन यहाँ श्लेषमहिम्ना किया गया है।

वेंकटाध्वरी के अन्य दो चम्पू उतने प्रख्यात नहीं हैं। **वरदाभ्युदय**[1] (अथवा हस्तिगिरि) चम्पू लक्ष्मी और नारायण का विवाहपरक है, जहाँ काञ्चीस्थित देवराज के धार्मिक गौरव एवं महत्त्व का वर्णन कवि को अभीष्ट है। विश्वगुणादर्श की अपेक्षा गद्य की मात्रा इसमें अधिक है। **उत्तररामचरित**[2] चम्पू वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्डस्थ विषयों का वर्णनपरक काव्य है, जिसमें रावण का चरित बड़े विस्तार से वर्णित है। अनन्तर हनुमान का चरित भी चित्रित है। कविता बड़ी प्रौढ़ है—

चकितहरिणशावचञ्चलाक्षी मधुररणन्मणिमेखलाकलापम् ।
चलवलयमुरोजलोलहारं प्रसभमुमा परिसष्वजे पुरारिम् ॥

गुणसम्पन्न होने पर भी इन्हें विश्वगुणादर्श ने अपने वर्णन के उत्कर्ष से दबा दिया है।

इतर चम्पू

समरपुंगव दीक्षित का **यात्राप्रबन्ध**[3] चम्पू तीर्थयात्रा का वर्णनपरक काव्य है। कवि का जन्म १५७४ ई० में हुआ था। ये अप्पयदीक्षित के साक्षात् शिष्य थे। फलतः इनका काल लगभग १५०४ ई०–१६३० ई० मानना उचित है। कवि अपने भ्राता की तीर्थयात्रा का विस्तार से वर्णन करता है। उत्तर भारत के तीर्थों की अपेक्षा दक्षिण भारत के तीर्थों का वर्णन विस्तृत है। कवि का मन प्रकृति के वर्णन में खूब रमता है। इसलिए वे ही वर्णन अत्यन्त कमनीय एवं रसपेशल हैं। गद्य की अपेक्षा पद्य का बाहुल्य है। कविता सुन्दर है, परन्तु शृंगार का वर्णन उद्वेजक है। स्तुति के प्राधान्य से यह महाकाव्य के समान चमत्कारी है। इनकी दूसरी कृति आठ आश्वासों में विभक्त **आनन्दकन्द** चम्पू शैव सन्तों की जीवनी प्रस्तुत करता है। रचनाकाल १६७० विक्रमी (=१६१३ ई०)।

---

१. संस्कृत सीरीज मैसूर से प्रकाशित, १९०८।

२. गोपालनारायण एण्ड कम्पनी बम्बई से प्रकाशित।

३. काव्यमाला ९०, १९३६ में प्रकाशित।

मन्दारमरन्दचम्पू[1] पूर्वोक्त चम्पुओं से विषय में नितान्त भिन्न है। इसके रचयिता हैं **कृष्णकवि** (१६ श० उत्तरार्ध)। यह वस्तुतः एक लक्षण ग्रन्थ है जिसमें दो सौ दोहों के लक्षण और उदाहरण के साथ अलंकार, गुण-दोष आदि काव्यतत्त्वों का विवेचन किया गया है। इसमें एकादश बिन्दु (अर्थात् अध्याय) हैं। यत्र-तत्र प्राचीन कवियों के पद्यों का उद्धरण होने पर भी कवि के विविध छन्दों में रचनाकौशल का प्रख्यापक होने से यह काव्य ही अधिक है, लक्षण-ग्रन्थ कम। इसी परम्परा में **चिरंजीव भट्टाचार्य** की **'विद्वन्मोदतरंगिणी'**[2] गणित की जा सकती है, जिसके आठ तरंगों में भारत के दार्शनिक और धार्मिक मतों की नाटक शैली पर आलोचना की गई है। रचना पर्याप्त रोचक तथा प्रसादमयी हैं। समय इनका १६ शती का आरम्भकाल है। यदि इससे कवि का दार्शनिक और पाण्डित्य पक्ष प्रकट होता है, तो इनकी दूसरी रचना माधवचम्पू में उसका कवित्वपक्ष। इस चम्पू के कुल पाँच उच्छ्वासों में नायक तो माधव श्रीकृष्ण ही हैं, परन्तु कथा सर्वथा काल्पनिक है—कलावती नाम्नी किसी बाला के साथ विवाह। शृंगार रस के नाना अंगों का प्रख्यापक यह चम्पू वर्णन की दृष्टि से नितान्त मधुर है—आकर्षक तथा मनोरंजक।

अध्यातमपक्षीय चम्पुओं के अन्तर्गत ही **'बाणेश्वरविद्यालंकार-रचित चित्रचम्पू'**[3] की गणना करना समुचित है। लेखक ने १८वीं शती के बंगाली पण्डितों में अग्रगण्य होने के नाते बंगाल के प्रथम शासक लार्ड वारेन हेस्टिंग्स के आदेश पर धर्मशास्त्रीय निबन्ध **'विवादार्णवसेतु'** का प्रणयन किया, जिसकी सहायता से अंग्रेजी शासन में हिन्दू मुकदमों का फैसला किया जाता था। बर्दवान के राजा, आश्रयदाता 'चित्रसेन' के नाम पर रचित 'चित्रचम्पू' एक काल्पनिक कथा के आधार पर है, जो वैष्णवतत्त्वों का प्रकाशक है और जो प्रेमाभक्ति के द्वारा भगवान् की उपलब्धि पर आग्रह रखता है। इस का निर्माण काल १६६६ शक संवत् (=१७४४ ई०) है।

दक्षिण भारत के कवियों ने इस गद्यपद्य की मिश्रित विधा को अपनी रसमयी रचनाओं के द्वारा खूब परिष्कृत किया। ज्ञात चम्पुओं की संख्या अढाई सौ के आसपास है।[4] इनमें से प्रमुख चम्पुओं का यह दिग्दर्शन उनके उदय तथा अभ्युदय का संक्षेप में परिचायक है। आज भी तेलुगु तथा मलयालम भाषाओं में चम्पू साहित्य की एक प्रौढ़ तथा समादृत विधा है।

---

१. काव्यमाला ग्रन्थ संख्या ५२; १९२४।

२. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित, १९२८।

३. पं० रामचरण चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित, वाराणसी, १९४०।

४. इनके परिचय के लिए द्रष्टव्य डॉ० छबिनाथ त्रिपाठी का पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ-चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, चौखम्भा, काशी, १९६९।

नवम परिच्छेद

कथा-साहित्य

संस्कृत में कथाओं के विषय में एक विशाल साहित्य है जिसने भारतीय साहित्य पर ही अपनी छाप नहीं डाली है, प्रत्युत भारतेतर साहित्य पर भी अपना व्यापक प्रभाव जमा रखा है। भारतवर्ष के तीनों महनीय धार्मिक सम्प्रदायों ने कथा तथा आख्यान का उपयोग अपने सिद्धान्तों के विशद प्रचार-प्रसार के लिए किया है। वैदिक, जैन तथा बौद्ध —ये तीनों ही कथा-कहानियों के धनी हैं, जिनका उद्देश्य केवल धार्मिक तथ्यों का विवरण देना न होकर व्यावहारिक उपदेश देना भी अन्यतम तात्पर्यों में है। वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत ब्राह्मणों और उपनिषदों में विस्तार से उपलब्ध कथाओं का प्राचीन संकेत ऋग्वेद की संहिता में स्वयं प्राप्त होता है। ऋग्वेद के 'संवादसूक्त' तो चमत्कारी कथाओं के लिए प्रख्यात ही हैं। इनके अतिरिक्त स्तुतिपरक सामान्य सूक्तों में भी विभिन्न देवों के विषय में अनेक मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद आख्यानों की उपलब्धि होती है। इन आख्यानों की सूचना सामान्यतः ऋक्संहिता में प्राप्त होती है। परन्तु इनका विस्तृत वर्णन यास्क के निरुक्त में, शौनक के **बृहद्देवता** में, कात्यायन-सर्वानुक्रमणी की **षड्गुरुशिष्य-प्रणीत 'वेदार्थदीपिका'** व्याख्या में तथा तदनुसार सायण के वेदभाष्यों में उपलब्ध होता है। सायण के पश्चात् गुजरात के **द्याद्विवेद** नामक विद्वान् ने समस्त वैदिक कथाओं का अध्ययन कर उनसे प्राप्त शिक्षाओं को प्रदर्शित करते हुये **नीतिमंजरी**[1] नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। इन्होंने इस ग्रन्थ में वेदार्थदीपिका (११८४ ई०) और सायण के वेदभाष्यों (१४ शती का मध्यभाग) से अपने कथन तथा व्याख्यान की पुष्टि में अनेक उद्धरण दिये हैं। नीतिमंजरी का एक हस्तलेख १५५० विक्रम संवत् (=१४९४ ई०) का है। इससे ग्रन्थ का रचनाकाल १४०० ईस्वी के आसपास अनुमानतः सिद्ध होता है। वैदिक कहानियों के स्वरूप की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ नितान्त सारवान् है। पूरा ग्रन्थ अनुष्टुप् में ही निबद्ध है। प्रतिश्लोक के पूर्वार्द्ध में नीतिकथन है तथा उत्तरार्ध में वैदिक दृष्टान्तों द्वारा उसका पोषण है। ऐतिहासिक दृष्टि से कथाओं के मूलस्रोतरूपी वेदों से कहानियों तथा उपदेशों का यह संकलन एक महनीय उपलब्धि है। इन वैदिक कहानियों का रूप पुराणों में, रामायण में और महाभारत में आने पर अवश्यमेव किंचित् परिवर्तित हो गया है, परन्तु कथानक का मूल एक ही है।

जैन साहित्य—प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश में कथाओं का बड़ा ही विस्तार उपलब्ध होता है। जैन यति धार्मिक देशना के निमित्त जिन कथाओं का उपयोग करते थे,

---

१. 'नीतिमंजरी' का एक विमर्शात्मक संस्करण पण्डित सीताराम जयराम जोशी ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १९४२ ई०)।

उनका मूलरूप अंगों में तथा विस्तार उनके व्याख्यापरक चूर्णि, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[१] अत्यन्त प्राचीनकाल से इनकी सत्ता का परिचय मिलता है। मध्ययुग में इन कथाओं का विपुल परिबृंहण उपलब्ध होता है। जैन धर्मावलम्बियों में 'कथाकोश' स्वयं एक विस्तृत तथा विशद साहित्य है, जो अपने महनीय वैशिष्ट्य से मण्डित है। बौद्धों में पालिभाषा में निबद्ध मनोरंजक कथायें **'जातक'** के नाम से विश्रुत हैं। भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मों की कथायें इनमें निबद्ध हैं। इनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि अनेक पशुयोनियों में जन्म लेकर तथा पारमिताओं का अभ्यास कर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जातक कथाओं की संख्या ५५० है। इनके भीतर विपुल ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सामाजिक सामग्री मिलती है, जिनके अनुशीलन से बुद्ध से भी प्राचीन काल के भारतीय इतिहास तथा समाज के रमणीय चित्र उपलब्ध होते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से दन्त-कथा या लोककथा के रूप में प्रवहमान कहानियों का विशाल समुच्चय इन जातकों का विग्रह प्रस्तुत करता है। जैन तथा बौद्ध कथाओं के धार्मिक उद्देश्य के विषय में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं मिलता, परन्तु उनके स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। बौद्ध भिक्षुओं ने प्राचीन स्रोतों से कथाओं का चयन किया, परन्तु अपने धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने इन नीति-कथाओं में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया और इस परिवर्तन में उन्होंने अनेकत्र मूल कथाओं को ही नष्ट कर दिया। यह कोई दैवयोग नहीं है कि पंचतन्त्र के असंख्य संस्करणों में बौद्धों द्वारा प्रसूत कोई भी संस्करण नहीं मिलता, उधर **'पंचाख्यान'** या **'पंचाख्यानक'** नाम से जैन वाचनाओं ने इस प्राचीन नीतिग्रन्थ को समग्र भारत में ही नहीं, प्रत्युत बृहत्तर भारत, हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों में भी लोकप्रिय बना दिया है। बौद्धों तथा जैनों के कहानियों के कहने में भी अन्तर है। बौद्धों की कथायें अतीत से संबंध रखती हैं तथा उपदेश सीधे तौर से देती हैं। इसके विपरीत जैन कथायें वर्तमान से संबंध रखती हैं तथा व्यंग्य रूप से उपदेश देने का काम करती हैं। जैन कहानियों में भारतीय समाज के नाना स्तरों का—ऊपर से लेकर निम्नतम स्तर का—यथार्थ चित्रण है। विभिन्न लोगों के जीवन तथा आचार-विचार प्रदर्शित करने के कारण इनका सातिशय मूल्य तथा उपयोग है।

बृहत्कथा : स्वरूप एवं परम्परा

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल में दो कथाचक्र उपलब्ध होते हैं—**बृहत्कथा** तथा **पंचतन्त्र**। इनमें बृहत्कथा प्राचीनतर है। पैशाची में निबद्ध बृहत्कथा आज अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं है, परन्तु संस्कृत में निबद्ध पंचतंत्र आज भी उसी भाषा में उपलब्ध है। ये दोनों ग्रन्थ विपुल प्रभाव फैलाने वाले हैं। इनका अनुशीलन भारतीय कथासाहित्य के स्वरूप तथा विस्तार के समझने की बहुमूल्य कुंजी है। इन दोनों का विवरण यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

---

१. विशेष द्रष्टव्य हरिषेण : बृहत्कथाकोश की अंग्रेजी भूमिका, डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये रचित (भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९४३ ई०)।

बृहत्कथा अत्यन्त अद्भुत यात्राविवरणों तथा प्रणय-प्रसंगों का विशाल समुद्र है जिसकी एक-एक बूंद से अन्य कितनी ही विचित्र कथाओं की रचना हुई ।[1] बृहत्कथा के अमर रचयिता **गुणाढ्य** सातवाहन-राज्य के दरबार से संबद्ध कवि थे, जिनका समय प्रथम-द्वितीय ईस्वी था । वह युग स्थलयात्री सार्थवाहों का तथा समुद्रयात्री साहसी व्यापारियों का महनीय युग था । इस युग में पूर्व और पश्चिम के समुद्रों पर व्यापारियों के प्रवहण सरपट छूटते थे और भारत की चहारदीवारी में उत्तर से दक्षिण तथा पूरब से पश्चिम के गाँवों, नगरों, पहाड़ों और जंगलों की तिल-तिल भूमि को अपने पैरों से खूँदते हुये सार्थवाहों के शकट सदा रेंगते रहते थे । समुद्रयात्रा में घटने वाली विचित्र साहसिक घटनाओं का तथा अकस्मात् अपरिचित स्थानों में उत्पन्न अनदेखी-अनसुनी घटनाओं का रोमांचक विवरण सुना कर वहाँ से लौटे हुये समुद्रयात्री अपने श्रोताओं के हृदय में आश्चर्य तथा विस्मय उत्पन्न किया करते थे । इन्हीं घटनाओं का विवरण देने वाला, पैशाची भाषा में निबद्ध तथा अधुना लुप्तप्राय ग्रन्थ 'बृहत्कथा' (प्राकृत में 'बड्ढकहा') के नाम से प्रख्यात था । लुप्तप्राय होने से यूरोपीय विद्वानों को बृहत्कथा के अस्तित्व के विषय में ही बहुत दिनों तक सन्देह बना रहा; परन्तु भारतीय परम्परा गुणाढ्य की ऐतिहासिकता पर कथमपि सन्देह नहीं करती । धनपाल, गोवर्धनाचार्य, सोड्ढल तथा दण्डी ने गुणाढ्य तथा उनकी बृहत्कथा की प्रशस्त प्रशंसा की है । उद्योतन सूरि द्वारा विरचित (७७९ ई०) 'कुवलयमालाकहा' नामक प्राकृत कथा ग्रन्थ के आरम्भ में बृहत्कथा की 'बड्ढकहा' के नाम से स्तुति है (कुवलयमाला, पृष्ठ ३, पंक्ति २२) :—

सयल-कलागम-णिलया सिक्खाविय कइयणस्स मुहयंदा ।
कमलासणो गुणड्ढो सरस्सई जस्स बड्ढकहा ॥

'बृहत्कथा साक्षात् सरस्वती है और गुणाढ्य स्वयं ब्रह्मा हैं । यह बृहत्कथा सब गुणों की खान है और कविजन इसे पढ़कर शिक्षित बनते हैं' । इससे लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में लिखा था (पद्य १७) —

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना ।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा ॥

यह पद्य बृहत्कथा के मूलरूप का संकेत कर रहा है कि सप्तम शती में बृहत्कथा 'कामकथा' के रूप में गृहीत थी तथा पार्वती-शंकर के संवादरूप में वह लिखी गयी थी, अर्थात् पार्वती ने कथा सुनाने की प्रार्थना की, जिसके उत्तर में शंकर ने इन कथाओं को सुनाया था । ये दोनों की विशिष्टतायें बड़ी मार्मिक हैं जो मूल कथा के स्वरूप की परिचायिका हैं । बाण से कई शताब्दी के अनन्तर आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' की स्वोपज्ञवृत्ति में बृहत्कथा को कथा का अन्यतम भेद बतलाया है (लम्भांकिताऽद्भुतार्था नरवाहनदत्तचरित्रवद् बृहत्कथा, अ० ८, सूत्र८) । इस कथन से प्रतीत होता है कि

---

१. **सत्यं बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृताः ।**
तेनेतरकथाः कन्थाः प्रतिभान्ति तदग्रतः ॥ (१, धनपालः तिलकमंजरी)

अद्भुतार्था बृहत्—कथा में नरवाहनदत्त का चरित्र वर्णित है तथा उसके परिच्छेदों का नाम 'लम्भ' था। 'लम्भ' का अर्थ है किसी वस्तु की प्राप्ति। बृहत्कथा के चर्चित संस्कृतानुवाद 'कथासरित्सागर' के भी परिच्छेद 'लम्बक' नाम से प्रख्यात हैं तथा प्रत्येक 'लम्बक' में नायक का किसी सुन्दरी से परिणय का वर्णन है। अर्थात् किसी सुन्दरी की प्राप्ति (या लाभ) के वर्णन करने से ही प्रत्येक परिच्छेद लम्भक या लम्बक नाम से अभिहित किया गया है।

बृहत्कथा की तीन वाचनायें इस समय उपलब्ध हैं। मूलरूप पैशाची भाषा में निबद्ध था, परन्तु उसकी चमत्कारिता तथा सुन्दरता से उत्साहित होकर अनेक विद्वानों ने विभिन्न शताब्दियों में इसका अनुवाद संस्कृत में किया। मैसूर प्रान्त के एक शिलालेख में (जो राजा दुर्विनीत के ४० वें वर्ष, षष्ठ शती के पूर्वारम्भ में, लिखा गया था) कहा गया है कि राजा दुर्विनीत ने एक व्याकरण तथा किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग की टीका लिखने के अतिरिक्त 'बड्ढकहा' (बृहत्कथा) को देववाणी में स्वयं निबद्ध किया, जिससे इस कथा के दक्षिण भारत में प्रख्यात होने का स्पष्ट संकेत मिलता है। इतना ही नहीं गुणाढ्य की कीर्ति द्वीपान्तर (बृहत्तरभारत) में भी व्याप्त थी, क्योंकि कम्बोज (आधुनिक कम्बोदिया) के एक शिलालेख में (नवम शताब्दी) गुणाढ्य की प्रशस्ति उपलब्ध होती है—

पारदः स्थिरकल्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः।
अनीतिर्यो विशालाक्षः शूरो न्यक्कृतभीमकः॥

कम्बोज के महाराज यशोवर्मन् के लेखों में तीन बार गुणाढ्य का उल्लेख आया है जिनके अन्तर्गत पूर्वोद्धृत पद्य में गुणाढ्य स्पष्टतः "प्राकृतप्रिय" कहे गये हैं। क्षेमेन्द्र के अनुसार गुणाढ्य का जन्म गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान नगर में हुआ था। सोमदेव के द्वारा भी इसका समर्थन होता है। यह सातवाहन वंश के सम्राट् हाल या शालिवाहन की राजधानी थी। विद्वानों के अनुसार शालिवाहन या सातवाहन प्रथम शताब्दी में हुये और बृहत्कथा के निर्माण का यही युग है। मूल बृहत्कथा की सम्भावित वस्तु-आयोजना इस प्रकार की थी—(१) कथापीठ—उदयन और उसकी रानियों की कहानियाँ; (२) कथामुख-कथा कहने वाले नरवाहनदत्त का परिचय; (३) मुख्य कथा (या कथा-शरीर)—नरवाहनदत्त द्वारा वर्णित लम्भों की शृंखला; (४) उपसंहार।

बृहत्कथा का संस्कृत-साहित्य पर प्रभाव

संस्कृत-साहित्य के कवि गुणाढ्य की रचना बृहत्कथा से अपनी कथाओं की रूपरेखा को ग्रहण करते थे—इस विषय में संदेहहीन साक्ष्य उपस्थित है। दशमशती के अंत में वर्तमान धनंजय ने अपने दशरूपक में (१।६८) नाटकों के उपजीव्य ग्रन्थों के लिए

---

१. शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्ढकथेन किरातार्जुनीये पंचदशसर्ग-टीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन (मैसूर पुरातत्त्व–विभाग की वार्षिक रिपोर्ट १९१२ पृ०, ३५–३९)।

रामायण के अनन्तर 'बृहत्कथा' का नाम्ना निर्देश किया है[1] जिसकी टीका में धनिक ने मुद्राराक्षस नाटक को बृहत्कथा-मूलक बतलाया है तथा इस प्रसंग में उस ग्रन्थ से दो पद्यों को भी उद्धृत किया है। संस्कृत के नाटककार तथा गद्यकार अपनी रचनाओं के लिए बृहत्कथा का आश्रय लिया करते थे जिसमें मदनमंचुका का चित्र स्पष्टतया निश्चित था। वह एक ऐसी वेश्या थी जो अपनी स्थिति से असन्तुष्ट थी, कुलस्त्री बनने की इच्छुक थी और इसलिए वह विध्यनुसार विवाह की कामना करती थी। भास ने अपने 'दरिद्रचारुदत्त' में वसन्तसेना का चित्रण मदनमंचुका के आदर्श पर किया था; इसका यदि यथार्थतः निर्णय हो जाय तो बृहत्कथा के समयनिरूपण में एक निश्चित प्रमाण उपलब्ध हो सकता है, परन्तु इतना तो उल्लेखनीय है कि मृच्छकटिक में दिया हुआ वसन्तसेना के प्रासाद के उद्यान और आठ प्रकोष्ठों का वर्णन बुधस्वामी द्वारा 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह' में दिये गये कलिंगसेना के गृह के वर्णन के साथ छोटी-छोटी बातों में भी मिलता-जुलता है। भास अपने 'अविमारक' रूपक की कथावस्तु के लिये भी गुणाढ्य के ऋणी प्रतीत होते हैं। श्रीहर्ष ने अपने प्रख्यात नाटक 'नागानन्द' की कथावस्तु को बृहत्-कथा से निश्चयेन लिया था; इसका प्रमाण बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर दोनों में जीमूतवाहन की कथा की उपस्थिति है। नाटक की कथा की इनसे तारतम्य परीक्षा करने पर इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं रह जाती। कवि ने मूलकथा को रसानुकूल बनाने के लिए स्थान-स्थान पर परिवर्तन भी किया है। मूल कथा में नायक-नायिका का परिचय गौरी के मन्दिर में ही सखी द्वारा हो जाता है, परन्तु नागानन्द में ऐसा नहीं होता और इसके कारण नागानन्द में दर्शकों का कौतूहल बना रहता है तथा नाटक में द्वितीय अंक की घटना का स्वारस्य घटित होता है।[2]

बृहत्कथा का प्रभाव संस्कृत के गद्यकाव्य पर भी पड़ा है। गुणाढ्य का प्रभाव दण्डी पर भी सविशेष दिखलाई पड़ता है। दण्डी ने दशकुमार—चरित में ऐसे राजकुमारों का विचित्र चित्रण किया है जो दुर्भाग्यवश आवारा लोगों के बीच पड़ जाते हैं और नाना प्रकार का क्लेश सहन कर साहसी अनुभवों के भीतर से गुजरते हैं। अन्त में एक स्थान पर जुट कर अपना अनुभव सुनाते हैं। कथा का यह ढाँचा और प्रकार बृहत्कथा के आधार पर है जहाँ वियोग के पश्चात् पुनः एकत्रित नरवाहनदत्त और उसके मित्रगण अपनी आपबीती सुनाते हैं। दण्डी बृहत्कथा से पूर्ण-परिचित थे। तभी तो उसकी प्रशंसा में लिखा है—**भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्**। 'दशकुमारचरित' की चमत्कारपूर्ण कहानियाँ बृहत्कथा की देन हैं। बाणभट्ट अपनी कादम्बरी के कथानक के लिए भी अन्ततः बृहत्कथा के ऋणी माने जाते हैं, यद्यपि यह पूर्णतः निर्णीत नहीं हुआ है।

---

१. इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रये तदनु नेतृरसानुगुण्यात्
चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः। (दशरूपक १।६८)

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत सुकवि-समीक्षा, पृष्ठ २४१-२५३ (वाराणसी, १९६३)।

बृहत्कथा की वाचनायें

मूलतः पैशाची भाषा में निवद्ध तथा अधुना संस्कृत एवं प्राकृत में अनूदित 'बृहत्कथा' की तीन वाचनायें प्राप्त हैं जिनका कालक्रमानुसारी वर्णन अधोनिर्दिष्ट है :—

(१) **नैपाली वाचना—बुधस्वामी** का **'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह'**[1] बृहत्कथा की नैपाली वाचना कहलाती है। इसके २८ सर्गों में ४५३९ श्लोक हैं। या तो यह मूल में अधूरा था या आज त्रुटित मिला है। नरवाहनदत्त के अट्ठाइस विवाहों में से केवल छः की कथा यहाँ पाई जाती है। कथानक की यही शैली समग्र ग्रन्थ में अपनाई गई होती, तो सम्भव है कि इसमें वीस-पच्चीस हजार श्लोक होते और सर्गों की संख्या भी लगभग एक सौ की होनी चाहिये थी। बुधस्वामी ने इस ग्रन्थ का निर्माण पाँचवीं शताब्दी में किया और गुप्तों के गौरवमय स्वर्णयुग में इस काव्य का उदय सम्पन्न हुआ। यह ग्रन्थ मूल बृहत्कथा के अत्यधिक सन्निकट माना जाता है और निश्चयेन उसके स्वरूप का पूर्णतः परिचायक है।

(२) **प्राकृत वाचना**—बुधस्वामी के बाद संस्कृतवाचना की प्राप्ति न होकर **संघदासगणि**—कृत **'वसुदेवहिण्डी'** की प्राकृत वाचना ही अब तक उपलब्ध हुई है। 'हिण्डी' का अर्थ है चतुर्दिक् परिभ्रमण। 'आवश्यकचूर्णि' में 'वासुदेव हिण्डी' का नाम तीन वार उल्लिखित है, जिससे लगभग ६०० ईस्वी इसकी रचना की अन्तिम मर्यादा प्रतीत होती है। लगभग पंचम शती के उत्तरार्ध में संघदास ने बृहत्कथा की शैली को तो अपनाया, परन्तु उसके स्वरूप में तथा नायक के यात्रा-विवरणों में परिवर्तन कर दिया। यह कथा प्राकृत भाषा में है तथा पद्य के स्थान पर गद्य का माध्यम अपनाया गया है। मूल के नायक नरवाहनदत्त के स्थान पर अन्धकवृष्णि-कुल में उत्पन्न, श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव इसके नायक बनाये गये हैं। मूल की 'कामकथा' यहाँ 'धर्मकथा' के रूप में परिवर्तित कर दी गई है। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने अपने दादा वसुदेव को उनके अनुभव जानने के लिए छेड़ा और फलस्वरूप २९ लम्भकों में उन्होंने अपने २९ विवाहों की कहानियाँ सुना डाली। इन्हीं से 'वसुदेव हिण्डी' का 'शरीर' बना है। ग्रन्थ के अन्त में 'उपसंहार' नाम का अन्तिम भाग भी कभी था, जो इस समय प्राप्त नहीं है।

इस ग्रन्थ के महत्त्व के विषय में जर्मन विद्वान्—डॉ० आल्सडोर्थ का कथन ध्यान देने योग्य है—ग्रन्थ की अत्यन्त प्राचीन भाषा से भी इसका रचनाकाल प्राचीन सूचित होता है। लगता है कि इस नये मिले प्राकृतग्रन्थ में बृहत्कथा का प्राचीनतम रूपान्तर प्राप्त हो गया है, किन्तु इस ग्रन्थ में बृहत्कथा की वस्तु को श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के आधार पर गूंथ दिया गया है, जो कृष्णकथा डॉ० याकोबी के मतानुसार जैनों में ईस्वी सन् से ३००

---

१. **इसका सम्पादन तथा फेंच भाषा में अनुवाद डॉ० लाकोत ने किया है तथा इस विषय में गंभीर अनुशीलन के लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ 'गुणाढ्य एत ला बृहत्कथा' (फ्रेंच) जिसका अंग्रेजी अनुवाद मैसूर की मिथिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है।**

वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। जिस समय जैनों ने बृहत्कथा को अपनी पुराणकथा के कलेवर में शामिल किया, उस समय एक सुप्रसिद्ध कवि की कृति होने के अतिरिक्त वह देवकथा की भव्यता से प्रकाशमान प्राचीनतर युग की रचना मानी जाने लगी थी। अतः जैन रूपान्तर से मूल बृहत्कथा का रचनाकाल कई शती प्राचीनतर मानना पड़ता है। डॉ० बूलर ने गुणाढ्य का समय ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शती में और डा० लाकोते ने तीसरी शती में माना था। उसके बदले यदि बहुत प्राचीन समय में नहीं, तो उसे ईस्वी सन् पूर्व की प्रथम या द्वितीय शती में मानना चाहिये।

'वसुदेवहिण्डी'[1] में २९ लम्वक हैं और वह महाराष्ट्री-प्राकृत भाषा में गद्य शैली में निवद्ध है, जिसमें कुल मिलाकर ११ हजार श्लोकों के प्रमाण की सामग्री मिलती है। 'वसुदेवहिण्डी' को भी जैनपरम्परा में दो रूप मिलते हैं। पहिला ग्रन्थ तो यही **संघदासगणि** का रचा हुआ है। यही प्रथम खण्ड है। इसका एक दूसरा खण्ड भी उपलब्ध है, जो 'मध्यम खण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना **धर्मदास गणि** ने अपने पूर्ववर्ती संघदास गणि की रचना को आगे बढ़ाते हुए दो शताब्दी पीछे की। इस 'मध्यम वसुदेवहिण्डी' में ७१ लम्वक १७ हजार श्लोकों में पूर्ण हुये हैं। यह बड़ा ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है, धर्मदास की मान्यता के अनुसार वसुदेव ने एक सौ वर्षों तक परिभ्रमण (हिण्डी) किया था और एक सौ विवाह किये थे। प्रथम खण्ड में केवल २९ विवाहों की कथा है और शेष ७१ विवाहों का वर्णन कर यह ग्रन्थ विषय की पूर्ति करनेवाला है। यह 'वसुदेवहिण्डी' बुधस्वामी के ग्रन्थ से मिलता-जुलता है। फलतः इन दोनों के तुलनात्मक परिशीलन से मूल बृहत्कथा के स्वरूप का पर्याप्त परिचय उपलब्ध किया जा सकता है।

(३) **काश्मीरी वाचना**—काश्मीर के दो कवियों—**क्षेमेन्द्र** तथा **सोमदेव**—ने बृहत्कथा का संस्कृत में अनुवाद किया; यही काश्मीरी-वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों ने एक ही शताब्दी—११ शती—में तथा एक ही प्रान्त—काश्मीर—में एक ही ग्रन्थ के दो विभिन्न अनुवाद प्रस्तुत किये, जो शैली की दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत कथानक की दृष्टि से भी पार्थक्य रखते हैं।

इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वे दोनों एक ही मूल ग्रन्थ का अनुवाद प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। सामान्यतः प्रधान कथानक की अभिन्नता होने पर भी अवान्तर कथाओं के संकोच-विस्तार में स्पष्ट पार्थक्य है। क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव दोनों का दावा है कि वे मूलानुसारी ही कथानक लिख रहे हैं। क्षेमेन्द्र का कथन है—

सेयं हरमुखोद्गीर्णा कथाऽनुग्रहकारिणी।
पैशाचवाचि पतिता संजाता विघ्नदायिनी॥
अतः सुखनिषेव्यासौ कृता संस्कृतया गिरा।
समां भूमिमिवानीता गङ्गा श्वभ्रावलम्बिनी॥

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य 'कथासरित्सागर' का हिन्दी अनुवाद (भूमिका पृष्ठ ७–१६; प्रकाशक बिहारराष्ट्रभाषा परिषद् पटना, १९६०)।

गर्तों और गड्ढों में बहने वाली सम भूमि पर आनीता गंगा जिस प्रकार सुखनिषेव्या होती है, उसी प्रकार पैशाची में रचिता विघ्नदायिनी कथा संस्कृत वाणी के द्वारा अभिव्यक्ति पा रही है। संस्कृत अनुवाद मूलानुसारी है। सोमदेव तो इससे भी अधिक वैशद्य से अपना आग्रह प्रकट करते हैं (कथासरित्सागर १।१०)—

यथामूलं तथैवैतत् न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थ-विस्तर-संक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥

सोमदेव तो अपने तथ्य पर बल देकर कहते हैं कि मूल के अनुसार ही यह ग्रन्थ है; मूल से थोड़ा भी अतिक्रमण नहीं है। भाषा के भेद के साथ ही साथ मूल ग्रन्थ की अपेक्षा कहीं विस्तार और कहीं संक्षेप है। यहाँ दोनों ग्रन्थकार एक ही देश काश्मीर और एक ही काल—एकादश शती—के व्यक्ति हैं और दोनों ही मूल का आश्रयण करना अपना कर्तव्य मानते हैं, तब दोनों में अन्तर क्यों ? बृहत्कथा के दो विभिन्न पाठों के समाश्रयण के कारण ही यह पार्थक्य अनुमेय है—इस समस्या के अनुशीलयिता फ्रेंच विद्वान् डॉ० लाकोते का यह परिनिष्ठित मत है, अन्य विद्वानों का भी प्रायः ऐसा ही विचार है कि इन काश्मीरी कवियों ने मूल बृहत्कथा के विभिन्न काश्मीरी-पाठों के अनुसार अपने काव्यों का निर्माण किया। दोनों के समय में विशेष अन्तर नहीं है। सोमदेव ने कश्मीर के राजा हर्ष की पितामही और राजाकलश की माता को प्रसन्न करने के लिए 'कथासरित्सागर' का निर्माण किया (लगभग १०६३ ई०–१०८२ ई० के बीच)। क्षेमेन्द्र राजा कलश के पिता राजा अनन्त के समकालीन थे और उन्होंने अपनी 'भारतमञ्जरी' का प्रणयन १०३७ ई० में किया। बृहत्कथामञ्जरी का भी यही रचना-काल मानना अनुमान-संगत है। फलतः मञ्जरी का निर्माण 'कथासरित्सागर' से लगभग २५–३० साल पहिले हुआ। अतः इन दोनों अनुवादों में बृहत्कथामञ्जरी ही प्राचीनतर सिद्ध होती है। कथानकों के परिमाण तथा रूप में अन्तर होने पर भी ये दोनों अनुवाद एक ही वाचना के अनुवाद हैं।

(क) बृहत्कथामंजरी

क्षेमेन्द्र ने इस ग्रन्थ में बृहत्कथा का अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह काश्मीरी वाचना के अनुसार है। क्षेमेन्द्र का लक्ष्य कथानक को अलंकृत शैली में प्रस्तुत करना है। प्रकृति के निरीक्षण में एवं शृंगार के वर्णन में कवि का हृदय रमता है और इसलिए उसने मूल कथानक को अलंकृत और सुसज्जित बनाने में कुछ उठा नहीं रखा। यह कलात्मक शैली इस मंजरी को काव्यमयी स्निग्धता तथा चारु रोचकता प्रदान करती है।

इस ग्रन्थ में अट्ठारह लम्बक, अर्थात् अध्याय हैं, जिनमें प्रधान कथा के साथ-साथ अवान्तर कथाएँ भी कही गई हैं। कथा का नायक है वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त, जो अनेक प्रतिद्वन्द्वियों को अपनी बलशाली भुजाओं के पराक्रम से परास्त कर गन्धर्वों का चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। वह अनेक गन्धर्वसुन्दरियों से विवाह करता है, परन्तु उसकी पटरानी है मदनमञ्चुका। यह उचित ही है कि कथा का आरम्भ वत्सराज उदयन तथा वासवदत्ता की रोमाञ्चक प्रेम-कहानी से होता है। अवन्ति-नरेश उदयन लावणक नामक स्थान में वासवदत्ता के आग में जल जाने की दुर्घटना से दुःखित होता है तथा पद्मावती से

विवाह करता है (३ लम्बक)। अनन्तर नरवाहनदत्त का जन्म होता है (४ ल०) जिसके दर्शन के लिए विद्याधर शक्तिवेग आता है और चार विद्याधरियों के साथ अपने विवाह की कथा कहता है। इसके बाद सूर्यप्रभ का विचित्र चरित्र है (६ ल०)। कलिङ्गदत्त की राजपुत्री मदनमञ्चुका के साथ नरवाहनदत्त का विवाह होता है (७ ल०), परन्तु उसके पहले कथा का नायक अन्य चार सुन्दरियों से विवाह किये रहता है। वह मानसवेग से युद्ध में विजयी होकर, मदनमञ्चुका को पत्नी के रूप में ग्रहण करता है, तथा विद्याधरों का चक्रवर्ती सम्राट् बनकर वह अपने जीवन को सानन्द बिताता है।

इसकी मुख्य कथा को परिपुष्ट करने के लिए अनेक अवान्तर कथाएँ जोड़ी गई हैं। 'वेतालपञ्चविंशति', अर्थात् सुविख्यात 'वेताल पचीसी' इसी के अन्तर्गत वर्णित है। स्थल-विशेषों पर क्षेमेन्द्र ने देवी-देवताओं की भव्य स्तुतियाँ लिख कर इसे शोभन बनाया है। पञ्चदश लम्बक में (१५।१९८) श्वेतपति भगवान् नारायण की स्तुति शान्तिपर्व की एतत्-स्तुति से नितान्त साम्य रखती है। ऋतुओं तथा प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन विशेषतः पेशल, स्निग्ध तथा चमत्कारपूर्ण है। कथामुख में चण्डमहासेन के गजराज के वर्णन में प्रयुक्त मालोपमाओं की छटा सातिशय हृदयावर्जनीय है। (२।३५-३८)। वासवदत्ता के सौन्दर्य-वर्णन में कलापक्ष का रुचिर निर्वाह है। इसी प्रकार अंतिम लम्बक में वसन्त की सुषमा का भव्य विन्यास बड़ा ही रमणीय है (१८।४।१६)। उपदेश की हृदयंगमता का परिचय, काल की प्रभावशालिता के वर्णन में, यहाँ (१८।५०।६७) भी मिलता है—

> लक्ष्मीरम्भा-कुठारस्य भोगाम्भोदनभस्वतः।
> विलासवनदावाग्नेः को हि कालस्य विस्मृतः॥
> न गुणा हीनविद्यानां श्रीमतां क्षीणसम्पदाम्।
> कृतान्तपण्यशालायां समानः क्रयविक्रयः॥ (१८।३४-३५)

बृहत्कथामंजरी का कथाशिल्प—गुणाढ्य की बृहत्कथा के अद्‌भुत कथानकों से तथा आख्यायिकाओं से संस्कृत भाषाविदों को परिचित कराना ही इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य है। बात यह थी कि पैशाची भाषा का कलेवर, जिसमें ये कथायें लिपटी हुई थीं, इनकी लोकप्रियता के लिए प्रधान बाधक सिद्ध हुआ और इसीलिये क्षेमेन्द्र ने देववाणी का रूप देकर इन्हें सार्वभौमता प्रदान की। कवि की स्वीकारोक्ति से इसकी रचना का मुख्य तात्पर्य यही है कि संस्कृत वाणी के रूप में परिवर्तित कर इसका सुखनिषेवण, जो गड्ढों में बहनेवाली गंगा को समतल भूमि पर लाने के समान सकल जनता की श्लाघा का भाजन है। इन कथाओं का मूल स्रोत स्वयं आश्चर्यनिकेतन भगवान् शंकर हैं, जिन्होंने सन्तत कुतूहलिनी हैमवती की जिज्ञासापूर्ति के लिए प्रथमतः इनका उद्‌घाटन किया था। शंकर के 'पुष्पदन्त' नामक गण ने इन्हें चोरी से सुना जिस अपराध के कारण उसे भारत-वर्ष की प्रसिद्ध कौशाम्बी नगरी के सोमदत्त के पुत्र कात्यायन-वररुचि के रूप में जन्म लेना पड़ा। कात्यायन से काणभूति तथा काणभूति से गुणाढ्य—यही अवतरण-क्रम है इन कथाओं का। गुणाढ्य ने विन्ध्याटवी में बोली जानेवाली पैशाची भाषा में इनका निबन्धन

किया। फलतः इनका भौगोलिक क्षेत्र है विन्ध्याटवी, जिसकी अधिकारिणी विन्ध्यवासिनी देवी का बहुशः उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है।

क्षेमेन्द्र की कथा-प्रणाली में अनेक वैशिष्टच विद्यमान हैं, जिनमें कुछ तो मूल कथा की विशिष्टता के कारण हैं और कुछ कवि की निजी उद्भावना है। चीनदेशीय बाक्स के समान प्रधान कथा के भीतर से अवान्तर कथायें निकलती जाती हैं। कथाओं का यह 'पेटकवत् संस्थान' बृहत्कथा के मूलरूप से स्वतः सम्बद्ध है। अद्भुतता इन कथाओं के अंग-प्रत्यंग से सनी हुई है। सचमुच यह मञ्जरी अद्भुतता से भरी कथाओं की एक विशाल पिटारी है। इस विषय में एक-दो दृष्टान्त प्रर्याप्त होंगे—मथुरा की प्रख्यात वेश्या रूपिणी का प्रेम 'लोहजंघ' नामक एक ब्राह्मण पर हुआ, जो रूप का धनी होने पर भी कौड़ी का निर्धनी था। उस वेश्या की माता 'मकरद्रंष्ट्रा' को भला यह योग कैसे पसन्द आता? उसने लोहजंघ को अर्धचन्द्र देकर घर से निकाल दिया, लाठी से उसे पिटवाया और कीचड़ में फेंक दिया। बेचारा लज्जा के मारे भागकर जंगल में अपना मुँह छिपाने गया। निर्वृक्ष अरण्य में वह छाया के लिए मृतक हाथी के शुष्क शरीर में घुस गया। उसी समय जोरों से वृष्टि के कारण वहाँ बड़ी बाढ़ आ गयी, जिससे बहता हुआ वह गज-कलेवर समुद्र में पहुँच गया। गरुडवंशीय एक विशाल पक्षी ने समझा कि यह माँस का एक बड़ा पुञ्ज है और उसे अपनी चोंच में दबाकर लंकाद्वीप में ले गया। वहाँ वह ब्राह्मण हाथी के देह से बाहर निकला और लंकेश्वर विभीषण से अपनी कृष्ण-भक्ति का परिचय देकर सुवर्ण का एक विमान पा लिया जिसपर चढ़ वह विष्णु के वस्त्र तथा आयुध से सुसज्जित होकर मथुरा लौट आया और अपनी इच्छा पूर्ण करने में समर्थ हुआ। शक्तिदेव की कथा में भी इसी प्रकार आश्चर्यभरी घटनाओं का बाहुल्य है। स्वर्णपुरी की खोज में उसके जहाज का टुकड़े-टुकड़े होना, तिमिङ्गल मत्स्य द्वारा उसका निगरण तथा पीछे उस मत्स्य की उदरदरी से उसका निकलना—आदि अनेक विस्मयजनक घटनाओं का अस्तित्व इस कथा को रोचक बना रहा है। इस प्रकार की घटनाओं द्वारा यह मञ्जरी सचमुच आश्चर्यमञ्जरी बन गई है।

उस युग के पाखंडी धर्मध्वजी व्यक्तियों की मनोवृत्ति के चित्रण में क्षेमेन्द्र ने हास्यरस की बड़ी सुन्दर अवतरणा की है। हम उस परिव्राजक की रोचक कथा को कभी भुला नहीं सकते जिसके पाखण्ड का प्रत्यक्ष दण्ड बन्दर के हाथों मिला था। क्षेमेन्द्र तो हास्य के बादशाह ठहरे। वे हास्योपदेशक कथा लिखने में संस्कृत के महनीय कवियों में अपनी तुलना नहीं रखते। उसी कला का प्रदर्शन यहाँ भी बड़ी सफलता से किया गया है। हरस्वामी की कथा में जनता के गतानुगतिक स्वभाव का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है।

क्षेमेन्द्र की शैली कालिदास की बहुशः प्रशंसित वैदर्भी रीति है और कालिदास के समान ही क्षेमेन्द्र भी उपमा के सम्राट् प्रतीत होते हैं। श्मशान की भीषणता की अभिव्यंजना करने के लिए कवि ने उपमाओं का एक स्तूप-सा खड़ा कर दिया है—

> संग्राभमिव निःसत्त्वजनजीवितखण्डनम्।
> वेश्याचित्तमिवानेक - नरसंहार - दारुणम्॥
> दारिद्रयमिव दुःखानां प्रत्यग्राणां निकेतनम्।

ये कथाएँ केवल मनोरंजन के ही लिए नहीं गढ़ी गई हैं, प्रत्युत इनका महनीय नैतिक उद्देश्य भी है। विविध दार्शनिक विषयों के ऊपर इन्होंने अपने तात्त्विक विचार प्रकट किये हैं। हंसावलि के स्वभाव का चित्रण करनेवाली यह अन्योक्ति यथार्थ तथा रोचक है—

कुवलयभूषणममलं गुणनिलयं कवि-सहस्रनिर्घुष्टम् ।
हंसावलिः क्व रमते कान्तं कमलाकरं मुक्त्वा ॥

तथ्य यह है कि क्षेमेन्द्र ने अपनी समग्र रचनाओं का निर्माण पवित्र उद्देश्य को सामने रख कर किया और यह उद्देश्य है समाज का उदात्तीकरण, व्यक्तियों के चरित्र का परिशोधन तथा उन्नयन। बृहत्कथामञ्जरी में भी यह नैतिक उद्देश्य छूटने नहीं पाया है। इसकी कथाओं में हृदयावर्जन के साथ ही साथ चरित्र-शोधन की ओर भी कवि ने पर्याप्त दृष्टि रखी है और इसीलिए यह संस्कृत के कथा-साहित्य में भारतीय जीवनदर्शन को अभिव्यक्त करनेवाला एक नितान्त रोचक, सरस अथच उपदेशप्रद काव्य है।

(ख) कथा–सरित्सागर

यह संस्कृत के कथा-साहित्य का शिरोमणि ग्रन्थ है। इसे काश्मीर के पण्डित सोमदेव ने त्रिगर्त (कुल्लूकांगडा) के राजा की पुत्री, काश्मीर के राजा अनन्त की रानी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए ई० १०६३ और १०८१ के बीच लिखा था। ग्रन्थ १८ लम्बकों (परिच्छेदों) में विभक्त है तथा समग्र लम्वक १२४ तरंगों में बटे हुये हैं। ग्रन्थ में श्लोकों की संख्या २१,६८८ है और इस निर्देश से इसके विशाल विग्रह का परिचय भली-भाँति लग जाता है। बृहत्कथा का काल–क्रमानुसार यही सबसे अर्वाचीन अनुवाद है और सब अनुवादों में सर्वाधिक लोकप्रिय भी। लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि के कारण यह अनुमान लगाना असंगत नहीं प्रतीत होता कि इसकी रचना के अनन्तर मूल बृहत्कथा का साहित्य-संसार से सर्वदा के लिए विलय ही हो गया। सोमदेव ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही बड़ी इमानदारी के साथ मूल कथा को यथावत् प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा की है। उनका कहना है कि मेरे सामने जैसा मूल था, वैसा ही मैंने यह ग्रन्थ रचा है। तनिक भी फेरफार नहीं किया गया। केवल औचित्य और अन्वय बैठाने (अर्थात् जोड़ मिलाने) का ध्यान यथाशक्ति रखा गया है। इसमें काव्य का अंश इतना ही जोड़ा है जिससे कहानी के रस का विघात न हो। पाण्डित्य के यश के लोभ से मेरा यह प्रयत्न नहीं है। मेरा उद्देश्य है कि अनेक कथाओं का समूह सरलता से स्मृति में रखा जा सके।[1] इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह सोमदेव ने अपनी वाचना में किया है। ग्रन्थ में निबद्ध नाना प्रकार की कथाओं को देखकर आलोचक का मन भर उठता है। ईस्वी सन् से सैकड़ों वर्ष पहिले की जीव-

---

१. औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते ।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना ॥
वैदग्धख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः ।
किन्तु नानाकथाजालस्मृतिसौकर्यसिद्धये ॥
(कथासरित्सागर १।११–१२)

जन्तु की कथायें इसमें हैं । आकाश तथा पृथ्वी के निर्माण-सम्बन्धी ऋग्वेदकालीन कथायें भी यहाँ हैं । इसी प्रकार रक्तपान करनेवाले वेतालों की कहानियाँ एवं सुन्दर काव्यमयी प्रेम कहानियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं । सोमदेव ने भारतीय समाज का पूरा चित्रण किया है। उन्हें मूर्खों की कहानियाँ लिखने में बड़ी अभिरुचि है । भारतीय समाज का निम्नतर अंश यहाँ पूर्ण रोचकता तथा सचाई के साथ अंकित हुआ है ! चोर, जुआरी, धूर्त, वेश्या-गामी, कपटी-बदमाश, ठग, लुच्चे-लफंगे, रँगीले भिक्षु आदि का, (अर्थात् समाज के तामसिक अंश का) चित्रण कथासरित्सागर का वैशिष्टच है । स्त्रियों के चित्रण में सोमदेव ने बड़ी रुचि ली है । ११ वीं शती के काश्मीर में स्त्रियों के प्रति सम्मान की भावना का नितान्त अभाव था, क्योंकि उनमें चारित्रिक हीनता और अमर्यादित उच्छृंखलता का उस युग में बोलवाला था । सोमदेव ने समाज में जो कुछ भी जैसा था, वैसा ही चित्रण अपनी प्रसाद-मयी वाणी में कर रसिकों के मनोरंजन तथा ज्ञानवर्धन का ऐसा बेजोड़ मसाला इकट्ठा किया है जिसकी समता भारत के साहित्य में क्या, अन्यत्र भी मिलना नितान्त दूभर है।

इन कहानियों द्वारा पश्चिमी जगत् का कथा-साहित्य विशेषरूपेण प्रभावित है। कथासरित्सागर अलिफलैला की कहानियों से प्राचीनतर ग्रन्थ है और अलिफलैला (जो अरबी साहित्य का अद्भुत कहानी ग्रन्थ है) की अनेक कहानियों के मूल यहां मिलते हैं । पेंजर का कहना है कि इनके द्वारा न केवल ईरानी और तुर्की लेखकों को नवीन कल्पना प्राप्त हुई हैं, बल्कि बोकैशियो (इटली), चाउसर (इंग्लैण्ड) तथा ला फाँतेन (फ्रान्स) तथा अन्य लेखकों द्वारा अनेक रोचक कल्पनायें पश्चिमी जगत् को विरासत में मिली हैं। इस ग्रन्थ का एक नितान्त रोचक कथापुंज 'वेतालपंचविंशति' नाम से प्रख्यात पचीस विचित्र तथा अद्भुत कथाओं को प्रस्तुत करता है (कथासरित्सागर. तरंग ७५-९९)। ऊपर क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी में इनके अस्तित्व का संकेत किया गया है, परन्तु क्षेमेन्द्र की अपेक्षा सोमदेव का विवरण विस्तृततर है । क्षेमेन्द्र में जहाँ १२०६ श्लोक हैं वहाँ सोमदेव में २१९५, अर्थात् दुगुना के लगभग । पंचतन्त्र की बहुत-सी कहानियां भी यहाँ बिखरी पड़ी हैं । तथ्य यह है कि भारतवर्ष के कहानी—साहित्य का यह सिरमौर ग्रन्थ 'कथासरित्सागर' अपने रोचक विस्तार में, कहने के सहज-स्वाभाविक ढंग में, समाज के बहुरंगी चित्रण में, एवं अचरज पैदा करनेवाली कहानियों के ताना-बाना बुनने में अपनी तुलना नहीं रखता ।

काव्यसौष्ठव—सोमदेव की संस्कृतवाणी भगवती गंगा के विमल प्रवाह के समान प्रवाहित होकर किस पाठक का चित्त आकृष्ट नहीं करती ? संस्कृत पद्यों में कहानी कहने की कला के वे पारंगत कलावन्त हैं । अपने युग की प्रचलित समासबहुला शैली का तिरस्कार कर सोमदेव ने समास से रहित स्वाभाविक प्रसादमयी शैली से अपनी कविता को चमत्कृत किया । उनके सरस अनुष्टुप् हीरक के समान चमकते हुए किस सहृदय के हृदय को अपनी ओर नहीं खींच लेते ? सोमदेव की भाषाशैली, सरस-सुन्दर, प्रवाहमयी तथा वस्तु-प्रधान है। वर्ण्य विषयों को अलंकारों द्वारा सुसज्जित करने की ओर उनका ध्यान नहीं है, परन्तु वह है कथा को स्वाभाविक ढंग से कहने की ओर, जिससे पाठक का मन कथारस में स्वतः बह उठता है । मनोरम सूक्ति-मुक्ताओं की छटा उनके व्यावहारिक

अनुभव को चमकाने में किसी प्रकार पीछे नहीं रहती। 'प्रत्ययः स्त्रीषु मुष्णाति विमर्श विदुषामपि', 'विना हि गुर्वादेशेन सम्पूर्णाः सिद्धयः कुतः', 'विषयाकृष्यमाणा हि तिष्ठन्ति सुपथे कथम्', प्रजेयं पापभूमिष्ठा दरिद्रेष्वेव भूयसी, 'अस्थिरे जीविते ह्यास्था का धनेषु मनीषिणः', 'असाध्यं साधयत्यर्थं हेलयाऽभिमुखो विधिः', न भेकः कोकनदिनी-किञ्जल्कास्वादकोविदः'—सोमदेव के व्यवहार के सूक्ष्म अनुभव को द्योतित करनेवाले ये वाक्य रत्नों से कम मूल्यवान् नहीं हैं। उनकी सहज सुन्दर शैली के कतिपय नमूने दिये जाते हैं (कथासरित्सागर, तृतीय लम्बक, पद्य २१३) :—

कन्दुको भित्तिनिःक्षिप्त इव प्रतिफलन् मुहुः।
आपतत्यात्मनि प्रायो दोषोऽन्यस्य चिकीर्षितः॥

जैसे सामने दीवार पर फेंका हुआ गेंद लौट कर फेंकने वाले पर आकर गिरता है, वैसे ही दूसरे का बुरा चाहने वाले का अपना ही बुरा होता है। पद्य में प्रयुक्त उपमा बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

विद्येव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता।
यशसे न न धर्माय जायेतानुशयाय तु॥ (५।२६)

अज्ञान से कुपात्र में दी हुई विद्या के समान कुपात्र को दी हुई कन्या न यश के लिए होती है, न धर्म के लिए ही, प्रत्युत वह पश्चात्ताप के ही लिए होती है।

सोमदेव[1] ने वर्णन के बीच मनोरम नीतिमयी सूक्तियाँ डाल दी हैं जिससे वर्णन का स्वाद नितान्त बढ़ गया है (६१।११६, ११८, १२१)—

अर्थो हि यौवनं पुंसां तदभावश्च वार्धकम्।
तेनास्यौजो बलं रूपमुत्साहश्चापि हीयते॥
अवृत्तिकं प्रभुं भृत्या अपुष्पं भ्रमरास्तरुन्।
अजलं च सरो हंसा मुञ्चन्त्यपि चिरोषितम्॥
गुणिनो न विदेशोऽस्ति न सन्तुष्टस्य चासुखम्।
धीरस्य च विपन्नास्ति नासाध्यं व्यवसायिनः॥

पञ्चतन्त्र : उदय और विकाश

पञ्चतन्त्र जिन कथाओं का संग्रह है वे भारत में नितान्त प्राचीन हैं। पञ्चतन्त्र के भिन्न-भिन्न शताब्दियों में तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अनेक संस्करण हुए। कुछ तो आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन संस्करण **'तंत्राख्यायिका'** के नाम से विख्यात है जिसका मूल स्थान कश्मीर है। पञ्चतन्त्र के भिन्न-भिन्न चार संस्करण उपलब्ध हैं—

---

१. कथासरित्सागर का प्रो० टानीकृत अंग्रेजी अनुवाद १० भागों में प्रकाशित है जिस पर पेंजर ने उपयोगी समाजशास्त्रीय टिप्पणियों तथा बहुमूल्य लेखों से भूषित किया है। हिन्दी अनुवाद पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने किया है, जिसे बिहारराष्ट्रभाषापरिषद् पटना ने तीन खण्डों में प्रकाशित किया है; १९६० में प्रथम खण्ड। तृतीय खण्ड अभी प्रकाश्यमान है।

(१) पञ्चतन्त्र का पहलवी अनुवाद, जो उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु जिसकी कथाओं का परिचय सीरिअन तथा अरबी अनुवादों की सहायता से प्राप्त है। (२) दूसरा संस्करण गुणाढय की बृहत्कथा में अन्तर्निविष्ट है। यह बृहत्कथा पैशाची भाषा में थी, मूल ग्रन्थ नष्ट हो गया है, परन्तु ११ वीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र-रचित बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर इसी ग्रन्थ के अनुवाद हैं। (३) तृतीय संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसीसे सम्बद्ध जैनकथासंग्रह है। आजकल का प्रचलित पञ्चतन्त्र इसी का आधुनिक प्रतिनिधि है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पञ्चतन्त्र मूलरूप है। नेपाली पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश इस संस्करण के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार पञ्चतन्त्र एक सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

पञ्चतन्त्र में पाँच तन्त्र हैं (तन्त्र का अर्थ है भाग)—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धि-विग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षित-कारक। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा एक ही है जिसके अंग को पुष्ट करने के लिए अनेक गौण कथायें कही गई हैं। ग्रन्थकार का उद्देश्य आरम्भ से ही सदाचार तथा नीति का शिक्षण रहा है। कहा जाता है कि दक्षिण के महिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति नामक राजा निवास करते थे। उन्हें अपने मूर्ख पुत्रों को विद्वान् तथा नीति-सम्पन्न बनाने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता थी। उन्हें योग्य गुरु मिले **विष्णुशर्मा**। ये लोक तथा शास्त्र दोनों विषयों के पारंगत पण्डित थे और इसीलिए उन्होंने स्वल्प समय में राजकुमारों को व्यवहार-कुशल, सदाचार-सम्पन्न तथा नीतिपटु बना दिया। ग्रन्थकार की नीतमत्ता ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर झलकती है। संसार के भिन्न-भिन्न कार्यों के निरीक्षण की शक्ति ग्रन्थकार में खूब है। उनमें विनोद-प्रियता की भी कमी नहीं हैं। पंचतन्त्र की भाषा मुहाबिरेदार सीधी-सादी है। वाक्य-विन्यास में न तो कहीं दुरूहता है और न भावों के समझने में दुर्बोधता। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में निहित हैं। ये पद्य रामायण, महाभारत तथा प्राचीन नीतिग्रन्थों मे संगृहीत हैं। पंचतन्त्र की उत्पत्ति उसे राजनीति तथा लोकनीति का ग्रन्थ प्रमाणित करती हैं। अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र के उद्धरणों से यह बहुशः अलंकृत किया गया है।

तन्त्राख्यायिका

डॉ० हर्टेल ने पंचतन्त्र की इसको ही प्राचीनतम उपलभ्य वाचना मानी है। पंचतन्त्र के मूल रूप का निदर्शन इसी ग्रन्थ के द्वारा होता है। इसका उद्देश्य राजनीति की शिक्षा देने के कारण यह राजनीति का शिक्षण ग्रन्थ निश्चयेन माना जाता है। फलतः राजनीति के प्राचीन ग्रन्थों से इसमें गद्य और पद्य के लम्बे उद्धरण अक्षरशः पाये जाते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनेक उद्धरण यहाँ उपलब्ध होते हैं तथा राजनीति की पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग यहाँ बहुशः किया गया है। तन्त्राख्यायिका के रचनाकाल का अनुमान लगाया जा सकता है। अर्थशास्त्र से परिचय के कारण यह चाणक्य से (तृतीय शती विक्रम पूर्व) प्राचीनतर नहीं हो सकता। षष्ठशती में यह प्रसिद्ध ग्रन्थ हो गया था जब फारस के बादशाह खुशरो नौशेरवां (५३१ ई०–५७९ ई०) के आदेश से इसका प्रथम भाषान्तरण पहलवी भाषा में किया गया था। इसका भी अनुवाद सीरियाक में

भाषा में ५७० ईस्वी में किया गया। फलतः इसका निर्माणकाल ३०० ई० तथा ४०० ई० के बीच मानना कथमपि अनुचित न होगा। डॉ० हर्टेल इसे भारतीय अलंकृत काव्य का प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण जो मानते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि अश्वघोष का बुद्धचरित तो इससे निःसन्देह प्राचीनतर है। 'दीनार' शब्द का प्रयोग तन्त्राख्यायिका का रचना-काल द्वितीय शती से अर्वाचीन बतला रहा है। इससे पूर्व महाभारत का प्रणयन पूर्ण हो गया था, क्योंकि इसका रचयिता महाभारत को प्रामाणिक ग्रन्थ मानता है और वेद-व्यास के नाम से बहुत श्लोकों को उद्धृत करता है, जो वर्तमान महाभारत में उपलब्ध होते हैं। पञ्चतन्त्र का मूल रूप तन्त्राख्यायिका से भी प्राचीन होना चाहिये। तन्त्राख्यायिका को उपलब्ध वाचनाओं में सर्वाधिक प्राचीन मानना चाहिये।

उस युग में ब्राह्मण का आदर विशेष रूप से किया जाता था। इसका कहना है कि जो व्यक्ति धर्म, अर्थ एवं काम की सिद्धि चाहता हो, उसे राजा, स्त्री तथा ब्राह्मण को रिक्तपाणि कभी न देखना चाहिये (४।१३)। इसमें बुद्धधर्म का कहीं भी संकेत नहीं किया गया है। पूरा वातावरण वैदिक धर्म के प्रभाव से स्निग्ध है तथा यहाँ का नैतिक आचार-विचार बौद्धधर्म से सर्वथा भिन्न है। आख्यानें तथा कथाएँ जितनी महत्त्वपूर्ण हैं, उनसे कम महत्त्वपूर्ण उपदेशमयी सूक्तियाँ नहीं हैं। सूक्तियाँ तीक्ष्ण तथा पैनी हैं एवं दीर्घ अनुभव की छाप उन पर पड़ी हुई है। ये उचित स्थान पर उचित मात्रा में दी गई हैं। औचित्य का प्रयोग के अवसर पर पूरा ध्यान रखा गया है। एक दो सूक्तियों की परीक्षा कीजिये। शक्य तथा अशक्य के विषय में उदाहरण का औचित्य नितान्त अवलोकनीय है (२।२०)—

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत्।
नोदके शकटं याति न नावा गम्यते स्थले॥

श्लोक का भावार्थ है कि जो अशक्य है, वह कथमपि शक्य नहीं हो सकती; परन्तु शक्य वस्तु सर्वदा शक्य ही रहती है। पानी में कभी गाड़ी नहीं चलती और न नाव स्थल पर जा सकती है।

सन्तुष्ट मन वाले व्यक्ति के लिए सर्वत्र सम्पत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। चाम के जूता से ढके पैर वाले प्राणी के लिए समस्त पृथ्वी चाम से ही ढकी हुई रहती है (२।७०)—

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य सर्वा चर्मावृतैव भूः॥

इस पर आधारित पंचतन्त्र की अनेक वाचनायें उपलब्ध होती हैं। इनमें प्रथम पंचतन्त्र की डॉ० हर्टेल दो वाचनायें स्वीकृत करते हैं—(क) **सरल पंचतन्त्र** तथा (ख) **अलंकृत पंचतन्त्र**। सरल पंचतन्त्र मूल ग्रन्थ का वह रूप है जिस पर पहलवी अनुवाद आधारित है। अवान्तर वाचनाओं में कथाओं तथा नीति-सूक्ति की वृद्धि परिलक्ष्यमाण वैशिष्ट्य है। प्राचीन पंचतन्त्र में **कौटिल्य** तथा **अर्थशास्त्र** का प्रमाण अभीष्ट था, वहाँ पिछली वाचनाओं में **कामन्दक** तथा उनके **नीतिसार** का प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है तथा वहीं से उद्धरण दिये गये हैं। सूक्तियों का प्रयोग वृद्धिगत है चाहे वह प्रसंग से अनुकूल हो या न हो। कीलहार्न तथा ब्यूलर द्वारा सम्पादित तथा बम्बई से

प्रकाशित सरल पंचतन्त्र में दी गई ८६९ सूक्तियों में ३८१ राजनीति की शिक्षा देती हैं, ३८८ व्यावहारिक नीति की। केवल १४० नैतिक शिक्षण से सम्बन्ध रखती हैं। (इ) इसी का परिवर्धन तथा परिबृंहण **पूर्णभद्र** सूरि नामक जैन विद्वान् ने १२५५ वि० सं० (=११९९ ई०) में किया और आजकल प्रचलित पंचतन्त्र इसी वाचना के ऊपर आश्रित है। पूर्णभद्र ने मूलग्रन्थ का आमूलचूल संशोधन कर अपना संस्करण प्रस्तुत किया। उनका तो यहाँ तक कहना है कि उन्होंने इसके प्रत्येक अक्षर, पद, वाक्य, कथा तथा श्लोक का संशोधन कर अपनी वाचना नितान्त विशुद्ध रूप में तैयार की[1]। यह वाचना पूर्व वाचना की अपेक्षा परिबृंहित होने के कारण 'अलंकृत वाचना' के नाम से पण्डितों में प्रख्यात है। इन दोनों संस्करणों में जैन पण्डितों का कर्तृत्व विशेषतः लक्षित होता है। इन्हीं दोनों से अनेक अवान्तरकालीन पंचतन्त्र उद्भूत हुये हैं—(१) **पंचाख्यानोद्धार** (जैन यति **मेघविजय** द्वारा १६५९–६० ई० में संगृहीत) यह ग्रन्थ मुख्यतया बालकों को शिक्षा देने के लिए ही प्रस्तुत किया गया है। अनेक नई कहानियाँ जोड़ी गई हैं।

(२) दक्षिण भारतीय पंचतन्त्र—इसमें ९६ कथायें हैं और परिमाण में यह अन्य पंचतन्त्रों से अधिक है। इसमें तमिल देश की भी स्थानीय कथायें जोड़ी गई हैं।

(३) **तन्त्राख्यान**—यह ग्रन्थ नेपाल में प्रचलित है। इसका सर्वाधिक प्राचीन हस्तलेख १४८४ ईस्वी में उपलब्ध होता है जिससे स्पष्ट है कि १४ शती में किसी विद्वान् ने इसका संकलन किया था। बृहत्तर भारत के देशों में प्रसिद्धि पाने वाले पंचतन्त्र का सम्बन्ध इन वाचनाओं से मुख्यरूपेण नहीं है। वह तो पंचतन्त्र के ही एक संक्षिप्त रूप पर आधारित है, जो संस्कृत में **तन्त्रोपाख्यान** नाम्ना प्रचलित है। इसका विवरण आगे दिया गया है।

तन्त्रोपाख्यान[2]

पञ्चतन्त्र का ही एक विशिष्ट पाठविवरण इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। 'पञ्चतन्त्र' के विपरीत इसमें केवल तीन ही प्रकरण उपलब्ध होते हैं—(१) नन्दक-प्रकरण, (२) पक्षिप्रकरण, (३) मण्डूकप्रकरण। इसके आरम्भ में कथामुख का अभाव है। प्रत्येक प्रकरण के अन्तर्गत पञ्चतन्त्र की शैली के अनुसार ही मुख्य कथा तथा अवान्तर कथा का एक संवलनात्मक रूप उपलब्ध होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही इसकी विशिष्टता का निर्देश किया गया है। अर्थ के जानने पर नीति का ज्ञान होता है और कथा सुनने में सुख मिलता है। फलतः ज्ञान तथा सुख—दोनों की उपलब्धि के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई है—

> अर्थे भवेन्नयज्ञानमाख्यानश्रवणे सुखम्।
> ज्ञानार्थं च सुखार्थं च तन्त्रोपाख्यानमुच्यते ॥

पञ्चतन्त्र के आख्यान की भाषा के विपरीत इसकी भाषा बाण की समासबहुला शैली में मेल खाती है। कहीं कहीं वर्णन बड़े ही विस्तृत तथा प्रभावोत्पादक हैं। कथा-

१. प्रत्यक्षरं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिकथं प्रतिश्लोकम्।
श्रीपूर्णचन्द्रसूरिर्विशोधयमास शास्त्रमिदम् ॥ (ग्रन्थ की पुष्पिका)

२. अनन्तशयनम् ग्रन्थावली में प्रकाशित (ग्रन्थांक १३२, अनन्तशयन, १९३८)

पञ्चतन्त्र की ही हैं, परन्तु कहीं कहीं अन्य कथायें भी समाविष्ट की गई हैं। **वसुभाग** का नाम उपदेशक के रूप में निर्दिष्ट होने से सम्भव है यह संस्करण वसुभाग की ही साहित्यिक प्रतिभा का निदर्शन हो। पद्यों में मूल कथा का उपदेश संपिण्डित है, जिनके औचित्य के प्रदर्शन में कहानी कही गई है। उदाहरण के लिए इन श्लोकों को देखें—

> न नीचजनसंसर्गमिच्छेत् साधुः समाहितः।
> अहं दुर्बुद्धिना बद्धः स्वबुद्धचा परिमोचितः॥
> अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
> पश्चाद् भवति सन्तापो ब्राह्मणी नकुले यथा॥

छोटा होने पर भी यह ग्रन्थ कथा-साहित्य के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इसकी विशिष्टता यह है कि इसके अनुवाद अथवा तदाधारित कथा-ग्रन्थ जावा, थाई (स्यामी) तथा लाओस की भाषा में विद्यमान हैं। दोनों के तारतम्य-परीक्षा से पता चलता है कि इन भाषा वाले ग्रन्थ में चार प्रकरण हैं, जब कि 'तन्त्रोपाख्यान' में केवल तीन ही, जिससे यह अधूरा ही प्रतीत होता है। जान पड़ता है कि अनन्तशयनम् वाले ग्रन्थ का पूरा नाम 'पञ्चतन्त्रोपाख्यान' था। 'उपाख्यान' का नामगत वैशिष्ट्य यह है कि यह पञ्चतन्त्र आख्यान को प्रधानता देता है, जब कि 'हितोपदेश' नीति को ही महत्त्व देता है। इन सब संस्करणों में ग्रन्थ का नाम 'तन्त्र' से सम्बन्ध रखता है। जावा में इसका नाम है **'तन्त्रि'** थाई में **'तन्त्रै'** तथा लाओस में **'तन्तै'**। प्राचीन जावा की भाषा में इस ग्रन्थ का पूरा नाम है—**तन्त्रि-कामन्दक,** जहाँ कथामुख में उल्लिखित मन्त्री की कन्या का अभिधान 'द्याः तन्त्रि' (=देवी तन्त्री) है। बहुत सम्भव है कि जावा में 'तन्त्र' शब्द का ठीक अर्थ नहीं समझा गया था और यह ग्रन्थ 'तन्त्रि' नामधारी मन्त्री-कन्या का उपाख्यान समझा जाने लगा था। 'कमन्दक' या 'कामन्दक' नीतिशास्त्र के लिए एक सामान्य अभिधान माना जाता था। कामन्दक का नीतिसार इस विषय में इतना लोकप्रिय ग्रन्थ था कि इसी के नाम पर नीतिशास्त्र ने अपना नवीन अभिधान धारण कर लिया। जावा के इस कथा-ग्रन्थ का विशिष्ट विवरण डाक्टर हूइकाम ने अपने निबन्ध ग्रन्थ में दिया है[१]। जावा में इसके विभिन्न नाम मिलते हैं—चण्डपिङ्गल, तन्त्रि, तन्त्रि-कामन्दक, तन्त्र-वाक्य तथा तन्त्रि-चरित। राजा ऐश्वर्यपाल के साथ मन्त्री की पुत्री 'द्याः तन्त्रि' की शादी का वर्णन कथामुख में दिया गया है। इसे छोड़कर मुख्य ग्रन्थ में ३१ कहानियाँ हैं, जिनमें २२ कहानियाँ पञ्चतन्त्र के किसी न किसी संस्करण के ही प्रतिरूप हैं। शेष नव कथायें भी संस्कृत में भी उपलब्ध होंगी ऐसी आशा है। इनमें से दो कथाओं का मूलरूप अमितगति की **धर्म-परीक्षा** नामक काव्य पुस्तक में उपलब्ध होता है। ज्ञातव्य बात यह है कि जावा की कथाओं के समान ही ये कथायें लाओस की पञ्चतन्त्री कथाओं में भी प्राप्त होती हैं[२]।

---

१. Dr C. Hooykaas : Tantri, de middel-Javaansche Pancatantra-bewerking (Leiden, 1929).

२. Venkatasubbiah : Two Tantri Stories, Indian Historical Qarterly Vol VII, no 3 (1931).

तन्त्रोपाख्यान 'पञ्चतन्त्र' के समान ही मुख्य कथा के भीतर तत्सम्बद्ध अवान्तर कथाओं का एक रुचिर संग्रहग्रन्थ है। इसमें प्रयुक्त संस्कृत भाषा बहुशः अलंकृत तथा गाढबन्धमयी है—ऐसी संस्कृत, जिसे हम सुबन्धु तथा बाण के गद्य में पाने के अभ्यस्त हैं। इस भाषावैषम्य के कारण तन्त्रोपाख्यान को पञ्चतन्त्र के किसी भी संस्करण पर हम आधारित नहीं मान सकते। तन्त्रोपाख्यान निःसंशय दक्षिण भारत की रचना है, परन्तु यह पञ्चतन्त्र के दक्षिण भारतीय संस्करण से कथमपि साम्य नहीं धारण करता।

जावा, लाओस तथा थाईलैन्ड में मिलने वाले ये कथा-ग्रन्थ पञ्चतन्त्र से विशेष साम्य रखते हैं। इनमें परस्पर साम्य होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने आपस में एक दूसरे से उधार लिया है। ये सब किसी ऐसे ग्रन्थ के ऋणी हैं जिसका कथामुख इनमें उपलब्ध कथामुख के समान ही है। **तन्तै** (लाओस) में चार प्रकरण हैं—नन्दक-प्रकरण, मण्डूक-प्रकरण, पक्षिप्रकरण तथा पिशाचप्रकरण। इसके विपरीत **तन्त्रि** (जावा) में केवल प्रथम प्रकरण ही उपलब्ध होता है।

संस्कृत 'तन्त्रोपाख्यान' का एक अनुवाद या संस्करण तमिल में भी उपलब्ध होता है। इस संस्करण में कथामुख के अनन्तर नन्दक-प्रकरण पूरा तथा मण्डूक-प्रकरण का एक विस्तृत भाग उपलब्ध है। इन सब कथा-ग्रन्थों का कथामुख एक ही प्रकार से है। एक राजा विलक्षण स्वभाव का था। विद्वानों के कथन से उसे पता चला कि विवाह के समय करोड़ों ऋषि-मुनियों तथा देवताओं के दर्शन का पुण्य मिलता है, क्योंकि ये अलक्षित भाव से वहाँ उपस्थित रहते हैं। बस, क्या था? उसने प्रति-दिन एक नवीन कन्या से विवाह करने का आदेश अपने मन्त्री को दिया। मन्त्री ने कुछ दिनों तक तो सुयोग्य कन्याओं को ढूंढ़ निकाला और उनसे राजा की शादी कराई, परन्तु बाद में कन्याओं के न मिलने पर वह विषण्ण हो गया। इस पर उसकी पुत्री ने, जिसका नाम 'तन्त्रु' था, अपने पिता से अपनी शादी के लिए हठ किया। मन्त्री ने उसकी शादी राजा से कर दी। वह प्रतिदिन नई नई कहानी गढ़ कर राजा को सुनाने लगी। राजा को ये कहानियाँ पसन्द आईं। आकाशवाणी का आग्रह मानकर राजा ने उसे अपनी पटरानी बनाया और अच्छी तरह से राज्य किया। जावा की 'तन्त्रि' के अनुसार प्रत्येक प्रकरण में ९० कहानियाँ थीं। इस प्रकार समग्र कहानियाँ ३६० ठहरती हैं। फलतः तन्त्रु प्रतिरात्रि एक एक कहानी एक साल तक कहती रही। मन्त्री की इस कन्या के नाम पर ही इन कथाओं का समान नामकरण है। यही कथामुख इस कथा-ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है, परन्तु यह सर्वत्र नहीं मिलता। 'तन्त्रोपाख्यान' में इसका अभाव है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत में निबद्ध यह 'तन्त्रोपाख्यान' की ही कथायें पूर्णतः या अंशतः जावा, थाईलैण्ड तथा लाओस की भाषाओं में अनूदित या संगृहीत होकर आज भी उपलब्ध हैं, मूल पञ्चतन्त्र की कथायें नहीं। दोनों ग्रन्थों में कतिपय साम्य आख्यानों

---

१. ब्रह्मविद्या (अडचार, भाग २९, १९६५) में प्रकाशित दस कहानियों का मूल रूप द्रष्टव्य है।

२. तन्त्रिक-कथा-ग्रन्थ के अनुवाद के लिए द्रष्टव्य ब्रह्मविद्या (१९६५, पृ० ७४-१४१)।

के रूप या शैली में भले ही मिले, परन्तु इतना तो निश्चित है कि 'तन्त्रोपाख्यान' ही इन पूर्वी देशों की पञ्चतन्त्री कथाओं का मूल प्रस्तुत करता है। यह स्वयं अधूरा ही है। लाओस-भाषीय कथा चार भागों में विभक्त है। फलतः यही उसका पूर्ण रूप था। संस्कृत मूल आज भी पूरा नहीं मिलता है। पूरे ग्रन्थ के लिए इसकी खोज करनी चाहिए।

हितोपदेश

पंचतन्त्र पर आधारित नितान्त लोकप्रिय कथा-ग्रन्थ है। ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों से इसके रचयिता **नारायण** तथा उनके आश्रयदाता माण्डलिक राजा धवलचन्द्र बतलाये गये हैं। ग्रन्थकार ने स्पष्टतः इसका आधार पंचतन्त्र तथा कोई अज्ञातनाम ग्रन्थ बतलाया है (१।९)। इसमें चार भाग हैं--मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह तथा सन्धि, जिनमें प्रकारान्तर से पंचतन्त्र के पाँचों तन्त्र समाविष्ट किये गये हैं। बालकों को नीति की शिक्षा कथामुखेन देना ही हितोपदेश का लक्ष्य है (कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते १।८) और इस उद्देश्य की पूर्ति में यह सर्वथा सफल हुआ है। संस्कृत-शिक्षण की यह प्रथम पुस्तक मानी गई है और यूरोप की अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद से वहाँ भी इसकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके देशकाल का यथार्थ परिचय नहीं मिलता। नई जोड़ी गई कथाओं के अनुशीलन से इसकी उद्गमभूमि का पता चलता है। मित्रलाभ को षष्ठ कथा में 'गौरीव्रत' का उल्लेख है, जिसमें वस्त्रालंकारयुक्त कुलीन युवति के पूजन के प्रतिरात्रि विधान का उल्लेख है। इसका समुल्लेख हितोपदेश की उद्गम भूमि बंगाल बतला रहा है, जहाँ शाक्त तान्त्रिक पूजा का विशेष प्रचलन था। हितोपदेश का नेपाली हस्तलेख १३७३ ईस्वी का है। इसे उससे प्राचीन होना चाहिये। यहाँ रविवार का उल्लेख 'भट्टारकवार' के नाम से किया गया है। डॉ० फ्लीट के कथनानुसार यह उल्लेख शिलालेखों में नवम शती में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। अतः इसकी रचना नवमशती के अनन्तर और १२शती से पूर्व होनी चाहिए--लगभग ११ शती में। इसमें ६७९ नीतिविषयक पद्य हैं जो महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण तथा चाणक्यनीतिशास्त्र से उद्धृत किये गये हैं।

पंचतन्त्र : विश्व-साहित्य की विभूति

पञ्चतन्त्र के गम्भीर तथा विशाल अनुसन्धान का श्रेय जर्मनी के दो विद्वानों को दिया जाता है जिनमें एक है डॉ० बेनफी तथा दूसरे हैं डॉ० हर्टल। डॉ० बेनफी पूरबी तथा पश्चिमी भाषाओं के ज्ञान से मण्डित एक प्रतिभाशाली भाषावेत्ता थे। उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर यूरोप, एशिया तथा अफ्रिका जैसे तीन महादेशों के कथा-साहित्य पर भारतीय कथा-साहित्य के विस्तृत प्रभाव को प्रदर्शित किया है तथा यूरोप के मध्ययुगीय साहित्य को इसका विशेष ऋणी तथा अधमर्ण सिद्ध किया है। इस प्रसंग में पञ्चतन्त्र की कथाओं की विश्वभ्रमण की प्रामाणिक कहानी डॉ० बेनफी की महत्त्वपूर्ण देन है। डॉ० हर्टल ने पञ्चतन्त्र के साहित्यिक रूप, उसकी विविध वाचनाओं तथा उससे उद्भूत कथा-साहित्य के विषय में बड़ा ही विस्तृत, विशद तथा गम्भीर अनुशीलन किया है। 'पञ्चतन्त्र स्कालर' का अभिधान उनकी ख्याति का एक विशिष्ट प्रतीक है। इन दोनों

विद्वानों ने प्रमाणपुरःसर सिद्ध किया है कि पञ्चतन्त्र भारतीय साहित्य का ही अंग न होकर विश्व-साहित्य का भी एक उदात्त तथा आदरणीय अंग है[1]।

तञ्चतन्त्र के मूल रूप के निर्णय करने की समस्या अमेरिकी संस्कृतज्ञ डॉ० इड्गर्टन के सामने थी और इसका समाधान उनका वैशिष्टच है। पञ्चतन्त्र की जिन वाचनाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है उनके आधार पर उसके मूलरूप का पता लगाना एक बेढ़ी टेढ़ी समस्या है, परन्तु इसी का समाधान अमेरिकी संस्कृतज्ञ डॉ० इड्गर्टन ने बड़े परिश्रम तथा अनुशीलन के बल पर किया है। पंचतन्त्र के उपलब्ध, विभिन्न भाषाओं में विहित अनुवादों की समानता तथा विषमता के आधार पर यह प्रासाद खड़ा किया गया है। डॉ० इड्गर्टन ने अपने ग्रन्थ[2] के द्वितीय खण्ड में (पृ० १–२६८) इन समग्र उपकरणों का विन्यास बड़ी सावधानी से वैज्ञानिक दृष्टिकोण को पुरस्कृत कर किया है। डॉ० हर्टल ने अपने दीर्घकालीन अध्ययन के बल पर जिन निष्कर्षों को निकाला था उनकी पुनःपरीक्षा करने का काम डॉ० इड्गर्टन ने किया है और इस परीक्षण में हर्टल के सिद्धान्तों को अनेक स्थलों पर किंचित् परिवर्तित अथवा पूर्णरूपेण परिवर्तित करना पड़ा है। डॉ० हर्टल तन्त्राख्यायिका को पंचतन्त्र का मूल रूप मानते थे जिसका खण्डन कर उससे भी प्राचीन स्वरूप की स्थापना का कार्य यहाँ किया गया है।

विश्वसाहित्य के लिए पंचतन्त्र निःसन्देह एक महनीय रचना है। पहिले दिखलाया गया है कि षष्ठ शती में इसकी प्रसिद्धि फारस तक पहुँच गई थी जब खुशरों नौशेरवां (५३१ ई०–५७९ ई०) के आदेश से उनके ही दरबार के एक संस्कृतज्ञ हकीम ने (जिनका नाम बुरजोई था) पहलवी (पुरानी फारसी) में इसका सर्वप्रथम अनुवाद किया। अभाग्यवश यह अनुवाद प्राप्त नहीं है, परन्तु उपलब्ध सीरीयन भाषा में एवं प्राचीन अरबी भाषा में पहलवी अनुवाद से भाषान्तरण से उसके रूप का परिचय प्राप्त हो जाता है। ५७० ई० के आसपास प्रख्यात सीरियन पादरी तथा ग्रन्थकार ने—जिनका नाम बूद था—इसका 'कलिलग' और 'दमनग' नाम से सीरियन भाषा में अनुवाद किया। यह अनुवाद विद्यमान तो है, परन्तु बीच-बीच में, विशेषतः आरम्भ में, त्रुटित होने से अधूरा ही है। इससे अधिक पूर्ण तथा अनेक क्षेपकों से परिपूर्ण अरबी अनुवाद है जिसे अबदुल्ला बिन अलमुकफ्फा ने ७५० ई० के आसपास 'कलील' और 'दिम्नह्' के नाम से तैयार किया। पहलवी अनुवाद का यह अरबी भाषान्तर यूरोप में होनेवाले भाषान्तरों का मूल स्रोत होने के कारण नितान्त महत्त्व रखता है। ये यूरोपीय भाषान्तर अरबी से सीधे किये गये हैं या परम्परया, परन्तु हैं सब अरबी भाषान्तर के ही ऋणी। १० या ११ शती के आरम्भ में सीधे अरबी से इसका अनुवाद सीरियन भाषा में पुनः किया गया। एकादश शती के अन्त में अरबी से यूनानी भाषा में साइमिआन सेठ नामक विद्वान् ने किया। इसी यूनानी

---

१. इस सिद्धान्त के विस्तृत प्रामाणिक प्रतिपादन के लिए द्रष्टव्य डा० विन्टरनित्स: हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर, खण्ड ३, भाग १, पृष्ठ ३२९–३४६ (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३)।

२. द्रष्टव्य 'दी पंचतंत्र रीकन्स्ट्रक्टेड' दो भाग। अमेरिकन ओरियन्टल सीरीज संख्या २ तथा ३, न्यू हावेन, १९२४।

भाषान्तर के ऊपर लातिनी, जर्मन, तथा स्लाव भाषाओं में अनेक अनुवाद आधरित हैं। इस अनुवाद-परम्परा में ऐन्टोनियस वान फोर नामक विद्वान् ने जर्मन भाषा में अरबी भाषा से सीधे अनुवाद किया, जो १४८३ ई० के बाद अनेक संस्करणों में प्रस्तुत किया गया। इस अनुवाद ने जर्मन साहित्य को अनेक रीतियों से प्रभावित किया। बेनफी ने जर्मन अनुवाद को बड़ा ही सारवान् तथा अरबी भाषान्तर का 'विश्वासपात्र दर्पण' कहा है। 'जान आफ केपुआ' के द्वारा प्रणीत लातिनी अनुवाद का डोनी नामक विद्वान् ने इताली भाषा में अनुवाद किया, जो १५५२ ई० में मुद्रित हुआ था। इस अन्तिम अनुवाद का अंग्रेजी में अनुवाद सर टामस नार्थ ने 'मारल फिलासोफी आफ डोनी' नाम से किया, जो लण्डन में १५९० में प्रथम बार तथा १६०१ ई० पुनः मुद्रित किया गया। इस प्रकार रानी एलिजाबेथ प्रथम के राज्यकाल में पंचतन्त्र का प्रथम स्वरूप अंग्रेजी में उपलब्ध हुआ। यह मूल पंचतन्त्र की किसी (नष्ट) संस्कृत वाचना के (नष्ट) पहलवी अनुवाद के अरबी अनुवाद के हिब्रू अनुवाद के लैटिन अनुवाद के इटेलियन अनुवाद से अंग्रेजी अनुवाद आया था, मूल रचना से लगभग बारह सौ वर्षों के अनन्तर।

हिब्रू में किये गये अनुवाद का फारसी में अनुवाद हुआ जिससे पूर्वी तुर्की भाषाओं में अनेक अनुवाद प्रस्तुत किये गये। इन अनुवादों में नितान्त प्रख्यात है **अनवरि सुहेली,** जिसके रचयिता 'हुसेन इब्न अलीलवाइज़' (१४७०–१५०५ ई०) नामक फारसी कवि हैं। यह ग्रन्थ फारसी का एक महनीय अलंकृत काव्य माना जाता है। अनवर सुहेली विपुल साहित्य का मूल स्रोत है, जिसके अनुवादों ने यूरोप तथा मध्य एशिया के साहित्य को पुष्ट तथा समृद्ध बनाया है। इस प्रकार पंचतन्त्र ने इन अनुवादों के माध्यम से यूरोप के मध्ययुगीय साहित्य को पूर्णमात्रा में प्रभावित किया है।

फारस में पहुँचने से पहिले ही पंचतन्त्र की कहानियाँ भारत से पूरब में पहुँच चुकी थीं। चीनी भाषा के दो विश्वकोषों में, जिनमें से प्राचीनतर का रचनाकाल ६६८ ईस्वी है, बहुत सी भारतीय कहानियों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया उपलब्ध होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि इन विश्वकोषों ने अपने लिए २०२ बौद्ध ग्रन्थों को आधार बतलाया है। इस प्रकार अपने उदय से दो शताब्दी के भीतर ही ये लोकप्रिय कहानियाँ चीन से लेकर अरब तक फैल गई थीं।

मध्ययुग में पंचतन्त्र—भारतीय कथाओं के विश्वभ्रमण की गाथा यूरोप के विद्वानों में बड़े परिश्रम तथा मनोयोग से प्रस्तुत किया है। उनके कथनानुसार ग्रीस के सुप्रसिद्ध कथासंग्रह 'ईसापकी कहानियाँ' तथा अरब की मनोरंजक कहानियाँ 'अरेबियन नाइट्स' की आधारभूत ये ही कहानियाँ हैं। कहानियों के भारतीयत्व की पहिचान डॉ० विन्टरनित्स ने उदाहरण के साथ विस्तार से वर्णित किया है। मध्य युग में ये कहानियाँ 'बिदापई की कहानियाँ' (विद्यापति की कहानियाँ) के नाम से प्रख्यात थीं। ये कहानियाँ उन लोगों में इतनी प्रख्यात हुईं कि उन्हें इनके भारतीय होने का तनिक भी आभास नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई सन्तों के बीच विराजने लगे।' 'बरलाम और जोज़फ' की कहानी मध्ययुग में इतनी शिक्षाप्रद और विख्यात हुई कि कथा के मुख्य पात्र ईसाई सन्तों में गिने जाने लगे। इनमें 'जोज़फ' स्वयं

बुद्ध हैं। जोज़फ 'बुदसफ' के रूप में 'बोधिसत्त्व' का ही अपभ्रंश है। क्या यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि इन्हीं कहानियों की कृपा से बुद्ध ने ईसाई सन्तों की माननीय पंक्ति में स्थान पा लिया। इन ईसाइयों को इसका बिल्कुल एहसास न था कि जिन्हें वे अपने सन्तों में गणना कर रहे थे वे उनसे विरुद्ध भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय के संस्थापक थे।

पंचतन्त्र की कहानियों ने मध्ययुगी यूरोपीय साहित्य को खूब ही प्रभावित किया। मध्ययुग में 'गेष्टा रोमनारूम' और 'डेकामेराँ' अपने रोचक वर्णन, चमत्कारी चित्रण एवं समाज के यथार्थ दिग्दर्शन के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय कथा-ग्रन्थ रहे हैं। इन ग्रन्थों में वर्णित कहानियाँ पंचतन्त्र की कथाओं से पूर्णतः प्रभावित हैं। बोकेचिओ, चाउसर, लाफॉतें की कहानियों में और ग्रिम द्वारा निर्मित बालोपयोगी और घरेलू कहानियों में हम भारतीय कथाओं के सूत्र पाते हैं। बोकेचिओ इताली भाषा में निबद्ध 'डेकामेरों' का प्रख्यात लेखक है; चाउसर ''कैन्टर्बरी टेल्स' का रचयिता अंग्रेजी साहित्य का आरम्भ करनेवाला अंग्रेजी कवि है। 'ला फाँतेन' फ्रेंच साहित्य का प्रख्यात कवि है जिसने १६६८ ई०–१६९४ ई० के बीच बारह खण्डों में ऐसी काल्पनिक कथायें पद्य में लिखी हैं जिनमें काव्य-सौन्दर्य के साथ ही साथ मानव-मस्तिष्क की गहरी छानवीन का भी नमूना मिलता है। अपने कथाकाव्य के द्वितीय संस्करण (प्रकाशन-काल १६७८ ई०) की प्रस्तावना में उसने स्वयं स्वीकार किया है कि इस संस्करण में जोड़ी गई नई कहानियों के लिए वह 'भारतीय दार्शनिक पिल्पे' (विद्यापति) का सर्वाधिक रूप से ऋणी है[1]। कथा से सम्बद्ध नीति का कथन ही लाफॉतेन का आदर्श था[2] ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार पंचतन्त्र तथा हितोपदेश का भी यह आदर्श था।

ध्यान देने की बात है कि भारतेतर देशों के नूतन परिवेश में भारतीय कथाओं ने कुछ परिवर्तन अवश्य धारण कर लिया, परन्तु कथाओं की आत्मा एक ही है। पंचतन्त्र की कथाओं को यहाँ नया चोला मिला है, परन्तु उनका मूल रूप अपरिवर्तनीय होने से सर्वथा सुबोध है। पंचतन्त्र में दरिद्र ब्राह्मण की यह कथा प्रख्यात है जो सत्तू से भरे अपने घड़े को, जिस पर वह अपने ऐश्वर्य का हवाई महल खड़ा कर रहा था, पैर के आघात से स्वयं फोड़ डालता है। यही कहानी ला फाँतेन की रचना में दूध की मटकी ले जाने वाली गोपी की कथा वन जाती है, जो दूध बेंचने से प्राप्त धन से ऐश्वर्य-प्राप्ति की कल्पना करते करते हर्ष में उछलती है और मटकी को स्वयं फोड़ डालती है। इन परिवर्तनों की झीनी चादर के भीतर से पंचतन्त्र की भारतीय कथा अपने सच्चे रूप को आलोचकों के सामने प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं होती।

सचमुच पंचतन्त्र विश्व-साहित्य की एक दिव्य विभूति है। कथा के साथ में नीति की महनीय शिक्षा प्रदान करने की सुन्दर भारतीय योजना को स्वीकार कर विश्व के

---

१. विशेष द्रष्टव्य रेवेरेण्ड कालिन्स रचित 'ला फाँतेन की जीवनी तथा आलोचनात्मक' अंग्रेजी पुस्तक, पृ० ७८–१०१।

२. A naked moral will disgust, they say;
Linked with a story, it may make its way. —ला फोंतेन

साहित्य ने अपने आपको उदात्त, लोकप्रिय तथा हृदयावर्जन बनाया है; यह अभ्रान्त सत्य है जो दीर्घकालीन अनुसन्धान की दृढ़ भित्ति पर अटूट खड़ा है ! !

वेतालपंचविंशति

'पञ्चतन्त्र' के साथ ही साथ पशु-पक्षियों की कहानियाँ सदा के लिए अस्तंगत हो गईं तथा 'बृहत्कथा' का भी कोई साक्षात् वंशज उपलब्ध नहीं होता। केवल 'वेतालपञ्चविंशति' ही रोचक लोक-कथाओं का एक सुन्दर तथा सुव्यवस्थित संग्रह है। ये पचीस कहानियाँ मूल बृहत्कथा में भी विद्यमान थीं—यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि इनका अस्तित्व बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर में तो अवश्य है, परन्तु बुधस्वामी के नैपाली विवरण में ये नहीं मिलतीं। इस वैषम्य के कारण यही कहा जा सकता है कि यह बृहत्कथा का अंश नहीं है, प्रत्युत यह एक स्वतंत्र कथानक है जिसका सम्बन्ध लोककथाओं के साथ पूर्णतया स्थापित किया जा सकता है। इन कहानियों का ११ वें शतक में प्रचलित सर्वप्राचीन रूप क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। दोनों ग्रन्थों में कथायें मुख्यतया एकाकार ही हैं, यद्यपि क्षेमेन्द्र का वर्णन कुछ छोटा तथा कितपय अवान्तर घटनाओं से विरहित है, (मंजरी ९।२)। सोमदेव का विवरण कुछ बड़ा तथा विशेष घटना-प्रधान है। मंजरी में १२२० श्लोक हैं तथा कथा-सरित्सागर में २१९५ श्लोक हैं। इन कथाओं के गद्यात्मक संस्करण भी अनेक हैं, जिनमें **'शिवदास'**[1] की रचना का न तो काल विदित है, न स्थान ही। इस संस्करण में बीच-बीच में श्लोक भी दिये गये हैं। **जम्भलदत्त** की 'वेतालपंचविंशति'[2] बिल्कुल गद्यात्मक ही है तथा नाम आदि के विषय में काश्मीरी विवरण के बिल्कुल समीप है, यद्यपि कथावस्तु में अन्तर विद्यमान है। वर्तमान भारतीय भाषाओं में भी इस संस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद समय-समय पर किये गये थे तथा काफी लोकप्रिय हैं। इन समस्त विवरणों के तुलनात्मक अध्ययन करने से मूल कथा का परिचय मिल सकता है। डॉ० हर्टल की सम्मति है कि शिवदास ने १४८७ ई० से बहुत पहिले ही 'वेतालपंचविंशति' की रचना की थी, क्योंकि उसी समय इसका प्राचीनतम हस्तलेख उपलब्ध होता है।

वेतालपचीसी की कथायें बड़ी ही रोचक, बुद्धिवर्धक तथा कौतूहलोत्पादक हैं। कोई सिद्ध पुरुष राजा त्रिविक्रमसेन या विक्रमसेन (जो पिछले युग में 'विक्रमादित्य' के रूप में परिवर्तित हो जाता है) के पास रत्नगर्भित फल लाकर देता था जिसकी सिद्धि में सहायतार्थ राजा एक वृक्ष पर लटकते हुए शव को लाना चाहता है, परन्तु वह शव पूर्व से ही किसी वेताल के आधिपत्य में है जो राजा के चुप रहने पर ही वह शव देना चाहता है, परन्तु वह इतनी विचित्र कथा सुनाता है कि राजा को मौन भंग करना ही पड़ता है। कहानियाँ बड़ी ही आवर्जक तथा रोचक हैं। राजा का उत्तर भी बड़ा ही सुन्दर होता है। प्रश्न भी बड़े ही पेचीदे तथा विषम हैं। कौन सबसे अधिक रसज्ञ है ? वह मनुष्य जो पके हुए भात को इसलिए नहीं छूता कि वह श्मशान के पास उगे धान का दुर्गन्ध देता था अथवा

---

१. जर्मन विद्वान् हाइनरिश ऊले द्वारा सम्पादित, लाइपजिग, १८८४।

२. डॉ० एमेनाउ द्वारा रोमन अक्षरों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित। अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, १९३४।

वह व्यक्ति जो मोटे गुलगुले गद्दों पर बीच में एक बाल के आ जाने से रात भर जागता ही रह जाता है अथवा वह मनुष्य जो स्त्री को इसलिए नहीं छू सकता कि बचपन में बकरी के दूध पर उसका पालन-पोषण हुआ था और इसलिए उसके शरीर से बकरी का गन्ध आता था ? ऐसे ही पेचीदे प्रश्न इस ग्रन्थ में भरे हुए हैं जिनका समुचित उत्तर विक्रम की चातुरी का परिचायक है। 'शिवदत्त' का ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर, रोचक तथा आकर्षक है।

उत्तर ग्रन्थ

विक्रम चरित

साहित्य-दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना सुन्दर तथा आवर्जक नहीं है। इसका प्रसिद्ध नाम है—**सिंहासनद्वात्रिंशिका** (सिंहासन बतीसी)। राजा भोज जमीन में गड़े हुए विक्रमादित्य के सिंहासन को उखाड़ता है तथा ज्यों ही वह उसके ऊपर बैठने का उद्योग करता है कि उसमें जड़ी हुई बत्तीसों पुतलियाँ विक्रम का पराक्रम सुनाकर राजा को अयोग्य सिद्ध करती हैं तथा उसे बैठने से रोकती हैं। इसकी दो वाचनिकायें मिलती हैं, जो परस्पर में भिन्नता रखती हैं—उत्तरी तथा दक्षिणी। उत्तरी वाचनिका में तीन विवरण मिलते हैं—जैन **क्षेमकर मुनि** रचित, इसी पर आश्रित बंगाली विवरण तथा तीसरा एक छोटा विवरण। दक्षिण भारत में वह **विक्रम-चरित**[1] के नाम से ही विशेष प्रख्यात है, जिसके दो रूप हैं—पद्यबद्ध और गद्यबद्ध। दोनों वाचनिकाओं में कौन मूलसङ्गत तथा प्राचीन है? यह निर्णय करना बिल्कुल कठिन है। डॉ० हर्टेल की दृष्टि में जैन विवरण ही मूल के बिल्कुल समीप है, परन्तु डॉ० इड्गर्टन के विचार में दक्षिणी वाचनिका ही मौलिक तथा प्राचीनतर है। दोनों विवरणों में हेमाद्रि के 'दानखण्ड' का स्पष्ट निर्देश है। फलतः यह ग्रन्थ १३ वीं शती से प्राचीनतर नहीं हो सकता।

शुकसप्तति

शुकसप्तति[2] भी कहानियों का बड़ा ही रोचक संग्रह है जिसे एक सुगा अपने मालिक के परदेश चले जाने पर अन्य पुरुषों के प्रति आकृष्ट होने वाली अपनी स्वामिनी को सुनाकर रोकता है। ऐसे ग्रन्थ की दो वाचनिकाओं का पता चलता है—एक तो विस्तृत और दूसरी संक्षिप्त। विस्तृत वाचनिका के लेखक कोई **चिन्तामणि भट्ट** हैं, जिन्होंने पूर्णभद्र के पञ्चतन्त्र का उपयोग इस ग्रन्थ में किया है। फलतः उनका समय १२ वीं शती से पूर्ववर्ती होना चाहिए। संक्षिप्त विवरण किसी जैन लेखक की रचना है। कहानियाँ बड़ी ही मनोरंजक तथा आकर्षक हैं।

---

१. इड्गर्टन द्वारा रोमन अक्षरों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ दो भागों में सम्पादित। हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज, १९२६।

२. डॉ० स्मिथ ने दोनों विवरणों को जर्मन अनुवादों के साथ लाइपजिग से प्रकाशित किया है। संक्षिप्त का सं० १८९३ में, विस्तृत का सं० १८९८-९९ में लाइपजिग से।

जैन कथा-साहित्य

जैन लेखक कथा-कहानियों के लिखने में विशेष पटु थे। लोक में प्रचलित धूर्त, विट, मूर्ख तथा स्त्रियों की कहानियों के लिखने में उनकी प्रतिभा विशेष दीखती है। इनसे भिन्न लेखकों की भी रचनायें उपलब्ध होती हैं। **भरटक-द्वात्रिंशिका** में प्रचलित लोक-भाषा के भी स्थान-स्थान पर पद्य मिलते हैं। **कथा-रत्नाकर** जैन **हेमविजयगणि** की रचना २५६ छोटी-छोटी कथाओं का संग्रह है, जिसका निर्माण १७ वीं शती में किया गया है। जैन कथाओं में साहित्यिक सौन्दर्य की विशेष सत्ता नहीं रहती है, क्योंकि लेखक की दृष्टि जैनधर्म के विवरण देने तथा नैतिकता के प्रचार की ओर विशेष रहती है।

जैन संस्कृत-प्राकृत-साहित्य में कथाओं के अनेक महत्त्वपूर्ण संग्रह उपलब्ध होते हैं, जो 'कथाकोश' के नाम से प्रख्यात हैं। इनकी संख्या 'जिनरत्नकोश' में बीस से भी ऊपर बताई गई है, जिनमें से १६ कथाकोशों का संक्षिप्त विवरण डॉ० उपाध्ये ने 'बृहत्कथाकोश' की प्रस्तावना में दिया है (पृ० ३९–४७)। इस विषय में सबसे महनीय ग्रन्थ है **हरिसेणाचार्य**–रचित **'कथाकोश'** जो अपनी विशालता के कारण **'बृहत्कथा-कोश'** नाम्ना प्रख्यात है। ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार हरिषेण ने इसका प्रणयन ९८९ विक्रम सं० (९३२ ई०) में किया। यह 'आराधनोद्धृत' कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि **भगवती आराधना** से सम्बद्ध टीकाओं तथा व्याख्याओं से इन कथाओं का यह संकलन किया गया है। इसमें छोटी-बड़ी मिलाकर १५७ कथायें हैं, जिनमें से कुछ कथायें चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि आदि ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्ध रखनेवाली हैं, यद्यपि उनका उद्देश्य इतिहास की अपेक्षा आराधना का महत्त्व दिखलाना अधिक है। यह कथाकोशों में प्राचीनतम है। हरिषेण पुन्नाट संघ के आचार्य हैं जिसका मूलस्थान तो कर्नाटक है, परन्तु गुजरात में भी यह विद्यमान था। इसी संघ में हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन हुए। गुजरात के वर्धमानपुर में इसकी रचना हुई।[1] कथायें संस्कृत पद्य में निबद्ध हैं। अनुष्टुप् छन्द ही स्वीकृत किया गया है। भाषा व्यावहारिक संस्कृत है—सरल तथा सुबोध

गद्य में रचित जैन-प्रबन्धों की भावना इससे नितान्त भिन्न है। इसमें अर्ध-ऐतिहासिक प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनी बड़े ही रोचक ढंग से लिखी गयी है। बोलचाल की चलती भाषा तथा सरल शैली में लिखित इन प्रबन्धों की लोकप्रियता पर्याप्त है। ऐसे प्रबन्धों में दो विशेष विख्यात हैं—(१) **प्रबन्ध-चिन्तामणि** तथा (२) **प्रबन्धकोश**। प्रबन्ध-चिन्तामणि[2] की रचना **मेरुतुंगाचार्य** ने १३६१ विक्रमी (=१३०५ ई०) में वर्धमानपुर नामक स्थान में की। इसमें पाँच प्रकाश (=खण्ड) हैं। प्रथम प्रकाश में विक्रमार्क, सातवाहन,

---

१. द्रष्टव्य नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४३४–४३९ (बम्बई, १९४२ ई०)

२. सिंधी जैन ग्रन्थमाला (ग्रन्थांक १) में प्रकाशित, शान्तिनिकेतन, १९८९ विक्रमी। इसका डॉ० टानी कृत अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित है, कलकत्ता १९०१। गुजराती तथा हिन्दी में भी अनुवाद है।

मूलराज तथा मुञ्ज-विषयक प्रबन्ध या सम्बद्ध कथानक हैं। द्वितीय प्रकाश धारा के राजा भोज के विषय में है। तृतीय प्रकाश में सिद्धराज, जयसिंह आदि राजाओं की कथायें हैं ; चतुर्थ प्रकाश में कुमारपाल, वीरधवल तथा इनके मन्त्री प्रसिद्ध दानवीर जैन वस्तुपाल और तेजपाल के प्रबन्ध हैं। पंचम प्रकीर्ण प्रकाश है, जिसमें लक्ष्मणसेन, जयचन्द्र, वराहमिहिर, भर्तृहरि, वैद्यवारपट आदि के प्रबन्ध बड़े ही रोचक तथा ज्ञानवर्धक हैं। इस ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य ग्रन्थकार के शब्दों में यह है—

दुष्प्रापेषु बहुश्रुतेषु गुणवद्वृद्धेषु च प्रायशः
शिष्याणां प्रतिभाभियोगविगमादुच्चैः श्रुते सीदति।
प्राज्ञानामथ भाविनामुपकृतिं कर्तुं परामिच्छता
ग्रन्थः सत्पुरुष-प्रबन्धघटनाच्चक्रे सुधासत्रवत्॥

[बहुश्रुत और गुणवान् ऐसे वृद्धजनों की प्राप्ति प्रायः दुर्लभ हो रही है। शिष्यों में प्रतिभा का वैसा योग न होने से शास्त्र प्रायः नष्ट हो रहे हैं। इस कारण से तथा भावी बुद्धिमानों को यह उपकारक बने; ऐसी विशेष इच्छा से, अमृत के सत्र के समान, सत्पुरुषों के प्रबन्धों का संघटनरूप यह ग्रन्थ मैंने बनाया है।] इससे ग्रन्थ-लेखन का प्रयोजन स्पष्ट है। प्राचीन बहुश्रुत विद्वानों से संकलित सामग्री का एकत्र गुम्फन उपकारदृष्ट्या यहाँ किया गया है।

राजशेखर के **'प्रबन्धकोश'** में २४ व्यक्तियों या प्रसिद्ध पुरुषों के प्रबन्ध विद्यमान हैं और इसी कारण इसका प्रसिद्ध नाम **'चतुर्विंशति-प्रबन्ध'**[१] ही है। यह किंवदन्ती-मिश्रित अर्ध-ऐतिहासिक और अर्ध-लोककथात्मक निबन्धों का संग्रह है, जिसकी रचना ग्रन्थ के अन्तिम पद्य के अनुसार १४०५ विक्रमी (=१३४८ ईस्वी) में सम्पन्न हुई। वर्ण्य पुरुषों में ग्रन्थकार के अनुसार १० जैनधर्म के प्रभावशाली आचार्य हैं, ४ संस्कृत भाषा के मान्य कवि हैं, ७ प्राचीन या मध्यकालीन राजा हैं और ३ जैनधर्मानुरागी राजमान्य गृहस्थ पुरुष हैं। इस प्रकार के तीन प्रसिद्ध प्राचीनतर ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनकी थोड़ी या बहुत सी छाया इस ग्रन्थ में निःसंदेह वर्तमान है। **प्रभावकचरित**, रचनाकाल १३३४ वि० सं० (=१२७७ ईस्वी) पद्यबद्ध प्रबन्ध है, जिसमें जैनधर्म के प्रभावशाली २२ आचार्यों का विवरण है। इनमें से राजशेखर ने ९ आचार्यों की जीवनी यहाँ संकलित की है। **प्रबन्ध-चिन्तामणि** (वि० सं० १३६१) तथा इस प्रबन्धकोश में १० व्यक्तियों के वर्णन समान हैं। अन्तर केवल शैली का है। प्रबन्ध-चिन्तामणि का वर्णन कुछ संक्षेप में और सामासिक शैली में है, परन्तु प्रबन्धकोश का वर्णन कुछ विस्तृत और विश्लेषणात्मक पद्धति में है। बहुत ही नयी बातों का संकलन यहाँ उपलब्ध होता है। इन दोनों ग्रन्थों की अपेक्षा **जिनप्रभसूरि-रचित विविध-तीर्थकल्प** (वि० सं० १३८९) से विशेषतर सहायता ली गई है इस कोश के प्रणयन में। सातवाहन, वङ्कचूल तथा नागार्जुन विषयक तीनों प्रबन्ध तीर्थकल्प की पूरी नकल हैं।

राजशेखर सूरि के मौलिक प्रबन्ध संस्कृत कवियों के विषय में हैं, जो पूर्वोक्त ग्रन्थों में से किसी में भी उपलब्ध नहीं होते। हर्ष, हरिहर, अमरचन्द्र और मदनकीर्ति (१२-

१. सं० सिंधी जैन ग्रन्थमाला (ग्रन्थांक ६), शान्तिनिकेतन १९३५ ई०। सम्पादक मुनि जिनविजय जी।

१४ प्रबन्ध) कवियों का विवरण कवि की मौलिक रचना है । ग्रन्थकार ने अपना उद्देश्य बतलाते हुए स्पष्ट लिखा है कि मुग्धजनों के ज्ञानवर्धन के निमित्त 'मृदुगद्य' में ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है—

तेनायं मृदुगद्यैर्मुग्धो मुग्धावबोध-कामेन ।
रचितः प्रबन्धकोशो जयताज्जिनपतिमतं यावत् ॥

यह पूरा ग्रन्थ व्यावहारिक संस्कृत में रचा गया है । इसमें न समासों की अधिकता है, न पाण्डित्यगम्य भाषा का प्रयोग । सीधे-सादे शब्दों में वस्तु समझाना ही लेखक को अभीष्ट है । इसमें बोलचाल की भाषा के भी अनेक शब्द और मुहावरे संस्कृत रूप में गृहीत किये गये हैं । प्राचीन व्यक्तियों के इतिहास में इसकी उपादेयता विशेष मान्य है ।[1]

भोज-प्रबन्ध (रचनाकाल १६ शतक) की दशा विचित्र है । धारा के राजा भोजराज की प्रशंसा में विरचित यह ग्रन्थ इतिहास-ग्रन्थ न होकर काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें हम प्राचीन कवियों को राजा की सभा में आते और स्तुति करते पाते हैं । गद्य तो साधारण है, परन्तु पद्य बड़े ही सुन्दर तथा रोचक हैं । यहाँ कालिदास, भवभूति, माघ तथा दण्डी के साथ मल्लिनाथ को भी राजसभा में हम उपस्थित पाते हैं । अल्प-प्रसिद्ध कवियों जैसे सीता तथा छित्तप का भी यहाँ उल्लेख मिलता है । फलतः ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपादेय होने पर भी साहित्य की दृष्टि से इसका मूल्य आँका जा सकता है । गद्य मध्यम-कोटि का है, न विशेष सामान्य और न विशेष अलंकृत । इन ललित पद्यों के कारण ही भोज-प्रबन्ध की लोकप्रियता सर्वमान्य है । मैथिलकोकिल **विद्यापति** (१४ शती) की **पुरुषपरीक्षा** साहित्यिक सौन्दर्य से मण्डित है । इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है ।

श्रीमाल (या मीनमाल) में अथवा उसके आसपास के निवासी जैनकवि **सिद्धर्षि** को संस्कृत में एक विलक्षण कथा लिखने का श्रेय देना उचित है । इस ग्रन्थ का नाम है—**उपमिति-भवप्रपञ्चकथा**, जो इसके सम्पादक डॉ० याकोबी की दृष्टि में भारतीय साहित्य में पूर्ण तथा विशुद्ध रूपकात्मक आख्यान है । सिद्धर्षि जैन थे और इस ग्रन्थ की समाप्ति उन्होंने ९०६ ईस्वी में की थी । इस ग्रन्थ की भाषा बोलचाल की संस्कृत है—सरल, सुबोध संस्कृत, जिसके समझने में सर्वसाधारण को विशेष क्लेश का अनुभव नहीं होता । उस समय में दोनों भाषाओं—संस्कृत तथा प्राकृत—का ग्रन्थ के माध्यम के निमित्त प्रचलन था, परन्तु प्राकृत-रचना में दक्ष होने पर भी संस्कृत में सिद्धर्षि की यह रचना उस युग में—१०वीं शती में—संस्कृत के प्रति सर्वसाधारण के विशेष आकर्षण की ओर संकेत करती है ।

सिद्धर्षि का कथन इसका स्पष्ट प्रमाण है[2]—इसके अन्तिम पद्य में संस्कृत में प्रचलित गद्य-लेखन की गूढ़ आलोचना है जिसमें अर्थ नितान्त गूढ़ रखा जाता था,

---

१. डॉ० स्पेयर के द्वारा सम्पादित, बुद्ध ग्रन्थमाला में, सेन्टपीटर्सवर्ग (रूस) १९०२-९ । इसका फेंच भाषा में अनुवाद भी है ।

२. संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः ।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता ॥ ५१ ॥

दीर्घ-वाक्यों का प्रयोग होता था तथा अप्रसिद्ध शब्दों का ही प्रयोग न्यायसंगत माना जाता था। इसलिए यहाँ व्यावहारिक सुबोध संस्कृत में कथा का प्रणयन ग्रन्थकार ने किया है।

सिद्धर्षि ने प्राकृत में निबद्ध **'चन्द्रकेवलिचरित'** का संस्कृत में अनुवाद किया (९१८ ईस्वी) तथा किसी प्राकृत ग्रन्थ की 'लघुवृत्ति' नामक संस्कृत में व्याख्या भी लिखी जिसकी पुष्पिका में ये भट्टाचार्य तथा प्रौढ़ दार्शनिक बतलाये गये हैं। (कृतिरियं जिन-जैमिनि-कणभुक्सौगतादिदर्शनवेदिनः सकलग्रन्थार्थनिपुणस्य श्रीसिद्धर्षेर्महाचार्यस्येति।)

'उपमिति-भव-प्रपंच' कथा रूपक शैली में लिखा गया एक बृहत् संस्कृत काव्य है जिसे काव्यात्मक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। इस बृहत् काव्यग्रन्थ में जीव के संसार में परिभ्रमण का तथा नाना कष्टों के सहन का चित्रण रूपक कथाओं के द्वारा किया गया है। इसमें आठ प्रस्ताव हैं, जिनमें दिखलाया गया है कि सांसारिक प्रपंचों में फँसे हुये जीवों का उद्धार जैनधर्मानुसारी रत्नत्रयों से, अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र से ही सम्भव है। कवि ने अपने उद्देश्य को समझाने के लिए विस्तृत रूपकों की सहायता ली है। उदाहरणार्थ द्वितीय प्रस्ताव में संसार के नाटक रूप का चित्रण बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। महामोह इस नाटक का सूत्रधार है; काम नामक विदूषक नाना प्रकार की चेष्टायें—हावभाव कटाक्ष आदि से युक्त चेष्टायें करता है। राग तथा द्वेष नामक दो मृदंग हैं, जिनका बजाने वाला 'दुष्टाभिसन्धि' नामक नट है आदि आदि। (पृ० ५१) शुभपरिणाम नामक राजा के राज्य का वर्णन तृतीय प्रस्ताव में है। अनुष्टुप् छन्दों में यह समग्र काव्य रचा गया है। कवि का तात्पर्य कथानक के विस्तृत वर्णन में है। इसलिए वह सुबोध भाषा का प्रयोग कर अपने भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतया सफल रहा है।

जयशेखरसूरि का प्रबोधचिन्तामणि—महत्त्वपूर्ण और रोचक रूपकात्मक प्रबन्ध है। ग्रन्थकार ने इसे स्तम्भनक नरेश की राजधानी में विक्रम सं० १४६२ (१४०५ ई०) में इसकी रचना की। लेखक का कथन है कि भगवान् पद्मनाभ के शिष्य धर्मरुचि मुनि द्वारा निरूपित आत्मस्वरूप के चित्रण को आधार मानकर उसने इस प्रबन्ध में पल्लवित किया है। प्रबोधचिन्तामणि में सात अधिकार (अध्याय) हैं, जिनके वर्ण्य विषय क्रमशः ये हैं—(१) परमात्मा का स्वरूप, (२) पद्मनाभ और धर्मरुचि मुनि का चित्रण, (३) मोह और विवेक की उत्पत्ति एवं मोह की राज्य प्राप्ति, (४) विवेक का

बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामपि भासते॥ ५२॥
उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते॥ ५३॥
न चेयमतिगूढार्था न दीर्घवर्गामिदण्डकैः।
न चाप्रसिद्धपर्यायैस्तेन सर्वजनोचिता॥ ५४॥

१. सं० डॉ० याकोबी द्वारा बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता तथा गुजराती अनुवाद एम० जी० कापडिया द्वारा प्रकाशित।

संयमश्री से पाणिग्रहण तथा राज्यलाभ, (५) काम का दिग्विजय, (६) विजय के लिए विवेक की मात्रा और (७) मोह तथा विवेक का युद्ध; विवेक का विजय और मोह का पराजय तथा परमात्मा का स्वरूपचित्रण। षष्ठ अधिकार में कलि के प्रभाव का निरूपण किया गया है और इसी प्रसंग में जैन-यतियों में विद्यमान परस्पर संघर्ष तथा वैमनस्य का भी संकेत है, जो आज भी उस समाज को दूषित कर रहा है। इस विषय को लेकर अपभ्रंश में रचना की गई है जिसमें वुच्चराय का 'मयणजुज्झ' (मदनयुद्ध) एक रोचक रूपकात्मक प्रबन्ध है। यह प्रबोधचिन्तामणि के एक शताब्दी पीछे की कृति है जिसका वास्तव रचना-काल १५८९ वि० सं० (=१५३२ ई०) है।

रूपकात्मक प्रबन्धों में **'मदनपराजय'**[1] अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके रचयिता **नागदेव** के देश-काल का यथार्थ परिचय उपलब्ध नहीं होता। अनुमान से इनके आविर्भावकाल का पता चलता है। इन्होंने पण्डित आशाधर के पद्यों का इसमें उपयोग किया है और पण्डित आशाधर की अन्तिम रचना 'अनागार-धर्मामृतटीका' का रचना काल १३०० विक्रमी संवत् है और इनकी अन्य रचना **'सम्यक्त्वकौमु ी'** की एक पाण्डु-लिपि १४३३ ईस्वी ही है। फलतः इनका समय चतुर्दश शती का मध्यभाग मानना उचित है 'मदनपराजय' की वर्णित वस्तु का उद्देश्य जिनराज के द्वारा मुक्तिकन्या का पाणिग्रहण है। भवनामक नगर के मकरध्वज नामक राजा का प्रधान सचिव मोह था। जब राजा को अपने सचिव से पता चला कि जिनराज मुक्तिकन्या से विवाह करने वाले हैं, तो बड़ा ही क्षोभ हुआ। वह स्वयं अपने कर्म, दण्ड, दोष, आसुव आदि नाना योद्धाओं के साथ उनसे युद्ध करने के लिए आया, परन्तु जिनराज के धर्मध्यान योद्धा के द्वारा मोह का संहार किया गया और अन्त में मकरध्वज भी पराजित हो गया। इसका समग्र वर्णन प्रतीक शैली में किया गया है। इसकी रचना-शैली पञ्चतन्त्र के समान गद्यपद्य-मिश्रित है। कुछ प्राचीन कवियों के प्रख्यात पद्य भी स्वीकृत किये गये हैं। पंचतन्त्र, हितोपदेश, यशस्तिलकचम्पू, प्रबोधचन्द्रोदय आदि प्रख्यात ग्रन्थों से पद्य आत्मसात् किये गये हैं और कहीं 'उक्तं च' के प्रतीक से उद्धृत प्राचीन पद्यों में हेरफेर भी किया गया है। मूल आख्यान से सम्बद्ध अवान्तर कथायें भी यहाँ दी गई हैं। भाषा व्याकरण की दृष्टि से उतनी शुद्ध नहीं है, असंगति अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है, परन्तु ग्रन्थ का महत्त्व कथानक की रम्यता, गम्भीरता तथा रहस्यवादिता पर है, जैनधर्मों के सिद्धान्तों का भी वर्णन प्रसन्नमयी शब्दावली में किया गया है। जैनधर्म के रूपकात्मक प्रबन्धों में 'मदन-पराजय' को उन्नत स्थान प्राप्त है।[2] इस प्रकार जैन कथाओं में हमें दोनों रूप उपलब्ध होते हैं—शुद्ध विवरणात्मक (कथा, कोश आदि) तथा शुद्ध रूपकात्मक (उपमितिभवप्रपञ्च-कथा, मदनपराजय, आदि)।

बौद्ध कथा-साहित्य

संस्कृत में बौद्ध कथाओं को सन्निविष्ट करनेवाले 'अवदान-साहित्य' की पृथक् सत्ता है। 'अवदान' (पाली उदान) का अर्थ है—महनीय कार्य की कहानी। यह ठीक जातकों

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ काशी से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित, १९४८ ई०।

२. विशेष द्रष्टव्य सम्पादक की भूमिका पृष्ठ ६८–९२। संस्करण वही।

के ढंग पर संस्कृत में विरचित नीतिप्रधान साहित्य है। जिस प्रकार पालिजात
भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म के शोभन गुणों का वर्णन करते हैं, उसी प्रकार 'अवदान
भी करता है। ऐसे ग्रन्थों में **'अवदानशतक'**[1] प्राचीनतम संग्रह है। इसमें उन शोभन
गुणों का वर्णन तथा तत्सम्बद्ध कहानियाँ हैं जिसमें बुद्धत्व की प्राप्ति का संकेत है।
किन्हीं कहानियों में पापाचरण करनेवाले व्यक्तियों की यातनाओं का वर्णन है। इसके
समय का अनुमान लगाया जा सकता है। 'दीनार' शब्द (रोमन 'दिनेरिअस') का
प्रयोग इसका रचना-काल प्रथम शतक बतलाता हैं, जब इन सिक्कों का प्रचलन भारत में
हो रहा था। इसका चीनी भाषा में अनुवाद तृतीय शतक में हुआ। अतः 'अवदानशतक'
की रचना द्वितीय शती में मानी जा सकती है। इसमें नीति का प्रतिपादन इतना अधिक
है कि साहित्यिक सौन्दर्य एक प्रकार से ढँक जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से **'दिव्यावदान'** भी विशेष रोचक तथा आकर्षक नहीं है। यह
हीनयान-सम्प्रदाय का मुख्यतः अनुयायी ग्रन्थ है और महायान के कुमारलात की कल्पना-
मण्डितिका का बहुत ही विस्तार से उपयोग करता है। फलतः प्रथम शती से प्राचीन
नहीं हो सकता। पूरा ग्रन्थ गद्य में है, परन्तु स्थान-स्थान पर गाथायें दी गई हैं, जो
छन्दोबद्ध ही नहीं, प्रत्युत खूब आलंकारिक हैं। भाषा साधारणतया विशुद्ध संस्कृत है,
परन्तु स्थान-स्थान पर पाली के सम्पर्क से नितान्त मिश्रित तथा भ्रष्ट भाषा का भी प्रयोग
मिलता है। आधुनिक भाषाशास्त्री इस ग्रन्थ की भाषा को संस्कृत से निष्पन्न भाषा
की एक अलग धारा मानते हैं। अशोक से सम्बन्ध रखनेवाली कथायें ऐतिहासिक तथा
मनोरंजक हैं, परन्तु उनके कहने का ढंग बिलकुल बेतुका, अस्त-व्यस्त तथा विशृंखल है।

१. डॉ० कावेल तथा नील द्वारा सम्पादित, कैम्ब्रिज, १८८६। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थमाला (दरभंगा) में प्रकाशित १९६२।

तृतीय खण्ड

दृश्य-काव्य

(१) मूल प्रवृत्ति
(२) नाटक की उत्पत्ति
(३) भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव
(४) संस्कृत रङ्गमञ्च
(५) नाटक का अभ्युदय
(६) रूपक के अन्य भेद

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्॥

(कालिदास)

[मुनि लोग नाट्य को देवताओं के लिए शान्त चाक्षुष यज्ञ मानते हैं। शिवजी ने उमा के द्वारा संयुक्त अपने अंग में इसे दो प्रकार से विभक्त किया, अर्थात् नाट्य-युक्त नृत्यों में ताण्डव शिवजी के द्वारा प्रयुक्त होता है तथा पार्वती के द्वारा 'लास्य' का प्रयोग होता है। नाटक में तीनों गुणों से उत्पन्न नाना-रसात्मक लोकचरित का दर्शन होता है। जगत् के प्राणी भिन्नरुचि अवश्य होते हैं, परन्तु नाट्य उनका नाना प्रकार से एक अद्वितीय आवर्जन का प्रकार है।]

दशम परिच्छेद

(१) मूल प्रवृत्ति तथा उदय

नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। नाटकों ने इस साहित्य को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे इसकी कीर्तिकौमुदी संसार भर में चमकने लगी है। जिस ग्रन्थ ने भारतीय साहित्य के सौन्दर्य को, कोमल कल्पना को तथा मनोहर रस-परिपाक को संसार के मनीषियों के सामने अभिव्यक्त किया वह महाकवि कालिदास के द्वारा रचित नाटक (अभिज्ञान-शाकुन्तल) ही था। काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। काव्य के आनन्द से वञ्चित रहनेवाले भी व्यक्ति नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसकी खोज में कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। काव्य श्रवण-मार्ग से हृदय को आकृष्ट करता है तथा अपना प्रभाव जमाता है, परन्तु नाटक नेत्र-मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु को देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता ही है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है, परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए नाटक की समता चित्र से की गई है[१]। जिस प्रकार चित्र भिन्न-भिन्न रङ्गों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नेपथ्य, साजसज्जा आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उनके हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक वामन ने इसीलिए काव्यों में रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किया है।[१] रूपक की श्रेष्ठता का एक और भी कारण है। काव्य की विशद रसानुभूति के लिए जिस कवित्वमय वातावरण की आवश्यकता होती है उसकी सृष्टि सभी नहीं कर सकते। वह तो कल्पना से प्रसूत होती है। इसलिए काव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है, परन्तु अभिनय में तो रसोपयोग की सकल सामग्री वेशभूषा, नाना प्रकार के परदों आदि संविधानों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिए वातावरण स्वयं उपस्थित हो जाता है। उसकी कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों के लिए भी काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है। इसीसे नाटक कवित्व की चरम सीमा माना जाता है—**नाटकान्तं कवित्वम्।**

नाटक का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वशाली है। भरत ने नाट्य को 'सार्ववर्णिक' वेद कहा है; क्योंकि अन्य वेद केवल द्विजमात्र के लिए उपयोगी तथा उपादेय होते हैं,

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्। वामन—काव्यालंकारसूत्र १।३।३०-३१।

परन्तु नाटच का उपयोग प्रत्येक वर्ण के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी एक ही प्रकार की अभिरुचिवाले लोगों के ऊपर नहीं होता, प्रत्युत यह सार्वजनिक मनोरंजन होने के कारण समाज के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय भी सीमित नहीं होता, प्रत्युत तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है[1]। यह शक्तिहीनों के हृदय में शक्ति का संचार करता है, शूरवीरों के हृदय में उत्साह बढ़ाता है, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करता है और विद्वानों में विद्वत्ता का उत्कर्ष करता है। नाटक है लोकवृत्त का अनुकरण[2]। इस विशाल विश्व के पट पर सुख-दुःख की जो प्रवृत्तियाँ अपना खेल दिखाया करती हैं तथा मानव-जीवन को सुखमय या दुःखमय बनाती हैं उन सबका चित्रण नाटक का अपना विशिष्ट उद्देश्य है। इसीलिए भरतमुनि का कहना है कि कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग अथवा कर्म ऐसा नहीं है जो इस नाटच में नहीं दिखलाई पड़ता[3]। इसीलिए कालिदास ने भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए नाटक को एक सामान्य मनोरंजन का साधन बतलाया है[4]। इस प्रकार आनन्द के साथ चरित्र को उदार बनाना, जीवन के स्तर को उदात्त तथा आदर्श बनाना नाटक का जागरूक उद्देश्य है।

दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का व्यवहार करना उचित है। रूपक दश प्रकार का होता है जिसका महत्त्वपूर्ण प्रकार 'नाटक' माना जाता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के भेद ये हैं—(१) प्रकरण, (२) भाण, (३) प्रहसन, (४) डिम, (५) व्यायोग, (६) समवकार (७) वीथि, (८) अंक, (९) ईहामृग। इनके सिवाय १८ प्रकार के उपरूपकों के भी नाम तथा लक्षण नाटचशास्त्र के ग्रन्थों में मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत का रूपक-साहित्य बड़ा विशाल, व्यापक तथा नानारूपात्मक है, परन्तु दुःख है कि इन सब प्रकारों के उदाहरण-रूप ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं।

प्राचीनता

संस्कृत-साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में हो चुकी थी। वैदिक युग में भी नाटच के अस्तित्व का परिचय हमें भली-भाँति चलता है। ऋग्वेद के सूक्तों से ज्ञात होता है. कि सोम-विक्रय के समय एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन था। वैदिक युग के कर्मकाण्ड पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में नृत्य तथा नाटच का प्रचार लोगों में अवश्य था। 'सोमक्रयण' का प्रसंग भी नाटकीयता से विरहित नहीं है, जहाँ सोम के बेचनेवाले शूद्र से सोम

---

१. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटचं भावानुकीर्तनम्। (नाटचशास्त्र १।१०४)

२. नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाटचमेतन्मया कृतम्॥ (वही १।१०९)

३. न तद् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाटचेऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥ (वही १।११४)

४. नाटचं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्। (कालिदास)

खरीदा जाता है। -'महाव्रत' में एक सफेद गोलाकार चर्मखंड के लिए शूद्र तथा वैश्य में संघर्ष होता है जिसमें वैश्य की ही विजय होती है। यह वर्णन प्रतीकात्मक है, जहाँ वैश्य आलोक का और शूद्र अन्धकार (काला) का प्रतीक है और इन दोनों का युद्ध सूर्य की प्राप्ति के घोर संघर्ष का द्योतक है। संहिता (वाजसनेयी ३०।४) तथा ब्राह्मण (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।२) में 'शैलूष' शब्द की उपलब्धि होती है जिसका अर्थ डॉ० कीथ ने गायक या नर्तक किया है, परन्तु इससे 'नट' की द्योतना मानने में भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं दीख पड़ती। नृत्य का वर्णन तो अनेक स्थलों पर होता है। कौषितकि-ब्राह्मण में नृत्य, गीति तथा संगीत मुख्य विद्याओं में परिगणित किये गये हैं। महाव्रत में वृष्टि के उदय तथा पशुओं की समृद्धि के लिए अग्नि के चारों ओर कुमारियों के नाचने का स्पष्ट वर्णन है तथा विवाह-समाप्ति से पूर्व अग्निदेव के सामने स्त्रियों के नृत्य का संकेत हमें मिलता है। इनका सामूहिक निष्कर्ष यही है कि वैदिक युग संगीतकला से जिस प्रकार परिचित था उसी प्रकार नाट्यकला से भी अभिज्ञ था। ऋग्वेद में अनेक सूक्त विद्यमान हैं जिनमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का आपस में कथनोपकथन है। इन्हीं सूक्तों को **'सम्वाद-सूक्त'** कहते हैं। इसमें नाटकीय अंश अवश्य विद्यमान है। सामवेद तो संगीत का आकर ही ठहरा। सामों का गायन भिन्न-भिन्न स्वरों में इतनी मधुरता के साथ किया जाता था कि श्रोताओं का हृदय आनन्द से आप्यायित हो उठता था। इससे स्पष्ट है कि नाट्य के विकास के लिए नृत्य, गीत, वाद्य आदि जिन आवश्यक उपादानों की आवश्यकता होती है उनकी सत्ता प्रचुर मात्रा में वैदिक युग में थी।

रामायण और महाभारत के युग में इस कोमल कला की ओर भारतीयों का ध्यान था, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। रामायण में 'शैलूष', 'नट' तथा 'नर्तक' का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया गया है। वाल्मीकि का कहना है कि जिस जनपद में राजा नहीं रहता उसमें कहीं 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न नहीं दिखाई देते[1]। रामायण युग में नाट्यकला के अस्तित्व के निःसन्दिग्ध प्रमाण मिलते हैं। रामायण में नट तथा नर्तकों के समाज, अर्थात् गोष्ठी और मनोरंजन का वर्णन मिलता है (अयोध्या ६७।१५ तथा ६९।३)। **'व्यामिश्र'** ऐसे नाटकों के लिए प्रयुक्त किया गया है जिनमें भाषाओं का मिश्रण रहता था (अयोध्या १।२७)। रामायण तथा महाभारत के 'कथावाचन' का अनेक उल्लेख भी मिलता है। सप्तम शती में सोमशर्मा नामक ब्राह्मण ने काम्बोज देश (आधुनिक हिन्द-चीन) में एक देवमन्दिर का निर्माण किया था तथा प्रतिदिन पाठ के लिए महाभारत की पोथी वहाँ रखी थी। 'हर्षचरित' में महारानी के 'वायुपुराण' के पारायण सुनने का स्पष्ट निर्देश है। साँची से प्राप्त मूर्तियों में कथकों के एक समूह का भी अस्तित्व मिलता है, जो नाचते थे और अपनी भावभंगी से तथा अंग-संचालन से अपने अभिनीत पात्रों के मनोविकारों को प्रकट करते थे। उस युग का 'भ्रूकुंस' (या भ्रकुंस, भ्रुकुंस) शब्द भी अपनी कहानी स्वयं कहता है। अमरकोश के अनुसार इसका प्रयोग 'स्त्री-वेषधारी नर्तक पुरुष' के लिए किया जाता था, जिससे स्पष्ट है कि पुरुष स्त्रियों का वेष सजाकर नाचते तथा अभिनय करते थे। महाभारत में भी 'नट', 'नर्तक',

---

१. नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः। (वा० रा० २।६७।१५)

'गायक', 'सूत्रधार' आदि का निर्देश मिलता है[1]। हरिवंश में नाटक के अभिनय की वि
चर्चा है। रामायण नाटक के अभिनय का प्रथमतः उल्लेख है। तदनन्तर 'रम्भाभिसार
कौबेर' नामक प्रकरण के अभिनय का वर्णन है। इस नाटक के अभिनेता यादव वंश
प्रख्यात व्यक्ति थे। इसमें नल-कूबर का अभिनय प्रद्युम्न, विदूषक का साम्ब, रावण
शूर तथा रम्भा का मनोवती नामक वारवनिता करती है (२।९३।२८-२९)। इ
स्पष्ट है कि उस युग में—तृतीय शती में—नाटक का अभिनय जनता को शि
का एक प्रमुख साधन था।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में **'शिलालि'** तथा **'कृशाश्व'** के द्वारा रचित नट
का उल्लेख किया है।[2] इससे सिद्ध होता है कि नाटकों का उस समय इतना प्रचार
कि नटों की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र सूत्रग्रन्थों की रचना होने लगी थी। पतञ्जलि
महाभाष्य में इस विषय की बड़ी ही उपादेय बातें संगृहीत हैं। 'कंसं घातयति' (क
को मारता है), 'बलिं बन्धयति' (बलि को बाँधता है) में प्रयुक्त वर्तमानका
क्रिया का समाधान करते हुए भाष्यकार ने उन नटों ('शोभनिक' या 'सौभिक')
उल्लेख किया है, जो प्रत्यक्ष रूप से सबके सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बां
हैं। यहाँ पतंजलि ने अपने समय में प्रचलित 'कंसवध' तथा 'बलिबन्ध' नामक ना
के अभिनय-प्रकार का स्पष्ट ही उल्लेख किया है। इनके नाम ही नहीं, प्रत्युत अभि
की ओर भी संकेत किया है। पतंजलि का कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वि
से पूर्व द्वितीय शतक में नाटकों का अभिनय जनता के मनोरंजन का एक अत्युत्तम त
सर्वप्रिय साधन था। कामसूत्र में वात्स्यायन (द्वितीय शतक) ने भी 'नागरक'
मनोरंजन का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मंदि
में समाज (उत्सव) के होने तथा उस समय बाहर से आये हुए नटों (कुशीलवों) के द्वा
अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है[3]। इन सब उल्लेखों से प्रमाणित हो
है कि वैदिक काल से लेकर विक्रम के समय तक नाटकों का प्रचलन इन देशों में था।
नटों की शिक्षा के लिए भी ग्रन्थ रचे गये थे। विक्रम के समय में हमारे आद्य नाटकका
कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से नाटकों की रचना एवं उनके प्रदर्शन की प्र
अविच्छिन्न रूप से इस भारतवर्ष में चली आ रही है। नाट्य-कला भारत की अप
निजी सम्पत्ति है, किसी बाहरी देश से उधार लिया हुआ धन नहीं है।

नाटक की उत्पत्ति

भारत में नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई? किन उपादानों को ग्रहण कर भार
नाट्य-कला का उदय हुआ? ये प्रश्न अत्यन्त जटिल हैं। विद्वानों ने इस विषय

---

१. आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायिकाः। (महाभा०, वनपर्व १५।१३)
२. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०।
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११।
३. पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाज
कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणमेषां दद्युः —(कामसूत्र)।

मीमांसा बड़ी छानबीन के साथ की है, पर उनमें से किसी का मत अभ्रान्त या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इसका कारण स्पष्ट है। नाटक समाज के लिए दर्पण के समान होता है। समाज एक प्रकार से टिकने वाली वस्तु नहीं है। समाज में नई विचार-धाराओं का प्रभाव ज्यों-ज्यों आता जाता है, नये भावों की ज्यों-ज्यों जागृति होती है, नाटक के रूप में भी वैसा ही परिवर्तन होता रहता है। आजकल भारतीय समाज की जो रूपरेखा है, उसके आधार पर जिस प्रकार प्राचीन समाज का स्वरूप निश्चय करना कठिन है, उसी प्रकार नाटक की वर्तमान स्थिति का अध्ययन कर उसके मूल कारणों को खोज निकालना भी नितान्त दुःसाध्य है। पश्चिमी विद्वानों ने इस विषय को खोज निकालने का पर्याप्त उद्योग किया। उन्होंने पाश्चात्य नाटक की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित भिन्न-भिन्न मतों को भारतीय नाटक की उत्पत्ति के विषय में लागू करने का यत्न किया है, परन्तु हमारी मान्य परम्परा के विरुद्ध होने के कारण ये मत सर्वथा ग्राह्य नहीं माने जा सकते। अतः इन विद्वानों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कर देना ही यहां पर्याप्त होगा।

डॉक्टर रिजवे नाटक की उत्पत्ति 'वीरपूजा' से सम्बद्ध मानते हैं। नाटक प्रणयन की प्रवृत्ति तथा रुचि मरे हुए वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखलाने की इच्छा से जाग्रत हुई। जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटक (ट्रेजिडी) का जन्म मृत पुरुषों के प्रति किये गये सम्मान की प्रक्रिया से हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष में भी नाटक वीरपूजा से ही उत्पन्न हुए। रामलीला तथा कृष्णलीला इस प्रवृत्ति तथा सिद्धान्त को पुष्ट करनेवाले आधुनिक उज्ज्वल दृष्टान्त हैं[१]।' यह मत योरोपियन विद्वानों को भी ग्राह्य नहीं है, क्योंकि आजकल के प्रचलित नाटकीय उत्सवों के आधार पर नाटक का मूल खोज निकालना साहस का काम है। इसलिये डॉक्टर कीथ ने नाटक की उत्पत्ति के विषय में एक नवीन मत की कल्पना की। उनके मत में प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के सामने मूर्तरूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ है[२]। महाभाष्य में निर्दिष्ट **कंसबध** नामक नाटक के अभिनय से इस मत को पुष्टि प्राप्त होती है। भाष्य में लिखा हुआ है कि कंस तथा उनके अनुयायी लोग काले मुख रखते थे। तथा कृष्ण की ओर उनके अनुयायी इस नाटक के अभिनय में रक्त मुख धारण करते थे। डॉक्टर कीथ का कहना है कि वसन्त ऋतु का हेमंत ऋतु पर विजय दिखलाना ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। कृष्ण की विजय उद्भिज जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीकमात्र है। इस विचित्र सिद्धान्त के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके उद्भावक को भी इस मत में विश्वास नहीं है। भारतीय ग्रन्थों में तो इसके प्रति संकेत भी कहीं नहीं है।

जर्मन विद्वान् डाक्टर **पिशेल** नाटक की उत्पत्ति **पुत्तलिका-नृत्य** (पपेट शो) से बतलाते हैं। इस नृत्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई और उनके मत से इस नृत्य का

१. Dr. Ridgeway—Drama and Dramatic Dances of non-European Races.

२. Theory of Vegitation Spirit. Keith—Sanskrit Drama pp. 45-48.

प्रचार अन्य देशों में भारत से ही हुआ। सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्दों का मूल अर्थ इस मत का पोषण अवश्य करता है। 'सूत्रधार' का मूल अर्थ है 'डोरे को पकड़ने वाला' और 'स्थापक' का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध पुत्तलिका-नृत्य से है। डोरी पकड़कर पुतलियों को नचाने वाला व्यक्ति 'सूत्रधार' कहलाता था। भारतीय नाट्य के प्रबन्धक को सूत्रधार कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य से हुई। इस मत में एक ही तथ्य है और वह यह है कि पुत्तलिका-नृत्य सबसे पहले भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ और यहीं से वह अन्य देशों में भी प्रचारित हुआ। परन्तु इस सामान्य नृत्य से रसभाव-संवलित नाटक की उत्पत्ति मानना नितान्त निराधार और प्रमाण-रहित है।

कुछ विद्वानों की सम्मति में नाटक की उत्पत्ति **'छाया-नाटकों'** से हुई। इस मत को पुष्ट करने के लिये छाया-नाटक के प्राचीन उल्लेख खोज निकाले गये हैं। डाक्टर पिशेल ही इसके उद्भावक हैं तथा इस मत के समर्थकों में डाक्टर **लूडर्स** एवं डाक्टर कोनो हैं। यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता; क्योंकि भारतवर्ष के छाया-नाटक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। **'दूतांगद'** नामक छाया-नाटक संस्कृत में अवश्य प्रसिद्ध है परन्तु वह न तो इतना प्राचीन ही है और न इतना महत्त्वपूर्ण ही। छाया द्वारा नाटक प्रदर्शन जैसे सीधे-सादे उपकरण से भारतीय नाट्य-कला का उदय मानना सर्वथा भ्रामक है।

कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति **'मे पोल नृत्य'**[१] से निश्चित किया है। पश्चिमी देशों में मई का महीना बड़ा ही आनन्द तथा उत्सव का होता है। उस महीने में एक स्थान पर एक लम्बा बाँस गाड़ दिया जाता है। उसके नीचे स्त्रियाँ तथा पुरुष साथ-साथ नृत्य किया करते हैं और इस तरह आनन्दपूर्वक दिन बिताते हैं। यह लोकनृत्य का एक नमूना है। पाश्चात्त्य विद्वान् नाटक की उत्पत्ति इसी मे-पोल से मानते हैं। भारतवर्ष में होनेवाला इन्द्रध्वज उत्सव ठीक उसी प्रकार का समझा गया है। विद्वानों ने इस मत को ध्यान देने के योग्य भी नहीं समझा है। इन्द्रध्वज उत्सव नैपाल आदि देशों में अभी तक प्रचलित है। उसका समय, उसके अन्तर्गत भाव तथा उसकी प्रचलित रूढ़ि सब इस मत के विरुद्ध हैं।

संवाद-सूक्त से नाटचोद्गम

अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटक की उत्पत्ति वेदमूलक मानते हैं। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिसमें एक से अधिक वक्ता हैं। उन सूक्तों को **'संवाद-सूक्त'** कहते हैं; क्योंकि अनेक व्यक्तियों का इसमें परस्पर का कथनोपकथन दृष्टिगोचर होता है। ऐसे संवाद-सूक्तों में 'पुरूरवा' तथा 'उर्वशी' का संवाद (ऋ० १०।८५) कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का आधार है, इस विषय में सन्देह करने के लिए अवकाश नहीं है। विद्वानों का कहना है कि इन्हीं संवाद-सूक्तों में नाट्य के बीज अन्तर्निहित हैं। कालान्तर में इन्हीं बीजों के अंकुरित होने से नाट्य-कला के विकसित होने के विषय में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ हैं :—

१. Shadow Play. Dr. Sten konow—Das Indische Drama. pp. 45-46.

(क) जर्मन विद्वान् डाक्टर श्रोदर का मत है कि संवाद-सूक्त गायन तथा नर्तन के साथ वस्तुतः अभिनीत किये जाते थे। ये स्वयं धार्मिक नाटक हैं जिनका अभिनय यज्ञ के विशिष्ट अवसरों पर नृत्य, गीति तथा वाद्य के उपकरणों के साथ याज्ञिकों द्वारा किया जाता था। आजकल बङ्गाल में जिन धार्मिक 'यात्राओं' का प्रचलन है वे इन्हीं नाटकों के विकसित रूप हैं।

(ख) डाक्टर हर्टल का मत है कि ये संवाद-सूक्त वस्तुतः गाये जाते थे और गाने के लिए एक से अधिक व्यक्ति रखे जाते थे; क्योंकि संवाद का प्रदर्शन एक व्यक्ति के द्वारा कथमपि नहीं हो सकता। उनके कथनानुसार इन्हीं सूक्तों में नाटक के बीज हैं।

(ग) डाक्टर कीथ इस मत में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि ये संवाद-सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं जिनका केवल 'शंसन' मात्र होता था। गायन का प्रयोग तो केवल सामवेद में होता है। इसीलिये सामगायन करनेवाले ऋत्विक् को उद्-गाता कहते हैं और ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले ऋत्विज् को होता कहते हैं। ये संवाद-सूक्त अनेक प्रकार के हैं। कहीं तत्त्वों का विचार है, तो कहीं किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख है। मूलतः इनका विषय व्यावहारिक है और नाटकों के बीज सूक्तों में माने जा सकते हैं।

(घ) जर्मनी के कुछ मान्य विद्वान्—जिनमें डाक्टर विण्डिश, ओल्डेनवर्ग और पिशेल मुख्य हैं—इन संवाद-सूक्तों के स्वरूप का वर्णन कुछ नये ढंग से ही करते हैं। उनकी सम्मति में ये संवाद-सूक्त गद्य-पद्यात्मक थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मंजुल होने से अवशिष्ट रह गया है, परन्तु गद्यभाग केवल वर्णनात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। इसे वे लोग **'आख्यान'** के नाम से पुकारते हैं। नाटक में जो गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है वह पिशेल की राय में इन्हीं संवाद-सूक्तों के अनुकरण पर है। डाक्टर **ओल्डेनवर्ग** ऐतरेय-ब्राह्मण के 'शुनःशेप' उपाख्यान तथा शतपथ-ब्राह्मण में आये हुए 'पुरूरवा-उर्वशी' की कथा को इन्हीं आख्यानों का अवशिष्ट रूप मानते हैं।

भरत-मत

नाटकोत्पत्ति के विषय में भारतवर्ष में कुछ कथाएँ परम्परा से चली आई हैं। इनमें सबसे प्राचीन वह प्रतीत होती है जो भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में मिलती है। यहाँ उसी का सारांश दिया जाता है। सांसारिक मनुष्यों को अत्यन्त खिन्न देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर ऐसे वेद के निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे वेद के अनधिकारी स्त्री-शूद्रादि सभी लोगों का मनोरंजन हो। यह सुनकर ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान कर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्व-वेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' नामक पंचम वेद की रचना की[1] और इन्द्र से कुशल प्रगल्भ देवताओं में इसका प्रचार करने को कहा। इन्द्र ने कहा कि देवता लोग नाट्य-कर्म में कुशल नहीं हैं। वेदों के मर्म जाने वाले मुनिजन इसका ग्रहण और प्रयोग करने में समर्थ हैं। अतः ब्रह्मा के कथनानुसार भरतमुनि ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी। यह प्रयोग

---

१. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ (नाट्यशास्त्र १।१७)

भारती, सरस्वती और आरभटी वृत्ति में शुरू हुआ। बाद में कैशिकी वृत्ति भी जोड़ी गई, जिसका प्रदर्शन स्त्री-पात्र के विना नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने अप्सराओं की कल्पना की। भरतमुनि इन सब वस्तुओं से सुसज्जित होकर ब्रह्मा जी के पास गए और आगे का प्रयोग पूछा। ब्रह्माजी के कथनानुसार इन्द्र के ध्वजोत्सव में इस नाट्यवेद का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। इस प्रयोग को देखकर देवता लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पात्रों को अनेक वस्तुएँ पारितोषिक रूप में दी। प्रयोग का विषय था इन्द्र-विजय। इस प्रयोग में देवों का उत्कर्ष और दैत्यों का अपकर्ष देखकर दैत्य अत्यन्त क्रुद्ध हुए और विघ्न करने लगे। इन्द्र ने इन विघ्नों को उत्पात जानकर अपनी ध्वजा से मार विघ्नों को जर्जर कर दिया और उसी से उस ध्वज का नाम 'जर्जर' पड़ गया। इन विघ्नों से बच रहने के लिये इन्द्र ने विश्वकर्मा को नाट्य-गृह बनाने की आज्ञा दी। इसके बन जाने पर स्वयं ब्रह्मा ने देवताओं की स्थापना की जिससे पात्रों तथा नाटक के प्रयोग की रक्षा हो। दैत्यों को सम्बोधित कर ब्रह्मा ने कहा कि यह नाट्यवेद देव और दैत्यों दोनों ही के लिये है। इसमें धर्म, क्रीडा, हास्य और युद्ध सभी विषय हैं। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्य में न हो (नाट्यशास्त्र १।११३)। नाट्य तो त्रैलोक्य के भावों का कीर्तन है। ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसका प्रदर्शन और प्रयोग इसमें नहीं किया जाता। जिस प्रकार यह प्रयोग देवताओं के विजय का सूचक है उसी प्रकार अन्य प्रयोगों में देवताओं की पराजय भी दिखायी जा सकती है। इतना समझाने पर किसी प्रकार दैत्य लोग शान्त हुए और नाटक निर्विघ्न होने लगा। पहला अभिनीत नाटक **'त्रिपुर-दाह'** नामक डिम तथा **समुद्र मन्थन** नामक समवकार था।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् नाट्य को वेद से आविर्भूत मानते हैं। सुखमय सत्ययुग में इसकी कल्पना थी ही नहीं। इसकी उत्पत्ति तो त्रेता में हुई, जब दुःखों का आविर्भाव जगतीतल पर हुआ। भारतवर्ष में आरम्भ से नाट्य के प्रयोग में स्वाभाविकता रही है। पुरुषों की भूमिका पुरुष ग्रहण करते थे और स्त्रियों की भूमिका स्त्रियाँ ग्रहण करती थीं। पुरुषों का स्त्री-भूमिका-ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। इस अस्वाभाविक प्रथा का निराकरण पाश्चात्त्य जगत् ने गत शताब्दी में ही किया है। नाटक की व्यापकता तथा प्रभावशीलता सर्वत्र स्वीकृत है। भरत के वर्णन से स्पष्ट है कि नाट्य की उत्पत्ति धर्मद्रोही दैत्यों के पराजय के वर्णन से सम्बद्ध है। नाटक के विकास में वैष्णव धर्म का विशेष हाथ है। पतंजलि ने जिन नाट्य-प्रयोगों का (कंसबध तथा वलिबन्धन का) उल्लेख किया है वे विष्णुचरित से सम्बद्ध हैं। नाटक में शौरसेनी की प्रधानता भी यही सूचित करती है कि नाटक के विकास में शूरसेन देश (मथुरा) में कृष्णभक्ति का विशेष प्रभाव था।

भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव

नाटक भारतीयों की प्रतिभा का विकास है अथवा इसे विकसित होने में ग्रीक देश की नाट्यकला भी कारणभूत है? इन प्रश्नों ने विद्वानों का ध्यान विशिष्ट रूप से आकृष्ट किया है। जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने प्रथमतः संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने की बात उठाई। इसका उत्तर डा० पिशेल ने इतना सयुक्तिक दिया कि कुछ दिनों तक

इसकी चर्चा दब सी गई। पुनः डा० विण्डिश ने इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा कर ग्रीक प्रभाव के स्वरूप को नई खोजों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। डा० वेबर का कहना है कि नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतने अल्प हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता। सिकन्दर नाटकों का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार में नाटकों का खूब अभिनय होता था। बैक्ट्रिया तथा पंजाब के ग्रीक राजाओं में नाटकों का खूब प्रचार था। इसीका प्रभाव संस्कृत नाटकों पर पड़ा। भारतीय प्रतिभा नवीन प्रभावों को आत्मसात् करने में नितान्त प्रवीण थी। अतः नाटक का विकास स्वतः अपनी प्रतिभा के बलपर नहीं हुआ, प्रत्युत ग्रीक नाटकों का अभिनय देखकर भारतीयों को इस दिशा में प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिली। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त उपेक्षणीय है। जिन आधारों पर ग्रीक प्रभाव का विशाल किला खड़ा किया गया है वह बिल्कुल लचर तथा एकदम दुर्बल है।

डा० विण्डिश का कहना है कि न्यू एटिक कामेडी[1] भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है। इस प्रकार के सुखांत नाटकों में समाज का विस्तृत चित्रण रहता है। ईसा के प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में रोम तथा भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। बेरिगाजा (आधुनिक भड़ौंच) इस रोमन व्यापार का प्रधान बन्दरगाह था। उज्जैनी में लिखित मृच्छकटिक के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ा है, परन्तु यह मत ठीक नहीं। इस न्यू कामेडी तथा संस्कृत नाटक का सम्पर्क और सादृश्य वस्तुतः बहुत ही कम है। रोमन नाटकों के समान संस्कृत नाटक अंकों में विभक्त हैं जिनके अन्त में प्रत्येक पात्र का निर्गमन अनिवार्य होता है, परन्तु यह विभाजन स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हो सकता है। मृच्छकटिक को तृतीय शतक की रचना मानकर उसे कालिदास से प्राचीन मानना कथमपि न्याय्य नहीं है। मृच्छकटिक तो न इतना पुराना है और न उसके कथानक तथा पात्र-विश्लेषण में कोई नवीनता ही है। भास का 'दरिद्रचारुदत्त' मृच्छकटिक का आधार है। इसकी वस्तु अन्य नाटकों से कथमपि भिन्न नहीं है। ऐसी दशा में ग्रीक प्रभाव की कल्पना केवल इसी प्रमाण के आधार पर करना अनुचित है।

संस्कृत नाटकों में यवन-स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। 'अभिज्ञान-शकुन्तल' के द्वितीय अंक में वनमाला-धारण करनेवाली धनुर्धारिणी यवनियाँ राजा दुष्यन्त की परिचारिका के रूप में चित्रित की गई हैं[2], परन्तु इस उल्लेखमात्र से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। रोमन भौगोलिकों ने स्पष्ट लिखा है कि रोम तथा भारत में गहरा व्यापार होता था जिसमें शराब, गानेवाले लड़के तथा सुन्दर दासियाँ रोम से भेजी जाती थीं। इन श्वेताङ्गी रोमन ललनाओं ने भारतीय राजा लोगों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया था। भारतीय राजन्य वर्ग उन्हें दासी बनाकर अपने महलों में रखते थे। इसी सामाजिक घटना के आधार पर संस्कृत नाटकों का यह वर्णन है। इससे ग्रीक नाटकों के प्रभाव पड़ने का समर्थन कदापि नहीं होता।

---

१. New Attic Comedy (240-260 B. C.).

१. **एसो बाणासनहत्थाहि जवनीहि वनपुप्फमालाधारिणीहि परिवुदो इदो एव आअच्छदि पिअवअस्सो (शाकुन्तल, अंक २)।**

जवनिका

भारतीय रङ्गमंच पर अभिनय के अवसर पर जिस परदे का प्रयोग किया जाता है उसके लिये अधिकांश विद्वज्जन 'यवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के आदिम अंश की समीक्षा कर यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धान्त बना लिया है कि भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी नाटकों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। वे ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त 'यवनिका' शब्द को,इस प्रसंग में अपने अशक्त भवन की दृढ़ नींव समझते हैं।

पहली बात ध्यान देने की यह है कि 'जवनिका' हमारे नाटचशास्त्र का विशिष्ट परिभाषिक शब्द नहीं, प्रत्युत लोकव्यवहार में प्रयुक्त होनेवाला साधारण शब्द है। 'अमरकोश' में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' (खेमा) को ढकनेवाले परदे के अर्थ में किया गया है। प्राचीनकाल में वस्त्रों से बने घरों का वर्णन मिलता है। 'अमर' ने ऐसे घर के लिये 'दूष्य' शब्द का प्रयोग किया है—"दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि" (अमरकोश २।१।१२०)।

'अमर' के टीकाकार क्षीरस्वामी ने वस्त्रवेश्म के लिए 'पटकुटी', 'पटकुड्य', 'गृहशालिनी' तथा 'स्थूला' शब्दों का व्यवहार होना लिखा है[1]। 'अमर' के दूसरे टीकाकार भानुजिदीक्षित (समय सत्रहवीं शती) ने इसी प्रसंग में 'कुटर', पटकुटी' तथा 'पटवास' शब्दों का उल्लेख किया है[2]। 'वस्त्रवेश्म' का प्रचलन प्राचीन काल में मुसलमानों के संसर्ग से पहले भी था। कालिदास इसके प्रचलन से परिचित हैं। उन्होंने 'रघुवंश' के पञ्चम सर्ग में इसका उल्लेख किया है (श्लोक ४१)। इस श्लोकस्थ 'उपकार्या' शब्द की 'मल्लिनाथी' टीका "उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु" से स्पष्ट है कि यहाँ कालिदास का कपड़ों के बने घरों से ही अभिप्राय है। इस उल्लेख से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'खेमा' (अंग्रेजी 'टेंट') बनाने तथा उसमें रहने का प्रचलन प्राचीन भारत में था और राजा लोग यात्रा में उसका उपयोग करते थे।

'जवनिका' का प्रयोग उस खेमे को ढकनेवाले परदे के लिये किया जाता था जिसे आजकल हिन्दी में 'कनात' कहते हैं। मल्लाह नाव की गति तीव्र करने के लिये गोनदण्ड (मस्तूल) के ऊपर जिस कपड़े का परदा बाँधते हैं उसके लिये भी 'जवनिका' शब्द का प्रयोग कोशों में किया जाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है 'ढकना', 'आवरण करना' और इसीलिये जवनिका का सामान्य अर्थ हो गया 'परदा', जो वस्तु किसी को ढककर उसे तिरोहित कर देती है।

परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'जवनिका' शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से है। 'जु' धातु धातुपाठ में परिगणित न होकर ३।२।१५० सूत्र (जू चङ्क्रम्य··) में महर्षि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इसका अर्थ है गति तथा वेग। अतः 'जवनिका' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होगा—वह आवरण, जिसमें दौड़कर लोग चले जायँ अथवा वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो, अर्थात् जो इधर-उधर हटाई जा सके। 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों का एक ही अर्थ होता है। इन दोनों में 'जवनिका' का

---

१. अमरकोशोद्घाटन; ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित, पूना ओरियंटल सिरीज संख्या ४३, पृष्ठ १५८।

२. रामाश्रमी, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ४०७।

प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय है, 'जवनी' का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही न्यून है, परन्तु आवरण के अर्थ में प्रयोग दोनों का ही होता है। 'जवनिका' का प्रयोग 'नाट्यशास्त्र' (५।११) 'दशरूपक' जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों, 'भर्तृहरिशतक' तथा 'शिशुपालवध' (४।५४) जैसे प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों तथा 'हरिवंश' (२।८८) और 'भागवत' (१।८।१९) जैसे पुराणों में समभावेन उपलब्ध होता है।

इन निर्देशों में से प्रथम दो में तो 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिये हुआ है और अन्तिम चार सामान्य परदे के अर्थ में। सर्वत्र जकारादि 'जवनिका' का ही प्रयोग मिलता है, यकारादि का नहीं। ऐसी दशा में परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग कथमपि न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। एक प्रबल प्रमाण और भी है। 'यवनिका' के पक्षपाती भी परदे के अर्थ में 'यवनी' शब्द का प्रयोग कथमपि न्याय्य नहीं मानते। 'यवनी' का अर्थ है यवन जाति की स्त्री, और इसी अर्थ में इसका प्रयोग कालिदास ने भी किया है (रघु० ४।६१), परन्तु परदे के अर्थ में 'जवनिका' के समान 'जवनी' का प्रयोग भी मिलता है और यह होना भी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। 'जवनिका' में स्वार्थे कन् की अधिकता है, परन्तु स्वार्थ में कन् के प्रयोग की सत्ता होने के कारण अर्थ में तनिक भी अन्तर नहीं है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी विख्यात 'आर्या-सप्तशती' में 'जवनी' का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार से किया है—

> व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम्।
> जवनी-विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति ॥

भारतीय नाटचकला पर यूनानी प्रभाव का पक्षपाती कोई भी विद्वान् इस आर्या में 'जवनी' के स्थान पर 'यवनी' का परिवर्तन कभी नहीं कर सकता। यदि 'यवनिका' का प्रयोग न्याय्य होता तो परिवर्तन सिद्ध करने में व्याकरण कभी व्याघातक न होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परदे के लिए उचित तथा प्रयुक्त शब्द 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

इस झमेले का गूढ़ कारण भी खोजा जा सकता है। राजशेखर का सुप्रसिद्ध 'सट्टक' 'कर्पूरमंजरी' है। समग्र रूप से प्राकृत भाषा में निबद्ध नाटिका को ही 'सट्टक' कहते हैं। इस सट्टक के अवान्तर अङ्कों के नाम हैं 'जवनिकान्तरम्'। मेरी समझ में इस नाम के संस्कृतीकरण ने ही विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। सट्टक में सब कुछ प्राकृत भाषा में है। तब अंक का यह नामकरण भी प्राकृत में ही निबद्ध होगा, यह कल्पना कुछ अनुचित नहीं है। वररुचि के 'आदेर्यो जः' (प्राकृतप्रकाश) सूत्र के अनुसार संस्कृत शब्दों का आदिम यकार प्राकृत में जकार हो जाता है। इसी नियम को ठीक-ठीक न समझने के कारण भ्रान्ति का उद्गम हुआ है। जब संस्कृत आद्य-यकार का प्राकृत में जकार होता है, तब प्राकृत का आदिम जकार संस्कृत में यकार हो ही जायगा। अतः 'जवनिकान्तरम्' का संस्कृत रूप होगा 'यवनिकान्तरम्', और इस प्रकार नाटकीय परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द विराजने लगा। भ्रान्ति यही है। 'आदेर्यो जः' नियम का विपर्यय संस्कृत में सर्वत्र उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों को 'जवनिकान्तरम्' के

संस्कृतीकरण ने धोखे में डाल दिया। कोशों में कहीं-कहीं गलती से 'यवनिका'[1] शब्द का ही निर्देश मिलता है। रामाश्रमी टीका में 'जवनिका' के स्थान पर 'यमनिका' पाठान्तर दिया गया है,[1] परन्तु अप्रयुक्त होने के कारण यह शब्द कथमपि मान्य नहीं हो सकता। इसकी व्युत्पत्ति किसी प्रकार अर्थ-सिद्धि में सहायक हो सकती है, परन्तु इस शब्द का प्रयोग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी दशा में 'यमनिका' को मान्यता प्रदान करना उचित नहीं।

इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यूनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव भी है। यवन देश में नाट्य के लिए परदे की चाल ही नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिये रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में ही दर्शकों के सुभीते के लिए किया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों में परदा ही नहीं था, तब भारतीयों के लिए उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊपर कहा गया है कि 'जवनिका' भारतीय नाट्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द नहीं, एक सामान्य शब्द है। यदि भारतीय नाट्यरचयिताओं में इसे यूनानी रंगमंच से लिया होता, तो वे इसे नाटकीय परदे के अर्थ में ही सीमित किये रहते, परन्तु वस्तुस्थिति इसके नितान्त विरुद्ध है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार अभिनय-कला में भी पर-मुखापेक्षी नहीं है। 'जवनिका' के लिए भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं। नाटकीय परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नहीं।

संस्कृत नाटकों की विशिष्टता

संस्कृत नाटक ग्रीक नाटक से इतने मौलिक अंशों में भिन्न हैं कि बाहरी प्रभाव उनके ऊपर कथमपि माना नहीं जा सकता।

(१) ग्रीक नाटकों के भेद हैं—सुखान्त नाटक (कामेडी) तथा दुःखान्त नाटक (ट्रेजिडी)। परन्तु भारतीय नाटक में इस वर्गीकरण का सर्वथा अभाव है। संस्कृत-साहित्य में सामान्यतः दुःखान्त नाटक हैं ही नहीं।

(२) संस्कृत नाटकों का परिमाण दूसरे साहित्य के नाटकों से बहुत ही अधिक है। अकेला मृच्छकटिक ग्रीक नाटचकार एसकिलस के तीन नाटकों के बराबर है।

(३) संस्कृत नाटकों की अपनी विशेषता है संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का मिश्रण। संस्कृत नाटक लोक के व्यवहार को दृष्टि में रखकर निर्मित हुआ है। उस युग में सामान्य जनता के बीच में प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी, परन्तु संस्कृत समझने की योग्यता प्रायः सब में पायी जाती थी। नायक तथा उच्चवर्गीय पात्र संस्कृत का ही प्रयोग करते थे, परन्तु स्त्रियाँ तथा निम्नवर्गीय पुरुष पात्र बोलने में प्राकृत का ही प्रयोग करते थे। इस प्रकार यह आवश्यक भाषा-मिश्रण भी हमारे नाटकों का वैशिष्टय है।

---

१. यमनिका इति वा पाठः। यमयति—यम उपरमे (भ्वा० प० अ०) ण्वुल् (३।३।१७) कन् (ज्ञापित ५।४।५)—रामाश्रमी (२।६।१२०)

(४) संस्कृत नाटकों के विभागों को 'अंक' कहते हैं। अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रंगमंच से चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेंच नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का अंकों में विभाजन एक नई वस्तु है, जो ग्रीक नाटकों में उपलब्ध नहीं होती। पाश्चात्य रूपकों में अंकों का विभाग रोमन लोगों ने आविष्कृत किया, परन्तु कोई भी विद्वान् कालक्रम में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण रोमन नाटकों का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर नहीं मानता।

(५) विदूषक की कल्पना भी एक निराली वस्तु है। उसके जोड़ का पात्र ग्रीक नाटकों में नहीं है। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्य-रस का उत्पादन ही नहीं है, प्रत्युत नायक को अनेक कार्यों में सहायता प्रदान करना भी है। मध्यकालीन यूरोपीय नाटकों में 'फूल' (मूर्ख)-नामक एक पात्र अवश्यमेव प्रयुक्त होता था, परन्तु वह निरा हास्य का उपादान होता था। इसके विपरीत हमारा 'विदूषक' बड़े ही काम का पात्र है। वह मित्र होने के नाते नायक के प्रणय-कार्यों में ही सहायता नहीं पहुँचाता, प्रत्युत वह उसे अनेक विपत्तियों तथा विषम परिस्थितियों से भी बचाता है। भारतवर्ष के राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। ऐसी दशा में राजा अनेक रानियों के साथ व्यव-हार की अनुकूलता में यदि कहीं चूकता था तो वह विदूषक से ही सहायता लेता था। फलत. हास्यरस का उत्पादक होने पर भी ब्राह्मण विदूषक हमारे नाटकों के लिए एक बहुत ही उपयोगी पात्र है तथा वह संस्कृत साहित्य के नाट्यकर्ताओं की नई सूझ का द्योतक है।

(६) संस्कृत नाटकों का आख्यान नितान्त मौलिक तथा पूर्णतया भारतीय है। वह रामायण, महाभारत, पुराण तथा बृहत्कथा आदि के ऊपर आश्रित रहता है। उसमें किसी प्रकार की विदेशी कथाओं का मिश्रण नहीं दीख पड़ता। इतना होने पर भी नाटकों की कथाओं में मौलिकता के लिए भी पर्याप्त अवकाश है—नवीनता की काफी गुञ्जाइश है। प्रकरण तथा प्रहसन आदि रूपकों की कथा कवि के द्वारा गढ़ी हुई रहती है। वह आँख मूँद कर प्राचीन कथाओं को ही नहीं लिखता, प्रत्युत अपनी परिस्थितियों की ओर भी दृष्टिपात करता है तथा अपने कथानक के लिए उन्हीं से सामग्री लेता है।

(७) **अन्वितित्रय का अभाव**—यूनानी नाटकों में तीन प्रकार की अन्वितियाँ (यूनीटीज) पाई जाती हैं। **(क) स्थानान्विति**—समग्र घटनायें एक ही स्थान पर घटित होती हैं। **(ख) कालान्विति**—समग्र घटनाएँ एक ही काल में (एक ही दिन के भीतर) घटित हो जाती हैं। **(ग) कार्यान्विति**—समग्र घटनाओं का एक ही उद्देश्य तथा प्रयोजन होता है जिसका सम्पादन और निर्वाह विभिन्न घटनाओं के द्वारा सम्पन्न होता है। अरस्तू का यह **अन्विति-त्रय** (थ्री यूनिटीज) का सिद्धान्त यूरोपीय नाटककारों में सर्वथा मान्य था, विशेषतः फ्रेंच नाटककारों को। वहाँ भी इसका विरोध हुआ, विशेषतः अंग्रेजी तथा स्पेनिश नाटककारों द्वारा, परन्तु भारत में **कार्यान्विति** को छोड़कर, जो नाटक में सर्वत्र उपादेय है, अन्य अन्वितियों का निर्वाह कथमपि नहीं होता। घटनाओं के लिए स्थानों का वैभिन्य है तथा काल का भी। उत्तररामचरित के प्रथम तथा द्वितीय अंकों के मध्य में बारह वर्ष का लम्बा काल व्यवधान-रूप से विद्यमान है। **कार्यान्विति** तो नितान्त आवश्यक होती है और इसीलिए उसका पूर्ण निर्वाह संस्कृत नाटकों में है। **निर्वहणसन्धि** में नाटक के भिन्न-भिन्न अंकों में प्रयुक्त घटनाओं का एक ही कार्य का सम्पादन विशेष आवश्यक होता है।

(८) कोरस का अभाव—यूनानी नाटकों में 'कोरस' का बड़ा ही विशिष्ट स्था[न] होता है। 'कोरस' का अर्थ एक साथ गाने तथा नाचनेवाले पात्रों की टोली है। [ऐसा] माना जाता है कि कोरस के नृत्य और गान से यूनान में ट्रैजिडी का जन्म हुआ, परन्तु धी[रे] धीरे संगीत का महत्त्व घटता गया और नाट्य-अभिनय का महत्त्व बढ़ता गया। [अर]स्तू के समय तक पहुँचते-पहुँचते संगीत की प्रमुखता नष्ट हो चुकी थी, किन्तु तब भी कोरस का अपना विशेष प्रयोजन था। कोरस घटनाओं और क्रियाओं की व्याख्या तथा आलोचना किया करता था। साथ ही साथ नृत्य और गान के द्वारा मनोरंजन का साधन भी प्रस्तुत करता था। इस प्रकार कोरस का प्रयोजन दो प्रकार का था। सामान्यतः वह रंगमंच के ऊपर नृत्य और गान प्रस्तुत करता था, जिससे दर्शकों का मनोरंजन तथा आकर्षण स्थायी बना रहता था। विशेषतः वह रंगमंच के ऊपर प्रदर्शित की गई घटनाओं की समीक्षा भी करता था जिससे दर्शकों को उन घटनाओं के नाटकीय मूल्य तथा महत्त्व का पूर्ण परिचय मिलता था। शेक्सपीयर ने भी अपने ऐतिहासिक नाटकों में, विशेषतः 'हेनरी पंचम' में कोरस की अवतारणा दी है। यद्यपि वे यूनानी नाटकों के प्रभाव से अपने को पृथक् रखते हैं, तथापि 'कोरस' को वह महत्त्वपूर्ण मानकर आदर्श दर्शक के रूप में उसकी अवतारणा करते हैं। इस प्रकार कोरस एक बहुत ही उपादेय तथा उपयोगी चरित्र प्राचीन यूनानी नाटकों में है। यदि भारतीय नाटककार यूनानी नाटकों से परिचय रखते, तो अवश्य ही वे भी कोरस को संस्कृत नाटकों में रखते, परन्तु ऐसा न होना यूनानी प्रभाव के अभाव का ही सूचक है।

(९) रङ्गमंच की स्थिति—यूनानी रंगमंच से भारतीय रंगमंच का अन्तर भी बहुत अधिक है। यूनान में नाटकों का अभिनय समस्त जनता के सामने होता था और इसलिए वे बाहर आकाश के नीचे खुली जगह पर किये जाते थे। उसके लिए किसी रंगशाला का निर्माण नहीं था, न कोई परदा था, जिसके उठाने गिराने की प्रथा हो। पात्र जनता को आकृष्ट करने के लिए ऐसे परिधान पहनते थे जिससे वे अपनी असली कद से बहुत ही ऊँचे दिखलाई पड़ते थे, परन्तु भारतीय नाटकों में ऐसा कभी नहीं होता था। आरम्भ काल से ही प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डपों में ही रूपक खेले जाते थे। बाहरी मैदान में रूपकों का अभिनय अधिक नहीं होता था। माननीय राजाओं की राजधानियों में तो रंगशालायें होती ही थीं, जिनमें चुने हुए सभ्यों के सामने नाटक खेले जाते थे। बौद्ध जातकों से पता चलता है कि छोटे-छोटे नगरों में ऐसे पंचायती मकान बनाये जाते थे जो स्थानीय लोगों के लिए मन्त्रणागृह का काम करते थे और साथ ही साथ उनमें प्रेक्षक[गण] भी कहीं बाहर से आकर अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। सप्तम शती में दण्डी ने भी ऐसे जनपदीय सभागृहों के लिए 'पञ्चवीरगोष्ठी' शब्द का प्रयोग किया है।

संस्कृत नाटकों की ये कतिपय विशेषताएँ हैं। इन पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत और यूनानी नाटकों में इतने तात्त्विक भेद हैं कि दोनों को स्वतन्त्र और एक दूसरे से अप्रभावित रचना मानना ही पूर्णतः न्यायसंगत प्रतीत होता है।[1]

---

१. **विशेष के लिए द्रष्टव्य**—Banerjee : Hellenism in Ancient India pp. 240-65.

सुखान्त रूपक का रहस्य

भारतीय नाटकों की यह महती विशेषता है कि वे सर्वदैव नियमतः सुखान्त ही होते हैं। नाटक के आरम्भ अथवा मध्य में कितनी भी दुःखद तथा करुणोत्पादक घटनायें प्रदर्शित की जायँ, उनका अन्त सदा सुखद, कल्याणकारक तथा मंगलसाधक ही होता है। इस वैशिष्टच के कारण आलोचकों ने भारतीय नाटककारों को अव्यावहारिक होने की तीव्र आलोचना की है, परन्तु यह समग्र विपरीत आलोचन भारतीय संस्कृति के मूल तथ्यों के अज्ञान से विजृम्भित है।

(१) भारतीय दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ़ मन्तव्य है कि संसार का यह भ्राम्यमाण चक्र अन्ततोगत्वा सौन्दर्य तथा आनन्द के उत्पादन में समर्थ होता है। मार्ग के नाना विघ्न, क्लेश तथा कष्ट उठाने का प्रसंग भले ही हमारे जीवन को दुःखद तथा क्लेशमय बनावे, परन्तु गन्तव्य स्थान—जीवन का उद्देश्य—सदा ही आनन्द का निकेतन होता है, सौन्दर्य की शीतल वायु जिसे सुखमय तथा मधुमय बनाती है। इसी आशा-वादिता से प्रेरित होकर भारतीय नाटककार नाटक के आदि को आशीर्वाद से आरम्भ करता है तथा अन्त में विश्वशान्ति के लिये प्रार्थना करता है। भारतीय जीवनदर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय संयोग संस्कृत नाटक को दुःखान्त होने से बचाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार संसार अव्यवस्थित घटनाओं का समुच्चय आपाततः प्रतीय-मान होने पर भी मूल में 'ऋत' की भावना से भावित होता है। इस संसार की जड़ में 'ऋत' विद्यमान रहता है—इसी 'ऋत' का उदय सृष्टि के आरम्भ में हुआ—"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत"। (ऋग्वेद १०।१९०) 'ऋत' का अर्थ है पूर्ण व्यवस्था; जागतिक घटनाओं का पूर्ण सामञ्जस्य। अतः यहाँ अव्यवस्थित घटनाओं की गुंजाइश ही नहीं है। भौतिक घटनाओं का संघर्ष जीवन का प्रयोजन ही नहीं होता, प्रत्युत वह मानव के आध्यात्मिक जीवन के साथ सम्बद्ध रहता है। फलतः भौतिक घटनाओं का संघर्ष अन्ततः आध्यात्मिक मूल्य रखता है, जो मानव को आध्यात्मिक जगत् में पहुँचा देता है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि जीवन के दुःख तथा क्लेश को आध्यात्मिकता की शिक्षा देने का एक साधन मानता है जिसका अन्त सदा सुखद तथा कल्याणप्रद ही होता है।

(२) कलात्मक दृष्टि से भी नाटक का सुखान्त होना ही उचित है। भारतीय दृष्टि से विशुद्ध कला मानवों में सात्त्विक भावों का उदय कराती है। कला का मुख्य प्रयोजन सत्यं शिवं तथा सुन्दरं का उदय है। कला अपने साधक को सत्य, शिव (मंगल) तथा सुन्दर की ओर ले जाती है। नाटक कला का विशुद्ध विलास तथा आनन्दमय अभिव्यक्ति ठहरा। अतः नाटक का आनन्दमय होना नितान्त उचित है। इन्हीं दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टियों को लक्ष्य में रखने से भारतीय नाटक सर्वदा 'सुखान्त' ही होता है।

(३) सुखान्त होना अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय कवि मानव-जीवन के दोनों पहलुओं से परिचित होता है—मानव के सुख तथा दुःख, राग तथा द्वेष, कुरूप तथा सुरूप का चित्रण नाटक को यथार्थवादी बनाने के लिए पर्याप्त है। भारतीय नाटक जीवन का एकांगी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता, वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा

सार्वभौम चित्रण रहता है। सुख के अंकन में भारतीय कवि जितना जागरूक रहता है दुःख के चित्रण में भी वह उतना ही तत्पर रहता है, परन्तु भारतीय संस्कृति का प्रभाव होने के कारण वह अपने नाटक को दुःखान्त होने से सदा ही बचाता है। इसका यह अर्थ कभी भी नहीं है कि भारतीय नाटक में दुःख का, मानवीय क्लेश का तथा कमजोरियों का चित्रण होता ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि उन भावों का भी चित्रण होता है और भरपूर चित्रण होता है, परन्तु कहाँ? नाटक के मध्य में ही, पर्यवसान में नहीं। भारतीय कवि जीवन के एकांग के प्रदर्शन में ही अपनी सरस्वती को चरितार्थ कभी नहीं मानता। भवभूति के उत्तर-रामचरित से बढ़ कर मानवक्लेश, वेदना तथा परिताप का चित्रण करनेवाला नाटक दूसरा हो नहीं सकता। प्रेम की मूर्ति और सौन्दर्य की प्रतिमा सीता के परित्याग करने से राम के हृदय में वेदना की जितनी गहरी धारा प्रवाहित होती है; उसका पूरा परिचय हमें उत्तररामचरित के तृतीय अंक से मिलता है। राम प्रजा के रंजन के निमित्त अपनी प्राणदयिता जानकी का परित्याग करते हैं, परन्तु वह हृदय में जानते हैं कि वह नितान्त विशुद्ध, पवित्र तथा दोष-रहित है। इस प्रकार निर्दोष होने पर भी प्रकृति-रंजन की वेदी पर कठोरगर्भा जनकनन्दिनी की बलि भवभूति के इस करुणोत्पादक नाटक की प्रधान वस्तु है। करुणोत्पादक घटनाओं के ऐसे चित्रण के कारण ही तो भवभूति करुणरस के महनीय आचार्य माने जाते हैं। फलतः उत्तररामचरित सुखद जीवन का चित्रण नहीं है, प्रत्युत वह रामसीता जैसे मान्य व्यक्तियों के सुखद जीवन की विषम परिस्थिति की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। ऐसी दशा में भवभूति पर कोई भी आलोचक पक्षपात का दोषारोपण नहीं कर सकता, तथापि कवि ने वाल्मीकि की दुःखान्त कथा का जो सुखान्त पर्यवसान प्रस्तुत किया है, वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यंजना है, भारतीय आशावादिता का एक मंजुल प्रतीक है, जो जीवन को पूर्ण सामंजस्यशील तथा मधुर बनाता है। संस्कृत नाटक का वह वैशिष्ट्य बाह्यकला से सम्बद्ध न होकर आन्तरिक दर्शन के ऊपर आश्रित है।

संस्कृत रङ्गमंच

भारतीय मनीषियों की प्रतिभा सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ ही साथ तत्तद् व्यवहार के विवरण देने में भी समर्थ रही है। नाट्य की उत्पत्ति जिस प्रकार भारतीय नाट्याचार्यों की सैद्धान्तिक प्रतिभा का विलास है,उसी प्रकार रंगमंच की रचना उनकी व्यावहारिक प्रतिभा का निदर्शन है। भारत में समग्र साधनों से परिपूर्ण रंगमंच का उदय उतना ही प्राचीन है जितना अभिनय का उदय। भरत मुनि ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ भरत-नाट्यशास्त्र में इन दोनों विषयों का प्राचीनतम आद्य विवरण प्रस्तुत किया। भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी प्रभाव का भ्रान्त आरोप करने वाले आलोचक आँख खोलकर देख लें कि भारतीय रंगमंच की सर्वाङ्गीण व्यवस्था, रमणीय सज्जा तथा वैज्ञानिक निर्मिति के साथ यूनानी रंगमंच की अनगढ़, अव्यवस्थित तथा ग्रामीण रचना की कथमपि तुलना नहीं हो सकती। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर बना हुआ है। भारतीय रंगमंच में अपनी एक सुस्पष्टता है जिसके कारण उसका प्रभाव बृहत्तर भारत (जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों) के रंगमंचों पर कभी पड़ा था तथा वह प्रभाव उसी रूप में आज भी देखा जा सकता है।

रंगमंच का प्राचीन संस्कृत नाम है—प्रेक्षागृह या रंगशाला। अपने जीवन के आरम्भ में भारतीय नाटक का अभिनय ठेठ आसमान के नीचे खुले मैदान में होता था जिसके देखने में किसी प्रकार का प्रतिवन्ध न था, परन्तु विघ्नों के उदय ने नाट्याचार्यों को बाध्य किया कि वे नाट्यप्रयोगों को खुले मैदानों से हटाकर बंद स्थानों में ले जायँ। भरत के कथनानुसार प्रथम अभिनीत नाटक **महेन्द्रविजय** था, जिसमें देवताओं की विजय तथा दानवों की पराजय दिखलायी गयी थी। पराजय के दृश्य दैत्यों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जगाने में समर्थ हुए। फलतः नाटक के अभिनय समाप्त होने से पहिले ही दैत्यों ने वह विघ्न उपस्थित कर दिया कि बलशाली देवों ने अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग कर ही बड़े धैर्य तथा बल से उनका प्रशमन किया, परन्तु इस कलह तथा विघ्न से नाटक-प्रयोग को सदा के लिये वचाने के हेतु ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह का निर्माण किया।

भरतमुनि के कथनानुसार प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह के नाट्यमण्डप तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों का परिमाण तथा उपयोग भिन्न-भिन्न हुआ करता था। इन तीनों प्रेक्षागृहों के नाम थे—(१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र, (३) त्र्यस्र। इनमें से **'विकृष्ट'** सबसे बड़ा होता था तथा देवताओं के ही लिए नियत किया गया था। इसका परिमाण १०८ हाथ होता था। इसके आकार का ठीक पता नहीं चलता है; सम्भवतः यह गोलाकार होता था। **'चतुरस्र'** तो स्पष्ट ही चौकोर रंगमंच था जिसकी लम्बाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ होती थी। यह मध्यम कहलाता था तथा राजाओं के लिए, सम्भवतः जनता के लिए भी, यह प्रेक्षागृह आदर्श माना जाता था। **'त्र्यस्र'** तिकोने ढंग का रंगमंच था जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। इसका उपयोग सम्भवतः छोटे-छोटे नाटकों के अभिनय के अवसर पर किया जाता था।

इन तीनों रंगशालाओं में 'चतुरस्र' या मध्यम प्रेक्षागृह आदर्श समझा जाता था। इसके वैशिष्ट्य के वर्णन के अवसर पर भरतमुनि की वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक पटुता का उज्ज्वल दृष्टान्त हमें होता है। आदर्श प्रेक्षागृह के चुनाव के अवसर पर तीन बातों पर विशेष दृष्टि रखी जाती थी। दर्शकों को रंगपीठ पर होनेवाले वार्तालाप (पाठ्य) तथा गायन (गेय) का श्रवण खूब अच्छी तरह होना चाहिए। नाट्य-प्रयोग में गीतियों का उपयोग दर्शकों के मनोरंजन के निमित्त ही किया जाता है। यदि श्रोताओं के कानों के लिए ये गायन अस्फुट ही बने रहे तथा पात्रों की परस्पर बातचीत स्पष्ट रूप से श्रुति-गोचर नहीं हुई, तो वे उस अभिनय का आनन्द नहीं उठा सकते। रंगमंच के विशाल होने में एक और भी हानि है और वह महती हानि है। अभिनयों में सात्त्विक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न अवस्था में, भिन्न-भिन्न रसों के अभिनय-प्रसंग के पात्रों के मुखमण्डल पर अभिनीत भाव अपना प्रभाव डालता है। इसका साक्षात्कार मध्यम परिमाण वाले प्रेक्षागृहों में ही उचित रीति से हो सकता है भरतमुनि के शब्दों में (नाट्यशास्त्र २।२३, २४)—

> यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टि-समन्वितः।
> स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्॥

यस्मात् पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत् ।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ॥

मध्यम रंगशाला ६४ हाथ की लम्बाई तथा ३२ हाथ की चौड़ाई वाली एक चौकोर शाला होती थी। इसका निर्माण शुभमुहूर्त में किया जाता था। जमीन को ठीक समतल तथा चौरस बनाने के लिये उसे हल से जोत कर ठीक करते थे। चारों कोनों पर चार प्रधान खम्भे लगाये जाते थे। दक्षिणपूर्व से आरम्भ कर इन स्तम्भों का नामकरण चारों वर्णों के नाम पर ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तम्भ, वैश्य स्तम्भ तथा शूद्र स्तम्भ होता था। रंगशाला के दो मुख्य भाग होते थे, जिसमें आधा भाग प्रेक्षकों के लिए निश्चित होता था तथा दूसरा आधा भाग रंगमंच के निमित्त सुरक्षित रहता था।

रंगमंच के सबसे पहले भाग का नाम था रंगशीर्ष, जो ८ हाथ लम्बा तथा ४ हाथ चौड़ा होता था। इससे आगेवाला भाग ठीक इतने ही परिमाण का होता था और नेपथ्य-गृह कहलाता था। रंगशीर्ष में अभिनय के रक्षक देवी-देवताओं की विशिष्ट पूजा होती थी तथा नेपथ्य-गृह तो स्पष्टतः पात्रों की वेशभूषा को सजाने तथा परिवर्तन के निमित्त पृथक् प्रयोग में आता था। रंगशीर्ष से नेपथ्य-गृह में आने के लिए दो दरवाजे बनाये जाते थे। नेपथ्य-गृह से आगे होता था रंगपीठ (१६ हाथ लम्बा × ८ हाथ चौड़ा) जिस पर पात्रों के द्वारा समग्र अभिनय दिखलाया जाता था। रंगपीठ से होकर नेपथ्य-गृह में जाने के लिए एक दरवाजा होता था और इसी का उपयोग पात्र अपने प्रवेश तथा निर्गम के लिए किया करते थे। एक बात ध्यान देने की है कि रंगपीठ के दोनों बगल में डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी (बरामदा) बनाई जाती थी। रंगशीर्ष के बनावट का जो विधान पाया जाता है उसके अनुसार इसे न तो कूर्मपृष्ठ (कछुये की पीठ की तरह) की तरह होना चाहिए और न मत्स्यपृष्ठ की तरह, बल्कि दर्पण के समान समतल तथा चिक्कण होना चाहिए[1]। कभी-कभी पात्र के प्रवेश की सूचना रंगपीठ पर नहीं दी जाती, प्रत्युत नेपथ्य-गृह से ही उसके विषय में सूचना दी जाती है। ऐसे पात्र के प्रवेश को 'चूलिका' कहते हैं (दशरूपक १।५५)।

नाट्यमण्डप पर्वत की गुफा के आकार का होना चाहिए। उसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं।[2] सम्भवतः ऊपरी खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनायें प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था। नाट्यमण्डप के दिवालों को नाना प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था, जो सामयकि तथा विषय से सम्बद्ध होने से नितान्त उपयुक्त होते थे। रंग-मंच की रचना विवात (विशेष हवादार) स्थान में नहीं होनी चाहिए, नहीं तो आवाज गम्भीर न होगी और न शब्दों की श्रुति ही ठीक-ठीक श्रोताओं को हो सकेगी।

१. कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च।
शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्षं प्रशस्यते ॥ (नाट्यशास्त्र २।७९)

२. कार्यं शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान् ॥ (वही २।८७)

दर्शकों के बैठने के स्थानों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की जाती थी। आजकल के सीढ़ीनुमा या गैलरी वाले आसन को अधिकांश आलोचक पश्चिमी नाटयकला की देन मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह भारतीय प्रतिभा का व्यावहारिक निदर्शन है। भरत मुनि ने गैलरी की ही व्यवस्था दर्शकों के निमित्त मान्य बतलाई है। दर्शकों के निवेशन, अर्थात् बैठने के स्थान सोपानाकृति (सीढ़ीनुमा, गैलरी) होते थे। जमीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं तथा इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। एक विशेष बात का ध्यान रखा जाता था कि बैठने के ये समग्र स्थान रंगपीठ से देखने योग्य होते थे (रंगपीठावलोक्य), अर्थात् निवेशनों की सजावट ऐसी होती थी कि कहीं भी बैठकर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भली-भाँति किया जा सके।

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः।
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम्॥

प्राचीन प्रेक्षागृह का यह निखरा रूप भारतीयों की निजी प्रतिभा का विलास है। यूनानी रंगशाला से इसकी तुलना करने पर इसकी सर्वाङ्गीणता तथा वैज्ञानिकता का पता लग सकता है। प्राचीन यूनान की रंगशाला एक साधारण सी वस्तु होती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में रंगपीठ के लिए एक ऊँचा स्थान होता था जिस पर वाद्यमण्डली (आरकेस्ट्रा) तथा एक दो पात्र बैठते थे। दर्शकों के लिए कोई व्यवस्था नहीं होती थी। अभिनय प्रायः पहाड़ के वगल में नीची जमीन पर होता था जहाँ दर्शक अपने बैठने के लिए ऊँचा नीचा स्थान खोज लिया करते थे। बहुत पीछे गैलरी बनी। रोमन काल में ही रंगपीठ के पीछे नेपथ्य-गृह के लिए भी विशिष्ट मकान बनाया गया तथा पूरे रंगमंच के सुव्यवस्थित प्रकार की योजना सम्पन्न हुई। यहं अनेक शताब्दियों के उद्योग तथा प्रयास का सुपरिणाम था, परन्तु भारतवर्ष में प्रेक्षागृह का निर्माण नाटयकला के प्रभातकाल में ही सम्पन्न हुआ और वह भी एक बार ही सर्वाङ्गीण सुव्यवस्थित रूप में। आधुनिक रंगशाला इस प्राचीन प्रेक्षागृह का ही विकसित रूप है जिसमें पश्चिमी नाटयकला से छोटी-मोटी चीजें नवीन परिस्थिति के अनुसार यत्र-तत्र निविष्ट कर ली गई हैं।

प्राचीन रंगपीठ यथार्थवादी था, परन्तु घृणा या उद्वेग के जनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। आजकल जिन दृश्यों का प्रदर्शन उचित माना जाता है उनमें से अनेक प्राचीन काल में वर्ज्य थे, जैसे रंगपीठ पर युद्ध का प्रदर्शन, भोजन, शयन आदि। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े, हाथी रंगमंच पर दिखलाये जाते थे। उस समय घास-फूस के बने पदार्थों को चाम से मढ़कर दिखलाने की प्रथा थी, इसका विशिष्ट नाम 'संधिमपुस्त' था[1]।

भरत के द्वारा निर्दिष्ट रंगमंच का एक उदाहरण रामगढ़ के समीप सीताबेंगा नामक गुफा में उपलब्ध होता है। इस गुफा में एक विचित्र रचना दृष्टिगोचर होती है जिसके

१. किलिञ्चवस्त्रचर्माद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः।
सन्धिमो नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटकसंश्रयः॥ (नाटयशास्त्र २३।७)

यथार्थ उद्देश्य के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। जानकार आलोचक इसे प्राचीन रंगमंच का ही एकमात्र उपलब्ध उदाहरण बतलाते हैं। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि पर्वत की गुफाओं का उपयोग संगीत, गायन तथा नृत्य के लिए किया जाता था। फलतः इस गुफा की विचित्र बनावट इसका स्पष्ट प्रमाण है कि रंगमंच के गाड़ने के लिए पत्थर में बने हुए छेदों को देखकर अनुमान लगाना सहज है कि यहाँ लकड़ी के बने हुए रंगमंच का प्रयोग भली-भाँति किया जाता था। प्राचीन रंगमंच का यही एक दुर्लभ दृष्टान्त है[1]।

भारतीय रंगमंच का प्रभाव बृहत्तर भारत के नाट्य-प्रयोग पर विशेष रूप से पड़ा है। बरमा, स्याम, कम्बोज, जावा, बाली, मलय आदि समस्त देशों के नाट्य तथा अभिनय के ऊपर भारतीय नाटकों का व्यवस्थित प्रभाव पड़ा है। कम्बोडिया की राजकीय रंगशाला **'राम-राम'** के नाम से पुकारी जाती थी। रचना के विषय में यह हमारी रंगभूमि के सदृश ही थी। इसके एक तरफ बिल्कुल खुला रहता था। रंगपीठ के पास ही पात्रों की वेषभूषा के परिवर्तन तथा सजावट के लिए नेपथ्यगृह की व्यवस्था होती थी। रामायण के अभिनय के अवसर पर ही समग्र पात्र पुरुष होते थे, नहीं तो स्त्रियाँ ही नटों की भूमिका में अवतीर्ण होती थीं। रंगशाला का एक विशेष प्रबन्धक होता था जो हमारे नाट्याचार्य के समान होता था। नटियों को सजाने, सिंखलाने तथा तैयार करने का भार राजमहल की किसी विशिष्ट शिक्षित महिला के ऊपर होता था। जावा के नाटक छायानाटक ही होते थे, जिन्हें 'वयंग' कहते हैं। इसके सात विभिन्न प्रकारों का वर्णन तथा विभाजन पाया जाता है। भारतवर्ष में 'पुत्तलिकानृत्य' के समान ही इनका भी प्रदर्शन किया जाता था। इन नाटकों के विषय तथा प्रकार के ही लिए जावा साहित्य भारतीय साहित्य का ऋणी नहीं है, प्रत्युत इनके अभिनय, प्रदर्शन तथा प्रयोग के भी लिए ऋणी है। इस प्रकार भारतीय रंगमंच अपनी वैज्ञानिकता, सुव्यवस्था तथा विपुल प्रभावशालिता के कारण विश्व की रंगशालाओं के इतिहास में अपना पर्याप्त महत्त्व रखता है।

ऊपर पृष्ठ ४७५ पर नाटक के वैशिष्ट्य के परीक्षावसर पर संस्कृत नाटक में कालैक्य तथा स्थानैक्य के अभाव की चर्चा सामान्यरीति से ही की गई है। वस्तुतः संस्कृत नाटक में ये दोनों इकाइयाँ पाई जाती हैं। नाट्यशास्त्र के आचार्यों का कथन है कि नाटक के एक अंक में प्रदर्शित घटनायें पाँच मुहूर्त से अधिक समय में घटित होनेवाली न हों। एक मुहूर्त ४८ मिनिटों का होता है। काल का यह परिमाण ऐसा है जिसमें बिना विश्राम किये तथा दैनिक कार्यों को बिना खण्डित किये एक अभिनेता अभिनय कर सकता है तथा दर्शक प्रदर्शन को देख सकता है।[2] यदि इससे अधिक समय वाली घटनाओं का प्रदर्शन अनिवार्य हो, तो उन्हें विभक्त कर दो अङ्कों में प्रदर्शित करना चाहिये अथवा कम महत्त्वपूर्ण अंशों को सूच्य दृश्य में दिखलाना चाहिये।

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—'दि थियेटर आफ हिन्दूज' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, पृष्ठ २१७–२२४, कलकत्ता (१९५५)।

२. द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र १८।२१ की अभिनवभारती, जिसमें एक दिवस का अभिप्राय मुहूर्तपञ्चक दिया गया है।

और सूच्य दृश्य में भी एक वर्ष से अधिक समय वाली घटनाओं के प्रदर्शन का निषेध है[1]। इसी प्रकार 'स्थान की इकाई' पर भी संस्कृत नाट्यकर्ताओं का आग्रह है। एक अङ्क में घटित होनेवाली घटनायें इतनी दूर पर न होनी चाहिये कि अभिनेता नियत समय के भीतर उस स्थान पर पहुँच ही न सके। यदि यह देशगत दूरी आवश्यकता से अधिक हो, तो उसे विभक्त कर दो अंकों में प्रदर्शित कर देना चाहिये। परन्तु यह नियम डिम आदि रूपकों के दिव्य पात्रों के लिए निश्चित नहीं है, क्योंकि दिव्य होने के कारण वे एक अंक के भीतर भी आकाशयान से दूर स्थित स्थानों की भी यात्रा उचित रीति से कर ही सकते हैं[2]। इस प्रकार स्थान की इकाई का सिद्धान्त भी संस्कृत नाटक के लिए मान्य होता है।

संस्कृत नाटकों में कार्य की एकता के विषय में विद्वानों में मतभिन्नता नहीं है। कार्य यहाँ साधनमात्र होता है, साध्य नहीं। यह एकता दो प्रकार से लक्षित होती है—अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी एकता का तात्पर्य है कि समस्त कार्य के अवयव स्थायीभाव से सम्बद्ध होकर उसे अग्रसर करनेवाले होते हैं। बहिर्मुखी एकता बाहरी घटनाओं का तर्कसंगत परस्पर सामञ्जस्य प्रदर्शित करती है।

रसान्मेष के ही नाटक का प्रधान लक्ष्य होने के कारण यह द्वैविध्य यहाँ लक्षित होता है। यूनानी नाटकों में कार्य ही साध्य होने के कारण द्वितीय प्रकार ही विशेष लक्ष्य होता है।[3]

---

१. अंकच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्ष-सञ्चितं वापि
तत् सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्।—नाट्यशास्त्र

२. यः कश्चित् कार्यवशात् गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम्
तत्राप्यङ्कच्छेदः कर्तव्यः पूर्ववत् तज्ज्ञैः॥
डिमादिनायकस्यतुदिव्यस्य आकाशयानादिना सर्वं युज्यते॥

३. विशेष द्रष्टव्य डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय—स्वतन्त्र कला-शास्त्र पृ० ४११-४१३ (चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७)।

एकादश परिच्छेद

नाटक का अभ्युदय

(१) भास

प्रसिद्धि तथा प्राचीनता

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में सूत्रधार[1] के मुख से स्पष्ट ही प्र
करवाया है कि प्रख्यात कीर्तिवाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों
छोड़कर कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यों हो रहा है ? इस प्रश्न से
तरह मालूम पड़ता है कि कालिदास के समय में भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय
कालिदास के परवर्ती कवियों ने भी भास के रूपकों का अतिशय आदर किया। बा
भट्ट का कहना है कि भास ने सूत्रधार (नाटक का मैनेजर तथा कारीगर) से आर
किये गये, भूमिका (पार्ट और आङ्गन) वाले तथा पताका (नाटक की मुख्य अवा
घटना तथा ध्वजा) से सुशोभित मंदिरो के समान अपने नाटकों से खूब ही यश पाया
राजशेखर ने भी भास के नाटकों को अग्नि-परीक्षा तथा स्वप्नवासवदत्त के न जलने
बात लिखी है[3]। राजेश्वर ने दशम शती के आरम्भ में भास के एक मान्य नाटक
नाम का प्रथम उल्लेख किया और यह उल्लेख बड़े ही महत्त्व का है। इससे स्पष्ट
कि प्राचीनकाल में सर्वसाधारण में भास के नाटकों का खूब प्रचार था। भास का
विशाल नाटक-चक्र था जिसमें स्वप्नवासवदत्त प्रमुख था।

इधर १९१२ ई० में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने स्वप्नवासवदत्त आदि
नाटकों को अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित कर उन्हें प्राचीन भास की असंदिग्ध रच
माना है, परन्तु संदेहवादियों का कहना है कि इस नाटक-चक्र का केवल 'स्वप्नवासवदत्त
ही भासकृत हो सकता है, क्योंकि राजशेखर के पूर्वोक्त निर्देश के अतिरिक्त आचार्य अभि
ने अपनी 'अभिनव-भारती' में इस रूपक का उल्लेख किया है।[4] परन्तु अन्य रूपकों
भासकृत मानने में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है। स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा

---

१. "प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमान
कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः"—मालविकाग्निमित्र।

२. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥ (हर्षचरित)

३. भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

४. क्वचित् क्रीडा यथा वासवदत्तायाम्।

५. शारदा (संस्कृत पत्रिका) प्रथमवर्ष की पहिली संख्या।

सम्मति में कुछ नाटकों के कतिपय अंश भासरचित अवश्य हैं, किन्तु समग्र नाटकों की रचना भास ने नहीं की। किसी केरल कवि ने भास के उपलब्धांशों की पूर्ति कर दी है। अत एव इन नाटकों को भासकृत मानना समुचित नहीं है। डाक्टर बार्नेट[1] भी इन नाटकों के रचयिता को प्रसिद्ध भास मानने को उद्यत नहीं हैं। कतिपय भारतीय विद्वान् केरल देश में ही इनकी उपलब्धि होने से कुछ संदेह कर रहे हैं। वे इसे भासनिर्मित न मानकर किसी केरलीय नाटककार की रचना समझ रहे हैं, परन्तु कुछ प्रमाण[2] नीचे दिये जाते हैं, जो इन नाटकों को भासप्रणीत सिद्ध करने में अमूल्य सहायता देंगे।

यद्यपि 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक ही भास की एकमात्र रचना साधारण रीति से जान पड़ती है, तथापि प्राचीन काल में भास के एक से अधिक रूपकों के होने का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। बाणभट्ट के पूर्वोद्धृत 'सूत्रधार-कृतारम्भैर्नाटकैः' पद्य में प्रयुक्त बहुवचनान्त 'नाटकैः' पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सातवीं सदी में भास के नाम से अनेक नाटक प्रचलित थे। राजशेखर ने तो भास के 'नाटकचक्र' का स्पष्टतः उल्लेख किया है। अभिनव गुप्त ने 'स्वप्न नाटक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' का उल्लेख किया है। वामन ने 'प्रतिज्ञानाटिका', 'चारुदत्त' तथा 'स्वप्न-वासवदत्ता' से कतिपय पद्यों को 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' में उद्धृत किया है। भामह ने भी प्रतिज्ञा-नाटक की वस्तु—कृत्रिम हस्ती के द्वारा वत्सराज की छलना—की आलोचना भामहालंकार में की है। 'प्रतिज्ञा' के एक प्राकृत अंश का संस्कृत अनुवाद भी उनके पद्यों में पाया जाता है[3]। इन सब प्रमाणों पर दृष्टि रखते हुए कहना पड़ता है कि प्राचीनकाल में भास की खूब प्रसिद्धि थी तथा उनके अनेक नाटकों का प्रचार सर्वत्र था।

यदि इस नाटकचक्र की संस्कृत तथा प्राकृत भाषा पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध होगी। विद्वानों का कहना है कि इसकी प्राकृत कालिदासीय प्राकृत से भी प्राचीन है। कुछ ऐसे प्राकृतरूप मिले हैं, जो अश्वघोष के नाटक तथा अशोक के शिलालेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते। स्वीकृत्यर्थक 'आम्' का प्रयोग केवल पाली भाषा में ही पाया जाता है तथा कतिपय पुंल्लिग शब्दों के बहुवचनान्त रूप 'आनि' प्रत्यय जोड़कर इन नाटकों में बनाये गये हैं। यह रूप अति प्राचीन है, क्योंकि यह अश्वघोष के नाटक तथा अशोक की धर्मलिपियों में ही डाक्टर लूडर्स के द्वारा ढूंढ़ निकाला गया है। पीछे इन रूपों का अस्तित्व मिलता ही नहीं। यह तो हुई नाटकों की प्राकृत की कथा। इनकी संस्कृत के विषय में भी पूर्वोक्त सिद्धान्त अतिशय सत्यता से प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें ऐसे अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिनकी उपलब्धि केवल रामायण तथा महाभारत में ही प्रचुरता से होती है, अन्यत्र नहीं। इससे इनकी भाषा की दृष्टि से प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

---

१. **देखिये** Bulletin of School of Oriental Studies pp. 233 **तथा** J. R. A. S. 1919 p. 587.

२. Thomas—Plays of Bhasa. J.R.A.S. 1922 p. 79.

३. **इन उल्लेखों के लिए म० म० गणपतिशास्त्री कृत स्वप्नवासवदत्त नाटक की भूमिका देखिये।**

भास का प्राचीन उल्लेख

संस्कृत साहित्य में कतिपय विशेषण भास के लिये प्राचीन कवियों ने व्यवहृत कि हैं। यदि इन विशेषणों के अनन्तशयन में प्रकाशित ग्रन्थावली के कर्ता के विषय में व्यवहृत होने का कारण मालूम हो तो इन्हें भासकृत मानने में अधिक संशय न होगा।

(क) संस्कृत नाटकों का साधारण नियम है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवे होता है, परन्तु इन नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से आरम्भ न होकर सूत्रधार के द्वारा आरम्भ किये गये हैं। यह विशेषता भास के नाटकों में पा जाती थी, जिसका स्पष्ट उल्लेख बाणभट्ट ने 'सूत्रधारकृतारम्भैः' विशेषण के द्वारा स्प किया है। यह विलक्षणता उन्हें संस्कृत के अन्य नाटकों से पृथक् करती है। इसका इ रूपकों में पाया जाना भास की रचना होने का स्पष्ट प्रमाण है।

(ख) वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत महाकाव्य[1] में भास को 'जल मित्ते'—ज्वलनमित्रम्, अग्नि का मित्र—कहा है। कतिपय विद्वानों की सम्मति में वास दत्ता के जलने की झूठी खबर फैलाकर भास को नाटकीय वस्तु के विकास को दिखलाने का उचित अवसर मिला है। अतः अग्निदाह का उपयोग करनेवाले भास को ज्वलनमित्र कहा गया है। यदि यही कारण ठीक हो, तो उपलब्ध स्वप्नवासवदत्त के कर्ता भास ही होंगे; क्योंकि इसमें वासवदत्ता के अग्निदहन की वार्ता फैलाकर पद्मावती का विवा सम्पन्न कराया गया है जिससे मुख्य कार्य—राज्य-प्राप्ति—निष्पन्न हुआ है।

(ग) जयदेव ने भास को 'कविता-कामिनी का हास' माना है[2]। इस विशे से हास्यरस के वर्णन में भास की प्रवीणता प्रतीत होती है। उपलब्ध नाटकों में भी हास्य रस के प्रसंग अच्छे ढंग से दिखलाये गये हैं। इनमें हास्य के उद्धत तथा सुकुमार दोनें रूपों का समुचित वर्णन मिलता है। उद्धत हास्य के लिये 'प्रतिज्ञा' के विदूषक की श्लिष्ट भाषा पर ध्यान दीजिये तथा हास्य के सुकुमार रूप को देखने की अभिलाषा हो तो वासवदत्ता के औदरिक विदूषक पर दृष्टिपात कीजिए। दोनों रूपों का जीता-जागता चित्र आपके सामने आकर उपस्थित हो जायगा। कालिदास के ग्रन्थों में केवल सुकुमार हास्य के ही दर्शन होते है; उद्धत हास्य की प्रतिमा तो केवल इन नाटकों में ही दीख पड़ती है। अतः जयदेव का कथन इन नाटकों के कर्ता के विषय में भी पूरे तौर से घटता है। अत एव विद्वानों को इन प्रमाणों के आधार पर इन नाटकों को भासकृत मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

नाटकों का कर्तृत्व

इन समग्र नाटकों की भाषा, भाव, नाटकीय रचना-पद्धति आदि तथ्यों में इतना साम्य है कि ये एक ही लेखक की निःसंशय रचनायें हैं। अत एव इनके समानकर्तृत्व के

---

१. भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे तहावि रहुआरे
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो। (८०० गाथा)

२. भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः॥
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय॥ (प्रसन्नराघव)

विषय में किसी भी आलोचक को सन्देह नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि इनका कर्ता कौन है? आज तक इस विषय में प्रस्तुत मन्तव्यों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(क) भास को कर्ता मानना, (ख) इस मत के विरोधी लोगों का मत—कोई केरलदेशीय कवि ही रचयिता है, (ग) दोनों मतों के बीच मध्यमार्गी मत, जिसके अनुसार स्वप्न तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण के तो रचयिता भास ही हैं, परन्तु अन्य नाटक उनकी रचना नहीं है। प्रथम मत इन नाटकों के आविष्कर्ता महामहोपाध्याय गणपतिशास्त्री हैं, जिनका अनुगमन वेलवेलकर, याकोवी, जायसवाल, जाली, कीथ, कोनो आदि देशी तथा विदेशी विद्वानों ने किया है। द्वितीय मत का प्रथम प्रचार—महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा ने किया, जिनका अनुगमन डा० बार्नेट, कारपेंटियर, काणे, कुन्हन राजा, सिलवाँ लेवी, पिशरोटी, कुप्पूस्वामी शास्त्री तथा ऊलनर हैं, जो इन्हें भास की कल्पित रचनाएँ मानते हैं। तृतीय मत डा० विण्टरनित्स, सुखठणकर तथा डा० डे का है, जो मध्यमार्ग के मानने वाले हैं।

स्वप्नवासवदत्त नाटक के जो उदाहरण तथा विवरण रीतिग्रन्थों में आते हैं वे प्रकाशित पुस्तक में नहीं मिलते। प्राकृतभाषा के आधार पर भी कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। इस नाटक-चक्र को भास-कवि-कृत न कहकर केरलदेशीय कविकृत कहना अत्यन्त उपयक्त है। अब तो महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा जी का यह मत ही ठीक मालूम पड़ रहा है कि इन नाटकों के कुछ अंश भास कवि के हो सकते हैं, परन्तु केरल देश के किसी कवि ने इन्हें पूरा किया है। यही कारण है कि ये नाटक केरल के बाहर प्रसिद्ध नहीं हो सके। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ केरल में ही मिली हैं और केरल देश के ही नट लोग (जिन्हें चाक्यार कहते हैं) इनका अभिनय कर आज भी लोगों का मनोरंजन किया करते हैं। चाक्यार लोगों में यह प्रथा है कि वे किसी विशेष अवसर पर अभिनय के निमित्त बड़े नाटकों को छोटा भी कर देते हैं। सम्भवतः भास के बड़े नाटकों को उन्होंने संक्षिप्त बना दिया है। अतः इन रूपकों का कुछ अंश भास की रचना होने पर भी समग्र ग्रन्थ किसी केरल कवि की ही रचनायें हैं। यह कतिपय विद्वानों की मान्यता है, परन्तु पूरी सामग्री तथा प्रमाणों के अभाव में निर्णयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी अधिकांश आलोचकों की सम्मति को मानकर हम भी इन्हें भास की ही विशुद्ध रचना मानते हैं।

भास की रचना होने के कतिपय अन्य प्रमाण यहाँ उपन्यस्त किये जाते हैं—

(१) नाटचशास्त्र के अनुसार निर्मित नाटकों की आरम्भिक भूमिका 'प्रस्तावना' कहलाती है और उसमें नाटक तथा कवि का नाम होना नितान्त आवश्यक होता है, परन्तु इन नाटकों में प्रस्तावना के स्थान पर **'आमुख'** है और उसमें न नाटक का नाम है और न कवि का। यह विलक्षणता शास्त्रीय परम्परा के प्रचलित होने से निःसन्देह पहिले की है।

(२) नाटकों के आदि और अन्त प्रायः एक समान हैं। अनेक नाटकों के आदि में मुद्रालंकार के द्वारा पात्रों का अभिधान होता है और प्रत्येक नाटक में भरतवाक्य 'इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' ही है, या तत्सम अन्य कोई पद्य है।

(३) राजशेखर ने दशम शती के आरम्भ में 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक को भास-कृत सर्वोत्तम रूपक स्वयं बतलाया है और उपलब्ध नाटक के संविधानक द्वारा इस अभिधान की यथार्थता स्फुट रूप से प्रकट होती है ।

(४) प्राचीन ग्रन्थकारों के द्वारा इन नाटकों के कहीं नाम संकेतित हैं तो कहीं श्लोक उद्धृत किये गये हैं। प्राचीनतम आलंकारिक भामह ने 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' नाटक की मूल कथा की विस्तृत आलोचना ही नहीं की, प्रत्युत उसके एक प्राकृत पद्य को भी संस्कृत रूप से उद्धृत किया है। दण्डी ने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' पद्य के अलंकार की मीमांसा बड़े पाण्डित्य के साथ की है और यह पद्य बालचरित तथा दरिद्रचारुदत्त दोनों नाटकों में उपलब्ध होता है ।

(५) आचार्य अभिनवगुप्त (१० वीं शती) ने स्वप्नवासवदत्ता का नाम तथा उसके एक पद्य को उद्धृत किया है। अभिनवभारती (१।७१०८) में 'क्वचित् क्रीडा, यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्' कह कर जो निर्देश किया है वह छपे ग्रन्थ के द्वितीय अंक के नाट्यनिर्देश में मिलता है (पृ० ४०)। लोचन ने 'स्वप्न' नाटक से यह पद्य उद्धृत किया है—

सञ्चित-पक्षकपाटं नयनद्वारं स्वरूपतडनेन ।
उद्घाटच सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा ।।

यह पद्य तो छपे ग्रन्थ में नहीं मिलता, परन्तु सम्भव है कि यह पद्य अभिनवगुप्त के समय में मूलग्रन्थ में उपलब्ध रहा होगा ।

(६) इन नाटकों में संस्कृत के अनेक अपाणिनीय (आर्ष) प्रयोग मिलते हैं, जो इनकी प्राचीनता के स्पष्ट द्योतक हैं। इनकी प्राकृत कालिदास से पूर्ववर्तिनी सिद्ध होती है। साथ ही भास में कालिदास के समान लालित्य तथा सौन्दर्य का अभाव इनकी पूर्वभाविता का परिचायक माना गया है ।

(७) इनमें भरत के नाटचशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन न होना, निषिद्ध दृश्यों का भी रंगमंच पर अभिनय करना उस युग की ओर संकेत करते हैं, जब भरत का मान्य ग्रन्थ अभी पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हो सका था ।

इस विवेचन का निष्कर्ष यही है कि ये समस्त नाटक प्राचीन कवि भास की ही निःसंदिग्ध रचनाएँ हैं ।

समय-निरूपण

(१) डाक्टर बार्नेट इस नाटक-चक्र के 'कल्पित-भास' को सप्तम शताब्दी का केरलीय कवि बतलाते हैं, क्योंकि उसी समय में लिखे गये 'महेन्द्रवीरविक्रम (सप्तम शती) विरचित 'मत्तविलास' प्रहसन से इन नाटकों की भाषा तथा पारिभाषिक शब्द पूर्णतया समानता रखते हैं। 'राजसिंह' जिसका नाम भरत-वाक्यों में अधिकता से पाया जाता है, केरल देश का सातवीं सदी का राजा माना गया है, परन्तु भामह-द्वारा उद्धृत तथा बाण के द्वारा प्रशंसित होने से इनका समय अवश्य ही प्राचीन होना चाहिये। इन नाटकों के पारिभाषिक शब्द भी प्राचीनता के ही द्योतक हैं। तथा राज-सिंह को व्यक्तिवाचक नाम मानने में कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं है। अतः इस सिद्धान्त में भी विद्वज्जन आस्था नहीं रखते ।

(२) डा० लेस्नी, प्रिट्ज, बैनर्जी-शास्त्री, सुखणनकर आदि पश्चिमीय तथा पूर्वीय पण्डितों ने बाह्य परीक्षण को छोड़कर नाटकों की आन्तरिक परीक्षा की है—विशेपतः प्राकृतभाषा की विशिष्ट आलोचना की है। उससे वे निरूपण करते हैं कि भास कालिदास से पुराने हैं, परन्तु अवश्घोष से अर्वाचीन। भास के रूपकों में उपलब्ध प्राकृत शब्दों के रूप प्राकृत वैयाकरणों की सम्मति में अत्यन्त प्राचीन ठहरते हैं। यदि 'अस्मि' के अर्थ में भास ने 'ह्मि' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने 'म्हि' का। 'हमारे' अर्थ में भास ने 'अम्हअं' तथा 'अम्हाणं' का प्रयोग किया है; तो कालिदास ने नाटकों से केवल पहिले ही रूप का। 'अहम्' के लिए भास ने 'अहके' तथा 'अहं' का प्रयोग किया है, परन्तु कालिदास ने 'हग्गे' या 'हके' का। इसी प्रकार अश्वघोष की प्राकृत का विकास भास में दीख पड़ता है। इन विद्वानों की मान्यता के अनुसार कालिदास का आविर्भाव काल पंचम शतक था तथा वे अश्वघोष से पश्चाद्वर्ती कवि थे। इसीलिए वे लोग भास को इन दोनों कवियों के मध्य काल में मानकर उनका समय तृतीय शती मानते हैं। परन्तु इस मत का मौलिक आधार प्राकृत भाषा का तुलनात्मक समीक्षण उतना दृढ़ नहीं है कि उसके ऊपर आश्रित मत को पुष्ट माना जाय। जैसा ऊपर कहा गया है कि लिपिकारों ने प्राकृत के लिखने में उतनी सावधानी नहीं बरती है। फलतः उन लोगों की सम्भाव्य अशुद्धियों को किसी कवि की विशेषता मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता।

(३) नाटकचक्र के समय का निरूपण एक दुरूह व्यापार है। इन नाटकों के अन्तरंग तथा बहिरंग परीक्षण से हम समय का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं।

अन्तरंग परीक्षण

(क) इन नाटकों का आधार रामायण, महाभारत तथा लोककथा है। उदयन से सम्बद्ध नाटक ऐतिहासिक घटनाओं के ऊपर आश्रित हैं। उदयन तथा दर्शक छठी शती वि० पू० से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। रामायण तथा महाभारत का समय भी छठी शती के आसपास है। फलतः इन नाटकों के रचनाकाल के लिए छठी शती वि० पू० उपरितन अवधि है।

(ख) प्रतिमा नाटक में उल्लिखित विद्याओं का काल षष्ठ शतक वि० पू० से प्राचीनतर है। **मानवीय धर्मशास्त्र** (वर्तमान मनुस्मृति का मूलरूप) धर्मसूत्रकार गौतम के द्वारा निर्दिष्ट होने से ६ वीं शती वि० पू० से प्राचीनतर है। **बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र** महाभारत में निर्दिष्ट है और कौटिल्य के द्वारा अर्थशास्त्र में बहुशः स्वीकृत है। **मेधातिथि** का **न्यायशास्त्र** मेधातिथि-रचित मनुस्मृतिभाष्य नहीं है, प्रत्युत गौतमरचित प्राचीन न्यायशास्त्र है। **माहेश्वर योगशास्त्र** पातंजल योगशास्त्र से प्राचीन शैवसम्प्रदायानुसार कोई पुराना योगशास्त्र है। पाशुपत योग पातंजल योग से अनेक सिद्धान्तों में पार्थक्य रखनेवाला एक प्राचीन योगसम्प्रदाय है जिसका उल्लेख पुराणों में विशेषतः शिवपुराण में बहुशः किया गया है। 'प्राचेतस-श्राद्धकल्प' का अभी तक परिचय नहीं मिलता[1]।

---

१. भो काश्यपगोत्रोऽस्मि, साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रम्, माहेश्वरं योगशास्त्रम्, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।

(ग) प्रतिमा, अविमारक तथा स्वप्न में निर्दिष्ट राजवंश प्राचीन हैं, जो म तथा मौर्यवंश के समकालीन प्रतीत होते हैं। राजगृह का राजधानी रूप में और पाट पुत्र का एक सामान्य नगर के रूप में उल्लेख स्पष्ट सूचित करते हैं कि नाटककार ५ शती वि० पू० से बहुत पीछे नहीं है।

(घ) इन नाटकों में निर्दिष्ट सामाजिक दशाएँ अर्थशास्त्र तथा जातकों के स अपना सम्बन्ध दिखलाती हैं। जैसे प्रतिमा में उल्लिखित मन्दिरों के घेरे में डालने की प्रथा आपस्तम्ब (लगभग ५ म शतक वि० पू०) के ही ग्रन्थ में मिल है। देवकुल की स्थापना, जिसमें मरे हुए राजाओं की प्रस्तरमूर्तियाँ रखी जाती (जिसका उल्लेख अभिषेक नाटक में है) शैशुनाग राजाओं के युग की याद दिलाती है मथुरा में शैशुनाग राजाओं की पुरुषाकार मूर्तियाँ खोज में मिली हैं।

(ङ) भरतवाक्य में उल्लिखित 'राजसिंह' व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। हिमा से लेकर विन्ध्याचल तथा समुद्र पर राज्य करने वाले राजा का उल्लेख सम्भवतः न वंशीय नरेश की स्मृति में है।

इन बातों पर ध्यान देने से भास का समय चतुर्थ तथा पंचम शतक वि० पू० के बी में माना जाना उचित प्रतीत होता है।

बहिरंग परीक्षण

(क) बाणभट्ट (७वीं शती) ने भास के नाटकचक्र की विशिष्टता का पू परिचय दिया है।

(ख) वामन (८वीं शती) ने अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (४।३।२५) व्याजोक्ति के उदाहरण में यह पद्य उद्धृत किया है—

> शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
> काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्॥

यह पद्य स्वप्नवासवदत्ता (४।३) में मिलता है। केवल 'चन्द्रांशु' के स्थान पर 'शशांक' तथा 'कृतं' के स्थान पर 'मम' मिलता है। वामन ने चारुदत्त (१।२) तथा प्रतिज्ञा (४।२) के भी पद्यों का उद्धरण अपने ग्रन्थ (४।१।३, ५।२।१३) में किया है

(ग) शूद्रक (चतुर्थ शतक) ने अपने मृच्छकटिक का निर्माण भास के चारुदत्त नाटक के आधार पर ही किया है। दोनों की समानता आश्चर्य-जनक तथा व्यापक है

(घ) अश्वघोष (द्वितीय शतक) ने अपने 'बुद्धचरित' (१२।६०) में यह श्लोक लिखा है—

> काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम्।
> निर्बन्धिनः किञ्चन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्॥

जो भास के प्रतिज्ञा-नाटक (१।१८) से शब्दतः तथा अर्थतः साम्य रखता है।

(ङ) कालिदास का निर्देश प्रकट करता है कि उनके समय में भास एक नितान्त लब्धप्रतिष्ठ नाटचकार थे और इसी से दोनों के नाटकों में अनेक बातों में समानता मिलती है।

(च) कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१०।३) में दो श्लोक उद्धृत हैं 'तदीह श्लोकौ भवतः' कह कर। इनमें से दूसरा श्लोक प्रतिज्ञा (४।२) में भी उपलब्ध है जिसमें शूरों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने का प्रसंग है। वह पद्य नीचे उद्धृत है :—

नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत् तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत् ॥

कौटिल्य ने इस पद्य को अपने प्रसंग के लिए बहुत ही उपयुक्त पाया और इसीलिए संभवतः भास से ही उद्धृत किया। यदि यह पद्य किसी समृतिग्रन्थ का होता, तो वे अवश्य ही इसके पूर्व 'इति स्मृतौ' लिखते।

इस प्रकार बहिरंग परीक्षण के आधार पर भास को कौटिल्य (चतुर्थ शती वि० पू०) से प्राचीनतर होना चाहिए। दोनों प्रमाणों के बल पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि भास का समय पंचम शती या चतुर्थ शती वि०पू० मानना सर्वथा न्याय्य तथा उचित है।

ग्रन्थ

भास के नाटक विषयानुसार ५ श्रेणी में आते हैं—

(क) रामकथाश्रित—(१) प्रतिमा तथा (२) अभिषेक।
(ख) महाभारताश्रित—(३) पंचरात्र, (४) मध्यमव्यायोग, (५) दूतघटोत्कच, (६) कर्णभार, (७) दूतवाक्य, (८) उरुभंग।
(ग) भागवताश्रित—(९) बालचरित।
(घ) लोककथाश्रित—(१०) दरिद्रचारुदत्त और (११) अविमारक।
(ङ) उदयन-कथाश्रित—(१२) प्रतिज्ञायौगन्धरायण, (१३) स्वप्न-वासवदत्ता।

इनमें कतिपय नाटक—महाभारताश्रित रूपक—एक ही अंक में समाप्त हैं। अतः उन्हें **'एकांकी रूपक'** कहा जा सकता है। इन रूपकों का संक्षिप्त परिचय यहाँ इसी क्रम से प्रस्तुत किया जाता है।

(१) **प्रतिमा नाटक**—राम का वनवास, सीताहरण आदि अयोध्या-काण्ड से लेकर रावणवध तक की घटनाओं का वर्णन इस नाटक में किया गया है। इस नाटक से प्राचीन भारत में कला-विषयक नवीन वृत्तान्त का पता लगता है। प्राचीनकाल में राजाओं के देवकुल होते थे जिनमें मृत्यु के अनन्तर राजाओं की पत्थर की बड़ी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इक्ष्वाकुवंश का भी ऐसा ही देवकुल था जिसमें मृत नरेशों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। केकयदेश से आते समय अयोध्या के समीप देवकुल में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर ही भरत ने उनकी मृत्यु का अनुमान आप ही आप कर लिया। इसी कारण इसका नाम 'प्रतिमा-नाटक' है।

(२) **अभिषेक नाटक**—इसमें राम के राज्याभिषेक का तथा किष्किन्धा, सुन्दर और लंकाकाण्ड के कथानक का वर्णन किया गया है। इन दोनों नाटकों में बालकाण्ड को छोड़कर रामायण के शेष काण्डों की कथाएँ आ गई हैं।

(३) **पंचरात्र**—महाभारत की एक घटना को लेकर यह नाटक रचित है। द्रोण ने दुर्योधन से पाण्डवों को आधा राज्य देने के लिये कहा। दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की

कि पाँच रातों में यदि पाण्डव मिल जायेंगे तो मैं उन्हें राज्य दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न करने पर पाण्डव मिल गये और दुर्योधन ने उन्हें आधा राज्य दे दिया। यह घटना कल्पित है और महाभारत में नहीं मिलती।

(४) **मध्यमव्यायोग,** (५) **दूतघटोत्कच,** (६) **कर्णभार,** (७) **दूतवाक्य,** (८) **उरुभंग**—ये नाटक महाभारत की विशिष्ट तत्तत् घटनाओं से सम्बद्ध हैं। (९) **बालचरित**—कृष्ण के बालचरित से सम्बद्ध है। (१०) **दरिद्रचारुदत्त**—धनहीन, परन्तु चरित्रसंपन्न ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्राहिणी वारवनिता वसंतसेना का आदर्श प्रेम वर्णित है। (११) **अविमारक**—प्राचीन आख्यायिका का नाटकीय रूप है जिसका संकेत कामसूत्र में मिलता है। इस नाटक में अविमारक तथा राजा कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी के प्रेम का वर्णन किया गया है। प्रणय का चित्रण बहुत ही सुन्दर तथा सरस है।

(१२) **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**—कौशाम्बी के आखेट के प्रेमी राजा उदयन को कृत्रिम हाथी के छल से उज्जयिनी-नरेश महासेन ने पकड़ लिया। इस रूपक में उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने दृढ़ प्रतिज्ञा करके केवल राजा को ही बन्धन से नही छुड़ाया, बल्कि कुमारी वासवदत्ता का भी कपट से हरण कराया। मन्त्री की दृढ़-प्रतिज्ञा तथा कुटिल नीति का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।

(१३) **स्वप्नवासवदत्ता**—भास की नाट्यकुशलता का यह चूडान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञा' का उत्तरार्द्ध समझना समुचित होगा। राजा उदयन को अपने विरोधियों को परास्त करना है जिसके लिये मगध के राजा दर्शक की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। यौगन्धरायण दर्शक को ठगने के लिए वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाता है, परन्तु वास्तव में उसे दर्शक की भगिनी पद्मावती के पास वेश बदल कर रख जाता है। अनन्तर पद्मावती के साथ वत्सराज का शुभ-विवाह हो जाता है। स्वप्न में राजा वासवदत्ता को देखता है जिससे मिलने से उसकी हार्दिक अभिलाषा अत्यन्त बढ़ जाती है और उसे वासवदत्ता के जीवित होने में कुछ विश्वास जमने लगता है। वत्सविजय के अनन्तर राजा के सामने वासवदत्ता लाई जाती है और दोनों का पुनः आनन्द-मिलन होता है। चरित्र-चित्रण में भास ने अपनी नाट्यकला का अद्भुत चित्र खींचा है। शुद्ध तथा विशद प्रेम का ऐसा वर्णन किया है तथा नाटकीय घटनाओं की ऐसी मनोहारिणी संगति दिखलाई गयी है कि स्वाभाविकता सर्वत्र दृष्टि गोचर होती है। वास्तव में यह नाटक संस्कृत साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है।

भास की भाषा में एक विचित्र अनूठापन है। वाक्य हैं तो बड़े छोटे-छोटे, परन्तु उनमें विचित्र भाव भरा हुआ है। भास की कविता-कामिनी अपने स्वाभाविक पदविन्यास के लिये जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही अपने भावों के लिये भी, जो सामान्यतया अन्यत्र नहीं मिलेगें। इनकी कविता प्रशंसनीय सरलता तथा आदरणीय सुन्दरता से सर्वत्र व्याप्त है। भास मानव हृदय के विकारों के सच्चे पारखी हैं। बाह्य प्रकृति के भी सरल वर्णनों में इनकी योग्यता किसी से घटकर नहीं है। अलंकारों के चुनाव में उपमा तथा स्वाभावोक्ति पर ही विशेष स्नेह दीख पड़ता है।

भास की नाट्यकला

भास को मानव-जीवन के नाना क्षेत्रों को देखने तथा नाटकों में अंकित करने का अवसर मिला है। इसलिए उनके नाटकों में विविधता तथा बहुमुखता विशेषरूप से दृष्टिगोचर होती है। कुछ नाटक, जैसे स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञा आदि पूर्ण विकसित नाटक हैं, परन्तु मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार तथा उरुभंग केवल एक अंक के रूपक होने के कारण 'एकांकी' कहे जा सकते हैं। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है—अभिनेयता। ये समग्र नाटक रंगमंच के ऊपर बड़ी ख़ूबी के साथ दिखाये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि इन रूपकों में न तो कहीं वर्णन की अधिकता है, जो रूपक की अभिनेयता में विघ्न डालती है और न कहीं कथावस्तु का ही अनावश्यक विस्तार है, जो कार्यान्विति को रोकता है। ये सब रूपक नाटकीय दृष्टि से चुस्त, व्यवस्थित तथा सुसंगठित हैं। पात्रों का संवाद भी विस्तृत नहीं है; पात्र ठीक मतलब की बातें थोड़े-चुने हुए शब्दों में कहना पसन्द करते हैं। भास 'संवादतत्त्व' के विशेष मर्मज्ञ हैं। रूपकों में व्यापार की भी खूब प्रधानता है। इसीलिए भास के रूपक शास्त्र की दृष्टि से सरल, सुबोध तथा अभिनेय हैं।

कथावस्तु

भास ने रामायणीय रूपकों की कथावस्तु में विशेष नवीनता नहीं लाई है। वे प्रसिद्ध घटनाओं को नाटकरूप में रखनेवाले केवल सामान्य रूपक हैं। प्रतिमा नाटक में भास ने एक नवीन कल्पना को कथानक के परिबृंहण में लगाया है। 'देवकुल' की कल्पना उस युग की एक मान्य कल्पना थी, जब प्रत्येक राजा के महल में एक पृथक् मन्दिर प्रतिष्ठित था, जिसमें राजा की मृत्यु के अनन्तर उसकी पाषाणमूर्ति वहाँ स्थापित की जाती थी। यह भास की कोरी कल्पना नहीं है, प्रत्युत ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है। अजातशत्रु तथा बिम्बसार की पुरुषाकृति मूर्तियों से इस तथ्य की पर्याप्त पुष्टि होती है। भास ने विना किसी कारण के ही राम के द्वारा बाली का वध दिखलाकर उसे सदोष बना दिया है। बाली का रंगमंच के ऊपर मृत्यु दिखलाना भी नाट्य की प्रचलित प्रथा के सर्वथा विरुद्ध है।

महाभारत तथा कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों में संविधानक की नवीनता के कारण विशेष चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। भास ने महाभारत की कथा का बहुशः अनुसरण किया है अवश्य, परन्तु कहीं-कहीं वे नवीन सांविधानक भी खोज निकालते हैं। 'पंचरात्र' की कथा—द्रोण के कथनानुसार पाँच रातों में ढूंढ़ निकालने पर पाण्डवों को आधा राज्य दे देना—तथा दूतघटोत्कच का पूरा कथानक कवि की निजी कल्पना से प्रसूत है। 'कर्णभार' में कवि ने कर्ण के दानशील चरित्र का बड़ा ही उत्तम उपन्यास किया है। 'दूतवाक्य' में श्रीकृष्ण के चरित्र की महत्ता और दुर्योधन के चरित्र की हीनता बड़े कौशल से प्रदर्शित की गई है। 'उरुभंग' में भीम के द्वारा दुर्योधन को गदायुद्ध में परास्त करने तथा उसकी जंघा के चूर्ण करने का बड़ा ही विशद विवरण है। संस्कृत-नाटकों में 'उरुभंग' ही दुखांत नाटक का एकमात्र प्रतिनिधि है और यहाँ भी दुर्योधन की मृत्यु रंगमंच के ऊपर ही दिखला कर भास ने भरत के शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन किया है।

भास कवि कृष्ण-भक्त प्रतीत होते हैं और इसीलिए इनका 'बालचरित' कृष्णनाटकों में आद्य नाटक प्रतीत होता है। नाम के अनुसार ही श्रीकृष्ण की अनेक बाललीलाओं का यहाँ नाटकीय चित्रण है। यहाँ दूत-वाक्य के समान ही कृष्ण के आयुध भी रंगमंच पर आते हैं। अरिष्ट दैत्य का बैल के रूप में आने पर भी मानवोचित व्यवहार करना अवश्यमेव खटकता है। अविमारक तथा दरिद्र-चारुदत्त में भास ने लोककथा को नाटक के रूप में परिवर्तित किया है और बड़े ही सुन्दर ढंग से यह परिवर्तन हुआ है। अविमारक और कुरंगी के प्रणय के चित्रण में कवि ने अधिक भावुकता दिखलाई है, जो नाटक की प्रगति में व्याघातक प्रतीत होती है। प्रतिज्ञा तथा स्वप्नवासवदत्त दोनों ही उदयन के कथाचक्र से सम्बद्ध रूपक हैं। इनके कथानक के लिए कवि बृहत्कथा का ऋणी है। सम्भव है कि उस युग की प्रचलित कथाओं के द्वारा भी भास प्रभावित हों, परन्तु यहाँ कथा-वस्तु का पौर्वापर्य इतनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है कि कृत्रिमता कहीं लेशमात्र भी नहीं दीखती। व्यापार की स्वाभाविक प्रगति नितान्त आकर्षक तथा चमत्कारजनक है। प्रतिज्ञा के कथानक में भामह ने त्रुटि अवश्य दिखलाई है, परन्तु लोककथाओं में ऐसी बातों की स्थिति अस्वाभाविक नहीं मानी जाती। इस प्रकार इन रूपकों का कथानक चुस्त तथा सुव्यवस्थित है।

पात्र-चित्रण

भास के पात्र प्रकारमात्र (टाइप) न होकर वस्तुतः सजीव व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व इतना सुस्पष्ट है कि हम उन्हें भूल नहीं सकते। भास के 'उदयन' में गम्भीरता है, धीरोदात्तता है। अपनी प्रियतमा के नाश की अभव्य बात सुनने पर भी विह्वलचित्त होकर वह विक्षिप्त नहीं बन जाता। इसकी तुलना में हर्ष का उदयन (प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में चित्रित) बिल्कुल फीका, विवर्ण तथा अनाकर्षक पात्र है। नाटिका के लिए उसे धीर-ललित बनाकर हर्ष ने उसके भव्य चरित्र का अपकर्ष ही दिखलाया है। प्रतिज्ञा-नाटक में यौगन्धरायण की बुद्धिमत्ता तथा लोकचातुरी का रुचिर चित्रण कर भास ने उसे एक आदर्श अमात्य के रूप में दिखलाया है। भास की नायिकायें भी कम मनोरंजक नहीं हैं। वासवदत्ता के औदार्य का चित्रण पतिव्रता के आदर्शरूप की झाँकी है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपाकर अपने पतिदेव के कल्याण के निमित्त अपूर्व त्याग का परिचय देती है। पद्मावती के साथ रहने पर उससे किसी प्रकार सपत्नीद्वेष नहीं करती, प्रत्युत वह स्वयं पद्मावती के साथ उदयन का विवाह होने देती है। कुरंगी का चरित्र भी सुन्दर है, परन्तु उसमें भावों का संघर्ष नहीं है। नाटक के विषयानुसार नाना रसों का उन्मीलन है, जिनमें वीर तथा श्रृङ्गार का प्राधान्य है। इस प्रकार भास कथावस्तु के विन्यास में और पात्रों के चरित्रचित्रण में प्रतिभासम्पन्न नाटककार हैं—इसमें दो मत हो नहीं सकते।

भास और वाल्मीकि

भास संस्कृत-साहित्य के, विशेषतः नाटक-साहित्य के, इतिहास में गीर्वाणवाणी के एक अमर कवि हैं, जिनकी काव्यकला इस नवीन युग में भी अपना प्रकृष्ट महत्त्व धारण करती तथा काव्य रसिकों को अपने अलौकिक चमत्कार से मुग्ध करती है। उनके देशकाल

के विषय में आलोचकों का एक मत नहीं है, परन्तु बहुल मत उन्हें ईस्वी पूर्व चतुर्थ शतक का मानने के पक्ष में है। फलतः उनसे पूर्ववर्ती साहित्य के उज्ज्वल रत्न दो ही हैं—वाल्मीकि का रामायण तथा वेदव्यास का महाभारत। इन्हीं दोनों काव्य-रत्नों का प्रभाव भास के नाटकों के ऊपर पड़ा है, इस तथ्य को अंगीकार करने से कोई भी आलोचक पराङ्मुख नहीं हो सकता। भास ने रूपकों की ही रचना की है और इन रूपकों की संख्या १२ है। इन रूपकों के विषय के लिए तथा इनके प्रसाधन-सज्जा के निमित्त महाकवि भास, महाकवि वाल्मीकि तथा व्यास के चिरऋणी रहेंगे।

प्रतिमा तथा अभिषेक में भास की मौलिक सूझ भी दीख पड़ती है, विशेषतः प्रथम नाटक के वस्तु-विन्यास में, परन्तु इन कथाओं के लिए भास का आधार वाल्मीकि का रामायण ही है। यही बात महाभारतीय रूपकों के विषय में भी कही जा सकती है। भास के इन रूपकों का व्यक्त आधार महाभारत ही है। उदयन का कथाचक्र जैन, बौद्ध और ब्राह्मण-साहित्य में समभागेन प्रख्यात और लोकप्रिय रहा है। कथास्रोतों की विभिन्नता नाम-मात्र की है। सर्वत्र एक ही आख्यान समानरूप से आदृत हुआ है। इसी लोककथा-चक्र से भास ने अपने इन नाटकों का वर्ण्य-विषय ग्रहण किया—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

भास की काव्यकला पर वाल्मीकि और व्यास का प्रभाव अक्षुण्णरूप से प्रतिबिम्बित होता है; मानवीय तथा बाह्य प्रकृति के चित्रण में, हृदय में नित्य नूतन उदीयमान भावों के वर्णन में तथा सरस अलंकारों के विन्यास में। वाल्मीकि के समान भास भी प्रकृति के नानारूपों के जागरूक द्रष्टा हैं जो अपनी अनुभूति को सरल-सुबोध शब्दों में अभिव्यक्त करने में सर्वदा सफल होते हैं। रात्रि का सघन निविड अन्धकार भास के शब्दों में कितना प्रभावशाली बन गया है ? जान पड़ता है कि अन्धकार अंगों को मानो लेप रहा है, आकाश आँजन बरसा रहा है और दुर्ष्टजन की सेवा के समान दर्शकों की दृष्टि निष्फल हो गई है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

अनुष्टुप् में यह कोमल विन्यास वर्णों का तथा मनोरम प्रयोग उपमा-उत्प्रेक्षा का वाल्मीकीय शैली का प्रभाव उद्घोषित कर रहा है।

पंचवटी में अपने कोमल करों से पेड़ों को सींचने वाली सीता का यह सुकुमार-कठोर चित्रण कितना सुभग है—

योऽस्याः करः शाम्यति दर्पणेऽपि स नैति खेदं कलशं वहन्त्याः ।
कष्टं वनं स्त्रीजनसौकुमार्यं समं लताभिः कठिनीकरोति ॥

शैली की सारी विशिष्टताओं से विशिष्ट भास कवि की अभिव्यंजना बड़ी ही प्रभावोत्पादक है। प्रसाद और ओज के साथ माधुर्य की संयोजना सहृदयों को मुग्ध कर देती है। इनकी कविता कवि की गाढ़ अनुभूतियों को अत्यन्त सरस सुबोध शब्दों में अभिव्यक्त करती है। वर्णन हृदय को स्पर्श ही नहीं करते, प्रत्युत हृदय में प्रवेश कर जाते हैं—यही है वाल्मीकीय शैली का भास पर प्रभाव। विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के हृदय में जो-

जो भाव उदित हुआ करते हैं उनका समुचित शब्दों में उपन्यास करना भास की निजी विशिष्टता है। पिता की मृत्यु का कारण जानकर भरत के हार्दिक उद्गारों की मार्मिक अभिव्यंजना कवि ने एक लघुकाय श्लोक में इस प्रकार की है (प्रतिमा ४।१२)—

अद्य खल्ववगच्छामि पित्रा मे दुष्करं कृतम् ।
कीदृशस्तनयस्नेहो भ्रातृस्नेहोऽयमीदृशः ।।

आशय है कि आज मैं जान रहा हूँ कि मेरे पिता ने राम के वियोग में प्राण त्यागकर बड़ा ही दुष्कर कार्य किया। पुत्र के प्रति यह स्नेह कैसा है। और ऐसा है भाई का स्नेह। ध्वनि है कि भाई राम के वियोग में अभी भी मैं जी रहा हूँ। ऐसे बुरे समाचार को सुनकर भी मेरे प्राण मेरी देह में उसी प्रकार निश्चित रूप से स्थिर हैं। इसीलिये भरत की दृष्टि में दशरथ का कार्य दुष्कर था। बात सीधी है, परन्तु कितनी मर्मस्पर्शिनी है।

भास समाज की व्यवस्था के लिए राजा के पद की नितान्त आवश्यकता मानते हैं और इस तथ्य के स्वीकरण में इनके ऊपर वाल्मीकि तथा व्यास दोनों का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। वाल्मीकि ने 'अराजक' जनपद की दुरवस्था का बड़ा ही विषण्ण चित्र खींचा है अयोध्याकाण्ड में और उसी चित्र का प्रदर्शन किया है व्यास ने शान्ति पर्व में। दोनों का सम्मिलित प्रभाव इन पद्यों में विशदरूप से झलकता है (प्रतिमा ३।२४) :—

गोपहीना यथा गावो विलयं यान्त्यपालिताः ।
एवं नृपतिहीना हि विलयं यान्ति वै प्रजाः ।।

रक्षक गोप के अभाव में जिस प्रकार विना पाली गायें विलय को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार मनुष्यों का पालन करनेवाले शासक से रहित प्रजा नाश को प्राप्त होती है। उपमा घरेलू है और इसलिए वह हृदय पर तुरन्त चोट करती है।

भास की उपमाओं पर वाल्मीकि का प्रभाव आलोचक की दृष्टि में नितान्त स्फुट है। वाल्मीकि का वैशिष्ट्य है—स्वाभाविकता, अकृत्रिमता; कहीं बनावट का गन्ध नहीं; कथन वैसा ही जैसा तथ्य का दर्शन। वन जाते समय भास के इस पद्य का परीक्षण तो कीजिए (प्रतिमा २।७)—

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः ।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ।।

सन्ध्या वेला में सूर्य के समान राम चले गये। उसका अनुगमन करने वाले दिन के समान लक्ष्मण उनके पीछे चले गये। सूर्य और दिवस के अन्त में जैसे छाया नहीं दीख पड़ती, उसी भाँति सीता भी दिखलाई नहीं पड़ती। इन उपमाओं में औचित्य का जो विलास स्फुरित हो रहा है वह तो नितान्त मंजुल और अकृत्रिम हैं। परम्परित रूपक का विन्यास भी कहीं इतना आकर्षक और वेधक है कि पाठक के हृदय तक बात अनायास ही पहुँच जाती है, जिससे वह मुग्ध हो उठता है। अभिषेक नाटक में रामचन्द्र रावण के दोष से लंका की लक्ष्मी के विनाश की सम्भावना पर कितना आग्रह दिखला रहे हैं—

मम शरवर-पातवातभग्ना कपिवरसैन्यतरङ्गताडितान्ता ।
उदधिजलगतेव नौर्विपन्ना निपतति रावण-कर्णधार-दोषात् ।।

यह श्लोक पाठकों के मानस-पटल पर एक बड़े तूफान में पड़ी हुई नौका की दीन दशा का चित्र खींचता है। जैसे कर्णधार के अपराध से समुद्र के बीच चलनेवाली नाव आँधी से उठायी गयी लहरों का थपेड़ा खाकर डूब जाती है, वैसे ही रावण के दोष से लंका की राजलक्ष्मी वीर-वानरों के द्वारा प्रताडित होकर मेरे बाण के द्वारा शीघ्र ही नष्ट हो जायगी। ऐसे नैसर्गिक वर्णनों पर वाल्मीकीय कला का प्रभाव स्पष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि महाकवि भास कवि-प्रतिभा के उत्कर्ष से मण्डित होने पर भी अपने पूर्ववर्ती कविजन व्यास और वाल्मीकि से अपने नाटकों की कथावस्तु के लिए और अपनी कमनीय काव्यकला के चमत्कार के निमित्त निश्चितरूप से प्रभावित हैं, इस तथ्य को मानने में किसी भी विज्ञ आलोचक को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

भास और कालिदास

भास का अनुकरण पिछले युग के नाटककारों ने बड़े आग्रह के साथ किया, विशेषतः कालिदास और शूद्रक ने। कालिदास के नाटकों में भास के रूपकों के साथ भाव तथा संविधानक में घनिष्ठ साम्य है। कालिदास के नाटकों में विशेष स्निग्धता तथा विशेष कला का दर्शन अवश्य मिलता है, परन्तु कतिपय उपादानों के लिये वे भास के ऋणी प्रतीत होते हैं। शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में वृक्षलतादिकों के प्रति शकुन्तला के कोमल भावों की जो अभिव्यंजना मिलती है (पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्माष्वपीतेषु या) वह अभिषेक नाटक में मन्दोदरीविषयक भावभंगी से नितान्त साम्य रखती है (यस्यां न प्रियमण्डनापि महिषी देवस्य मन्दोदरी—चतुर्थ अङ्क)। शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में तपोवन का वर्णन तथा मुनिशिष्यों का वार्तालाप स्वप्न नाटक के प्रथम अङ्क के वर्णित उन वर्णनों में विशेष साम्य रखता है। शब्दों की समता चमत्कारिणी है[1]। यहाँ स्वप्न-नाटक (१।५) के पद्य में कंचुकी सेवक से कहता है कि वह आश्रम के निवासियों को किसी प्रकार की पीडा न पहुँचावे और यही भाव पूर्णतया शाकुन्तल (२।७) में भी उपलब्ध होता है। स्वप्न-नाटक में वीणा की उपलब्धि से उदयन का शोक वासवदत्ता के निमित्त घनीभूत तथा दृढतर हो जाता है। इस प्रसंग की हुबहू छाया शाकुन्तल में मिलती है, जब राजा दुष्यन्त को शकुन्तला के हाथ से गिरी हुई अँगूठी मिलती है। इन दोनों नाटकों में किया गया उपालम्भ बिल्कुल एक प्रकार का ही है[2]। इसी प्रकार शूद्रक ने अपने 'मृच्छकटिक' नाटक के प्रणयन में 'दरिद्र-चारुदत्त' का पूरा उपयोग किया है। पूरी कथा को अपने ढंग से राजनैतिक वातावरण के साथ मिलाने और सजाने का उद्योग शूद्रक का अपना है, परन्तु 'चारुदत्त' के प्रति उनका ऋण नितान्त सुव्यक्त है। पिछले युग के कवियों को प्रेरणा तथा स्फूर्ति देने के कारण भास सदा स्मरणीय रहेंगे। उनके रूपकों में नाटचकला का प्रौढ़ रूप भले ही न दीख पड़े, परन्तु चुस्त और सुव्यवस्थित, रंगमंच के लिए उपयुक्त, रूपक लिखने में

---

१. विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः। (शाकुन्तल)
विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्ययाः। (स्वप्ननाटक)

२. द्रष्टव्य—'श्रुतिसुखनिनदे कथं नु देव्याः' (स्वप्न० ६ अंक) = 'तव सुचरितमङ्गुलीयं नूनम्' (शाकुन्तल ६।२)। 'श्रोणि-समुद्वहन-पार्श्वनिपीडनानि' (स्वप्न० ६।२) = 'कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं' (शाकुन्तल ६।१३)।

भास की प्रतिभा अद्वितीय है—इसके विषय में किसी आलोचक को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती[१]।

(२) कालिदास

कालिदास की दीर्घ सांसारिक अनुभूतियों तथा लोकव्यवहार की गाढ़ प्रवीणता का परिचय हमें उनके नाटकों से मिलता है। उन्होंने तीन नाटकों का प्रणयन किया है। ये मानव हृदय की विभिन्न परिस्थितियों में उदीयमान वृत्तियों का चित्रण लोकव्यवहार के साथ पूर्ण सामंजस्य से करते हैं। इन नाटकों में प्रेममूलक आख्यान को ही कविवर ने कथावस्तु के रूप में परिगृहीत किया है, परन्तु यहाँ प्रेम की नाना अवस्थाओं का दिग्दर्शन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। 'मालविकाग्निमित्र' में प्रतिकूल परिस्थिति में रहकर भी राजसी अन्तःपुर में पनपने वाले यौवन-सुलभ प्रेम का चित्र है, तो 'विक्रमोर्वशीय' में यौवन की उद्दाम वासना से उत्पन्न, कामुक पुरुष को प्रेमिका के विरह में एकदम पागल बना देने वाले प्रेम का निरूपण है। 'शाकुन्तल' की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। वहाँ तपस्या तथा साधना के द्वारा, वियोग की ज्वाला से विशुद्ध बनने वाले काम की प्रेम में परिणति का अभिराम चित्र प्रस्तुत किया गया है। कालिदास के इन तीनों नाटकों का वस्तु तथा रस की दृष्टि से अनुपम वैशिष्ट्य है।

(१) **'मालविकाग्निमित्र'** में शुङ्गवंशीय नरेश अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का अभिराम चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर कमनीयता के साथ अंकित किया गया है। कवि ने राजाओं के अन्तःपुर की चहारदीवारी के भीतर विकसित होने वाले काम, रानियों की परस्पर ईर्ष्या, राजा की कामुकता, महिषी धारिणी की धीरता तथा उदात्तता का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

(२) **'विक्रमोर्वशीय'** में कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान को, ऋग्वेद (१०।९५) तथा शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में निर्दिष्ट पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम-कथा को, कमनीय नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्राचीन प्रेमाख्यान ने अपनी प्रौढ़ता तथा चमत्कार के कारण कवि का ध्यान आकृष्ट किया। पुरुरवा नितान्त उपकारपरायण भूपाल है और वह राक्षस से उर्वशी का उद्धार करता है। इसी प्रसंग में उर्वशी उसके अलौकिक रूप पर आसक्त होकर अनेक शर्तों के साथ उसकी रानी बनना स्वीकार करती है। उसके वियोग में पुरुरवा पागल बनकर जंगल में मारा-मारा फिरता है। कवि ने पुरुरवा के उद्दाम प्रेम का, संसार के समग्र बन्धनों को तोड़कर बहनेवाली कामसरिता का, चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। यहाँ कवित्व का ही विलास अधिक है, नाटकीय कौशल का काम। इस नाटक में कवि ने प्रणय तथा प्रणयोन्माद को ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय बनाया है।

(३) **अभिज्ञान-शकुन्तल**—यह कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने तो इसे नाटक-साहित्य में सबसे श्रेष्ठ बतलाया है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'। पश्चिमी विद्वानों ने भी अपनी दृष्टि से इसे अत्युत्तम नाटक

---

१. **विशेष द्रष्टव्य—डा० पुसालकर—भास (अंग्रेजी ग्रन्थ), प्र० भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, १९४३। बलदेव उपाध्याय—महाकवि भास, (काशी, १९६४)।**

माना है। इस नाटक में सात अंक हैं। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त आखेट करने के लिए वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला के लिए अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिये वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और आपन्नसत्त्वा शकुन्तला को गौतमी, शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। पंचम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है; परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उठा ले जाती है और मारीच के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामांकित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है जिसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है। वह अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की साहयता करने के लिये वह स्वर्गलोक में जाता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मारीच आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मारीच के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

शाकुन्तल की समीक्षा—शाकुन्तल नाटक कालिदास के गन्थों में ही शीर्षस्थानीय नहीं है, अपि तु वह संस्कृत नाटक-मणिमाला का शोभमान सुमेरु है—महनीय मध्यमणि है। कथानक पुराना है। महाभारत के आदिपर्व में शकुन्तला तथा दुष्यन्त का आख्यान अनेक अध्यायों में (अ० ६८-७४) वर्णित है, परन्तु यह कथानक नितान्त नीरस, अरोचक तथा आदर्शविहीन हैं। दुष्यन्त आश्रम में जाता है। कण्व उपस्थित नहीं हैं। शकुन्तला से उसकी चार आँखें होती हैं। दोनों के हृदय में परस्पर प्रेम की मधुर भावना जाग्रत हो उठती है, परन्तु किसी प्रौढ़ व्यवहार-कुशला पुरंध्री की तरह शकुन्तला बहुवल्लभ दुष्यन्त से विवाह करना तभी स्वीकार करती है जब वह उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन देता है। दोनों का प्रेम-मिलन होता है। राजा उसे छोड़कर राजकार्य देखने के लिए हस्तिनापुर चला जाता है। शकुन्तला को पुत्र पैदा होता है, वह बड़ा होता है। कण्व राजा के पास पुत्र के साथ शकुन्तला को भेजते हैं, पर राजा उसे अस्वीकार करता है। ठीक उसी समय आकाशवाणी होती है—'भरस्व पुत्रं दौष्यन्तिं सत्यमाह शकुन्तला'—शकुन्तला सच बोलती है, पुत्र तुम्हारा ही है। उसका रक्षण करो।' राजा तब अपनी जानकारी प्रकट करता है कि इस विषय से मैं परिचित था, परन्तु अपने सभासदों के सामने स्वीकार करते हुए लज्जा से हिचकता था। आकाशवाणी की सचाई पर वह शकुन्तला को अपनी हृदय की तथा महल की रानी बनाता है। इतना ही महाभारत का संक्षिप्त कथानक है—निष्प्राण, निर्जीव तथा निरीह कथानक। दुष्यन्त समाज-भीरु, छली व्यक्ति है, जो अपने हृदय की बातों को सुन कर भी अनसुनी कर देता है—जानकर भी असत्य भाषण करता है। शकुन्तला नितान्त वयस्का नारी है जिसमें

हृदय कम है, मस्तिष्क ही अधिक है---पुत्र के लिये राज्यपद के वचन पर अपना कोमल हृदय देने के लिये तैयार होती है। ऐसे उपकरणों को कालिदास की अमर लेखनी ने इतना सुन्दर सुसज्जित रूप दिया कि उसकी प्रभा विदग्धों के हृदय को स्निग्ध करती है, आदर्शवादियों के सामने भारतीय संस्कृति के अनुरूप आदर्श की सृष्टि करती है, एवं सौंदर्य तथा प्रेम का, स्वार्थ तथा परमार्थ का, लोक तथा परलोक का अनूपम सामंजस्य उपस्थित करती है।

कालिदास ने उक्त वस्तुविन्यास में चरित्र-चित्रण की सुषमा बनाये रखने के लिये अनेक परिवर्तन किये हैं। शकुन्तला के शील की रक्षा के लिये उन्होंने अनसूया और प्रियंवदा जैसी सखियों की कल्पना की है, जो अपनी सखी के भविष्य की चिन्ता स्वयं कर उसे चिन्ताभार से मुक्त बनाती हैं। दुष्यन्त के आदर्श चरित्र की सिद्धि के लिये उन्होंने दुर्वासा के शाप की कल्पना प्रस्तुत की है। दुष्यन्त जानबझ कर प्रेयसी शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह की बात भूल नहीं जाता, प्रत्युत उसके सिर पर चलते जादू की तरह कोपन ऋषि का अभिशाप चक्कर काट रहा था। राजा अपने महाभारतीय प्रतिनिधि के समान अपनी विवाहिता को इच्छापूर्वक विस्मृति के गर्त में नहीं डाल देता। वह तो एक बड़े अभिशाप के वश में होकर अपने आपको ही भूल बैठता है। पंचम से लेकर सप्तम अंक की वस्तु---शकुन्तला का प्रत्याख्यान, उसकी तपश्चर्या तथा पुर्नमिलन---कवि के उर्वर मस्तिष्क की अनुपम उपज है। इस प्रकार शकुन्तला का कथानक दो विरोधी मानस-प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष पर आश्रित है। इन प्रवृत्तियों के नाम हैं---काम और धर्म, वासना और कर्तव्य। नाटक के आरम्भिक तीन अंकों में काम का राज्य है और उत्तरार्ध में धर्म की विजय है। वासना के वश में होने से राजा का पतन होता है, परन्तु कर्तव्य की ओर अग्रसर होने पर उसका उत्थान होता है। इस प्रकार समग्र शाकुन्तल नाटक 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' का जीवन्त साहित्यिक दृष्टान्त है।

शकुन्तला कालिदास की अनुपम कृति है। यह आरम्भ से अन्त तक नाट्यकला का प्रशंसनीय निदर्शन है। साहित्य की दृष्टि से तो यह श्रेष्ठ है ही, साथ ही साथ इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी संकेत किया गया है। चौथे अंक में 'अयमहं भोः' (मैं यह आया) की द्वार पर ऊँची पुकार लगानेवाले, पवित्र तपोजीवन के लिए आह्वान करनेवाले, दुर्वासा ऋषि अरण्यवास, सादा जीवन, विलासरहित आचरण तथा तपश्चर्या के प्रतीक हैं। छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करनेवाला दुष्यन्त विलासिता का प्रतीक है। दुर्वासा का तिरस्कार कर दुष्यन्त को अपना हृदय देने वाली शकुन्तलारूपी भारतलक्ष्मी की शोचनीय दशा देखकर किसके हृदय में सहानुभूति की सरिता नहीं उमड़ पड़ती? तपोमार्ग के अवलम्बन करने से असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय्य सुख की प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोमय जीवन बिताने के लिए शिक्षा नहीं ग्रहण करता? शकुन्तला की दुर्दशा को दिखला कर कालिदास ने गान्धर्व-विवाह की प्रथा को दूषित बतलाया है।

चरित्रचित्रण---शकुन्तला तथा दुष्यन्त का चरित्र-चित्रण कालिदास ने जिस खूबी के साथ किया है, वह भी अवलोकनीय है। चतुर्थ अंक में कालिदास के प्रकृतिप्रेम तथा

प्रकृतिदेवी की सजीव मूर्त्ति का दर्शन किसे रसमय नहीं बनाता ? प्रथम अङ्क में आश्रम का सच्चा वर्णन किया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने दिखाया है कि अनसूया, प्रियंवदा जैसे सजीव पात्रों की तरह तपोवन का अस्तित्व भी ठीक सजीव है। तपोवन के अभाव में शकुन्तला कुछ और ही होती। तपोवन का प्रभाव शकुन्तला के चरित्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सच्चा प्रेम पाने का यहाँ सुन्दर साधन बतलाया गया है। कठिन तपस्या के पहले सच्चा प्रणय पैदा नहीं हो सकता, वह तो केवल कामवासना है। जब तक काम तपस्या के कठोरानल में–वियोग की कराल आग में—दग्ध होकर शुद्ध नहीं बनता, तब तक सच्चा स्नेह उद्भूत ही नहीं होता। दुष्यन्त-शकुन्तला का प्राथमिक प्रेम केवल काम के साँचे में ढला था, उसमें स्वार्थ के जहरीले कीट पैदा हो गये थे। प्रत्याख्यान किये जाने पर शकुन्तला शान्त मन से मारीच के आश्रम में तपस्या में अनुरक्त होती है और दुष्यन्त स्वयं पश्चात्ताप तथा वियोग की भीषण वडवाग्नि में अपने को तप्त कर शुद्ध करता है। तब कहीं जाकर सच्चे स्नेह की प्रतिमा उनके सामने झलकती है।

चरित्र-चित्रण कालिदास की विशिष्टता है। उनके हाथों में निर्जीव दुष्यन्त सजीव हो उठता है; रूक्षप्राया शकुन्तला परम स्निग्ध रूप धारण कर हमारे लोचनों के सामने झाँकती है। दुष्यन्त प्रजावत्सल, उदात्त-चरित्र धीरोदात्त नायक है। उसका हृदय धर्मभावना से उत्तान है। ऋषियों के तपोवन में वह शान्त भाव से प्रवेश करता है—अपनी राजसी वेशभूषा को हटाकर वह शान्त चित्त से कण्वाश्रम में प्रवेश करता है; मुनि कन्याओं से शिष्टता से वार्तालाप करता है। आश्रम की रक्षा के लिए अपनी ममतामयी माता के स्नेहमय आग्रह को टाल देता है, गान्धर्व विधि से शकुन्तला से विवाह करता है, उसे बुलाने का वचन भी दे आता है, परन्तु दुर्वासा के शापवश वह हस्तिनापुर जाते ही अपनी प्रेयसी को भूल जाता है। यह हुआ उसका पतन। हरिण का शिकार करने वह जाता है, पर स्वयं काम का शिकार बन जाता है। यदि नाटक का पर्यवसान यहीं हो जाता तो यह एक सामान्य रचना ही बन कर रहता, परन्तु षष्ठ और सप्तम अंकों में राजा दुष्यन्त पार्थिव जगत् से ऊपर उठता है और आध्यात्मिकता तथा तपस्या की साधना से वह उस दिव्य लोक में पहुँच जाता है जहाँ काम का धर्मसे कोई विरोध नहीं होता, भोग और योग का मनोरम सामञ्जस्य घटित होता है तथा स्वार्थ और परमार्थ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यह है दुष्यन्त-चरित्र का अभ्युत्थान। इसी के प्रदर्शन में कालिदास की कमनीय कला की चरम अभिव्यक्ति है। दुष्यन्त का आदर्श रूप हमें उस घोषणा में मिलता है जिसका सिंहनाद समग्र भारतवर्ष को मुखरित करता था—

> येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
> स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥

अत एव जर्मन महाकवि गेटे की वह विख्यात प्रशंसा नितान्त औचित्यपूर्ण है जिसका संस्कृत रूप इस प्रकार है :—

> वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
> यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।

एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वांछसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

कवीन्द्र रवीन्द्र ने शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट तथा कालिदास के शाकुन्तल का सुन्दर सरस विषय-तारतम्य दिखलाया है :—"टेम्पेस्ट में शक्ति है, शाकुन्तल में शक्ति है; टेम्पेस्ट में बल के द्वारा जय हुई है और शाकुन्तल में मंगल के द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्ट में आधे मार्ग पर विराम हो गया है और शाकुन्तल में सम्पूर्णता का अवसान है। टेम्पेस्ट में मिरांडा सरल माधुर्य से परिपूर्ण है, परन्तु इस सरलता की नींव अज्ञता-अनभिज्ञता पर अवलम्बित है; शकुन्तला की सरलता अपराध, दुःख, अभिज्ञता, धैर्य तथा क्षमा से परिपक्व गम्भीर तथा स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण कर मैं फिर भी यही कहता हूँ कि शकुन्तला के आरम्भ के तरुण सौन्दर्य ने मंगलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है" (प्राचीन साहित्य)।

सौन्दर्य-भावना

कालिदास श्रृङ्गार तथा प्रेम के भावुक कवि हैं। अतः उनकी दृष्टि सौन्दर्य की कोमल भावना को पहचानने तथा प्रकट करने में नितान्त चतुर है। उनका रसमय हृदय इन सौन्दर्य-वर्णनों में झाँकता हुआ दीख पड़ता है। वे बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के पूरे सामरस्य के उपासक हैं। बाह्य प्रकृति जो अभिरामता प्रस्तुत करती है वही अन्तः-प्रकृति में भी विद्यमान है। तभी तो हमारे कवि की दृष्टि में शकुन्तला कोमल लता के समान लावण्यमयी प्रतीत होती है (शाकुन्तल १।२०)—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥

शकुन्तला का अधर नये पल्लव की लालिमा लिये है; बाहू कोमल शाखाओं का अनुकरण करते हुए झुके हुए हैं। विकसित फूल के समान लुभावना यौवन अङ्गों में प्रस्फुटित हो रहा है। पार्वती के अधर पर मधुर मुस्कान की शोभा वनस्पति-जगत् में ही कवि को मिलती है। यह अनूठा वर्णन कवि के गाढ़ अनुवीक्षण का परिचय देता है।

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्याद् मुक्ताफलं वा स्फुट-विद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

वह कहता है कि यदि उजला फूल ईषद् रक्त नये पल्लव पर रखा जाय और यदि मोती लाल-लाल मूँगों पर निहित हो, तभी ये दोनों पार्वती के लाल होठों पर फैली हुई मधुर मुसकराहट की समता पा सकते हैं (कुमार० १।४४)।

रससिद्धि

कालिदास रससिद्ध कविराज हैं, जिनके यशरूपी शरीर में जरामरण का तनिक भी भय नहीं है। जिस रस की ओर उनकी दृष्टि झुकती है उसे ही वे अनूठे तौर पर अभिव्यक्त कर देते हैं, पर श्रृङ्गार और करुण रसों की कुछ विलक्षण चारुता इनकी कविता में है। शाकुन्तल में प्रेम और करुण का अपूर्व सम्मेलन है। चौथे अंक में, जहाँ शकुन्तला अपने पतिगृह जा रही है, कवि ने जैसा करुण चित्र अंकित किया है वैसा शायद ही कहीं

चित्रित हो। दुष्यन्त के पास अपनी पुत्री शकुन्तला को भेजते समय संसार के विषय से विमुख होने पर भी कण्व की करुण दशा देखिये (४।६)—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ॥
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीडयन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

(आज शकुन्तला पतिगृह को चली जायगी—इससे उत्कण्ठा के मारे मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है, आँसुओं के अवरोध के कारण कण्ठ गद्गद् हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि शिथिल हो गई है, पास की चीज भी नहीं देख सकता। मैं तो अरण्यवासी हूँ; जब संसारी न होने पर भी प्रेम के कारण मेरी ऐसी विह्वल दशा हो गई है तब अपनी पुत्री को पहिले-पहल पतिगृह भेजते समय गृहस्थों को कितना दुःख होता होगा ?)

शकुन्तला के चतुर्थ अंक में कालिदास ने प्रकृति और मनुष्य को एक घनिष्ठ प्रेम-बन्धन से बँधा हुआ दिखाया है। आश्रम की बालिका शकुन्तला को अलंकृत करने के लिए प्रकृति स्नेह से आभूषण वितरण करती है। मृग का छौना शकुन्तला को जाने नहीं देता। प्रकृति पत्तों के गिरने के व्याज से आँसू बहाती है। प्रकृति तथा मनुष्य का ऐसा सहानुभूतिपूर्ण वर्णन संस्कृत-साहित्य में विरल है। यह दृश्य कालिदास के प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा असीम करुण-रस की वर्णन-शैली का सुस्पष्ट परिचायक है।

महर्षि कण्व शकुन्तला की बिदाई की आज्ञा प्रकृति से माँग रहे हैं (४।८)—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्य वः कुसुमप्रसूतिसमय यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

(हे वृक्ष ! शकुन्तला पहिले तुम्हें जल पिलाये विना स्वयं जल न पीती थी, नवल पल्लवों के गहने पहनने की शौकीन होने पर भी प्रेम के मारे तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, जो तुममें पहिले-पहल फूल आने पर खूब उत्सव मनाती थी, वही शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है। तुम सब जाने की अनुमति दो।)

शकुन्तला के जाते समय तपोवन कितना दुःख प्रकट कर रहा है (४।११)—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥

[मृगीगण कुश के ग्रास को वियोग से दुःखी होकर गिरा रही हैं। शकुन्तला के आश्रम छोड़ने से वे इतनी शोक-ग्रस्त हैं कि उन्हें खाना नहीं सुहाता। जो मयूरी आनन्दोल्लास में नाच रही थी उसने अपना नाचना छोड़ दिया। लताओं से पीले-पीले पत्ते झड़ रहे हैं, मानों ये आँसुओं को बरसा रही हैं।]

प्रकृति की गोद में पाली गई शकुन्तला आज अपने प्यारे आश्रम-सहचरों को छोड़कर भारत की महारानी बनने जा रही है। कण्व का गला रूँध जाना सहज है ! प्रियं-

वदा तथा अनसूया की भी विह्वलता बोध-गम्य है, परन्तु अचेतन प्रकृति का यह हार्दिक शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूकवाणी, सहृदय कवि के अतिरिक्त किसे सुनाई पड़ती है ? प्रकृति में मानव-वियोग का यह आन्दोलन किसी मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु के विना किन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है ? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग रसिक की हृदयतन्त्री को निनादित अवश्यमेव करता है।

कालिदास के विषय में प्रसिद्ध लोककथायें उन्हें शृंगार रस का मूर्धन्य कवि सिद्ध करती हैं। उनके शृंगार के मार्मिक कवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। शृंगार का उभयपक्ष उनकी कविता में उन्मीलित होता है—संयोग पक्ष तथा वियोग पक्ष। संभोग के उन्मीलन के समान ही वे वियोग के उन्मेष में भी सर्वथा कृतकार्य हैं। रघुवंश के अष्टम सर्ग में कालिदास ने पुरुषकृत विप्रलम्भ का चित्र खींचा है (अज-विलाप), तो कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में उन्होंने नारीकृत विप्रलम्भ का वर्णन किया है (रति-विलाप)। दोनों मिलाकर करुणरस का समस्त वृत्त पूरा होता है, अन्यथा प्रत्येक अर्धवृत्त को ही प्रस्तुत करता है। मेघदूत तो कालिदास की अपूर्व विप्रलम्भमयी कृति है। विरही यक्ष द्वारा अपनी वियोग-विधुरा पत्नी के लिए मेघ द्वारा सन्देश भेजना कवि की मौलिक सूझ है। यहाँ करुण रस का समग्र चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो अन्यत्र अर्धांश में ही प्रस्तुत किया गया था। फलतः कालिदास करुणरस के ही वैसे ही सिद्ध कवि हैं जैसे शृंगार रस के। भवभूति के एतद्विषयक वर्णनों से कालिदास का वैशिष्टच अपना पृथक् चमत्कार रखता है।

हास्यरस की अभिव्यंजना कालिदास ने अपने नाटकों में विदूषक के द्वारा बड़ी सफलता से की है। तीनों नाटकों के विदूषकों का स्वभाव प्रायः एक समान ही है। वह नायक का प्रणय-सचिव है, प्रणयकथा के विकास तथा संचालन में सहयोग करता है, नायक के गुप्त प्रेम रहस्यों को छिपाने की कला का अभ्यासी होने पर वह अपनी उक्तियों से उसे प्रकट करने से बाज़ नहीं आता। वह भोजनभट्ट है—पेटू है—गरम-गरम लड्डुओं से पेट भरना उसे नितान्त प्रिय है। परन्तु वह अपनी विसंगतियों से हास्यरस को पुष्ट करता है तथा नाटक के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। मालविकाग्नि मित्र का विदूषक नृत्याचार्य गणदास और हरदत्त की लड़ाई को मेढ़ों की लड़ाई बतलाता है और उसे सबसे अधिक चिन्ता लड्डुओं की ही रहती है। विक्रमोर्वशीय नाटक का विदूषक भी वाक्चातुरी में प्रवीण है। महारानी द्वारा उर्वशी के भर्जपत्र लेख के पकड़े जाने पर पुरुरवा द्वारा बचने के उपाय धीमे से पूछने पर चतुर विदूषक सूक्ति बोल उठता है—'चुराई गई वस्तु के साथ पकड़े गये चोर के पास क्या कोई जवाब रहता है ? (लोप्त्रेण सूचितस्य कुम्भीरकस्य अस्ति वा प्रतिवचनम्), परन्तु शाकुन्तल का विदूषक अपने वर्ग का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। नाटकीय वस्तु के विकास में उसका अप्रतिम सहयोग है। वह राजा दुष्यन्त की आश्रम वाली प्रणयगाथा से परिचित होने पर भी शकुन्तला के प्रत्याख्यान के अवसर पर अपने अपराध को बड़ी सुन्दरता से छिपा लेता है। षष्ठ अंक में मातलि आकार अदृष्ट रूप से मेघप्रतिछन्न प्रासाद में विदूषक को दबोच लेता है, तब उसकी उक्तियाँ दर्शकों को हास्यरस से सराबोर कर डालती हैं। वह कहता है कि जीवन के प्रति मैं उसी प्रकार आशा

छोड़ बैठा हूँ जिस प्रकार विडाल के द्वारा पकड़ा हुआ चूहा (विडालगृहीतमूषिक इव निराशोऽस्मि जीवने संवृत्तः)। दुष्यन्त द्वारा मातलि का भव्य स्वागत उसे नितान्त कटु लगता है। वह सचमुच दुःखित है कि जिस व्यक्ति ने उसे यज्ञ के बलि-पशु के समान मारा था, उसी का राजा स्वागत कर रहा है। ध्यान देने की बात है कि विदूषक कठोर वातावरण को अपनी अनूठी रस-भरी हास्योक्तियों से सरस बनाने में ही केवल समर्थ नहीं होता, प्रत्युत वह नाटकीय वस्तु के विकास का एक अनिवार्य उपकरण है। उसकी उक्तियाँ लोकोक्ति, व्यंग्य, हास्य-व्यंजिका उपमायों से इतनी भरी हैं कि कालिदास के पात्रों में वह अपने चुटीले तथा स्वाभाविक संवाद के कारण कभी भुलाया नहीं जा सकता।

(३) विशाखदत्त

विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक अपनी महत्ता और गौरव में अद्वितीय है। प्रणय-प्रसंग पर आश्रित-अधिकांश संस्कृत रूपकों के विपरीत यह ऐतिहासिक होने के अतिरिक्त भारतीय कूटनीति का प्रदर्शनकारी एक अनुपम नाटक है। नाटककार किसी राजवंश में उत्पन्न थे। इसका परिचय नाटक की प्रस्तावना से ही होता है, इसलिए राजनीति से उनका पूर्ण परिचय पाना स्वाभाविक ही है। इसके रचयिता विशाखदत्त ने प्रस्तावना में अपना जो कुछ परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि इनके पितामह वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज किसी देश के सामन्त थे। पिता भास्करदत्त या पृथु ने महाराज की पदवी प्राप्त की थी। राजनीति—विशेषतः कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति—के प्रकाण्ड पण्डित होने के अतिरिक्त विशाखदत्त दर्शनशास्त्र, विशेषतः न्याय के तथा ज्योतिष के भी पूरे पण्डित थे। वैदिक धर्मावलम्बी होने पर भी उनका मत इतना उदार था कि बुद्ध-धर्म को वह आदर की दृष्टि से देखते थे। जैनधर्म के प्रति उनकी जो अनास्था प्रतीत होती है वह अवश्य ही उस युग की धार्मिक भावना का एक उद्गार है।

रचनायें—विशाखदत्त राजनीति-विषयक नाटकों की रचना में प्रवीण प्रतीत होते हैं। इनकी विश्रुत रचना तो 'मुद्राराक्षस' ही है, जो चन्द्रगुप्त मौर्य्य के जीवन से सम्बन्द्ध है और जो अमात्य चाणक्य की बुद्धिमत्ता तथा कूटनीतिमत्ता का एक विमल निदर्शन है। इनकी दूसरी नाट्यकृति है—**देवीचन्द्रगुप्त**, जिसमें गुप्तवंशीय नरेश रामगुप्त की दुर्बलता तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रबल पराक्रम का बड़ा ही वैभवशाली विवरण है। राजा रामगुप्त ने भीरुता के कारण प्रबल शकराज के माँगने पर अपनी रानी ध्रुवदेवी को उसे समर्पित कर देना स्वीकार कर लिया था। बाद में रामगुप्त का भाई चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के छद्म-वेष में शकराज के शिविर में गया और उसमे इसी छद्म से उस अत्याचारी शकराज का वध कर दिया। यह ऐतिहासिक घटना पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है, क्योंकि इसका उल्लेख बाण ने हर्षचरित (पञ्चम परिच्छेद) में तथा राजशेखर ने काव्यमीमांसा (अ० ९) में किया है। 'देवीचन्द्रगुप्त' का उल्लेख 'नाटचदर्पण' में सात बार किया गया है, जिससे उसकी कथावस्तु की मुख्य घटनाओं की सूचना मिलती है। विशाखदेव की तीसरी नाटच-रचना है—**अभिसारिकावञ्चितक**। इसका उल्लेख अभिनव-भारती (अध्याय २२, पृष्ठ १९७) में तथा श्रृङ्गार-प्रकाश (प्रकाश १२) में किया गया है। यह नाटक वत्सराज उदयन के जीवन-चरित को लेकर लिखा गया है। इसका परिचय

पूर्वोक्त ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों से मिलता है। ये तीनों ही नाटक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर आश्रित प्रतीत होते हैं, जिससे विशाखदत्त का ऐतिहासिक-रचना के विषय में विशेष वैदग्ध्य प्रकट होता है।

रचनाकाल—मुद्राराक्षस के रचनाकाल के निर्णय के लिये विद्वानों ने विशेष खोज की है। भरतवाक्य में एक राजा का नाम आता है जिसे भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में दन्तिवर्मा, चन्द्रगुप्त तथा अवन्ति वर्मा बतलाया गया है। इस भरत-वाक्य का आशय यह है कि जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने हिरण्याक्ष के उत्पीडन से संतप्त भूतल का उद्धार वाराह रूप से किया, उसी प्रकार इस समय म्लेच्छों के द्वारा उद्विग्न होनेवाली पृथ्वी की यह पार्थिव अपने भुजबल से रक्षा करे:—

म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः।
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

नामों में भिन्नता होना समय के निर्णय में नितान्त बाधक है और यही कारण है कि विद्वानों में इस विषय में ऐकमत्य नहीं है और भिन्न-भिन्न शतियाँ आश्रयदाता की नाम-भिन्नता के आधार पर इस नाटक के निर्माणकाल के लिए प्रस्तुत की गई हैं—

(१) **दन्तिवर्मा**—ये दक्षिण के पल्लव नरेश माने गये हैं, जो ७२० ईस्वी के लगभग राज्य करते थे। यदि यह बात सत्य हो तो इस ग्रन्थ की रचना अष्टम शतक में हुई, परन्तु उस समय किसी भी आक्रमणकारी म्लेच्छ का पता नहीं चलता, जिसके उत्पीडन से रक्षा की प्रार्थना की जाय। (२) डाक्टर जायसवाल ने चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) विक्रमादित्य को ही भरत-वाक्य का विषय माना है। अतः उनके मत से इस ग्रन्थ की रचना ४०० ईस्वी के लगभग हुई, परन्तु यह भी मत ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि म्लेच्छों (हुणों) का आक्रमण-काल चन्द्रगुप्त के राज्य के लगभग ५० वर्ष पीछे आरम्भ होता है। अतः उनसे भरत-वाक्य की संगति नहीं बैठती। (३) टीकाकार ढुण्ढिराज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का ही इस भरत-वाक्य में उल्लेख है, परन्तु प्रायः प्रशस्तिवाक्य में नायक से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। अतः चन्द्रगुप्त से चन्द्रगुप्त मौर्य की सूचना सर्वथा विरुद्ध है। (४) **अवन्तिवर्मा** दो थे—एक कश्मीर के राजा और दूसरे कन्नौज के। कन्नौज-नरेश मौखरि वंश के थे। इन्हीं के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ थानेश्वर के महाराज श्रीहर्ष की भगिनी राज्यश्री का विवाह हुआ था। इस भरत-वाक्य में इन्हीं का निर्देश ऐतिहासिक रीति से प्रमाणित होता है। इसी समय हूणों का उपद्रव पश्चिमोत्तर भारत (पंजाब) में विशेष रूप से हुआ। इन हूणों को अवन्तिवर्मा ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की सहायता से परास्त किया। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन को इसी कार्य के हेतु 'हूण-हरिण-केसरी' कहा गया है। यह घटना ५८२ ई० के आसपास मानी जाती है। अतः इसकी रचना छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानने वाले आलोचकों का भी एक पक्ष है और यही पक्ष मेरी दृष्टि में समुचित है।

इन मतों की समीक्षा से दो मत विशेष प्रौढ़ प्रतीत होते हैं—(क) विशाखदत्त गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) के समय में आविर्भूत हुए; (ख) विशाखदत्त के आश्रयदाता अवन्तिवर्मा मौखरी (५७९–६०० ई०) थे। समय की परीक्षा में दो-

तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहिला है चन्द्रग्रहण की घटना, जिसमें बुधयोग मे पूर्ण चन्द्रग्रहण के होने में विप्रपत्ति दिखलाई गई है। वाराहमिहिर ने अपने प्रख्यात बृहत्संहिता में इस मत का प्रबल खण्डन किया है। अत: विशाखदत्त का समय वाराह-मिहिर (लगभग ४९० ई०) से पूर्व ही होना चाहिए। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म के प्रति लेखक की सम्मान-भावना भी विचारणीय वस्तु है। सप्तम अङ्क के पञ्चम श्लोक में बौद्धधर्म की विशेष प्रशंसा है। फलत: लेखक सप्तम शती के अनन्तर नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो बुद्धधर्म के ह्रास का युग है। तृतीय बात है भरतवाक्य में म्लेच्छों का उल्लेख। म्लेच्छों की पहिचान किनसे की जाय? डा० विल्सन म्लेच्छों का तात्पर्य पठानों से लगाते थे, इसलिए उन्होंने इस नाटक का समय ११ वीं या १२ वीं शती माना। के० टी० तैलंग ने म्लेच्छों का तात्पर्य आरम्भिक मुसलमान आक्रमणकारियों से लगाया और नाटक का समय ७वीं शती माना, परन्तु बहुत सम्भव है कि म्लेच्छों से लेखक का आशय हूणों से हो, जो गुप्त-युग में तथा उसके बाद भी बड़े भारी उत्पाती और भयंकर प्रतिपक्षी माने जाते थे।

बाह्य साक्ष्य भी विशेष महत्त्व का नहीं है। नाटक का सबसे प्राचीन उल्लेख है धनिक के दशरूपावलोक (१० वीं शती) में। यदि इस नाटक को चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की रचना मानें, तो 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना' विशेषण उस राजा की ज्ञात घटनाओं के साथ मेल नहीं खाता। उस समय हूणों ने भारतवर्ष में प्रवेश नहीं किया था और न उस युग में वे उद्वेग के कारण ही थे। डा० हिलेब्राण्ट के संस्करण में 'अवन्तिवर्मा' पाठ पीछे का माना गया है। ऐसी विषम स्थिति में यथार्थ निर्णय समय के विषय में नहीं किया जा सकता। विशाख-दत्त का समय सप्तशती में मानना उचित है। ये बाणभट्ट से परिचित प्रतीत होते हैं।

इस नाटक में जो कुछ भी घटना घटती है वह इसी उद्देश्य को अग्रसर करती जाती है। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को दृढ़ बनाने के लिए नन्द-नरेश के सुयोग्य मन्त्री राक्षस को मौर्य नरेश का प्रधानामात्य बनाना चाहता है। इस घटना का संयोजक स्वयं आचार्य चाणक्य ही है, जो चन्द्रगुप्त के मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित है। राक्षस को बुद्धिबल से परास्त कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाना चाहता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसने अपने जिस बुद्धि-वैभव का प्रदर्शन किया है वह राजनीतिज्ञों को भी उलझन में डालने वाला है। पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में भी इस नाटक में घटना की एकता का जितना सुन्दर प्रदर्शन हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। आदि से लेकर अन्त तक सभी घटनाएँ राक्षस के वशीकरण की ओर ही प्रवृत्त हो रही हैं। घटनाएँ बड़ी पेचीदी तथा विच्छिन्न सी प्रतीत होती हैं, परन्तु उनका समन्वय एक ही प्रयोजन की सिद्धि में अनुस्यूत है।

विशिष्टता

'मुद्राराक्षस' नाटक अनेक दृष्टियों से संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय है। संस्कृत की सामान्य नाटचधारा के प्रतिकूल इसमें प्रेम-कहानी का ही नितान्त अभाव नहीं है, प्रत्युत इसमें प्रणय का वातावरण भी नहीं है। इस नाटक में नायिका का एकदम अभाव है और नाटक के वातावरण को स्निग्ध तथा ललित बनाने वाले विदूषक का भी कहीं पता नहीं है। सच तो यह है कि यह नाटक आदि से लेकर अन्त तक ओजस्विता, पौरुष और ऊर्ज

के ऊपर एकान्ततः आश्रित है, इसीलिए इसका नाटकीय वातावरण पूर्णरूपेण तेजस्विता से ओत-प्रोत है। अन्य वीररसाश्रयी नाटकों से भी इसका पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। भास का 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' भी कूटनीति के स्तम्भ पर आश्रित महनीय नाट्यप्रासाद है, परन्तु इसमें वह ओजस्विता नहीं है जो मुद्राराक्षस में है। 'वेणीसंहार' से भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि भट्टनारायण का यह नाटक समराङ्गण में प्रवर्तमान भयंकर युद्ध की विषमता से संक्रान्त है, जिसमें योद्धाओं के सन्नाहों से टकरा कर तलवारों की झंझनाहट, घोड़ों की भयानक आवाज तथा भीषण मार-काट के कारण युद्ध की भीषण रंगस्थली पर्याप्त भय उत्पन्न करती है; परन्तु इस नाटक में वीररस तो अवश्यमेव विद्यमान है, लेकिन न तो तलवारों की झनझनाहट है और न नगाड़ों की गड़गड़ाहट। यहाँ युद्ध वीर सैनिकों के अस्त्रों से नहीं होता; यहाँ तो चाणक्य तथा राक्षस की बुद्धि और कूटनीति के खेल का ही एक विशाल अखाड़ा है, जिसमें दो अक्खड़ पहलवान पर्दे की ओट से ही अपना दावपेंच दिखलाकर दर्शकों को आश्चर्यचकित किया करते हैं। चन्द्रगुप्त का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि विना युद्ध के ही आर्य चाणक्य ने दुर्जय शत्रुसेना को परास्त कर दिया (विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जयं परबलमिति)।

इस नाटक में कोई भी स्त्री-पात्र नहीं है, केवल सप्तम अंक में चन्दनदास की पत्नी का प्रवेश अवश्य होता है, परन्तु वह नाटक के मुख्य कार्य में किसी प्रकार की सहायता नहीं देती। वह केवल चन्दनदास के उत्कर्ष को बतलाने के लिए ही रंगमंच पर लाई गई है। स्त्री-पात्र के अभाव में तथा हास्यरस के उत्पादक विदूषक की अनुपस्थिति में भी इस नाटक में रोचकता तथा आकर्षण कम नहीं है। कवि का कथानक ही इतना पेचीदा तथा गहरा है कि दर्शक की जिज्ञासा न कहीं शान्त होती है, न उसका कौतुक या कौतूहल कहीं अवसान को प्राप्त करता है। सफल नाटकों में जिस कौतूहलवर्धक आख्यान की योजना न्यायसंगत मानी जाती हैं वह इसमें पूर्णरूप से विद्यमान है। पूरे नाटक भर में चाणक्य तथा उसका प्रतिस्पर्धी राक्षस एक दूसरे को अपनी कूटनीति से परास्त करने के विचार से इतनी घटनाओं का विन्यास कर देते हैं कि आपाततः वे सब विच्छिन्न और विशृङ्खल प्रतीत होती हैं, परन्तु अन्त में जब जाल खींचा जाता है, तब समग्र घटनाओं का संघटित फल एक साथ ही उद्‌बुद्ध होकर दर्शकों के सामने अपने वैभव को प्रदर्शित करता है। नाटक का व्यापार पूर्णरूपेण गत्यात्मक है---कहीं भी शैथिल्य तथा अरोचकता दृष्टि पर नहीं चढ़ती। सुघटित कथावस्तु की योजना में, वैयक्तिकता से मण्डित पात्रों के चित्रण में, ओजस्वी वायुमण्डल की अवतारणा में तथा वीररस की अभिव्यंजना में 'मुद्राराक्षस' निःसन्देह संस्कृत-साहित्य में एक अपूर्व सफल नाटक है; इसके विषय में आलोचकों के बीच दो मत नहीं हो सकते।

कथावस्तु

इस नाटक में सात अंक हैं। इस नाटक को जीवन प्रदान करने वाला पात्र वस्तुतः चाणक्य है। उसने नन्द-वंश का नाश कर अपने पूर्ण भक्त शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य को राज्य-सिंहासन पर बैठा तो दिया अवश्य, परन्तु नन्दराज के भक्तिनिष्ठ अमात्य राक्षस को

अपने पक्ष में लाकर उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्री भी बना देना चाहता है। इस बुद्धिकौशल का संघर्ष ही नाटक का मेरुदण्ड है। प्रथम अंक में चाणक्य को अपने गुप्तचरों से पता चलता है कि कुसुमपुर में तीन व्यक्ति राक्षस के प्रियपात्र हैं---क्षपणक जीवसिद्धि (जो वस्तुतः चाणक्य का ही गुप्तचर है), कायस्थ शकटदास तथा मणिकार-श्रेष्ठी चन्दनदास, जिसके घर पर राक्षस अपने कुटुम्ब को रखकर नगर से बाहर चला गया है। उसे राक्षस की अपनी एक मुद्रा (मोहर) भी मिल जाती है जिसके वह शकटदास से एक कूटलेख लिखवा-कर मुद्रित कर देता है। यही मुद्रा (या मुद्राङ्कित लेख) राक्षस के पराजय का प्रधान कारण बनती है और **'मुद्राराक्षस'** नाम का भी रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। द्वितीय अंक राक्षस की कूटनीति की आरम्भिक पराजय का प्रथम निदर्शन है। कुसुमपुर में प्रवेश करते समय ही चन्द्रगुप्त को मार डालने की गहरी योजना राक्षस ने अपने गुप्तचरों की सहायता से तैयार की थी, परन्तु चाणक्य की जागरूकता के कारण वह योजना खिलने नहीं पाती, प्रत्युत कलिका के रूप में ही ध्वस्त हो जाती है। तृतीय अंक में 'कौमुदी-महोत्सव' के प्रतिषेध की मनोरंजक कथा है, जिसमें चन्द्रगुप्त चाणक्य से कपट विग्रह खड़ा करता है और राक्षस को अपनी नीति को सफल बनाने का स्वप्न देखने का अवसर देता है। शारदी पूर्णिमा को 'कौमुदी-महोतसव' मनाने की राजाज्ञा थी, परन्तु चाणक्य जानबूझ कर अवसर प्राप्त न होने से उस आज्ञा का उल्लंघन करता है। चतुर्थ अंक में राक्षस को अपनी योजना की विफलता का पता चलता है। वह नन्द के सिंहासन पर मलयकेतु को ही चन्द्रगुप्त को हटाकर बैठाना चाहता है। मलयकेतु स्वयं राक्षस से भेंट करता है और अपने स्वर्गीय पिता पर्वतेश्वर के आभूषण को मन्त्रिवर्य को पहनने के लिए देता है। पंचम अंक इस नाटक की गर्भ-सन्धि है तथा अंग्रेजी आलोचना के अनुसार इसमें कथावस्तु का सातिशय संघर्ष (क्लाइमैक्स) है। मुद्रित लेख तथा आभूषणपेटिका के साथ सिद्धार्थक पकड़ा जाता है और इन वस्तुओं की सहायता से मलयकेतु को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि राक्षस गुप्तरूप से चन्द्रगुप्त का ही हित चाहता है और इसीलिए वह राक्षस से अलग हो जाता है। चाणक्य की कूटनीति के उत्कर्ष का प्रदर्शन इस अंक में पूर्णरूप से विद्यमान है। फलतः राक्षस से विरोध करने पर मलयकेतु अपने सहयोगी राजाओं के साथ पकड़ा जाता है। अन्तिम दो अंकों में राक्षस को पकड़ने का सफल उपक्रम है। षष्ठ अंक में राक्षस चन्दनदास की प्रवृत्ति जानने के लिए कुसुमपुर में लौट आता है। एक पुरुष से भेंट होती है जो उसे चन्दनदास के भावी प्राणहरण (फाँसी) की सूचना देता है। सप्तम अंक में चाण्डाल चन्दनदास को फाँसी देने के लिए वधस्थान पर लाते हैं, जहाँ उसकी धर्मपत्नी अपने पुत्र के साथ अपने भी मर जाने की घोर प्रतिज्ञा पति को सुनाती है। अपने मित्र को इस घोर विपत्ति से बचाने के लिए, जो उसी के परिवार को रखने से आई हुई थी, राक्षस स्वयं उपस्थित हो जाता है और चाणक्य के सामने उसका वंशवद सुहृद बन जाता है तथा चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाना स्वीकार कर लेता है। इसी घटना से नाटक का अन्त होता है। यह अन्तिम घटना चाणक्य की गम्भीर कूटनीति, गहरी चाल तथा असाधारण बुद्धि के ऊपर एक मनोरंजक भाष्य है। कार्य की अन्विति बड़ी ही सुन्दरता के साथ यहाँ प्रदर्शित हुई है।

पात्र-परीक्षण

चरित्र-चित्रण में विशाखदत्त की लेखनी बड़ी मजी हुई दीखती है। एक पात्र के चरित्र-विकास के लिए अन्य सदृश पात्र की कल्पना नाटककार ने की है जिसके तारतम्य करने से दोनों की विशिष्टता का स्फुटीकरण सद्यः हो जाता है। चाणक्य तथा राक्षस, चन्द्रगुप्त तथा मलयकेतु ऐसे ही एक दूसरे के आमने-सामने खड़े होनेवाले युगलरूप में चित्रित पात्र हैं। **चाणक्य** की राजनैतिक चातुरी अपनी तुलना नहीं रखती। कूटनीति के इस प्रकाण्ड पण्डित के कार्यों के गुप्त बीज तब उद्घाटित होते हैं जब उनका फल सबके सामने उज्ज्वल रूप से प्रगट हो जाता है। उसके प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक चेष्टा में कोई न कोई रहस्य अवश्य ही छिपा हुआ रहता है। चन्द्रगुप्त को वह स्वतः स्वतंत्र रूप से आचरण करने तथा उसके आदेशों के उल्लंघन करने की स्वयं मन्त्रणा देता है, जिससे शत्रु को क्षणिक उल्लास हो और वह अपने उद्योगों में शिथिलता करने लगे। और यही फल हुआ भी। इस नाटक को गति तथा मति, प्रेरणा तथा स्फूर्ति देने का एकमात्र श्रेय यदि किसी को है तो वह चाणक्य को ही है, परन्तु चाणक्य में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क ही अधिक है; भाव की अपेक्षा बुद्धितत्त्व का ही प्राबल्य है। अतः वह हमारे आदर का पात्र है, स्नेह का नहीं, आतङ्क से हम उसके सामने नत-मस्तक हो जाते हैं, परन्तु प्रेम से नहीं। उसमें उदारता की कमी है, परन्तु अपनी कूट-नीति की सिद्धि के लिए वह अकार्यों को भी प्रश्रय देने से पराङमुख नहीं होता।

उसकी तुलना में **राक्षस** की नीति अवश्य सफल नहीं होती, परन्तु फिर भी राक्षस की मानवता, कोमल-हृदयता तथा मित्रवत्सलता नितान्त श्लाघनीय है। राजनीति के अखाड़े में पराजित होने पर भी राक्षस मानवता के क्षेत्र में विजयी सिद्ध होता है। उसमें बुद्धितत्त्व की न्यूनता होने पर भी हृदयतत्त्व की प्रचुरता है। इसलिए वह दर्शकों के हृदय को बरबस अपनी ओर खींचता है। उसके लिए हमें सम्मान है तथा प्रेम है। वह अपने परलोकगत स्वामी के हित के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है। वह विलीन तथा अस्तंगत कार्यों तथा कामनाओं के लिए लड़ता है। विना किसी आशा के ही स्वामि-हित का सम्पादन उसकी स्वामिभक्ति का उज्ज्वल दृष्टान्त है। सौहार्द का तो वह जीवित प्रतीक ही है। चन्दनदास के प्राण बचाने के लिए वह प्रतिज्ञा को भूल जाता है। प्रतिज्ञा का विलयन भले ही हो जाय, परन्तु अपने सुहृद का उसके लिए बाल भी वाँका न होने पावे—यही उसके जीवन का आदर्श है। चाणक्य भी राक्षस की अलोक-सामान्य स्वामिभक्ति तथा उत्कृष्ट मित्रवात्सल्य से पूर्ण परिचित था और इसलिए वह उसे चन्द्रगुप्त के अमात्य पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता था। इस प्रकार चाणक्य में बुद्धितत्त्व का प्राचुर्य है, तो राक्षस में हृदयतत्त्व की प्रतिष्ठा है। दोनों पात्र एक दूसरे के संघर्ष में आकर खुलते हैं और खिलते हैं। चन्दनदास की भी सच्ची मित्रता श्लाघनीय है। वह विषम परिस्थितियों में आकर भी अपने निश्चय से नहीं हटता। चाणक्य उसे नाना प्रलोभनों से लुभाकर अपनी कार्यसिद्धि करना चाहता है, परन्तु यह सच्चा मित्र हिमालय के समान अडिग खड़ा रहता है। प्रलोभनों के आगे झुकने का नाम भी नहीं जानता। अपने कुटुम्ब को संकट में डालना तथा अपने प्राणों की आहुति

करना—इसे वह सौहार्द-योग का परम आवश्यक अंग मानता है और इसी आदर्श-पालन के कारण वह हमारे हृदय में सम्मान का पात्र है।

मुद्राराक्षस का नायक **चन्द्रगुप्त** धीरोदात्त नायक है। वह अपने मार्ग-दर्शक गुरु का अन्धभक्त शिष्य है, जो स्वप्न में भी अपने गुरु से काल्पनिक कलह करने में भी काँप उठता है। चाणक्य का वचन उसके लिए वेदवाक्य है। उसे अपने गुरु की अलौकिक कार्य-कुशलता और कूटनीति-पटुता में अटूट विश्वास है और यही उसकी गुरुभक्ति की आधार-शिला है। वह युद्धवीर है तथा अनुभवी शासक है और इसीलिए उसके सामने सिद्धियाँ स्वतः नत होती हैं। चाणक्य के बारंवार कहने पर कुछ काल के लिए स्वातन्त्र्य का ढोंग रचता है, परन्तु वह भी शत्रु को भुलावा देने के निमित्त ही। ठीक इसके विपरीत **मलयकेतु** है—बुद्धिहीन, अयोग्य तथा कच्ची बुद्धि का अभिमानी युवक, जो अपना हित-अनहित, शत्रु-मित्र को परखने की क्षमता से विहीन है। राक्षस सचमुच उसे मगध के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, परन्तु वह अपनी कच्ची बुद्धि के कारण राक्षस की सद्भावना तथा कार्यक्षमता में विश्वास नहीं करता। इसीलिए उसे पराजित होना पड़ता है। हमें उसकी मूर्खता पर दया आती है।

ये चारों पात्र नाटकीय 'टाइप' न होकर वैयक्तिक जीवन से सम्पन्न हैं। ये अपनी वैयक्तिक विलक्षणताओं से मण्डित सजीव पात्र हैं। राजनीति जैसे दुरूह विषय को लोकप्रिय बनाना तथा रंगमंच के ऊपर अभिनीत करना विशाखदत्त की नाटकीय चातुरी का प्रत्यक्ष उदाहरण है। वस्तु की एकता के संपादन में जैसे वह चतुर है, चरित्रों के-चित्रण में भी वह उसी प्रकार दक्ष तथा समर्थ है।

कवित्व

'मुद्राराक्षस' की शैली में एक विलक्षण 'पुरुषत्व' है जिससे उसका प्रत्येक अक्षर सुशोभित है। मुख्य रस वीर ही है। अलंकारों का पद्यों में उतना ही प्रयोग है जिससे भावों के प्रकटन में अथवा मूर्त की कल्पना में तीव्रता का वैशद्य से जन्म हो जाता है। पात्रों के अनुकूल ही भावों का निवेश तथा भाषा की प्रतिष्ठा है। तृतीय अंक में शरद् ऋतु का भी रोचक वर्णन है, परन्तु वह सन्दर्भ तथा कथानक को एक उन्नत कोटि तक पहुँचाने का कार्य करता है। आशय यह है कि विशाखदत्त ने इस नाटक को ऊर्जस्वी और वीररस-मण्डित बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। चाणक्य को इस बात की आशंका से भी महान् क्षोभ हो रहा है कि उसके रहते हुए चन्द्रगुप्त का अभिभव और तिरस्कार कौन सोच रहा है। वह कहता है (१।८):—

आस्वादित-द्विरद-शोणित-शोण-शोभां सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भा-विदारित-मुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥

अर्थात् सिंह का तिरस्कार कर उसके दाढ़ (दाँत) को कौन व्यक्ति उखाड़ना चाहता है। हाथी को खाने के कारण उसके लोहू से लाल रंग की वह दंष्ट्रा अत्यन्त चमक रही है और सन्ध्याकाल में चन्द्रमा की कला के समान लाल रंग की शोभा से मण्डित है। जँभाई लेते समय सिंह ने जब अपना मुँह खोला तब वह उसमें चमक रही है। ऐसी दंष्ट्रा को सिंह के मुख से उखाड़ लेनेवाला पुरुष काल के साथ साक्षात् युद्ध कर रहा है और

अपने ही हाथों उसे न्योता दे रहा है ! ! ! अप्रस्तुत-भावना कितनी सुन्दरता से अभिव्यक्ति की गई है।

प्रकृति का वर्णन भी प्रस्तुत की भावना को तीव्र बनाकर अग्रसर कर रहा है। कुसुमपुर के इस उजड़े बगीचे का यह वर्णन सचमुच प्रकृत-रस का पोषक है (६।११)—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदाम् ।
फलैर्हीना वृक्षा विगुण-नृपयोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुषः ॥

महामात्य चाणक्य की कुटिया का यह दृश्य वेजोड़ है। कहाँ तो सुगाङ्ग प्रासाद में मखमली फर्श पर चलनेवाले तथा विशाल वैभव के भोक्ता चन्द्रगुप्त की वह विभूति है और कहाँ उसके ही राज्यसंचालक चाणक्य की यह छोटी कुटिया है। महामात्य की सादगी तथा संन्यस्त जीवन की कितनी सुन्दर व्यंजना है इस पद्य में (३।१५) :—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत् ।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिर्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥

एक ओर उपलों को तोड़ने के लिए रखा हुआ पत्थर का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है, तो दूसरी ओर छात्रों द्वारा लाया गया कुशों का एक स्तूप खड़ा हुआ है। उस कुटिया की दीवालें ही पुरानी और जीर्ण नहीं हैं, प्रत्युत उसकी छाजन भी सुखाई जानेवाली लकड़ियों के कारण बिल्कुल झुकी हुई है। यही है राजाधिराज के मन्त्री की विभूति !!!

विशाखदत्त राजनीति के प्रवीण पण्डित थे, यह कहना व्यर्थ है और इसीलिए इस नाटक में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का विपुल प्रभाव विशेषभावेन दृष्टिगोचर होता है। इनकी प्रतिभा राजनैतिक नाटकों के प्रणयन में विना किसी सन्देह के सर्वथा सफल मानी जा सकती है, क्योंकि इनका दूसरा अधूरा नाटक **'देवी-चन्द्रगुप्त'** भी पूर्ण राजनैतिक तथा ऐतिहासिक वृत्त से मण्डित है।

इस प्रकार हम भाषा तथा भाव, शैली तथा कवित्व, वस्तु तथा पात्र-चित्रण के समीक्षण के बल पर कह सकते हैं कि विशाखदत्त का यह नाटक वास्तव में एक महनीय सफल कृति है जिसमें कालिदास के समान कोमल भावों की तरलता नहीं है, न भवभूति के समान हृदय को रुलानेवाली करुणा का प्रसार है, न भट्टनारायण के समान योद्धाओं को समराङ्गण में प्राण देने के लिए न्यौता देनेवाले नगाड़े की गड़गड़ाहट है, परन्तु जिसमें दो विशाल राजनीतिज्ञों के बुद्धि-वैभव की नाना खेलों का विपुल आगार है और मानवता की भव्य मूर्ति को उपस्थित करनेवाली नाटचकला का सुन्दर ओजस्वी रूप है। निःसंदेह मुद्राराक्षस संस्कृत का सफल नाटक होने के अतिरिक्त विश्वसाहित्य में अपना उचित स्थान बनाये रखने की योग्यता रखता है।[1]

---

१. आलोचना के लिए विशेष द्रष्टव्य डा० देवस्थली-इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ मुद्राराक्षस, बम्बई १९४८ (पृ० ५१-८४)।

(४) शूद्रक

मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का कुछ परिचय ग्रन्थ के आरम्भ (१।४, १।५) में ही मिलता है। इसके अनुसार शूद्रक हस्तिशास्त्र में परम प्रवीण थे, भगवान् शिव के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बड़े ठाट-बाट से उन्होंने अश्वमेध किया था; अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठा दस दिन तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अन्त में अग्नि में प्रवेश किया। वह युद्धों से प्रेम करते थे, प्रमादरहित थे, तपस्वी तथा वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे। राजा शूद्रक को बड़े-बड़े हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने का बड़ा शौक था। उनका शरीर था शोभन, उसकी गति थी मतङ्ग के समान; नेत्र थे चकोर की तरह, मुख था पूर्ण चन्द्रमा की भाँति। तात्पर्य यह है कि उनका समग्र शरीर सुन्दर था। वे द्विजों में मुख्य थे। प्रतीत होता है कि किसी अन्य लेखक ने यह वर्णन यहाँ जान-बूझकर घुसेड़ दिया है। 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः' स्वयं लेखक की लेखनी इस भूतकाल का प्रयोग कैसे कर सकती है। निःसंदेह यह अंश प्रक्षेप है।

शूद्रक नामक राजा की संस्कृत-साहित्य में खूब प्रसिद्धि है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में अनेक दंतकथायें प्रख्यात हैं, उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी हैं। कादम्बरी में विदिशा नगरी में, कथा-सरित्सागर में शोभावती तथा वेतालपंचविंशति में वर्धमान नामक नगर में शूद्रक के राज्य करने का वर्णन पाया जाता है। कथासरित्सागर का कथन है कि किसी ब्राह्मण ने राजा को आसन्नमृत्यु जानकर उसे दीर्घ जीवन की आशा से अपने प्राण निछावर कर दिये थे। हर्षचरित में लिखा है कि शूद्रक चकोर के राजा चन्द्रकेतु का शत्रु था। राजतरंगिणीकार स्थिर-निश्चलता के दृष्टान्त के लिये शूद्रक का स्मरण करते हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार विक्रमादित्य के सत्ताइस वर्ष पहिले शूद्रक ने राज्य किया था। प्रसिद्धि है कि कालिदास के पूर्ववर्ती रामिल तथा सोमिल नामक कवियों ने मिलकर **'शूद्रक-कथा'** नामक पुस्तक लिखी थी। अतः शूद्रक राजा की पर्याप्त प्रसिद्धि है। यूरोपियन लेखकों की सम्मति में शूद्रक इसके कर्ता नहीं हैं। बहुत से लोग तो शूद्रक की सत्ता में ही विश्वास नहीं करते, परन्तु ये सब भ्रान्त धारणायें हैं। तथ्य यह प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य के समान ही शूद्रक भी ऐतिहासिक क्षेत्र से उठकर कल्पना-जगत् के पात्र माने जाने लगे थे और जिस प्रकार ऐतिहासिक लोग प्रथम शतक में विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में ही सन्देहशील थे उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी। आधुनिक शोध से दोनों ही ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध होते हैं। ऐसी दशा में शूद्रक को मृच्छकटिका का रचयिता न मानने वाले डा० सिलवाँ लेवी तथा कीथ का मत स्वयं ध्वस्त हो जाता है। पिशेल ने जो दण्डी को इसका रचयिता होने का श्रेय दिया है वह भी कालविरोध होने से भ्रान्त प्रतीत होता है। शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और वे ही मृच्छकटिक के यथार्थ लेखक थे।

स्थितिकाल

पुराणों में आन्ध्रभृत्य-कुल के प्रथम **राजा शिमुक** का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता अंगीकार कर इनका समय

विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते हैं। यदि यह अभिन्नता सप्रमाण सिद्ध की जा सके, तो शूद्रक कालिदास के समकालीन अथवा उनके कुछ पूर्व के ही माने जायेंगे, परन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है।

वामनाचार्य ने अपनी काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में 'शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु' शूद्रक-विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया और **'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्'** इस मृच्छकटिक के द्यूत-प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है, जिससे हम कह सकते हैं कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी काव्यादर्श में 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' मृच्छकटिक के इस पद्यांश को अलंकारनिरूपण करते समय उद्धृत किया है। इन बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

समय-निरूपण में मृच्छकटिक के अन्तरंग प्रमाणों से भी बहुत सहायता मिलती है। नवम अंक में वसन्तसेना की हत्या करने के लिए शकार आर्य चारुदत्त पर अभियोग लगाता है। अधिकरणिक के सामने यह पेश किया जाता है। अन्त में मनु के अनुसार ही धर्माधिकारी निर्णय करता है (९।३९):—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥

इससे स्पष्ट ही है कि मनु के कथनानुसार अपराधी चारुदत्त अवध्य सिद्ध होता है और धनसम्पत्ति के साथ उसे देश से निकल जाने का दण्ड दिया जाता है। यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है (८।३८०–८१) :—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना-काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भास कवि के 'दरिद्र-चारुदत्त' तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अत्यन्त समानता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक बहुत विस्तीर्ण है, दरिद्रचारुदत्त का संक्षिप्त। मृच्छकटिक भास के रूपक के अनुकरण पर रचा गया है, अतः शूद्रक का समय भास के पीछे होना चाहिये।

मृच्छकटिक के नवम अंक में कवि ने बृहस्पति को अंगारक (अर्थात् मंगल) का विरोधी बतलाया है[1], परन्तु वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना है।[2] प्रसिद्ध

१. अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥ (मृच्छ० ९।३३)

२. जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः। (बृहज्जातक २।१६)

ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्धान्त ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। आजकल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र ही माने जाते हैं, परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई-कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे, जिसका उल्लेख बृहज्जातक में ही पाया जाता है।[1] वराहमिहिर का परवर्ती ग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं मान सकता। अतः शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते हैं। वराहमिहिर की मृत्यु ५८९ ईस्वी में हुई थी; इसीलिए शूद्रक का समय छठी सदी के पहिले होना चाहिये।

इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक दण्डी (सप्तम शतक) और वराहमिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे, अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पंचम शतक में मानना उचित है। और यह आविर्भावकाल नाटक में वर्णित सामाजिक दशा से पुष्ट होता है।

ग्रन्थ की कथा

मृच्छकटिक में १० अंक हैं। पहले अंक का नाम 'अलंकारन्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्ध वारवनिता वसन्तसेना को राजा का श्यालक शकार वश में करना चाहता है। रास्ते में अँधेरी रात में विट तथा चेट के साथ शकार उसका पीछा कर रहा है। मूर्ख शकार के कथन से वसन्तसेना को पता चलता है कि वह आर्य चारुदत्त के मकान के पास ही है। अतः उसके घर में घुसती है। विदूषक मैत्रेय शकार को डाँट-डपट कर घर में घुसने से रोकता है। चारुदत्त से वार्तालाप करने के बाद शकार से बचने के लिये वसन्तसेना अपना गहना उसके घर पर रख आती है। दूसरे अंक का नाम 'द्यूतक-संवाहक' है। दूसरे दिन सवेरे दो घटनाएँ घटती हैं। संवाहक पहले चारुदत्त की सेवा में था, पीछे पक्का जुआरी बन जाता है। वह जुए में बहुत सा धन हार जाता है जिससे वह चारुदत्त के घर भाग आता है। चारुदत्त उसे ऋणमुक्त कर देते हैं। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसी दिन प्रातःकाल वसन्तसेना का हाथी रास्ते में किसी भिक्षुक को कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचाता है। चारुदत्त अपना बहुमूल्य दुशाला उपहार में दे देते हैं। तीसरे अंक का नाम 'संधिच्छेद' है। वसन्तसेना की दासी मदनिका को शर्विलक सेवा से मुक्त कराना चाहता है। वह ब्राह्मण है, परन्तु प्रेमपाश में बँधकर आर्य चारुदत्त के घर में सेंध मारता है और वसन्तसेना का गहना चुरा लेता है।

चतुर्थ अंक का नाम 'मदनिका-शर्विलक' है जिसमें शर्विलक अलंकार लेकर वसन्तसेना के घर जाता है और मदनिका को सेवा-मुक्त कर देता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके बदले में देती है। मैत्रेय रत्नावली लेकर वसन्तसेना के महल में जाता है और जुए में हार जाने का बहाना कर रत्नावली देता है। वसन्तसेना सायंकाल चारुदत्त के घर आने के लिए वादा करती है। पाँचवें अंक का नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है। सुहावने वर्षाकाल में आर्य चारुदत्त उत्सुकता से वसन्तसेना की राह जोहते बैठे हैं। चेट वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है।

---

१. जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयो व्यर्का विभौमाः क्रमात्।
वीन्द्वर्का विकुजेन्द्वश्च सुहृदः केषाञ्चिदेवं मतम्॥ (वही २।१५)।

चारुदत्त से प्रेम सम्मिलन होता है। उस रात वह वहीं बिताती है। षष्ठ अंक का नाम 'प्रवहणविपर्यय' है तथा सप्तम का 'आर्यकापहरण'। प्रातःकाल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में गये हैं। उनसे भेंट करने के लिए वसन्तसेना जाना चाहती है, परन्तु भ्रम से शकार की गाड़ी में, जो समीप में खड़ी थी, जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की भविष्यवाणी पर विश्वास कर गोपाल के पुत्र आर्यक को कैदखाने में बन्द कर देता है। आर्यक कारागृह से भागकर चारुदत्त की गाड़ी में चढ़ जाता है। शृंखला की आवाज को भूषण की झनझनाहट समझ गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में दो सिपाही गाड़ी देखने जाते हैं जिनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से किसी बहाने झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से भेंट करता है। अष्टम अंक का नाम 'वसन्तसेना-मोचन' है। जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है, तब प्राणप्रिय चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार-संस्थानक मिलता है, जो उसकी प्रार्थना न स्वीकार करने से वसन्तसेना का गला घोंट डालता है। संवाहक जो भिक्षु बन गया है, वसन्तसेना को समीप के विहार में ले जाता है और योग्य उपचार से उसे पुनरुज्जीवित करता है। नवम अंक में जिसका नाम 'व्यवहार' है, शकार चारुदत्त पर वसन्तसेना के मारने का अभियोग लगाता है। कचहरी में जज के सामने मुकदमा पेश होता है। उसी समय चारुदत्त का बालक--पुत्र रोहसेन--मृच्छकट (मिट्टीकी गाड़ी) लेकर आता है, जिसमें वसन्तसेना के दिये सोने के गहने हैं। इसी आधार पर चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है। 'संहार' नामक दशम अंक में उसी समय राज्य-परिवर्तन होता है। पालक को मार चारुदत्त का परम मित्र आर्यक राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को क्षमा ही नहीं कर देता, प्रत्युत मिथ्याभियोग के कारण शकार को फांसी का हुक्म देता है; परन्तु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। वसन्तसेना के साथ चारुदत्त का व्याह सम्पन्न होता है। इसी अन्तिम प्रेम-मिलन के साथ यह रूपक समाप्त होता है।

इस प्रकरण के कथावस्तु के दो अंश हैं--पहिला भाग चारुदत्त तथा वसन्तसेना का प्रेम, दूसरा भाग आर्यक की राज्यप्राप्ति। शूद्रक ने पहले अंश को भास के 'दरिद्र-चारुदत्त' नाटक से अविकल लिया है। शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार की समता इसमें दृष्टिगोचर हो रही है। राजनीतिक भाग कवि की अपनी सम्पत्ति है। विज्ञ आलोचक इस अंश को प्राचीन ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया मानते हैं। दोनों अंशों को शूद्रक ने बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बद्ध किया है।

चरित्र-चित्रण

शूद्रक चरित्र-चित्रण में खूब सिद्धहस्त हैं। इनके पात्र जीते-जागते हैं; सजीवता की मूर्ति हैं। प्रत्येक पात्र में कुछ-न-कुछ विशेषता है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त है। प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ब्राह्मण, वणिक् या मन्त्री हुआ करता है। चारुदत्त ब्राह्मण है तथा धीर-प्रशान्त है। शूद्रक ने चारुदत्त के रूप में भारत के आदर्श नागरिक का चित्र खींचा है। वह सदाचार का निदर्शन है (१।४८) :--

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥

चारुदत्त दीनों के कल्पवृक्ष हैं। दरिद्रों की सहायता करते उसे दरिद्रता आ घेरती है, परन्तु फिर भी वह दीनों की सहायता करने से विरत नहीं होता। उसमें आत्माभिमान की मात्रा खूब है। उसे यह जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि हमारे घर से छूंछे हाथ लौट जानेवाला चोर अपने मित्रों से मेरी दरिद्रता की निन्दा करेगा। स्वभाव उसका बड़ा उन्नत है। वसन्तसेना का अलंकार चोरी चला जाता है, परन्तु उसे प्रसन्नता होती है कि उसके घर में सेंध मारनेवाला चोर विफल-मनोरथ होकर नहीं गया। वसन्तसेना के अल्पमूल्य भूषण के बदले में अपनी पत्नी की बहुमूल्य रत्नावली देने में वह तनिक भी नहीं हिचकता। जो शकार उसके जीवन का गाहक था, जो उस पर वसन्तसेना के मारने का मिथ्या अभियोग लगाकर शूली पर चढ़ाये जाने का कारण था, उसी दुष्टबुद्धि मूर्ख शकार को वह क्षमा कर देता है। इस नाटक में सचमुच चारुदत्त के रूप में हम एक आदर्श 'आर्य सज्जन' का मनोरम चित्र पाते हैं। भारतीय दृष्टि से पूर्ण सज्जनता का जीवितरूप हमें आर्य चारुदत्त के रूप में प्राप्त होता है। फलतः वे 'परफेक्ट जेन्टिलमैन' के जीवन्त उदाहरण हैं।

वसन्तसेना उज्जयिनी की एक वेश्या है, जो इस प्रकरण की नायिका है। उसके चरित्र में हम अनेक स्त्रीसुलभ गुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है। माता के आग्रह करने पर भी वह शकार की संगति नहीं चाहती और विरोध करने पर भी सदाचारी आर्य चारुदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिए वह सतत उद्योग करती है। उसका हृदय अत्यन्तं कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वभाव है। यद्यपि शकार उसे मार डालने का उद्योग करता है, तथापि वह अपने सद्-गुणों के कारण जीवित बच जाती है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त के अतिरिक्त अन्य पात्रों के भी चरित्र-चित्रण में शूद्रक को सफलता प्राप्त हुई है। धूता सच्ची पतिव्रता हिन्दू नारी है, जो अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिए कठिन से कठिन संकट झेलने के लिए भी उपस्थित है। अपने पति को कलंक से बचाने के लिये वसन्तसेना के अल्पमूल्य आभूषण के लिये बहुमूल्य रत्नावली देते समय उसे तनिक भी दुविधा नहीं होती। **रोहसेन** भी स्निग्ध हृदय पुत्र है। **मैत्रेय** केवल मोदक से अपनी उदर-ज्वाला को शान्त करनेवाला, 'औदरिक'—पेटू—नहीं है, न वह केवल हास्य का साधन है, प्रत्युत वह एक सच्चा मित्र है—विपत्ति में साथ देनेवाला सच्चा बन्धु है। अन्य साधारण पात्रों में **शर्विलक** का चरित्र सज्जनता तथा दुर्जनता का अपूर्व मिश्रण है। वेश्या की गृहदासी मदनिका को अपनी प्रिय-पात्री बनाने में यह ब्राह्मण देवता तनिक भी नहीं सकुचाते—उसे ऋणमुक्त करने के लिए चोरी करने में उसे कुछ भी लज्जा नहीं, परन्तु अपने मित्र आर्यक के कारागृह में बन्धन की वार्ता सुन वह अपनी प्रणयिनी को छोड़ सहायता करने के लिये खम ठोंककर 'मैदाने जंग' में आ जुटता है।

मृच्छकटिक में सबसे विचित्र नाटकीय पात्र है—**शकार**। यह राजा का श्यालक है। नाम है संस्थानक। यह गर्व का जीता-जागता पुतला है। उसमें दया छूकर भी नहीं है। वसन्तसेना को अपने प्रणयपाश में बांधना चाहता है, परन्तु वह इस मूर्ख को पसन्द नहीं करती। शकार चारुदत्त का अकारण शत्रु है। वसन्तसेना का गला अपने ही हाथ घोंट डालता है, परन्दु दोष मढ़ता है चारुदत्त के सिर पर। अपने किये कर्म का फल चखने का भी सुयोग आता है, परन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है। शकार के कथन सर्वथा क्रमहीन, लोक-विरुद्ध, न्याय-विरुद्ध तथा व्यर्थ होते हैं।[१]

इसकी शकार-बहुला भाषा भी शकारी के नाम से प्रसिद्ध है। शकार की भाषा तथा तात्पर्य के लिए यह श्लोक पर्याप्त होगा (१।२५) :—

झाणज्झणन्तबहुभूशणशद्दमिश्शं किं दोवदी विअ पलाअशि लाभभीदा।
एशे हलामि सहशत्ति जधा हणूमे विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दम्॥

अरी ? अपने गहनों को झनझनाती हुई, राम से डरी हुई द्रौपदी की तरह क्यों भाग रही हो ? मैं तुम्हें उसी भाँति ले भागता हूँ, जिस प्रकार हनुमान् विश्वावसु की भगिनी सुभद्रा को ले भागे थे। रामायण तथा महाभारत की कथा की कैसी अच्छी जानकारी है शकार को ! लोकविरुद्ध वृत्त का निदर्शन इससे बढ़कर और क्या हो सकता है।

'शकार' की अवतारणा प्रथम तथा अन्तिम बार इसी नाटक में हुई है, इसलिए उसकी ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। वह राजा की रक्षिता का भाई है और इस पद की भूयसी प्रतिष्ठा का ज्ञान ही उसके अभिमान तथा अहंकार का एक जीता-जागता पुतला बनाये हुए है। नाटक में न तो उसके वर्ण का संकेत है, न उसके देश का। डाक्टर सिल्वाँ लेवी की यह कल्पना है कि वह शक जाति का था और उसका नाटक में प्रवेश उस युग का स्मारक है जब भारतीय राजा लोग शकदेश की स्त्रियों को अपनी महलों में विवाहिता या रक्षिता बनाकर रखा करते थे। शकार की विचित्र भाषा तथा भारतीय परम्परा का स्थूलतम अज्ञान इस कल्पना के लिए आश्रय माने जा सके हैं, परन्तु इसकी पर्याप्त पुष्टि के साधन आज भी अपर्याप्त हैं। सबसे महत्त्व की बात यह है कि संस्कृत के नाटककार ने किसी भी विदेशी पात्र की कल्पना अपने नाटकों में नहीं की है। अतः यह कल्पना रोचक होने पर भी अभी तक पुष्ट नहीं मानी जा सकती।

सामाजिक दशा

मृच्छकटिक में तत्कालीन हिन्दू-समाज का सच्चा चित्र हमें मिलता है। राजा का प्रभुत्व अधिक अवश्य था, परन्तु वह अपने मन्त्रियों की सहायता से राज्य-संचालन किया करता था। पुलिस का इन्तजाम भी उस समय अच्छा था। उस समय मनुस्मृति के अनुसार मुकदमों का फैसला हुआ करता था—मनु की प्रामाणिकता सर्वत्र मानी जाती थी। अधिकरणिक (जज) की सहायता करने के लिये 'असेसर' हुआ करते थे, जिसमें ब्राह्मण तथा साहुकारों को भी जगह मिलती थी। वैश्यों का उस समय अच्छा संगठन था। वे दूर देशों से व्यापार किया करते थे—विदेशों में उनके जहाज भी आया-जाया करते

१. **अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम्।**
लोकन्यायविरुद्धं च शकारवचनं विदुः॥

थे। ब्राह्मणों का काम केवल अध्ययन-अध्यापन ही नहीं था, बल्कि उनमें भी बड़े धनाढ्य—सम्भवतः व्यापारी से धन प्राप्त करनेवाले—व्यक्ति थे। आर्य चारुदत्त के पितामह बड़े भारी सेठ थे। ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे—उनके घर मन्त्रपाठ से सदा गूंजा करते थे। ब्राह्मण-धर्म पर खूब विश्वास था। उस समय की धार्मिक चर्या आजकल से भिन्न न थी। सन्ध्यावन्दन, बलि देना, देवताओं के मन्दिर में सायंकाल को दीप-दान आदि आजकल की तरह उस समय भी प्रचलित थे। इन्द्रध्वज तथा कामदेवोत्सव आदि उत्सवों का सर्वत्र प्रचार था। ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म भी सम्मुन्नत दशा में था। चैत्य और विहार भिक्षुओं के लिये बने थे, जिनमें रोगियों की शुश्रूषा भी हुआ करती थी। उस समय लोग धनाढ्य थे—वसन्तसेना के महल में राजसी ठाटबाट था। इतना होने पर भी दाम देकर खरीदे गये दासों की प्रथा उस समय थी, परन्तु क्रीतदासों की दशा बहुत अच्छी थी—उनके साथ मालिक का व्यवहार बहुत अच्छा होता था।

उस युग में **उज्जयिनी** भारतवर्ष की एक समृद्ध नगरी थी, जहाँ पश्चिम समुद्र के बन्दरगाह भरुकच्छ (वर्तमान 'भड़ोंच') के साथ सीधा आवागमन का सम्बन्ध था और इसी मार्ग से विदेशों से आनेवाली वस्तुएँ भारत के भीतर आती थीं। समृद्धि नाना प्रकार की बुराइयों को भी पैदा करती है। फलतः जूआ और चोरी जैसे जघन्य व्यवसाय दिन-दहाड़े करनेवाले लोगों की वहाँ कमी न थी। नगर में 'वेशवाट' की सत्ता उसके नाग-रिकों की विदग्धता, केलिशीलता तथा भावुकता की पर्याप्त परिचायिका है। रूपाजीवी वेश्या के साथ ही साथ उदात्तचरित्र कलाप्रवीण गणिका (जैसे वसन्तसेना) का भी अस्तित्व नगरी की महत्ता का द्योतक था। राजशक्ति बहुत ही क्षीण थी। शासन बेहद कमजोर था। जनरक्षण का इतना कुप्रबन्ध या प्रबन्धाभाव था कि शाम होते ही बड़े घरों की बहू-बेटियाँ घर से बाहर सड़क पर आने में भी भय खाती थीं कि कहीं उनकी इज्जत का गाहक कोई बदमाश कहीं से टूट न पड़े। नगर के रक्षक रक्षी पुरुष (पुलिस) वहाँ अवश्य विद्यमान थे, परन्तु शत्रु-मित्र की परख करने में बड़ी ढिलाई की जाती थी। राजा के इस कुप्रबन्ध के कारण ही घंटों में सिंहासन उलट जाता था और दूसरा राजा आ धमकता था। नाटक में प्रदर्शित राज्य-परिवर्तन का रहस्य इसी दुर्बल राजशक्ति के भीतर छिपा हुआ है।

कतिपय ब्राह्मण अपने पैतृक कार्य को छोड़कर व्यापार के द्वारा धनसंग्रह के कार्य में व्यस्त थे। आर्य चारुदत्त के पितामह इसी प्रकार के एक धनाढ्य सेठ थे। ब्राह्मणों के भीतर भी विशेष बुराई तथा छल-कपट का प्रवेश हो गया था और ब्राह्मण-युवकों में से अनेक पुरुषों का जीवन जुआ और चोरी में बीतता था। शर्विलक ऐसा ही ब्राह्मण है, जो अपने पवित्र जनेऊ की भी हँसी उड़ाने से बाज नहीं आता। बौद्ध धर्म भी सम्पन्नदशा में अपना समय बिता रहा था, परन्तु इसके भी अनुयायियों में निकम्मे लोग भर गये थे। जो सर्वथा बेकाम तथा लाचार होता वह बौद्ध बिहार में भिक्षु बनकर अपना कालक्षेप करता। "संन्यासं कुलदूषणैरिव जनैः" (५।१४) का लक्ष्य ऐसे ही लोगों की ओर है। श्रमण का दर्शन 'अनाभ्युदयिक' माना जाता था।

गरज यह है कि वह युग समृद्धि का युग था और उसके साथ आनेवाली सब बुराइयों के लिए वहाँ पूरा दरवाजा खुला था। ऐसे भ्रष्ट वातावरण के भीतर से 'चारुदत्त' जैसे आदर्श तथा सच्चरित्र पात्र की कल्पना सचमुच कवि की विमल प्रतिभा का निदर्शन है।

प्राकृत का वैशिष्ट्य

मृच्छकटिक प्राकृत भाषा की दृष्टि से एक नितान्त उपादेय रूपक है। यहाँ जितनी भाषाएँ तथा विभाषायें प्राकृत की उपलब्ध होती हैं उतनी अन्य किसी नाटक में नहीं, जान पड़ता है कि भरत के भाषाविधान (नाटचशास्त्र, अध्याय १८) को लक्ष्य में रखकर शूद्रक ने इन भाषाओं का प्रयोग भिन्न-भिन्न पात्रों के भाषणों के लिए किया है। टीकाकार **पृथ्वीधर** के कथनानुसार इस प्रकरण में शौरसेनी, मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शकारी, चाण्डाली तथा ढाक्की इन सात प्राकृतों का प्रयोग किया है, जिनमें से प्रथम चार को वह **'भाषा'** मानता है तथा अन्तिम तीन शकारी, चाण्डाली तथा ढाक्की को **विभाषा**। वररुचि जैसे मान्य प्राकृत व्याकरण के कर्ता ने **'विभाषा'** के भाषा से पार्थक्य तथा वैशिष्ट्य का समुचित प्रतिपादन नहीं किया है। 'विभाषा' या तो वह प्राकृत भाषा है जो कवि के द्वारा किसी पात्र-विशेष के बोलचाल के लिए ही कल्पित की गई है अथवा जिसमें नियमों का 'बाहुलकात्' प्रयोग होता है। पृथ्वीधर के अनुसार सूत्रधार, नटी रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, श्रेणी तथा शोधनक (११ पात्र) शौरसेनी बोलते हैं। संवाहक, तीनों चेट, भिक्षु तथा रोहसेन (छः पात्र) मागधी का प्रयोग करते हैं। वीरक तथा चन्दन अवन्ती बोलते हैं, तो विदूषक 'प्राच्या' बोलता है। शकार की भाषा 'शकारी' है, दोनों चाण्डालों को चाण्डाली, माथुर और द्यूतकर की भाषा ढाक्की है। इन भाषाओं में शौरसेनी तथा मागधी तो सुप्रख्यात तथा बहुशः व्याख्यात भाषायें हैं। अवन्ती तथा प्राच्या का पृथ्वीधर द्वारा विहित लक्षण-नितान्त अशुद्ध है; क्योंकि यह लक्षण इन पात्रों की भाषाओं में नहीं मिलता। **मार्कण्डेय कवीन्द्र** (१६ वीं शती) ने अपने **'प्राकृतसर्वस्व'** में इनके शुद्ध लक्षण देने की कृपा की है। उनके मतानुसार 'प्राच्या' की प्रकृति शौरसेनी है, अर्थात् शौरसेनी के आधार पर कतिपय परिवर्तनों से 'प्राच्या' निष्पन्न होती है। इन नियमों में—'मूर्ख' का 'मुरुक्ख', 'भवती' का 'भोदि', 'वक्र' का 'बक्नु' या 'वंकुभ', नीच पात्र के सम्बोधन में आकार का दीर्घत्व आदि कतिपय मान्य नियम हैं। **आवन्ती** महाराष्ट्री तथा शौरसेनी के मिश्रण से निष्पन्न भाषा है, जिसमें सदृक्ष='सरिच्छ', क्त्वा,=तूण, दृश=पेच्छ अथवा दरिस, भविष्य सूचक प्रत्यय ज्ज, या ज्जा (भोज्ज, भोज्जा=भविष्यति)आदि मुख्य हैं। लेखक की तो यह दृढ़ धारणा है कि इन भाषाओं के प्राचीन लक्षणों का निर्देश किसी कारण से नष्ट हो गया था और इसीलिए इस नाटक में उपलब्ध तत्तत् भाषाओं के समीक्षण पर ही मार्कण्डेय ने अपना नियम बनाया है। इसीलिए वे नियम पूरे तौर से न मिलते हैं न सुसंगत होते हैं।

मागधी में शकार तथा ककार की बहुलता लाने से शकारी बनती है, जो शकार के ऊटपटांग अनर्गल भाषण के लिए शूद्रक के द्वारा 'कल्पित' भाषा है। चाण्डाली की भी यही दशा है। ढक्की वस्तुतः ढक्क देश की भाषा थी, जो पंजाब का पूरबी भाग माना जाता था। इस भाषा में उकार की इतनी बहुलता है कि यह अपभ्रंश की ओर सचमुच

ढलती है। मार्कण्डेय कवीन्द्र ने किसी हरिश्चन्द्र नामक प्राकृत वैयाकरण की सम्मति दी है, जो ढक्की को सचमुच अपभ्रंश ही मानते थे[1]। भरत के द्वारा निर्दिष्ट उकारबहुला भाषा हिमवत्, सिन्धुसौवीर देशों में बोली जाती थी[2]। लेखक की सम्मति में ढक्क देश सिन्धुसौवीर से मिला-जुला पंजाब का पूरवी भाग प्रतीत होता है और इसीलिए दोनों की भाषाओं में साम्य होना उचित ही है।

शूद्रक की काव्यकला

शूद्रक की शैली बड़ी सरल है। बड़े-बड़े छन्दों का बहुत कम प्रयोग किया गया है। नये-नये भाव स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इस प्रकरण का मुख्य रस शृंगार है। रस की विभिन्न सामग्री से परिपुष्ट कर शृंगार का सुन्दर रूप कवि ने दिखलाया है। शूद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसमें चमत्कार-जनक अनेक सूक्तियाँ हैं (९।१४)—

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

इस श्लोक में राजकरण—कचहरी—का खूब सच्चा वर्णन किया गया है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है। चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल हैं, दूतगण लहर तथा शंख की तरह जान पड़ते हैं—इधर-उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों की यहाँ समता दी गई है। चारों ओर रहनेवाले चार—आजकल के खुफिया पुलिस—घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रूप में हिंस्र पशुओं से युक्त है। तरह-तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं। कायस्थ (मुंशी लोग) जहरीले सर्प हैं। नीति से इसका तट टूटा हुआ है। यह प्राचीन काल के राजकरण का वर्णन है; आजकल की कचहरी तो कई अंशों में इससे भी बढ़कर है। कचहरी में पहले-पहल पैर रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पद-पद पर होता है।

शर्विलक के चरित्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ब्राह्मण देवता आर्य चारुदत्त के घर में रात को सेंध मारने जाते हैं। पहुँचने पर उन्हें मालूम पड़ता है कि वह अपना मानसूत्र भूल आये हैं। झटपट गले में पड़े रहनेवाले डोरे की—जनेऊ की—सुधि उन्हें हो जाती है। बस, आप इसीसे अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इस चौर्य-प्रसंग में यज्ञोपवीत की भी उपयोगिता सुन लीजिये (३।१७)—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य,! कुतः
एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गानेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥

---

१. हरिश्चन्द्रस्त्विमां भाषामपभ्रंश इतीच्छति।
अपभ्रंशो हि विद्वद्भिर्नाटकादौ प्रयुज्यते॥ (प्राकृतसर्वस्व १६।२)

२. हिमवत्-सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥ (नाट्यशास्त्र १८।४७)

ब्राह्मणों के लिये जनेऊ बड़े काम की चीज है, विशेष करके हमारे जैसे (चोर) ब्राह्मण के लिये, क्योंकि जनेऊ से भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं। आभूषणों के बंधन जनेऊ के द्वारा छुड़ाये जाते हैं। यन्त्र से दृढ़ रूप से लगाये गये किवाड़ों को इसकी सहायता से खोलते हैं और यदि साँप या कीट काट खाय, तो उसे जनेऊ से बाँध भी सकते हैं (जिससे विष न चढ़े)। ठीक ही है; चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का और उपयोग हो ही क्या सकता है?

शूद्रक की नाटचकला

कला की दृष्टि से 'मृच्छकटिक' निःसंदेह एक सुन्दर तथा सफल नाटक है। शूद्रक ने संस्कृत-साहित्य में शायद पहिली बार मध्यम श्रेणी के लोगों को अपने नाटक का पात्र बनाया है। संस्कृत का नाटककार उच्च श्रेणी के पात्रों के चित्रण में तथा तदनुकूल कथानक के गुम्फन में अपनी भारती को चरितार्थ मानता है, परन्तु शूद्रक ने इस क्षुण्ण मार्ग का सर्वथा परित्याग कर अपने लिए एक नवीन पंथ का ही आविष्कार किया है। उसके पात्र दिन-प्रतिदिन हमारे सड़कों पर और गलियों में चलने फिरनेवाले, रक्तमांस से निर्मित पात्र हैं, जिनके काम को जाँचने के लिए न तो कल्पना को दौड़ाना पड़ता है और न जिनके भावों को समझने के लिए मन के दौड़ की जरूरत होती है। मृच्छकटिक की इसीलिए शास्त्रीय संज्ञा **'संकीर्ण प्रकरण'** की है, क्योंकि इसमें लुच्चे-लबारों, चोर-जुआरों; वेश्या-विटों का आकर्षक वायु-मण्डल है, जहाँ धौल-धुपाड़ों की चौकड़ी सदा अपना रंग दिखाया करती है। आख्यान तथा वातावरण की इस यथार्थवादिता और नैसर्गिकता के कारण ही मृच्छकटिक पाश्चात्त्य आलोचकों की विपुल प्रशंसा का भाजन बना हुआ है। यहाँ कथावस्तु की एकता का भंग नहीं है, यद्यपि वर्षावर्णन नाटक के व्यापार में शैथिल्य अवश्य ला देता है। शूद्रक का कविहृदय स्वयमापतित वर्षाकाल की मनोहरता से रीझ उठता है और वह कथा के सूत्र को छोड़कर उसके मनोहर वर्णन में जुट जाता है। सिवाय इस वर्णनात्मक विषय के कवि ने विभिन्न घटनाओं के सूत्रों का एकीकरण बड़ी सुन्दरता से किया है। 'दरिद्र-चारुदत्त' के समान इसमें केवल एकात्मक प्रणयाख्यान नहीं है, प्रत्युत उस के साथ एक राजनैतिक आख्यान का भी पूर्ण सामञ्जस्य अपेक्षित है। शूद्रक ने इन दोनों आख्यानों को एक अन्विति के भीतर रखने का पूर्ण प्रयास किया और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है।

पात्रों के विषय में यह भूलना न चाहिए कि वे किसी वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि (रिप्रिजेन्टेटिव) न होकर स्वयं 'व्यक्ति' है। वे 'टाइप' नहीं हैं, प्रत्युत 'व्यक्ति' हैं। मृच्छकटिक के अमेरिकन भाषान्तरकार डॉ० राइडर ने ठीक ही कहा है कि इस नाटक के पात्र 'सार्वभौम' ('कास्मोपालिटन') हैं, अर्थात् इस विश्व के किसी भी देश या प्रान्त में उनके समान पात्र आज भी चलते-फिरते नजर आते हैं। इसके सार्वभौम आकर्षण का यही रहस्य है। यूरोप या अमेरिका की जनता के सामने इस नाटक का अभिनय सदा सफल इसलिए हो पाया है कि वह इसके पात्रों से मुठभेड़ अपने ही देश में प्रतिदिन किया करती है। इनमें पौरस्त्य चाकचिक्य की झाँकी का अभाव कभी भी इन्हें दूरदेशस्थ पात्रों का आभास भी नहीं प्रदान करता। डाक्टर कीथ भले ही इन्हें पूरे 'भारतीय' होने की राय

दें, परन्तु पात्रों के चरित्र में कुछ ऐसा जादू है कि वह दर्शकों के सिर पर चढ़कर बोलने लगता है। आज भी माथुरक जैसे सभिक तथा उसके सहयोगियों का दर्शन कलकत्ता तथा बम्बई की ही गलियों में नहीं होता, प्रत्युत लण्डन के ईस्ट एण्ड में भी वे घमते-घामते धौल-धप्पड़ जमाते नजर आते हैं, जहाँ का 'जुआड़ियों का अड्डा' (गैम्बलिंग डेन) आज भी पुलिस की नजर बचाकर दिन दहाड़े चला करता है। तात्पर्य यह है कि शूद्रक के पात्र मध्यम तथा अधम श्रेणी के रोचक पात्र हैं, जिनका इतना यथार्थ चित्रण संस्कृत के रूपकों में फिर नहीं हुआ। शूद्रक की नाटचकला वस्तुतः श्लाघनीय तथा स्पृहणीय है।

(५) हर्षवर्धन

बागभट्ट के 'हर्षचरित' तथा ह्वेन्साङ्ग के यात्राविचरण से हमें स्फुटरूप से ज्ञात है कि हर्षवर्धन 'हूण-हरिण-केसरी' प्रभाकरवर्धन तथा यशोमती के पुत्र थे। ये अपने पिता के दूसरे लड़के थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम राज्यवर्धन था। 'राज्यश्री' नाम की इनकी बहिन योग्य विदुषी थी। बाल्यकाल में इन्हें समुचित शिक्षा दी गई थी। पिता ने पंजाब में रहनेवाले हूणों को पराजित करने के लिए राज्यवर्धन के साथ इन्हें भेजा। राज्यवर्धन आगे जाकर शत्रुओं का विनाश कर रहे थे, इधर हर्षवर्धन आखेट आदि मनोरंजन के साथ-साथ शत्रुओं का पीछा कर रहे थे। इतने में पिता की अस्वस्थता के दुःखद समाचार को लिए हुए एक दूत आया। राजधानी लौट आने पर हर्ष ने पूज्य पितृदेव को मृत्युशय्या पर पाया। प्रभाकरवर्धन ने हर्षवर्धन को 'निरवशेषाः शत्रवो नेयाः' का उपदेश देकर इस असार संसार से विदाई ली। मन्त्रियों के कहने पर ज्येष्ठ भ्राता के आगमन में कुछ विलम्ब जानकर हर्षवर्धन ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। कुछ समय के अनन्तर राज्यवर्धन ने आकर शासन भार अपने ऊपर लिया, परन्तु इन्हें शासनसुख का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। मालव-नरेश ने राज्यश्री के पति मौखरि राजा ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। राज्यवर्धन ने मालव-नरेश पर चढ़ाई की, उसे मार डाला और अपनी भगिनी के कारावास के दुःखमय जीवन का अंत किया, परन्तु वह स्वयं ही वङ्गीय नरेश शशांक की कुटिल नीति का शिकार बन गया। शशांक ने विश्वास दिला कर राज्यवर्धन को मार डाला। हर्ष के हृदय में भ्रातृवध का समाचार सुनकर प्रतिहिंसा की प्रबल अग्नि प्रज्वलित हो उठी। हर्षवर्धन ने यथासमय शशांक का विनाश कर बंगाल को अपने राज्य में मिला लिया। रिक्त सिंहासन की बागडोर हर्षवर्धन ने अपने सुदृढ़ तथा अनुभवी हाथों में ली। इनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) में थी। इनका समृद्ध राज्यकाल ६०६ ई० से लेकर ६४७ ई० तक माना जाता है।

महाराज हर्षवर्धन केवल वीर-लक्ष्मी के उपासक ही न थे, अपि तु ललित कलाओं के भी अत्यन्त प्रेमी थे। आपकी सभा को अनेक गुण और गौरव युक्त विद्वान् सर्वदा सुशोभित किया करते थे। बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा मातङ्गदिवाकर जैसे कवियों से मण्डित इनकी सभा साहित्य-संसार में सदा प्रख्यात रही है। सुना जाता है कि दिवाकर का जन्म नीच (चाण्डाल) जाति में हुआ था, परन्तु ये अपनी गुणगरिमा से बाण और मयूर के समान ही राजा के आदरपात्र थे। इस बात को राजशेखर ने सरस्वती के प्रभाव को दिखलाते हुए बड़े ही अच्छे ढंग से कहा है—

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः ।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो वाणमयूरयोः ॥

दशवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले महाकवि पद्मगुप्त ने अपने 'नवसाहसांकचरित' महाकाव्य में महाराज हर्ष की सभा में बाण और मयूर की उपस्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है :—

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे वाणमयूरयोः ॥

महाराज हर्ष केवल कवि और पण्डितों के ही आश्रयदाता और गुणग्राही न थे, बल्कि उन्होंने स्वयं भी अनेक रमणीय और सरस ग्रन्थों की रचना कर सरस्वती के विपुल भण्डार को भरा है। इस बात को हम अच्छी तरह से कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास की यह सरस सूक्ति "निसर्गभिन्नस्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च" महाराज हर्ष के विषय में अच्छी तरह से चरितार्थ होती है। इस भारतवर्ष में विक्रमादित्य, शूद्रक, हाल प्रभृति अनेक विद्या के उपासक राजा हो गये हैं, परन्तु उन सब में महाराज हर्ष (हर्षवर्धन) अद्वितीय हैं। महाकवि पीयूषवर्ष जयदेव ने अपने 'प्रसन्नराघव' नाटक में महाराज हर्ष को कविताकामिनी का हर्ष (हर्षो हर्षः) कहा है। उन्होंने वाणभट्ट के साथ हर्ष का नामोल्लेख भी किया है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' नामक चम्पू में श्रीहर्ष की, सरस्वती को हर्ष प्रदान करने के कारण, 'गीर्हर्ष' कहकर प्रशंसा की है :—

श्रीहर्ष इत्यवनिर्वर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु ।
'गीर्हर्ष' एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन वाणः ॥

इसी तरह दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ में 'रत्नावली' का नाम लेकर संकेत किया है। यह नाटिका किसी राजा के द्वारा बनाई गई है और उसके निर्माता महाराज हर्ष हैं, ऐसा कहते हुए उन्होंने उनकी हर्ष की काव्यचातुरी की अत्यन्त प्रशंसा की है। इत्सिङ्ग नामक चीनी बौद्ध परिव्राजक अपने धर्मग्रन्थों को पढ़ने की इच्छा से हर्ष की मृत्यु के बाद भारतवर्ष में आया था। उसने अपने यात्रा विवरणात्मक ग्रन्थ में महाराज हर्ष को 'नागानन्द' नाटक का रचयिता होना स्पष्ट ही लिखा है। उसने यह लिखा है :—'राजा शीलादित्य (हर्ष) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की आख्यायिका को नाटकरूप में परिणत किया और उस नाटक का संगीतादि सामग्री के साथ नटों के द्वारा अभिनय कराया।' इस प्रमाण से स्पष्ट है कि महाराज हर्ष ने 'नागानन्द' नाटक का निर्माण किया था, परन्तु इन प्रमाणों के होते हुए भी जो विद्वान् महाराज हर्ष के ग्रन्थ-रचयिता होने में सन्देह करते हैं वे बाणभट्ट के इस कथन पर विचार कर अपने सन्देह को दूर कर लें। श्री बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में दो बार राजा (श्रीहर्ष) की काव्य–व्याकरणचातुरी की प्रशंसा की है। "राज्ञां संभाषणेषु परित्यक्तमपि मधु वर्षन्तम्, काव्यकथा-स्वपीतममृत-मुद्वमन्तमिति'। बाणभट्ट का यह कथन हर्ष की काव्य-चातुरी को प्रकट कर रहा है। 'अस्य कवित्वस्य वाचो न पर्याप्तो विषयः'। इस प्रकार से बाणभट्ट ने हर्ष की काव्य-

रचना की चतुरता को स्पष्ट ही प्रकट किया है। इन ऊपर लिखित प्रमाणों से हमें विश्वास होता है कि महाराज हर्षवर्धन अच्छे कवि थे एवं कविता करने में खूब दक्ष थे।

श्रीहर्ष का ग्रन्थ-कर्तृत्व

श्रीहर्ष के तीन ग्रन्थ मिलते हैं—रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका। साहित्य-संसार में रत्नावली के रचयिता के सम्बन्ध में बड़ा आन्दोलन हो चुका है। इस बड़ी गड़बड़ी का मूल कारण मम्मट के काव्यप्रकाश का एक वाक्यांश है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में अर्थप्राप्ति भी एक प्रयोजन माना है—हजारों महाकवि कविता-देवी की पूजा कर लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये हैं। उदाहरणार्थ, धावकादि कवियों ने हर्षवर्धन से असंख्य धन पाया (श्री-हर्षादेः धावकादीनामिव धनम्)। काव्यप्रकाश के कतिपय टीकाकारों ने इससे यह अर्थ निकाला है कि धावक ने रत्नावली की रचना हर्षवर्धन के नाम से करके असंख्य सम्पत्ति पाई। काव्यप्रकाश के किसी-किसी काश्मीरी प्रति में धावक के स्थान पर बाण का नाम उल्लिखित है, जिसके आधार पर कितने ही विद्वान् बाणभट्ट पर ही रत्नावली के कर्तृत्व का भार आरोपित करते हैं। परन्तु ये सब आधुनिक विद्वानों की अनिश्चित कल्पनायें हैं।

काव्य-प्रकाश के उल्लेख का यही आशय है कि श्रीहर्ष ने बड़ी भारी सम्पत्ति कवियों को दे डाली। श्रीहर्ष जैसे उदाराशय तथा महादानी नरेश के लिये यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती। जब असंख्यों ब्राह्मण, भिक्षु तथा जैनों का आदर होता था तथा उनको प्रशंसनीय दान मिलता था, तब गुणग्राही हर्ष के लिये उसकी कीर्तिलता को पल्लवित करनेवाले कवियों को दान देने में—आदर करने में—भला संकोच कैसे हो सकता है? काव्यप्रकाश के उल्लेख का प्रकरणगम्य तात्पर्य यही है। अनेकों अर्वाचीन तथा प्राचीन कवियों ने श्रीहर्ष के समीचीन कवि-समाश्रय की शतशः प्रशंसा की है। अभिनन्द कवि ने मम्मट के कथन को दुहराया है:—

श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्।

एक दूसरे काव्य-मर्मज्ञ ने ठीक ही लिखा है:—

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्‌ मन्ये परिम्लानताम्॥

भावार्थ यह है कि हर्ष ने बाणभट्ट को हजारों दिग्गज तथा असख्य सम्पत्ति दे डाली, परन्तु आज उनका नामोनिशान नहीं है; किन्तु बाण ने हर्ष की कीर्ति को काव्यरूप में जो जड़ दिया वह कराल काल के फेर में पड़कर भी मलिन नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि ये सब उल्लेख हर्ष के आश्रयदान तथा कविसत्कार को लक्षित करते हैं। हर्ष की स्वयं दर्शन में अच्छी गति थी। वह ह्वेनसांग के संसर्ग से बौद्ध दर्शन का एक अभिज्ञ पण्डित बन गया था। ऐसे उदार दानी तथा विद्वान् सम्राट् के ऊपर अपने नाम से काव्य गढ़ने की कालिमा पोतना काव्यजगत् में अत्यन्त कलुषित कार्य है। उसका अपने आश्रित

कवियों से सहायता लेना असंभव कार्य नहीं प्रतीत होता, परन्तु उसको इन नाटकों के कर्तृत्व से वंचित करना हर्ष के महान् गुणों की अवज्ञा करना है। एक क्षण के लिए बाण या धावक को रत्नावली का कर्ता मान भी लिया जाय, परन्तु नागानन्द तथा प्रियदर्शिका का कर्तृत्व तो हर्ष से ही सम्बद्ध है। कोई भी आलोचक बाणभट्ट को नागानन्द का कर्ता मानने को उद्यत नहीं है। सर्वसम्मति से इस नाटकत्रय की रचना हर्ष की लेखनी से हुई है। अत एव रत्नावली के कर्तृत्व को बाण पर आरोपित करना निन्दनीय जान पड़ता है। पूर्वोक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि इन तीन नाटकों की रचना स्वयं सम्राट् हर्षवर्धन ने की।

ग्रन्थ

इनकी तीन रचनायें हैं—(१) प्रियदर्शिका, (२) रत्नावली तथा (३) नागानन्द। ये तीनों रूपक एक ही लेखक की रचनायें हैं; इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है। तीनों में घटनाओं का आश्चर्यजनक साम्य है। रत्नावली में सागरिका अपने चित्तविनोद के लिये राजा का चित्र खींचती है। नागानन्द में जीमूतवाहन उसी उद्देश्य से मलयवती का चित्र बनाता है। दोनों स्थानों पर चित्रों के द्वारा ही पात्रों के स्निग्ध हृदय तथा प्रणय की कथा का परिचय दर्शकों को मिलता है। रत्नावली में अपमानित होने पर सागरिका अपने गले को लतापाश से बाँधकर प्राण देने का उद्योग करती है। नागानन्द में भी यही घटना है—नायिका मलयवती प्रणय में अनादृत होने से लतापाश से अपने गले को जकड़ कर मरने का प्रयास करती है। दोनों स्थानों पर नायक के द्वारा उनके प्राणों की रक्षा होती है। इतना ही नहीं, बहुत से पद्य इनमें परस्पर उद्धृत किये गए हैं। फलतः ये तीनों ही लेखक की लेखनी की सुचारु रचनायें हैं। इन रूपकों में लेखनक्रम का भी निर्णय अन्तरंग परीक्षा के बल पर किया जा सकता है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनों ही प्रणय नाटिकायें हैं और एक ही कथाचक्र—उदयन के कथाचक्र—से सम्बन्ध रखती हैं। प्रियदर्शिका में घटना का विन्यास बहुत ही साधारण ढंग का है। रत्नावली में हम घटनाओं के प्रस्ताव में तथा नायिका के प्रणयवर्णन में एक सुन्दर सुधार पाते हैं, जो निश्चयेन 'रत्नावली' को परवर्ती सिद्ध कर रहा है। नागानन्द के अंतिम नाटक होने का प्रमाण उसके अभिनेय विषय की गम्भीरता तथा महनीयता है। इसके भी तीन अंकों में प्रणय का वर्णन है, परन्तु यहाँ कवि विवाह-सम्बन्ध को प्रतिष्ठित करने के लिए गंधर्व-विवाह की पद्धति अपनाता है, जहाँ पूर्ववर्ती नाटिकाओं में द्वितीय विवाह की सिद्धि प्रथम विवाहिता राजमहिषी की स्वेच्छा पर वह अवलम्बित करता है। श्रीहर्ष का चित्त अब सांसारिक प्रपंचों से ऊब गया है और वह प्रणय से शान्ति की ओर जाता है। उसकी जीवन-सन्ध्या के अनुरूप ही शान्त रसात्मक नागानन्द का प्रणयन है, जहाँ राजाओं के भोगविलासमय नगर से हटकर प्रधान घटनायें आश्रम के शान्त वातावरण में ही घटित होती हैं।

वस्तुविन्यास

रत्नावली संस्कृत-साहित्य की प्रथम नाटिका है और बहुत ही सफल नाटिका है। शास्त्रीय पद्धति से नाटिका नाटक तथा प्रकरण के मिश्रण से उद्भूत एक सुन्दर नाटकीय रचना है, जिसमें नायक 'नाटक' की भाँति इतिहास तथा परम्परा में प्रख्यात होता है तथा

कथानक 'प्रकरण' के तुल्य कवि-कल्पित रहता है। दोनों नाटिकाओं का नायक कौशाम्बी-नरेश वत्सराज उदयन है, जो प्राचीन इतिहास में अपने रोमाञ्चक प्रणय के कारण पर्याप्त प्रख्यात है। दोनों का विषय कवि-कल्पित है । नाटिका की शास्त्रीय कल्पना कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' के आधार पर गढ़ी गयी प्रतीत होती है। इसलिए इन नाटिकाओं के ऊपर कालिदास के इस नाटक का प्रचुर प्रभाव खोजा जा सकता है,तथापि इनमें पर्याप्तरूपेण मौलिकता है।

प्रियदर्शिका का सम्बन्ध भी उदयन के कथाचक्र के साथ है। यह भी चार अंकों की एक प्रणयनाटिका है। इसकी वस्तु उतनी सुन्दरता के साथ उपन्यस्त नहीं है। उसमें उतनी चुस्ती तथा आकर्षण नहीं है। वत्स का सेनापति विजयसेन दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका को दरबार में लाता है तथा आरण्यकाधिपति विन्ध्यकेतु की कन्या के रूप में वहाँ रख देता है। महाराज उसे वासवदत्ता को सौंप देते हैं, जो उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करती है। द्वितीय अंक में राजा उदयन बिदूषक के साथ उपवन में घूमने जाते हैं, जहाँ फूल चुनने के लिए आई प्रियदर्शिका कमलों पर उड़ते हुए भौंरों से परेशान होती है और चिल्ला उठती है। राजा लताकुंज से प्रकट होकर उसे बचाता है। यहीं नायिका का प्रथम दर्शन नायक को होता है तथा अनुराग का बीज इतनी देर में कवि यहाँ बोता है। तृतीय अंक में गर्भाङ्क का सुन्दर निवेश है। मनोरमा (प्रियदर्शिका की सखी) तथा विदूषक की युक्ति से दोनों का सम्मिलन कल्पित किया जाता है। वासवदत्ता उदयन-चरित से सम्बद्ध नाटक का अभिनय करना चाहती है जिसमें मनोरमा को उदयन बनना है और आरण्यका (प्रियदर्शिका) को वासवदत्ता। बड़े कौशल से मनोरमा के स्थान पर स्वयं उदयन ही पहुँच जाता है। वासवदत्ता को संदेह होता है और मनोरमा की सारी चाल पकड़ ली जाती है। चतुर्थ अंक में वासवदत्ता इसलिए चिन्तित है कि उसका मौसा दृढ़वर्मा कलिंगराज के द्वारा बन्धन में पड़ा हुआ है। उदयन उसे छुड़ाने के लिए अपनी सेना भेजता है। दृढ़वर्मा का कंचुकी आता है और प्रियदर्शिका को पहचान लेता है जिससे वासवदत्ता उदयन के साथ उसका विवाह करा देती है।

रत्नावली में चार अंक हैं। प्रथम अंक के आरम्भ में राजा का प्रधानामात्य यौगन्धरायण दैव की अनुकूलता तथा सहायता का संकेत करता है जिसके कारण उदयन के साथ परिणय के लिए आनेवाले सिंहलेश्वर की राजकन्या रत्नावली जहाज के डूब जाने पर भी बच जाती है तथा वह मन्त्री के पास किसी सामुद्रिक बनिये के द्वारा लाई जाती है। मन्त्री उसे सागरिका के नाम से वासदत्ता की देख-रेख में रख आता है। कामदेव के उत्सव के प्रसङ्ग में वासदत्ता कामवपुः राजा उदयन की ही सद्यः पूजा करती है जिसे पेड़ों की झुरमुट से छिपे तौर से सागरिका प्रथम बार देखती है, उन्हें कामदेव समझती है तथा प्रणय के मधुर भाव के अंकुरण के लिए पात्र बनती है। द्वितीय अंक में सागरिका अपनी सखी सुसंगता के साथ चित्तविनोद के लिए राजा का चित्र अंकित करती है जिसके पास सुसंगता सागरिका का ही चित्र खींचकर उसे रतिसनाथ बना देती है। कुछ गुप्त प्रणय की भी चर्चा है। वाजिशाला से एक बन्दर के तोड़ाकर भागने से महल में कोहराम मच जाता है। इसी हल्लागुल्ला में ये दोनों भाग खड़ी होती हैं। चित्रफलक वहीं छूट जाता है और

राजा के हाथ पड़ने से वह गुप्त प्रेम के प्रकटन का साधन बनता है। इस प्रेम के प्रसारण में सारिका का भी कुछ हाथ है। तृतीय अंक इस नाटिका का हृदय है तथा कवि की मौलिक सूझ का उज्ज्वल उदाहरण है। वेष-परिवर्तन से उत्पन्न भ्रान्ति के कारण जायमान घटना-सांकर्य बड़ा ही सुन्दर है तथा शेक्सपीयर के 'कॉमेडी आफ एरर्स' नामक नाटक के समान है। सागरिका वासवदत्ता का तथा सुसंगता दासी काञ्चनमाला का वेष धारण कर राजा से पूर्व निश्चय के अनुसार मिलने आती है, परन्तु असली वासवदत्ता के इनसे पहले ही आ जाने के कारण सारा गुड़ गोबर हो जाता है। असली और नकली का विभेद बड़ी ही हास्यजनक स्थिति पैदा करता है जिससे अपमानित मानकर सागरिका लतापाश के द्वारा मरने जाती है, परन्तु राजा उसे बचाता है। चतुर्थ अंक में जादूगर के 'अग्निदाह' का प्रभावशाली दृश्य है। सागरिका भूगर्भ में कैदकर रखी गयी है। वह वहाँ से बचाकर सभा में लाई जाती है जहाँ उसके पिता के मन्त्री वसुभूति तथा कंचुकी बाभ्रव्य उसे विदूषक के गले में लटकनेवाली 'रत्नावली' की सहायता से पहचानते हैं तथा वासवदत्ता स्वयं प्रसन्न होकर अपनी भगिनीभूता रत्नावली से राजा का विवाह करा देती है। यही मंगलमय अवसान है।

नागानन्द में पाँच अंक हैं। यह किसी बौद्ध अवदान के ऊपर आश्रित है। प्रथम अंक में जीमूतकेतु का आश्रम में जाना तथा उनके पुत्र जीमूतवाहन का भी पितृदत्त राज्य का परित्याग कर वहीं सेवार्थ जाना और गौरी के मन्दिर में मलयवती के वीणावादन से उसके हृदय के अनुराग का संचार वर्णित है। द्वितीय अंक में जीमूतवाहन तथा मलयवती के आनन्ददायक विवाह का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अंक भी विवाह-कथा से ही सम्बद्ध है। चतुर्थ अंक में राजकुमार जीमूतवाहन का समुद्रतीर पर आना तथा प्रतिदिन एक नाग का गरुड़ के लिए भोजन बनने की बात वर्णित है। उस दिन अपनी माता के एकलौते पुत्र शंखचूड़ की बारी थी। उसकी माता के करुण रोदन से द्रवीभूत जीमूतवाहन स्वयं उसके स्थान पर गरुड़ का भोजन बनने जाता है, शंखचूड़ राजी नहीं होता, परन्तु उसकी क्षणिक अनुपस्थिति में जीमूत अपने शरीर को रक्तवस्त्र से ढँककर शिला पर बैठ जाता है। गरुड़ आकर अपनी चोंच से उसे पहाड़ के शिखर पर उठा ले जाता है तथा खाता है। जीमूत दृढ़ है, उसके इस त्याग पर पुष्पवृष्टि होती है। पंचम अंक में माता-पिता व्याकुल होकर जीमूत के समाचार के लिए सेवक भेजते हैं। शंखचूड़ से पूरी घटनाओं का पता चलता है। गरुड़ को भी इस नाग की दृढ़ता पर आश्चर्य होता है। वह पूरा हाल पूछता है तथा नागों के न खाने की प्रतिज्ञा कर वह जीमूत के खाने से विरत होता है। मंगल के साथ नाटक समाप्त होता है।

रत्नावली की प्रसिद्धि अपने गुणों के कारण प्राचीनकाल से ही अक्षुण्ण चली आ रही है। शास्त्रीय पद्धति पर निर्मित एक सम्पूर्ण रूपक के रूप में इसकी प्रख्याति का पता हमें 'दशरूपक' के विशिष्ट विश्लेषण से चलता है। धनंजय ने इसकी कथावस्तु का विस्तृत तथा विशद विश्लेषण 'दशरूपक' में किया है। विश्वनाथ कविराज ने भी सन्धियों तथा सन्ध्यङ्गों के दृष्टान्त देने के लिए इसे ही विशेषतया चुना है। यह न समझना चाहिये कि नाटकीय विधिविधानों को प्रदर्शित करने के लिए ही हर्ष ने रत्नावली की रचना

की। यदि ऐसा होता तो यह नाटिका साधारण कोटि की ही ठहरती है, परन्तु तथ्य यह नहीं है। हर्ष ने एक आदर्श कथानक को लेकर एक भव्य रूप दिया है जिसके विश्लेषण करने से नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु की पाँचों संधियाँ यहाँ स्पष्ट रूप से उपस्थित हैं। रत्नावली नाटिका का बीज वत्सराज के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारणभूत अनुकूल दैव है, जो राजा के अनुराग को बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार प्रथम अंक में अनुराग-बीज का प्रक्षेप है और यहाँ मुख-संधि भी वर्तमान है। बिन्दु का उपक्षेप 'अस्ता-यास्तसमस्तभासि नभसः पार प्रयाते रवौ' वाले श्लोक में है। प्रतिमुखसंधि द्वितीय अंक में आती है, जहाँ वत्सराज और सागरिका के मिलन के लिये उद्योगशील सुसंगता और विदूषक उस अनुराग-बीज को पूर्णतया जान लेते हैं तथा वासवदत्ता भी चित्रफलक के वृतान्त से उस अनुराग का अनुमान करती है। इस प्रकार दृश्य और अदृश्यरूप से विकसित होने के कारण इस अंक में प्रतिमुख संधि है। गर्भ-संधि तृतीय अंक में है, जहाँ वेश बदलकर सागरिका के अभिसरण से राजा के हृदय में उसकी प्राप्ति की आशा बँध जाती है, परन्तु वासवदत्ता के अड़ंगा लगा देने से उस आशा पर भी पानी फिर जाता है। अवमर्ष-संधि रत्नावली के चतुर्थ अंक में आग लगने तक के कथानक तक है; क्योंकि यहाँ वासवदत्ता की प्रसन्नता हो जाने से रत्नावली की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न दृष्टिगोचर नहीं होता। निर्वहणसंधि चतुर्थ अन्त के अर्ध में है, जहाँ वसुभूति तथा बाभ्रव्य के साक्षात् प्रमाण एवं विदूषक के गले में विद्यमान रत्नावली को देखकर सागरिका के सच्चे रूप का बोध होता है तथा राजा का उससे मिलन सम्पन्न होता है।

पात्रसमीक्षण

चरित्र के चित्रण में हर्ष ने अपनी स्वाभाविक निपुणता प्रदर्शित की है। वे स्वय राजा थे और इसीलिए वे दरबार से सम्बद्ध जीवन के चित्रण तथा कथानक के विन्यास में स्वाभाविक कौशल दिखलाते हैं। उदयन का चित्रण धीरललित नायक के रूप में बड़ा सुन्दर है। वह अपने प्रधानामात्य यौगंधरायण के ऊपर अपने राज्यसंचालन का भार रखकर स्वयं कला तथा प्रणय की आसक्ति में अपना जीवन बिताता है। उसके सौन्दर्य-प्रेम का परिचय 'कामोत्सव' के अवसर पर मिलता है। उसका चित्रण 'रोमांचक प्रणयी' (रोमान्टिक लवर) के रूप में हर्ष ने बड़ी दक्षता से किया है।

नाटिका की नायिका **रत्नावली** के रूप में बहुत ही सुन्दर तथा चरित्र में बहुत ही उदात्त है। वह सिंहलेश्वर की दुहिता है और इस आभिजात्य का उसे पूर्ण अभिमान है। उसके चरित्र में एक छोटा भी धब्बा नहीं है। उसका प्रत्येक कार्य औदात्य के द्वारा प्रेरित होता है। जब उसे उदयन का पूरा परिचय मिल जाता है कि यह वही नरेन्द्र है जिसके लिये पिता ने मुझे दिया था, तभी वह प्रणय में अग्रसर होती है। यह प्रणय स्वाभाविकता तथा मर्यादा के बिलकुल भीतर रहता है। वह अपने दासीभाव से खिन्न नहीं है। वह अपनी स्वामिनी की पूर्ण सेविका होने के नाते उसके प्रति किसी प्रकार अनुचित कार्य करने से सदा पराङ्मुख रहती है। संकेत-स्थल के लिए भी वह स्वयं अग्रसर नहीं होती, प्रत्युत विदूषक तथा सुसंगता के द्वारा ही वह इसमें प्रवृत्त कराई जाती है। महारानी इस वृत्तान्त से परिचित हो गई है, यह जानकर वह इतनी लज्जित होती है कि अपना प्राण ही दे देना

चाहती है। वह इसे अपनी मर्यादा के ऊपर घोर प्रहार समझती है। रत्नावली का प्रणय रोमाञ्चक होकर भी संयत तथा मर्यादित है। उसके हृदय में राजा के लिए गाढ़ प्रेम का परिचय हमें चित्रफलक के वृतान्त से भली-भाँति चलता है। उसके कार्यकलाप मर्यादा तथा आभिजात्य के सौरभ से सुगन्धित हैं। फलतः रत्नावली का चरित्र बड़ा ही उदात्त, प्रणयपूर्ण तथा कोमल है।

इसके विपरीत **वासवदत्ता** के चरित्र में प्रभुत्व तथा अधिकार का पूर्ण राज्य है। वह जानती है तथा अभिमान रखती है कि वह उदयन की पट्टमहिषी है। राजा भी उसके अधिकारपूर्ण प्रणय के आगे अपना मस्तक झुकाता है और इसकी रट लगाये रहता है कि देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त सागरिका से संगम का अन्य कोई उपाय नहीं है (देवीप्रसादनं मुक्त्वा नास्ति अन्य उपायः)। वह इतनी प्रभुत्वशालिनी है कि अपराध करने पर वह अपनी दासियों को कौन कहे, राजा के 'नर्मसचिव' विदूषक को भी कारागार में डाल देती है। 'प्रभुता सर्वतोमुखी' की जीती-जागती प्रतिमा होने पर भी वह कोमल है, क्रूर नहीं। राजा की वास्तविक हितचिन्तक है, विद्वेषक नहीं। वह सचमुच पतिप्राणा है और प्रभुता की भावना इसी की बाह्य अभिव्यक्ति है। वासवदत्ता के चरित्र के संदर्भ में रत्नावली का चरित्र कोमलता, मृदुता तथा आभिजात्य के आलोक से पूर्णरूपेण आलोकित होता है।

नागानन्द का नायक **जीमूतवाहन** अपने आदर्श चरित्र के लिए सदा स्मरणीय रहेगा। वह पितृभक्ति का उज्ज्वल प्रतीक है, जो विशाल साम्राज्य के वैभव तथा सौख्य को लात मार कर अपने माता-पिता की सेवा के निमित्त जंगल में जाकर रहता है। वह कल्पवृक्ष के दान के द्वारा अपने परोपकार को सिद्ध करता है। वह साधारण पार्थिव जीव है; मलयवती के प्रेम से यही सिद्ध होता है। परोपकार की वेदी पर आत्मसमर्पण उसके जीवन का महान् उद्देश्य है। वह दृढ़निश्चयी है और उसके निश्चय तथा स्वार्थत्याग का सद्यः प्रभाव क्रूरहृदय नृशंस गरुड़ पर इतना अधिक पड़ता है कि वह उसी दिन से हिंसा-व्यापार से विरत हो जाता है। नागानन्द के मुख्य रस के विषय में आलोचकों में मतभेद है। कतिपय आलोचक इसमें 'शान्तरस' की प्रधानता मानते हैं, परन्तु अभिनवगुप्त ने इसे 'दयावीर' का ही एक समुज्ज्वल दृष्टान्त माना है। स्वयं उसके पिता के मुख से जीमूतवाहन के शोभन गुणों का यह मंजुल वर्णन यथार्थ है :—

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह ? विरता दानपरता ।
हतं नूनं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ॥

राजा जीमूतकेतु अपने पुत्र की मृत्यु से शोकोद्विग्न होकर कह रहा है—हे पुत्र ! तुम्हारे दूसरे लोक चले जाने पर—स्वर्गवासी होने पर—धैर्य बिना आधार का हो गया। विनय अब किसके शरण में जाय ? अब क्षमा को कौन धारण कर सकता है। अब दानशीलता उठ गई। सचमुच सचाई नष्ट हो गई। आज दीन बनकर करुणा कहाँ

जाय ? सच तो यह है कि आज यह संसार सूना ही हो गया—निःसार हो गया। सचमुच परोपकारी प्राणी संसार को आलोकित करने वाला प्रदीप है।

हर्ष का नाट्यवैशिष्ट्य

हर्ष संस्कृत नाटककारों में रोमांचक 'प्रणय-नाटिका' के निर्माता के रूप में सदैव सम्मानित रहेंगे। उनके ऊपर भास और कालिदास का प्रकृष्ट प्रभाव तथा प्रेरणा अवश्य विद्यमान है। भास ने भी उदयन से सम्बद्ध दो नाटकों की रचना की है—स्वप्न-वासवदत्त और प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण। इन दोनों नाटकों का प्रभाव विषय की एकता तथा कथानक की अभिन्नता होने के कारण हर्ष की इन दोनों नाटिकाओं के ऊपर पड़ा है। इसी प्रकार कालिदास के नाटकों की भी घटनाओं, वर्णनों तथा वार्तालापों में विशेष साम्य दृष्टिगोचर होता है—विशेषतः मालविकाग्निमित्र का, परन्तु हर्ष की मौलिकता तथा नवीन कल्पना में किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

रोमान्टिक ड्रामा के जितने कमनीय तथा उपादेय साधन होते हैं उन सब का उपयोग हर्ष ने इन रूपकों में किया है। कालिदास के ही समान हर्ष भी प्रकृति और मानव के पूर्ण सामरस्य के पक्षपाती हैं। मानव-भाव को जाग्रत करने के लिए दोनों ने प्रकृति के द्वारा सुन्दर परिस्थिति उत्पन्न की है। 'कामोत्सव' के द्वारा पूर्ण आनन्द का साम्राज्य जब चारों ओर व्याप्त हो जाता है, तब सागरिका और उदयन के प्रथम दर्शन की अवतारणा की जाती है। गौरी के मन्दिर में वीणावादन की माधुरी से शान्त वातावरण में जीमूतवाहन मलयवती को पहली बार देखता है। इस प्रकार स्थान, ऋतु तथा सामग्री उपस्थित कर हर्ष ने रोमांचक प्रणय के उन्मेष के लिये उपयुक्त अवसर प्रदान किया है इस प्रकार वे प्रणय-नाटिका के प्रथम सफल नाटककार हैं। 'गर्भाङ्क' की योजना उनकी दूसरी शास्त्रीय विशेषता है जिसका अनुसरण भवभूति ने उत्तररामचरित में और राजशेखर ने बालरामायण में बड़े कौशल से किया है।

हर्ष की काव्यशैली सरल तथा सुबोध है। उनका वर्णन इतना विशद है कि पूरा दृश्य आँखों के सामने से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। रत्नावली में होली का चटकीला वर्णन अन्यत्र अपनी समानता नहीं रखता। नागानन्द का आश्रमवर्णन भी बड़ा सुन्दर, सरस तथा नैसर्गिक है। इस प्रकार काव्यकला तथा नाट्यकला—उभय दृष्टियों मे हर्ष एक सफल कवि तथा रूपक-निर्माता हैं (रत्नावली ३।१३) :—

> किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्द विधत्ते न किं
> वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
> वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
> दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर यह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है ? उदय से यह अपनी जड़ता क्या नहीं प्रदर्शित करता ? इसके उदय होने की जरूरत ही क्या थी ? तुम्हारा मुख क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता ? क्या वह नेत्रों को आनन्द नहीं देता ? देखे जाने से ही क्या वह काम-

वासना को प्रबल नहीं बनाता ? चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर में सुधा नहीं है ? तब फिर तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने चन्द्रमा के उदय लेने की क्या जरूरत ? यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है (१० उ०)। चन्द्रोदय के समय पूर्व दिशा का यह वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है (वही, १।२४)—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम् ।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥

(६) भट्ट नारायण

संस्कृत साहित्य के अन्य नाटककारों के समान भट्टनारायण का भी देशकाल हमारे लिए अनुमान का ही विषय है। नाटक की प्रस्तावना से यही ज्ञात होता है कि ये 'मृगराजलक्ष्मी' थे, परन्तु इस शब्द के यथार्थ का ठीक परिचय नहीं मिलता। एक प्रख्यात किंवदन्ती के अनुसार भट्टनारायण मूलतः कान्यकुब्ज देश के मान्य विद्वान् नाटककार थे, परन्तु गौडदेश के राजा आदिशूर के निमन्त्रण पर बंगाल में ब्राह्मण-धर्म के संवर्धन के निमित्त जानेवाले पाँच ब्राह्मणों में ये अन्यतम थे। यह तो प्रसिद्ध ही घटना है कि आदिशूर ने बंगाल में वैदिक धर्म के अपकर्ष को दूर करने के लिए कान्यकुब्ज देश से पाँच ब्राह्मण परिवारों को बुलाया था, जो आज भी बंगाली ब्राह्मणों में जात्या श्रेष्ठ, अतएव कुलीन माने जाते हैं। इस किंवदन्ती के आधार पर इनके आविर्भाव काल का भी पता लगाया जा सकता है। **आदिशूर** पालवंश के उत्थान से पूर्ववर्ती राजा माने जाते हैं, जिनका समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध मानना न्यायसंगत होगा। यही युग भट्टनारायण के उदय का काल है। दशमशती में 'दशरूपकालोक' के रचयिता धनिक ने अपने ग्रन्थ में भट्टनारायण द्वारा निर्मित 'वेणीसंहार' की कथावस्तु का बड़ा मार्मिक तथा गम्भीर विश्लेषण किया है। इससे धनिक की अपेक्षा इनका पूर्ववर्तित्व सुतरां सिद्ध होता है।

आनन्दवर्धन ने वेणीसंहार के 'कर्ता द्यूतच्छलानाम्' पद्य को ध्वनि के उदाहरण के लिये ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है (पृ० २२५) तथा वामन ने अपने काव्यालंकार में 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' वाक्य में 'वेत्स्यसि' की व्याकरणानुकूलता सिद्ध की है। 'वेत्स्यसि' में पदभंग करने से दो पद तैयार होते हैं (वेत्सि असि), और ये दोनों शुद्ध प्रयोग हैं। एक पद मानने में व्याकरणसम्बन्धी त्रुटि अनिवार्य है। यह वेणीसंहार के एक श्लोक का चतुर्थ चरण है। वामन के द्वारा भट्टनारायण के इस प्रयोग की व्याकरणसंगति के प्रदर्शन से सिद्ध होता है कि वे हमारे कवि को विशेष गौरव तथा आदर का पात्र समझते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भट्टनारायण का समय ८०० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। उसे अष्टम शतक के मध्य में (७५० ई०) मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। भट्टनारायण की केवल एक ही रचना उपलब्ध होती है और वह है—वेणीसंहार नामक नाटक।

वस्तु-समीक्षा

'वेणीसंहार' की कथावस्तु के समीक्षण से पूर्व उसका स्वल्प परिचय नितान्त आवश्यक है। यह नाटक महाभारत के एक महत्त्वपूर्ण घटना पर आश्रित है—द्रौपदी के द्वार

वेणी का बाँधना। दुःशासन के घोर अपमान से सन्तप्त होकर द्रौपदी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि दुःशासन और दुर्योधन के मारे जाने पर ही वह अपनी वेणी बाँधेगी। इसी घटना की पूर्ति में महाभारत का पूरा कथानक बड़े कौशल के साथ यहाँ विन्यस्त किया गया है।

इसमें छः अंक है। नाटक का आरम्भ श्रीकृष्ण के दौत्य से आरम्भ होता है, जिसे कुरुराज की सभा में जाकर दोनों पक्षों में सन्धि करा देने की गरज से उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। सन्धि की बात सुनकर भीमसेन का हृदय क्षुब्ध हो उठता है। द्रौपदी के आगमन से वह क्षोभ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। दुर्योधन श्रीकृष्ण के सौम्य वचनों पर कान तो देता नहीं, प्रत्युत वह उन्हें पकड़कर बन्दी बनाना चाहता है। भीम उसकी इस मूर्खता पर खीझते हैं और श्रीकृष्ण की भगवत्ता का प्रतिपादन करते हैं। अपने परम प्रिय तथा हितोपदेष्टा भगवान् कृष्णचन्द्र के इस अपमान से युधिष्ठिर भी क्रुद्ध हो उठते हैं और समरदुन्दुभि का घोष उनके क्रोध का प्रतीक बनता है।

द्वितीय अंक में हमारे सामने दुर्योधन तथा उसकी पतिप्राणा पत्नी भानुमती आती है और परस्पर वार्तालाप का क्रम चलता है। भानुमती ने सपने में सोने का नकुल देखा है जिसकी ओर उसकी आसक्ति स्वतः हो जाती है। इस घटना से अपने पति के भावी अकल्याण की आशंका से वह क्षुब्ध हो उठती है तथा इस अमंगल को दूर करने के निमित्त वह देवार्चन करती है। इसी बीच दुर्योधन स्वयं आकर उसकी आशंका का वारण करता है; उसके देवार्चन में विघ्न डालता है तथा नाना प्रकार के कामुक प्रलोभनों से वह कामकेलि की ओर उसका मन आकृष्ट करना चाहता है। बीच में बड़े जोरों की आँधी आती है जिससे दुर्योधन का रथ भग्न हो जाता है। यह आँधी भविष्य में आनेवाली संग्रामरूपी आँधी को सूचित मात्र करती है। रानी डरती है, परन्तु राजा दुर्योधन उसे ढाढ़स बँधाता है। यह प्रसंग तब तक चलता है जब तक जयद्रथ की माता अर्जुन की भीषण प्रतिज्ञा सुनाकर अपने पुत्र की रक्षा के लिए गिड़गिड़ाती है। दुर्योधन आश्वासन देता है कि अर्जुन जयद्रथ का बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

तृतीय अंक के आरम्भ में एक लम्बा प्रवेशक है, जिसमें रुधिरप्रिय नामक राक्षस और उसकी वसागन्धा नाम्नी पत्नी के बीच बातचीत से हमें पता चलता है कि धृष्टद्युम्न ने केश पकड़कर अपनी तलवार से द्रोणाचार्य का वध कर डाला है। इससे अश्वत्थामा का क्रोध अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वे उन कौरव-सेनापतियों की घोर निन्दा करते हैं जिन्होंने यह जघन्य कार्य अपने नेत्रों से देखा, परन्तु नपुंसक के समान अपने हाथों में हथियार रखे ही रह गये। अश्वत्थामा के क्रोधावेश का बड़ा ओजस्वी वर्णन कवि करता है, जो इस भूतल को ही 'अकेशव' तथा 'अपाण्डव' कर देने पर तुला हुआ है। कर्ण दुर्योधन को समझा देता है कि आचार्य द्रोण गुप्त रूप से अपने पुत्र अश्वत्थामा को ही राजगद्दी पर बैठानेवाले थे तथा पुत्र के सामने पिता की घोर निन्दा करता है। कर्ण तथा अश्वत्थामा के बीच इस असत्य प्रलाप से संघर्ष होने की नौबत आती है, परन्तु दुर्योधन दोनों को समझा-बुझाकर अलग कर देता है।

चतुर्थ अंक में कथा आगे बढ़ती है। दुःशासन के खून का प्यासा भीम उसे मार डालने के लिए घोर आक्रमण करता है। उसे बचाने के लिए दुर्योधन स्वयं रणाङ्गण में उतरता है, परन्तु भीम के बाणों से विद्ध होकर अचेत दशा में रथ में गिर पड़ता है। उसका कुशल

सारथि रथ हटाकर अपने राजा के प्राणों को बचाता है, परन्तु होश में आने पर दुर्योधन अपने सारथि पर बेहद खीझ उठता है कि इसी समय अंगराज कर्ण का सेवक सुन्दरक उसे खोजता हुआ आता है। भेंट होने पर वह युद्ध की सारी कथा बड़े विस्तार के साथ कहता है। दुर्योधन को दुःशासन की दुःखद मृत्यु का पता चलता है तथा कर्ण के हीनबल और अशक्ति से भी वह नितान्त दुःखित होता है। इस अंक में युद्ध का सुन्दरक के द्वारा वर्णनमात्र है। विवरण की प्रधानता के कारण यहाँ नाटकीय व्यापार में वास्तव में गत्यवरोध हो गया है।

पंचम अंक में गांधारी तथा धृतराष्ट्र दुःशासन की मृत्यु का भीषण समाचार सुनकर तथा दुर्योधन की दुर्दशा जानकर स्वयं आते हैं। दुर्योधन शक्ति रहते हुए भी अपने अनुज को नहीं बचा सका, इससे वह नितान्त दुःखित होता है। ये माता-पिता अपने पुत्रसे अभी पाण्डवों से संधि कर लेने के लिये आग्रह करते हैं, परन्तु स्वाभिमानी दुर्योधन का अभिमान उबल पड़ता है और अपने जीवन की रक्षा के लिए वह अभद्रजनोचित प्रस्ताव का तिरस्कार करता है। इसी समय शल्य कर्ण की मृत्यु का समाचार लेकर आता है। सब लोग शोक से अभिभूत हो जाते हैं तथा कर्ण के शोभन गुणों की चर्चा करते हैं। अश्वत्थामा इस समय आकर दुर्योधन को धैर्य धराता है। अर्जुन तथा भीम दुर्योधन को लड़ने के लिए खोजते हुए आते हैं और धृतराष्ट्र के सामने अर्जुन नम्रतापूर्ण, परन्तु भीम औद्धत्यपूर्ण अपना परिचय देता है।

षष्ठ अंक की कथा में नाटकीय कौतुक की अवतारणा बड़े अच्छे ढंग से की गई है। राजा युधिष्ठिर का प्रवेश इतने विलम्ब के बाद इसी अंतिम अंक में होता है। पांचालक द्रौपदी तथा युधिष्ठिर से भीमसेन की विजय तथा दुर्योधन के उरुभंग की बात कहकर उचित पारितोषिक से सन्तुष्ट किया जाता है। राजा की प्रसन्नता में एक विघ्न उपस्थित हो जाता है चार्वाक मुनि के आगमन से। वह कौरवों का सुहृद् है और ऐसा दम्भ रचता है कि युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ अग्नि में प्रवेश कर अपना अन्त कर देना ही उचित समझते हैं। वह कहता है कि मैं अपनी आँखों अर्जुन तथा दुर्योधन का गदायुद्ध देख कर आ रहा हूँ जिसमें भीमसेन का कभी अन्त हो गया; और तभी अर्जुन ने युद्ध-त्याग का मार्ग ग्रहण किया है। युधिष्ठिर के शोक का अंत नहीं और वे घोर विलाप करते हुए अग्नि में प्रवेश करना ही चाहते हैं कि दुर्योधन के लोहू से अपने हाथ को सिक्त किये हुए भीम द्रौपदी को खोजता भीषण वेश में प्रवेश करता है। युधिष्ठिर उसे दुर्योधन समझकर त्रस्त होते हैं, परन्तु कंचुकी के पहचानने पर भीम का परिचय मिलता है। सब प्रसन्न होते हैं और कृष्ण के आशीर्वाद से नाटक का अन्त होता है।

संस्कृत के नाट्य-कलाविदों के द्वारा वेणीसंहार शास्त्रीय दृष्टि से एक आदर्श नाटक माना गया है, जिसमें संधियों तथा पताकास्थानकों का सन्निवेश उचित स्थानों पर किया गया है। नाटक का उद्देश्य पाण्डवों के ऊपर कौरवों के द्वारा किये गये अपमान का निराकरण तथा तत्फलस्वरूप राज्य की प्राप्ति है। द्रौपदी के द्वारा वेणी का 'संहार' (संयमन या बाँधना) तो उसका अवान्तर फल है। इस प्रयोजन की सिद्धि का बीज है युधिष्ठिर का क्रोधभाव और इस भाव का सूचक है नाटक का प्रथम अंक (क्रोधज्योतिरिदं महत्

कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते—१।२४) और यही मुखसंधि की योजना है। प्रतिमुख-संधि द्वितीय अंक है, जहाँ क्रोधबीज नाना रूपों में बढ़ता हुआ 'बिन्दु' का रूप धारण करता है। गर्भसंधि बड़ी लम्बायमान है—तृतीय अंक से लेकर पंचम अंक तक। इन अंकों के कथानकों में क्रोधबीज का खूब विकास हुआ है—कभी वह दृष्ट होता है और कभी गुप्त ही रहता है। षष्ठ अंक के आरम्भ में हम युधिष्ठिर को भीमसेन के विषय में चिन्तित पाते हैं। यही अवमर्शसंधि चार्वाक मुनि के वार्तालाप के अन्त तक चलती जाती है। चार्वाक मुनि की कल्पना भट्टनारायण की विकसित प्रतिभा का फल है। गर्भसन्धि के भीतर ही कुछ तत्त्व ऐसे रखे जाते हैं जिनसे निर्वहण का रूप स्पष्ट होने लगता है और तब दर्शकों की कौतूहल वृत्ति को जागरूक तथा टिकाऊ बनाने के लिए अवमर्शसन्धि की योजना नितान्त आवश्यक प्रतीत होने लगती है। यदि ऐसा नहीं होता, तो दर्शक नाटक देखने से उदासीन बन जाते तथा नाटक देखने का आनन्द ही गायब हो जाता। ऐसी स्थिति से 'वेणीसंहार' को बचाने के लिए चार्वाक मुनि का प्रसंग नितान्त आवश्यक है। भीमसेन की युद्धसिद्धि में युधिष्ठिर को पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाता है, परन्तु चार्वाक मुनि के आने से यह विश्वास डवाँडोल हो उठता है, अनुज की रक्षा की आशंका से उनका हृदय व्याकुल हो जाता है और वे अग्नि में प्रवेश करने के लिए उद्यत होते हैं। कृष्ण के द्वारा अभिषेक की योजना तथा राज्य की प्राप्ति से निर्बहणसंधि सिद्ध होती है। इस प्रकार पंचसंधियों का विन्यास नितान्त श्लाघनीय है। परन्तु इस वैलक्षण्य से हम यह नहीं कह सकते कि शास्त्र को सामने रखकर कवि ने इस नाटक का प्रणयन किया है। सच्चा नाटककार शास्त्र को दृष्टि में रखकर ही नाटक की रचना नहीं करता, प्रत्युत उसकी प्रतिभा से उद्भूत रूपक में नाटकीय तत्त्व स्वतः स्थान-स्थान पर आते रहते हैं। 'वेणी-संहार' में अनेक पताकास्थानक तथा गण्ड के उदाहरण मिलते हैं, विशेषतः द्वितीय अंक में, जहाँ दुर्योधन अपने उरु को भानुमती के बैठने के लिए उचित स्थान बतला रहा है (ममोरु-युग्मम् २।२३)। उसी समय कंचुकी 'भग्नं भग्नम्' चिल्लाता है, जो बीच में आने से 'रथ-केतनम्' से अभीष्ट सम्बन्ध रखने पर भी 'उरुयुग्म' से भी स्वतः सम्बद्ध हो जाता है, अर्थात् दुर्योधन के उरु को भीम ने भग्न कर दिया'—इस भावी घटना की सूचना मिल जाती है। नाटकीय घटना का ऐसा सुन्दर विन्यास जो भावी घटना का पर्याप्त परिचायक होता है 'गण्ड' कहलाता है।

पात्रसमीक्षा

'वेणीसंहार' के पात्र इतिहास प्रसिद्ध हैं और इतिहास में जो चरित्र उनका परम्परा-प्राप्त है उसी का निखरा रूप हमें इस नाटक में मिलता है। **भीमसेन** का चरित्र बहुत ही व्यापक, प्रभावशाली तथा आकर्षक है। उनकी ओजस्विता और अदम्य पराक्रम का परि-चय उनके भाषणों से सर्वदा ही मिलता है। श्रीकृष्ण के दौत्यकार्य तथा संधिप्रस्ताव से

१. पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्—(१।२३)।
कंचुकी—देव ! भग्नं भग्नम्।
राजा—भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किङ्कणी-क्वाण-बद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥ (वेणीसंहार १।२४)

वे नितान्त क्षुब्ध हो उठते हैं कि जिन कौरवों पर क्रोध करना न्याय प्राप्त है उनके ऊपर क्रोध न कर युधिष्ठिर हमीं लोगों पर क्रोध करते हैं। भीम दृढ़प्रतिज्ञ हैं और एकबार जो प्रतिज्ञा कर ली है उसे वे अन्त तक निभाते हैं। द्रौपदी के अपमान की घटना उनके हृदय में विषमय तीर के समान चुभ गई है और समग्र पापों के मूल दुर्योधन का संहार ही 'वेणीसंहार' का प्रधान उपाय है; इसे वे भली-भाँति जानते हैं। बदला लेने की तीव्र इच्छा, युद्ध कर अपने अपमान को नगद चुकाने की अभिलाषा उनमें इतनी प्रबल है कि कभी-कभी भीम अपने औद्धत्य का भी प्रदर्शन करने से नहीं चूकते। धृतराष्ट्र के सामने अपना परिचय देते समय भीम की विकत्थना पूर्णरूपेण प्रकट होती है, जब वे कहते हैं कि अशेष कौरव सेना को चूर्ण करनेवाला, दुःशासन के खून से मतवाला तथा (भविष्य में) सुयोधन के जंघों को तोड़नेवाला यह भीम आप को सिर से प्रणाम करता है (५।२८)। इससे बढ़कर अस्थान में विकत्थना क्या हो सकती है ? भीम के चरित्र का यह अविभाज्य अंग ही है।

दुर्योधन का चित्रण भी काफी अच्छा अंकित हुआ है। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशिष्टता है—आत्मविश्वास का अतिरेक। वह अपनी विजय का, और अपने सैन्यबल का इतना विश्वासी है कि उसे हम सावधानी बरतते हुए नहीं पाते। भानुमती के साथ उसे कामकेलि की ओर अग्रसर करा कर कवि ने उसके चरित्र की उदात्तता को बिगाड़ दिया है। युद्ध में पराक्रम-प्रदर्शन के अवसर पर यह कामक्रीडा का अनुचित आलाप दुर्योधन के चरित्र में बट्टा लगाता है। मम्मट की दृष्टि में यह ('अस्थाने प्रथनम्' नामक) रसदोष है। परन्तु उसके हृदय में अपने आश्रितों के प्रति महती दया तथा स्नेह का संचरण है। इसलिए धृतराष्ट्र के युद्ध को रोक देने के लिए विशेष आग्रह करने पर वह कह बैठता है कि अपनी शरीर की रक्षा के ही लिए उदात्तपुरुष के लिए लज्जास्पद असुखावसान पाण्डवों के साथ वह सन्धि क्यों करे। शौर्य का वह सच्चा प्रतिनिधि है। वह युद्ध से मुंह मोड़ना नहीं जानता और इसीलिए वह अपने सारथि पर अत्यन्त रुष्ट है; क्योंकि वह उसकी अचेतनदशा में समर भूमि से रथ लौटा लाया है।

अश्वत्थामा को कवि ने अपूर्ण व्यक्तित्व से मण्डित पात्र के रूप में चित्रित किया है। वह सच्चा पुत्र है और पिता द्रोणाचार्य के अन्यायपूर्ण वध से वह इतना क्षुब्ध है कि वह समग्र मही को केशवहीन तथा पाण्डव-विरहित करने के लिए उद्यत है। उसमें शौर्य और पराक्रम की कमी नहीं है, परन्तु उसे अपने अन्तःसत्त्व को बाहर प्रकट करने के लिए अवसर ही नहीं मिलता। कर्ण की पिशुनता के कारण दुर्योधन ऐसे वीर के पराक्रम से तनिक भी लाभ नहीं उठाता। इतने अदम्य शौर्य का आश्रय अश्वत्थामा अधखिले फूल की तरह अपने समग्र गुणों को अपने भीतर ही समेट कर रह जाता है। कभी बाहर खिलने का अवसर ही नहीं मिलता उसे।

युधिष्ठिर का दर्शन पंचम अंक के अन्त तथा षष्ठ में ही हमें मिलता है। वीर होते हुए भी वे न्याय को तिलांजलि नहीं देते। अनुजों के ऊपर उनका स्नेह बहुत अधिक है। भीमसेन की मृत्यु का समाचार सुनकर वे इतने विह्वल हो उठते हैं कि घटना की सम्भावनीयता पर बिना विचार किये ही वे अपने को अग्निदेव को अर्पण करने के लिए उद्यत हो

जाते हैं तथा इस अवसर पर अपने बाल्यकाल की मधुर स्मृति उनके चरित्र में लालित्य का संचार करती है। **श्रीकृष्ण** का प्रवेश नाटक के आदि तथा अन्त में ही केवल एक बार होता है। वे स्वयं सन्धि कराने के लिए दूत बनकर जाते हैं, परन्तु दुर्योधन के अस्वीकार करने से उनका दौत्यकर्म निष्फल हो जाता है। अन्तिम दृश्य में युधिष्ठिर को विजय के लिए बधाई देते हैं और ऋषियों की सहायता से उनका अभिषेक करते हैं। कवि ने अर्जुन का चरित्र विकसित नहीं होने दिया। महाभारत के युद्ध का सबसे बड़ा योद्धा केवल पृष्ठभूमि में ही रह कर अपना कार्य निष्पादन करता है; खुल कर बाहर मैदान में नहीं आता, इसका दोष भट्टनारायण पर अवश्य है।

स्त्रीपात्रों में दो ही हैं—द्रौपदी तथा भानुमती। भानुमती का चरित्र बड़ा कोमल है। पतिव्रता की साक्षात् प्रतिमा भानुमती स्वप्न में दृष्ट घटना से भी पतिदेव दुर्योधन के भावी अमंगल की कल्पना से बेचैन हो जाती है और उसे दूर करने के निमित्त देवताओं की सहायता के लिए अर्चना का विधान करती है। उसके चरित्र में जितना लालित्य है, उतना ही औदात्य है द्रौपदी के चरित्र में। द्रौपदी भरी सभा में पराक्रमी पतियों की आँखों के सामने अपमानिता, तिरस्कृता तथा विदलिता नारी की प्रतिमूर्ति है। उसमें क्रोध का तीव्र आवेग होना स्वाभाविक ही है। वह अपनी प्रतिज्ञा से टस से मस नहीं होती। स्त्री होते हुए भी वह पौरुष से मण्डित है। युधिष्ठिर की न्याय-प्रियता को वह दुर्बलता का ही पर्याय मानती है और इसीलिए भीम के पराक्रम की वह श्लाघा करती है। वह पूर्ण भारतीय नारी है। कितना भी हो, वह अपने कार्यों को तथा व्यवहार को सीमा का अतिक्रमण नहीं करने देती। उसकी प्रतिज्ञा पूरी होती है और चिर अभिलाषा का कुसुम विकसित होकर उसके जीवन को सुगन्धित बनाता है।

समीक्षण

'वेणीसंहार' महाभारत के समग्र रूप को नाटकीय कोटि में लाने का प्रथम स्तुत्य उद्योग है। भास ने भी इस कार्य के लिए प्रयत्न किया था, परन्तु दोनों का अन्तर स्पष्ट है। भास ने समग्र महाभारत के प्रसिद्ध आख्यानों को ही पृथक् रूप से नाटक में निबद्ध किया है। फलतः उनके स्वल्पकाय रूपकों के द्वारा महाभारत जैसे वीर रस-प्रधान आख्यान का एक सामूहिक तथा प्रभावशाली विन्यास नहीं हो पाया है; परन्तु भट्ट-नारायण इस विषय में सफल नाटककार हैं। इस नाटक के द्वारा सम्पूर्ण महाभारत के युद्ध की मुख्य घटना अपने पूर्ण वैभव तथा उदात्तता के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव होकर झूमने लगती है। कवि ने समग्र घटनाओं के भीतर एक कार्यान्विति रखने का उद्योग किया है, परन्तु नाटकीय पद्धति से बाध्य होने के कारण युद्ध वाले अंकों में गत्यात्मकता के स्थान पर गत्यवरोध ही विशेष दीखता है। तृतीय अंक में सुन्दरक का संवाद इस गत्यवरोध का एक उज्ज्वल उदाहरण है, जहाँ सुन्दरक उपन्यास के ढंग पर कथा कहता जाता है और दुर्योधन अपने सारथि के साथ केवल सुनता जाता है। महाभारत इतना भारी-भरकम ग्रन्थ है कि उसकी समग्र घटनाओं का एकत्र विन्यास एक प्रकार से दुःसाध्य ही है, कुछ घटनाओं का आवश्यक वर्णन अवश्यंभावी है, तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि भट्टनारायण को वस्तुविन्यास में काफी सफलता मिली है और इस भव्य नाटक के देखने से 'महाभारत' का समग्र चित्र अपने असली रंग में हमारे सामने बलात् उपस्थित

हो जाता है। चरित्र-चित्रण में भी कवि की कुशलता श्लाघनीय है। पात्रों में सजीवता खूब है। धर्मराज की चिन्ता अपनी प्रजा के कल्याण के लिए जितनी अधिक है, उतनी अपने शरीर के लिए नहीं। दुर्योधन का अभिमान सजीव होकर दर्शकों के सामने आता है। भीम शौर्य के प्रतिनिधि हैं, परन्तु उनमें उतावलापन इतना अधिक है कि कभी-कभी जोस में आकर अपने न्यायी भ्राता युधिष्ठिर के शासन का उल्लंघन करने को भी उद्यत हो जाते हैं। अर्जुन में वीरता कूट-कूट कर भरी है। द्रौपदी भारतीय नारी की प्रतिष्ठा तथा आत्मगौरव की सजीव मूर्ति है। इस प्रकार चरित्र-चित्रण नितान्त श्लाघनीय हुआ है। केवल द्वितीय अंक में युद्ध के अवसर पर दुर्योधन का भानुमती के साथ प्रेम-प्रदर्शन रस की दृष्टि से अनुचित हुआ है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' (अनुचित स्थान में शृङ्गार रस का विस्तार) नामक रसदोष माना है। इस प्रकार 'वेणी-संहार' को हम एक सफल नाटक भली-भाँति मान सकते हैं।

काव्य की दृष्टि से भट्टनारायण का यह ग्रन्थ वीररस को उन्मीलित करने में सर्वथा समर्थ है। मुख्य रस वीर है तथा अंगरस रौद्र और शृङ्गार है। ओजोगुण का सर्वातिशायी प्रभाव है। भट्टनारायण की प्रतिभा बड़े ऊँचे दर्जे की है और इसीलिए उनकी कविता में ओजस्विता और तेजस्विता कूट-कूटकर भरी है। उनके पद्य तेज से प्रज्वलित हैं और उनकी शैली समासबहुला होने से विजय तथा रस दोनों के अनुकल है। उनके पद्यों में सुप्त चित्त को प्रज्वलित करने की क्षमता है। युद्ध के अनुकूल विकट वर्णों का विन्यास तथा समास की बहुलता से गाढबन्ध का चातुर्य वेणीसंहार के साहित्यिक सौन्दर्य के पर्याप्त परिचायक हैं। भट्टनारायण वैष्णव कवि थे और इसीलिए उन्होंने नान्दी के भीतर ही राधाकृष्ण के केलि की एक अत्यन्त सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की (श्लोक १।२) और भगवान् श्रीकृष्ण की भगवत्ता तथा माहात्म्य का यह शोभन वर्णन किया (१।२३)—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद् विघटित-तमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा पुरस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम्॥

[अपने में ही रमण करने वाले, निर्विकल्प समाधि में सर्वदा प्रेम रखनेवाले, ज्ञान के आधिक्य से जिन पुरुषों के अज्ञान की ग्रन्थियाँ खुल गई हैं, ऐसे सत्त्वनिष्ठ व्यक्ति, अर्थात् योगी लोग भी जिनको अंधकार और प्रकाश से परे देखते हैं, उन पुराण पुरुषोत्तम को यह मोह से अंधा होने वाला दुर्योधन भला कैसे जान सकता है ? उसकी योग्यता ही नहीं है कि वह श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा गौरव को जान सके।]

भीमसेन की प्रतिज्ञा का भव्य निदर्शन इस पद्य में किया गया है (१।२१) :—

चञ्चद्भुज-भ्रमित-चण्ड-गदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्ध-घन-शोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

[यह भीमसेन शीघ्र ही फड़कती हुई भुजाओं से घुमाकर फेंकी गई गदा के आघात से दुर्योधन की जाँघों को चूर्ण कर देगा। अधिक मात्रा में घिरे हुए चपके हुए गाढ़े-गाढ़े

रुधिर से जिसके हाथ लाल हो गए हैं ऐसा भीमसेन तुम्हारे इन खुले हुए बालों को स्वयं अपने हाथों से बाँधेगा। अतः तुम विश्वस्त रहो। तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होकर रहेगा।]

विरोध का प्रदर्शन कितने सुन्दर ढंग से किया गया है इस प्रशस्त पद्य में (६।२६) :–

शाखारोधस्थगितवसुधामण्डले मण्डिताशे
पीनस्कंधे सुसदृशमहामूलपर्यन्तबन्धे ।
दग्धे दैवात् सुमहति तरौ तस्य सूक्ष्माङ्कुरेऽस्मि-
न्नाशाबन्धं कमपि कुरुते छाययार्थी जनोऽयम् ।।

[जिसने अपनी शाखाओं से सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को व्याप्त कर रखा था, जिससे सब दिशाओं की शोभा बढ़ रही थी, जिसका तना बहुत ही मोटा था, जिसकी जड़ बहुत नीचे तक गहरी पैठी थीं और जिसका आलबाल उसके ही समान महान् था, ऐसे पाण्डुकुलरूपी महान् वृक्ष के दैवयोग से जल जाने पर भी छाया के चाहने वाले ये लोग उसके छोटे से अंकुर पर ही आशा लगाये हैं। भीम और अर्जुन जैसे महारथियों के मारे जाने पर यह द्रौपदी अपने वंश की रक्षा के लिए इस चार मास के गर्भ पर ही आशा लगा रही है। उसका इस प्रकार आशा बाँधना उपहास का ही विषय है, सम्मान का नहीं।]

इस प्रकार नाटक की दृष्टि से नितान्त निर्दोष रचना न होने पर भी वेणी-संहार काव्य की दृष्टि से सुन्दर, शोभन तथा हृदयावर्जक प्रभावशाली कृति है—इसमें कोई भी आलोचक संशय नहीं कर सकता।

(७) यशोवर्मा

भवभूति के आश्रयादाता होने के कारण ही ये संस्कृत साहित्य के इतिहास में प्रख्यात नहीं हैं, अपि तु वे स्वयं भी सरस्वती के एक श्रद्धालु सेवक थे। **'रामाभ्युदय'** नाटक की प्रसिद्धि किसी समय बहुत ही अधिक थीं। ध्वन्यालोक, शृङ्गारप्रकाश, भाव-प्रकाशन, नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में इस नाटक का बहुशः उल्लेख मिलता है। ध्वन्यालोक लोचन (उद्योत ३, पृष्ठ १४८) से पता चलता है कि रामाभ्युदय के रचयिता यशोवर्मा थे। सम्भव ही नहीं, अपितु निश्चित है कि भवभूति आदि के आश्रयदाता ये ही यशोवर्मा थे, जिन्हें काश्मीर नरेश ललितादित्य के हाथों युद्ध में पराजय का दुःख झेलना पड़ा। ये अपने युग के बड़े प्रख्यात साहित्यसेवी प्रतीत होते हैं। ललितादित्य के समकालीन होने से इनका समय अष्टमशती का प्रथमार्ध मानना युक्तियुक्त है। 'गउडवहो' के प्रणेता वाक्पतिराज तथा भवभूति की इनके राजकवि के रूप में प्रसिद्धि तो है ही, अभिनवगुप्त के कोई पूर्वज अत्रिगुप्त भी इनके दरबार में रहते थे। कान्यकुब्ज के राजा इन्हीं यशोवर्मा को युद्ध में पराजित कर ललितादित्य बड़े सम्मान के साथ इन्हें (अत्रिगुप्त को) अपने देश ले गये, जहाँ इनका परिवार सदा के लिए बस गया। इस घटना का उल्लेख अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में किया है (अ० २७) :—

निःशेष-शास्त्र-सदनं किल मध्यदेश-
स्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा ।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वण-कलोद्यदगस्त्यगोत्रः ।।

तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत् ।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धजम् ॥

'रामाभ्युदय' नाटक की उपलब्धि अब तक नहीं हुई है, परन्तु इस नाटक के इतने अधिक उद्धरण साहित्य-ग्रन्थों में दिये गये हैं कि उनकी सहायता से पूरे ग्रन्थ का विषय—प्रत्येक अंक का भी अलग-अलग—जाना जा सकता है । यह नाटक था तथा इसमें छः अंक थे (षडंकं दृश्यते लोके रामाभ्युदयनाटकम्–भावप्रकाश, पृ० २३७, बड़ौदा सं०) इस नाटक की कथावस्तु की विशिष्टता यह थी कि इसमें वाल्मीकि के द्वारा वर्णित कथा का कहीं अतिक्रमण नहीं किया गया है । रामचरित के चित्रण में जो कथाभाग राम के उदात्त चरित्र के अनुकूल नहीं प्रतीत हुआ, उसे राम-नाटककारों ने सुभीते से अपने नाटकों में या तो बिल्कुल छोड़ ही दिया अथवा उसे अन्यथा कर दिया है—यही पद्धति साहित्य-जगत् में प्रचलित थी जिसका प्रतिवाद यशोवर्मा ने अपने नाटक में (सम्भवतः उसके प्रस्तावना भाग में) इस पद्य में किया है ——

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः ।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयो-
र्विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैरेतावदेवास्तु नः ॥

इस पूरे पद्य को भोजराज ने शृङ्गार-प्रकाश में उद्धृत किया है तथा 'कथामार्गे न चातिक्रमः' अंश आनन्दवर्धन ने ध्वन्यलोक में (३।११ कारिका तथा वृत्ति, पृ० १४४ तथा १४८ नि० सा० सं०) । इन समस्त सद्गुणों का अस्तित्व इस नाटक में नियमेन उपलब्ध होता है । यशोवर्मा के सभाकवि भवभूति ने ही अपने 'महावीर-चरित' में अनेक स्थलों पर वाल्मीकीय रामायण के द्वारा वर्णित घटनाओं का 'अन्यथाकरण' कर दिया है । ऐसे ही नाटकों के प्रतिवाद के रूप में 'रामाभ्युदय' का प्रणयन किया गया था।[1] कलापक्ष भी इस नाटक का मनोहर तथा हृदयावर्जक प्रतीत होता है । साहित्य-ग्रन्थों में बहुशः चर्चित यह पद्य यशोवर्मा के इसी नाटक के उस अंक से सम्बद्ध है, जिसमें राम सीता-वियोग के समय अपनी मनोव्यथा का वर्णन करते हैं——

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि ! धीरा भव ॥

(८) भवभूति

सौभाग्य का विषय है कि भवभूति ने अपने ग्रन्थों में, विशेषतः महावीर-चरित की प्रस्तावना में, अपना यत्किंचित परिचय प्रदान किया है । उससे जान पड़ता है कि भवभूति विदर्भदेश (आजकल बरार) के पद्मपुर के रहने वाले थे। ये काश्यपगोत्री

---

१. विशेष के लिए देखिए डा० राघवन्——सम ओल्ड लास्ट रामाप्लेज (अन्नमलै विश्वविद्यालय से प्रकाशित, १९६२, पृष्ठ १–२५)

तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले थे। भवभूति के पिता का नाम **नीलकण्ठ,** माता का **जतुकर्णी** और पितामह का **भट्ट गोपाल** था। भवभूति के पूर्वज अपने सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। वे पंक्तिपावन थे तथा पाँच अग्नियों की स्थापना करने वाले थे। उन्होंने सोमयज्ञ भी किये थे, वे श्रौत के भारी वेत्ता थे। इनके कुल में काव्यकला की भी पूजा कुछ कम न थी, क्योंकि इनके पाँचवे पूर्वज कोई 'महाकवि' थे। इनके गुरु का नाम **'ज्ञाननिधि'** था। डाक्टर भण्डारकर का कहना है कि भवभूति के जन्मस्थान के आसपास इस समय भी कुछ कृष्णयजुवदी तैत्तीरीय शाखाध्यायी महाराष्ट्र ब्राह्मणों के कुल विद्यमान हैं। कवि ने अपने को 'भट्ट श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम' लिखा है। अतः कुछ टीकाकारों का अनुमान है कि इनका असली नाम 'श्रीकण्ठ' था, परन्तु

'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः'

अथवा

तपस्वी कां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव ।
गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ ॥

पद्य के, जिनमें 'भवभूति' शब्द प्रयुक्त है, लिखने के कारण इनका प्रसिद्ध नाम 'भवभूति' पड़ा—यह पण्डितों में परम्परागत प्रसिद्धि है।

दार्शनिकों की गोष्ठी में भवभूति **'उम्बेक'** नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने अपने गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' उल्लिखित किया है। उधर 'मालतीमाधव' के एक प्राचीन हस्तलेख में वे कुमारिलभट्ट के शिष्य बतलाये गये हैं। अतः यह निश्चित है कि वे कुमारिल भट्ट के शिष्य थे तथा उनका नाम उम्बेक था। इस तथ्य के प्रकाशन में प्राचीन दार्शनिक विद्वान् एकमत हैं। याज्ञवंल्क्यस्मृति पर 'बालक्रीडा' व्याख्या के लेखक 'विश्वरूप' से भी भवभूति की एकता स्थापित की जाती है। यह ऐक्यस्थापना एकान्ततः निःसंदिग्ध नहीं है। परन्तु इतना तो निःसंशय प्रतीत होता है कि भवभूति केवल नाटककार नहीं थे, प्रत्युत अपने युग के एक मान्य तत्त्ववेत्ता भी थे। उनके नाटकों में उनकी दार्शनिकता के प्रभत उदाहरण उपलव्ध होते हैं।[1]

भवभूति के जीवन की घटनाएँ अज्ञानान्धकार में छिपी हैं। उनके ग्रन्थों की आलोचना से जान पड़ता है कि तत्कालीन विद्वान् इन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। पहले किसी राजा का भी आश्रय इन्हें नहीं मिला था, क्योंकि प्रायः इनके नाटकों का अभिनय राज-सभा में न होकर उज्जयिनी में महाकाल की यात्रा के समय एकत्रित जनता के सामने ही हुआ था। परन्तु हमलोग भवभूति को जीवन के अंतिम काल में कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा **यशोवर्मा** के आश्रय में पाते हैं। सम्भवतः भवभूति को अपनी अलौकिक नाट्यकला के कारण विद्वत्प्रेमी यशोवर्मा का आश्रय मिल सका। जीवन के आरम्भ में तत्कालीन साहित्य-सेवियों के द्वारा निरादृत होने की सम्भावना इनके कतिपय गर्वोक्तियों

१. विशेष द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत—सुकवि—समीक्षा, पृष्ठ ३१९—३२३ (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३)।

से अनुमित होती है। मालतीमाधव की प्रस्तावना में भवभूति ने इन्हीं दुरालोचकों को लक्ष्य करके यह हृदयोद्‌गार निकाला है :—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

भावार्थ है कि जो कोई मेरी अवज्ञा किया करते हैं, उन मूर्खों के लिए यह मेरा यत्न नहीं है। समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी लम्बी-चौड़ी है। इसमें जो कोई मेरा स्पर्धी इस समय है या आगे पैदा होगा उसके लिये मेरा नाटक-रचना-रूप यत्न समझना चाहिये।

भवभूति का पाण्डित्य

भवभूति वेद तथा दर्शनों के अगाध पण्डित थे[1]। भगवती श्रुति के रहस्यों का उन्होंने खूब पता लगाया था। उनके नाटकों में उनके वैदिक-ज्ञान-गरिमा की सूचना अनेक स्थलों पर पाई जाती है। उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में 'नामांसो मधुपर्को भवति' की सूचना मिलती है। महावीर चरित में सूर्यवंश के कुल-पुरोहित वसिष्ठ का वर्णन करते समय भवभूति ने ऐतरेय-ब्राह्मण के अन्तिम (४० वाँ) अध्याय में उल्लिखित पुरोहित-प्रशंसा 'राष्ट्रगोपाः पुरोहितः' वाले कई पद्यों को ज्यों का त्यों अपने नाटक में रखा है। उपनिषत्-तत्त्व के वे परम वेत्ता थे। उत्तररामचरित में उन्होंने जनक के मुख से 'असूर्या नाम ते लोकाः' आदि प्रसिद्ध ईशावास्य श्रुति की व्याख्या कराई है। 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (उत्तर० ६।६) श्लोक के द्वारा भवभूति ने अपने औपनिषद अद्वैतवाद का संक्षेप में सुन्दर तात्त्विक वर्णन किया है। इनके योगशास्त्र के प्रकृष्ट ज्ञान का पता हमें मालती-माधव के पंचम अंक में मिलता है। 'समधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा' में भवभूति ने अपने योग तथा तन्त्र के ज्ञान का अनुपम मेल दिखलाया है। स्थान-स्थान पर भवभूति की भाषा में दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द इस सरलता से अनायास आते हैं कि जान पड़ता है कि नाटककार सदा इन दर्शनों के चिन्तन में संलग्न रहा है। सचमुच महाकवि भवभूति संस्कृत-साहित्य के एक अद्वितीय कवि हैं—इन्हें छोड़कर 'पाण्डित्य' और 'वैदग्ध्य' का अनुपम तथा श्लाघनीय सम्मिलन अन्यत्र कहाँ प्राप्त हो सकता है ?

समय

यह हमारे सौभाग्य की बात है कि भवभूति जैसे महाकवि का समय निश्चित रूप से निर्णित हो चुका है; कालिदास के समान वह कई शताब्दियों के झमेले में नहीं पड़ा हुआ है। राजतरंगिणी में ललितादित्य नामक विजयी काश्मीर-नरेश का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। क्षात्र तेज से प्रभावित होकर ललितादित्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती समग्र उत्तरीय भारत में फहराई। उसने न केवल आसपास के राजाओं को ही अधीन किया, बल्कि सुदूर गौड़ देश (बंगाल) को भी

---

१. यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च ।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके ॥

अपना विजित प्रदेश बनाया। इसी प्रभावशाली नरेश ने कान्यकुब्ज के महाराज **यशोवर्मा** को समरभूमि में परास्त किया। यशोवर्मा ने इसका लोहा मान लिया।[1] यह यशोवर्मा न केवल विद्वानों का ही आश्रयदाता था, बल्कि स्वयं सरस्वती देवी का पुजारी था। उसने पूर्वनिर्दिष्ट 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की रचना की थी। दशरूपक आदि ग्रन्थों में इस नाटक का उल्लेख हैं, परन्तु अभी तक यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। इसी की सभा भवभूति, वाक्पतिराज आदि कवि-सम्राटों से अलंकृत थी। श्रीयुत शंकर पाण्डुरंग पण्डित ललितादित्य के राज्याभिषेक का समय ६९५ ई० मानते हैं और दिग्विजय का समय उनकी राय में इस (ललितादित्य) के शासन के आरम्भिक वर्ष थे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के आसपास पड़ेगा, परन्तु चीनदेशीय इतिहास से ललितादित्य का समय ३२ वर्ष उतर कर होना सिद्ध होता है, क्योंकि उसका राज्याभिषेक ७२५ ई० के आसपास हुआ। चीन के इस इतिहास की प्रामाणिकता वाक्पतिराज-रचित गउडवहो (८२९ गाथा) में उल्लिखित एक सूर्य-ग्रहण के समय से सिद्ध होती है। डाक्टर याकोबी ने दिखलाया है कि यह सूर्यग्रहण १४ अगस्त सन् ७३३ ई० में कन्नौज में दिखाई पड़ा था। अतः यशोवर्मा का समय ७३३ ई० के आसपास सिद्ध होता है, क्योंकि गउडवहो में यशोवर्मा द्वारा मारे गये किसी गौड़ देश के राजा का वृत्तान्त वर्णित है, परन्तु ललितादित्य के द्वारा उसके पराजित किये जाने की चर्चा तक नहीं है। यशोवर्मा ने ७३३ ई० के लगभग काश्मीरनरेश की अधीनता स्वीकार की। अतः महाकवि भवभूति का समय भी आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

यदि कल्हण पण्डित ने भवभूति के आश्रयदाता के नामोल्लेख की कृपा न की होती, तो भी हम परवर्ती कवियों के उद्धरणों से भवभूति का समय निश्चित कर सकते थे। सबसे पहले आलङ्कारिक-प्रवर वामन ने अपनी 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में भवभूति के कई पद्यों[2] को उद्धृत किया है। अतएव वामन से भवभूति की प्राचीनता सिद्ध होती है। वामन का समय आठवीं सदी का उत्तरार्द्ध तथा नवीं का आरंभ है। अतः भवभूति के आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में होने के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

ग्रन्थ

भवभूति की तीनों रचनायें नाटक ही हैं :—

(१) **मालती-माधव**—यह दश अंकों का एक विशाल पकरण है। वस्तु कविकल्पनाप्रसूत है। मालती तथा माधव का प्रेम-प्रसंग बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें यौवन के उन्मादक प्रेम का बड़ा ही रसीला चित्रण है। पूरे प्रकरण में प्रेम की वड़ी ही सजीव और उदात्त कल्पना दर्शकों के सामने रखी गयी है। धर्म से विरोध करनेवाले प्रेम को भवभूति ने समाज के लिए हानिकारक समझ उसकी एकदम उपेक्षा कर दी है।

---

१. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

२. वामन ने 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः' (उत्तररामचरित १।३८) को रूपकालंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है।

(२) **महावीर-चरित**--इसमें रामकथा का वर्णन किया गया है। इसमें छः अङ्क हैं। इस नाटक में कथानक का ऐक्य प्रदर्शन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। राम के विरुद्ध जितने कार्य किये गये हैं वे सब रावण की प्रेरणा से ही। राम का चरित्र नितान्त उदात्त तथा वीरभावापन्न है। इस नाटक में वीररस की प्रधानता है। राम को आदर्श पुरुष के रूप में दिखलाने के उद्देश्य से भवभूति ने राम के कितने ही दोषों को भिन्न रूप से प्रदर्शित किया है। जैसे बाली रावण का सहायक बनकर राम से लड़ने आया था, इसीलिए राम ने उसका वध किया।

(३) **उत्तर-रामचरित**--इसमें रामायण का उत्तरार्ध प्रदर्शित है। इस सप्ताङ्क रूपक में राम के वन-प्रत्यागमन के बाद राजगद्दी पाने से लेकर सीता-मिलन तक की सम्पूर्ण कथाएँ कुछ कल्पना-प्रसूत घटनाओं के साथ दिखाई गई हैं। भवभूति की कवि-प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है। इसमें सात अंक हैं। नाटक का आरम्भ 'चित्रदर्शन' से होता है और रामचरित की समस्त प्राचीन घटनाएँ एक-एक कर सामने आती हैं और उन पर राम अपनी प्रतिक्रिया का निर्देश करते हैं। अयोध्या के लोगों में रामाभिषेक से उत्पन्न प्रतिक्रिया का निरीक्षण कर दुर्मुख आता है और राम से सीता के लंकाप्रवास के विषय में उत्पन्न लोकनिन्दा की चर्चा करता है। गर्भिणी सीता वन को देखने की इच्छा प्रकट करती है और लक्ष्मण उसे वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ आते हैं। द्वितीय अंक में वासन्ती तथा आत्रेयी के संवाद से सीता के दो पुत्रों की उत्पत्ति, वाल्मीकि के द्वारा पोषण तथा शिक्षण आदि बातों का परिचय मिलता है। राम शम्बूक नामक तापस को मारने के लिए दण्डकारण्य में आते हैं और प्राचीन दृश्यों को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। तृतीय अंक में राम पंचवटी में प्रवेश करते हैं जहाँ वासन्ती नामक वनदेवता से सीता के परित्याग से उत्पन्न अपनी तीव्र मनोव्यथा का वर्णन करते हैं; कभी-कभी वे मूच्छित हो उठते हैं। तब सीता देवी जिसे देवता के प्रसाद से कोई देख नहीं सकता अपने करस्पर्श से उन्हें पुनरुज्जीवित कर देती है। राम के हृदय में विद्यमान गाढानुराग की बात तथा प्रजा की उत्कट भर्त्सना देखकर तथा सुनकर सीता का विषण्ण हृदय कुछ आश्वस्त होता है। सीता के प्रकट न होने के कारण यह 'छायांक' नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्थ अंक में हम वाल्मीकि के आश्रम पर पहुँचते हैं जहाँ विष्कम्भक के द्वारा जनक तथा कौशल्या आदि रानियों के आगमन की सूचना हमें मिलती है। जनक, अरुन्धती तथा कौशल्या के बीच सीता-परित्याग से उत्पन्न स्थिति का मर्मभेदी विवेचन है। अंक के अन्त में रामचन्द्र के अश्वमेधीय घोड़े को लव के द्वारा पकड़ने की घटना का उल्लेख है। पंचम अंक में चन्द्रकेतु तथा लव के बीच भीषण संग्राम का दृश्य है। वीररस के प्रकर्ष के लिए यह सबसे सुन्दर अंक है। षष्ठ अंक में विद्याधर तथा विद्याधरी के द्वारा युद्ध की विविध लीलाओं का विवरण हमें मिलता है। रामचन्द्र के आने से यह युद्ध शान्त होता है और कुश के आगमन पर राम इन दोनों में सीता की आकृति की समता पाकर हर्ष तथा विषाद का क्रमशः अनुभव करते हैं। सप्तम अंक में 'गर्भाङ्क' की कल्पना है। प्रजा के सामने नाटक खेला जाता है जिसमें गंगा तथा पृथ्वीदेवी सीता को निर्दोष सिद्ध कर राम-

चन्द्र को अर्पण करती हैं। जृम्भकास्त्र की सिद्धि से लव-कुश राम के पुत्र रूप में पहिचाने जाते हैं और सार्वत्रिक सौख्य के साथ नाटक का अवसान होता है।

इसके तीसरे (छायांक) अंक में कवि ने चमत्कार दिखलाया है। एक ओर राम अपने वनवास के प्रियमित्र पंचवटी के परिचित स्थानों को देखकर सीता के लिये विलाप करते-करते मूर्छित हो जाते हैं, दूसरी ओर छाया सीता राम के इस प्रेममय स्मरण के कारण अपने वनवास के कठिन दुःखों को भी लात मारकर अपने जीवन को धन्य समझती हैं। राम इस छाया-सीता के स्पर्श का अनुभव तो अवश्य करते हैं, परन्तु आँखों से देख नहीं पाते। यहाँ कवि ने खूब ही 'काव्य-न्याय' दिखलाया है। सीता को वनवास देने वाले राम के रुदन को दिखाकर कवि ने सीता के अपमानित तथा दुःख-भरे हृदय को बहुत शान्त किया है। करुण रस का प्रवाह जैसा इस अंक में दिखाया गया है वैसा कदाचित ही कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर हो। भवभूति ने बे-जान पत्थरों को भी रामचन्द्र के विलापों से खूब ही रुलाया है। ऐसा चमत्कार किसी अन्य कवि ने नहीं पैदा किया है। करुण रस की इसी पराकाष्ठा को लक्ष्य कर कोई आलोचक ठीक ही कहता है—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्या हसतः स्म स्तनावपि॥

उत्तररामचरित का आधार तो वाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड है, परन्तु भवभूति ने अपने नाटक को शोभन तथा अलंकृत बनाने के लिए अनेक मौलिक परिवर्तन किये हैं। वाल्मीकि में रामकथा दुःखपर्यवसायी कथा है; क्योंकि उसका अन्त राम के द्वारा परित्यक्ता जानकी के पाताल-गमन से ही होता है; परन्तु भवभूति ने नाट्य-परम्परा का अनुकरण कर उत्तररामचरित को सुखान्त रूपक बनाया है। इसके अतिरिक्त अनेक घटनायें भवभूति की मौलिक कल्पना से प्रसूत चमत्कारिणी सृष्टि हैं। चित्रदर्शन दृश्य (उत्तर० १ अंक), राम का पुनः दण्डकारण्य में आना तथा वनदेवता वासन्ती से भेंट (२ अंक), दण्डकारण्य में छाया-सीता की सत्ता (३ अंक) तथा गर्भाङ्क (७ अंक) —ये सभी कवि की मौलिक कल्पना से उत्पन्न चमत्कारी दृश्य हैं।

भवभूति की नाट्यकला

भवभूति का 'उत्तररामचरित' उनकी नाट्यप्रतिभा को प्रकट करनेवाला सर्वोच्च नाटक है। भवभूति स्वभाव से ही गम्भीर प्रकृति के कवि हैं, जिन्हें अपनी अनुभूति से संसार में विषाद तथा वेदना का अधिक संचार दृष्टिगोचर होता है। फलतः वे भावप्रवण कवि हैं और इस भावप्रवणता का प्रभाव उनके नाटकों पर, विशेषतः उत्तररामचरित पर, अधिकता से पड़ रहा है। भावों के स्निग्ध चित्रण के कारण यदि उत्तररामचरित गीति-नाटक (लिरिक ड्रामा) है, तो प्रकृति तथा युद्ध के वर्णनों के विन्यास के कारण यह 'एपिक ड्रामा' भी कहा जा सकता है। घटनाओं की योजना में मालती-माधव का दश अंकवाला प्रकरण कुछ अव्यवस्थित तथा दुर्व्यवस्थित भले ही दिखाई पड़े, परन्तु राम-सम्बन्धी दोनों नाटकों में घटना-शैथिल्य का सर्वथा अभाव है। 'उत्तर-रामचरित' में घटना का संविधान बड़े ही मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रदर्शित किया गया है। आरम्भ में चित्रदर्शन की योजना बड़ी फलप्रद सिद्ध होती है। राम जैसे एकपत्नीव्रतधारी पति

सीता जैसी सती का पूर्ण गर्भावस्था की स्थिति में परित्याग कर देते हैं, इस घटना को स्वाभाविक रीति से सम्भाव्य बनाने के लिए ही भवभूति ने चित्रदर्शन की कल्पना की है, जो कालिदास के संकेत के ही ऊपर आधारित (रघु १४।२५) है, परन्तु भवभूति ने इसका पूर्ण नाटकीय साफल्य दिखलाया है। जंगल के पूर्वानुगत दृश्यों को देखकर सीता के हृदय में उन्हें पुन: देखने की नैसर्गिक अभिलाषा उदित होती है। वह राम से निवेदन करती हैं और राम को अपनी ओर से कठोर व्यवहार का आभास भी दिखलाना नहीं पड़ता। वह सीता के दोहद की पूर्ति के साथ ही साथ एक बड़े आवश्यक कार्य का नैसर्गिक ढङ्ग से सम्पादन कर देते हैं। इतना ही नहीं, गंगा और पृथ्वी देवी को सीता के लिए 'शिवानुध्यान परायण' होने की प्रार्थना, जृम्भकास्त्र के प्रदर्शन से लव-कुश के रामपुत्र होने की पहचान आदि घटनाओं का उद्देश्य 'चित्रदर्शन' के द्वारा भली-भाँति सिद्ध होता है। तृतीय अंक की 'छाया--सीता' की कल्पना भवभूति के मनोवैज्ञानिक अनुभव का एक विशिष्ट प्रतीक है। अपमानित नारी के साथ उसी पुरुष का पुनर्मिलन तबतक नहीं हो सकता, जबतक उसकी अपमानजनित वेदना का अपनयन स्वाभाविक रीति से न हो जाय। मानसिक ग्रन्थि का शैथिल्यकरण तथा हृदयस्थित गुप्त विषाद का दूरीकरण सीता के पक्ष में तभी होता है जब वह राम के मुँह से स्वयं अपनी प्रशंसा सुनती हैं। उसके विषण्ण हृदय पर यह अंक ठंडे मलहम का काम करता है, जिससे सप्तम में उनका पुनर्मिलन स्वाभाविक रीति से सम्पन्न होता है। सप्तम के 'गर्भाङ्क' की भी कल्पना एकदम नवीन है, जो वाल्मीकि-रामायण के वृत्त के साथ-साथ शोभन सुखान्त रूप को मिलाती है तथा अद्भुत रस के योग से दर्शकों के चित्त में कौतूहल वृत्ति का उदय करती है। इस प्रकार घटनाओं का संविधान एक अन्विति से समवेत है। 'महावीर-चरित' में भाव-प्रवणता के लिए स्थान नहीं है और इसकी घटनाओं में परसर-सम्बद्धता का निर्वाह इसीलिए पूर्ण रीति से किया गया मिलता है।

चरित्र-चित्रण में भी भवभूति एक सिद्धहस्त नाटकार हैं। अपनी गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही उन्होंने राम और सीता जैसे परम पावन आदर्श चरित्र पात्रों को अपने नाटक के लिए चुना है। भवभूति ने वाल्मीकि के आदिकाव्य का गम्भीर अनुशीलन किया था और इससे उन्होंने मूर्त पदार्थों की अमूर्त से तुलना, करुण रस की सर्वोपरि तथा सर्वमान्य स्थिति आदि अनेक तथ्यों को अंगीकार किया है। राम का चरित्र बड़ा ही उदात्त, आदर्श तथा प्रख्यात परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। 'रामराज्य' का आदर्श रूप अपने वैभव के साथ यहाँ दीख पड़ता है। राम आदर्श राजा हैं। उनका व्रत ही 'प्रकृतिरंजन' है। स्नेह, दया, सौख्य, यहाँ तक कि पवित्र-चरित्रा जनकनन्दिनी को भी छोड़ते हुए राम को व्यथा नहीं है (उत्तर-चरित १।१२) :—

> स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
> आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।

यह पवित्र उद्गार जिस राजा के मुख से स्वत: निकलता है उसके चरित्र की पावनता का माहात्म्य किन शब्दों में वर्णित किया जा सकता है ? वे जानकी के सच्चे पूत चरित्र से परिचित न थे ऐसी बात नहीं है, परन्तु लोकाराधन की वेदी पर अपने निजी

सौख्य को तिलांजलि देना राम की कर्तव्यनिष्ठता का, आदर्श भूपतित्व का उज्ज्वल दृष्टान्त है। तृतीय अंक (उत्तर चरित) में राम वासन्ती के सामने अपने सच्चे भावों को प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं होते, वे 'लोक' की निन्दा भरपेट करते हैं। 'लोक' के अस्त-व्यस्त, अमर्यादित स्वरूप से वे भली-भाँति परिचित हैं, परन्तु फिर भी उनकी कर्तव्यनिष्ठा 'लोक' के अनुरंजनार्थ प्रियतम वस्तु का परित्याग करने के लिए बाध्य करती है। **सीता** पीडिता नारी का प्रतीक है। वह **राम** के द्वारा कठोर गर्भावस्था में परित्यक्ता होने पर भी अपने पति के लिए एक शब्द भी प्रतिवाद के रूप में नहीं कहती। राम के भावसंघर्ष को वह भली-भाँति पहचानती है। एक ओर राम अपने निजी जीवन के लिए व्यस्त हैं और दूसरी ओर प्रजानुरंजन उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। भावों के इस संघर्ष के कारण राम का हृदय टूक-टूक हो जाता है। सीता अपने दुःख से दुःखित नहीं है, प्रत्युत राम की विषम दशा के चिन्तन से चिन्तित है। ऐसे पतिव्रता का वर्णन मिलना नितान्त दुर्लभ है। राम की मूर्च्छा देखकर वह स्वयं संज्ञाहीन हो जाती है और अनेक उपायों के द्वारा वह चेतन दशा में आती है। राम और सीता का यह आदर्श चित्रण भवभूति की नाटचकला का चरम अवसान है।

भवभूति की काव्यकला

भवभूति की कविता बड़ी चमत्कारिणी है। संस्कृत भाषा के ऊपर आपका पूरा प्रभुत्व है। वाग्देवी ब्रह्मा की तरह आपकी वश्या थी। इनकी कविता में भाषा तथा भाव में अनुपम सामंजस्य है; जैसा भाव, वैसी भाषा। जो भवभूति भयंकर युद्ध के वर्णन के समय लम्बे समासवालेओजो गुणविशिष्ट दृश्य के कठोर अभिव्यंजक पद्य लिख सकते हैं (उत्तररामचरित ५।९), वही भवभति ललितभाव के वर्णन करते समय ऐसा सुन्दर अनुष्टुप् लिख सकते हैं जिसमें एक भी समस्त पद नहीं है (उत्तर० २।८)। इस सामंजस्य का अनुरूप उदाहरण कभी-कभी एक ही पद्य में मिलता है जिसके एक भाग में युद्धवर्णन के लिए टवर्ग के अनुप्रास में गाढबन्धता रखी गई है और दूसरे भाग में कोमलवस्तु के वर्णन के हेतु सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है। यह भवभूति के भाषा-धिपत्य को प्रकट कर रहा है। नीचे के पद्य में ऐसा सुन्दर शब्दविन्यास है कि पढ़ते समय ही तुंगतरंगवाली, गद्गद नाद के साथ बहनेवाली नदियों का प्रत्यक्ष चित्र सामने खड़ा हो जाता है---वर्णध्वनि से नदियों के परस्पर मिलने से उत्पन्न घोर रोर का कोलाहल स्पष्ट मालूम पड़ता है (उत्तररामचरित २।३०) :—

> एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
> मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
> अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
> रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः॥

इस प्रकार वर्ण-ध्वनि के द्वारा अर्थ की द्योतना कवि की विशिष्टता है। उनके युद्ध वर्णन को पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो युद्ध हमारे नेत्रों के सामने अपनी पूर्ण भयंकरता तथा रोमांचकता के साथ आकर उपस्थित हो गया हो। आपकी शिखरिणी सबसे अच्छी है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में भवभूति के शिखरिणी वृत्त की प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी ।
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥

मानवीय भावों की गहराई में प्रवेश करने तथा उन्हें उसी प्रकार मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करने में भवभूति नितान्त दक्ष हैं। किसी मनोवेग का वर्णन करते समय उनका लक्ष्य है उस गूढ से गूढ सूक्ष्म भाव की द्योतक शब्दों के द्वारा साक्षात् अभिव्यक्ति। वे उपमा तथा उत्प्रेक्षा का व्यूह रचकर उस भावसौन्दर्य को अनावश्यक आडम्बर की लपेट में कभी नहीं रखना चाहते। हृदय के सीधे भावों का वर्णन सीधे शब्दों में ही अधिक जँचता है। चित्र दर्शन से उत्पन्न राम के मनोभाव का यह वर्णन कितनी सुन्दरता के साथ कवि ने किया है (उ० च० १।२९ ।—

अयं ते वाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुटदधर-नासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मात-हृदयः ॥

'भावशबलता' के अवलोकन तथा वर्णन की अद्‌भुत क्षमता भवभूति को मिली थी। किसी विशिष्ट अवसर पर मानव के हृदय में जो भावपुंज अभिव्यक्त होते रहते हैं उनका एकत्र वर्णन कर भवभूति ने अव्यक्त हृदय का एक व्यक्त चित्र प्रस्तुत कर दिया है। भगवती सीता तमसा के साथ पंचवटी में जा रही हैं; अचानक रामचन्द्र के मसृण वचन सीता के कर्ण-कुहर में प्रवेश करते हैं। सुदीर्घ द्वादश वर्ष के वियोग के अनन्तर प्राणप्यारे से इन वचनों को सुनकर सीता की विचित्र दशा का वर्णन तमसा के मुख से कवि ने इस प्रकार किया है—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्यादपि च करुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥

हे सखि ! तुम्हारा हृदय निराशा से—राम से संयोग होने की निराशा से—अभी उदासीन था तथा राम के इस दुर्व्यहार से कलुषित था, परन्तु अब इस दीर्घवियोग में अचानक भेंट हो जाने से बिलकुल स्तब्ध हो गया है; राम की सुजनता से प्रसन्न है और विलापों के कारण इसमें शोक की तीव्र धारा चल रही है; राम के द्वारा प्रेम प्रकट करने से यह हृदय आनन्द से पिघला जा रहा है। हृदय के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण उचित शब्दों में करना भवभूति की प्रतिभा का विलास है जो इस पद्य में सुन्दरता से अभिव्यक्त हो रहा है।

प्रकृतिचित्रण—भवभूति चेतन मानवीय प्रकृति के ही सच्चे विश्लेषक नहीं हैं, बल्कि वाह्य प्रकृति के भी सफल चित्रकार हैं। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण बड़ी सावधानी से किया था। कालिदास ने प्रकृति के केवल सुकुमार पक्ष, कोमल पहलू का ही वर्णन किया है; परन्तु भवभूति की दृष्टि विशेष कर उसके उग्र, भयंकर तथा विषम पक्ष पर ही गड़ी थी। दण्डकारण्य का जैसा सच्चा वर्णन उत्तररामचरित में पाया जाता है, जंगल का

वैसा वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत कवियों का प्राकृतिक वर्णन सदैव अलंकृत रहता है, जिससे लोगों को सन्देह होने लगता है कि क्या वह दृश्य कवि की कल्पना में प्रसूत हुआ है या उसके प्रकृति-पर्यवेक्षण से ? परन्तु भवभूति का वह वर्णन विश्व के महाकवियों के समान विस्तृत तथा वास्तविक है। मालतीमाधव के श्मशान-वर्णन की भी यही विचित्रता है ! दण्डकारण्य की भीषणता पर जरा दृष्टिपात कीजिए (उ० च० २।१६) :—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ।।

[जंगल का कोई भाग बिल्कुल शान्त है और कहीं सिंहक जानवरों की प्रचण्ड ध्वनि सुन पड़ती है। कहीं पर स्वेच्छया सोये हुये विस्तृत फन वाले भुजंगों के श्वास से आग पैदा हो रही है। जल का नाम नहीं है, कहीं-कहीं छोटी गड़हियों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है; विचारे प्यासे गिरगिटों को पानी नहीं मिलता। क्या करें, अजगर के पसीने को पी ही कर अपनी प्यास बुझाते हैं।] कितना भयानक दृश्य है प्रचण्ड ग्रीष्म के सन्ताप का !

पहाड़ों पर सोते बहे चले आ रहे हैं। उनका वर्णन कितना यथार्थ तथा रोचक है (उत्तररामचरित २।१०)। वर्णध्वनि का चमत्कार नितरां आवर्जक है :—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ।।

[यह देखो, झरने बह रहे हैं। इनके किनारे वानीरलता उगी हुई है। उसके ऊपर मधुर कंठवाले पक्षीगण बिहार करते हैं। उनके बैठने से लता के फूल झरनों में गिर जाते हैं जिससे उनका पानी सुगन्धित हो जाता है। पहाड़ों से बहने के कारण नदियों का जल स्वभाव से ही शीतल तथा स्वच्छ है। उनकी धारायें पके हुए फलों से लदे, काले जम्बू वृक्षों के कुंज से टकराने पर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं।]

रससिद्धि—भवभूति अनेक रसों के सिद्ध कवि हैं। अपने नाटकों में उन्होंने वीररस का सजीव वर्णन किया है। वीरों की गर्वीला गर्जन, अस्त्रों की झंकार, स्यन्दनों की खट-खटाहट और बाणों की सनसनाहट—ये सब हमारे सामने सच्ची युद्धभूमि का चित्र हठात् उपस्थित कर देते हैं। मालतीमाधव में शृंगार रस का खासा वर्णन किया गया है। श्मशानदृश्य में बीभत्स तथा भयानक की मात्रा यथेष्ट है, परन्तु भवभूति सबसे अधिक करुणरस के उन्मेष में सिद्धहस्त हैं। कालिदास ने भी रतिविलाप तथा अजविलाप के द्वारा करुणोत्पादक प्रभाव खूब ही दिखलाया है, परन्तु भवभूति के वर्णन में कुछ अलौकिकता है, विचित्र चमत्कार है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। भवभूति करुणरस के प्रधान आचार्य हैं। आलंकारिकों में आदिरस के विषय में बड़ा मतभेद है। महाराज भोजदेव शृङ्गार को ही रसों का सिरताज समझते हैं, तो शैवागम के अनुयायी काश्मीरी कविगण शांत रस को ही मुख्य रस मानते हैं; परन्तु हमारे भवभूति ने

करुणरस को ही सब में प्रधानता दी है। इन्होंने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में उत्तररामचरित के इस प्रख्यात पद्य में दी है, (३।४७) :—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत् समग्रम् ॥

करुण ही प्रधान रस है। रससामग्री (स्थायीभाव, आलम्बन, उद्दीपन आदि) की विभिन्नता से वह भिन्न होता हुआ भिन्न-भिन्न परिणामों को धारण करता है, परन्तु है एक ही। एक ही जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुद्बुदों तथा कभी तरंगों के रूप को धारण करता है, परन्तु वास्तव में यह सब जल ही है। इस प्रकार 'करुण' ही सब रसों की प्रकृति है। अन्य रस तो उसकी विकृति हैं। जब करुणरस के विषय में भवभूति की ऐसी उच्च धारणा थी, तब उनके करुण वर्णनों की क्या कथा ? इसी करुण-वर्णन के वैचित्र्य को लक्ष्य कर गोवर्धनाचार्य ने ठीक ही कहा है—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥

राम सीता के लिये विलाप कर रहे हैं (उत्तर० ३।३८) :—

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं स्त्रंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥

[हा देवि ! तुम्हारे विना मेरा हृदय फटा जाता है; शरीर शिथिल पड़ रहा है, संसार को सूना समझता हूँ, मेरे हृदय में सदा ज्वाला जल रही है, मेरा दुःखित आत्मा गाढ अंधकार में धँसा जाता हैं, चारों तरफ से अज्ञान मुझे घेर रहा है। अब मैं मन्दभाग्य क्या करूँ, कहा जाऊँ ?]

भवभूति का करुणरस अत्यन्त गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। उन्हींकी स्वीकारोक्ति के अनुसार वह 'पुटपाक' के समान है, जो ऊपर से तो पंकलिप्त होने से नितान्त शान्त, परन्तु भीतर ही भीतर तीव्र अन्तर्वेदना से उत्तप्त होता रहता है (उत्तर० ३।१) :—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

करुण रस कभी अमर्यादित उद्वेग तथा प्रलाप का रूप नहीं धारण करता, परन्तु अपनी तीव्रता के कारण वह बारंबार मूर्छा की अवस्था में अपने पात्र को ढकेल देता है। भवभूति जानते हैं कि शोकातिरेक की दशा में एकान्त में जी भरकर रोने से चित्त हल्का हो जाता है, जिस प्रकार बढ़े हुए पानी के निकाल देने से तालाब का शोधन हो जाता है (उत्तर० ३।२९)—

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।

इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भवभूति के पात्र अपने भावशोधन के लिए विलाप के द्वारा अपना शोक बाहर प्रकट करते हैं। देखिये, राम की यह करुणामयी सूक्ति कितनी हृदयस्पर्शी है (वही ६।३८)—

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥

प्रवास में प्रिय का बारंबार ध्यान करते समय प्रतीत होता है कि वह सामने ही आकर उपस्थित है; इसी से वह वियोग में आश्वासन प्रदान करता है, परन्तु कल्पित मूर्ति के नाश होते ही यह संसार बीहड़ सूनसान जंगल के समान जान पड़ता है और तदनन्तर भूसे की आग में हृदय पकने लगता है, जो धीरे-धीरे हृदय को सुलगा कर भस्म कर देती है। यहाँ 'कुकूल' (भूसा) का संकेत कवि के गाढ़ अनुभव की ओर है। कुकूल की आँच बहुत तेज होती है, परन्तु वह एक साथ न जल कर धीरे-धीरे जलती रहती है जिससे हृदय में असीम दुःसह वेदना की तीव्र अभिव्यंजना बलात् होती है।

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।

कालिदास से तुलना

(क) रस का परिपाक—कालिदास सरस्वती देवी के सौभाग्यशाली लाडिले हैं। फलतः शारदा की कृपा उनके ऊपर नैसर्गिक है। विक्रमादित्य जैसे भारतवर्ष के प्रभावशाली महाराजा की सभा की शोभा बढ़ाने का गौरव उन्हें प्राप्त था। फलतः वे कोमल तथा ललित वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते हैं और उन्हें अपनी प्रतिभाशाली लेखनी से चमका देते हैं। कालिदास उतने ही स्वाभाविक ढंग से कविता करते हैं जिस प्रकार प्रभात का स्निग्ध वायु बहता है अथवा श्रावण मास में जिस प्रकार वर्षा की आनन्ददायिनी बौछार जीवों को तृप्त करती है। भवभूति ने अपने पाण्डित्य के बल पर सरस्वती से मानों कविता लिखने की कला को बलात् प्राप्त किया है। उनमें पाण्डित्य का जोर अधिक है। वे वेद तथा उपनिषद् के, सांख्य तथा योग के, तन्त्र तथा मन्त्र के ग्रन्थाभ्यासी विद्वान् हैं। फलतः उनकी कविता में शास्त्रीय पाण्डित्य का प्रकर्ष अवश्यमेव मिलता है। कालिदास की कविता में हास्य का पुट है और उनके नाटकों में विदूषक का स्निग्ध हास्य दर्शकों को सदा आनन्दित तथा प्रफुल्लित किया करता है, परन्तु गम्भीर प्रकृति के होने से भवभूति में हल्के-फुल्के हास्य का प्रयोग विरल है। इससे यह न समझना चाहिए कि उनके गाम्भीर्य को हास्य कभी अभिभूत ही नहीं करता। भवभूति के नाटकों में विदूषक का अभाव इसी तथ्य की ओर खींच सकता है, परन्तु इनके सुनियन्त्रित प्रणय-प्रसंग में विदूषक जैसे ओछे पात्र की मध्यस्थता करने की आवश्यकता ही नहीं होती। हमारे कवि ने राम और सीता जैसे उदात्त चरित्र को अपने नाटकों का आधार-पीठ बनाया है जिनके जीवन को मर्यादित प्रणय की प्रभा फूटकर स्निग्ध तथा आलोकित किया करती है। ऐसी दशा में यदि विदूषक का प्रयोग जानबूझ कर नहीं किया गया, तो कोई हानि या त्रुटि नहीं।

भवभूति को हास्य से एकदम कोरा मानना भी उचित नहीं होगा। उनके जैसे भाव-प्रवण व्यक्ति के हृदय में हास्य ने कभी गुदगुदी पैदा नहीं की होगी, यह कल्पना भी दुरूह मालूम पड़ती है। लेखक की सम्मति में भवभूति का हास्य बहुत ही उच्चकोटि तथा शास्त्रीयता को स्पर्श करनेवाला था, जिसे पण्डितजन ही ठीक-ठीक बूझ सकते थे, सामान्य जन की समझ से वह निःसन्देह बाहर था। उत्तरचरित के चतुर्थ अंक के आरम्भ में 'दाण्डायन' तथा 'सौधातकि' का वार्तालाप शास्त्रीय हास्य का पूर्ण परिचायक है, जिसमें 'समांसो मधुपर्कः' के शास्त्रीय विधान की छानबीन कर बड़े-बूढ़ों पर छींटें उछाले गये हैं। करुणरस का परिपाक भवभूति की काव्यकला का वैशिष्ट्य है।

भवभूति वाल्मीकि तथा कालिदास दोनों के काव्यों के गम्भीर अनुशीलनकर्ता थे। फलतः उनकी छाया इनके पद्यों में होना स्वाभाविक है। मालती का कुशल जानने के लिए माधव मेघ को संदेशहारक बनाता है। यहाँ मेघदूत के पद्य की छाया नितान्त स्पष्ट है[1]। वाल्मीकि के रामायणीय भावों तथा कल्पनाओं का अस्तित्व ढूंढ़ने पर भवभूति के नाटकों में बहुत मिल जाता है। महाकवि राजशेखर की सम्मति में भवभूति वाल्मीकि के ही नवीन अवतार थे। इतना होने पर भी उनमें कुछ ऐसी विशेषता है जो इनकी कविता को वाल्मीकि एवं कालिदास दोनों की रचनाओं से सर्वथा पृथक् करती है।

(ख) शैली का विलास—कालिदास की कविता में व्यंजना की प्रधानता है। थोड़े से चुने हुए शब्दों में 'व्यङ्ग्य' भाव की अभिव्यक्ति की गई है, परन्तु भवभूति कुछ विस्तार के साथ भावों को प्रकट कर 'वाच्य' बना देते हैं। जहाँ कालिदास के पात्र केवल आँसू बहाकर अपने चित्तोद्वेग की सूचना देते हैं, वहीं भवभूति के पात्र फूट-फूटकर बहुत देर तक रोते हैं—आँसुओं की धारा बहाकर अपने मानसिक विकार को बिलकुल प्रत्यक्ष कर देते हैं। कालिदास ने प्रकृति के केवल ललित तथा सुकुमार पक्ष पर अपनी दृष्टि डाली है, उसी अंश को अपनी कविता में दिखलाया है। इसके विपरीत भवभूति ने प्रकृति के विकट, उग्र तथा भयानक अंश को भी अपनाया है और अपने नाटकों में उसे सफलता से दर्शाया है। कालिदास के हिमालय-वर्णन तथा भवभूति के विन्ध्य-वर्णन की तारतम्य परीक्षा करने से यह विभेद पाठकों के सामने आ सकता है। युद्धों के वर्णन में भवभूति की कुशलता कालिदास की अपेक्षा निःसंदेह अधिक है। भवभूति में शाब्दी ध्वनि करने की निपुणता के कारण श्रवण-मात्र से युद्ध का भीषण दृश्य नेत्रपटल पर अंकित हो जाता है। "झणज्झणितकङ्कणक्वणित-किङ्किणीकं धनुः" (उ० च० ६।१) के श्रवण करते ही आयोधन में धनुष की बजनेवाली किंकिणी की आवाज कानों में सुनाई पड़ने लगती है। 'गाढबन्ध' की कारीगरी में इतना कुशल शब्दकार मिलना एकान्त कठिन है। इस प्रकार की शाब्दी ध्वनि तथा युद्ध का संघर्षमय वीराश्रयी वर्णन कालिदास में ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा।

(ग) प्रणय का चित्रण—प्रेम के चित्रण में भी दोनों में भेद दीखता है। भवभूति ने जैसा उज्ज्वल दाम्पत्य प्रेम का चित्र खींचा है वैसा संस्कृत साहित्य में अत्यन्त दुर्लभ है।

---

१. मालती-माधव (अंक ९, श्लोक २५-२६) : "कच्चित् सौम्यं प्रियसहचरं विद्युदालिङ्गति त्वाम्" आदि दोनों पद्य मेघदूत के छन्द तथा भाव दोनों से साम्य रखते हैं।

अन्य कवियों ने, स्वयं कालिदास ने भी, वासना-भरे सांसारिक काम का ही अधिकतर वर्णन किया है। भवभूति ने यौवनकाल की उद्दाम कामवृत्ति का वर्णन मालतीमाधव में किया है और विश्वस्त हृदय के सच्चे शुद्ध प्रेम का चित्र उत्तररामचरित में दिया है। भवभूति के पात्र कहीं भी 'स्वच्छन्द' या 'उन्मुक्त' प्रेम के पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत समाज के द्वारा अभिनन्दित धर्मानुयायी प्रणयमार्ग के पथिक हैं।

कवि सच्चे प्रेम को दैवी वरदान मानता है। सच्चे प्रेम की परिभाषा कितनी यथार्थ तथा मार्मिक है (उत्तर० १।४९)—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख में एक सा रहता है—हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, वह अनुकूल रहता है, जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था के आने से जिसमें रस की कमी नहीं होती। समय बीतने पर बाहरी लज्जा, संकोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है। भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अंकुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़ने के लिए कोई भीतरी कारण होता है (उत्तर० ६।१२)

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

प्रीति किसी बाहरी कारण से पैदा नहीं होती, बल्कि कोई भीतरी कारण पदार्थों को आपस में मिलाता है। कहाँ तालाब में सकुचा हुआ कमल और कहाँ आकाश में उदित सूर्य! परन्तु सूर्य के उदय होते ही कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्त-मणि पिघलने लगता है। अतः वास्तव में प्रेम का उद्गम भीतरी कारणों से होता है। भवभूति ने इस सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिए सांसारिक उदाहरणों को न देकर प्रकृति के अटल नियमों का उल्लेख किया है। यह कवि के गूढ़ दार्शनिक विचारों को प्रकट कर रहा है। इन्हीं विशिष्टताओं के फलस्वरूप प्राचीन आलोचकों की सर्वमान्य सम्मति रही है—**"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"**[1]। और यह सम्मति यथार्थ है।

कालिदास से लेकर भवभूति तक का युग संस्कृतनाट्य के इतिहास में सचमुच सुवर्ण युग था। इस आठ सौ वर्षों के सुदीर्घ काल में नाटक अपने पूर्ण वैभव तथा उत्कर्ष पर पहुँच चुका। अब उसके अपकर्ष का काल आरम्भ होता है। इस युग के नाट्यकारों ने अपने रूपकों को 'अभिनेय' न बनाकर केवल 'पाठ्य' बना दिया। अभिनेयता के लिए जिस

१. इस उक्ति की पुष्टि के लिए द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ संस्कृतसुकविसमीक्षा, पृ० ३३३-३३८।

प्रकार के व्यापार का निवेश उचित है तथा जिस गत्यात्मकता की आवश्यकता होती है उधर हमारे इन नाटककारों का ध्यान ही नहीं गया। वे प्रसंगानुसार ललित विषयों के वर्णन में ही अपनी प्रतिभा को कृतकार्य मानने लगे।

अपकर्ष-काल के नाटककार

'वर्णन' ही अब उनका प्रधान विषय बन गया। फलतः इस युग के इन नाटकों का महाकाव्यों से अन्तर विशेष अधिक न रह सका। दोनों का लक्ष्य अब पण्डितों का ही हृदयावर्जन करना रह गया; सामान्य जनता का चित्ताकर्षण अब उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। प्राचीन नाटकों का प्रदर्शन किसी सामाजिक उत्सव के अवसर पर या राजा की विदग्धपरिषद् में एकत्र मण्डली के सामने हुआ करता था। अब ऐसे उत्सव कम होते गये और नाटक का प्रणयन संवाद से संवलित वर्णन के ही लिए होने लगा। जनता से वे दूर चले गये। ऐसे युग में भी नवीन शैली के नाटकों की रचना हुई जिनमें से कतिपय का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

(९) मायूराज (अनङ्गहर्ष)

उदयन के कथाचक्र से सम्बद्ध नाटकों में **'तापसवत्सराज'**[1] की ख्याति बहुत ही विपुल थी। इसकी लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि इसके पद्यों का उद्धरण तथा विषय का समीक्षण मम्मट, कुन्तक, भोजराज, राजशेखर, अभिनव गुप्त, हेमचन्द्र तथा आनन्दवर्धन के द्वारा बड़ी विशदता तथा मार्मिकता के साथ किया गया है। कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में इसके बहुत से पद्यों को ही उद्धृत नहीं किया, प्रत्युत नाटक के प्रत्येक अंकगत वस्तु की समीक्षा पुखानुपुंख रूप में की है। अभिनवगुप्त का समीक्षण भी इसी प्रकार मार्मिक है। भोजराज ने अपने दोनों ग्रन्थों में उद्धरण तथा समीक्षण का कार्य किया है। ये समस्त उल्लेख इसके नाट्यसंविधानक के गौरवाधायक हैं। इस नाटक के "उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता' (२।१६) पद्य को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में उद्धृत किया है (पृ० १३१) और यही इसका प्राचीनतम उद्धरण है। फलतः इस नाटक की रचना नवम शताब्दी से प्राचीन है, परन्तु कितना प्राचीन? इसका भी अनुमान किया जा सकता है।

प्रस्तावना से पता चलता है कि इसके प्रणेता नरेन्द्रवर्धन के पुत्र 'अनङ्गहर्ष' अपरनामक श्रीमातृराज थे। राजशेखर ने कलचुरि राजवंश में उद्भूत किसी 'माउराज' की प्रशस्त स्तुति की है।[2] हमारी दृष्टि में 'माउराज' मातृराज का ही असली नाम प्रतीत होता है। यदि यह ठीक हो, तो ये कलचुरि वंश के कोई राजा प्रतीत होते हैं। 'मालतीमाधव' की कामन्दकी के अनुकरण पर इन्होंने इस नाटक में 'सांकृत्यायनी' नामक बौद्ध भिक्षुणी की

---

१. इस महनीय नाटक की केवल एक अधूरी प्रति बर्लिन के राजपुस्तकालय में विद्यमान है और उसी के आधार पर इसका एक संस्करण यदुगिरि स्वामी के सम्पादकत्व में मैसूर से प्रकाशित हुआ है, १९२६।

२. 'मायूराज' समो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः॥

अवतारणा की है जिससे स्पष्ट है कि भवभूति तथा आनन्दवर्धन के अन्तराल काल में (अष्टम शतक के उत्तरार्द्ध में) इस नाटककार का उदय मानना युक्तिसंगत होगा।

'तापसवत्सराज' में राजा उदयन वासवदत्ता के जल जाने की बात सुनकर नितान्त खिन्न होकर तापस बन जाता है और प्रयाग में आत्महत्या करने के लिए तैयार हो जाता है। अनेक युक्तियों से उसके प्राणों की रक्षा की जाती है। वह तापस वेष में घूमता हुआ आश्रम में जाता है जहाँ वासवदत्ता से उसकी भेंटे होती है। अन्त में मगध की राजकुमारी पद्मावती के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता है। नाटक की कथावस्तु बड़ी ही वेदनामयी और रोचक है जिसे कवि ने अच्छे ढंग से सजाया है तथा घटनाओं में कार्यान्विति की पूर्ण सत्ता है। इसीलिए कुन्तक तथा अभिनवगुप्त ने इसके आख्यान का अपने ग्रन्थों में विश्लेषण किया है। काव्यदृष्टि से भी यह कम सुन्दर नहीं है।

उदयनविषयक रूपकों में वह 'तापस-वत्सराज' पाँचवाँ तथा अन्तिम ग्रन्थ प्रतीत होता है। भास तथा श्रीहर्ष के एतद्विषयक दो-दो नाटकों की चर्चा तथा समीक्षा पीछे की गई है। तदनन्तर कालक्रम से इसी का निर्देश न्याय-प्राप्त है। उदयनविषयक अन्य दो नाटकों का नाम्ना निर्देश उपलब्ध होने पर भी उनकी ग्रन्थतः प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है। ऐसे नाटकों में एक है महाकवि **सुबन्धकृत वासवदत्ता नाटचधारा;** (जिससे एक लम्बा गद्य-पद्यात्मक उद्धरण अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के २२ वें अध्याय में १०२ पृष्ठ पर किया है) तथा दूसरा है विशाखदेवरचित **"अभिसारिकावञ्चितकम्'** (जो भोजराज के द्वारा तथा अभिनवभारती के २२ अ० में पृ० १९७ पर नामतः निर्दिष्ट किया है)। इन दोनों की उपलब्धि होने से उदयन-विषयक नाटकों के अध्ययन तथा विश्लेषण का अवसर आलोचकों को मिल सकता है। इन दोनों में सें सुबन्धु का उल्लेख वामन ने अपनी 'अलंकार-सूत्रवृत्ति' में किया है, जिससे नाटचधारा की सम्भवतः अष्टम शती से प्राचीनता सिद्ध होती है। 'अभिसारिता वञ्चितक' के रचयिता और मुद्राराक्षस के प्रख्यात प्रणेता विशाखदत्त एक ही अभिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

'तापसवत्सराज' नाटक में सरल तथा सुबोध भाषा का प्रयोग किया गया है। कथानक को अलंकृत करने का प्रयत्न कवि ने अच्छे ढंग से किया है। शार्दूलविक्रीडित वृत्तों का यहाँ बहुल तथा रुचिर प्रयोग पाया जाता है। भाषा के सुबोध होने के कारण यह नाटक चित्त के ऊपर अपना प्रभाव जल्दी जमाता है। राजा अपने विरह का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में कर रहा है (१।४)—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशाऽपि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवः॥

[अपनी प्रियतमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख के देखने में मैंने दिन को बिता दिया। उसके विषय में मीठी बातचीत करते हुए प्रदोष (रात्रि का आरम्भ) को बिता डाला। रात्रि भी कामजन्य क्रीडाओं को समर्पित कर दी गई। यह तो संयोग की मधुर स्मृति है। इस वियोग में भी उत्सव समाप्त नहीं हुआ, प्रत्युत आज भी मैं उसके आने की

प्रतीक्षा में उसी ओर टकटकी बाँधे बैठा हूँ। सच्ची बात तो यह है—**प्रेमा असमाप्तोत्सवः**। प्रेम के उत्सवों की कभी समाप्ति ही नहीं होती। प्रेम में चाहे संयोग हो या वियोग, उत्सवों का ताँता बँधा ही रहता है।]

इनकी दूसरी रचना **'उदात्तराघव'** की ख्याति संस्कृत के नाटक-साहित्य में बड़ी व्यापक तथा विपुल है। कभी यह नितान्त लोकप्रिय था। राम को उदात्त रूप में चित्रित करने के लिए इन्होंने अनेक रामायणीय घटनाओं में किंचित् परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। दशरूपक की टीका (अवलोक) के अनुसार छल से वाली का वध मायूराज ने इस नाटक में छोड़ दिया है। कुन्तक ने भी मारीचवध के प्रसंग को अन्यथा कर देने का उल्लेख किया है। दशरूपकावलोक में उदात्त राघव से अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं (२।५९, ३।३२, ४।१३, ४।१८)। भोजदेव ने सरस्वती-कण्ठाभरण (पृ० ६४५) में तथा हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ टीका में इस नाटक से श्लोक उद्धृत किया है। इस प्रकार यह बहुप्रशंसित नाटक राम से सम्वन्धित नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

मायूराज कलचुरि वंश के कोई क्षत्रिय राजा प्रतीत होते हैं। कलचुरि लोगों का राज्य मध्यदेश में फैला हुआ था। राजशेखर के 'बालरामायण' में (३।३५) इस वंश की राजधानी का उल्लेख माहिष्मती (इन्दौर के पास मान्धाता) में किया गया है—

यन्मेखला भवति मेकल-शैलकन्या वीतेन्धनो वसति यत्र च चित्रभानुः।
तामेष पाति कृतवीर्ययशोऽवतंसां माहिष्मतीं कलचुरेः कुलराजधानीम्॥

चेदिदेश में नर्मदा के किनारे 'त्रिपुरी' (जबलपुर के पास 'तेवुर') द्वितीय कलचुरि राजधानी के रूप में विख्यात थी (बालरामायण ३।३८) :—

सीतास्वयंवर-निदाघ-धनुर्धरेण दग्धात् पुरत्रितयतो विभुना भवेन।
खण्डं निपत्य भुवि या नगरी बभूव तामेष चैद्यतिलकस्त्रिपुरीं प्रशास्ति॥

इनके कतिपय श्लोक सूक्ति-संग्रहों में मिलते हैं, जो रामकथा से सम्बद्ध होने से 'उदात्तराघव' के पद्य प्रतीत होते हैं।

(१०) मुरारि

मुरारिकी केवल एकमात्र रचना मिलती है—**अनर्घराघव**। ये मौद्गल्यगोत्री, श्रीवर्धमानक तथा तनुमती के पुत्र थे। उपाधि थी 'बालवाल्मीकि' की। इनकी कविता में वर्णनों के अतिरिक्त कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता जिससे हम इस उपाधि को युक्तियुक्त समझें। सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत इनके प्रशंसात्मक पद्यों से प्रतीत होता है कि ये माघ तथा भवभूति के अनन्तर आविर्भूत हुए[1]। एक आलोचक का कहना है कि वे भवभूति (शंकर और कवि) के पक्षपाती नहीं हैं; इसलिए वे मुरारि (कृष्ण तथा कवि)

१. मुरारि-पदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥

के पद (चरण और शब्द) की चिन्ता में अपने चित्त को लगा रहे हैं[1]। यह कथन मुरारि को भवभूति से पश्चाद्वर्ती नाटककार बतला रहा है। रत्नाकर ने अपने हरिविजय में श्लेषरूप से नाटककार मुरारि का उल्लेख किया है[2]। अतः मुरारि को रत्नाकर से (८२५ ई०) पूर्ववर्ती मानना ही उचित है। उस प्रकार भवभूति और रत्नाकर के बीच में—अष्टम शतक के उत्तरार्द्ध में—मुरारि की सत्ता निश्चित की जा सकती है।

इनका अनर्घराघव सात अंकों में समाप्त हुआ है। प्रस्तावना में सूत्रधार का कहना है कि रौद्र, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत रस से युक्त नाटक के अभिनय को देखते-देखते दर्शक लोग उद्विग्न हो गये हैं। अतः वे 'अभिमत रस' से युक्त नाटक का अभिनय देखना चाहते हैं। इस कथन में भवभूति के नाटकों पर व्यंग्य कसा गया है। भवभूति के होते हुए मुरारि का अपने समर्थन में यही कहना है कि उनका नाटक वीर और अद्भुत रस से युक्त, गम्भीर और उदात्त वस्तु से सम्पन्न है। अत एव समस्त काव्य-रसिकों को आनन्द देने वाला है[3]। कवि की यह उक्ति मार्मिक अवश्य है। इन्होंने अपने नाटक द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर आलोचकों की दृष्टि में यह प्रयत्न प्रयासमात्र रहा है, इन्हें सफलता नहीं मिली है। भवभूति के अनन्तर रामकथा पर नाटक लिखना कोई सरल काम नहीं था। सफलता उसी कवि की चेरी बनकर रहती है जिसमें काव्यप्रतिभा प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहती है। मुरारि में इसका नितान्त अभाव था। अतः नाटक की दृष्टि से अनर्घराघव सफल प्रयास नहीं कहा जा सकता। कविता पर्याप्त रूप से अच्छी है। सप्तम अंक में राम के लंका से अयोध्या आते समय मुरारि ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का अनुसरण किया है। कविता में प्रौढ़ता है, ओज का प्रकर्ष है, वर्णन की बहुलता है, परन्तु हम उस सुकुमारता को नहीं पाते जो हमें कालिदास की कविता में मिलती है, और न मानव हृदय के भावों की वह परख पाते हैं जिसके कारण भवभूति के नाटक सहृदयों का मनोरंजन करते हैं।

नाटकीय प्रतिभा—समग्र रामायण के कथानक को एक ही नाटक में निबद्ध करने का साहस तो मुरारि ने किया, परन्तु इतने विस्तृत आयाम वाले कथानक में संगति लाने के लिए आवश्यक प्रतिभा का अभाव मुरारि की नाट्यकला की सबसे भारी कमी है। उनके वर्णन इतने विस्तृत तथा विशद हैं कि मुरारि का कवि उसी में अपने को उलझाये रखता है। वह काव्य के वर्णन से नाटकीय वर्णन के पार्थक्य करने में सर्वथा असमर्थ है। इस नाटक में वर्णन का प्राधान्य है, व्यापार का अभाव आलोचकों को बेतरह खटकता है। भवभूति के महावीरचरित तथा उत्तररामचरित के भावों से अनर्घराघव विशेष रूपेण प्रभावित है, परन्तु भवभूति की रसस्निग्धता, हृदय की परख तथा मनोरम शब्दों में

---

१. भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः॥

२. अङ्के कुनाटक इवोत्तमनायकस्य
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्॥ (हरविजय ३८।६८)

३. तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे।
जगदानन्दकाव्याय सन्दर्भाय त्वरामहे॥ (१।१६)

उनके विन्यास की कला का सर्वथा अभाव मुरारि में उपलब्ध होता है। अनर्घराघव के द्वितीय अंक में महर्षि विश्वामित्र के सिद्धाश्रम का वर्णन उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में वर्णित वाल्मीकि के आश्रम द्वारा प्रभावित है। दोनों में सामान्यरूपेण साम्य है। परन्तु भवभूति ने जहाँ गम्भीरता का परिचय दिया है, वहाँ मुरारि ने पिटीपिटाई वस्तुओं के वर्णन में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग कर उच्छृंखलता का प्रदर्शन किया है। तथ्य तो यह है कि मुरारि की प्रतिभा महाकाव्योचित प्रतिभा है, रूपकोचित प्रतिभा नहीं है। फलतः वह वस्तुओं के वर्णन प्रस्तुत करने में दक्ष है। इस प्रकार अनर्घराघव नाट्यकला की दृष्टि से निम्नकोटि का ठहरता है, परन्तु काव्यकला के निकष पर कसने से वह उच्चकोटि का ठहरता है। कतिपय दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं।

रामचन्द्र के चरितवर्णन के अभ्यस्त तथा क्षुण्ण मार्ग के अवलम्बनकर्ता कवियों के पक्ष में मुरारि का यह कथन सर्वथा समुचित है (अनर्घराघव १।९) :—

यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः।
स्वमात्मानं तत्तद्गुणगरिमगम्भीरमधुर-
स्फुरद्वाग्ब्रह्माणः कथमुपकरिष्यन्ति कवयः॥

पूर्व कवियों के द्वारा क्षुण्ण होने के कारण यदि राम का चरित छोड़ दिया जाय, तो इतने महनीय गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही कौन मिलेगा? रामचन्द्र के उन गुणों के वर्णन में समर्थ गम्भीर तथा मधुर वाग्ब्रह्म से सम्पन्न कवि लोग अपने आप को कृतार्थ भी किस प्रकार बना सकते हैं? फलतः रामचरित का वर्णन कथमपि उपेक्षणीय नहीं है। जनस्थान का वर्णनपरक यह पद्य भी पर्याप्तरूपेण रमणीय है (अनर्घ० ५।६) :—

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधू-निर्धूतचूताङ्कुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकता—दुर्गास्तटीभूमयः।
याः कृच्छ्रादभिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवीनिःशङ्कमेणीकुलम्।

श्लोक का आशय है कि वसन्त के द्वारा मत्त होनेवाली कोकिलाओं द्वारा हिलाई गयी आम्रमंजरी का पराग इतना गाढ़ा फैला हुआ है कि जनस्थान की नदियों की तटभूमि जाने के लिए नितान्त कठिन दीखती है। इनको बड़ी कठिनता से पार कर जानेवाली व्याधों के भय से हरिणियाँ अपने को बचाने में इसलिए समर्थ होती हैं कि उनके पदचिह्न आम्रपराग की धूलि से छिप गया है।

सप्तम अंक में नवीन चन्द्रमा का यह वर्णन बड़ा ही सुन्दर तथा मनोहर है:—

पीयूषाश्रयणं जगत्-त्रयदृशामालातलेखालवो
विश्वोन्माथहुताशनस्य ककुभामुद्घाटनी कुञ्चिका।
वीरेषु प्रथमा च पुष्पधनुषो रेखा मृगाक्षीमुख-
श्रीणां च प्रतिराजबीजमधिकानन्दी नवश्चन्द्रमाः॥

'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' वाली लोकोक्ति का सम्बन्ध इस कवि मुरारि से न होकर मीमांसक मुरारि से है, जिन्होंने मीमांसादर्शन के प्रख्यात सम्प्रदायद्वय भाट्टमत तथा गुरुमत का तिरस्कार कर मीमांसा के तत्त्वविवेचन में नवीन मार्ग का उद्घाटन किया। मुरारि ने अपने **'त्रिपादनीतिनयन'** में **भवनाथभट्ट** के **'नयविवेक'** में निर्दिष्ट मतों का खण्डन किया है तथा **गंगोशोपाध्याय** के द्वारा मुरारि का मीमांसक मत निर्दिष्ट है। फलतः इनका समय १२ शती का उत्तरार्ध है। उधर कवि मुरारि रत्नाकर (९ शती) द्वारा स्मृत होने से नवम शती के मध्यभाग से पूर्ववर्ती है। दोनों की समयभिन्नता स्पष्ट है। अनर्घराघव में कहीं भी दर्शन का, विशेषतः मीमांसादर्शन का, तत्त्वविवेचन संकेतित नहीं है। फलतः मुरारि कवि मीमांसक मुरारि से अवश्यमेव भिन्न तथा प्राचीन व्यक्ति हैं और ऊपर की लोकोक्ति का सम्बन्ध उनसे मानना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है।

(११) राजशेखर

कविराज राजशेखर के जीवनवृत्त से हम विशेषतः परिचित हैं। उन्होंने अपनी जीवनी नाटकों की प्रस्तावना में विस्तार के साथ दी है। ये यायावर वंश में उत्पन्न हुए थे। यह वंश कवियों के प्रसव के लिए कल्पतरु था। इसी कुल को **अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज** आदि अनेक कवियों ने अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकाल-जलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। इन्होंने **अवन्तिसुन्दरी** नामक चौहानवंशी क्षत्रियललना से विवाह किया था। अवन्ति-सुन्दरी बड़ी विदुषी थी, संस्कृत भाषा की ही नहीं, बल्कि प्राकृत भाषा का भी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में 'पाक' के विषय में इनके विशिष्ट मत का उल्लेख किया है। 'पाक' के विषय में आचार्य वामन का कथन है कि पदों का विन्यास इतना मंजुल होना चाहिए कि वे अपने स्थान से हटाए न जा सकें। इस पर अवन्तिसुन्दरी का कथन है कि यह तो अशक्ति है—कवि की कमजोरी है कि वह एक पद को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे अनुरूप पद का प्रयोग नहीं कर सकता[1]। **हेमचन्द्र** ने **देशी-नाम-माला** में अवन्तिसुन्दरी के **'देशी-शब्द-कोष'** का उल्लेख किया है तथा उनके द्वारा कई शब्दों के जो नए अर्थ किये गये हैं उनका भी उल्लेख किया है। प्राकृत कविता की परख और उसमें रुचि होने का प्रबल प्रमाण इस घटना से भी हो सकता है कि इन्हीं के आदेश से 'कर्पूरमंजरी' का प्रथम अभिनय किया गया था। इस प्रकार राजशेखर ने अपने पूर्वजों से कविता की दिव्य प्रतिभा को पैतृक रिक्थ के रूप में प्राप्त किया था।

ये महाराष्ट्र के, सम्भवतः विदर्भ के निवासी थे, परन्तु कान्यकुब्ज के राजा के ये उपाध्याय पद पर विराजते थे। इनके आश्रयदाता का नाम महेंद्रपाल था, जो कन्नौज के प्रति-

---

१. **आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः, तस्मात् पदानां परिवृत्तवैमुख्यं 'पाकः' इति वामनीयाः। इयमशक्तिर्न पुनः पाकः—इत्यवन्तिसुन्दरी। (काव्यमीमांसा, पृष्ठ २०१; बड़ोदा संस्करण)**

हारवंशी राजाओं में विशेष गौरवशाली माना जाता है (बालरामायण १।१८)[1]। इन्हीं के आदेश से राजशेखर ने बालरामायण का अभिनय प्रस्तुत किया था। कुछ दिनों के लिए ये लाट नरेश के यहाँ चले गये थे, जिनकी अध्यक्षता में 'विद्धशालभंजिका' का अभिनय किया गया था। यहाँ से लौटकर ये फिर कान्यकुब्ज आये और महेंद्रपाल के पुत्र महीपाल के सभासद् होकर रहे। इन्हीं के आदेश से 'बालभारत' या 'प्रचण्डपाण्डव' का अभिनय किया गया। इन राजाओं के समकालीन होने से इनका समय नवम का अन्त तथा दशम शताब्दी का आरम्भ मानना उचित होगा लगभग (८८० ई० ९२० ई०)।

राजशेखर का पाण्डित्य **काव्यक्षेत्र** में बहुत बढ़ा चढ़ा था। वे अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार मानते हैं[2]। इससे स्पष्ट है कि राजशेखर ने भवभूति के नाटकों का ही अध्ययन नहीं किया था, अपितु वाल्मीकि के रामायण तथा भर्तृमेण्ठ के हयग्रीव-वध का भी गाढ़ अनुशीलन किया था। राजशेखर की प्रतिभा महाकाव्य की रचना के लिये जितनी उपयुक्त थी, नाटकनिर्माण के लिए वह उतनी अनुरूप नहीं थी। उक्त महाकाव्य रचयिताओं के प्रति समधिक आदर दिखलाने का भी यही रहस्य है। इन्होंने अपने को 'कविराज' कहा है। ये भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। भारत के प्राचीन भूगोल की अनुपम सामग्री काव्यमीमांसा में भरी पड़ी है। इन्होंने इस विषय पर 'भुवनकोष' नामक ग्रन्थ भी बनाया था, जो आजकल उपलब्ध नहीं होता। बालरामायण का दशम अङ्क भौगोलिक वर्णन से सर्वथा परिपूर्ण है।

काव्यमीमांसा के अनुसार कवि की दश अवस्थाओं में 'महाकवि' के पद से बढ़कर 'कविराज' का पद स्वीकृत किया गया है। जो केवल एक प्रकार के प्रबन्ध में प्रवीण होता है वह 'महाकवि' कहलाता है, परन्तु कविराज का दर्जा इससे एक सीढ़ी बढ़कर है। जो सब भाषाओं में, सब प्रबन्धों में और भिन्न-भिन्न रसों में स्वतन्त्र होता है, 'कविराज' कहा जाता है। संसार में ऐसे प्रसिद्ध कविराज विरले होते हैं[3]। राजशेखर वस्तुतः कविराज थे। संस्कृत, प्राकृत, पैशाची तथा अपभ्रंश भाषाओं में इनकी अबाध गति थी तथा इन भाषाओं में इनकी ललित लेखनी कमनीय कविता की सृष्टि करती थी। राजशेखर का बहुभाषाविज्ञान एक विलक्षण वस्तु है जिसे उन्होंने स्वयं इस प्रकार प्रकट किया है :—

> गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
> सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम् ।

---

१. आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारां निधि-
स्त्यागी सत्यसुधा-प्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहण-गिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः ॥

२. बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

३. योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः, यस्तु तत्र तत्र भाषा-विशेषे, तेषु तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिन् तस्मिश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये—काव्यमीमांसा, पृ० १९।

विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविवृषा ।।

ग्रन्थ

राजशेखर ने स्वयं अपने षट्प्रबन्धों का निर्देश किया है[1]। इन प्रबन्धों में पाँच उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित हुए हैं। **'हरविलास'** उपलब्ध नहीं है। **काव्य-मीमांसा** का सम्बन्ध अलंकारशास्त्र से है। (१) **बालरामायण**—इसमें दश विशालकाय अंकों में राम की कथा को भव्य नाटक का रूप दिया गया है। (२) **बालभारत** (या **प्रचण्ड-पाण्डव**) महाभारत की कथा का विराट् नाटकीय रूप है। परन्तु इसके केवल आरम्भ के दो ही अंक उपलब्ध होते हैं। (३) **विद्धशालभंजिका**—यह चार अंक की सुन्दर नाटिका है। (४) **कर्पूरमंजरी** यह भी चार जवनिकान्तरों में समाप्त नाटिका ही है, परन्तु केवल प्राकृतभाषा में निबद्ध होने के कारण यह 'सट्टक' कहा जाता है। इसमें चण्डपाल और कुन्तल देश की राजकुमारी कर्पूरमंजरी का विवाह कौलमतावलम्बी भैरवानन्द की अलौकिक शक्ति से सम्पन्न दिखलाया गया है। (५) राजशेखर का **'हरविलास'** भगवान् शङ्कर के चरित से सम्बद्ध महाकाव्य था, जो आज उपलब्ध नहीं होता, परन्तु भोजराज ने अपने 'शृङ्गारप्रकाश' में इससे दृष्टान्तमुखेन कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासनविवेक' में इससे एक उद्धरण दिया है। अन्यत्र भी इस ग्रन्थ के उद्धरण मिलते हैं जिससे पता चलता है कि यह महाकाव्य किसी समय विद्वद्गोष्ठी में पर्याप्तरूपेण प्रख्यात था।

'बालरामायण' में रामायण की कथा विस्तार के साथ निबद्ध की गई है[2]। भवभूति ने समग्र रामकथा की महत्ता तथा विशालता के पूर्ण निर्वाह के लिए उसे दो ग्रन्थों में नाटकीय रूप दिया है। राजशेखर ने पूर्व-रामचरित को ही अपने विपुल-काय 'बालरामायण' में प्रस्तुत किया है। **'बालरामायण'** की रचना में राजशेखर ने अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन खूब ही किया है। इसके प्रणयन में उन्होंने अपनी समस्त काव्यचातुरी तथा पदविन्यास-कौशल को प्रस्तुत करने के निमित्त कोई प्रयत्न छोड़ नहीं रखा। इसमें १० अंक हैं और प्रत्येक अंक काफी लम्बे तथा श्लोकों से पूर्ण हैं। प्रथम अङ्क (प्रतिज्ञा-पौलस्त्य) में रावण जनकपुर में आकर सीता से विवाह करने की प्रतिज्ञा करता है तथा जनक से उनकी कन्या के लिए प्रार्थना करता है। द्वितीय अंक (राम-रावणीय) में परशुराम तथा रावण के परस्पर कलह का वर्णन है। रावण ने अपने सेवक मायामय को परशुराम के पास उनके परशु को माँगने के लिए भेजा था। इस प्रस्ताव से ही परशुराम जी आगबबूला होकर रावण को खरी-खोटी सुनाते हैं (२।२२) और दोनों में परस्पर नोक-झोंक होती है। तृतीय अंक (विलक्ष-लंकेश्वर) में राजशेखर ने नवीन नाटकीय योजना प्रस्तुत की है। रावण सीता की अप्राप्ति से नितान्त खिन्न है और इसीलिये उसके मनो-विनोद के निमित्त **'सीता-स्वयंवरण'** गर्भनाटक का प्रदर्शन किया जा रहा है। इस नाटक में ही राम के साथ सीता का विवाह शिवधनु के तोड़ने के अनन्तर होता है। रावण

---

१. विद्धि नः षट् प्रबन्धान्—बालरामायण १।१२।

२. गोविन्ददेव शास्त्री द्वारा मूलमात्र सम्पादित, काशी से प्रकाशित, सन् १८६९।

इस दृश्य को देखकर उद्विग्न हो जाता है, परन्तु यह केवल प्रेक्षणक ही है, यह जानकर उसे संतोष होता है और क्रोध नहीं करता। चतुर्थ अंक (भार्गव-भंग) में राम और परशुराम के साथ धनुष तोड़ने के बाद महान् वादविवाद खड़ा हो जाता है। कवि की नई योजना यह है कि इन्द्र दशरथ को मातलि के साथ आकाशमार्ग से जनकपुर भेजते हैं जो स्वयं अपने नेत्रों से राम के हाथ इस पराक्रम तथा परशुराम के पराजय की घटना को देखकर अत्यन्त आह्लादित होते हैं। पंचम अंक (उन्मत्त-दशानन) में कवि को अपने काव्यकौशल दिखलाने का अच्छा अवसर हाथ लगता है। सीता के वियोग में रावण का उन्माद कवि ने बड़ी प्रौढता से दिखलाया है जहाँ रावण स्वयं मनोविनोद के लिए छहों ऋतुओं से सम्पन्न अपने लीलोद्यान में जाता है तथा प्रत्येक ऋतु का सुन्दर वर्णन करता है। षष्ठ अङ्क (निर्दोषदशरथ) में राजशेखर ने राम के वनगमन में दशरथ को सर्वथा निर्दोष सिद्ध किया है। रावण के ही आदेश से शूर्पणखा और मायामय अयोध्या जाते हैं और क्रमशः कैकेयी तथा दशरथ का रूप धारण कर लेते हैं और इन्हीं माया कैकेयी और माया दशरथ के उद्योग से राम का निर्वासन सम्पन्न किया जाता है। इस घटना के द्वारा कार्यान्विति लाने का पर्याप्त उपयोग कवि ने किया है। 'रत्नशिखण्ड' राम के वनवास सम्बन्धी समस्त घटनाओं का क्रमशः वर्णन दशरथ को सुनाता है। वे इन विषम घटनाओं को सुनकर नितान्त दुःखी होते हैं।

सप्तम अंक (असम-पराक्रम) में समुद्र और राम के बीच कथनोपकथन का वर्णन है। समुद्र के तीर पर राम बैठते हैं जहाँ रावण के दुर्व्यवहार से तंग होकर विभीषण राम की शरण में आते हैं। समुद्र का बन्धन होता है तथा राम लंका में पहुँच जाते हैं। अष्टम अंक (वीर-विलास) में लंका के युद्ध का विपुल वर्णन है। कंकालक नामक पात्र रावण से युद्ध में उतरनेवाली वीरों कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि के अतुल पराक्रम की बातें बताता है। उनके निधन से रावण का मान ध्वस्त हो जाता है। नवम अंक में रावण के वध की कथा है। अंतिम अंक (सानन्द-रघुनन्दन) में सीता के अग्निशोधन के बाद रामचन्द्र पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या लौटते हैं। रास्ते में पड़नेवाले देशों का साहित्यिक परिचय कवि ने बड़ी सुन्दर भाषा में दिया है। कालिदास के पथ का अनुसरण कर राजशेखर ने भारत के नाना प्रान्तों की भौगोलिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से इस अंक में किया है जो राजशेखर की बहुज्ञता का विस्तारक भाष्य ही है।

राजशेखर ने इस विशालकाय रामायणीय नाटक की घटनाओं में कार्यान्विति दिखलाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। राम नायक हैं तथा रावण प्रतिनायक और इस नाटक में आरम्भ से ही राम-विरोधी समस्त घटनायें रावण की ही प्रेरणा तथा कुमन्त्रणा से प्रवर्तित होती हैं। यहाँ तक कि राम के निर्वासन में न दशरथ का कोई दोष है और न कैकेयी का, प्रत्युत दोनों पात्रों के रूप में मायामय तथा शूर्पणखा आकर ही सारा अमंगल रचते हैं। कार्यान्विति लाने का यह ढंग अनूठा है। रावण के चित्त-विनोदन के निमित्त '**सीता-स्वयंबर**' के गर्भनाटक की कल्पना भी कवि की मौलिक सूझ है, जिससे आरम्भ में ही रावण का राम के साथ संघर्ष होने नहीं पाता है और कुछ सालों के लिए विपत्ति माथे से टल जाती है। इस प्रकार कार्यान्विति की योजना सुन्दरता से की गयी है, परन्तु गत्यात्मकता का इस

नाटक में नितान्त अभाव है। कवि वर्णन का इतना रसिक है कि वह हमेशा वर्णनों में—ऋतु के, मनुष्य के तथा युद्धों के ही—अपनी भारती को उलझाये हुए रखता है। इसीलिए हम राजशेखर को 'महाकवि' मानते हैं, 'नाटककार' नहीं। वह सचमुच प्रौढ़ महाकाव्य लिखने की प्रतिभा से मण्डित कवि (एपिक जीनियस) थे। उन्होंने अपने आप को भवभूति का अवतार माना है अवश्य, परन्तु भवभूति की रससिद्ध लेखनी का चमत्कार यहाँ कहाँ ? कोमल भावों के प्रदर्शन के लिए कवि ने किसी भी ललित प्रसंग की कल्पना नहीं की। वीररस की यह अद्वितीय रचना राजशेखर को महाकवियों की श्रेणी में उन्नत स्थान देने के लिए अवश्यमेव पर्याप्त समझी जायगी।

'कर्पुरमंजरी' की कथावस्तु विशेष घटना-प्रधान नहीं है। इस सट्टक का प्रारम्भ वसन्त-वर्णन से होता हैं। ''भैरवानन्द' नामक एक तान्त्रिक अलौकिक सिद्धि के बल पर विदर्भनगर की राजकुमारी 'कर्पूर-मंजरी' को उसके स्नानागार से राजा के सामने ला देता है। बातचीत से वह महारानी की सम्बन्धिनी सिद्ध होती है। अत: वह उसे अपने अन्तःप्रसाद में लाकर रखती है (प्रथम अंक)। कर्पूरमंजरी का अलौकिक सौन्दर्य राजा के चित्त में प्रेमांकुर उत्पन्न करने में समर्थ होता है। वह राजा के लिए अपने भावों के प्रकटन के लिए एक 'मदनलेख' भेजती है। 'हिन्दोलक चतुर्थी' के दिन कर्पूरमंजरी महारानी के आदेशानुसार 'हिन्दोल' पर झूला झूलती है, जिसको देखने के लिए राजा विदूषक के साथ एकान्त में जाता है और उसके झूलने का रमणीय वर्णन करता है। पौधों के खिलने के लिए दोहद दान के लिए जब कर्पूरमंजरी वाटिका में जाती है तब राजा को उसकी असामान्य सुन्दरता को नजदीक से देखने का अवसर मिलता है (द्वितीय अंक)। रानी के कानों में राजा की इस नयी कामलीला की भनक पड़ती है और वह कर्पूरमंजरी को एकान्त में कैद कर लेती है, परन्तु दासी 'विचक्षणा' की बुद्धि यहाँ काम कर जाती है। सुरंग से वह छिपे ही छिपे राजा से भेंट करने जाती है (तृतीय अंक)। रानी इस लीला को बन्द करने के लिए दासियों की एक लम्बी सेना उस कारागृह की रक्षा में रख देती है, परन्तु तान्त्रिक भैरवानन्द की नयी युक्ति के सामने वह हार मान लेती है। वह तान्त्रिक रानी की सम्मति से सार्वभौम-पद की प्राप्ति के लिए लाटदेश की घनसारमंजरी का विवाह राजा से करा देता है। 'घनसारमंजरी' वस्तुतः 'कर्पूरमंजरी' का ही कल्पित अभिधान है। इस प्रकार राजा की प्रेमलीला अपने सफल पर्यवसान पर पहुँचती है (चतुर्थ अंक)।

समीक्षण

कहा गया है कि कवि की अभिरुचि के कारण राजशेखर की प्रतिभा नाटकीय होने की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य के प्रणयन के लिए विशेष अनुकूल थी। 'बालरामायण' का विशाल विस्तृत रूप उसे अभिनेय रूपक होने से सर्वथा रोकता है। राजशेखर वर्णन करने में नितान्त निपुण हैं, परन्तु ये वर्णन नाटक की प्रकृति से विरुद्ध होने से उसमें खप नहीं सकते। बालरामायण में ७४१ पद्य हैं, जिनमें ८६ पद्य स्रग्धरा में तथा २०० पद्य (समग्र ग्रन्थ का चतुर्थांश से भी अधिक) शार्दूलविक्रीडित में निबद्ध है। अन्तिम अंक में रामचन्द्र के पुष्पक विमान पर चढ़ 'अयोध्या-प्रत्यावर्तन' का वर्णन १०५ पद्यों में किया गया है, जो स्वयं किसी पूर्ण नाटक के लिए भी पर्याप्त माना जा सकता है। लम्बे-लम्बे छन्दों में संस्कृत

तथा प्राकृत कविता अनायास निबद्ध करना कवि के बायें हाथ का खेल है। शार्दूलविक्री-डित तो राजशेखर का सिद्ध छन्द है–

शार्दूल-क्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥

राजशेखर अपनी नाट्यकला की इस त्रुटि से अपरिचित प्रतीत नहीं होते। उन्होंने अपने नाटकों में 'भणितिगुण' की प्रशंसा की है, 'नाट्य-गुण' की नहीं। 'भणितिगुण' से तात्पर्य उन गुणों से है जो उक्ति को सुन्दर, सरल तथा सुबोध बनाते हैं। अपने विरोधी आलोचकों का मुखमुद्रण करने के लिए वे पूछ बैठते हैं[1] कि मेरे 'बालरामायण' में भणिति-गुण विद्यमान है या नहीं? यदि गुण की सत्ता है, तो इनके पाठ करने में प्रेम रखो, प्रेम से पढ़ो, न कि आनन्द से देखो। यह स्वीकारोक्ति कवि की अपनी सच्ची आलोचना है। अतः राजशेखर की सम्मति में भी यह नाटक पढ़ने में ही विशेष आनन्ददायक है, अभिनय में नहीं।

राजशेखर 'शब्द-कवि' हैं। इनके पदों की रमणीय शय्या किस रसिक के मन को नहीं हर लेती? वेद के ज्ञाता के लिए 'श्रुत्यर्थवीथीगुरुः' का प्रयोग कितना शोभन तथा श्रवण-सुखद है? नोंक-झोंक वाले शब्दों का विन्यास इनके नाटकों में अद्भुत चमत्कार पैदा करता है। उनकी काव्यप्रतिभा प्रथम कोटि की है। इनका परिचय कर्पूरमंजरी के अनुशीलन से ही मिल जाता है। इन्होंने अपने वर्णनों में बहुत ही निपुणता दिखलायी है। शैली विशेषतः गौडी है; परन्तु उसमें पांचाली का स्थान-स्थान पर पुट है। भवभूति के ये पक्के शिष्य हैं। इनके काव्य में भी शब्दों से अर्थ की प्रतिध्वनि होती है। यह शब्दचमत्कार इनकी रचना में पद-पद पर मिलता है; परन्तु रस का वह परिपाक, हृदय के भावों की गहरी परख, प्रकृति और मानव का परस्पर रागात्मक सम्बन्ध, जो भवभूति की काव्यकला के भूषण हैं, वे यहाँ खोजने पर भी नहीं मिलते। इनके काव्य में लोको-क्तियों तथा मुहावरों का विशेष चमत्कार दीख पड़ता है। 'वरं तत्कालोपनता तित्तिरी न पुनः दिवसान्तरिता मयूरी' हिन्दी के 'नव नगद न तेरह उधार' का ही पुराना प्रतिनिधि है। इनके नाटकों में गतिशीलता का अभाव भले ही हो, परन्तु पात्रों की सजीवता निश्चित ही चमत्कारिणी है।

कर्पूरमंजरी में कवि ने विरहवर्णन के प्रसंग में सच्ची काव्यप्रतिभा का परिचय दिया है (२।१०)

परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो
खतक्खारो हारो रअणिपवणा देहतवणा।
मुणाली बाणाली जलइ च जलद्दा तणुलदा
वरिट्ठा जं दिट्ठा कमलवअणा सा सुणअणा॥

---

१. **ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयान् इह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिः॥ (बालरामायण १।१२)**

तात्पर्य है कि जब से वह कमलनयनी सुन्दरी दृष्टिपथ में आयी, तब से चाँदनी ताप उत्पन्न करने लगी, चन्दनरस गरल के समान प्रतीत होने लगा। हार काटे पर नमक सा लगने लगा, रात के ठंढे पवन देह को जलाने लगे। मृणाल बाणावलि सा प्रतीत हुआ और जल से आर्द्र तनुलता भी जलने लगी। शब्दों का विन्यास रुचिर तथा कर्णपेशल है।

सीता की सुषमा के वर्णन-प्रसंग पर कवि कह रहा है कि सीता के सामने चन्द्रमा मानों अंजन से लिप्त कर दिया है। मृगियों के नेत्रों में मानों जड़ता ने प्रवेश कर लिया है। मूँगे की लता की लालिमा फीकी पड़ गई। सोने की कान्ति काली हो गई है। कोकिलाओं के कलकण्ठ में कला ने रूखेपन का मानों अभ्यास कर रखा है। और तो क्या? मोरों के चित्र-विचित्र पंख निन्दा के बोझ से मानों लद गये हैं। उत्प्रेक्षा की छटा नितान्त अवलोकनीय है (बालरामायण १।४२)—

> इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
> प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमद्युतिः।
> पारुष्यं कलया च कोकिलवधू-कण्ठेष्विव प्रस्तुतं
> सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हा सगर्हा इव॥

राजशेखर के समकालीन **क्षेमीश्वर** राजा महीपाल (कन्नौज-नरेश) के सभापण्डित थे। इनके लिखे हुए दो नाटक हैं—(१) **चण्डकौशिक** तथा (२) **नैषधानन्द,** जिन में चण्डकौशिक विशेष प्रसिद्ध है। सत्यहरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र नाटक के रूप में दिखलाया गया है। इसमें पाँच अंक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी नाटक के आधार पर अपना 'सत्यहरिश्चन्द्र' नामक प्रख्यात नाटक हिन्दी में लिखा।

(१२) शक्तिभद्र

इनका सर्वप्रसिद्ध नाटक **'आश्चर्यचूडामणि'** संस्कृत के मूर्धन्य नाटककारों की श्रेणी में इन्हें स्थान देने के लिए पर्याप्त है। ये केरल देश के कवि थे तथा स्थानीय प्रसिद्धि के आधार पर ये आद्य शंकराचार्य के शिष्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि शक्तिभद्र ने अपने इस नाटक को शंकराचार्य को सुनाया था। फलतः किसी दुर्घटनावश नाटक के जल जाने पर शंकर ने स्वयं अपनी स्मृति से ग्रन्थ को लिखवाया तथा इसका उद्धार किया। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना से पता चलता है कि दक्षिण देश का यही सर्वप्रथम नाटक था तथा इससे पहिले उस देश में नाटकों की रचना होती नहीं थी। सूत्रधार का यह कथन सुनकर कि वह दक्षिण देश के एक नाटक का अभिनय प्रदर्शित कर रहा है नटी बड़े व्यंग्य के स्वर में कह उठती है कि दक्षिण देश में यदि नाटक का निर्माण हुआ है तो समझना चाहिए कि आकाश में फूल उग आये हैं और बालू से तेल निकल आया है। अर्थात् दक्षिण में नाटक की रचना एक असम्भव व्यापार है। इस आलोचना की उपयुक्तता तभी सिद्ध हो सकती है जब हम शक्तिभद्र को कुलशेखर वर्मा से पूर्ववर्ती मानें। कुलशेखर केरल के ही राजा थे, जिन्होंने केरल के रंगमंच में उचित सुधार कर उसे संस्कृत-नाटकों के अभिनय-योग्य बनाया। उन्होंने दो नाटकों की भी रचना की थी, जिनके नाम हैं—**तपतीसंवरण** तथा **सुभद्रा-धनंजय**। इनके समय के विषय में भी मतैक्य नहीं है। एक मत के अनुसार इनका

समय दशम शती का मध्यकाल (९३५ ई०–९५५ ई०) माना जाता है। आश्चर्यचूडामणि की प्रस्तावना में पूर्वोक्त कथन की उपपत्ति इसी बात से हो सकती है कि ये कुलशेखर वर्मा से पूर्ववर्ती थे। इनके शंकराचार्य के शिष्य होने की परम्परा से भी इनका दशम शतक से पूर्ववर्ती होना निश्चित होता है। फलतः इनका समय शंकराचार्य तथा कुलशेखर के बीच में नवम शती माना जा सकता है।

इनकी एकमात्र पूरी उपलब्ध रचना **'आश्चर्यचूडामणि'** ही है।[1] इनकी अन्य रचना में अनुपलब्ध या अपूर्ण **'उन्माद-वासवदत्ता'** का केवल उल्लेख ही मिलता है। **'वीणावासवदत्ता'** का प्रकाशन तो हुआ है (ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास), परन्तु यह अधूरा ही है, सम्भव है कि खोज करने से ये दोनों ग्रन्थ पूरे उपलब्ध हो जायँ। **'आश्चर्यचूडामणि'** रामकथा का नाटकीय रूप है, परन्तु इसकी सर्वमान्य विशिष्टता है **'आश्चर्य रस का प्रदर्शन'**। इस विषय में यह अनुपम नाट्यकृति है जिसमें समस्त वस्तु के निर्माण में आश्चर्य रस का प्रदर्शन ही मुख्यतया प्रेरक माना जा सकता है। इसमें ७ अंक हैं, जिनमें आश्चर्यप्रधान घटनाओं की एक रोचक परम्परा उपस्थित की गई है। नाटक की दृष्टि से यह समग्र राम-नाटकों में अग्रगण्य माना गया है। यद्यपि कवित्व की दृष्टि से यह 'उत्तर-राम-चरित' की तुलना में नहीं टिक सकता, परन्तु अभिनेयता की दृष्टि से उत्कृष्ट मानने में कोई विसंवाद नहीं है। केरल में उपलब्ध तथा भास के नाम से प्रख्यात नाटकों की नाट्यशैली यहाँ भी उपलब्ध होती है। फलतः कतिपय आलोचक शक्तिभद्र को इस नाटकचक्र के रचयिता मानने के पक्ष में हैं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सामान्यतः सादृश्य की कमी नहीं है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से भाषा तथा भाव की तुलना करने पर दोनों का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है[2]। ऐसी दशा में शक्तिभद्र को इन नाटकों का रचयिता मानना नितान्त अनुचित है। शक्तिभद्र को केरल देश का आद्य नाटककार होने का गौरव प्राप्त है तथा अद्भुत रस-प्रधान नाटकों का एकमात्र प्रतिनिधि होने से उनका यह नाटक संस्कृत के नाट्य-साहित्य में एक प्रकार से अप्रतिम है।

आश्चर्य-चूडामणि की प्रस्तावना के ही आधार पर शक्तिभद्र कुलशेखर से पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं। कुलशेखर केरल के राजा थे। उन्होंने 'तपती-संवरण' तथा 'सुभद्रा-धनंजय' नामक दो नाटक तथा **'आश्चर्यमंजरी'** नामक एक कथा की रचना की थी। इन्हीं के समय में **'क्रमदीपिका'** तथा **'अट्टप्रकार'** नामक दो पुस्तकों की रचना हुई थी। 'अट्टप्रकार' में शक्तिभद्र तथा तत्प्रणीत 'आश्चर्य-चूडामणि' का उल्लेख है। अतः शक्तिभद्र कुलशेखर से पूर्ववर्ती तथा केरल निवासी सिद्ध होते हैं। नाटक के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्तिभद्र भास, कालिदास और भवभूति के परवर्ती कवि हैं, क्योंकि इनकी रचना में पूर्वोक्त नाटककारों की रचनाशैली की छाया पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अतः भवभूति से परवर्ती और कुलशेखर से पूर्ववर्ती शक्तिभद्र का समय नवम शती मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

---

१. म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा संपादित, श्री बालमनोरमा सीरीज (नं० ९) में प्रकाशित, मद्रास, १९२६।

२. द्रष्टव्य कुप्पुस्वामी–अभिनन्दन ग्रन्थ, मद्रास, पृष्ठ ३–८।

आश्चर्यचूडामणि की कथावस्तु

समस्त नाटक सात अङ्कों में विभक्त है। इसमें राम के वनवासकाल से लेकर रावण-विजय तक की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। प्रथम अङ्क में लक्ष्मण सपत्नीक राम के लिये पर्णकुटी बनाते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। उसी समय सुन्दरी रमणी का रूपधारण किये शूर्पणखा लक्ष्मण के सामने उपस्थित हो जाती है और लज्जा का अभिनय करती हुई प्रणय-निवेदन करती है। लक्ष्मण उसे पत्नीरूप में स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट करते हैं और किसी तरह उससे पुनः मिलने का बहाना बनाकर छुटकारा पाते हैं। पर्णकुटी तैयार कर लक्ष्मण राम से पर्णकुटी में चलने का आग्रह करते हैं। राम पर्णकुटी में पहुँचकर सीता से लक्ष्मण के कर्म-कौशल की प्रशंसा करते हैं। सीता कुटी में राजमहल के सुख का अनुभव करती है।

द्वितीय अङ्क में लक्ष्मण द्वारा तिरस्कृत शूपर्णखा सुन्दर सुकुमार वेष में राम के समीप आती है और लक्ष्मण की अस्वीकृति की सूचना देकर राम के ही पास रहने का आग्रह करती है। राम किसी तरह समझा-बुझा कर उसे लक्ष्मण के पास पुनः भेजते हैं। थोड़ी ही देर में शूपर्णखा विकराल वेष में लक्ष्मण को पकड़कर आकाश में उड़ती हुई नजर आती है। राम लक्ष्मण की सहायता के लिये शस्त्र उठाते हैं, किन्तु उसी क्षण शूर्पणखा धराशायी होकर राम से प्राणरक्षा की भीख माँगती है। लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक-कान को काट लिया है। राम लक्ष्मण के इस कार्य की प्रशंसा करते हैं। और शूर्पणखा अपमानित होकर रावण को अपने अपमान की सूचना देने चली जाती है।

तृतीय अंक सीताहरण की प्रमुख घटना है। शूर्पणखा के अपमान का बदला लेने के लिये मारीच की सहायता से रावण राम के आश्रम पर आता है और सीता-हरण की योजना बनाता है। राम सीता के साथ विराजमान हैं। ऋषियों ने लक्ष्मण द्वारा दो आभूषण—अंगूठी और चूडामणि—राम और सीता के लिये भेजे हैं। दोनों आभूषणों के धारण करने का फल विलक्षण है। इन आभूषणों के स्पर्श होने से कपट वेष का उद्घाटन होता है। राम ऋषियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इतने में स्वर्णमृग दिखाई देता है। सीता के आग्रह पर राम स्वर्णमृग का पीछा करते हैं। लक्ष्मण सीता के संरक्षक हैं। इतने में मारीच की मायावी आवाज आती है और सीता लक्ष्मण को बाध्य करके राम के पास भेज देती हैं। मौका पाकर रावण राम का वेष धारण कर तथा अपने सारथि को लक्ष्मण का वेष धारण कराकर सीता के समक्ष जाता है और भरत पर भावी विपत्ति का बहाना बना कर अयोध्या चलने का आग्रह करता है। सीता विश्वास करके रथ पर आरूढ़ हो जाती हैं। उधर शूर्पणखा सीता का वेष धारण कर राम को धोखा देती है। इस प्रकार सीता का हरण होता है। बाद में मणियों के स्पर्श से रावण और शूर्पणखा की वंचना का भेद खुलता है।

चतुर्थ अङ्क में जटायु और रावण के युद्ध का वर्णन है। जटायु सीता को बचाने में रावण के शस्त्र से घायल होता है। जटायु को आहत कर रावण मायाबल से सीता को हर कर लंका ले जाता है। पंचम अंक में अशोकवाटिका में विद्यमान सीता को मनाने के लिये

रावण उनके पास जाता है और सीता को पटरानी बनाने का प्रलोभन देता है। सीता रावण के प्रणय-निवेदन को ठुकरा देती हैं और उसको कटुवचन कहती हैं। क्रुद्ध रावण सीता की हत्या करने पर उतारू हो जाता है, किंतु मन्दोदरी के बीच-बचाव करने से लज्जित होकर लौट जाता है। षष्ठ अङ्क में हनुमान् सीता को राम का संदेश सुनाते हैं। सीता के वियोग में राम की दशा का वर्णन करते हुये हनुमान् सीता से कुछ दिन धैर्य धारण करने का आग्रह करते हैं और शीघ्र ही राम द्वारा राक्षसकुल के विनाशपूर्वक सीता के उद्धार-विषयक उनके निश्चय को सुनाकर राम के पास लौट आते हैं।

सप्तम अङ्क में रामविजय की घोषणा की जाती है। युद्धवेष का त्याग कर राम विभीषण को लंका का राजा बनाते हैं। विभीषण की सहमति से राम सुग्रीव को अशोक-वाटिका से सीता को लाने का आदेश देते हैं। सुग्रीव सीता को लाने जाते हैं। राम सीता की प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु उन्हें सीता की चारित्रिक शुद्धता के विषय में जनमत की आलोचना का भय है। लक्ष्मण सीता की अग्नि परीक्षा का परामर्श देते हैं। इसी समय सीता आती है, किन्तु सीता को देखते ही राम अपना मुँह फेर लेते हैं। सीता के अलंकृत वेष-विन्यास को देखकर राम को सीता के चरित पर सन्देह होता है। सभी लोग विस्मित हो जाते हैं। तब सीता अनुसूया के वरदान को भी अभिशाप समझ कर अग्निशुद्धि की स्वयं प्रार्थना करती हैं। राम के आदेश से सीता अग्निपरीक्षा देती हैं और लक्ष्मण उस आश्चर्यकारी घटना का वर्णन करते हैं। देवर्षि नारद उसी समय आकर सीताशुद्धि को साक्षी बनकर राम को सीता को ग्रहण करने का देवताओं का संदेश सुनाते हैं और सीता के अलंकृत होने का रहस्य अनुसूया का वरदान बताते हैं। राम को वास्तविकता का ज्ञान होता है और वे देवर्षि तथा सीता से क्षमा-याचना करते हुये प्रसन्न मन से अयोध्या के लिये प्रस्थान करते हैं। संक्षेप में प्रस्तुत नाटक में रामकथा का यही रूप है।

कथावस्तु की योजना

प्रस्तुत नाटक का आधार वाल्मीकीय रामायण है। आदिकाव्य के अरण्यकाण्ड से लेकर युद्ध-काण्ड की प्रमुख घटनाओं को यहाँ नाटकीय रूप दिया गया है। अतः नाटक की कथावस्तु का उपजीव्य वाल्मीकीय रामायण है। इस नाटक की चार प्रमुख घटनायें हैं---शूर्पणखा का विरूपण, जानकीहरण, हनुमान् का संदेश तथा सीता की अग्नि-परीक्षा। अन्य घटनायें इन्हीं चारों के सहायक तत्त्व के रूप में गृहीत हैं। नाटक की कथा रामचरित के द्वितीय चरण---वनवासकाल--से प्रारंभ होती है, अतः उससे असम्बन्धित घटनायें समाविष्ट नहीं है। कथानक की गतिशीलता बनी रहे; अतः अना-वश्यक वर्णनात्मक प्रसंगों के विस्तार में न जाकर सीताहरण के बाद रामविलाप, सीतान्वेषण, सुग्रीव--मैत्री, युद्ध तथा रावणवध की सूचना सूच्यकथा के रूप में दी गयी है। घटनाओं के क्रमिक तारतम्य की अनुरूपता के लिये संक्षेप पद्धति का सहारा लिया गया है। नाटक की संक्षिप्तता इसकी अभिनेयता में सहायक सिद्ध हुई है।

पात्र-योजना की दृष्टि से इसमें वाल्मीकीय रामायण के सीमित, किन्तु प्रमुख पात्रों का सावधानी से उपयोग किया गया है। इसमें नायक तथा प्रतिनायकपक्ष के प्रायः सभी प्रमुख पात्र आ जाते हैं। नाटक का प्रारंभ राम के वनवासकाल में पंचवटी में शूर्पणखा-

वृत्तान्त से तथा अन्त रावण-विजय के बाद सीता-प्राप्ति से होता है। अतः उक्त कथानक से असम्बन्धित पात्रों का सन्निवेश नहीं किया गया है। पात्रों का चयन स्वाभाविक ढंग से हुआ है। सभी पात्र इसी लोक से सम्बन्धित सहृदय प्राणी हैं। चरित-नायक राम विकलता, निराशा और दुःखमय जीवन बितानेवाले मानव के प्रतीक न होकर धर्म संस्थापक, मर्यादावादी, वीरपुरुष के प्रतीक हैं। प्रतिनायक रावण अधार्मिकता का प्रतीक है। सीता विशुद्धता की प्रतिमूर्ति हैं एवं शूपर्णखा छलना की मूर्तरूप। मूल-कथा में परिवर्तन भी ध्यान देने योग्य है। मलकथा में रावण साधुवेष में सीता का हरण करता है, किन्तु इस नाटक में सीताहरण की घटना में स्वाभाविकता लाने के लिये राम के रूप में रावण द्वारा सीता का हरण कराया गया है। नाटकीय चमत्कार की दृष्टि से सीताहरण की घटना कुतूहलपूर्ण है। यहाँ पर रावण और शूपर्णखा दोनों ने ही राम और सीता के वेष में राम और सीता दोनों को एक साथ ही धोखा दिया है। यहाँ पर शक्तिभद्र की नाटयकला में विशेष चमत्कार आ गया है। इसके अतिरिक्त अनसूया-वरदान की योजना नाटककार की मौलिक कल्पना है। इसका उद्देश्य सीता की अग्नि-परीक्षा की घटना में स्वाभाविकता लानी है। नाटक के अन्त में सीता-परीक्षा के बाद देवर्षि नारद के आगमन की घटना भी कविकल्पित है और इसका उद्देश्य है---नायक-नायिका का निर्विघ्न समागम। इन कतिपय परिवर्तनों तथा कल्पनाओं के आधार पर प्रस्तुत नाटक का उद्देश्य राम के द्वारा रावण-विजय के अनन्तर सीता की प्राप्ति है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नाटककार ने शूपर्णखा-वृत्तान्त का विन्यास विस्तृत रूप से करके राम-रावण के वैर-भाव को बढ़ाने का सफल प्रयास किया है।

पात्रों का विन्यास भी घटनाचक्र तथा प्रधान फल के अनुकूल ही किया गया है। कुछ पात्र तथा घटनाओं का उपयोग प्रधान पात्रों के चारित्रिक वैशिष्टय को उभारने के उद्देश्य से किया गया है। शूर्पणखा का प्रणय-निवेदन तथा कैकेयी-वृत्तान्त का विन्यास राम-चरित्र की उत्कर्षता के उद्देश्य से किया गया है। जहाँ पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम, पतिपरायणा सीता, आदर्श भ्रातृभक्त लक्ष्मण, आदर्श मित्र जटायु और सेवक हनुमान् का उन्नत चरित है, वहीं पर लोकपीडक रावण, छलना की मूर्ति शूपर्णखा का निन्दित चरित्र भी अंकित है। उभयविध चरित्र का चित्रण लोक-शिक्षा के उद्देश्य से किया गया दृष्टि-गोचर होता है।

रसपरिपाक---आश्चर्यचूडामणि' एक नाटक है। साहित्य-शास्त्र में---नाटक का प्रधान-रस वीर अथवा शृंगार माना गया है। रस-निर्णय का प्रधान आधार होता है नाटक का मुख्य फल। नायक द्वारा अन्तिम फल के रूप में जिस रस का आस्वादन होता है, वही रस उस नाटक का प्रधान रस माना जाता है। इसलिये नाटक के मुख्य उद्देश्य तथा नायक के समस्त क्रियाकलापों की दृष्टि से मुख्य रस का विचार करना चाहिये।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु की प्रकृति, अवस्था और सन्धियों के विवेचन से वीररस की सामग्री की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। आश्चर्य रस उस अंगी वीररस का पोषक रस माना जाना चाहिये। प्रस्तुत नाटक का मुख्य फल रावणवध के बाद सीता-प्राप्ति है। राम नायक हैं तथा रावण प्रतिनायक। सीता नायिका हैं तथा शूपर्णखा प्रतिनायिका।

वीररस का आलम्बन विभाव है रावण तथा आश्रय हैं, राम। राम के हृदय में राक्षस-कुल के विनाश का उत्साह स्थायी भाव है। इस प्रकार इस नाटक के कथानक, घटनाचक्र तथा फलप्राप्ति के आधार पर वीररस ही प्रधान रस माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त जटायु और रावण-युद्ध-प्रसंग वीररस का उदाहरण है। आश्चर्यचूडामणि के प्रभाव से रावण के कपटवेष के उद्घाटन में अंगभूत अद्भुत रस है। अतः प्रस्तुत नाटक का अंगी-रस वीर तथा अंगरस अद्भुत है।

शैली––शक्तिभद्र की लेखनशैली कालिदास की सुकुमारपद्धति का अनुसरण करती है। वैदर्भी रीति में प्रवाह पूर्ण काव्य रचना इस नाटक की विशेषता है। शब्दाडम्बर तथा विकट-बन्धता का अभाव है। अत्यन्त समस्त पदों के प्रयोग से नाटककार वचता रहा है। आश्रम-वर्णन तथा पात्रों का भावचित्रण स्वाभाविक है। छन्दों की विविधता तो देखने ही योग्य है। इस नाटक में वर्णन की प्रधानता है। मूलकथा की छाया में आरंभ से अन्त तक विस्मयोत्पादक घटना-चक्र दर्शकों के मन को सदा उत्सुक वनाये रहता है। भावाभिव्यक्ति की तीव्रता में कहीं-कहीं व्यंजनात्मक शैली का भी आश्रय लिया गया है।

नाटक में नीति-विषयक भावनाओं का यथास्थान समावेश किया गया है। अलंकारों के प्रयोग में भी कवि ने कहीं भी कृत्रिमता को प्रश्रय नहीं दिया है। गद्य तथा पद्य दोनों में प्रधान रूप से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह और अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया है। अभिनेयता की दृष्टि से यह नाटक विशेष महत्त्व रखता है। आकार की दृष्टि से लघु है। वन्य दृश्यों की अधिकता है। पात्रों की न्यूनता है, अतः इसका अभिनय सरल एवं सुन्दर हो सकता है। अतः आश्चर्यचूडामणि शक्तिभद्र की सफल नाटयकृति है।

(१३) जयदेव

इनके सप्तांकी नाटक 'प्रसन्नराघव' में रामकथा का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें भवभूति के नाटकों के समान हृदय के भावों का चित्रण नहीं है और न राजशेखर के बालरामायण की तरह वर्णन का विस्तार ही है, परन्तु इतनी मंजुल पदावली है कि पढ़ते ही पूरा चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। प्रसाद-मयी कविता के कारण इसका 'प्रसन्नराघव' नाम यथार्थ है।

प्रसन्नराघव की प्रस्तावना से केवल इतना ही पता चलता है कि जयदेव का गोत्र कौण्डिन्य था और वे सुमित्रा तथा महादेव के पुत्र थे। वे कवि तथा तार्किक दोनों एक साथ थे और इस बात पर उनका विशेष आग्रह है कि कोमलकाव्य के निर्माण में लीला-वती भारती कर्कशतर्क से युक्त वक्रवचन के उद्गार में भी पूर्णतया समर्थ हो सकती है और इसीलिए कविता और तार्किकत्व का एक स्थान में निवास विस्मयकारी नहीं मानना चाहिए। अनुमान से कवि के देश तथा काल का परिचय लगता है। जयदेव मिथिला के निवासी थे तथा न्यायशास्त्र में आलोकनाम्नी टीका लिखनेवाले जयदेव से ये भिन्न नहीं हैं, परन्तु गीतगोविन्दकार जयदेव से ये भिन्न तथा कालक्रम से अर्वाचीन हैं। गीत-गोविन्द के कर्ता जयदेव भोजदेव तथा राधा (रामा) देवी के पुत्र, लक्ष्मण सेन (१२ वीं शती) के सभा-कवि थे तथा उड़ीसा के केन्दुबिल्व के निवासी थे।

विश्वनाथ कविराज (१४ वीं शती) ने प्रसन्नराघव का एक पद्य 'कदली कदली' ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है, जिससे इनका समय उनसे पूर्ववर्ती त्रयोदश शतक में मानना उचित होगा।

'प्रसन्नराघव' में सात अंक हैं। कवि को बालकाण्ड की कथा से इतना अधिक प्रेम है कि उन्होंने प्रथम चार अंकों में उसी का विस्तार किया है। प्रथम अंक में मंजीरक और नुपूरक नामक बन्दीजनों के द्वारा सीतास्वयंवर की सूचना मिलती है, जिसमें रावण और बाणासुर अपने-अपने भुजबल की प्रचुर प्रशंसा करते हैं और आपस में संघर्ष कर बैठते हैं। द्वितीय अंक में हम जनक की वाटिका में उपस्थित जानकी को पाते हैं, जहाँ राम और लक्ष्मण फूल तोड़ने के लिए आते हैं और सीता को देखने का उन्हें प्रथम अवसर प्राप्त होता है। तृतीय अंक में विश्वामित्र राम-लक्ष्मण के साथ स्वयंवर-मण्डप में पधारते हैं और जनक के साथ इनका परिचय कराते हैं, जो राम के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो उठते हैं तथा धनुष चढ़ाने की प्रतीज्ञा से वे चिन्तित हो जाते हैं। इसी बीच विश्वामित्र के आदेश से राम धनुष को चढ़ाने के स्थान पर तोड़ देते हैं। विवाह आनन्द के साथ सम्पन्न होता है। चतुर्थ अंक में परशुराम का प्रसंग उपस्थित किया गया है जिसमें राम के साथ उनका वाक्-कलह होता है। प्रथमतः ताण्डचायन ने रावण को ही धनुष का तोड़नेवाला कहा था, परन्तु पीछे सच्ची बात का पता चलता है। परशुराम जी के पूछने पर राम ने सरल उत्तर दिया कि यह पुराना धनुष छूते ही स्वयं टूट गया। लक्ष्मण के साथ भी नोक-झोंक की बातें होती हैं। पंचम अंक में गंगा, यमुना और सरयू के संवाद रूप में राम का वनवास तथा दशरथ की मृत्यु आदि घटनायें अंकित हैं। हंस नामक पात्र सीताहरण तक की कथा सुनाता है। षष्ठ अंक में वियोगी राम का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। हनुमान लंका जाते हैं जहाँ जानकी अशोक से जल मरने के लिए अंगार की याचना करती है। उसी समय हनुमान जी रामनाम से अंकित अँगूठी गिराते हैं। सप्तम अंक में मन्त्री माल्यवान् का परिचारक 'करालक' आरम्भ में विभीषण आदि की बातें कहता है। विद्याधर तथा विद्याधरी युद्ध का वर्णन करते हैं। रावण मारा जाता है। चन्द्रमा के उदय होने पर सुग्रीव तथा विभीषण बड़ी सुन्दर कल्पनायें सुनाते हैं। अंत में पुष्पक विमान पर चढ़कर राम अयोध्या लौट आते हैं।

'प्रसन्नराघव' की कथा के वर्णन से स्पष्ट है कि इस नाटक में नाटकीय तत्त्व की अपेक्षा कवित्व की ही सत्ता विशेष है। कवि में कोमल कविकला की पूर्ण अभिव्यक्ति करने की क्षमता है और वह एसे ललित अवसरों की खोज में रहता है। द्वितीय अंक का वाटिका—वृत्तान्त कवि की निजी कल्पना है और बहुत ही सुन्दर कल्पना है। षष्ठ अंक में राम का विरही रूप बड़ा ही करुणाजनक है, जब वह जंगल की प्रत्येक वस्तु से सीता का समाचार पूछते तथा विलखते हुए घूमते हैं। प्रभात तथा चन्द्रोदय का वर्णन भी प्रतिभा-संपन्न है। इस प्रकार कविता की दृष्टि से यह बहुत ही सुन्दर, प्रसाद गुण से युक्त तथा लालित्य से मण्डित है, परन्तु नाटकीय दृष्टि से इसका मूल्यांकन विशेष नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध घटनाओं का यहाँ केवल नाटकीय रूप ही दिया गया है; उसमें व्यापार की प्रसृति तथा प्रगति खोजने पर भी नहीं मिलती।

इनकी सरस कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः ।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ॥

ऐसे कवि तो अनेक हैं जो अपनी कविता के द्वारा आनन्द प्राप्त करते हैं। ठीक ही है "निज कवित्त केहि लाग न नीका । सरस होय अथवा अति फीका ।" परन्तु ऐसे कवि तो उँगली पर ही गिनने लायक हैं जो दूसरों की कविता सुनकर आनन्द की प्राप्ति करते हैं। अपने घने मकरन्द के चूने से जिसका आलवाल भर गया है ऐसा आम का वृक्ष घड़े के द्वारा जल का सेचन नहीं चाहता क्या ? अर्थात् अवश्यमेव चाहता है। इसी प्रकार दूसरों के काव्यों से आनन्द उठाना सज्जनों का ही काम है।

सरस्वती का उपयोग रघुपति के गुणों के कीर्तन में ही चरितार्थ होता है, अन्यथा दुरुपयोगकर्ता शाप का भाजन बनता है—

झटिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामहविष्टपान्
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत ।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम् ॥

भगवती सीता अशोकवाटिका में सन्तप्त होकर अपनी चिता रचाने के लिए अशोक-वृक्ष से आग की एक चिनगारी की प्रार्थना करती है—

अलमकरुणं चेतः श्रीमन्नशोक वनस्पते
दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु ।
ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
नवकिसलयश्रेणीव्याजात् कृशानुशिखावलीम् ॥

हे निर्दयी अशोक ! मेरे लिए आग की एक चिनगारी तो प्रकट करो। तुम्हारे लिए यह कठिन कार्य नहीं है। विरहियों के संताप के लिए नूतन पल्लवों के रूप में तुम अग्नि की शिखावली धारण करते हो, तब एक चिनगारी का देना क्या कोई दुःसाध्य कार्य है ?

वियुक्त राम की यह दीन दशा देखिये—वे कहते हैं कि किसे अपने हृदय के प्रेम की बात सुनाऊँ ? प्रेम का तत्त्व तो जानता है केवल मेरा मन। और वह रहता है सदा तुम्हारे पास ही, तब प्रेम की बात कैसे कही जाय ?

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम् ।
जानात्येकं शशधरमुखि ! प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतत् चिरमनुगतं तत् प्रिये किं करोमि ॥

'प्रसन्नराघव' का विशेष प्रभाव तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के ऊपर लक्षित होता है। जयदेव की कमनीय सूक्तियों का आशय लेकर तुलसीदास ने इतनी रोचक कविता की है कि वह मूल का अक्षरशः अनुवाद प्रतीत होती है। रामचरितमानस के बालकाण्ड में वाटिका भ्रमण की अपूर्व रसमयी कल्पना के लिए तुलसीदास जयदेव के इस नाटक के ऋणी हैं। इससे प्रतीत होता है कि मध्ययुग में इस नाटक का प्रचलन विशेष रूप से विद्यमान था (द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ काव्यानुशीलन पृष्ठ ६१-७६)।

(१४) लघु-नाटक और नाटककार

(१) **कुलशेखर वर्मा** (८९५ ई०–९५५ ई०)—तपतीसंवरण और सुभद्राधनंजय के रचयिता ट्रावनकोर रियासत के महोदय नामक राज्य के राजा थे। केरल में इनके नाटकों और काव्यग्रन्थों का बड़ा सम्मान है। ये वैष्णव मत के विशेष प्रचारक माने जाते हैं। **तपतीसंवरण**—इसमें ६ अंक हैं, जिनमें कुरु के पिता 'संवरण' तथा माता 'तपती' का चरित्र वर्णित है। यह कथा महाभारत आदिपर्व में आयी है। **सुभद्राधनंजय**—यह पाँच अंकों का नाटक है। इसमें महाभारत की प्रसिद्ध सुभद्राहरण की कथा वर्णित है। इसमें वीररस प्रधान है।

(२) **रामचन्द्र**—आचार्य हेमचन्द्र के यह शिष्य थे। इनका जीवन अपने गुरु के साथ ही विशेष रूप से व्यतीत हुआ। ये भी जयसिंह सिद्धराज तथा उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल की सभा के विद्वानों में अन्यतम थे। प्रभाचन्द्र सूरि के 'प्रभावकचरित' (रचनाकाल सं० १३३४=१२७७ ईस्वी) से विदित होता है कि सिद्धराज जयसिंह के द्वारा पूछे जाने पर हेमचन्द्र ने रामचन्द्र को ही अपना पट्टशिष्य और उत्तराधिकारी नियत किया था। ये प्रतिभाशाली कवि, नाट्य-रचयिता तथा नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ विद्वान् थे। सिद्धराज की स्तुति में इन्होंने बड़ी चमत्कारिणी सूक्ति कही थी—

मात्रयाऽप्यधिकं किञ्चिन्न सहन्ते जिगीषवः।
इतीव त्वं धरानाथ धाराधिपमपाकृथाः॥

सिद्धराज ने मालवा के राजा (धाराधिप) को अपने भुजबल से परास्त तथा ध्वस्त किया था। उसीका संकेत इस पद्य में किया गया है कि विजयेच्छु राजा अपने से मात्रया अधिक होनेवाले राजा को सहन नहीं करते। इसलिए हे धरानाथ! तुमने धारानाथ को परास्त कर डाला है। यहाँ 'धरानाथ' तथा 'धारानाथ' शब्दों में केवल मात्रा का ही अन्तर है; प्रथम शब्द के आदि अक्षर में अकार की मात्रा है, तो द्वितीय शब्द के आरम्भिक अक्षर में आकार की मात्रा है। इतना ही नहीं दोनों में अन्तर है। इनका अन्तिम समय बड़ी विपत्ति में बीता। ये एकदम अन्धे हो गये थे और इसलिए इनकी वृद्धावस्था में लिखे गये स्तोत्रों में दृष्टि-दान की प्रार्थना संगत प्रतीत होती है। एक विशिष्ट कारण से कुमारपाल का उत्तराधिकारी राजा अजयपाल इनसे नितान्त द्वेष करता था और प्रभुत्व पाने पर उसने गर्म लोहे की चादर पर बिठाकर इन्हें मरवा डाला। इस प्रकार इस महान् कवि तथा विद्वान् का अन्त बड़ी बुरी तरह हुआ। अहिंसा-प्रेमी सन्त का अन्त हिंसा के द्वारा !!! सिद्धराज जयसिंह (१०९३ ई०–११४३ ई०) तथा कुमारपाल

(११४३ ई०–११७३ ई०) के समकालीन होने से रामचन्द्र का निश्चित समय १२वीं शती का मध्यभाग है (११३० ई० से लेकर ११८० ई० तक लगभग)।

ये शतप्रबन्ध के कर्तारूप से जैन-ग्रन्थों में बहुशः प्रशंसित हैं। ये समग्र ग्रन्थ आज तो मिलते नहीं, परन्तु छोटे-छोटे स्तोत्रों को मिलाकर इनके लगभग तीस ग्रन्थ आज भी उपलब्ध होते हैं। ये नाटयशास्त्र तथा रूपक दोनों के, अर्थात् लक्षण तथा लक्ष्य ग्रन्थों के रचयिता हैं। नाटयशास्त्रीय रचना है **नाटयदर्पण**, जो कारिकाबद्ध है तथा उस पर एक विस्तृत विवृति भी इन्हीं की रचना है जो **गुणचन्द्र** की सहायता से लिखे जाने के कारण दोनों ग्रन्थकारों की संयुक्त रचना है। रूपकों में इनकी रचनायें नाटक, प्रकरण, नाटिका तथा व्यायोग के अन्तर्गत आती हैं––नाटकों का विषय नल, राम तथा कृष्ण का जीवन-चरित है––(१) **नलविलास** तथा (२) **सत्य हरिश्चन्द्र** तो प्रकाशित हैं, परन्तु (३) **यादवाभ्युदय,** (४) **राघवाभ्युदय** और (५) **रघुविलास** नाटयदर्पण में उद्‌धृत ही नाटक हैं। तीन **प्रकरण** प्रसिद्ध हैं––(६) **कौमुदी-मित्रानन्द** (प्रकाशित) तथा (७) **रोहिणी-मृगांकप्रकरण** (अप्रकाशित तथा नाटयदर्पण में उद्‌धृत) और (८) **मल्लिकामकरन्द** (नाटयदर्पण में उद्‌धृत, अप्रकाशित)। एक ही नाटिका संकेतित है––(९) **वनमालानाटिका,** जिसके नाटयदर्पण में उद्धरण से प्रतीत होता है कि यह नल-दमयन्ती के चरित के ऊपर विरचित है। रामचन्द्र का (१०) **निर्भय-भीम** (व्यायोग) पर्याप्तरूपेण प्रसिद्ध है तथा प्रकाशित भी है। इस प्रकार कम से कम दशरूपकों के रचयिता होने से रामचन्द्र की विमल प्रतिभा, व्यापक रचना-कौशल तथा रोचक नाटयचातुरी से हम भलीभाँति परिचय पाते हैं।

(३) जयसिंह सूरि––(१२२५ ई०)––**'हम्मीर-मद-मर्दन'** ही इनका एकमात्र नाटक है जिसमें गुजरात के हम्मीर पर यवनों के आक्रमण तथा राजा की दुर्दशा, वीरधवल और उनके प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपाल की कीर्ति का वर्णन है।

(४) रविवर्मा—(१३ वीं शती का उत्तरार्ध)—**'प्रद्युम्नाभ्युदय'** में इन्होंने प्रद्युम्न की कथा लिखी है। यह नाटक पाँच अंकों का है। रविवर्मा केरल के अंतर्गत 'कोलम्बरपुर' का राजा था। वह परम वैष्णव, अच्छा गायक, कवि तथा आलंकारिक था।

(५) वामनभट्ट बाण (१४२० ई० के लगभग)––ये दक्षिण के विश्रुत पण्डित थे। इन्होंने **'पार्वती-परिणय'** में शिव-पार्वती के विवाह की कथा लिखी है। इसमें पाँच अंक हैं। नाम की समता से यह नाटक महाकवि बाणभट्ट का ही मान लिया जाता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं। **'शृंगार-भूषण'** भाण इनका लोकप्रिय भाण है। कवि-सार्वभौम, साहित्य-चूडामणि आदि उपाधियों से इनकी विद्वत्ता का परिचय मिलता है।

(६) महादेव—(१६ श०)—ये रामचन्द्र दीक्षित के समकालीन दाक्षिणात्य कवि हैं। समय १६ वीं शती का उत्तरार्ध है। इनका **'अद्‌भुत-दर्पण'** रामकथा के विषय में है। इसमें अंगद के दौत्य कार्य से आरम्भ कर रामचन्द्र के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। राम से सम्बन्धित नाटक होने पर भी इसमें विदूषक भी विद्यमान है।

(७) **धीरनाग**—इनका **कुन्दमाला** नाटक हाल ही में प्रकाशित हुआ है। कथा रामायण से सम्बद्ध है। उत्तररामचरित का विशेष अनुकरण कवि ने किया है। अतः इनका समय अष्टम शतक के अनन्तर होना चाहिए। साहित्यदर्पण में उद्‌धृत किये जाने के कारण यह नाटक १४ वीं शताब्दी से पुराना है। सम्भवतः ११ या १२ वीं शताब्दी में इसकी रचना हुई। इस नाटक के कर्ता का नाम 'धीरनाग' है। कुछ लोग प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग को ही इसका लेखक मानते हैं, परन्तु यह कदापि मान्य नहीं हो सकता। बौद्ध कवि अपने धार्मिक विषय को छोड़कर रामचरित पर नाटक लिखेगा, यह सहसा विश्वास नहीं होता। भवभूति के पर्याप्त अनुकरण के कारण यह नाटक अष्टम शतक से कथमपि प्राचीन नहीं हो सकता।

(८) **कौमुदी-महोत्सव**—इस नाटक के रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। सुनते हैं कि प्रसिद्ध स्त्रीकवि **विज्जका** की यह रचना है। इसमें पाँच अंक हैं। यह नाटक पाटलिपुत्र के राजा देवकल्याण वर्मा के नये राज्य की प्राप्ति के उपलक्ष्य में अभिनीत हुआ था। यह नाटक ऐतिहासिक महत्त्व का माना जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसका कथानक गुप्त-साम्राज्य के उदय से सम्बन्ध रखता है। नाटक साधारणतया अच्छा है। यह दक्षिण भारत सीरीज मद्रास से प्रकाशित हुआ है।

(९) **रुक्मिणीपरिणय** (नाटक)—इसके रचयिता केरल के राजवंशोद्भव रामवर्म वंचि युवराज थे। ये पद्मनाभ दास कुलशेखर रामवर्मा के भांजे थे। ये रविवर्मा साहित्य तथा कलाओं के महान् पोषक तथा संरक्षक थे। ये राजा थे और फलतः इनका दरबार गुणीजनों तथा कविजनों से सदा अलंकृत और विभूषित था। युवराज रामवर्म का समय १८ वीं शदी का उत्तरार्द्ध था। १७५७ ई०–१७८९ ई० तक जीवित थे। ये संगीत तथा साहित्य के परिनिष्ठित विद्वान् थे। इनकी रचनायें संस्कृत तथा मलयालम दोनों भाषाओं में उपलब्ध होती हैं। इनकी पाँच संस्कृत रचनाओं में से तीन तो चम्पूकाव्य हैं—(क) **वंचिमहाराजस्तवचम्पू** (जिसकी रचना अपने मामा की मृत्यु के अनन्तर उनकी स्तुति में की गयी है)। (ख) **सन्तानगोपाल चम्पू** तथा (ग) **कार्तवीर्य-विजय चम्पू** के अनन्तर (घ) **श्रृंगारसुधाकर** (भाण) तथा (ङ) **रुक्मिणीपरिणय** (नाटक) की गणना है।

रुक्मिणीपरिणय का विषय तो भागवत से लिया गया है। और इसी का पाँच अंकों में यहाँ विन्यास किया गया है। केरल के वैष्णव भक्त कवियों में यह विषय बड़ा ही लोक-प्रिय था और इसीलिए इस विषय को आधार मानकर अनेक काव्य तथा नाटक का प्रणयन संस्कृत में उपलब्ध होता है। वर्णनों पर कवि का विशेष आग्रह है—लम्बे-लम्बे समास तथा दीर्घवृत्त इसका वैशिष्ट्य है। सौन्दर्य के वर्णन में कवि ने अलंकार का सुन्दर निवेश किया है। रुक्मिणी के वर्णन में अलंकारों का यह विन्यास समधिक चमत्कारजनक है (१।९)—

यानें हंसमयीव सारसमयीवात्यायते लोचने
वर्णे स्वर्णमयीव कर्णमधुरे वीणामयीव स्वरे।
मध्ये शून्यमयीव मुग्धहसिते जातीमयीव श्रुता।
कण्ठे कम्बुमयीव सा प्रियतमा चित्ते वरीवर्ति मे॥

कमलों में लोभ से छिपे हुये भ्रमरों का समूह रुक्मिणी के केवल पैरों का आभूषण है। मरकत मणि के नूपुर भी इस मृदुभाषिणी के सम्मुख व्यर्थ हैं। इस अर्थ का द्योतक यह पद्य कितना सुभग-सुन्दर है।

कमलविलोभनिलीनं भ्रमरकुलं केवलं पदाभरणम्।
अस्याः कलभाषिण्या निष्फल एवेन्द्रनीलमञ्जीरः॥

'रुक्मिणीपरिणय' में अभिनेयता मात्रा से न्यून है। वर्णन ही मात्रा से अधिक है और वहीं पर कवि का लक्ष्य है।

(१५) महानाटक अथवा हनुमन्नाटक

महानाटक या **हनुमन्नाटक**-संस्कृत के नाटक-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखता है। यह दीर्घविस्तारी नाटक है, जो प्रायेण पद्यों में ही विरचित है। इसका गद्य भाग अत्यन्त स्वल्प है। इसमें बहुत से ज्ञात-अज्ञात रामचरित्र पर आधारित नाटकों से विषय लिया गया है। संवाद वस्तुतः बहुत कम हैं और वे नाटकीय होने की अपेक्षा काव्यगत वैशिष्ट्यों से मण्डित हैं और व्याख्यानमात्र है। नाटक में विदूषक का सर्वथा अभाव है, प्राकृत भाषा का प्रयोग नहीं है और सूत्रधार का भी अभाव है। विष्कम्भक का भी अभाव है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नाट्यसिद्धान्त की दृष्टि से यह नाटक की कोटि में नहीं आ सकता। पात्रों की संख्या अत्यन्त विस्तृत है। यह दृश्य की अपेक्षा वर्ण्य काव्य है और पद्यों का संग्रह कहा जा सकता है। मैक्समूलर की तो यह धारणा थी कि यह नाटक नाटक की अपेक्षा काव्य था और इससे हम प्राचीनकाल में भारतीय नाटकों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था का अनुमान कर सकते हैं। पिशेल और ल्यूडर्स ने इस नाटक को 'छाया-नाटक' की आरम्भिक अवस्था का द्योतक माना है। इसी के समर्थन में स्टेन कोनो, विन्तरनित्स तथा कुछ अन्य विद्वान् भी दिखाई पड़ते हैं, पर कीथ इस मत से सहमत नहीं। वे कहते हैं कि वह प्रदर्शन की दृष्टि से निर्मित नहीं हुआ था।

महानाटक के दो रूप हैं—पश्चिम भारतीय पाठ, जो **दामोदर मिश्र** द्वारा संकलित है जिसे **हनुमन्नाटक** कहते हैं तथा पूर्वी भारत या बंगाली पाठ, जिसे **मधुसूदन मिश्र** ने **'महानाटक'** के सन्दर्भों में संग्रथित किया है। हनुमन्नाटक में १४ अंक तथा ५४८ पद्य हैं एवं महानाटक में ९ अंकों में ७२० पद्य हैं। दोनों प्रतियाँ हनुमान जी को मूल नाटककार मानती हैं। प्रो० एस० के० डे० का कहना है कि यह ग्रन्थ बिना किसी निर्माता के नाम का माना जा सकता है; क्योंकि दोनों नाम हनुमन्नाटक और महानाटक केवल वर्णनात्मक हैं। हनुमन्नाटक हनुमान के नाम पर है, जो किसी लेखक की जिसका नाम नष्ट हो गया है ऐसी कृति को देना सरल था; क्योंकि हनुमान राम के सेवक के रूप में प्रथित थे। महानाटक शब्द रूपक के लिए एक भेद का द्योतक है, जैसे कि प्रकरण शब्द। यहाँ यह भी कह देना उचित है कि महानाटक शब्द भरत और धनिक की कृतियों में नहीं मिलता, अपि तु परवर्ती साहित्यदर्पण में मिलता है। हनुमान द्वारा कर्तृत्व का ज्ञान दामोदर मिश्र की प्रति के अन्तिम पद्य से होता है (अध्याय १४, श्लोक ९६) :—

रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धौ
निहितममृतबुद्धया प्राग् महानाटकं यत्।
सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत् क्रमेण
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण ॥

भोजप्रबन्ध में भी ऐसा निर्दिष्ट है कि भोज को कुछ मछुओं द्वारा एक **टंकित** पत्थर मिला जिसे उन्होंने हनुमान की कृति पहचानकर प्रतिलिपि कर ली। **मधुसूदन** मिश्र की प्रति के अनुसार हनुमान जी ने इसे वाल्मीकि के कहने पर बनाया (१।१४)। प्रत्येक अंक के अन्त में **'प्रत्युद्धृते विक्रमैः'** पाठ है, जिसका अर्थ टीकाकार **चन्द्रशेखर ने** 'विक्रमादित्य द्वारा उद्धृत' किया है। चन्द्रशेखर के अनुसार विक्रमादित्य को स्वप्न हुआ और उन्होंने समुद्र से खोज कराकर प्राप्त किया तथा अपने सभापण्डित मधुसूदन मिश्र से संग्रथित कराया। इस प्रकार की परम्परा प्रायः एक ही मूल लेखक को पकड़ती है। इसी मूल कृति को मधुसूदन मिश्र और दामोदर मिश्र ने संग्रथित किया।

डा० दे का कथन है कि इस विषय में तो कोई विशेष विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती कि इसका मूल रूप शिलालेख से प्राप्त किया गया था, क्योंकि वर्तमान काल में भी कई नाटक शिलालेखों पर मिले हैं। प्रश्न हो सकता है कि कौन पहले का संग्रह है? दामोदर मिश्र का या मधुसूदन मिश्र का? डा० दे दामोदर मिश्र की प्रति को प्रारम्भिक मानते हैं। मधुसूदन मिश्र की कृति में निर्दिष्ट विक्रम को वे बंगाल का शासक **लक्ष्मण सेन** मानते हैं। महानाटक में अपेक्षया अधिक पद्य ग्रहण किये गये दिखायी पड़ते हैं, जो सूक्ति-संग्रहों और अलंकारग्रन्थों में मिलते हैं। डा० दे ने अनुमान किया है कि यह नाटक बहुत परिवर्ती काल का है जब संस्कृत नाटक ह्रास की अवस्था में था और यह नाटक-कोटि का न होकर अर्धनाटक-कोटि का है, जिसका उद्देश्य यात्राओं में लोकानुरंजन था। इसका उन्होंने बंगाली 'यात्राओं' से समर्थन किया है।

महानाटक के कथानक के विमर्श से यह स्पष्ट है कि वह पूर्णतः नाटकीय प्रकृति से भिन्नता रखता है। निष्कर्ष यह है कि हनुमन्नाटक के १४ अंकों में श्लोक संख्या केवल ५७८ है; उधर महानाटक के ९ अंकों में श्लोकों की संख्या ७८८ पहिले से डेढ़ गुना अधिक है। महानाटक में श्लोकों की भूयसी संख्या उसे महानाटकत्व प्रदान करती है।

कथानक

मधुसूदन मिश्र का **महानाटक** नव अंकों में विभक्त है और उसमें कुल ७८८ श्लोक हैं। जैसा कि कहा गया है, गद्य भाग इतना स्वल्प है कि उसे गद्याभाव ही कहा जा सकता है। प्रथम अंक में राम का विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम में जाना, ताडकादि का वध, मिथिलागमन, धनुर्भङ्ग तथा श्रीरामादि के विवाह का वर्णन है। द्वितीय अंक में परशुराम का क्रुद्ध होकर रास्ते में आना, उनका क्रोध तथा मानमर्दन एवं रामादि का अयोध्यागमन वर्णित है। सीताराम की प्रणयलीला का चित्रण भी इसमें है, जो अश्लीलता की कोटि तक पहुँचा है। तृतीय अंक में अयोध्या में उत्पात दिखाई पड़ते हैं तथा राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव एवं कैकेयी द्वारा वनवास की याचना तथा वनवास दिया जाना वर्णित है। राम का वनगमन तथा दशरथ का प्राणत्याग,

भरत का आगमन, उनका राम को मनाने के लिए वनगमन, राम द्वारा उपदेश एवं लौटकर नन्दिग्राम में कुटी बनाकर उनका निवास भी तृतीय अंक में वर्णित है। इसी अंक में शूर्पणखा का नासाभङ्ग और खरदूषणादि का वध भी वर्णित है। मारीच रावण द्वारा प्रेरित होकर आता है और स्वर्णमय मृग का वेश बनाकर सीता को छलता है। राम और लक्ष्मण द्वारा उसका पीछा, सीताहरण, मृगवध एवं जटायु का रावण द्वारा वध भी तृतीय अंक में प्रदर्शित है। चतुर्थ अंक में राम-लक्ष्मण द्वारा सीता का अन्वेषण प्रारंभ होता है। राम का विलाप विस्तार से वर्णित है। सीतान्वेषण के प्रसंग में ही सुग्रीव से मित्रता होती है। वाली क्रुद्ध होकर राम से लड़ने आता है और राम द्वारा उसका वध होता है। पंचम अंक में वर्षा-ऋतु समझकर राम बाहर पर्वत पर रहते हैं। वर्षा-वर्णन के अनन्तर सुग्रीव को बुलाने के लिए लक्ष्मण का जाना, उनका क्रोध, सुग्रीव का आना, वानरों को खोज के लिए भेजा जाना, हनुमान् जी का लंकागमन, नगरी का दाह, वन का विध्वंस तथा सीता की खबर लेकर लौटना—इसी अंक में वर्णित है। षष्ठ अंक में हनुमान् जी लौटकर सीता के विषय में सूचना देते हैं। विजयदशमी के दिन राम वानरी सेना के साथ प्रस्थान करते हैं। समुद्र के किनारे जाकर वे रुक जाते हैं। इधर विभीषण रावण को समझाता है, पर रावण उस पर ध्यान नहीं देता। रावण से तिरस्कृत विभीषण राम की शरण में जाता है और राम उसका राज्याभिषेक करते हैं। सागर के द्वारा मार्ग न देने पर राम क्रुद्ध होते हैं और बाण का सन्धान करते हैं। समुद्र भयाकुल हो जाता है और नल के द्वारा सेतु बाँधने की सलाह देता है। सेतु बँधकर तैयार होता है और राम ससैन्य समुद्र पारकर सुवेल पर्वत पर सेना का शिविर डालते हैं। सेतुबन्ध का वृत्तान्त सुनकर लंकापुरी में कोलाहल व्याप्त हो जाता है। सुक-सारण नामक दो राक्षस वानर-वेष बनाकर सेना की गणना करने जाते हैं, पर पकड़े जाते हैं। राम उन्हें छोड़ देते हैं। वे रावण से राम की सेना की सूचना देते हैं। रावण राम के पास दूत भेजता है और उनसे लौट जाने को कहता है। साँतवे अंक में श्री रामचन्द्र अंगद को दूत बना कर लंका भेजते हैं। अंगद की सलाह को रावण नहीं मानता। वे लौटकर चले आते हैं। अष्टम अंक में युद्ध का उपक्रम होता है। रावण माया का आश्रय कर सीता को वश में करना चाहता है। वह पहले तो राम और लक्ष्मण के मायारचित कटे शिर को लेकर सीता के पास जाता है, पर आकाशवाणी सीता को बता देती है कि यह रावण की माया है। वह राम का वेश बनाकर सीता के पास जाता है, पर इस बार भी आकाशवाणी उसके मनोरथ को विफल कर देती है। नवम अंक में कुम्भकर्ण का युद्ध और वध, मेघनाद का युद्ध और वध, लक्ष्मण को शक्ति, रावण का वध, सीता की अग्नि-परीक्षा, राम का अयोध्यागमन और राज्य तथा पुनः प्रजावर्ग के साथ स्वर्ग-गमन वर्णित है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महानाटक का कथानक बहुत व्यापक है। नाटक में कार्य, स्थान और काल की अन्विति का प्रश्न ही नहीं उठता। कथोपकथन भी व्याख्यान-मात्र है। इस नाटक के बहुत से पद्य संग्रह किये दिखाई पड़ते हैं। ये संग्रह प्रायः राम के जीवन से संबद्ध नाटकों से किये गये हैं। भवभूति के कई पद्य विना किसी परिवर्तन के ज्यों के त्यों रखे गये दिखाई पड़ते हैं। बहुत से पद्य बड़े सुन्दर हैं। गोस्वामी

तुलसीदास जी द्वारा अपने हाथों से पंचनामे पर लिखा निम्न श्लोक महानाटक में मिलता है (२।३४) :—

द्विःशरं नाऽभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाऽभिभाषते।।

द्वितीय अंक में शृङ्गारिक वर्णन अमर्यादित हो गया है और अश्लील की श्रेणी में जा पहुँचा है। इस नाटक में सूक्तियाँ स्थान-स्थान पर पिरोयी गई हैं। उनमें से दो-चार उपन्यस्त की जाती हैं (५।४१; ६।२७, ६।५६, ६।७३) :—

अयि खलु विषयः पुराकृतानां
प्रभवति जन्तुषु कर्मणां विपाकः।।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।।
यस्य न स्वजने प्रीतिः कुतस्तस्य परे जने।।
प्रायः प्रपन्नकरुणावशगा महान्तः।।

नाटिका

दशरूपक के अनुसार नाटक और प्रकरण के मिश्रण को 'नाटिका' कहते हैं, जिसका नायक नाटक से लिया गया है और कथावस्तु प्रकरण से। अतः नाटिका के नायक इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति ही होते हैं।, परन्तु इनका वृत्त कवि की कल्पना से प्रसूत होता है। नाटिका के प्रणयन का प्रारम्भ महाराज हर्षवर्धन (सप्तम शती) से होता है। उन्होंने रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नामक नाटिकाओं का प्रणयन किया। इन दोनों का सम्बन्ध उदयन-कथाचक्र से है। और दोनों में इतिहास प्रसिद्ध वत्सराज उदयन ही नायक है, परन्तु दोनों की कथावस्तु विभिन्न है और कवि द्वारा उद्भूत की गई है। रत्नावली की रचना के ऊपर कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है। रत्नावली की समस्त कथावस्तु इसी नाटक के अनुकरण पर निबद्ध की गई है। मेरी दृष्टि में मालविकाग्निमित्र नाटक होते हुए भी 'नाटिका' का आदर्श रूप प्रस्तुत करता है।

बिल्हण की **'कर्णसुन्दरी'** नाटिका १०८० ई० और १०९० ई० के आसपास की रचना है। बिल्हण अपने महाकाव्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इस नाटिका में चार अंक हैं। इसमें 'अणहिलवार' के राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (ई० १०६४-१०९४) का वृद्धावस्था में कर्णाटक के राजा जयकेशी की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न होने का वर्णन है। कथानक का प्रदर्शन 'विद्धशालभंजिका' से मिलता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व मननीय है। बिल्हण ने अपने जन्मस्थान कश्मीर को १०२६–६५ ई० के बीच में कभी छोड़ा तथा 'विक्रमाङ्कदेवचरित' महाकाव्य का प्रणयन १०८५ ई० के आसपास किया। कश्मीर से चल कर वह मथुरा, कन्नौज, प्रयाग तथा काशी होते हुए चेदिनरेश कर्ण के दरबार में ठहरे। अनन्तर गुजरात के मुख्य नगर अणहिल्लपुर पाटन में चालुक्यनरेश कर्ण त्रिभुवन मल्ल (१०६४–१०९४ ई०) के दरबार में १०७० ई० के आसपास आये और इन्हीं की प्रशस्ति में उन्होंने **कर्णसुन्दरी** नाटिका का प्रणयन किया। इस नाटिका के नायक स्वयं भीमदेव के पुत्र कर्ण ही हैं, जो विशेष प्रख्यात चालुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज

के पूज्य पिता थे। यह नाटिका रत्नावली के द्वारा प्रभावित है। इसमें कर्ण का विवाह किसी विद्याधर राजपुत्री से सम्पन्न किया गया है। विद्वानों की मान्यता है कि यह राजपुत्री दक्षिण कादम्बवंश की राजपुत्री 'मयणल्ला' से भिन्न नहीं है, जिसका वर्णन हेमचन्द्र ने अपने 'द्वयाश्रय' महाकाव्य के नवम सर्ग में लगभग चौरासी श्लोंको में किया है। सांस्कृतिक संश्लेष की दृष्टि से यह ध्यान देने की बात है कि इस नाटिका का प्रथम अभिनय किसी जैन-मन्दिर में राजा के जैन महामात्य संपतकर (लोकप्रिय नाम सांतू मेहता) के द्वारा प्रवर्तित ऋषभदेव (प्रथम तीर्थङ्कर) के यात्रामहोत्सव के अवसर पर सम्पन्न हुआ था। यह इस बात का उज्ज्वल प्रमाण है कि मध्ययुग में शुद्ध साहित्य के संवर्धन में किसी प्रकार का धार्मिक पक्षपात न था तथा मध्ययुग में भारतवर्ष के प्रान्तों में विभिन्न प्रान्तीय विद्वानों का आवागमन परस्पर ज्ञान की वृद्धि के लिए होता था। कश्मीर तो इसके लिए नितान्त प्रख्यात विद्या-केन्द्र था, जहाँ भारत के विभिन्न प्रान्तों मे विद्वान् अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिए जाया करते थे। कर्णसुन्दरी एक पूरी नाटिका है—चार अंकों में विभक्त तथा रत्नावली की शैली पर निर्मित। इसकी रचना विक्रमाङ्क-देवचरित के प्रणयन से पूर्ववर्ती है।

धारा के परमारनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु **मदनपाल सरस्वती** ने **'विजयश्री'** या **'पारिजातमंजरी'** नामक नाटिका लिखी है। इस नाटिका में भी चार अंक हैं जिसके केवल दो अंक धारा में शिला पर उट्टंकित होने से सुरक्षित हैं। इस नाटिका का समय १३ वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। अर्जुनवर्मा ही इसके नायक हैं। कवि ने दिखलाया है कि जब अर्जुनवर्मा ने चालुक्य नरेश भीमदेव द्वितीय को परास्त किया, तब उनकी छाती पर एक माला गिरी और गिरते ही वह एक सुन्दरी के रूप में परिणत हो गयी। यह सुन्दरी चालुक्य नरेश की कन्या थी और इसी से राजा का विवाह हुआ। नाटिका का यही कथानक है। इसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी साधार प्रतीत होते हैं।

मथुरादास ने राधाकृष्ण के प्रेम को **'वृषभानुजा नाटिका'** में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। इस नाटिका के रचयिता गंगा के तीरस्थ सुवर्णशेखर नामक स्थान के कायस्थ थे। राधा कृष्ण के हाथ में किसी सुन्दरी का चित्र देखकर उनसे मान कर बैठती है। पीछे देखने पर यह राधा का ही चित्र निकलता है। यही वृत्तान्त इस नाटिका में दिखलाया गया है। बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' कवि की प्रसिद्ध उदात्त शैली में लिखी गयी है जिसका निदर्शन हमें 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में मिलता है। 'वृषभानुजा' नाटिका की भाषा कर्णसुन्दरी से अपेक्षाकृत सरल है। मथुरादास की पदावली अत्यन्त कोमल है, जो राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए नितान्त उचित है[1]।

मथुरादास की कविता में साहित्यिक चमत्कार पदे पदे उपलब्ध होता है। वे कोमल कान्त पदावली के प्रयोक्ता मधुर कवि हैं, परन्तु स्थानों के वर्णन में लच्छेदार समास गठित वाक्यविन्यास के प्रेमी हैं जिस पर बाणभट्ट की शैली की स्पष्ट छाया है। राधाकृष्ण

---

१. कर्णसुन्दरी काव्यमाला (नं० ७) में तथा वृषभानुजा भी वहीं (नं० २६) में प्रकाशित हुई है।

के अलौकिक प्रेम का प्रदर्शन ही उनकी नाटिका का प्रधान लक्ष्य है और इस कार्य में वे सर्वथा सफल हैं। राधा को कवि पुष्पों का संचय बतलाता है—

तवाननं सुन्दरि फुल्लपङ्कजं स्फुटं जपापुष्पनिभस्तवाधरः।
विनिद्रपद्मं तव लोचनद्वयं तवाङ्गमन्यत् किल पुष्पसंचयम्॥

भगवान् श्रीकृष्ण के आगमन के अवसर पर वृन्दावन उनका सद्यः स्वागत करता है—

इदं मधुरगीतिभिर्मधुकराङ्गनानां सखे
कलापिकुलनर्तितैः प्रियकदम्बकोलाहलैः।
लतानववधूलसत्—किसलयानुरागोद्गमै-
र्ममाऽऽगमनमङ्गलं परितनोति मन्ये वनम्॥

श्रीकृष्ण के विरह में राधा की विरहदशा का भी वर्णन कवि ने विस्तार से किया है। कवि को प्रेम का वर्णन ही अभीष्ट है। नाटिका का आश्रयण तो इस मुख्य वस्तु के चित्रण के लिए व्याजमात्रेण लिया गया है। विश्वनाथ कविराज की **'चन्द्रकला'** रत्नावली को आदर्श मानकर लिखित एक मनोरम नाटिका है जिसकी भाषा तथा वर्ण्य विषय दोनों ही रोचक हैं। अभिनेयता गुण में भी यह अप्रतिम है।

सट्टक का इतिहास

'सट्टक' नाटिका के समान ही होता है, परन्तु प्राकृत-भाषा में समग्रतया निबद्ध तथा उसमें विष्कम्भक, प्रवेशक तथा अंक से विरहित रहता है। 'अंक' में स्थान पर 'जवनिकान्तर' का प्रयोग किया जाता है। सट्टक का लक्षण भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार कोहल ने इसका लक्षण दिया है। सट्टकों में सर्वप्रथम रचना है राजशेखर की **(१) कर्पूरमंजरी**—इस ग्रन्थ ने सट्टक का इतना सुन्दर तथा निखरा हुआ रूप प्रस्तुत किया कि पिछले सट्टकों के रूप, कथानक तथा वर्णन-प्रकार के ऊपर इस ग्रन्थ का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। अन्य सट्टकों का सामान्य परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(२) रम्भामंजरी[1]—हम्मीर महाकाव्य के रचयिता जैन कवि **नयचन्द्र** ने इसकी रचना की है। नयचन्द्र ने अपने महाकाव्य में नैषधीयचरित के प्रणेता श्रीहर्ष तथा पद्म-नन्द महाकाव्य के लेखक अमरचन्द्र (१३ शतक का मध्य काल) का निर्देश किया है। हम्मीर ने अलाउद्दीन खिलजी के विरोध में घनघोर युद्ध किया तथा १३०१ ई० में युद्ध-स्थल में मरा। नयचन्द्र का समय १५ शती का आरम्भकाल है। 'रम्भामंजरी' में काशी के राजा जयचन्द्र (सम्भवतः गहड़वाड़ नरेश राजा जयचन्द्र) के रम्भा नामक सुन्दरी से विवाह करने का विचित्र प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल तीन ही 'जवनि-कान्तर' हैं, जो निर्वाचित नियम से विरुद्ध हैं। कहीं-कहीं संस्कृत के भी श्लोक आते हैं। साहित्यिक दृष्टि से यह 'कर्पूरमंजरी' की अपेक्षा न्यून कोटि का है।

(३) विलासवती—इसके लेखक का मार्कण्डेय कवीन्द्र ने 'प्राकृत-सर्वस्व' में निर्देशमात्र किया है। १७ शती में उत्तरार्द्ध के उत्कलनरेश मुकुन्ददेव के वे समकालीन थे। अतः इसे १७ शती से प्राचीनतर होना चाहिए। यह सट्टक अभी तक उपलब्ध नहीं है।

---

१. निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित, १८८९ ई०।

(४) **चन्द्रलेखा**——इसके लेखक **रुद्रदास** केरल देश की पारशव जाति में (जो वहाँ 'वारियर' के नाम से आज भी विख्यात है) उत्पन्न हुए थे। कालिकट के राजा (जमोरिन) मानवेद द्वितीय (राज्यकाल १६५९–१६६२ ई०) के ये सभापण्डित या समकालीन थे। अतएव इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६६० ई० माना गया है। 'चन्द्रलेखा' एक बहुत ही सुन्दर तथा सरस सट्टक है जिसमें ग्रन्थकार के आश्रयदाता मानवेद के अङ्गदेश की राजकुमारी 'चन्द्रलेखा' के साथ परिणय-प्रसंग का वर्णन बड़ी ही रोचक शैली में किया गया है। चिन्तामणि देवता के प्रसाद से वह सुन्दरी चम्पा के उद्यान में क्रीडा करने के समय केरल में माया के द्वारा लाई गई। मुख्य रस शृङ्गार है, पर अद्भुत आदि रसों का भी समावेश किया गया है। रुद्रदास की कविता ऊँचे दर्जे की है। ऋतु का वर्णन भी बड़ा ही शोभन तथा सुन्दर है। कर्पूरमंजरी की यत्र-तत्र छाया होने पर भी सट्टक में अपना व्यक्तित्व है और यह कवि के पाडित्य तथा कवित्व के मनोरस सामञ्जस्य का परिणत फल है[1]।

(५) **शृङ्गार-मंजरी**——इसके रचयिता संस्कृत आलोचनाशास्त्र के मर्मज्ञ **विश्वेश्वर पण्डित** हैं, जिनका जन्म अलमोड़ा जिले में १८वीं शती के प्रथम चतुर्थांश में हुआ था। विश्वेश्वर पाण्डेय अपने युग के महान् साहित्य-स्रष्टा थे। इन्होंने 'नवमालिका' नामक नाटिका तथा 'शृङ्गारमंजरी' सट्टक का प्रणयन किया। यह सट्टक काव्यदृष्टि से बहुत ही सुन्दर है और विश्वेश्वर ने अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन तथ्यों की उद्भावना की है। राजशेखर के वे ऋणी अवश्य हैं, परन्तु प्राकृत भाषा की प्रवाहमयी सरस कविता लिखने में उनका प्रभुत्व अक्षुण्ण प्रतीत होता है जो निश्चयेन चमत्कारी है। (काव्यमाला गुच्छक सं० ८ में प्रकाशित)।

(६) **आनन्द-सुन्दरी**——इसके रचयिता **घनश्याम** अपने को 'महाराष्ट्र-चूडामणि' बतलाते हैं। 'कंठीरव' उनकी उपाधि थी। महादेव तथा काशी के वे पुत्र थे और चौण्डाजी बालाजी के पौत्र। सुन्दरी और कमला उनकी दो स्त्रियाँ थीं। चन्द्रशेखर और गोवर्धन दो पुत्र थे। १७०० ई० में उनका जन्म हुआ और १७५० ई० तक जीवित रहे। उनतीस साल की उम्र में वे तंजोर के राजा तुक्कोजि प्रथम (१७२९–१७३५ ई०) के मन्त्री नियुक्त हुए। घनश्याम एक बड़े भारी लेखक तथा कवि थे, जिनकी ६४ पुस्तकें संस्कृत में, २० प्राकृत में तथा २५ देशी भाषा में थीं। अपने युग के वे साहित्यगगन के एक प्रकाशमान विभूति थे। उन्होंने राजशेखर से काव्यकला के विषय में लोहा लिया है।

'आनन्द-सुन्दरी' चार जवनिकान्तर में निबद्ध एक प्रेम कथानक है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं है। घनश्याम संस्कृत के महनीय कवि थे। फलतः उनकी प्राकृतभाषा उतनी स्वाभाविक तथा रोचक नहीं है, जितनी विश्वेश्वर पण्डित की। इस सट्टक में उन्होंने दो 'गर्भनाटक' की अवतारणा की है जो मूलकथानक से सर्वथा सम्बद्ध है। यही इस सट्टक की नाटकीय विशिष्टता है। राजशेखर ने कहीं-कहीं अपने सट्टक में देशी शब्दों का व्यवहार किया है। घनश्याम ने इसे बढ़ाकर बहुत से मराठी शब्दों तथा क्रियाओं

---

१. भारतीय विद्या ग्रन्थावली (ग्रन्थांक ६) में डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के सम्पादकत्व में उपयोगी भूमिका के साथ प्रकाशित, बम्बई १९४५।

का भी प्रयोग किया है, जो आज भी प्रचलित है। इसमें हास्य का पुट बड़े आकर्षक ढंग से दिया गया है। घनश्याम को अपनी विद्वत्ता तथा पाण्डित्य का विशेष गर्व तथा अभिमान है। इस सट्टक में चित्रित पारिजात नामक कवि उन्हीं के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने **'वैकुण्ठ-चरित'** तथा एक अज्ञातनामा सट्टक (संभवतः **'नवग्रह-चरित'**) नामक दो अन्य सट्टकों का भी प्रणयन किया था जिसके लिए अभी पूर्ण प्रमाण नहीं मिलता[1] (अप्रकाशित)।

प्रकरण

प्रकरण नाटक से ही मिलता-जुलता है। केवल इसका नायक धीरप्रशान्त ब्राह्मण, मन्त्री या कोई बनिया होता है। मालतीमाधव तथा शूद्रक का 'मृच्छकटिक' महनीय प्रकरण हैं जिनका वर्णन नाटक के प्रसंग में ऊपर विस्तार से किया गया है। अन्य प्रकरणों की रचना कालान्तर में की गई। प्रधान प्रकरण निम्नलिखित हैं—

(१) **मल्लिकामारुत**[2]—इस प्रकरण में १० अंक हैं। रचयिता का असली नाम **उद्दण्ड कवि** है, जो वस्तुतः कालिकट के राजा की सभा के पण्डित थे तथा १७ वीं शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान थे। कथानक बिल्कुल मालतीमाधव के समान है। नाम-साम्य से कभी-कभी यही प्रकरण दण्डी के मत्थे भी मढ़ा जाता है।

(२) **कौमुदीमित्रानन्द**[3]—यह हेमचन्द्र के शिष्य **रामचन्द्र** की कृति है जिसकी रचना ११७३–७६ ई० के बीच में हुई। यह प्रकरण अभिनय के लिए उपादेय नहीं है। इधर-उधर विकीर्ण कथनोपकथन का संग्रहमात्र प्रतीत होता है।

(३) **प्रबुद्धरौहिणेय**—जयप्रभसूरि के शिष्य **रामभद्रमुनि** (१३ शतक) के द्वारा रचित जैनधर्म में प्रसिद्ध एक आख्यान का प्रकरण रूप से निर्माण हुआ है।

(४) **मुद्रितकुमुदचन्द्र**[4]—धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र **यशश्चन्द्र** की रचना है। यह प्रकरण एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलम्बन कर लिखा गया है, जो ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि और दिगम्बरमुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें कुमुदचन्द्र का मुख-मुद्रण हो गया। इसलिए इस रूपक का सार्थक नाम है।

भाण

एक अंक में समाप्त होने वाले, धूर्त तथा विट के चरित्र का वर्णन करनेवाले रूपक को 'भाण' कहते हैं। संस्कृत साहित्य में प्राचीनता की दृष्टि से भाण का स्थान नाटक से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्राचीन काल में लिखित 'भाण' केरल से उपलब्ध हुए हैं, जिनका प्रकाशन 'चतुर्भाणी' के नाम से हुआ है[5]। इन भाणों की भाषा और भाव-

---

१. सट्टकों के इस विवरण के लिए लेखक डा० उपाध्ये की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका का विशेष ऋणी है।

२. जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा प्रकाशित।

३. भावनगर से १९१७ में प्रकाशित।

४. काशी से प्रकाशित, वीर सं० २४३२।

५. शिवपुरी (मद्रास) से प्रकाशित, १९२२। 'शृङ्गारहाट' के नाम से हिन्दी में अनूदित (भूमिका तथा टिप्पणी के साथ; बम्बई १९५९)।

सरणि प्राचीनता की प्रधान प्रतीक है। इन भाणों के रचयिता वररुचि, ईश्वरदत्त, श्यामलिक, तथा शूद्रक हैं। इनके विषय में किसी प्राचीन आलोचक का यह श्लोक मिलता है —

> वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामलिकः शूद्रकश्च चत्वारः।
> एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य ॥

कालक्रम से इन भाणों का संक्षिप्त वर्णन यों है—

(१) **उभयाभिसारिका**—इसके रचयिता वररुचि हैं। **वररुचि** के '**कण्ठाभरण**' काव्य का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। अतः यह ईस्वी पूर्व तृतीय शतक से अर्वाचीन नहीं है। इस भाण की भाषा तथा शैली बड़ी प्रौढ़ हैं। पाटलिपुत्र में इस भाण का अभिनय हुआ था।

(२) **पद्मप्राभृतक**—इसके रचयिता '**शूद्रक**' कवि हैं जिनका वर्णन नाटक-प्रकरण में विस्तार के साथ किया गया है। शूद्रक राजा होने के अतिरिक्त रूपककार भी थे। प्राचीनकाल में विक्रमादित्य के समान ही सरस्वती के उपासक तथा कवियों के आश्रय-दाता होने से इनकी पर्याप्त ख्याति थी। इसके विषय में **रामिल** और **सोमिल** ने '**शूद्रककथा**' लिखी थी। किसी अज्ञात कवि का '**विक्रान्त-शूद्रक**' नामक नाटक तथा **पंचशिख** का '**शूद्रकचरित-नाटक**' का उल्लेख मिलता है। इस भाण में प्राचीनकाल के प्रसिद्ध कला-वेत्ता 'मूलदेव' का चरित्र-चित्रण किया गया है। इसके पढ़ने से प्राचीनकाल के पण्डितों की नोंक-झोंक की बात जानी जा सकती है। इस भाण का एक पद्य हेमचन्द्र के काव्या-नुशासन (पृ० १८८) में उद्धृत किया है। अन्य ग्रन्थों में भी इनके उद्धरण मिलते हैं।

(३) **धूर्तविट-संवाद**—इसके रचयिता का नाम है '**ईश्वरदत्त**'। भोजदेव के शृङ्गार-प्रकाश में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के एक पद्य का उद्धरण अपने काव्यानुशासन में किया है। इससे स्पष्ट है कि इसका समय ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व का है। इस रूपक में विट और धूर्त का परस्पर संवाद कामिनियों तथा वेश्याओं के विषय में दिया गया है। भाषा में बड़ी प्रौढ़ता है।

(४) **पादताडितक**—इसके रचयिता का नाम है **श्यामलिक**। इन्होंने अपने को उदीच्य लिखा है जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि वे काश्मीरक थे। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचारचर्चा' में श्यामलिक का जो पद्य उद्धृत किया है वह इस भाण में मिलता है। अभिनवगुप्त ने श्यामलिक का नाम-निर्देश किया है तथा 'पादताडितक' से उद्धरण भी दिए हैं। अतः इनका समय ८००–९०० ई० के बीच होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि ये महिमभट्ट के गुरु 'श्यामलिक' ही हों।

१६ वीं शताब्दी के बाद भी अनेक भाणों की रचना होती रही जिनमें '**वामनभट्ट** बाण का '**शृंगारभूषण**', '**रामभद्रदीक्षित**' का '**शृंगारतिलक**', (या **अय्याभाण**), '**वरदाचार्य**' का '**वसन्ततिलक**' (**अम्मा भाण**), '**शंकर कवि**' का '**शारदा-तिलक**', '**नल्ला कवि**' (लगभग १७ वीं) का '**श्रृङ्गारसर्वस्व**' '**युवराज**' कृत '**रससदन-भाण**' मुख्य हैं। इन भाणों का कथानक, लेखनशैली तथा वर्णन-प्रकार बिलकुल मिलते-जुलते हैं। जिस चतुर्भाणी का उल्लेख विस्तार से ऊपर किया गया है उसकी शैली से इनकी शैली भिन्न है।

प्रहसन का इतिहास

हास्य का मानव-जीवन में विशिष्ट उपयोग है। क्रोध तथा प्रीति आदि भावों का अस्तित्व पशुपक्षी आदि जीवों में देखा जाता है, परन्तु हास्य का सीधा लगाव मनुष्य के ही जीवन से है। साहित्यिक के हाथ में हास्य एक विशिष्ट साधन है जिसके द्वारा वह समाज में बुराई का प्रचार करने वाले व्यक्तियों की मीठी चुटकी लेता है और बिना किसी संघर्ष तथा विरोध के वह अपने अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि कर लेता है। जब समाज को दिन-प्रतिदिन घटित होने वाली घटनायें जर्जरित करने लगती हैं, तब भावनाशील सच्चे कलाकार का मस्तिष्क इनपर विचार-विमर्श करने के लिये विवश हो जाता है। घटनाओं का उत्तरदायित्व समाज के प्राणियों पर ही रहता है। यदि वह प्राणी संयोगवश अपनी धार्मिक प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक अधिकार के कारण श्रद्धा तथा सम्मान का भाजन होता है और साथ ही साथ गुप्तरूप से समाज-हित से विरुद्ध कार्यों में संलग्न होता है, तो वह सारे समाज को पतन के गर्त की ओर ले जाने का दोषी ठहराया जा सकता है। ऐसे ही व्यक्ति सहृदय कलाकार की लेखनी के लिए प्रेरणा तथा स्फूर्ति के स्रोत बन जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के चारित्रिक दोष का भंडाफोड़ करना कलाकार के लिए समाज के हित की दृष्टि से नितान्त आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस काम के लिए लेखक में चाहिए शिष्ट हास्य के प्रयोग की क्षमता। हास्य की लेखनी तलवार से भी अधिक जोरदार हथियार है जिसका आघात तो बाहर से दिखलाई नहीं पड़ता, परन्तु उसकी चोट भीतर से मर्म को विद्ध करती है और अपने अभीष्ट की सिद्धि में सफल होती है।

भारत एक धर्मप्रधान देश है। यहाँ धर्म के आचार्यों के हाथ में नेतृत्व की बागडोर सदा से रही है। आजकल भारत में राजनीतिक लीडरों का बोलबाला है, परन्तु कभी यहाँ धर्म के आचार्यों के हाथ में समाज के बनाने या बिगाड़ने की महती शक्ती थी। कभी धार्मिक जगत् के नेतृत्व का भार बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में था। उस समय भिक्षु त्याग तथा तपस्या की उज्ज्वल मूर्ति माना जाता था तथा 'बिहार' (बौद्ध मठ) उच्चकोटि की चारित्रिक साधना की भूमि का प्रतीक था; परन्तु कालक्रम से भिक्षु मानवीय दुर्बलता के शिकार बन गये। उस पवित्र चरित्र का सर्वथा लोप हो गया। बौद्ध भिक्षुणी राजाओं के पुत्र और पुत्रियों की कामकेलि के संवर्धन में अपने को व्यस्त करने लगीं। अन्य धर्मों की भी यही दशा थी। मध्ययुग में मुसलमानों के राज्यकाल में भोग-विलास का बाजार गरम हो गया। यवनों के चारित्रिक पतन का प्रभाव हिंदू राजा-महाराजा, साधु-सन्त तथा अन्य लोगों पर भी पड़ने लगा। वातावरण ही दूषित हो उठा। यही कारण है कि मध्ययुग के धार्मिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार की विशेष वृद्धि हुई और इसलिए इस युग में प्रहसनों की साहित्य के एक मान्य प्रकार की दृष्टि से विशेष रचना हुई।

'प्रहसन' का हमारे साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत ने हास्य की तीनों कोटियों—उत्तम, मध्यम तथा अधम का बड़ा ही उपादेय वर्णन किया है (नाट्यशास्त्र, ६ अध्याय, श्लोक ५१–६०) और इससे हम जानते हैं कि प्राचीन आचार्य शिष्ट हास्य और अशिष्ट हास्य के पार्थक्य को भली-भाँति जानते थे। हास्य के

लिखने में इसीलिये बड़ी सावधानी तथा क्षमता की आवश्यकता होती है; क्योंकि थोड़ी सी गलती से वह अशिष्ट तथा अश्लील के रूप में उद्वेजक बन जाता है। इस सूक्ष्म भेद को कवि के लिए जानना नितान्त आवश्यक होता है। बहुत से आलोचकों की यह धारणा है कि संस्कृत-साहित्य में शिष्ट हास्य का नितान्त अभाव है। इसमें व्यक्तिगत आक्षेप—एक दूसरे के ऊपर छींटाकशी के सिवाय विशेष कुछ नहीं के समान है, परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। शुद्ध तथा साहित्यिक हास्य की मात्रा अपने साहित्य में पर्याप्त है। कालिदास का विदूषक कभी भी अश्लील रिमार्क करता हुआ नहीं पाया जाता। वह औदरिक है, पेट-पूजन के प्रति उसकी विशेष आसक्ति है और इसीलिए उसकी बातचीत में एवं उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में इसी विषय के सम्बन्ध की विशेष चर्चा है। किसी व्यक्ति के ऊपर वह अश्लील वार्ता का आक्षेप कभी नहीं करता। प्राचीन प्रहसन भी काव्य-दृष्टि से विशुद्ध हास्य के पोषक हैं और अश्लीलता से कोसों दूर हैं। इनमें चार्वाक, जैन, बौद्ध, शैव तथा कापालिक के मतों की खासी दिल्लगी इसलिए उड़ाई गई है कि उनके अनुयायियों के सिद्धान्त और व्यवहार में एवं कथनी और करनी में जमीन-आसमान का फर्क था। उनके आक्षेप-जनक सिद्धान्तों की बुराइयों की ओर, जिनसे जनता के बीच अनाचार फैलने की आशंका है, बड़े मार्मिक रूप से संकेत किया गया है। मध्ययुगीय प्रहसनों में अश्लीलता की जो छाया दीख पड़ती है वह तत्कालीन विकृत तथा विलासी समाज की प्रतिच्छाया है। दुःख इतना ही है कि रूपक के इस कोमल प्रकार के प्रति कवियों का उतना आग्रह नहीं रहा। प्रहसनों की संख्या उंगली पर गिनने लायक है, जहाँ नाटकों की रचना से साहित्य भरा है। कतिपय प्रख्यात प्रहसनों की आलोचना यहाँ की जा रही है।

मत्तविलास—

मत्तविलास—संस्कृत के प्राचीनतम प्रहसन **मत्तविलास** के रचयिता **महेन्द्र विक्रम वर्मा** थे, जो प्रस्तावना के अनुसार पल्लव नरेश सिंहविष्णु वर्मा (५७५ ई०–६०० ई०) के पुत्र थे। इस राजा के विषय में अनेक शिलालेख मिलते हैं जिनमें उसकी संज्ञायें गुणभर, मत्तविलास, अवनिभाजन, शत्रुमुल्ल आदि उपलब्ध होती हैं। इन नामों का प्रकारान्तर-से निर्देश इस प्रहसन के श्लोकों में यत्र-तत्र किया गया है। अतः इसका प्रणयनकाल सप्तम शतक का पूर्वार्घ (६०० ई०–६५० ई०) मानना उचित है, क्योंकि यह राजा पुलकेशी द्वितीय तथा हर्षवर्धन का समकालीन माना गया है। यह एकांकी प्रहसन छोटा होने पर भी बड़ा ही रोचक तथा तत्कालीन धार्मिक दशा का पर्याप्त द्योतक है। युवति के साथ कोई कापालिक शराबपान करता है; मांसपिंड से युक्त होने के कारण उसके कपाल को कुत्ता ले भागता है, परन्तु शराब की बदहोशी में उसे इसका पता नहीं चलता, प्रत्युत एक बौद्ध भिक्षु को वह अपने कपाल का चोर समझकर उससे झगड़ा कर बैठता है तथा झगड़ा निपटानेके लिए पाशुपतका आश्रय करता है, परन्तु उस कपाल की प्राप्ति होती है एक पागल के पास से, जो उसे कुत्ते से छीनकर अपने पास रखे रहता है। इतनी ही लघु कथा हास्य से संपुटित कर बड़े सुन्दर ढंग से यहाँ वर्णित है। विभिन्न धर्मानुयायियों का यह संघर्ष बड़ी ही संयत भाषा में निबद्ध किया गया है। किसी प्रकार

की अश्लीलता तथा अनियन्त्रित भाषा तथा भाव की उपलब्धि नहीं होती है। कांचीपुरी में अपनी धार्मिकता के प्रचारक इन संतों का विचित्र चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से भी कम उपादेय नहीं है। कापालिक सुरापान तथा स्त्री-समागम को मोक्षमार्ग का साधन मानता हुआ बेचारे शंकर की प्रशंसा कर रहा है; क्योंकि उनके मत का प्रथम प्रवर्तन उसी भोले बाबा ने किया था (मत्तविलास-प्रहसन[1], श्लोक ७)।

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

लटकमेलक—

इस प्रहसन के लगभग पाँच सौ वर्ष के अनन्तर कान्यकुब्जनरेश गोविन्दचन्द्र के सभाकवि **कविराज शंखधर** ने 'लटकमेलक' नामक अत्यन्त प्रख्यात तथा लोकप्रिय प्रहसन की रचना की प्रस्तावना के भीतर (श्लोक ४) ही राजा का नाम निर्दिष्ट है; फलतः जयचन्द्र के पिता गोविन्दचन्द्र (१२ शती) के राज्यकाल में प्रणीत यह प्रहसन 'नैषधचरित' का समसामयिक है। इसकी लोकप्रियता का परिचायक शार्ङ्गधर-पद्धति में दो श्लोकों का उद्धरण तथा विश्वनाथ कविराज के द्वारा संकीर्ण प्रहसन के दृष्टान्तरूप में 'लटकमेलक' का निर्देश तथा 'गुरोर्गिरः' आदि प्रसिद्ध श्लोक का उद्धरण माना जा सकता है।

लटक-मेलक (=धूर्तसम्मेलन) का कथानक काफी मनोरंजक है। दो अंकों में निबद्ध इसका कथानक शाक्त तथा जैन साधुओं की प्रेम-कहानी से सम्बन्धित है। कौलमतानुयायी 'सभासलि' की श्रीमतीजी का नाम 'कलहप्रिया' था, परन्तु शाक्त जी 'मदनमंजरी' नामक वेश्या के घर जाया करते थे जहाँ 'जटासुर' नामक दिगम्बर सूरिजी का आना-जाना तो होता था, परन्तु उनका प्रेम हो गया वेश्या की अंगरक्षिका कुट्टनी 'दन्तुरा' के साथ। सभासलि अपने उद्योग से जटासुर की दन्तुरा के साथ शादी करा देते हैं और स्वयं 'मदनमंजरी' के प्रणयीहृदय को अपनी ओर खींच लेते हैं। इस प्रधान वृत्त के साथ-साथ जंतुकेतु वैद्य, मदनमंजरी के असफल प्रेमी 'संग्राम-विसर', 'मिथ्याशुक्ल' जैसे शुष्क पण्डित, सनकी दार्शनिक फुंकट मिश्र, बौद्ध-भिक्षु, व्यसनाकर आदि की अवान्तर कथा के कारण यह प्रहसन बहुत ही रोचक तथा कौतुकवर्धक हो गया है। पात्रों का चरित्र तो एक ही दो वाक्यों या पद्यों में इतनी सुन्दरता से खींचा गया है कि दर्शकों के चित्त पर उनकी अमिट छाप पड़ जाती है। ग्रन्थ-चुम्बक दार्शनिक फुंकट मिश्र जी का यह पाण्डित्यद्योतक चरित्र कितना सुन्दर है—

गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्युपास्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समाघ्रात-वितर्कपादाः समागताः फुङ्कटमिश्रपादाः॥

जंतुकेतु वैद्यराज की चिकित्सा-पद्धति अविस्मरणीय है। समस्त वैद्यक ग्रन्थों को चाट कर चरक संहिता से यही नुस्खा उनके हाथ लगा है कि जिस किसी पेड़ की जड़ को जिस किसी चीज के साथ पीसकर जिस किसी रोगी को दे देना चाहिए। इसका फल भी जैसा-तैसा होकर रहेगा। मूर्ख वैद्यों का मन्त्रभूत प्रख्यात पद्य यही है—

१. अनंतशयन संस्कृत-ग्रन्थावलि (नं० ५५) में प्रकाशित, १९१७।

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषयेत् ।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ।।

चमरसेन नामक बिहार के निवासी बौद्ध 'व्यसनाकर' का प्रेम एक धोबिन के साथ कवि ने दिखलाया है। जातिहीन स्त्री के संस्पर्श से दूषित माने जाने पर वह भिक्षु चिल्ला उठता है कि बुद्ध के मतानुसार 'जाति' नामक पदार्थ पदार्थों से भिन्न रूप से तो कभी प्रतीत नहीं होता। हमारे मत से तो समस्त पदार्थ ही क्षणिक हैं और न आत्मा ही स्थायी होता है। फलतः रजकी का दूषण ही कैसे हो सकता है? इसमें देवी की उपासना के नाम से पंचमकार के उपासक शाक्तों के सामाजिक भ्रष्टाचार, बौद्ध भिक्षुओं के मिथ्याविहारी दार्शनिकों की अल्पज्ञता तथा दम्भ का-वर्णन मनोरंजक ढंग से लेखक ने अतिशय सजीव भाषा में किया है। मेरी दृष्टि से यह प्रहसन[1] हास्यरस के उन्मीलन में, सामाजिक दशा के वर्णन में तथा धार्मिक दम्भ के प्रकटीकरण में निःसन्देह एक सफल रचना है।

'जगदीश्वर' का **'हास्यार्णव'** विषय की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर तथा रोचक है। **'गोपीनाथ चक्रवर्ती'**का **'कौतुक-सर्वस्व'** तथा **'सामराज-दीक्षित'** (१७०० ई०) का **'धूर्त-नर्तक'** पिछले-कोटि के प्रहसन हैं जिनमें दुराचार-निरत तथा कामिनीलोलुप धर्मध्वजियों का भण्डाफोड़ किया गया है।

ज्योतिरीश्वर मिथिला के कर्नाटवंशीय नरेश हरिसिंह देव (१२७५ ई०-१३२४ ई०) के आश्रित महाकवि थे जिनसे उन्होंने 'कविशेखर' की महत्त्वसूचक उपाधि प्राप्त की थी। ज्योतिरीश्वर रामेश्वर के पौत्र, धीरेश्वर के आत्मज, पल्लीग्राम (दरभंगा जिले का वर्तमान 'पाली' नामक गाँव) के निवासी थे। इस प्रकार ये उस राजा के मन्त्री, आठ खण्डों में विभक्त 'रत्नाकर' जैसे विपुलकाय धर्मशास्त्रीय निबन्ध के प्रणेता, मन्त्रिप्रवर **चण्डेश्वर** के समकालीन थे। ज्योतिरीश्वर की विपुल ख्याति का सम्पादक ग्रन्थ **'वर्णरत्नाकर'**[2] है जो मैथिली में निबद्ध प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है और एक प्रकार से कोश ग्रन्थ है। साहित्य संसार में इनकी ख्याति का प्रकाशक **'धूर्तसमागम'** प्रहसन है जिसे ऐतिहासिक तथ्यों की भी उपलब्धि महत्त्वपूर्ण बना रही है। कामशास्त्र-विषयक **'पंचसायक'** भी पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है जिसमें कामशास्त्रीय विषयों का संक्षेप में विवरण है।

वत्सराज

दशरूपकों में से डिम, समवकार, वीथी, अंक एव ईहामृग का प्रचलन बहुत ही कम रहा है। नाट्य-ग्रन्थों में इनके लक्षण अवश्य मिलते हैं, परन्तु लक्ष्य-ग्रन्थों का विशेष अभाव ही है। इस समय एक कवि की कृपा से हमें इन प्रकारों के रूपकों के भी एकत्र उदाहरण मिलते हैं। इस कवि का नाम **वत्सराज** है। ये कालिंजर के राजा 'परमर्दिदेव' के अमात्य थे तथा उनके पुत्र 'त्रैलोक्यवर्मदेव' के समय में भी उसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। परमर्दिदेव का समय ११६३ ई०–१२०३ ई० तक था तथा उनके पुत्र का समय १३ वीं

---

१. काव्यमाला (संख्या २०) में प्रकाशित, बम्बई, १८८९।
२. कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।

शताब्दी के मध्य भाग तक था। इस प्रकार वत्सराज का समय १२ वें शतक का उत्तरार्द्ध तथा १३ वें शतक का पूर्वार्ध है। ये परमर्दिदेव ही 'परमाल' के नाम से प्रसिद्ध थे जिनके पृथ्वीराज के द्वारा पराजित होने की घटना का वर्णन चन्दबरदाई के 'रासो' (महोबा समय) में मिलता है। वत्सराज के ये छहों रूपक[1] बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन अप्रचलित रूपकों के स्वरूप का ज्ञान हमें इन्हीं ग्रन्थां से मिलता है। भाषा में प्रवाह है। वह लम्बे समासों से न तो दबी है और न अप्रचलित शब्दों के प्रयोगों से भरी है।

(१) **कर्पूरचरित-भाण**—नीलकण्ठ के यात्रा-महोत्सव में यह भाण **'परमाल'** की आज्ञा से खेला गया था। इसमें एक द्यूतकर की द्यूतक्रीड़ा तथा वेश्या के साथ उसकी प्रणयलीला का मनोहर वर्णन किया गया है।

(२) **हास्यचूडामणि-प्रहसन**—यह प्रहसन एक अंक का है। इसमें भारतवर्ष में एक आचार्य 'ज्ञानराशि' की खूब दिल्लगी उड़ाई गई है। इस आचार्य को केवली विद्या आती थी जिसके सहारे वह गड़े हुए धन का तथा भूली हुई वस्तुओं का पता लगाया करता था। धार्मिक कृत्य को छोड़कर लौकिक कार्यों की अनुरक्ति को लक्ष्य कर इस प्रहसन की रचना की गई है।

(३) **त्रिपुरदाह-डिम**--इस डिम में चार अंक हैं। कथा पुराण से ली गई है। भगवान् शंकर ने त्रिपुर असुर का नाश किस प्रकार किया था, इसी का सांगोपांग वर्णन इस डिम में है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम के प्रथम प्रयोग का उल्लेख किया है। इसी संकेत को ग्रहण कर वत्सराज ने इस रूपक की रचना की। रौद्र रस का परिपाक पूर्णरूप से विद्यमान है। अन्य डिम बहुत पीछे के हैं। **'घनश्याम'** रचित डिम, **वेंकटवर्य** का **'कृष्णविजय'**, **'रामकवि'** कृत **'मन्मथोन्मथन'** डिम के अन्य उदाहरण हैं।

(४) **किरातार्जुनीय**--व्यायोग। व्यायोग एक अंक का होता है। इस एकांकी रूपक में अर्जुन और शिव का युद्ध दिखलाया गया है। कथानक वही है जो भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य का है। **'प्रह्लादनदेव'** रचित **'पार्थ-पराक्रम'** इससे कुछ प्राचीन है। इसके रचयिता चन्द्रावती (जोधपुर) के परमार राजा धारावर्ष के भाई थे। धारावर्ष आबू के परमार राजाओं में नितान्त प्रसिद्ध हैं। प्रह्लादनदेव का समय ११६३-१२०९ ई० है। 'पार्थ-पराक्रम' लोकप्रिय व्यायोग है जिसमें महाभारत के विराटपर्व में उल्लिखित अर्जुन के द्वारा विराट राजा की गायों का कौरवों के पंजे से छुड़ा लेने का (गोग्रहण) वर्णन है। **'कांचनाचार्य'** का **'धनंजय-विजय'**, **रामचन्द्र'** का **'निर्भयभीम'** (१२ वाँ शतक), **'विश्वनाथ'** (१३५०) का **'सौगन्धिकाहरण'** व्यायोग के अन्य उदाहरण हैं। भास का 'मध्यम-व्यायोग' इन सबों से प्राचीन है।

(५) **समुद्रमन्थन-समवकार**--तीन अंक के इस समवकार में समुद्र मन्थन का वृत्तान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। भरत ने समुद्रमन्थन को आदर्श समवकार

---

१. 'रूपक-षट्क' नाम से प्रकाशित; गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, संख्या ८, बड़ोदा, १९१८।

बतलाया है। इसी सूचना के अनुसार वत्सराज ने इस रूपक का प्रणयन किया है। समवकार के अन्य उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।

(६) **ईहामृग**—इसका वृत्त मिश्र होता है। इसमें चार अंक और तीन सन्धियाँ रहती हैं। कथानक में संघर्ष इतना है कि प्रतीत होता है कि तुमुल संग्राम हुए बिना न रहेगा, परन्तु फिर भी वह युद्ध व्याज से रोक दिया जाता है। मृग के समान अलभ्य नायिका की अभिलाषा के कारण इसका नाम सार्थक दीख पड़ता है। 'वीर-विजय' तथा 'रुक्मिणीहरण' का पता नहीं चलता। वत्सराज का **'रुक्मिणी-परिणय'** इसका एकमात्र उपलब्ध उदाहरण है। तीन अंक के इस रूपक में कृष्ण के साथ शिशुपाल तथा रुक्मी के विशेष संघर्ष का तथा छलपूर्वक युद्ध रोकने का वर्णन है।

वत्सराज के ये रूपक काव्य-दृष्टि से नितान्त सुन्दर हैं। भाषा साफ-सुथरी है। श्लोक प्रसाद गुण से युक्त हैं। इसका निवेश रूपक के स्वरूप के अनुकूल ही है। रुक्मिणी-परिणय' ईहामृग की यह नान्दी बड़ी ही सुन्दर है :—

दरमुकुलितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्रीरुपगिरिपतिपुत्री प्राप्तसान्द्रप्रमोदा ;
मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा वितरतु रुचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः॥

(७) **वीथी**—इस रूपक में भाण के समान ही कथानक होता है जिसमें श्रृङ्गाररस तथा कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है, परन्तु श्रृङ्गार की भी सूचनामात्र रहती है। एक दो पात्र रहते हैं। **'माधवी' वीथी** का नाम तो मिलता है, पर ग्रन्थ अप्रकाशित है।

(८) **अंक**—इसमें कथानक पुराण तथा इतिहास से लिया जाता है। करुण रस की प्रधानता रहती है। वास्तव युद्ध का वर्णन नहीं रहता; केवल वाक्-युद्ध ही दिखलाई प्रड़ता है। **'शर्मिष्ठाययाति'** इस रूपक का उदाहरण है, परन्तु यह अप्राप्त है। भास्कर कवि का 'उन्मत्तराघव' अंक मिलला है, पर इसके रचनाकाल का पता नहीं चलता। इसमें वर्णन विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक के समान है।

दश रूपकों की तुलनात्मक समीक्षा से स्पष्ट है कि रूपक दो प्रकार के मुख्यतया होते हैं—(१) शौर्यरस-सम्पन्न उदात्त रूपक तथा (२) प्राकृत कथाश्रित सामाजिक रूपक। प्रथम प्रकार में शौर्य का अभिनय, उदात्तचरित का चित्रण तथा आसुरी शक्तियों से संघर्ष मुख्यतया प्रदर्शित किये जाते हैं, दूसरे प्रकार में समाज का चित्रण मुख्य उद्देश्य रहता है। नाटक शौर्य रूपक का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है, तो प्रकरण सामाजिक रूपक का। अन्य रूपक इन्हीं के अविकसित या अर्ध-विकसित रूप हैं। अंक तथा व्यायोग (दोनों एकांकी), समवकार (त्र्यंकी), डिम तथा ईहामृग (चतुरंकी) तथा नाटक (पञ्चांकी से दशाङ्की तक) प्रथम प्रकार के विकास-क्रम द्योतित करते है, तो भाण, वीथी तथा प्रहसन (तीनों एकाङ्की) तथा प्रकरण (पञ्चाङ्की से लेकर दशाङ्की तक) सामाजिक रूपक के विकास सूचक है। शौर्यात्मक वर्ग देवताओं अथवा महाकाव्य नायकों के कार्य, युद्ध तथा तत्परिणाम का सूचक है, तो सामाजिक वर्ग सामान्य मनुष्य के जीवन तथा प्रणय कार्यों का चित्रण करता है। इस पार्थक्य का अनुशीलन आलोचक के लिए नितान्त आवश्यक है।

प्रतीक नाटक

संस्कृत-साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं जिनमें श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय पात्र बनाया गया है। कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों की ही मूर्त्त-कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त्त-अमूर्त्त दोनों का मिश्रण है। साधारण नाटक के लक्षण से इनमें किसी प्रकार पार्थक्य नहीं मिलता। इसीलिए नाट्य के लक्षण-कर्ताओं ने इसका पृथक् वर्गीकरण नहीं किया। यहाँ इस प्रकार के नाटकों को हमने 'प्रतीक नाटक'[1] की संज्ञा दी है, क्योंकि इनके पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक-मात्र होते हैं; उनकी भौतिक जगत् में स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।

इन नाटकों की उत्पत्ति कब हुई ? इसका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। मध्य एशिया से बौद्ध नाटकों के जो त्रुटित अंश मिले हैं उनमें एक प्रतीक नाटक के भी अंश हैं। जिस हस्तलिखित प्रति में अश्वघोष का 'शारीपुत्र-प्रकरण' उपलब्ध होता है उसी में इस नाटक के भी अंश उपलब्ध हुए हैं। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसिद्ध अश्वघोष की रचना है या नहीं। इस नाटक में बुद्धि, कीर्ति, धृति रंगमंच पर आती हैं और वार्तालाप करती हैं। इसके अनन्तर बुद्ध स्वयं मंच पर आते हैं। ग्रन्थ के त्रुटित होने से नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध और इन प्रतीक पात्रों का सचमुच परस्पर वार्तालाप हुआ है या नहीं। जो कुछ भी हो, जान पड़ता है कि प्रतीक-नाटकों की प्राचीन परम्परा थी, जो कालान्तर में किसी कारण से विच्छिन्न हो गयी थी। ११ वीं शताब्दी के मध्य भाग में कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय'[2] नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखकर इस परम्परा को पुनरुज्जीवित किया।

कृष्ण मिश्र की यह कृति संस्कृत-साहित्य में एक नवीन नाट्यधारा की प्रवर्तिका है। पिछले नाटककारों ने इस शैली का अनुकरण कर अनेक सुन्दर प्रतीक-नाटकों की रचना की है। वह नाटक जेजकभुक्ति के चन्देलवंशीय राजा कीर्तिवर्मा के समक्ष गोपाल की प्रेरणा से अभिनीत हुआ था। चेदि के राजा कर्ण ने (जो १०४२ ई० में जीवित थे) कीर्तिवर्मा को परास्त किया, परन्तु सेनानी गोपाल ने अपने बाहुबल से उन्हें परास्त कर कीर्तिवर्मा को पुनः राज्यासन पर स्थापित किया। इससे प्रतीत होता है कि गोपाल कीर्तिवर्मा के सेनापति थे। कीर्तिवर्मा के पूर्वज राजा धङ्ग के शिलालेख १००२ ई० में खजुराहों के विश्वनाथ मन्दिर में मिलते हैं। चन्देलों की कलाप्रियता के प्रतीक खजुराहों के शैव-मन्दिर आज भी उनकी विपुल कीर्ति का स्थापन करते हैं। कीर्तिवर्मा का सम्बन्ध खजुराहों के साथ निश्चित रूप से था। सम्भवतः यह उनकी राजधानी थी।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक में उल्लिखित कीर्तिवर्मा अपने चन्देल वंश का एक नितान्त पराक्रमी राजा था। उसके अनेक शिलालेख बुन्देल-खण्ड के भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं जिससे उसके राज्य के विस्तार का संकेत मिलता है। वह राजा विजयपाल का पुत्र था, जो अपने ज्येष्ठ भ्राता देववर्मा के अनन्तर सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके नाम से महोबा के पास का 'कीरत सागर' नामक तालाब उसीका बनाया हुआ है। इसके नाम से

---

१. Allegorical drama.

२. दो टीकाओं के साथ निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित, बम्बई।

सोने के सिक्के भी मिले हैं जिस पर उसका 'श्रीमत्कीर्तिवर्मदेव' लिखा है। इसका राज्य बहुत वर्षों तक तथा बहुत विस्तृत भूभाग पर था। देवगढ़ में इसका एक शिलालेख सं० ११५४ (= १०९३ ईस्वी) का मिलता है जिसे इनके मन्त्री वत्सराज ने खुदवाया है। खजुराहो में लक्ष्मीनाथ के मन्दिर का एक लेख (११६१ विक्रमी) कीर्तिवर्मा के ही समय का है। कीर्तिवर्मा का समकालीन मालवा का राजा भोज परमार था। कलचुरि राजा कर्णदेव को हरा कर गोपाल ने कीर्तिवर्मा को राज्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया था— इस घटना का उल्लेख प्रबोध-चन्द्रोदय की प्रस्तावना में दिया गया है। जान पड़ता है कि कीर्तिवर्मा कर्णदेव से पहिले पराजित हो चुका था, परन्तु सेनापति गोपाल के अदम्य उद्योग से वह कर्ण को पराजित कर पुनः राज्य पाने में समर्थ हुआ (प्रबोधचन्द्रोदय १।४) :—

> गोपालो भूमिपालान् प्रसभमसिलतामात्रमित्रेण जित्वा।
> साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपति-तिलको येन भूयोऽभ्यषेचि ॥

इस प्रकार कीर्तिवर्मा का समय ११ शती का अन्तिम भाग है और प्रबोधचन्द्रोदय के निर्माण का भी यही युग है।

इस रूपक के अद्वैत वेदान्त तथा विष्णुभक्ति का सम्मिलन बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। मोह के पंजे में फँस जाने के कारण पुरुष अपने सच्चे स्वरूप के ज्ञान से भी वंचित हो जाता है। विवेक के द्वारा जब मोह का पराजय होता है तभी पुरुष को शाश्वत ज्ञान उत्पन्न होता है। विवेकपूर्वक उपनिषद् के अध्ययन करने तथा विष्णुभक्ति के आश्रय लेने से ही ज्ञान-रूपी चन्द्रमा का उदय होता है। इस विषय का प्रतिपादन बड़ी ही युक्ति तथा सुन्दरता के साथ किया गया है। पात्रों में सजीवता है। द्वितीय अंक में दम्भ और अहंकार का वार्तालाप अतीव हास्योत्पादक है। इसी प्रकार का हास्यमिश्रित कौतूहल जैन, बौद्ध तथा सोम-सिद्धान्त के परस्पर वार्तालाप के अवसर पर दर्शकों को होता है। कृष्णमित्र उपनिषदों के रहस्यवेत्ता थे, यह कहना अनावश्यक है। कवित्व का चमत्कार इस नाटक में कम नहीं है। अद्वैत वेदान्त तथा वैष्णव धर्म का समन्वय इस नाटक की महती विशेषता है। आत्मकल्याण का मार्ग बताते समय सरस्वती का उपदेश कितना रमणीय है—

> नित्यं स्मरन् जलदनीलमुदारहार-केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
> ग्रीष्मे सुशीतमिव या ह्रदमस्तशोकं ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम्।

प्रबोधचन्द्रोदय की प्रसिद्धि हिन्दी के प्राचीन कवियों में खूब थी। तुलसीदास ने अयोध्याकाण्ड में पंचवटी के वर्णन-प्रसङ्ग में जिस आध्यात्मिक रूपक की योजना की है उसमें इस नाटक के प्रसिद्ध पात्रों को भी अपनाया है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास ने (१६ वाँ शतक) तो इसका छन्दोबद्ध अनुवाद ही 'विज्ञानगीता' के नाम से किया।

जैन कवियों ने पहले-पहल कृष्णमित्र के इस प्रतीक नाटक का अनुसरण अपने धर्म के प्रचार के लिए उपयोगी साधन समझ कर किया। ऐसे नाटक का नाम 'मोहराजपराजय' है, इसके रचयिता यशःपाल कवि हैं, जो मन्त्री धनदेव और रुक्मिणीदेवी के पुत्र थे, जाति के मोड़ बनिया थे तथा राजा अजयदेव चक्रवर्ती अभयदेव के

कृपापात्र थे। ये अभयदेव प्रसिद्ध चालुक्यवंशी गुजरात-नरेश कुमारपाल के अनन्तर गुजरात के राजा थे, जिन्होंने १२२९–१२३२ ई० तक राज्य किया। यह नाटक पहले-पहल कुमारविहार में महावीर के उत्सव के समय अभिनीत हुआ। **'मोहराज-पराजय'**[1] में पाँच अंक हैं। गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश कुमारपाल का हेमचन्द्र के द्वारा जैनधर्म का ग्रहण करना, पशुओं की हिंसा का निषेध करना तथा हेमचन्द्र के उपदेशानुसार निःसंतान मरनेवालों की सम्पत्ति को राज्याधीन न करना आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें कुमारपाल, हेमचन्द्र तथा विदूषक तो मनुष्यमात्र हैं, शेष––पुण्यकेतु, विवेक, कृपासुन्दरी, व्यवसायसागर आदि––पात्र शोभन या अशोभन गुणों के प्रतीक हैं। इस प्रकार इस नाटक में कल्पित और वास्तव पात्रों का परस्पर सम्मिलन तथा वार्तालाप कराया गया है। गुणों की दृष्टि से नाटक कम महत्त्व का नहीं है। यह सरल सुबोध संस्कृत में लिखा गया है जिसमें लम्बे समासों तथा भड़कीले गद्य का प्रयोग जान-बूझ कर नहीं किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह उपादेय है। कुमारपाल के समय में जैनधर्म के प्रचार के लिए जो व्यवस्था की गयी थी, उसका प्रकृष्ट वर्णन इस नाटक में उपलब्ध होता है। समकालीन कृति होने से इसका प्रामाण्य माननीय है।

वेदान्तदेशिक (१३ शती) का **संकल्पसूर्योदय**[2] दश अंकों में विभक्त एक प्रतीक नाटक है जिसमें मोह को पराजित कर ज्ञान के उदय का वर्णन सुभग नाटक-रीत्या किया गया है। इसकी लोकप्रियता का पता टीकासम्पत्ति से लगता है इसकी छः टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें **अहोबिल** का **प्रभाविलास, नृसिंहराज** की **प्रभावली, श्रीनिवास** का **विवरण, श्रीभाष्य नारायण** की तथा केवल **नारायण** नामधारी ग्रन्थकार की व्याख्या, अज्ञातनामा टीकाकार की **प्रभावली** परिगणित की जाती हैं।

संकल्पसूर्योदय में दार्शनिक विषयों का प्रस्तुतीकरण बड़ी प्रौढ़ता तथा गम्भीरता के साथ किया गया है। प्रथम अंक में (स्वपक्ष-प्रकाश) में परतत्त्वरूपी भगवान् विष्णु के उस संकल्प की चर्चा है जो केवल पुरुषों को संसार से मुक्त करने में समर्थ होता है। द्वितीय अंक (परपक्ष-प्रतिक्षेप) सांख्ययोग, जैन-बौद्ध, पाशुपत, मीमांसक, शांकर, भास्कर तथा यादवीय मतों का संक्षेप में निरास करता है। तृतीय अंक (मुक्त्युपायारम्भ) में दृढ़ संकल्प-युक्त चित्त से मुक्त्युपायभूत समाधि का आरम्भ उपयोगी बतलाया गया है। चतुर्थ अंक (कामादिव्यूहभेद) योगयुक्त साधक के पूर्वाभ्यास से उत्पन्न काम आदि व्यसनों के दूरीकरण का उपाय बतलाता है। पंचम अंक (दम्भाद्युपालम्भ) प्राकृतजनों की प्रतारणा के लिए योगी द्वारा प्रयुक्त दम्भ, असूया आदि का वर्णन करता है। षष्ठ अंक (स्थान विशेष संग्रह) भोग के लिए उपयुक्त स्थानों तथा तीर्थों का वर्णन करता है। सब तीर्थों के दोषों का उद्घाटन कर उन्हें अयुक्त सिद्ध कर कवि 'हृदय-गुहा' को ही समाधि के लिए उपयुक्त बतलाता है। नोंकझोंक की भाषा में तीर्थों की निन्दा देखने ही योग्य है। संकल्पसूर्योदय (६।३८)––

---

१. गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (ग्रन्थांक ८) में प्रकाशित, बड़ौदा, १९३०।

२. सं० दो भागों में, अडयार लाइब्रेरी मद्रास, १९४८।

सा काशीति न चाकशीति भुवि साऽयोध्येति नाध्यास्यते
साऽवन्ती न च कल्मषादवति सा काञ्चीति नोदञ्चति।
धत्ते सा मधुरेति नोत्तमधुरां मान्यापि नान्या पुरी
या वैकुण्ठकथासुधारसभुजां रोचेत नो चेतसे ॥

अन्य अंकों में क्रमशः वर्णित है—शुभाभ्रम का निर्धारण (७ अंक), मोहादि का पराजय (८ अंक), समाधि का सम्भव (९ अंक) तथा निःश्रेयस का लाभ (१० अंक)। समाधिस्थ पुरुष की उपासना से भगवान् की कृपा जागती है। आचिरादि मार्ग से योगी वैकुण्ठ में जाकर ब्रह्मसायुज्य-रूपी मुक्ति पाता है और निरतिशय ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।

संकल्पसूर्योदय विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमूलक एक उत्कृष्ट प्रतीक नाटक है, जहाँ अमूर्त पदार्थों के द्वारा नाटक का व्यापार संचारित होता है। वेदान्तदेशिक स्वयं नाटक का वैशिष्ट्य बतलाते समय कहते हैं कि यह दोषरहित लक्षण की समृद्धि वाला नाटक है तथा सहृदयों के द्वारा ग्राह्य रस का परिपोषक है। फलतः वे नाट्यशास्त्रीय लक्षणों का इसे प्रदर्शक रूपक मानते हैं, जो सर्वथा यथार्थ है (१।२१) —

लक्षणसमृद्धिरनघा रसपरिपोषश्च सहृदयग्राह्यः ॥
संपतति नाटकेऽस्मिन् स एष शैलूष सुकृतपरिपाकः ॥

कवि शान्तरस को ही इसका मुख्य रस मानता है, क्योंकि यही वस्तुतः आनन्द-दायक तथा सहृदय-संवेद्य निर्दोष रस होता है। शृंगार रस असभ्य कोटि में आता है। वीररस एक दूसरे के तिरस्कार और अवहेलना को अग्रसर करता है। अद्भुत रस की गति तो स्वभावतः विरुद्ध होती है। अतः शान्तरस ही निःसंशय वास्तव रस है (१।१९)—

असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृंगारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम् ।
विरुद्धगतिरद्भुतः, तदलमल्पसारैः रसैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः ॥

वीररस का समावेश भी इसे रोचक बनाता है। वेदान्तदेशिक प्रथम कोटि के तत्त्वज्ञ थे। फलतः उनके इस नाटक में पांडित्य का महान् उत्कर्ष दिखलाई पड़ना स्वाभाविक है।

चैतन्यदेव के पार्षद शिवानन्दसेन के पुत्र **परमानन्ददास** का जन्म १५२४ ई० में हुआ। चैतन्यदेव ने इन्हें **'कर्णपूर'** की उपाधि प्रदान की। इनके लिखे हुए नव ग्रन्थों का पता चलता है जिसमें **'चैतन्यचन्द्रोदय'** मुख्य है। इसकी रचना जगन्नाथ क्षेत्र के अधिपति गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७९ ई० में की गई। उस समय कवि की अवस्था २५ वर्ष की थी। अतः यह कवि की प्रौढ़ अवस्था की रचना है। इसमें दस अंक हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनवृत्त को जानने के लिए यह नाटक बड़ा ही प्रामाणिक तथा उपादेय है। इसके पात्रों में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण है। अमूर्त पात्रों में भक्ति, विराग, कलि, अधर्म आदि हैं। मूर्त पात्रों में चैतन्य तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य हैं। चैतन्य के सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए भी इस नाटक का अध्ययन

आवश्यक है। भाषा सरल तथा सुबोध है। नाटक आदि से अन्त तक प्रसाद गुण से युक्त है (७।७)—

मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना
कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः।
किमस्य च विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्रवः
स वा कथमहो भवेद्यदि न वासनाक्षालनम् ॥

आनन्दराय मखी तंजोर के राजा शाह जी (१६८४–१७१० ई०) तथा शरभो जी (१७११–१७२० ई०) के प्रधान मन्त्री थे। इनका समय १८ वीं सदी का प्रथमार्ध है। ये बड़े भारी शैव तथा सरस्वती के उपासक थे। इनकी प्रसिद्धि 'वेदकवि' के नाम से थी। पाण्डित्य के कारण राजदरबार में इनका बड़ा सम्मान था तथा अपने समय के दाक्षिणात्य कवियों के ये अग्रगण्य थे। इनके दो प्रतीक नाटक मिलते हैं—(१) विद्यापरिणयन और (२) जीवानन्दन। **विद्यापरिणयन** में सात अंक हैं जिसमें अद्वैत वेदान्त के साथ शृंगाररस का मंजुल सामंजस्य दिखलाया गया है। शिवभक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है; यही दिखलाना नाटक का प्रधान उद्देश्य है। जैनमत, सोम-सिद्धान्त, चार्वाक, सौगत आदि पात्रों का सन्निवेश ठीक प्रबोधचन्द्रोदय की शैली पर किया गया है। नाटक की भाषा सरल और सुबोध है। अभिनय के लिए नितान्त उपयुक्त है। **'जीवा नन्दन'**[1] में भी सात अंक हैं। गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद, कुष्ठ, गुल्म, कर्णमूल आदि रोगों का चित्रण पात्ररूप से एक विचित्र वस्तु है। शारीरिक व्याधियों में राजयक्ष्मा ही सबसे बढ़कर है। इसके पाश में पड़े हुए जीव का छुटकारा पारद रस के ही प्रयोग से होता है। स्वस्थ शरीर होने पर ही चित्त स्वस्थ रहता है तथा स्वात्मकल्याण के मार्ग में संलग्न रह सकता है। आयुर्वेद के तत्त्वों का नाटकीय रूप में प्रदर्शन का यह सफल प्रयास है जहाँ वैद्यक के सिद्धान्त अपने सच्चे रूप में प्रदर्शित किये गये हैं। अध्यात्मवेद तथा आयुर्वेद— दोनों के मान्य तत्त्व का प्रतिपादन इस नाटक में किया गया है। कवि ने स्वयं इस पद्य में सूचना दी है (६।३२) —

मन्त्रिन् जन्मैव दोषः प्रथममथ तदप्याधिभिः व्याधिभिश्चे-
ज्जुष्टं कष्टं बतातः किमधिकमपि तु त्वन्मतेर्वैभवेन।
देव्या भक्त्याः प्रसादात् परमशिवमहं वीक्ष्य कृच्छ्राणि तीर्णः
सर्वाणि द्राक् तदत्यद्भुतमिह शुभदं संविधानं तवेदम् ॥

नल्लाध्वरी ने भी इस प्रकार के दो नाटकों का प्रणयन किया है—(१) चित्तवृत्ति-कल्याण तथा (२) जीवन्मुक्ति-कल्याण'[2]। इन्होंने तंजोर के महाराजा शाहजी के सदस्य रामभद्र दीक्षित के समकालीन रामनाथ दीक्षित से बालकपन में ही सकल विद्याओं का अध्ययन कर बीस वर्ष के वय होने से पूर्व ही **'शृंगार-सर्वस्व'** भाण तथा **'सुभद्रा-परिणय'**

---

१. काव्यमाला में प्रकाशित। अडयार से १९५० में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ काशी से १९५५ में प्रकाशित।

२. प्रकाशक श्री शंकर गुरुकुल, श्रीरंगम्, १९४४ ई०।

नाटक का निर्माण किया था। अन्त में परम शिवेन्द्र तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती से वेदान्त का अध्ययन कर तथा उनके गाढ़ सम्पर्क में आकर इन दोनों प्रतीक नाटकों की रचना की। **'अद्वैतरसमञ्जरी'** नामक वेदान्त ग्रन्थ की रचना भी इसी काल से सम्बन्ध रखती है। इन ग्रन्थों में परस्पर श्लोकों का भी साम्य है। ग्रन्थकार गणपति के एकनिष्ठ उपासक थे और इसका परिचय नाटकों की नान्दी से स्पष्टतः मिलता है। **'जीवन्मुक्ति-कल्याण'** का नायक राजा जीव अपनी प्रियतमा बुद्धि के साथ जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त दशाओं में भ्रमण करता हुआ संसार के विषयों से विषण्ण हो उठता है और जीवन्मुक्ति की कामना करता है। उसे काम-क्रोध आदि षड्रिपु इस कार्य में विघ्न उत्पन्न करते हैं। तब वह दया, शान्ति आदि आठ आत्मगुणों के द्वारा उन्हें ध्वस्त करता है। अन्त में वह चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करता है, साधनचतुष्टय की प्राप्ति करता है। तथा शिव के प्रसाद से तथा गुरु के अनुग्रह से ब्रह्मज्ञान पाकर 'जीवन्मुक्ति' का आनन्द उठाता है। संक्षेप में नाटक का यही वर्ण्य विषय है। नाटक का विषय दुरूह अध्यात्मतत्त्व है, परन्तु कवि ने उसे सरल तथा सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने में विशेष सफलता प्राप्त की है। श्लोकों में प्रवाह है तथा नाटक के पात्रों में पर्याप्त सजीवता है। जीव अपनी सांसारिक दशा का वर्णन कितने सुबोध शब्दों में कर रहा है (१।२३)—

स एषु मधुरः स्वरो रुचिर एष रूपोच्चयः
सुसौरभमिदं त्वियं शिशिरता रसोऽसाविति।
इतः श्रवणमेकतो नयनमन्यतो घ्राणम-
प्यतस्त्वगपि हन्त मां रसनमग्रतः कर्षति॥

शिव के प्रसाद तथा गुरु के अनुग्रह का जीवन्मुक्ति के लाभ में कितना योग होता है, इसे कवि ने बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। नल्लाध्वरी आनन्दराय मखी के ही समकालीन प्रतीत होते हैं। तंजोर के मराठा-नरेशों की शीतल छाया में ऐसे सुन्दर रूपकों का प्रणयन ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्व की बात नहीं है।

मिथिला के **गोकुलनाथ** द्वारा रचित **अमृतोदय'** नाटक बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण है। यह १६९३ ई० की रचना माना जाता है। इसमें श्रुति, आन्वीक्षिकी, कथा, पतञ्जलि, जाबालि आदि पात्र आते हैं। आत्मज्ञान का उदय इस नाटक का मुख्य तात्पर्य है। इस शैली से भिन्न, परन्तु बहुत ही उपदेशप्रद नाटक है—मिथिला के शैव हरिहर द्वारा रचित **'भर्तृहरिनिर्वेद'**[२]। भर्तृहरि (लोक गीतों के प्रख्यात राजा भरथरी) के वैराग्य की कहानी बड़ी प्रसिद्ध है। राजा भर्तृहरि अपनी रानी भानुमती को बहुत ही प्यार करता था। पति जब विदेश जाने पर आरूढ़ हुए तब रानी ने उसके बिना जीवित न रहने की बात कही। राजा इसकी परीक्षा करना चाहता था। शिकार खेलने के लिए जाने पर उसने यह झूठी खबर फैला दी कि राजा शिकार में मारा गया। खबर

१. काव्यमाला ५९, १८९७ में प्रकाशित।
२. वही २९, १८९२ ई० में प्रकाशित। डा० ग्रे द्वारा अंग्रेजी में अनूदित जे० ए० ओ० एस० २५, १९०४।

सुनते ही रानी गतप्राण हो गई। लौट कर आने पर राजा को अपनी गलती से बड़ा दुःख हुआ। वह अपने को धिक्कारने लगा--

स्वयं निर्मायान्धुं वत हतधियाऽस्मिन् निपतितं
मया व्यादायास्यं स्वयमहिपतेश्चुम्बितमिदम्।
कृपाणेन स्वेन प्रहृतमिदमात्मन्यकरुणं
स्वयं सुप्त्वा सद्मन्यहह निहितो द्वारि दहनः॥

भावार्थ है कि स्वयं कूआँ खोदकर मूर्ख अपने ही उसमें गिर पड़ा। अजगर का मुँह खोलकर स्वयं उसका चुम्बन किया। अपने ही तलवार से अपने ही ऊपर निर्दयता से प्रहार किया। अहह, आश्चर्य है कि घर के भीतर सोकर स्वयं द्वार के ऊपर आग रख दिया जिससे पूरा घर जल उठे।

आत्मग्लानि से पीडित होकर ज्योंही वह चिता में जलने गया कि गोरखनाथ जी कहीं से आ गये। उन्होंने राजा को उपदेश दिया। राजा को सच्चा और नितान्त दृढ़ वैराग्य का उदय हो गया। रानी को गोरखनाथ ने अपने योगबल से जिला दिया। उसने अपने बालकों की दीनता को प्रदर्शित कर राजा को फिर राज्यभार लेने के लिए आग्रह किया, परन्तु राजा को सच्चा वैराग्य हो गया था। वह गुरु गोरखनाथ के आत्मसाक्षात्कार के उपदेश से निर्वाण का सच्चा भक्त बन गया।

प्रतीक नाटकों के माध्यम से दर्शन के दुरूह तत्त्वों का रोचक शैली में जनता के भीतर कवि लोग प्रचार करते थे। इस प्रकार नाटकों में कभी-कभी इतर शास्त्रों के अतिरिक्त व्याकरण के भी तत्त्व अभिनय द्वारा प्रदर्शित किये जाते थे। इस दृष्टि से **कृष्णानन्द वाचस्पति** का **अन्तर्व्याकरणनाट्य-परिशिष्ट**[1] नामक नाटक एक विशिष्ट कौतूहल का विषय है। इसके पद्यों के दो अर्थ होते हैं एक ओर तो वे व्याकरण के नियमों की व्याख्या करते हैं, और दूसरी ओर वे दर्शन और नीति की शिक्षा देते हैं। इस द्विविध तात्पर्य के कारण इस नाटक का महत्त्व है।

एक बात ध्यान देने की है। नाटकों की रचना वर्तमान युग में भी उसी प्राचीन शैली पर आज भी हो रही है और उन्नीसवीं शताब्दी में भी होती रही है। विषयों में नवीनता है, परन्तु उनके प्रतिपादन में प्राचीनता है। हम कह सकते हैं कि—संस्कृत के इन नवीन नाटककर्ताओं में नवीन विषयों का ग्रहण कर नाटक निर्माण की योग्यता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में ऐसे नाट्यकर्ताओं का अभाव नहीं है जो प्राचीन शैली में नवीन विषयों पर रूपकों की रचना करते चले आते हैं। तथ्य यह है कि संस्कृत नाटक के निर्माण की एक अपनी विशिष्ट शैली है और संस्कृत का प्रत्येक नाटककर्ता उस शैली को छोड़कर अन्य शैली में लिखना उचित नहीं समझता।

प्रतीक रूप से लिखे गये नाटकों का यही संक्षिप्त परिचय है। इसी प्रकार के नाटक यूरोप के मध्ययुग में भी विद्यमान थे जिन्हें 'मारेलिटी' के नाम से पुकारते हैं। रंग-

---

१. कलकत्ता से १८९४ में प्रकाशित।

मंच के ऊपर इन कल्पित पात्रों को लाना तथा उनके द्वारा दार्शनिक तथा धार्मिक तत्त्व दिखलाना इन नाटकों का प्रधान उद्देश्य है। यूरोप में विज्ञान-युग के प्रारम्भ होते ही ये धार्मिक नाटक नष्ट हो गये, परन्तु भारतवर्ष में ऐसे प्रतीक नाटकों की धारा अनेक शताब्दियों तक जनता का मनोरंजन तथा शिक्षण करती आयी है।

छाया नाटक

भारतवर्ष में 'छायानाटक' के आविर्भाव का समय असन्दिग्ध रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। छाया के द्वारा अभिनय-शील नाटक का प्रथम उदाहरण **मेघप्रभाचार्य** का **धर्माभ्युदय** नामक रूपक है। लेखक अपनी रचना को 'छाया-नाटक प्रबन्ध' की संज्ञा ही नहीं देता, प्रत्युत ग्रन्थ में 'पुत्रक' (पुत्तक, पुत्तलिका) का स्पष्ट उल्लेख भी करता है। इस ग्रंथ की रचना का अज्ञात समय इसे ऐतिहासिक महत्त्व से सर्वथा विहीन बना रहा है, यह बड़े खेद की घटना है। सुभट कवि का 'दूताङ्गद' निः सन्दिग्ध रूप से १३ शती के मध्यकाल की रचना है और वह प्रस्तावना में अपने को 'छायानाटक' नाम्ना अभिहित भी करता है, परन्तु लक्षण-ग्रन्थों में अव्याख्यात इस नाम का यथार्थ संकेत विद्वानों के वैमत्य का कारण बना हुआ है।

नाट्यग्रन्थों में रूपक में भेदों के 'छायानाटक' का निर्देश नहीं दिया गया है, परन्तु वस्तुतः छाया-नाटक की रचना होती रही है। छाया-नाटक से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनके पात्र वस्तुतः रङ्गमंच पर नहीं आते, बल्कि उनकी छाया ही पुतलियों के द्वारा परदे के ऊपर चलती-फिरती दिखाई पड़ती है। डा० पिशल के अनुसार छायानाटक ही नाटक का सबसे प्राचीन तथा आदिम रूप है। सुभट कवि का 'दूतांगद' ही इसका सर्व-प्रसिद्ध प्रतिनिधि है। यह नाटक अणहिलपट्टन के चालुक्य राजा त्रिभुवनपाल की सभा में वसन्तोत्सव में राजा कुमारपाल की यात्रा के अवसर पर १२४३ ई० में खेला गया था। इस प्रकार कवि का समय १३ वाँ शतक पूर्वार्ध है। उसी काल में सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी में सुभट की पर्याप्त प्रशंसा की है—

> सुभटेन पदन्यासः स कोऽपि समितौ कृतः।
> येनाधुनाऽपि धीराणां रोमाञ्चो नापचीयते॥

दूतांगद में रावण की सभा में अंगद के दौत्य का वर्णन है। कवि ने भवभूति के महावीरचरित तथा राजशेखर के बालरामायण (अत्रासीत् ५४ पद्य) के प्रसिद्ध श्लोकों को भी इसमें स्थान-स्थान पर दिया है। और इस तथ्य को कवि ने स्वयं स्वीकारा है (ग्रन्थ के अन्तिम ५६वें पद्य में)[१]। इस एकाङ्की रूपक में प्राचीन पद्यों के साथ स्वनिर्मित पद्यों को मिलाकर तथा सम्वादोपयोगी गद्यों से उन्हें जोड़कर एक सुसम्पन्न रूपक तैयार किया गया है। सुभट ने प्रस्तावना में 'छायानाटकमेतत् अभिनेतव्यम्' की तो प्रतिज्ञा की है, परन्तु अभिनय के प्रकार के विषय में उनका तथा लक्षणकर्ताओं का मौनावलम्बन हमें एक महनीय तथ्य से एकदम अपरिचित रखता है। यह

---

१. **स्वनिर्मितं किञ्चन गद्यपद्य-बन्धं कियत् प्रावतन-सत्कवीन्द्रैः।**
प्रोक्तं गृहीत्वा प्रविरच्यते स्म रसाढ्यमेतत् सुभटेन नाट्यम्॥

एकाङ्की कवि की नवीन कल्पना से भी मण्डित है। प्रसंग तो वही परिचित अंगद के दौत्य का ही है, परन्तु मायामयी सीता के द्वारा रावण के अङ्क पर प्रणयपूर्वक अवरोहण और अंगद से अयोध्या लौट जाने का कथन एकदम नवीन घटना है। उसी प्रकार चित्राङ्गद तथा हेमाङ्गद नामक गन्धर्वों के द्वारा रावणवध की सूचना के अनन्तर उसके जीवन-चरित की आलोचना भी रोचक घटना है। अंगद के द्वारा पैर रोपने की घटना का अभाव यहाँ उल्लेखनीय है। सुभट लम्बे-लम्बे पद्यों के प्रणयन में सफल कवि प्रतीत होते हैं। इस एकाङ्की का प्रभाव **नरसिंह पुराण** पर भी पड़ा है। यह उपपुराण है जो विष्णु की अनेक लीला-वर्णन के साथ अध्याय ४७-५२ में रामायण के चरित का भी संक्षेप में वर्णन करता है। ५२ वें अध्याय में अंगद के दौत्य का प्रसंग वर्णित है और यहीं पर 'दूताङ्गद' के ४ पद्य से लेकर १० पद्य (साथ में गद्य, नाटकीय संकेतों के साथ) पूर्णतया उद्धृत किये गये हैं और यह उद्धरण रचयिता की स्वीकारोक्ति के अन्तर्गत ही आता है। इससे स्पष्ट है कि मध्ययुग में इस नाटक की लोकप्रियता पर्याप्तरूपेण विस्तृत थी।

छाया-नाटक का प्रभाव जावा के रूपकों पर (जो **'बयंग'** नाम्ना अभिहित होते हैं) पंखानुपुंख रूप से पड़ा है, परन्तु भारत में उसके प्रतिनिधि रूपक उपलब्ध नहीं होते। १५ वीं शती में रायपुर के कलचुरि राजा के आश्रित व्यास **श्री रामदेव** के तीनों रूपकों **सुभद्रापरिणय, रामाभ्युदय** तथा **पाण्डवाभ्युदय**—में छाया नाटकत्व का परिचय नहीं मिलता, और न १८८२ ई० में रचित, 'छायानाटक' नाम्ना प्रचारित **'सावित्री-चरित'** (शंकरलाल रचित) में ही उसका सद्भाव है। डा० लूडर्स तथा डा० पिशल ने अनेक रूपकों को इस श्रेणी में रखने का उद्योग किया है, परन्तु वे इस विषय में सफल नहीं हो सके हैं। ध्यान देने की बात यह है कि नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में 'छायानाटक' नामक किसी भी नाट्य-प्रकार का वर्णन नहीं मिलता। इससे अनुमान लगाना असंगत न होगा कि इस प्रकार का आविर्भाव बहुत पीछे हुआ। लेखक की दृष्टि में छायानाटक लोकनाट्य का सुसभ्य संस्कृत प्रतिनिधि है। मध्यकाल के समान आजकल भी भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में थोड़ा या बहुत पुत्तली के नाच का प्रचलन है जिसमें सूत्रधार डोरा पकड़ कर पुत्तलियों को नचाता है और उनके द्वारा प्रदर्शित आख्यान का वर्णन अपनी रोचक शैली से करता है जिसे देखने के लिए दर्शकों का समूह एकत्र हो जाता है।

———

द्वादश परिच्छेद

अलङ्कार-शास्त्र

अलङ्कारशास्त्र आलोचकों की सूक्ष्म आलोचना-पद्धति का पर्याप्त सूचक है। यह शास्त्र वेदों से लेकर लौकिक ग्रन्थों के पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी उपकारिता के कारण राजशेखर ने अलङ्कार-शास्त्र को वेद का अङ्ग माना है।[1] उन्होंने साहित्य-शिक्षा को स्वतन्त्र विद्या ही नहीं माना है, उसे प्रसिद्ध चारविद्याओं—तर्क, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति——का निचोड़ स्वीकार किया है[2]। अलङ्कारशास्त्र की महत्ता नितान्त व्यक्त है। कविता में शब्द तथा अर्थ का सौन्दर्य लाने तथा उसे हृदयङ्गम बनाने में अलङ्कारशास्त्र की भूयसी उपयोगिता है।

नामकरण

इस शास्त्र का नाम है अलङ्कार-शास्त्र। यह नाम उतना समुचित न होने पर भी बहुत ही प्राचीन है। भामह ने अपने अलङ्कार——ग्रन्थ को 'काव्यालङ्कार' से पुकारा है। अतः प्राचीन नाम अलङ्कारशास्त्र है; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह उस युग का अभिधान है जब काव्य में अलङ्कार की सत्ता सबसे अधिक आवश्यक तथा उपादेय मानी जाती थी। अलङ्कार-युग ही इस शास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम युग है और इसी युग में यह नामकरण किया गया है। राजशेखर ने इस शास्त्र को 'साहित्य-विद्या' कहा है। यह नामकरण भामह के (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) काव्य-लक्षण के आधार पर दिया गया है। काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का समुचित सामञ्जस्य हो, 'साहित्य' हो। साहित्य की यह कल्पना पिछले आलङ्कारिकों ने खूब अपनाई।

कुन्तक साहित्य की कल्पना को अग्रसर करनेवालों में मुख्य हैं। **भोजराज** का 'शृंगार-प्रकाश' साहित्य की कल्पना के ऊपर ही रचित हुआ है। साहित्य-विद्या या साहित्य-शास्त्र——यह नामकरण बड़ा सुन्दर तथा युक्तियुक्त है, परन्तु यह उतना प्रसिद्ध न हो सका। बहुत प्राचीन काल में इसका नाम 'क्रियाकल्प' था। वात्स्यायन ने (कामसूत्र १।३।१६) चौसठ कलाओं के अन्तर्गत 'क्रियाकल्प' को भी एक कला मान्ता है। 'क्रिया' का अर्थ है काव्यग्रन्थ और 'कल्प' का अर्थ है विधान। इस प्रकार 'क्रियाकल्प' इस शास्त्र की प्राचीन संज्ञा है, परन्तु ये नाम प्रसिद्धि न पा सके। प्रसिद्ध नाम हुआ 'अलङ्कार-शास्त्र' ही; परन्तु अलङ्कार की कल्पना बदलती गई। **वामन** की दृष्टि में अलंकार केवल शब्द और अर्थ की शोभा करनेवाला बाह्य उपकरण मात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य को

---

१. उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तमङ्गमिति यायावरीयः ।
ऋते च तत्स्वरूपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः ।।

२. पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः ।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः ।। (काव्यमीमांसा)

रोचक बनानेवाला आन्तर धर्म है। वामन अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची मानते हैं (सौन्दर्यमलङ्कारः) । इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र काव्य के सौन्दर्य को सम्पन्न करनेवाले समस्त उपकरणो का प्रतिपादक शास्त्र है। 'अलङ्कार' शब्द का यही व्यापक अर्थ है।

प्राचीनता

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस शास्त्र की उत्पत्ति की रोचक कथा लिखी है। उनके अनुसार भगवान् शंकर ने इस शास्त्र की शिक्षा पहले-पहल ब्रह्मा जी को दी जिन्होंने इसका उपदेश अनेक देवताओं तथा ऋषियों को किया। अठारह उपदेशकों ने अठारह अधिकरणों में इस शास्त्र की रचना की। भरत ने रूपक का निरूपण किया। नन्दिकेश्वर ने रस का, धिषण ने दोष का, उपमन्यु ने गुण का निरूपण किया। पता नहीं यह वर्णन काल्पनिक है या वास्तविक। **काव्यादर्श** की टीका **हृदयङ्गमा** का कथन है कि **काश्यप** और **वररुचि** ने काव्यादर्श के पहले अलङ्कार ग्रन्थ बनाये। **श्रुतानुपालिनी** टीका ने **काश्यप, ब्रह्मदत्त** तथा **नन्दी स्वामी** का नाम दण्डी से पूर्व आलङ्कारिकों में गिनाया है। परन्तु उनके ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं होते। **अग्निपुराण** में अलङ्कारशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है, परन्तु इसकी प्राचीनता में विद्वानों को पर्याप्त सन्देह है। द्वितीय शतक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय अलङ्कारशास्त्र का उदय हो चुका था। रुद्रदामन् के शिलालेख की भाषा ही अलङ्कार-पूर्ण नहीं है, बल्कि उसमें अलङ्कारशास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का भी निर्देश है। काव्य के गद्य और पद्य दो भेद थे। गद्य को स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार होना आवश्यक था। यहाँ काव्यादर्श में वर्णित प्रसाद,माधुर्य, कान्ति और उदारता गुणों का स्पष्ट निर्देश है। **हरिषेण** ने समुद्रगुप्त को 'प्रतिष्ठित कवि-राज-शब्द' लिखकर अलङ्कारशास्त्र की सत्ता की ओर संकेत किया है। वह शास्त्र इससे भी प्राचीन है। पाणिनि ने **कृशाश्व** तथा **शिलालि** के द्वारा निर्मित नटसूत्रों का नामनिर्देश किया है[1]। **यास्क** के पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमा का बड़ा ही वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत किया है (अर्थात् उपमा यद् अतत् तन्-सदृशमिति गार्ग्यः) । निरुक्त ने उपमा के उदाहरण में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों को उद्धृत किया है। भरत के नाट्यशास्त्र के अनन्तर तो इस शास्त्र का अनुशीलन स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में बहुलता से होता रहा। यहाँ इस शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास तथा नाना अलंकार-संप्रदायों के सिद्धान्तों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शास्त्र के आचार्य

भरत

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नट-सूत्रों का उल्लेख किया है[1]। नट-सूत्रों से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जिनमें रंगमंच पर नटों के खेलने, वस्त्र धारण करने तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का विधान रहता है। पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट नटसूत्र आजकल उपलब्ध नहीं हैं। आजकल नाट्य तथा अलंकारविषयक

---

१. **पराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः** (४।३।११०)
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (४।३।१११)

उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ **भरत**-रचित **नाट्यशास्त्र** है। इस ग्रन्थ को हम भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोष कह सकते हैं; क्योंकि इसमें नाट्य की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक अलंकारशास्त्र, संगीत-शास्त्र, छन्दःशास्त्र आदि शास्त्रों के मूल सिद्धान्त का भी प्रतिपादन हम पाते हैं। ग्रन्थ में ३६ अध्याय हैं तथा ५ सहस्र श्लोक हैं, जो अधिकतर अनुष्टप् ही हैं। केवल छठें,सातवें तथा २८ वें अध्याय में कुछ अंश गद्यात्मक भी हैं। नाटचशास्त्र एक ही काल की रचना नहीं है, प्रत्युत अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का सुन्दर फल है। नाटचशास्त्र में तीन अंश विद्यमान हैं—(१) सूत्र-भाष्य= यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूलग्रन्थ में सूत्र तथा भाष्य ही थे जिसमें विकास होने पर अन्य अंश सम्मिलित कर दिये गये। (२) कारिका; मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिए इन कारिकाओं की रचना की गई। (३) अनुवंश्य श्लोक, गुरु-शिष्य-परंपरा से आनेवाले प्राचीन पद्य, जो आर्या अथवा अनुष्टुप् में निबद्ध हैं। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये पद्य भरतमुनि से भी प्राचीनतर आचार्यों के द्वारा रचित हैं[1]। अपने सूत्रों की पुष्टि में भरत ने इन्हें इस ग्रन्थ में संग्रहीत किया है।

भरत रस सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनकी सम्मति में नाटक में रस की ही प्रधानता रहती है। अलंकारशास्त्र का विवेचन आनुषंगिक रूप से ६, ७, १६ अध्यायों में किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना का निश्चित समय अभी तक अज्ञात है, परन्तु यह ग्रन्थ कालिदास से प्राचीन ही है। कालिदास विक्रमोर्वशीय में (२।१७) भरत का देवताओं के नाटचाचार्य के रूप में उल्लेख करते हैं और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनय किये जाने का निर्देश करते हैं। कालिदास से प्राचीनतर होने से भरत मुनि का समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से उतर कर नहीं हो सकता। मूल सूत्रों का समय तो और भी प्राचीन है।

भामह

भरत के अनन्तर अनेक शताब्दियाँ हमारे लिए अंधकारपूर्ण प्रतीत होती हैं; क्योंकि इस समय के आलंकारिकों के नाम तथा काम से हम बिल्कुल अपरिचित हैं। भामह का **काव्यालंकार** ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है, जिसमें अलंकारशास्त्र नाटचशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को उन्मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों में **मेधाविरुद्र** का नाम निर्दिष्ट मिलता है; परन्तु इनकी रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। भामह का ग्रन्थ भी अभी हाल ही में उपलब्ध हुआ है। भामह के पिता का नाम था रक्रिल गोमी। ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के विषय में विद्वानों का बड़ा मतभेद था, परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में 'प्रत्यक्ष' का लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग

---

१. **ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः॥** (अभिनवभारती, अध्याय ६)

२. **मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।**

के अनुसार दिया है, धर्मकीर्ति के अनुसार नहीं। इससे इनका समय इन दोनों आचार्यों के बीच षष्ठ शतक का मध्यभाग मानना उचित होगा।

भामह के ग्रन्थ का नाम '**काव्यालंकार**' है। इसमें ६ परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में काव्य से साधन, लक्षण तथा भेदों का वर्णन है। दूसरे तथा तीसरे में अलङ्कारों का विशिष्ट वर्णन है। चौथे परिच्छेद में भरत-प्रदर्शित दश दोषों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है, जिसमें 'न्याय-विरोधि दोष' की मीमांसा पूरे पंचम परिच्छेद में की गई है। छठे परिच्छेद में कतिपय विवादास्पद पदों के शुद्धरूप का विवेचन किया गया है। इस प्रकार छः परिच्छेदों तथा चार सौ श्लोकों में अलङ्कार-शास्त्र के समस्त महनीय तथ्यों का यहाँ समावेश किया गया है। भामह के सिद्धान्त समस्त आलङ्कारिकों को मान्य हैं। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं—(क) शब्द-अर्थ युगल का काव्य होना—**शब्दार्थो काव्यम्।** (ख) भरतप्रतिपादित दश गुणों का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद—इन गुणत्रय के भीतर ही समावेश। (ग) 'वक्रोक्ति' का समस्त अलङ्कारों का मूल होना, जिसका चरम विकास **कुन्तक** की **वक्रोक्तिजीवित** में दीख पड़ता है। (घ) दश-विध दोषों का सुन्दर विवेचन।

दण्डी

इनके जीवन-चरित तथा समय का विवेचन गद्य-काव्य के अवसर पर किया जा चुका है। इनका 'काव्यादर्श' पण्डितों में सदा लोकप्रिय रहा है। इसी का अनुवाद कन्नड़ भाषा की प्राचीन पुस्तक 'कविराज-मार्ग' में, सिंघली ग्रन्थ 'सियवस-लकर' (स्वभाषालङ्कार) में तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। इससे इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि की पर्याप्त सूचना मिलती है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, विस्तृत भेद, वैदर्भी तथा गौड़ी रीति, दश गुणों का विस्तार के साथ वर्णन है। दूसरे परिच्छेद में ३५ अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण सुन्दर रूप से दिये गये हैं। दण्डी ने उपमा अलङ्कार के अनेक प्रकार दिखलाये हैं। तीसरे परिच्छेद में शब्दालङ्कारों का विशेषतः यमक अलङ्कार का व्यापक वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में दशविध दोषों का लक्षण तथा उदाहरण है। दण्डी ने भामह के सिद्धान्त का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है। ये अलङ्कार-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर वैदर्भी और गौडी रीतियों के पारस्परिक भेदों को प्रथम बार स्पष्टतः दिखलाने का श्रेय इन्हें प्राप्त है। इस प्रकार ये रीति-सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

वामन

वामन के ग्रन्थ में रीति-सम्प्रदाय का चरम उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। ये रीति को काव्य के आत्मा माननेवाले महनीय आलङ्कारिक हैं—**रीतिरात्मा काव्यस्य।** इनके ग्रन्थ का नाम '**काव्यालंकार-सूत्र**' है जिसमें इन्होंने अलङ्कार-शास्त्र के समय सिद्धान्तों का विवेचन सूत्रों में किया है और उन सूत्रों के ऊपर स्वयं वृत्ति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१९ है। ग्रन्थ में कुल पाँच परिच्छेद या अधिकरण हैं। प्रथम (शरीर) अधिकरण में काव्य के प्रयोजन; रीति तथा वैदर्भी गौड़ी, पाचांली रीतियों का वर्णन है। द्वितीय (दोषदर्शन) अधिकरण में पद; वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष प्रतिपादित हैं।

तृतीय (गुण-विवेचन) में दश गुणों के शब्दगत तथा अर्थगत होने से बीस भेद बतलाये गये हैं। चतुर्थ (आलङ्कारिक) में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का लक्षण तथा उदाहरण है। अन्तिम अधिकरण में कतिपय शब्दों की शुद्धि तथा प्रयोग की बात कही गई है। काव्यालंकार के प्राचीन टीकाकार '**सहदेव**' का कथन है कि वामन का यह ग्रन्थ किसी कारण से नष्ट हो गया था जिसका उद्धार **मुकुलभट्ट** ने दशम शतक के आरम्भ में किया।

वामन काश्मीर-नरेश जयपीड के मन्त्री थे :—

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमाँस्तथा।
बभूवुः कवयः तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

जयापीड का समय अष्टम शतक का अन्तिम भाग है। वामन का भी यही समय है। वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। रीति को काव्य की आत्मा जैसे सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(क) गुण और अलङ्कार का परस्पर विभेद; (ख) वैदर्भी, गौडी तथा पंचाली त्रिविध रीतियाँ; (ग) वक्रोक्ति का विशिष्ट लक्षण (सादृश्यात् लक्षणावक्रोक्तिः); (घ) विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण; (ङ) आक्षेप की द्विविध कल्पना; (च) समस्त अर्थालङ्कारों को उपमा-प्रपंच के भीतर मानकर उनका विस्तार दिखलाना।

उद्भट

ये वामन के समकालीन थे। जयापीड की सभा के ये सभापति थे। कल्हण पण्डित का तो कहना है कि इनका प्रतिदिन का वेतन एक करोड़ दीनार (स्वर्णमुद्रा) था[1]। यदि यह बात बिल्कुल सत्य हो तो उद्भट सचमुच बड़े भारी धनाढ्य और भाग्यशाली व्यक्ति होंगे। एक ही राजा के आश्रय में रहने पर भी वामन और उद्भट साहित्य के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धी प्रतीत होते हैं। वामन रीति-सम्प्रदाय के उन्नायक थे, तो उद्भट अलङ्कार सम्प्रदाय के पृष्ठपोषक। दोनों ही अपने विषय के मौलिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता आराधनीय आचार्य हैं। इन्होंने भामह के ग्रन्थ पर '**भामह-विवरण**' नामक व्याख्याग्रन्थ लिखा था जिसका निर्देश लोचन आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अधूरा ही उपलब्ध हुआ है तथा रोम विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

उद्भट की कीर्ति '**काव्यालङ्कारसारसंग्रह**' नामक ग्रन्थ के ऊपर ही अवलम्बित है। इस ग्रन्थ में ६ वर्ग हैं जिनमें ७९ कारिकाओं के द्वारा ४१ अलङ्कारों का वर्णन है। ग्रन्थ का विषय अलङ्कार ही है। इसकी टीका **मुकुलभट्ट** के शिष्य **प्रतिहारेन्दुराज** (९५० ई०) ने की है। भामह के समान अलङ्कार-सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी ये भामह से अनेक सिद्धान्तों में भिन्नता रखते हैं। इसके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(क) अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना (अर्थभेदेन तावत् शब्दा भिद्यन्ते)। (ख) शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष भेद से श्लेष के दो प्रकार और दोनों का अर्थालंकार होना। इसका विशिष्ट खण्डन मम्मट ने नवम उल्लास में किया है। (ग) अन्य अलंकारों के योग में

---

१. **दीनारशतलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।**
भट्टोऽभूत् उद्भटः तस्य भूमिभर्तुः सभापति.॥ **(राजतरङ्गिणी** ४।४९५)

श्लेष की प्रबलता। (घ) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा-व्यापार। (ङ) अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित-रमणीय। (च) गुणों को संघटना का धर्म मानना।

रुद्रट

ये कश्मीर के रहनेवाले थे। राजशेखर (९३० ई०) ने काव्यमीमांसा में इनके नाम का निर्देश 'काकु-वक्रोक्ति' को शब्दालंकार मानने के अवसर पर किया है—**काकु-वक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः**। इससे स्पष्ट है कि ये ९०० ई० से प्राचीन हैं। इनका ग्रन्थ **काव्यालंकार** विषय की दृष्टि से अतीव व्यापक है और इसमें अलङ्कार-शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की गई है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कविसामग्री के अनन्तर अलङ्कार का विस्तृत तथा सुव्यवस्थित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। भाषा, रीति, रस तथा वृत्ति की मीमांसा होने पर भी अलङ्कारों की समीक्षा ही ग्रन्थ का मुख्य वर्ण्य विषय है। पद्यों की संख्या ७३४ है। सब उदाहरण रुद्रट की निजी रचनायें हैं।

रुद्रट अलङ्कार-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। अलङ्कारों की व्यवस्था करना ग्रन्थ का उद्देश्य है। रुद्रट ने पहले पहल अलङ्कारों का वैज्ञानिक विभाग किया। उन्होंने अलंकारों के लिए चार मूल तत्त्व खोज निकाले:—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। भामह और उद्भट के द्वारा व्याख्यात अनेक अलङ्कारों को रुद्रट ने छोड़ दिया है और कहीं-कहीं उनके लिए नये नामों का निर्देश किया है। यथा—रुद्रट का व्याजश्लेष (१०।११) भामह की 'व्याजस्तुति' है; 'जाति' मम्मट की स्वभावोक्ति है, 'पूर्व' अलङ्कार अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। कहीं-कहीं इन्होंने नये अलङ्कारों की भी कल्पना की है। रसों का भी इन्होंने विस्तार के साथ वर्णन किया है; पर इनका आग्रह अलङ्कार के ऊपर ही है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन का नाम साहित्यशास्त्र के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्होंने ध्वन्यालोक लिखकर इस शास्त्र के सिद्धान्त को सदा के लिए आलोकित कर दिया। **'ध्वन्यालोक'** एक नवीन युग का उत्पादक ग्रन्थ है। अलङ्कार-शास्त्र में इसका वही स्थान है जो वेदान्त में वेदान्तसूत्रों का। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन शक्ति तथा गूढ़ विषय-ग्राहिता का परिचय मिलता है। रसगङ्गाधर का कथन बिल्कुल ठीक है कि ध्वनिकार ने साहित्यशास्त्र के मार्ग को परिष्कृत बना दिया (**ध्वनिकृताम् आलङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्**)। आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) के सभा-पण्डित थे:—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

ध्वन्यालोक में तीन अंग हैं—(१) कारिका= १२९ कारिकायें, (२) वृत्ति (कारिकाओं की गद्यात्मक विस्तृत व्याख्या), (३) उदाहरण। इनमें उदाहरण ग्रन्थकार के पद्यों के साथ नाना प्राचीन ग्रन्थों से भी उद्धृत किये गये हैं। प्रथम दो अंशों

की रचना के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग आनन्द को वृत्तिकार ही मानते हैं। कारिकाकार को उनसे पृथक् स्वीकार करते हैं, परन्तु वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही कारिका और वृत्ति दोनों की रचना की। इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि-विरोधी मतों की समीक्षा है। दूसरे और तीसरे में ध्वनि के प्रकारों का विवेचन है। चतुर्थ में ध्वनि की उपयोगिता का विवेचन है। आनन्द के लिखने की शैली बड़ी ही प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा रोचक है। ये कवि भी थे जिन्होंने 'अर्जुन-चरित', 'विषमबाणलीला' तथा 'देवीशतक' जैसे प्रौढ़ काव्यों की रचना भी की है, परन्तु आनन्द की विपुल कीर्ति ध्वन्यालोक के ऊपर ही अवलम्बित रहेगी। राजशेखर का कथन बिलकुल ठीक है :—

ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्य-तत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नाऽऽसीदानन्दवर्धनः॥

आनन्दवर्धन की महती विशेषता ध्वनिविरोधियों के सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन कर ध्वनि तथा व्यंजना की स्थापना है। इनके पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—(क) अभाववाद (ख) भक्ति (लक्षणा) वाद, (ग) अनिर्वचनीयतावाद। इन तीनों का मुंहतोड़ उत्तर देकर आनन्द ने व्यंजना की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की और ध्वनि के प्रकारों का पहली बार विवेचन किया। इस ग्रन्थ का प्रभाव अवान्तर ग्रन्थकारों के ऊपर बहुत पड़ा। ध्वनि-सम्प्रदाय की उत्पत्ति यहीं से हुई।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त भारतीय आलोचनाशास्त्र के इतिहास में एक महनीय गौरवशाली आचार्य हैं, जिनकी आलोचना का प्रभाव आज भी भारत के आलोचना-विषयक चिन्तन पर अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। ये काश्मीर के शैवाचार्यों में अन्यतम थे और प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के मौलिक आचार्य होने के कारण ये 'परम-माहेश्वराचार्य' की उदात्त पदवी से मण्डित किये जाते हैं। ये मूलतः दार्शनिक थे। कश्मीर में प्रतिष्ठित होने वाले त्रिक या प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के ये मान्य आचार्य थे, तदनन्तर ये भारतीय साहित्यशास्त्र के उदात्त आलोचक तथा व्याख्याकार भी थे। इनके दार्शनिक ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ दो ग्रन्थ-रत्न हैं—**'तन्त्रालोक'** जो वास्तव में तन्त्र-सिद्धान्तों का एक गौरवशाली विश्वकोष है तथा **'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी'** जो उनके परमगुरु **उत्पलाचार्य** के प्रौढ़ ग्रन्थ **'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'** की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। इसी प्रकार साहित्य-जगत् में ये अपनी दो अभिनव कृतियों से सर्वदा स्मरणीय रहेंगे, जो लिखी तो गई है व्याख्यारूप में ही, परन्तु यथार्थतः वे मौलिक ग्रन्थ ही हैं। इनकी इस **विमर्शिनी** टीका का रचनाकाल ९० लौकिक संवत्, अर्थात् १०१५ ईस्वी है। यही इनका अन्तिम ग्रन्थ प्रतीत होता है। इससे इनका आविर्भाव-काल दशम शती का अन्त तथा एकादशी शती का आरम्भ निश्चयरूपेण प्रतीत होता है। इनकी साहित्यिक रचनाओं में **ध्वन्यालोक-लोचन** तो आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की टीका है तथा **अभिनव-भारती** भरतनाट्यशास्त्र का प्रौढ़ व्याख्यान है।

अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आलोचक हैं। इनकी आलोचना शैव-दर्शन के मूल तत्त्वों पर आश्रित होने वाली एक विशिष्ट काव्य-समीक्षा है। उनसे प्राचीन भरत-नाट्य-

शास्त्र के व्याख्याताओं ने रसप्रक्रिया की पद्धति स्वसिद्धान्तानुसार स्वीकृत की है। अभिनवगुप्त ने रसप्रक्रिया को व्यञ्जना-शक्ति के ऊपर आश्रित बताया है। उनके द्वारा व्याख्यात तथा विवेचित रसप्रक्रिया अपनी वैज्ञानिकता के कारण भारतीय आलोचना-शास्त्र में सर्वत्र समादृत हुई है और आजकल वही मान्य समझी जाती है। उसके कतिपय तथ्यों का यहाँ संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जाता।

इस रसप्रक्रिया का मुख्य तत्त्व है **साधारणीकरण**। कवि के द्वारा वर्णित विषय विशेष रूप में ही विद्यमान होते हैं, परन्तु उनके विशिष्ट स्वरूप को अङ्गीकृत करने पर रस का उन्मेष कथमपि सिद्ध नहीं होता। इसलिए रसोन्मेष के निमित्त साधारणीकरण नितान्त अपेक्षित होता है। इनके पूर्ववर्त्ती आलोचक भट्टनायक ने 'भावकत्व' नामक अभिनव काव्य-व्यापार को स्वीकृत कर काव्य में साधारणीकरण की व्याख्या प्रस्तुत की थी, परन्तु अभिनव की दृष्टि से साधारणीकरण ललितकला के क्षेत्र में सामान्य-रीत्या स्वतः नैसर्गिकरूपेण आविर्भूत होनेवाला तत्त्व है। उसके लिए अभिनव शब्द-व्यापार का स्वीकरण कथमपि आवश्यक तथा अनिवार्य नहीं होता। साधारणीकरण का अर्थ है कि काव्य में वर्णित पदार्थ अपने विशिष्ट रूप का परिहार कर साधारण रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं।

'अभिज्ञानशकुन्तल' नाटक में शकुन्तला किसी ऐतिहासिक तथा विशिष्ट देश-कालावच्छिन्न नायिका का प्रतिनिधित्व नहीं करती, प्रत्युत वह एक सामान्य सुन्दरी के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। तभी उसमें शृंगार रस के आलम्बन होने की क्षमता उत्पन्न होती है। नहीं तो किसी प्राचीन युग की अतीत नायिका के विवरण से वर्तमान काल के श्रोता तथा द्रष्टा का तादात्म्य ही क्योंकर सम्भव प्रतीत हो सकता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में साधारणीकरण पूर्ण तथा सर्वांगीण होता है। यह केवल आलम्बन तथा उद्दीपन का ही न होकर रस के अनुभवकर्ता सहृदय का भी साधारणीकरण है। काव्य का श्रोता अथवा नाटक का द्रष्टा सामाजिक रसानुभूति के अवसर पर यह नही समझता कि वही केवल उस समय उस रस का अनुभव अकेले ही कर रहा है, प्रत्युत वह समस्त अनुभवकर्ताओं को उस रसानुभूति का आनन्द उठानेवाला मानता है।

अभिनवगुप्त के मत में रसप्रक्रिया का दूसरा महनीय तत्त्व है **वासना**। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसका आलोचना-जगत् में आविष्करण अभिनव की प्रौढ़ काव्य-समीक्षा का स्पष्ट प्रमाण है। इस मत में न तो अनुकार्य में रस की प्रतीति होती है, न अनुकर्ता नट-आदिकों में, प्रत्युत अनुभवकर्ता सहृदयों में ही रस का उन्मेष होता है।' 'सहृदय' से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जिनका मनोमुकुर काव्य के अनुशीलन से इतना स्वच्छ हो जाता है कि वे वर्ण्य विषय में तन्मय हो जाते हैं—उसके साथ सामरस्य स्थापित कर लेते हैं। जन-समाज का प्रतिनिधि होने से वही 'सामाजिक' नाम से भी अभिहित किये जाते हैं। मनोविज्ञान का यह विश्रुत सिद्धान्त है कि भय, क्रोध, उत्साह, रति, जुगुप्सा आदि मनोविकार जो जीवन में स्थायी होने के कारण स्थायीभाव के नाम से पुकारे जाते हैं प्रत्येक मानव हृदय में वासना रूप से स्थित तथा वर्तमान रहते हैं। काव्य के श्रवण से अथवा अभिनय के दर्शन से स्थायीभाव, जो वासना रूप में वर्तमान

रहते हैं, जाग्रत रूप में उद्बुद्ध होकर चेतना के स्तर पर आ जाते हैं जिससे रस का उन्मेष होता है। अत एव मानव के 'अवचेतन' मानस में वासना रूप में स्थित होनेवाले इन भावों की सत्ता स्वीकार करने के हेतु अभिनवगुप्त की रसप्रक्रिया वैज्ञानिक तथा सार्वभौम मानी जाती है।

अभिनवगुप्त की रसप्रक्रिया का तृतीय महत्त्वपूर्ण तत्त्व है **संविद्-विश्रान्ति।** सच्चा आनन्द आत्मस्वरूप की अनुभूति पर होता है। जब कभी आत्मस्वरूप का पूर्ण स्वभाव प्रकाशित होता है और आत्म-परामर्श सम्पन्न होता है, तभी पूर्ण आनन्द का अनुभव होता है। क्षुधातुर मनुष्य अन्न की रिक्तता का अनुभव करता है, इसलिए वह आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। पेट भर भोजन मिल जाने से यह रिक्तता कुछ काल के लिए अवश्य हट जाती है और उतनी देर के लिए व्यक्ति आनन्द या सुख का अवश्य अनुभव करता है, परन्तु थोड़ी ही देर में एक दूसरी रिक्तता आ जाती है जिसके अपसारण की ओर उस व्यक्ति का ध्यान जाता है। यह आनन्द का सविशेष रूप हुआ। यह काव्यानन्द नहीं है। काव्यानन्द में विषयावर्जन का सर्वथा अभाव होता है। इसीलिए काव्यानन्द की प्रतीति विघ्न से विरहित होने के कारण 'वीतविघ्ना' कही जाती है। इसमें विषयों के अर्जन-विसर्जन की प्रवृत्ति विद्यमान नहीं रहती, इसमें एकनिष्ठता आ जाती है। बाह्य विषयों की ओर कथमपि प्रवृत्ति नहीं होती और सहृदय के मानस पर आभ्यन्तर विषय अपने पूर्ण साधारणीकृत रूप में अभिव्यक्त होता है। इससे इसके आनन्दात्मक रूप की पूर्ण अभिव्यंजना होती है। इस व्यापार में शब्द की न तो अभिधा कार्यशील होती है और न लक्षणा गतिमान् होती है, प्रत्युत व्यंजना शक्ति के द्वारा ही शब्द रस की प्रतीति कराने में समर्थ होता है।

अभिनवगुप्त की आलोचना का महत्त्वपूर्ण तत्त्व यही है—रसप्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक व्याख्या। इसके अतिरिक्त इन्होंने भरतमुनि के 'अनुकरण तत्त्व' की भी मीमांसा की है। भरत जब नाट्य को लोक-वृत्तानुकरण कहते हैं, तब उनका तात्पर्य लोकवृत्त का आँखें मूँदकर गतानुगतिक अनुकरण नहीं होता, यह यान्त्रिक अनुकरण नहीं होता, प्रत्युत कल्पनाप्रसूत सजीव अनुकरण होता है, जिसकी संज्ञा 'अनुव्यवसाय' है। इसीलिए अभिनव भरत के तात्पर्य को प्रकट करने के निमित्त सूत्ररूप में कहते हैं :—

"तदिदम् अनुकीर्तनम् अनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम्"।

कवि की रचना प्रजापति की रचना से भी अनेक अंशों में श्रेष्ठ होती है। इसका संकेत अभिनव गुप्त के ही अनुयायी आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश के मंगल श्लोक में इस प्रकार किया है —

> नियतिकृतनियमरहिताम् आल्हादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
> नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती कवेर्भारती जयति ॥

इस प्रकार अभिनव गुप्त भारतीय आलोचना-शास्त्र के उदात्त मौलिक आचार्यों में अन्यतम थे—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

ध्वनिविरोधी आचार्य

इन दोनों माननीय आचार्यों के द्वारा ध्वनि की स्थापना होने पर भी इसके दो बड़े विरोधी आचार्यों ने नवीन ग्रन्थों की रचना की। दोनों प्रायः समकालीन ही थे। एक का नाम है कुन्तक तथा दूसरे का महिमभट्ट। दोनों कश्मीर के निवासी थे और दोनों ने एकादश शतक के आरम्भ में अपने ग्रन्थ बनाये। **कुन्तक** के ग्रन्थ का नाम है **'वक्रोक्ति-जीवित'**। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है, परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचनशैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं, जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्यभङ्गी-भणिति' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से विलक्षण कहने का ढंग। इसी काव्य-तत्त्व के अन्तर्गत ध्वनि का भी समावेश किया गया है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है, परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप में विकसित करना कुन्तक की निजी विशेषता है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्य-तत्त्व को सम्मिलित कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उस पर साहित्य का मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

महिमभट्ट का ग्रन्थ **'व्यक्तिविवेक'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तीन विमर्श हैं। ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि को अनुमान का ही प्रकार बतलाना है। इसके अनुसार ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है, बल्कि अनुमान का ही भेद है। महिमभट्ट का यही सिद्धान्त है, जिसे प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया। ग्रन्थ के प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। दूसरे विमर्श में अर्थ-विषयक अनौचित्य का विवेचन है। अन्तरङ्ग अनौचित्य से अभिप्राय रस-दोष से है और बहिरङ्ग अनौचित्य पाँच प्रकार का है। मम्मट ने यद्यपि महिमभट्ट का खण्डन किया है, पर अनौचित्य-विषयक उनके समस्त सिद्धान्त को अपने दोष-प्रकरण में भली-भाँति अपनाया है।

धनंजय—धनंजय भी रस की निष्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं। व्यंजनावाद के खण्डन करने के कारण ये भी ध्वनि-विरोधियों में अन्यतम हैं। धनंजय और इनके भाई धनिक दोनों धारा के विद्याप्रेमी विद्वान् राजा मुंज (९७४–९९४ ई०) के दरबारी पण्डित थे। इसी समय धनंजय ने **'दशरूपक'** की रचना की, जिस पर **धनिक** ने **'अवलोक'** नामक टीका मुंजराज के उत्तराधिकारी सिंधुराज (ई० ९९४–१०१८) के शासनकाल में लिखी। इसके पहले इन्होंने **'काव्यनिर्णय'** नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की थी। दशरूपक नाट्य के आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादक है। इसमें चार प्रकाश हैं और लगभग ३०० कारिकायें हैं। प्रथम प्रकार में वस्तुनिर्देश, द्वितीय में नायक-वर्णन, तृतीय में रूपक-भेद और चतुर्थ में रस-निरूपण है। रस-सिद्धान्त में इनका अपना विशिष्ट मत है, जो भट्टनायक के मत से अधिक साम्य रखता है।

भोजराज—भोजराज (१०१८–५६ ई०) रचित दो विशालकाय अलंकार ग्रन्थ हैं—**'सरस्वती-कण्ठाभरण'** तथा **'शृंगार-प्रकाश'**। ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण हैं। पहले में अलंकार, गुण, दोष का विस्तृत विवेचन है तो दूसरे में रस का निरू-

पण बड़े ही व्यापक तथा मार्मिक ढङ्ग से किया गया है। भोजराज का मत है कि शृंगार रस ही सब रसों का मूलभूत आदिम प्रकृत रस है; अन्य रस इसी के विकारभाव हैं। इस मत का निर्देश पिछले ग्रन्थकारों ने भली-भाँति किया है। रसों के वैज्ञानिक प्रकार प्रस्तुत करने में भोज ने अपनी सूक्ष्म विवेचनशक्ति दिखलाई। सरस्वती-कण्ठाभरण तो बहुत दिनों से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, परन्तु शृंगारप्रकाश आज भी पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया।

ध्वनिमार्ग के आचार्य

ध्वनिविरोधियों के मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने इतने सुचारु रूप से किया कि उनके अनन्तर किसी को ध्वनि के विरोध करने का साहस न रहा। इसी कारण **मम्मट** को 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि दी गई। ये भी कश्मीर के ही निवासी थे। सुनते हैं कि 'महाभाष्य-प्रदीप' के रचयिता कैयट तथा वेदभाष्यकार उव्वट इनके अनुज थे। भोजराज की दानशीलता की इन्होंने प्रशंसा की है। अतः इनका समय एकादश शतक का उत्तरार्ध है। मम्मट बड़े भारी विद्वान् थे। ये बहुश्रुत वैयाकरण प्रतीत होते हैं। लेखन-शैली सूत्रात्मक है। तभी तो इनका ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' विपुल टीकाओं के होने पर भी आज भी वैसा ही दुर्गम बना हुआ है।

काव्यप्रकाश के तीन अंश हैं—कारिका (१४२ कारिकायें), वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण। कुछ कारिकायें भरत से भी ली गई हैं। समग्र कारिकायें भरत मुनि के द्वारा निर्मित हैं—यह प्रवादमात्र है। मम्मट ही दोनों (कारिका तथा वृत्ति) के रचयिता हैं। इसमें दस उल्लास हैं जिनमें क्रमशः काव्य-स्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनि-भेद, गुणीभूत व्यङ्ग्य, चित्र-काव्य, दोष, शब्दालंकार, तथा अर्थालंकार का विवेचन है। यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ़, सारगर्भित तथा पाण्डित्य-पूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं है। इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। इसीलिए विश्वनाथ कविराज जैसे मौलिक ग्रन्थों के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा माना। दशम उल्लास के परिकर अलंकार तक ग्रन्थ मम्मट की रचना है। अगला भाग **अल्लट** नामक किसी काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर ग्रन्थ पूरा किया।

क्षेमेन्द्र—मम्मट के समकालीन आलंकारिक क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों में हमें अनेक मौलिक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। ये भी कश्मीरी के ही निवासी थे और मम्मट के समान ही एकादश शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। महाकवि होने के नाते इनका विस्तृत वर्णन महाकाव्य के प्रसंग में किया जा चुका है। इनका **'सुवृत्त-तिलक'** छंदःशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें छंदविषयक अनेक मौलिक बातें प्रस्तुत की गई हैं। **'कविकण्ठाभरण'** में काव्य के बाह्य साधनों की विशिष्ट चर्चा है, परन्तु इनकी सबसे मौलिक कृति है—**'औचित्यविचारचर्चा'** जिसमें औचित्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की विस्तृत समीक्षा की गई है। औचित्य रस का प्राणभूत है। वह अनेक प्रकार का है। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाच्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, करण, लिङ्ग आदि के साथ भली-भाँति दिखला कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य की महत्ता अच्छे ढंग से दिखलाई है।

रुय्यक––ये भी काश्मीर के निवासी थे। ये काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८–४९ ई०) के सान्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के गुरु थे। इसलिये इनका समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग है। उनकी प्रसिद्ध रचना '**अलंकार-सर्वस्व**' है, जिसमें ७५ अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों का पाण्डित्यपूर्ण वर्णन है। इनकी समीक्षा मम्मट की समीक्षा से कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इसके ऊपर **जयरथ** तथा **समुद्रबन्ध** की पाण्डित्यपूर्ण टीकायें हैं।

हेमचन्द्र––(१०८८–११७२ ई०) इन्होंने अलंकार के ऊपर भी ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम है '**काव्यानुशासन**'। इसके ऊपर उन्होंने वृत्ति भी लिखी है। इसमें आठ परिच्छेद हैं, जिसमें अलंकार शास्त्र के तथ्यों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ में मौलिकता बहुत ही कम है। प्राचीन ग्रन्थों से संकलन ही अधिक है।

विश्वनाथ कविराज––ये उत्कल के राजा के सान्धिविग्रहिक थे। इनका कुल पाण्डित्य के लिये नितान्त प्रसिद्ध था। इनके पिता **चन्द्रशेखर** रचित '**पुष्प-माला**' और '**भाषार्णव**' उपलब्ध हैं। इनके पितामह के कनिष्ठ भ्राता **चण्डीदास** ने काव्यप्रकाश पर **दीपिका** नामक विख्यात टीका लिखी। विश्वनाथ ने गीतगोविन्द तथा नैषध से श्लोक उद्धृत किये हैं। देहली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी को एक श्लोक में निर्दिष्ट किया है (४।१४)[1] अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ ई० में हुई। अतः इनका समय १४ वें शतक का मध्यभाग मानना (१३००–१३५० ई०) उचित है। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है— '**साहित्यदर्पण**', जिसमें दश परिच्छेदों में काव्य तथा नाट्य दोनों का विवेचन बड़े ही सरस तथा सरल ढंग से किया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढ़ता इस ग्रन्थ में नहीं है। विश्वनाथ आलंकारिक की अपेक्षा कवि अधिक थे। यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है और अलंकार-शास्त्र के मूल सिद्धान्तों के जिज्ञासु छात्रों के लिये नितान्त उपयोगी है।

पण्डितराज जगन्नाथ––इनके जीवनचरित का परिचय गीतिकाव्य के प्रसंग में पहले दिया जा चुका है। इनका 'रस-गङ्गाधर' साहित्य-शास्त्र का मर्मप्रकाशक ग्रन्थ है। पण्डितराज जिस प्रकार प्रतिभाशाली कवि थे उसी प्रकार अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न पण्डित भी थे। ग्रन्थ तो अधूरा ही है, परन्तु इन्होंने जो कुछ लिखा है उसे सोच-विचार कर पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण भी उन्होंने नये-नये जमाये हैं। रसनिरूपण के अवसर पर इन्होंने नवीन समीक्षायें की हैं। सब प्रकार से यह ग्रन्थ उपादेय है। शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक हैं।

अब तक प्रमुख आलंकारिकों का सामान्य परिचय दिया गया है। इतर आलंकारिकों का निर्देशमात्र अब किया जा रहा है।

(क) **राजशेखर** (९१० ई०)––इनकी '**काव्यमीमांसा**' में कवि-शिक्षा का ही विषय प्रधान है। (ख) **मुकुलभट्ट** (९२० ई०)—इनकी '**अभिधावृत्ति-मातृका**' में अभिधा और लक्षणा की समीक्षा है। इसका खण्डन काव्यप्रकाश में यत्र-तत्र किया

---

१. **सन्धौ सर्वस्व-हरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।**
अलावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

गया है। (ग) **वाग्भट्ट** (१५ शतक का पूर्वार्द्ध)---इनका '**वाग्भटालंकार**' अलंकार का ग्रन्थ है जिसमें दोष, गुण, वृत्ति, रस तथा अलंकारों का सरल विवेचन है। (घ) **रामचन्द्र** तथा **गुणचन्द्र** की सम्मिलित रचना '**नाट्य-दर्पण**' है, जिसमें नाटक के तथ्यों का उपादेय वर्णन है। (ङ) **शारदातनय** (१३ शतक) का '**भावप्रकाशन**' नाट्यशास्त्र का ही ग्रन्थ है। इसके अधिकरणों में रस तथा भाव का बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। 'जयदेव' का चन्द्रालोक, विद्याधर की एकावली, 'विद्यानाथ' का प्रतापरुद्र-यशोभूषण 'कवि-कर्णपूर' का अलंकारकौस्तुभ, 'अप्पय दीक्षित' का कुवलयानन्द अलंकारशास्त्र के अन्य माननीय ग्रन्थ हैं। इस प्रकार अलंकारशास्त्र के विषय में ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति ईस्वी के आरम्भ से लेकर १८ वें शतक तक किसी न किसी रूप में जागरूक रही है।

अलङ्कारशास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों के अनुशीलन से जान पड़ता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय काव्य के आत्मा का विवेचन था। वह कौन वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्यत्व विद्यमान रहता है? इस प्रश्न का उत्तर देने में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य के आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नवीन नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात लिखी है वह बहुत युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है:---(१) धर्म से, (२) व्यापार से, (३) व्यङ्ग्य से। धर्ममूलक वैशिष्टय दो प्रकार का है--नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलंकार से और नित्य धर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्टय का प्रतिपादन करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए :---(१) अलंकार-सम्प्रदाय, (२) गुण तथा रीति-सम्प्रदाय। व्यापार-मूलक वैशिष्टय भी दो प्रकार का है---वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्टनायक ने की है, परन्तु इसे अलग न मानकर भरत के रस-मत के भीतर ही अन्तर्भुक्त करना चाहिए, क्योंकि भट्टनायक ने विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की। व्यङ्ग्य मुख से वैशिष्टय माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों में ही उनका मौलिक मत इस प्रकार उपन्यस्त है :---

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्टयं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृतत्वेन वेति द्वैविध्यम्--

इति पञ्चषु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्ति-जीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन ।

समुद्रबन्ध ने इस विवरण में सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त का पार्थक्य स्पष्टतः निर्णीत नहीं किया है । फलतः वर्तमान लेखकों ने कई स्थलों पर अलंकार-शास्त्र के सम्प्रदायों की संख्या छः मानी है और लिखी है, परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता । सम्प्रदाय सिद्धान्तों के ऐक्य पर अवश्य आश्रित होता है, परन्तु दोनों में पार्थक्य है । वही सिद्धान्त सम्प्रदाय की संज्ञा पाने का अधिकारी होता है, जिसकी कोई परम्परा हो, अर्थात् जो किसी आचार्य का विशिष्ट मत होकर ही सीमित न रहे, प्रत्युत परवर्ती आचार्यों द्वारा परिबृंहित और विकसित किया गया हो और इस प्रकार जिसके मानने वाले एक से अधिक आचार्यों की सत्ता हो । इस कसौटी पर कसने से 'वक्रोक्ति' तथा 'औचित्य' केवल सिद्धान्त ही प्रतीत होते हैं, उन्हें 'सम्प्रदाय' मानना कथमपि उचित नहीं है । इन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होने पर इन्हें विकसित करने का प्रयास परिलक्षित नहीं होता । अतः ये सम्प्रदाय की कोटि में नहीं आते ।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है—अभाववाद, भक्तिवाद तथा अनिर्वचनीयतावाद । अभाववादियों में भी तीन छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं । नितान्त अभाव मानने के अतिरिक्त कुछ तो गुण, अलंकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं, परन्तु कुछ लोग अलंकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश करते हैं । भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं; अनिवर्चनीयतावादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बतला कर ध्वनि को अनिवर्चनीय बतलाता है । आनन्दवर्धन ने इन तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की । मतों का पृथक् वर्णन न देकर हम अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत करते हैं ।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय मुख्यतः चार हैं :—

(१) रस-सम्प्रदाय—**भरतमुनि ।**
(२) अलङ्कार-सम्प्रदाय—**भामह, उद्भट तथा रुद्रट ।**
(३) गुण-सम्प्रदाय—**दण्डी तथा वामन ।**
    वक्रोक्ति-सिद्धान्त—**कुन्तक ।**
(४) ध्वनि-सम्प्रदाय—**आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ।**
    औचित्य सिद्धान्त—**क्षेमेन्द्र ।**

(१) रस-सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार **नन्दिकेश्वर** ने ब्रह्मा जी के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया, परन्तु नन्दिकेश्वर के रस-विषयक मत का पता नहीं चलता । उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरतमुनि के साथ सम्बद्ध है । भरत रस-सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं । नाटयशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य-संसार में एक अपूर्व वस्तु है । भरत के समय में नाटय का ही बोलबाला था । इसलिए भरत ने नाटयरस का ही विस्तृत, व्यापक तथा मार्मिक

विवेचन प्रस्तुत किया है। रस-सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—**'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'**। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार करने में उतना ही सारगर्भित है। भरत ने इसका जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सुगम है। भरत के टीकाकारों ने इस सूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की हैं, जिनके चार मत प्रधान हैं। इन टीकाकारों के नाम हैं—भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त। **भट्ट-लोल्लट** उत्पत्तिवादी हैं। वे रस को विभावादि का कार्य मानते हैं। **शंकुक** विभावादिकों के द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं। उनकी सम्मति में विभावादिकों का रस से अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध है। **भट्टनायक** भुक्तिवादी हैं। उनकी सम्मति में विभवादि का रस से भोज्य-भोजक सम्वन्ध है, जिसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने अभिधा से अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो व्यापारों को भी स्वीकार किया है। **अभिनवगुप्त** व्यक्तिवादी हैं। उन्हीं का मत अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसलिए उनका मत समस्त आलंकारिकों के आदर तथा श्रद्धा का पात्र है। समग्र स्थायिभाव वासनारूप से सहृदयों के हृदय में विद्यमान रहते हैं। विभावादिकों के द्वारा ये ही सुप्त स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस का रूप प्राप्त कर लेते हैं।

रस की संख्या के विषय में आङ्ककारिकों में मतभेद दीख पड़ता है। भरत ने आठ रस माने हैं (१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (७) अद्भुत। शान्तरस के विषय में बड़ा विवाद है। भरत तथा धनंजय ने नाटक में शान्तरस की स्थिति अस्वीकार की है (शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य—दशरूपक ४।३५)। नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और शान्त-रस सब कार्यों का विरामरूप है। ऐसी दशा में शान्त का प्रयोग नाटक में हो नहीं सकता। काव्यादिकों में उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मूल रस शान्त ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' को भी रस माना है। विश्वनाथ 'वात्सल्य' को रस मानने के पक्षपाती हैं। गौडीय वैष्णवों की सम्मति में 'मधुर रस' सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम रस है। साहित्य में रस-मत की महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक—जो क्रौंचवध से मर्माहत होकर महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ—रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है, परन्तु अपने मतानुसार इसे ऊँचा-नीचा स्थान दिया है।

(२) अलंकार-सम्प्रदाय

अलङ्कार मत के प्रधान प्रवर्तक आचार्य **भामह** हैं और इसके पोषक हैं भामह के टीकाकार **उद्भट** तथा **रुद्रट**। **दण्डी** को भी अलङ्कार की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलङ्कार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णता-रहित मानना उपहासास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलङ्कारहीन मानना अस्वाभाविक है[1]। अलङ्कारों का विकास धीरे-धीरे ही होता आया है। भरत

१. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ (चन्द्रालोक १।८)

के नाट्यशास्त्र में तो चार ही अलङ्कारों का नाम-निर्देश मिलता है——यमक, उपमा, रूपक और दीपक। मूल अलंकार ये ही हैं, जिनमें एक तो है शब्दालंकार और तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों का विकास होकर कुवलयानन्द में १२५ अलङ्कार माने गये हैं। अलङ्कारों के इस विकास के लिए अलग अनुशीलन की आवश्यकता है। अलङ्कारों के स्वरूप में भी अन्तर पड़ता गया। भामह की जो वक्रोक्ति है वह वामन में नये परिवर्तित रूप में दीख पड़ती है। अलङ्कारों के विभाजन के लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। रुद्रट ने पहले-पहल यह संकेत किया और औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलङ्कारों का मूल माना। इस विषय में एकावलीकार विद्याधर का निरूपण बड़ा युक्ति युक्त और वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलङ्कार का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है।

अलङ्कार मत को माननेवाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात न था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर अलङ्कार का ही प्रकार माना। रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वी और समाहित इन चारों अलङ्कारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अन्तर्निविष्ट किया गया दण्डी भी 'रसवत्' अलङ्कार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायीभावों का निर्देश किया है। इस प्रकार अलङ्कार-मत के ये आचार्य रसतत्त्व को भली-भाँति जानते हैं, पर उसे अलङ्कार का ही एक प्रकार मानते हैं। वे प्रतीयमान अर्थ से भी परिचित हैं, जिसे उन्होंने समासोक्ति, आक्षेप आदि अलङ्कारों के भीतर माना है। अलङ्कारों के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्या करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार इस शास्त्र के इतिहास में अलङ्कारमत की बड़ी विशेषता है।

(३) रीति-सम्प्रदाय

रीतिमत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य **वामन** हैं। उनके मत में रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति क्या है ? पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। अतः रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसलिए रीतिमत गुण-सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है। वैदर्भी और गौडी रीतियों के विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण और अलङ्कार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी। दश गुणों का नाम-निर्देश तो भरत के नाट्यशास्त्र में ही किया गया है। उनके ये नाम हैं :—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति। दण्डी ने भी इनका निर्देश किया है, जिन्हें वे वैदर्भमार्ग का प्राण बतलाते हैं। वामन ने भी वैदर्भी रीति के लिए इन दश गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है। गौडी के लिए ओज और कान्ति की, पांचाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता का रहना आवश्यक बतलाया है।

रीति-सम्प्रदाय ने अलङ्कार और गुणों का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। वामन का कथन है कि काव्य की शोभा करनेवाले धर्म 'गुण' हैं और अतिशय करने वाले धर्म 'अलङ्कार' हैं **"काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः; तदतिशयहेतवोऽलङ्कारा:**। अलङ्कार-सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचना दृष्टि गहरी

तथा पैनी दीख पड़ती है। भामह आदि ने तो रस को अलङ्कार मानकर उसे काव्य का बहिरङ्ग साधन ही स्वीकार किया, परन्तु वामन ने कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निर्देश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष जोर दिया। उन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति-सम्प्रदाय का विवेचन अलङ्कार मत की अपेक्षा कहीं अधिक हृदयङ्गम तथा व्यापक है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन सिद्ध करने का श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। उन्होंने इसीलिए अपने ग्रन्थ का नाम ही 'वक्रोक्ति-जीवित' रखा है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ—वक्र उक्ति, अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न एवं अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन। कुन्तक के शब्दों में वक्रोक्ति 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' है। साधारण जन अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए साधारण ढंग से ही शब्दों का प्रयोग किया करते हैं, परन्तु उससे पृथक् और चमत्कारी कथन का प्रकार 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित होता है[1]। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं। भामह अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति के नाम से पुकारते हैं और उसे अलङ्कारों का जीवनाधायक मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

भामह की सम्मति में वक्र अर्थवाले शब्दों का प्रयोग काव्य में अलङ्कार उत्पन्न करता है—**वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते**—५।६६। हेतु को अलङ्कार न मानने का कारण वक्रोक्तिशून्यता ही है (२।८६)। भामह की इस कल्पना को पिछले आलङ्कारिकों ने स्वीकृत किया। लोचन ने भामह (१।३६) को उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है—शब्द और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप से उनकी अवस्थिति है (**शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोतीर्णेन रूपेणावस्थानम्**—पृ० २०८)। दण्डी ने भी वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय को दो प्रकार का माना है तथा वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य-उत्पत्ति की बात लिखी है[2]। कुन्तक ने इसी कल्पना को अपना कर वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बनाया है। निःसन्देह वे बड़े भारी मौलिक विचारों के आचार्य हैं।

कुन्तक ध्वनिमत से खूब परिचित हैं। ध्वन्यालोक के पद्यों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है, परन्तु उनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमट कर विराजने लगता है। वक्रोक्ति मुख्य रूप से पाँच प्रकार की है—(१) वर्णवक्रता, (२) पदवक्रता, (३)

---

१. **वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा; वैदग्ध्यं कविकौशलम्, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः। (वक्रोक्ति-जीवित १।११)**

२. **श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।**
भिन्नं द्विधा समासोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ (काव्यादर्श २।३६३)

वाक्यवक्रता, (४) अर्थवक्रता, (५) प्रबन्धवक्रता। उपचारवक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचनशक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आचार्य ने इस भावना की ओर अग्रसर नहीं किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपना कर वक्रोक्ति को एक साकान्य शब्दालङ्कार-मात्र ही मानने लगे। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की महनीय भावना को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है और उस बीज को पूर्णरूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुन्तक को प्राप्त है।

(४) ध्वनि-सम्प्रदाय

ध्वनिमत रस-मत का विस्तृतीकरण है। इस सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटक के सम्बन्ध में ही पहिले पहल किया गया। यह 'रस' कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यंग्य ही हुआ करता है। इस विचारधारा को अग्रसर कर आनन्द-वर्धन ने व्यंग्य को ही काव्य में प्रधान माना है। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलंकारिक वैयाकरणों का ऋणी है। वैयाकरण स्फोटरूप मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति करनेवाले शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है। आलंकारिकों ने इसी साम्य पर 'ध्वनि' शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत तथा व्यापक बना दिया। इस मत के आद्य आचार्य **आनन्दवर्धन** ने युक्तियों के सहारे व्यंग की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी। आनन्द के पहले 'ध्वनि' के विषय में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी और अनिर्वचनीयतावादी। इनका समुचित खण्डन आनन्द की बुद्धि का चमत्कार है। ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं—रस, वस्तु तथा अलङ्कार और इनके भी अनेक प्रकार हैं।

अलङ्कार के इतिहास में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलंकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइजन की उक्ति—where more is meant than meets the ear—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। ध्वनिवादी सिद्धान्तों के व्यवस्थापक दीख पड़ते हैं; क्योंकि उन्होंने अपनी पद्धति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्यतत्त्वों की सुन्दर संतुलित व्यवस्था कर दी है।

औचित्य-सिद्धान्त

'औचित्य' की भावना रस, ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। **क्षेमेन्द्र** ने **'औचित्य-विचार-चर्चा'** लिखकर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है, उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य ही रस का जीवनभूत प्राण है'[1]। जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते हैं और उचित का ही भाव 'औचित्य' है[2]। इस 'औचित्य' को पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक

---

१. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ ३॥

२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ ७॥

स्थलों पर दिखला कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया, परन्तु इस तत्त्व की उद्भावना क्षेमेन्द्र से ही मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल होगी। औचित्य का मूलतत्त्व आनन्द ने ही उद्घाटित किया—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का दूसरा कारण नहीं है। रस का परम रहस्य—परा उपनिषद्—यही है औचित्य से उसका निबन्धन, परन्तु आनन्दवर्धन से भी बहुत पहले यह काव्य का मूलतत्त्व माना गया था। भरत ने अपने पात्रों के लिए देश और अवस्था के अनुरूप वेष-विन्यास की व्यवस्था कर इसी तत्त्व पर जोर दिया (नाट्यशास्त्र २३।६९)—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

पिछले आलंकारिकों ने भी इस तत्त्व की महत्ता मानी है। इन्हीं सूचनाओं का विशद विवरण क्षेमेन्द्र ने अपने मौलिक ग्रन्थ से किया। क्षेमेन्द्र का यह कथन भरत की पूर्वोक्त कारिका का भाष्य रूप ही है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नुपूरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणः॥

भावार्थ है कि कण्ठ में करधनी बाँधने से, नितम्ब के ऊपर हार लटकाने से, हाथ में पायल बाँधने से, चरण में केयूर (बाजूबन्द) लटकाने से एवं शूरता के सामने नम्र हो जाने वाले शत्रु पर करुणा दिखलाने से कौन व्यक्ति हास्य का पात्र नहीं बनता? तथ्य तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही आनन्द उत्पन्न करता है और न गुण ही। अलंकार तथा गुण की आनन्द-विधायिका शक्ति औचित्य पर आश्रित रहती है। औचित्य का एक ही उदाहरण तथ्य का बोधक होगा। दामोदर गुप्त की विरहिणी अपने सखी जनों से गद्गद स्वर में अपनी दीनदशा का चित्रण कर रही है—

अपसारय घनसारं, कुरु हारं दूर एव, किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥

यहाँ लकार का बहुल प्रयोग (कमलैः अलम् अलम् आलि मृणालैः बाला) तथा गलितप्राय पदों का विन्यास माधुर्य का व्यञ्जक होने से नितान्त समुचित है। यह अलंकारौचित्य का विश्रुत दृष्टान्त है—मम्मट द्वारा उदाहृत तथा व्याख्यात। वृत्त, गुण, रस, नाम आदि का भी औचित्य इसी प्रकार काव्य में शोभाधायक होता है।

त्रयोदश परिच्छेद

उपसंहार

संस्कृत साहित्य की भिन्न-भिन्न विद्याओं का संक्षिप्त इतिहास पिछले परिच्छेदों में प्रस्तुत किया गया है तथा उनके उत्थान और पतन का, विकाश और ह्रास का, उत्कर्ष और अपकर्ष का उदाहरण संकलित विवरण दिया गया है। इस इतिहास की कालावधि प्रायः पंचदश शताब्दी तक मुख्यतया है, परन्तु उक्त विवरण से यह अनुमान कर लेना कि संस्कृत साहित्य का यहीं अवसान हो जाता है नितान्त भ्रान्त है। यह मानना भारी भूल होगी कि संस्कृत साहित्य की धारा वहीं आकर सूख जाती है और इसलिए आगे उसमें ग्रन्थों का प्रणयन नहीं हुआ। तथ्य तो यह है कि संस्कृत की साहित्यधारा वैदिक युग से लेकर आज विंशति शताब्दी तक एक अविभाज्य रूप से प्रवाहित होती आई है। अवश्य ही परिस्थितियों की विलक्षणता के कारण कभी वह मन्द गति से और कभी वह तीव्र वेग से प्रवाहित होती रही है। मध्ययुग के राजपूत राजाओं ने संस्कृत के कवियों को आश्रय प्रदान कर उनके साहित्य को समृद्ध बनाने का गौरव प्राप्त किया। मुसलमान बादशाहों ने भी हिन्दू-प्रजा में न्यायप्रियता की कीर्ति फैलाने के लिए संस्कृत के कवियों को आश्रय प्रदान किया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद भी संस्कृत के लेखक अपनी लेखनी के द्वारा देववाणी का भण्डार भरते आये। इस काल में भारतीय संस्कृति के संरक्षण तथा परिबृंहण की पताका संस्कृत के कवियों तथा लेखकों के साहित्यिक प्रयत्नों से ही फहराती रही। इस इतिहास का दिङमांत्र निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

मुगल बादशाहों की दृष्टि साहित्य के संवर्धन की ओर स्वतः आकृष्ट थी और इसलिए उन्होंने हिन्दी के कवियों को अपने आश्रय में रखा था। संस्कृत-कवियों की ओर भी उनकी दृष्टि पर्याप्त रूप से सहानुभूतिपूर्ण थी और इसी से हम मध्यकाल (१६ शती–१८ शती) में संस्कृत की काव्यधारा को बड़े सुन्दर ढंग से प्रवाहित होते पाते हैं। मुगल बादशाहों में अकबर तथा शाहजहाँ ने ललित कला की समृद्धि के लिए जो प्रयत्न किया, वही प्रयत्न, कम मात्रा में सही, संस्कृत के संरक्षण की ओर भी किया। इस काल के तीन महनीय कवि हैं—(१) भानुकर या भानुदत्त; (२) अकबरीय कालिदास तथा (३) पण्डितराज जगन्नाथ।

१६ वीं शताब्दी के कवियों में **भानुकर या भानुदत्त** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मध्ययुगीय अनेक सूक्तिसंग्रहों में निर्दिष्ट भानुकर तथा रसमंजरी, रसतरंगिणी और गीतगौरीश के प्रणेता भानुदत्त अभिन्न व्यक्ति हैं, क्योंकि भानुकर के नाम से उद्धृत पद्य रसमजरी आदि ग्रन्थों में निश्चयेन उपलब्ध होते हैं। ये मैथिल ब्राह्मण थे तथा पिता का नाम गणेश्वर या गणपति था। इन्होंने एक पद्य में सूरवंश के प्रख्यात बादशाह शेरशाह (१५४० ई०–१५४५ ई०) का उल्लेख किया है तथा निजामशाह के विषय

में अनेक प्रशंसात्मक पद्य रचे हैं। भानुकर ने रीवाँ नरेश वीरभानु (ई० सन् १५४०-१५५५) की प्रशंसा में पद्य लिखा है। इन आश्रयदाताओं के निर्देश से इनका समय १६ वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित होता है और पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा 'पुरतः' शब्द के अशुद्ध प्रयोग के उदाहरण में इनका उद्धृत पद्य 'आन्तमीयं चरणं दधाति पुरतः' इस काल-निरूपण से पूरी तरह संगत होता है।

भानुदत्त की कविता ऊँचें दर्जे की है। उनके पदविन्यास ही मधुर नहीं है, प्रत्युत भाव की सम्पत्ति भी नितरां श्लाघनीय है। नायिका भेद के आचार्य होने की अपेक्षा ये रसस्निग्ध काव्य के रचयिता ही अधिक हैं। प्रतिभा के धनी तथा रचना के बादशाह भानुदत्त की कविता सचमुच सहृदय-हृदय-संवेद्य है। राजाओं के प्रतापवर्णन में ये जितने दक्ष हैं, उससे कहीं अधिक वे कोमल भावों की अभिव्यंजना में कुशल हैं। और यही कारण है कि १७–१८ शती के सुभाषित-ग्रन्थों में इनके शताधिक पद्य उद्धृत तथा सम्मानित हैं। उदाहरण के लिए देखिये––

आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि
स्वीयेनैव करेण कर्षति तरोः पुष्पं श्रमाशङ्कया।
तल्पे किं च मृगत्वचा विरचिते निद्राति भागैर्निजैः
अन्तःप्रेमभरालसां प्रियतमामङ्के दधानो हरः॥

अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर की प्रणय-लीला की एक नितान्त मधुर झाँकी यहाँ अंकित है। वाम भाग में विराजमान पार्वती को क्लेश न पहुँचाने के लिए वे विचित्र आचरण करते हैं। ऊँची-नीची जमीन पर वे अपने ही चरण अर्थात् दक्षिण चरण को आगे उठाकर रखते हैं। थकावट के डर से वे अपने ही (दक्षिण) हाथ से वृक्ष से फूल तोड़ते हैं। इतना ही नहीं, मृगचर्म से विरचित सेज पर वे दाहिने करवट ही नींद लेते हैं। प्रेम के बोझ से आलसी अपनी प्रियतमा को वाम भाग में धारण करनेवाले शंकर की यह प्रथम प्रणयलीला (हनी मून; 'मधुचन्द्र') कितनी अलौकिक है!

निजामशाह की दानशीलता का यह वर्णन बड़ा ही चमत्कारी है। ब्रह्मा जी ने आकाश में निजामशाह की दीर्घ दान-परम्परा को सूचित करने के लिए आकाशगंगा रूपी खड़िया से एक लम्बी लकीर खींच दी (दूर तक फैलने वाली वही आकाश गंगा है) और उनके समान दूसरे दानी के अभाव के कारण स्तब्ध होकर ब्राह्मण ने चन्द्रमा के रूप में गोला विराम चिह्न (फुल स्टाप) बना दिया'––

दाने द्राघीयसि कपटतः स्वस्तटिन्या खटिन्या
रेखामेकां तव कृतवता पुष्करागारभित्तौ।
नैव प्रापि क्वचिदपि ततः श्रीनिजामद्वितीयः
तेनाकारि स्थगितमनसा वेधसा बिन्दुरिन्दुः॥

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० चौधरी–मुसलिम पेट्रोनेज टू संस्कृत लर्निंग, पृष्ठ २०–३२ कलकत्ता, १९५४।

उसी युग के इतर सम्मानित कवि **अकबरीय कालिदास** का वास्तव नाम गोविन्द भट्ट था। इन्होंने रीवाँ नरेश रामचन्द्र (१५५२–१५९२ ई०) की स्तुति में 'रामचन्द्र-यशःप्रशस्ति' नामक काव्य लिखा है, जो अभी तक अधूरा ही मिला है, परन्तु सुभाषित-ग्रन्थों में इनकी अनेक कमनीय सूक्तियों सादर उद्धृत की गई हैं, जिनके अनुशीलन से इनकी उदात्त काव्यप्रतिभा का परिचय आलोचकों को सद्यः मिलता है। अकबर जैसे गुणग्राही सम्राट् का आश्रय मिलना इनकी महत्ता तथा गौरव का निश्चित सूचक है। अकबर के विषय में इनके अनेक पद्य उपलब्ध होते हैं। **गोविन्दभट्ट** काली के परम उपासक और अपनी काव्यकला के कारण अतीव गर्वीले कवि थे। इसका परिचय यह पद्य निःसन्देह दे रहा है—

अनाराध्य कालीमनास्वाद्य गौडीमृते मन्त्रतन्त्रात् विना शब्दचौर्यात्।
प्रबन्धं प्रगल्भं प्रकर्तुं प्रवक्तुं विरञ्चिप्रपञ्चे मदन्यः कविः कः॥

फलतः इनके पद्यों में दीर्घसमास, उत्कट पदावली तथा उदात्त भावभंगिमा के द्वारा अभिव्यंजित शाक्त घटाटोप प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। भगवती दुर्गा के वर्णन में वे जितने समर्थ हैं उतने ही वे शंकर तथा गणेश के। कृष्ण की लीला के वर्णनपरक पद्यों में स्वभावतः अधिक माधुर्य है। प्राकृतिक दृश्यों के चित्र खींचने में वे अप्रतिम हैं। मध्ययुग के कवियों में अकबर के इस दरबारी कवि की कीर्ति स्फूर्ति-दायक पद्यों की रचना के कारण चिरस्मरणीय रहेगी। यशोदा-किशोर के प्रति उनका अनुराग देखिये—

घन - स्निग्ध - चञ्चत् - कच - ग्रन्थिनद्ध-
स्फुरत् - केकिपिच्छे लसच्चारुगुच्छे।
मुखेन्दुभ्रमद्वल्लवी दृक् चकोरे
यशोदा किशोरे मनो मे रमेत॥

फलतः इनके पद्यों में दीर्घ समास, उत्कट पदावली तथा उदात्त भावभंगिमा के द्वारा अभिव्यंजित शाक्त घटाटोप प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। भगवती दुर्गा के वर्णन में वे जितने समर्थ हैं उतने ही वे शंकर तथा गणेश के। कृष्ण की लीला के वर्णनपरक पद्यों में स्वभावतः अधिक माधुर्य है। प्राकृतिक दृश्यों के चित्र खींचने में वे अप्रतिम हैं। मध्ययुग के कवियों में अकबर के इस दरबारी कवि की कीर्ति स्फूर्तिदायक पद्यों की रचना के कारण चिरस्मरणीय रहेगी। यशोदाकिशोर के प्रति उनका अनुराग देखिये।—

घनस्निग्धमञ्चत्-कच-ग्रन्थिनद्धस्फुरत्-केकिपिच्छे लसच्चारुगुच्छे।
मुखेन्द्रभ्रमद्वल्लवीदृक्चकोरे यशोदाकिशोरे मनो मे रमेत॥

पश्चिम में सूर्यास्त तथा पूर्व में चन्द्रोदय का एक साथ सम्पन्न होना कवि की दृष्टि में कामदेव की विजय-यात्रा को सूचित करने वाले ताम्रघट तथा श्वेत कलश का अवस्थान है—

मदनविजययात्रामङ्गलं द्योतयन्ती
विशति जलधिमध्ये ताम्रपात्रीव भानुः।

इयमपि पुरुहूत-प्रेयसीमूर्ध्नि संस्थं
कलशमिव सुधांशुं साधुमुल्लालसीति ॥

इसी शताब्दी में उत्पन्न **रुद्र कवि** अकबरीय कालिदास के सामसमयिक कवि थे। इनका वैशिष्ट्य है अकबर के समय के माननीय विद्याप्रेमी मुसलमान सरदारों का चरित-वर्णन। **दानशाहचरित, कीर्तिसमुल्लास, जहाँगीरचरित**--इसी प्रकार के प्रशस्ति काव्य हैं। इनकी रचना **राष्ट्रौढवंशकाव्य** (रचनाकाल शक सं० १५१८=१५९६ ई०) तो प्रसिद्ध है, परन्तु प्रख्यात रहीम खानखाना की प्रशंसा में निबद्ध **'खानखानानचरित'**[1] अभी तक उतना विश्रुत नहीं हुआ है। यह चार उल्लासों में विभक्त है तथा गद्य-पद्यमिश्रित होते से चम्पूकाव्य कहा जा सकता है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन नहीं है, केवल रहीम की प्रशंसा में अत्युक्तियों की भरभार है। कवि में प्रतिभा की कमी नहीं है। रहीम कवियों के ही आश्रयदाता न थे, प्रत्युत स्वयं भी कवि थे। हिन्दी तथा संस्कृत में उनके पद्य प्रसिद्ध हैं। रचना काल १५३१ शाके (=१६०९ ई०) ग्रन्थ में ही निर्दिष्ट है। फलतः जहाँगीर के शासनकाल के आरम्भ में ही यह निर्मित हुआ। इस पद्य से इसकी शैलीका पता चलता है--

जयति मधुरमूर्ति विश्वविख्यातकीर्तिः समरहतविपक्षः सर्वविद्यासु दक्षः।
वितरणजितकर्णः पालिताशेषवर्णः सकलनृपतिहीरः खानखानाख्यवीरः ॥

पण्डितराज जगन्नाथ--कवित्रयी में सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। 'पण्डितराज' की उपाधि दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ से पाने की घटना का उल्लेख जगन्नाथ ने अपने 'आसफविलास' की पुष्पिका में किया है--'श्रीसार्वभौम-साहिजहान-प्रसादाधिगत-पण्डितराय-पदवीविराजितेन पण्डितजगन्नाथेनाऽऽसफविलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत'। यह आख्यायिका नूरजहाँ के भाई तथा शाहजहाँ के मन्त्री नवाब आसफ खान की काश्मीर यात्रा के वर्णन में निबद्ध है, परन्तु यह पूरी उपलब्ध नहीं होती[2]। **'जगदाभरण'** किस राजा की प्रशस्ति है ? इसका निर्णय करना कठिन है। किसी हस्तलेख में 'दिल्लीधरावल्लभ' के उल्लेख से यह दाराशिकोह की प्रशस्ति मानी जाती है, परन्तु दूसरे हस्तलेख में उपलब्ध श्लोक[3] के आधार पर यह उदयपुर के राणा जगतसिंह (शासनकाल ई० सन् १६२८–१६५४ ई०) की प्रशस्ति सिद्ध होती है। जो कुछ भी हो, यह एक हृदयावर्जक पद्यों से मण्डित प्रशस्ति है। **'प्राणाभरण'** के विषय में इस

---

१. ग्रंथ के द्रष्टव्य लिए डा० चौधरी--खानखानान् एण्ड संस्कृत लर्निंग ६३-८० (प्र० प्राच्यवाणी मन्दिर कलकत्ता, १९५४)।

२. इसके उपलब्ध अंश के लिए द्रष्टव्य डा० चौधरी : 'मुसलिम पेट्रोनोज टू संस्कृत लर्निंग' पृष्ठ ११२–११६।

३. श्रीराणाकलिकर्णनन्दनजगतसिंहप्रभोर्वर्णनं
श्रीमत्पण्डितरायसत्कविजगन्नाथो व्यतानीदिदम्।
... ...
पेरुभट्टसूरेस्तनयेन विनिर्मितं जगदाभरणाख्यं जगत्-सिंहवर्णनम्।

प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं है, क्योंकि इस काव्य के भीतर ही प्राणनारायण कामरूपेश्वर बतलाये गये हैं। इस प्रशस्ति में ५३ पद्य हैं जो नितान्त रोचक तथा काव्यगुणों से सम्पन्न है। मुगल दरबार में सम्भवतः ये जहाँगीर के समय में ही आ गये थे, क्योंकि ये नूरदीन की प्रशंसा रसगंगाधर के एक[1] पद्य में करते हैं। नूरदीन वस्तुतः 'नूरदीन मुहम्मद जहाँगीर' के नाम का आद्य अंश है। शाहजहाँ के समय में इनकी ख्याति चरम उत्कर्ष पर थी।

जगन्नाथ पण्डितराज की अन्योक्तियाँ बड़ी ही स्निग्ध, रसपेशल तथा आकर्षक हैं। ये सीधे श्रोताओं के हृदय में घर कर लेती हैं। उनसे प्रतीयमान अर्थ भी बड़ा ही मर्मस्पर्शी होता है---

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राची चकोरव्रजे
मौनं मुञ्चति किंच कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥

चन्द्रमा के उदय की तीव्र प्रतीक्षा है। चकोर का तृष्णापूर्ण अवलोकन, कैरव कुल का जागरण, काम का धनुर्धुन्वन, मानवती जनों के मान की प्रस्थानकामना—इन सबका प्रतीक्षाकेन्द्र है चन्द्रमा। ठीक उसी समय मेघ का उसके ऊपर आवरण डालना क्या कथमपि उचित है ब्रह्मा के लिए? अनौचित्य की पराकाष्ठा का कितना प्रभावशाली संकेत है।

कामिनी की प्रणयलीला का एक चित्र देखिये---

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान्।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते॥

माता यशोदा के हाथ में मारने के लिये कोड़ा देखकर बालकृष्ण का यह अनुनय-विनय कितना स्वाभाविक है---

मा कुरु कशां कराब्जे करुणावति कम्पते मम स्वान्तम्।
खेलन् न जातु गोपैरम्ब विलम्बं करिष्यामि॥

मानव हृदय में प्रतिक्षण उदय लेने वाले कोमल भावों के चित्रण में पण्डितराज अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते हैं। कविता के परखने की उनकी सूझ कितनी पैनी तथा गहरी है—इसका प्रमाण उनके आलोचना ग्रन्थ—**चित्रमीमांसाखण्डन** तथा **रसगंगाधर** हैं। कवित्व तथा पाण्डित्य का यह समन्वय नितान्त विरल है।

शहाबुद्दीन बादशाह के सभाकवि **अमृतदत्त** द्वादश शती से प्राचीन कवि हैं, क्योंकि श्रीधरदास ने अपने 'सदुक्तिकर्णामृत' में इनका एक पद्य उद्धृत किया है। मम्मट ने भी इनके एक पद्य 'भक्ति-ब्रह्मविलोकन-प्रणयिनी' को श्लेषालंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है। फलतः इनकी एकादश शतक से भी प्राचीनता सिद्ध होती है। **रागमंजरी** तथा **रागमाला** (१५७६ ई०) के रचयिता **पुण्डरीक विट्ठल** खानदेश के नवाब

१. श्यामं यज्ञोपवीतं तव किमिति—रसगंगाधर, पृ० ७०३।

बुरहान शाह की सभा के कलावन्त पण्डित थे। शाहजहाँ के समय में संस्कृत के विशेष कवियों का पता चलता है। पण्डितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त **हरनारायण मिश्र** तथा **वंशीधर मिश्र** का सम्बन्ध शाहजहाँ के दरबार से था। **चतुर्भुज** ने औरङ्गजेब के मामा तथा सेनापति शाइस्ता खाँ की प्रसन्नता के लिए **'रसकल्पद्रुम'** नामक अलङ्कार-ग्रन्थ की रचना १७वीं शती के उत्तरार्ध में की। इस विशाल ग्रन्थ की रचना सं० १७४५ = १६८९ ई० में हुई थी। रसकल्पद्रुम शाइस्ता खाँ के अनुरंजन के लिए निर्मित किया गया। इसमें उस युग के अनेक कवियों के पद्य उपलब्ध होते हैं। इसमें ६५ प्रस्ताव या प्रकरण हैं और पद्यों की संख्या एक सहस्र है। कुछ कवियों के नाम हैं--**अचल रुद्र, अनिरुद्ध, अविलम्ब, ईश्वरदास, उपग्रह, कंसनारायण** आदि। कतिपय पद्य स्वयं चतुर्भुज के भी हैं। ग्रन्थ के उद्देश्य के विषय में कवि का कथन है--

जानामि दानाय सुवर्णशैलं स्तवाय तावद् वचनानि वेधाः।
शायस्तखानस्य यशःप्रतापसाम्याय सोमद्युमणी ससर्ज॥
तस्यानुरञ्जनायैव ग्रन्थं नवरसात्मकम्।
चतुर्भुजो रचयति स्वपद्यैश्च परैरपि॥

प्रकाशित होने पर यह रसकल्पद्रुम सचमुच साहित्य की एक अनमोल निधि सिद्ध होगा। इसकी रचना के पचास वर्ष के भीतर ही **लक्ष्मीपति** नामक कवि ने **'अबदुल्ला-चरित'** नामक विचित्र चरित-काव्य की रचना १६४३ श० सं० (=१७२१ ई०) में की। इस काव्य की विचित्रता अनेक दृष्टियों से है। औरङ्गजेब की मृत्यु (१७०७ ई०) के अनन्तर १७२१ ईस्वी तक पतनकालीन मोगल इतिहास का विवरण बड़ी सच्चाई से यहाँ दिया गया है। अबदुल्ला तथा उनके अनुज हुसेन अली खाँ इस काल में इतने प्रभावशाली थे कि वे राजाओं के स्रष्टा (किंग मेकर) के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। समग्र चरित अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध है, जिनकी संख्या एक हजार आठ सौ है। बीच-बीच में गद्य भी है। राजनीति के उपदेश भी प्रचुरता से यहाँ निबद्ध हैं। सबसे विलक्षण है संस्कृत पदों के साथ अरबी-फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग। खिचड़ी भाषा का प्रयोग मुसलमान शासक के अनुरंजन के निमित्त किया गया प्रतीत होता है। बीच-बीच में नीति विषयक प्राचीन पद्य भी (आधार ग्रन्थ के निर्देश के विना ही) उदधृत किये गये हैं। एक दो उदाहरण[1] शैली के परिचय के लिए पर्याप्त होंगें---

महबूबं तु यो राजा स्वकीयं प्रमदाजनम्।
गुणाहमन्तरा त्यक्तुं करोति स्वस्य **दिल्लके**।
कंबख्तः सोऽपि ज्ञातव्यः कुलद्रुमकुठारकः॥६६॥
हिलालमन्तरा चन्द्र **आशमाने** न विराजते॥६००॥
माहताबकरस्पृष्टमम्भोजमिव दृश्यते॥९३॥

---

१. 'अब्दुल्लाचरित' का प्रकाशन प्राच्यवाणी नामक संस्था ने (कलकत्ता) १९४७ में डा० जतीन्द्र विमल चौधरी के सम्पादकत्व में किया है।

खिचड़ी भाषा का प्रयोग देववाणी की विशुद्धि के आग्रही आलोचकों की दृष्टि में अवांछनीय है अवश्य, परन्तु भाषासमक के प्रेमी आलंकारिक इसे तुच्छ दृष्टि से नहीं देखते।

मुसलमानी काल में धर्मशास्त्रों के ऊपर अनेक मान्य निबन्धों की रचना होती रही है, जिनमें **मित्रमिश्र** के **वीरमित्रोदय** जैसे विपुलकाय निबंध का नाम अग्रगण्य है। मित्रमिश्र (१६ वीं शती) ने **आनन्दकन्द** चम्पू की रचना कर अपने काव्य-निर्माण-कौशल का भी पूरा परिचय दिया। इसी काल में वृन्दावन में नाना वैष्णव सम्प्रदायों की श्रीवृद्धि हुई और इनके अनुयायियों ने अपने मत की संवर्धना के निमित्त अनेक मनोरम काव्य तथा नाटकों का प्रणयन कर संस्कृत भारती के भाण्डार को शोभा-सम्पन्न बनाया।

राधावल्लभीय मत के संस्थापक श्री हितहरिवंश का **राधासुधानिधि** श्रीराधा जी की प्रशस्त स्तुति में लिखा गया बड़ा ही कोमल तथा ललित गीति-काव्य है। गौडीय वैष्णवों ने तो अपनी ललित लेखनी के द्वारा नाना प्रकार का साहित्य उत्पन्न कर संस्कृत-साहित्य को सुन्दर कृतियों से पूर्ण कर दिया। ऐसे लेखकों में **श्रीरूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, जीव गोस्वामी** तथा **कवि कर्णपूर** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी कविता का लालित्य तथा सौन्दर्य अप्रतिम है और उनकी प्रतिभा का गौरववर्धक है। श्रीरूप गोस्वामी के **'उद्धवदूत'** का यह पद्य वैष्णव कविता के माधुर्य का यत्किंचित् परिचायक माना जा सकता है—

> या पूर्वं हरिणा प्रयाण-समये संरोपिताऽऽशालता
> साऽभूत् पल्लविता चिरात् कुसुमिता नेत्राम्बुसेकैः सदा ॥
> विज्ञातं फलितेति हन्त भवता तन्मूलमुन्मूलितं
> रे रे माधव-दूत ! जीवविहगः क्षीणः कमालम्बते ॥

उत्तर भारत के समान सुदूर दक्षिण भारत—द्रविड़ देश—में भी मध्ययुग में संस्कृत कवियों ने अपनी प्रतिभा के सहारे अनेक काव्य-ग्रन्थ, नाटक, भाण आदि की सुन्दर रचना की। इन कवियों में नीलकण्ठ दीक्षित तथा रामभद्र दीक्षित रचना की विपुलता तथा सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माने जा सकते हैं। नीलकण्ठ का वर्णन पीछे किया जा चुका है। **रामभद्र दीक्षित** चोक्कनाथ तथा इन्हीं नीलकण्ठ दीक्षित के सुयोग्य शिष्य थे और तंजोर के विख्यात विद्याप्रेमी महाराष्ट्र राजा शाहजी प्रथम (१६८४ ई०—१७११ ई०) के शासन-काल में विद्यमान थे। इनके त्रयोदश ग्रन्थों में से **जानकी-परिणय** (काव्य), **श्रृङ्गारतिलक** (भाण) तथा **पतंजलिचरित** (चरित-काव्य) विशेष प्रख्यात हैं। उस प्रान्त के इस युग में विद्यमान कवियों की नामावली काफी लंबी है, जिनमें कतिपय मुख्य कवियों के नाम ये हैं—(१) **वेंकटकृष्ण दीक्षित** ('नटेश-विजय' तथा 'रामचन्द्रोदय' काव्यों के कर्ता); (२) **महादेव कवि** (अद्भुत [illegible] नाटक तथा शुक-सन्देश के कर्ता); (३) **नल्ला दीक्षित** (रामभद्र [illegible] 'सुभद्रा-परिणय' तथा 'श्रृङ्गार-सर्वस्व' भाण के रचयिता); (४) **चोक्कनाथ दीक्षित** [कान्तिमती-परिणय (नाटक) तथा 'रसविलास' (भाण) के कर्ता]; (५)

यज्ञनारायण दीक्षित ['साहित्य-रत्नाकर' (रघुनाथ नायक का जीवन-वर्णन काव्य) तथा 'रघुनाथ-विलास' (नाटक) के कर्ता]; (६) **उद्दण्ड कवि** ('मल्लिका-मारुत' प्रकरण के कर्ता); (७) **शिंगभूपाल** ('रसार्णव-सुधाकर' प्रख्यात अलंकार ग्रन्थ के कर्ता); (८) **राजा कृष्णराय** (१५१०–१५२९ ई०) ['जाम्बवती-कल्याण' नाटक के कर्ता]; (९) **शरभो जी** प्रथम [तंजोर के राजा; 'राघव-चरित' के लेखक]; (१०) **वामनभट्ट** ('शृङ्गार-भूषण' भाण के कर्ता); (११) **भूमिनाथ कवि** (रामभद्र के शिष्य तथा 'धर्मविजयचम्पू' के रचयिता)। इन काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा दर्शन, विशेषतः अद्वैतवेदान्त के ऊपर टीका-ग्रन्थों का प्रणयन इन शताब्दियों में होता रहा। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य का सर्जन इन (१६–१८) शतियों में प्रचुर मात्रा में सम्पन्न हुआ तथा साहित्य की धारा सूखने नहीं पाई।

महाराष्ट्र के छत्रपति शिवाजी तथा उनके पुत्र शम्भाजी के राज्यकाल में संस्कृत की बड़ी उन्नति हुई। छत्रपति शिवाजी के पुत्र शम्भाजी (१६८० ई०–१६८९ ई०) के तथा उनके गुरु कृष्ण पण्डित के आदेश से **हरिकवि** उपनाम भानुभट्ट ने 'शम्भुराज-चरित' (रचनाकाल १६८५ ई०) नामक महाकाव्य में अपने आश्रयदाता शम्भुजी का जीवन-चरित ललित छन्दों में लिखा। **हैहयेन्द्र-काव्य** तथा **सुभाषितहारावलि** इनकी अन्य उपलब्ध रचनायें हैं, जिनमें पण्डितराज जगन्नाथ की स्तुति तथा पद्य पाये जाते हैं। शम्भुजी स्वयं संस्कृत के बहुत ही सुयोग्य कवि थे, जिनके अनेक श्लोक मिलते हैं। हरि-कवि महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और सूरत में रहते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आरम्भिक काल में भी पण्डितों का समादर कम नहीं था। वारेन हेस्टिंग्स के समय में जब अंग्रेज न्यायाधीश को हिन्दू कानून जानने की जरूरत पड़ी तब **बाणेश्वर भट्टाचार्य** ने अनेक पण्डितों की सहायता से १७७५ ई० में **'विवादार्णवसेतु'** निबन्ध लिखा, जो हिन्दू लोगों के अभियोग के निर्णय के लिए प्रामाणिक तथा मान्य बना। वाणेश्वर विद्यालंकार उस समय के सर्वश्रेष्ठ पण्डित थे, जिन्होंने सिराजुद्दौला के आदेश से उनके मातामह अलवर्दी खाँ के श्राद्ध के अवसर पर श्लोकबद्ध निमन्त्रण लिखा था। महाराज बर्दवान के पूर्वपुरुष चित्रसेन की आज्ञा से उन्होंने **'चित्र-चम्पू'** नामक रुचिर चम्पू की रचना की थी। इस प्रकार राजा के विदेशी तथा विधर्मी होने पर भी तथा राज्यमान्यता प्राप्त न होने पर भी १८ वीं शती के पण्डितों ने संस्कृत विद्या के प्रसार में अध्ययन-अध्यापन द्वारा खूब ही योगदान दिया। १९ वीं शती में भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में संस्कृत के कवि तथा लेखक विद्यमान थे और आज भी उनकी संख्या कम नहीं है। इस प्रकार गत शताब्दियों की ज्ञात रचनाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत की काव्यधारा सूखने नहीं पाई है। गति मन्द भले ही हो, परन्तु इस धारा ने अपने ललित बन्धों के द्वारा काव्य-पिपासुओं की पिपासा को शान्त किया है। एक प्रकार से अनादृत तथा अन्धकारपूर्ण काल में भी कवियों ने काव्य के आलोक को जगा कर लोगों में चेतनता का संचार किया तथा देववाणी की महिमा को अक्षुण्ण बनाये रखा; यह हमारे लिए सौभाग्य तथा आनन्द का विषय है।

बृहत्तर भारत में संस्कृत

देववाणी के प्रभूत गौरव की जिज्ञासा हमें बृहत्तर भारत के देशों की ओर ले जा रही है, जहाँ भारत की संस्कृति संस्कृत भाषा की कृपा से फूलती-फलती रही है। यह तो सच्चा इतिहास है कि भारतवर्ष के निगमागम में प्रवीण ब्राह्मणों ने भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के प्रचारार्थ मलयद्वीप (मलाया प्रायद्वीप), वरुणद्वीप (वोरनियो), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), चम्पा तथा कम्बूज देश (कम्बोडिया) आदि नाना द्वीपों और देशों में अपने विशिष्ट उपनिवेश बसाये, वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचुर प्रचार किया तथा हिन्दू-राज्य स्थापित किये। ऐसे मान्य ब्राह्मणों में कौडिन्य का नाम अत्यन्त श्रद्धा तथा भूयसी प्रतिष्ठा का भाजन है। यहाँ के हिन्दू-राजाओं ने संस्कृत भाषा का अपने देश में खूब ही प्रचार किया और भारतीय राजाओं के समान इन महीपतियों ने संस्कृत को राजभाषा बनाया। इन राजाओं के शिलालेख तथा अभिलेख संस्कृत भाषा में निवद्ध हैं। इन शिलालेखीय संस्कृत काव्यों के अध्ययन से हमें संस्कृत के महनीय गौरव का परिचय मिलता है। इन काव्यों की भाषा पाणिनि-व्याकरण के सूत्रों से नितान्त विशुद्ध संस्कृत है। युद्धों के वर्णन में प्रौढ़ता है। राजाओं की प्रशस्तियाँ नितान्त हृदयंगम हैं। देवताओं की स्तुति भक्तिरस से स्निग्ध है। भारत से वाहर लिखित ये काव्य संस्कृत-काव्य के इतिहास में एक ललित कड़ी जोड़ते हैं।

चम्पादेश के भद्रवर्मा नामक राजा ८३१ श० (=९०९ ई०) की वर्णन-परिपाटी वीररस से ओत-प्रोत है। अनुप्रास की छटा सहृदयों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है तथा वीररस के अनुकूल ओजोव्यंजक पदों का प्रौढ़ प्रयोग अत्यन्त आश्चर्यजनक है।

बृहत्तर भारत के नाना देशों में भगवान् शंकर की उपासना का प्रचार खूब था और इसलिए इन देशों के राजाओं के द्वारा अनेक शिवलिंग स्थापित किये गये हैं तथा उनकी भक्तिभाव-पूरित कमनीय स्तुतियाँ संस्कृत में शिलाओं पर खुदी हैं। शंकर की स्तुति की वोधिका यह मालिनी कितनी सरल तथा सरस है—

जयति जितमनोजो ब्रह्मविष्णवादिदेवप्रणतपद-युगाब्जो निष्कलोऽप्यष्टमूर्तिः।
त्रिभुवनहितहेतुः सर्वसंकल्पहारी परपुरुष इह श्रीशानदेवोऽयमाद्यः॥

महादेव का स्वरूप वाणी के अगोचर है। यह अपरिमेय होने से विद्वानों की बुद्धि को सदैव चमत्कृत किया करता है। उसे यथार्थ रूप से जानने वाला व्यक्ति जगत् में कोई भी नहीं है। इसका वर्णन कितनी स्वच्छता से इस पद्य में किया गया है—

ऐश्वर्यातिशयप्रदो मखभुजां यस्तप्यमानस्तपः
कन्दर्पोत्तम-विग्रह-प्रदहनो हेमाद्रिजायाः पतिः।
लोकानां परमेश्वरत्वमसमं यातो नदद्वाहनो
याथातथ्य-विशारदास्तु जगतामीशस्य नो सन्ति हि॥

इस पद्य में विद्यमान विरोध के चमत्कार को तो देखिये। शिव स्वयं तो किसी अर्थ के लिए तपस्या करते हैं, परन्तु देवताओं को ऐश्वर्य का उत्कर्ष प्रदान करते हैं। हैं तो

पार्वती के पति, परन्तु कामदेव को भस्म कर डाला है !!! सवारी तो है बैल की, परन्तु धारण करते हैं संसार के परम पद को। शिव धन्य हैं जिनमें इन विरोधी गुणों का जमघट एक साथ वर्तमान रहता है। महाकवि कालिदास ने भी ठीक यही बात कही है—"न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः" =शिव के यथार्थ रूप तथा गुण को जाननेवाला कोई भी प्राणी जगत् में नहीं है। ये दोनों श्लोक विक्रान्तवर्मा के शिलालेख ६५३ शक (=७३१ ई०) के हैं।

शिवजी की आठ मूर्तियाँ हैं—पृथ्वी, जल आदि; जिनके द्वारा वे जगत् का मंगल-साधन किया करते हैं। इस पद्य के अन्तिम चरण में विद्यमान उपमा पर ध्यान दीजिए। वह कितनी सुन्दर है। शब्दों का विन्यास कितना रुचिर और हृदयावर्जक है—

यस्यात्मानः सकलमरुतां मानिनां माननीया
अष्टौ पुण्या वरहितकृतः सर्वलोकान् वहन्ति ।
अन्योन्यस्य स्वगुणविदयागाढसम्बद्धयमाना
योग्याः युग्या इव पथि पथि स्यन्दनान् स्यन्दमानान् ॥

इस पद्य की दार्शनिकता पर दृष्टिपात कीजिए। यह नाना रूपात्मक जगत् भगवान् शंकर से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार सूर्य से रश्मियों का समुदाय। और प्रलय मे उसी प्रकार यह शंकर में ही लीन हो जाता है :—

स्वाः शक्तीः प्रतियोग्यतामुपगता क्षित्यादयो मूर्तयो
लोकस्थित्युदयादिकार्यपरता ताभिर्विना नास्ति हि।
इत्येवं विगणय्य शक्तिवशिना येनाध्रियन्तेऽथवा
का नामेह विभुः क्रिया न भजते याः स्युः परार्थोदये ॥

इन देशों में शिव के साथ शक्ति की भी विशिष्ट उपासना प्रचलित थी जिसकी यह प्रशस्त स्तुति भव्य कविता का नमूना है। कम्बुज देश में तन्त्रशास्त्र का भी अध्ययन विशेष रूप से प्रचलित था। भगवती की स्तुति में यह अनुप्रास-बहुल श्लोक इस बात का प्रमाण है कि वहाँ के कवियों की प्रौढ़ि काव्य-रचना में बहुत दूर तक बढ़ी-चढ़ी थी। नीचे के पद्य को पढ़िये। इसमें भकार को छोड़कर किसी अन्य वर्ण का दर्शन नहीं होता। भारत के भी कविजन ऐसी रचना के शब्द-सौष्ठव को तथा आलङ्कारिक योजना को विशेष पसन्द करते थे। भगवती की स्तुति का यह भव्य पद्य इस प्रकार है :—

भूताभूतेशभूता भुवि भवविभवोद्भावभावात्मभावा
भावाभावस्वभावा भवभवकभवाभावभावैकभावा।
भावाभावाग्रशक्तिः शशिमुकुटतनोरर्धकाया सुकाया
काये कायेशकाया भगवति नमतो नो जयेव स्वसिद्ध्या ॥

बृहत्तर भारत के इन देशों में केवल संस्कृत काव्य का ही निर्माण विशेष रूप से नहीं होता था, प्रत्युत मीमांसा आदि छहों दर्शन तथा बौद्ध आगम का भी अध्ययन यहाँ कम नहीं था। काशिका के साथ व्याकरण में निपुणता पानेवाले विद्वानों का विशेष उल्लेख

मिलता है। यहाँ तीन प्रकार के आश्रम थे—वैष्णव आश्रम, ब्राह्मण आश्रम तथा सौगत आश्रम। इनमें संस्कृत का अध्यापन कराया जाता था। और एक विशेष पुस्तकालय की स्थापना प्रत्येक आश्रम में की गई मिलती है, जहाँ दो लेखक, दो पुस्तकों को रखने वाले (पुस्तक-स्थापक) तथा ६ पत्रकार रहते थे। पत्रकारों का काम था नये ग्रन्थों का हस्तलेख तैयार करना। पुस्तक-संग्रह का नाम था 'पुस्तकाश्रम', जो आजकल के प्रचलित 'पुस्तकालय' शब्द की अपेक्षा विशेष सुन्दर तथा मनोरम है। मेरे कथन का सारांश यह है कि केवल भारतवर्ष में ही नहीं, प्रत्युत इन बाहरी प्रदेशों तथा द्वीपों में, संस्कृत भाषा के अध्यापन तथा संस्कृत साहित्य की समृद्धि के लिए वहाँ के शासकों का महनीय उद्योग आज भी हमारे श्लाघा तथा आदर का भाजन है। इन सुदूर देशों की जनता संस्कृत को अपनी राज-भाषा समझती थी तथा उसके संवर्धन के लिए सदा तैयार रहती थी।

संस्कृत काव्य का प्रभाव भारत के बाहर बृहत्तर भारत के साहित्य पर भी विशेष रूप से पड़ा। विशेषकर 'जावा' के साहित्य पर यह प्रभाव बहुत ही व्यापक, दूरगामी तथा आन्तरिक है। जावा की प्राचीन 'कवि-भाषा' में रामायण तथा महाभारत से सम्बद्ध अनेक महाकाव्य पाये जाते हैं, जो कालिदास तथा भारवि के काव्यों से प्रेरणा ग्रहण कर निर्मित किये गये हैं। कवि-भाषा में निबद्ध **सुमनसन्तक** तथा **स्मरदहन** ऐसे ही कालिदास के द्वारा प्रभावित महाकाव्य हैं। 'सुमनसन्तक' में जावा का महाकवि रघुवंश में वर्णित अज-इन्दुमती के कथानक को एक स्वतन्त्र महाकाव्य का रूप देता है। इसकी रचना का काल १२ वीं शती है। इस बृहत् काव्य में संस्कृत के अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन्दुमती का स्वयंवर तो कालिदास के वर्णन को पूर्ण आधार मान कर लिखा गया है। **स्मरदहन** की स्फूर्ति कुमारसम्भव से कवि को मिली है। दोनों के वर्णन में अन्तर इतना ही है कि कालिदास के काव्य में कार्तिकेय के जन्म तथा वीरकार्यों का वर्णन है, वहाँ स्मरदहन में गणेश जी के जन्म तथा उनकी गुणावली का विस्तृत विवरण है। इसके आरम्भिक चार सर्ग 'कुमारसम्भव' के अनुकरण पर विरचित हैं। सप्तम सर्ग में काम-विजय का बर्णन विस्तार के साथ यहाँ किया गया है और इसी प्रकार रति-विलाप का प्रसंग भी इस जावाकाव्य में कुछ विस्तार से दिया गया है। इस प्रकार कालिदास का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः यहाँ उपलब्ध होता है।

भारवि दूसरे संस्कृत कवि हैं जिनसे जावा के कवि लोगों ने व्यापक प्रेरणा काव्य-रचना के लिए पाई। 'किरातार्जुनीय' ने केवल काव्य-रचना के लिए विषय ही नहीं दिया, प्रत्युत अनेक विषयों के लिए उपयुक्त पद्धति का भी निर्वाचन किया। छत्तीस सर्गों में विरचित **अर्जुनविवाह** नामक महाकाव्य अर्जुन की तपस्या, उनका स्वर्ग में जाना, निवातकवच से युद्ध तथा अप्सराओं के साथ उनकी शृङ्गारिक केलि का बड़ा ही भव्य वर्णन प्रस्तुत करता है। यहाँ स्पष्ट ही किरात का प्रभाव है। शृङ्गारिक केलियों के वर्णन में जावा का कवि बड़ा ही अनुराग दिखलाता है और यहाँ भी भारवि के काव्य का ही एक विशिष्ट प्रभाव है। इस प्रकार जावा का कवि कालिदास के सुकुमार-मार्ग का तथा भारवि के विचित्रमार्ग का अनुकरण अपनी रूचि के अनुसार करता है। संस्कृत काव्यों के कला-

पक्ष का भी पूर्ण अनुसरण हम जावा में पाते हैं। इन काव्यों की भाषा भी संस्कृत-मिश्रित है। 'मणिप्रवाल' पद्धति में विरचित इस कवि-भाषा के पद्य को देखिये--

समर दिवारात्रि नेकांग् सुरालय देनिंग प्रकाशातमक सर्व भास्वर।
अनगिंग सेकनिंग कुमुदा जरिंग कुल मुअंग चक्रवाकिन पपसह लवान प्रिया॥

इस पद्य का आशय है कि स्वर्गलोक में सब वस्तुओं के प्रकाशशील होने के कारण रात्रि-दिन के भेद का पता नहीं चलता। केवल कुमुद का खिलना तथा अपने प्रिया से वियुक्त चक्रवाक की स्थिति ही रात्रि के आगमन की सूचना देती थी।

श्रीलंका में भी संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रचार प्राचीन काल से आज भी बना हुआ है। वहाँ के भिक्षुगण अपनी विद्वत्ता को पुष्ट तथा प्रमाणित बनाने के लिए पालि के अध्ययन के साथ ही साथ संस्कृत का भी अध्ययन आज भी करते हैं। संस्कृत व्याकरण तथा काव्य (रघुवंश आदि) वहाँ के लोकप्रिय विषय हैं। सिंघली भिक्षुओं की संस्कृत सेवा का लेखा-जोखा प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है, परन्तु लंकाप्रवासी भारतीय अनेक विद्वानों ने संस्कृत की सेवा की है। १५ शती के एक भारतीय भिक्षु की साहित्यसेवा का यहाँ संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है। नाम था **पण्डित रामचन्द्र भारती** जो बंगाल के बेरवती (जिला वारेन्द्र) के निवासी थे। कात्यायन-गोत्रीय थे--तर्क, व्याकरण, छन्द तथा हिन्दू पुराण में निष्णात पण्डित। ये १५वीं शती में लंका पहुँचे जब वहाँ विश्रुत महीपाल पराक्रम-बाहु राज्य करते थे। संघराज राहुल का शिष्यत्व स्वीकार कर लंका में जम गये। इन्होंने 'वृत्तरत्नाकर' की पञ्जिका नाम्नी टीका लिखी जिसका यह पद्य आवश्यक ऐतिहासिक विवरण देता है-

श्रीमद्-राहुलपादतस्त्रिपिटकाचार्याद् गुरोर्निर्मलं
बोद्धं शास्त्रमधीत्य यस्तु शरणं रत्नत्रयं शिश्रिये।
यो बौद्धागमचक्रर्वात-पदवीं लङ्केश्वराल् लब्धवान्
स श्रीमानिह सर्वशास्त्रनिपुणो व्याख्यामिमां व्यातनोत् ॥

इनकी कमनीय रचना है—**बुद्धशतक**[1] अथवा **भक्तिशतक** जिसमें १०७ श्लोक भिन्न भिन्न बारह छन्दों में निबद्ध हैं। यह शतक बौद्ध धर्म के शिक्षण के साथ ही साथ प्रसाद गुणयुक्त संस्कृत काव्य के शिक्षक का भी कार्य करता है। कविता रोचक है और कमनीय भक्तिभावना से सद्यः आप्लावित है (भक्तिशतक, श्लोक ३७)—

दशबल कलिकाल-दुर्बलोऽहं चिरदुरितार्णवतुङ्गभंगमग्नः।
तव कथमनुयामि धर्मनावं जिन मम देहि कृपाकरावलम्बम् ॥

इस प्रकार संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रभाव केवल भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्यों पर ही नहीं उपलब्ध होता, प्रत्युत हिन्द-एशिया की भाषा तथा साहित्य पर भी विशेष रूप से आज भी मिलता है।[2]

---

१ प्रकाशक भिक्षुमहानाम, सारनाथ, वाराणसी, वि० सं० २००१।
२. द्रष्टव्य डा० गोण्डा—संस्कृत इन इण्डोनेशिया (नागपुर, १९५५)।
संस्कृत इन्फ्लूएन्स आन जावानीज लिटरेचर (कलकत्ता, १९४८)।

ग्रन्थकारानुक्रमणी

ग्रन्थानुक्रमणी

———

आचार्य बलदेव उपाध्याय

रचित पुस्तकें

भारतीय दर्शन--भारतवर्ष के समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों का इतिहास तथा सिद्धान्त का प्रामाणिक विवरण है। वैदिक दर्शन, गीता, न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग, मीमांसा-वेदान्त का विवरण देने के अनन्तर तन्त्र (वैष्णव, शैव तथा शाक्त) साहित्य का इतिहास तथा सिद्धान्त का भी वर्णन है। और तन्त्र का वर्णन इसकी महती विशिष्टता है। अष्टम संस्करण

धर्म और दर्शन--पूर्व ग्रन्थ का पूरक ग्रन्थ जिसमें भारतवर्ष के धर्मों का और दर्शनों का संक्षिप्त इतिहास है। द्वितीय सं०

संस्कृत साहित्य का इतिहास (काव्य खण्ड)--इसमें संस्कृत के महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्यकाव्य, कथासाहित्य, नाटक तथा अलंकार-शास्त्र का परिनिष्ठित इतिहास है तथा सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए प्रचुर उद्धरण दिये गये हैं।

संस्कृत साहित्य का इतिहास (द्वितीय खण्ड शास्त्र खण्ड)--इसमें आयुर्वेद तथा रसायन, ज्योतिष, अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित, साहित्य शास्त्र, कोष, छन्दः शास्त्र तथा व्याकरण शास्त्र का सांगोपांग विशद इतिहास दिया गया है।

एम० ए० तथा आचार्य का पाठ्य ग्रन्थ।

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास--इसमें विशाल संस्कृत साहित्य का संक्षेप में विवरण दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त में चुने हुए परीक्षोपयोगी प्रश्नों का भी संकलन है। अनेक विश्वविद्यालयों में बी० ए० तथा शास्त्री परीक्षा का पाठ्य ग्रन्थ निर्धारित है।

भारतीय दर्शन सार--भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त तथा रोचक विवरण दिया गया है। बी० ए० तथा एम० ए० का पाठ्य निर्धारित।

निबन्ध चन्द्रिका--संस्कृत में लिखे गये छात्रोपयोगी निबन्धों का संग्रह। लेखक--डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय। चतुर्थ सं०

व्रतचन्द्रिका--हिन्दुओं के व्रतों तथा उत्सवों का रोचक तथा प्रामाणिक विवरण दिया गया है। तृतीय सं०